सरस्वती

सचित्र

मासिक पत्रिका

भाग ३५, खण्ड १

जनवरी—जून

१९३४

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल

श्रीनाथसिंह

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

वार्षिक मूल्य साढ़े छः रुपये

फा. १२

लेख-सूची

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

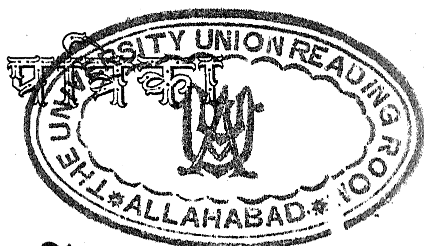
सादे चित्र

उषा और संध्या

[चित्रकार श्रीमनीषी दे



सचित्र मासिक पत्रिका



सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

जनवरी, १९३४ | भाग ३५, खंड १ | पौष, १९९०
सं० १, पूर्ण संख्या ४०९

मंगल-गीत

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

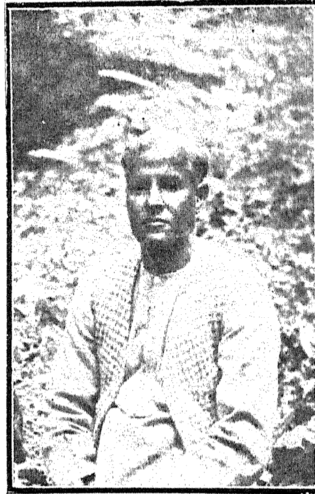
मंगल, चिर मंगल हो !
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशि-पल हो !
तमस-मूढ़ हों भास्वर,
पतित, क्षुद्र उच्च, प्रवर,
मृत्यु-भीत नित्य, अमर,
दिशि-दिशि चिर उज्ज्वल हो !

शुद्ध-बुद्ध हों सब जन,
भेद-मुक्त, निर्भय-मन,
जीवित सब जीवन-क्षण,
स्वर्ग यही भू-तल हो !
लुप्त जाति-वर्ण-विवर,
शमित अर्थ-शक्ति-भँवर,
शान्त रक्त-तृष्ण समर,
प्रहसित जग-शतदल हो !

भावी महाभारत

पण्डित कृष्णकान्त मालवीय

कुछ राजनीतिज्ञ यह समझने लगे हैं कि संसार की आर्थिक दुरवस्था को दूर करने का महाभारत ही एक-मात्र उपाय है। इस सिद्धान्त के अनुसार योरप के राष्ट्र भावी महाभारत की तैयारी भी कर रहे हैं और उसमें सर्वनाश की भी झलक देखते हैं। इसी लिए यह रुका भी है। परन्तु परिस्थिति ऐसी सदैव नहीं रह सकती। कुछ न कुछ होकर ही रहेगा। क्या होगा? इसका अनुमान आप यह लेख पढ़कर लगा सकते हैं।



सन् १२ या १३ में 'अभ्युदय' में मैंने संसार-सङ्कट-शीर्षक लेख-माला लिखी थी। भावी महाभारत की ओर संसार का ध्यान आकृष्ट करना इस लेखमाला का उद्देश था। इत्तिफ़ाक या विधि की विडम्बना से सन् १९१४ में योरप में महाभारत शुरू हो गया। इस समय में संसार-सङ्कट के नाम से एक पुस्तक भी मैंने प्रकाशित की थी। भावी राजनैतिक वातावरण कैसा होगा, किन किन राष्ट्रों का नया गुट तैयार होगा, युद्ध की आशङ्का कब और कहाँ है, पुस्तक में इसी सम्बन्ध के विचार प्रकट किये गये थे। इसके बाद प्रायः सन् २९ तक अक्सर 'अभ्युदय' के स्तम्भों में अनेक तरह से मैं अपने इस विश्वास को प्रकट करता रहा कि ३२-३३ या ३४ में फिर संसारव्यापी महाभारत छिड़ जायगा और इसके अनन्तर भारत का भाग्योदय होगा। ी उत्सुकता से सन् ३२ और ३३ की मैं बाट जोहा करता था। ३२ ख़त्म हो गया। जिस समय तक यह लेख प्रकाशित होगा ३३ भी ख़त्म हो चुका रहेगा। सामान महाभारत का चारों ओर दिखाई दे रहा है। गोला-बारूद सब तैयार है। केवल एक चिनगारी की ज़रूरत है! किन्तु यह चिनगारी शीघ्र गिरती दिखाई नहीं देती।

पिछले वर्षों में प्रायः सभी बड़े बड़े राष्ट्रों ने युद्ध की तैयारी और अस्त्र-शस्त्रों के इकट्ठा करने में इतना ख़र्च किया है, जितना इसके पहले उन लोगों ने कभी भी नहीं किया। अकेले अमरीका में दो सौ वैज्ञानिक केवल ज़हरीली गैस की खोज में लगे हुए हैं और इँग्लैंड इस समय ३००००००) प्रत्येक वर्ष इन्हीं गैसों की पवित्र खोज में ख़र्च कर रहा है। राष्ट्रसंघ का खोखलापन अन्धों की आँखों के सामने भी दिखाई दे गया होगा।

दशा इस समय संसार की १९१४ की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक और भयावह है। इस समय

अगर कोई स्थिति में फ़र्क है तो इतना ही कि 'आर्थिक साम्राज्यवाद' अधिक नग्नरूप में संसार में चक्कर लगा रहा है। अमरीका का इँग्लेंड से घोर व्यापारिक युद्ध चल रहा है। इँग्लेंड के व्यापार और मंडियों को तहस-नहस करने के लिए अमरीका जी-जान से प्रयत्न कर रहा है। अमरीका के नूतन प्रेसीडेंट ने डालर की दर गिरा कर इँग्लेंड को और भी चिन्ता में डाल दिया है। अमरीका को ही दबाने और डराने के लिए इँग्लेंड ने जापान को बढ़ाया था। जापान और अमरीका में एक प्रकार का सहज वैर है। जापान और अमरीका के स्वार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। जापान चीन में कुछ करना चाहे या प्रशान्त महासागर में बढ़ना चाहे तो अमरीका से उसे लोहा लेना होगा। इँग्लेंड ने इसी लिए जापान को उभाड़ा, इसी लिए वह जापान को शक्तिशाली भी देखना चाहता था। अमरीका ने इँग्लेंड का जवाब देने को जापान और इँग्लेंड के सहज शत्रु रूस से मैत्री स्थापित कर ली है। एक ओर यह है, दूसरी ओर जापान में इस समय इँग्लेंड के विरुद्ध ज़ोरों का प्रचार हो रहा है। जापानियों को यह विश्वास दिलाया जा रहा है कि महाभारत निकट है और इस बार युद्ध जापान और इँग्लेंड में होगा। होगा क्या, यह तो भविष्य ही बतायेगा, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जापान में महाभारत के लिए ज़बर्दस्त तैयारी है। इस तैयारी के कारण जनता पर टैक्सों का बोझ बहुत भारी हो गया है। भावी महाभारत के विश्वास के भरोसे पर ही जापान का वर्तमान शासक-मण्डल टिका हुआ है। अपने को इस पद पर बनाये रहने के लिए शीघ्र ही महाभारत करना उसके लिए लाज़मी भी है। अगर महाभारत न होगा तो जापान के मन्त्रिमण्डल के पदच्युत होने की सम्भावना है। जापान रूस से लड़ सकता है, अमरीका से लड़ सकता है, या इँग्लेंड से।

योरप में निरस्त्रीकरण कान्फ़रेंस का ख़ात्मा हो गया है। जर्मनी उस कान्फ़रेंस से अलग हो गया है। जापान ने राष्ट्र-सङ्घ की जो गत बनाई थी उसका प्रतिफल यही होना था। राष्ट्र-सङ्घ की धाक इस समय योरप में नहीं के बराबर है। कहनेवाले कहते हैं कि जर्मनी भी पूर्णरूप से युद्ध के लिए तैयार है। वह वारसाई की सन्धि के विरुद्ध अस्त्र-शस्त्रों से अपने को सुसज्जित कर रहा है। फ़्रांस को यह सुहायगा नहीं, वह हस्तक्षेप करेगा और फलस्वरूप संसार को महाभारत देखना नसीब होगा।

मेरी समझ में यह बात कुछ कम आ रही है। जर्मनी कुछ करना भी चाहे तो बिना पूर्ण रूप से सुसज्जित हुए वह कुछ करेगा नहीं। बैठे-बिठाये अपने जीवन और भविष्य को वह सङ्कट में डाल नहीं सकता। किसी दूसरे के युद्ध शुरू करने पर वह किसी का साथी हो जाय, यह बात दूसरी है, किन्तु युद्ध का बानी वह बने या उसका सूत्रपात करे, यह बात ज़रा समझ में आ नहीं रही है। आर्थिक दृष्टि से भी जर्मनी अभी इस योग्य नहीं है कि वह महाभारत का श्रीगणेश करे। जर्मनी के सम्बन्ध में एक बात और है। जर्मनी इस समय १९१४ का जर्मनी नहीं है। जर्मनी के इँग्लेंड के प्रति और इँग्लेंड के जर्मनी के प्रति १९१४ वाले भाव भी नहीं हैं। इँग्लेंड में कैसर को फाँसी पर चढ़ा देने की आवाज़ बलन्द करनेवाले जो लोग थे वही लोग आज जर्मनी के पक्षपाती हैं। इँग्लेंड और फ़्रांस में फ़्रांस इस समय इँग्लेंड की परवा भी नहीं करता है। सच तो यह है कि योरप के महाद्वीप में फ़्रांस ही का इस समय आधिपत्य है। याद यदि धोखा नहीं देती तो डेढ़ ही दो वर्ष हुआ, फ़्रांस ने यह चेष्टा की थी कि इँग्लेंड का सोना वह ढो ले जाय और बैंक आफ़ इँग्लेंड को दीवालिया बना दे। विवश होकर इँग्लेंड को फ़्रांस से उस समय क़र्ज़ लेना और समझौता करना पड़ा था। फ़्रांस इँग्लेंड के रुख़ को समझता है और इसी लिए फ़्रांस भी रूस की ओर हाथ बढ़ा रहा है।

इटली के प्रायः छः लाख आदमी युद्ध में काम आये थे, धन का भी कम नाश नहीं हुआ था।

किन्तु इँग्लेंड और फ़्रांस के इशारे पर वारसाई में जो फ़ैसला हुआ उससे इटली कुछ सन्तुष्ट न था। सूर्य-मण्डल में जगह पाने के लिए वह इस समय भी लालायित है। इटली शक्ति और बल का पुजारी है। उसने यह समझ रक्खा है कि संसार में अगर वह कुछ कर सकता है तो केवल अपनी नौ-सेना और हवाई जहाज़ों के बल से ही। इटली और फ़्रांस के स्वार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। इँग्लेंड भी भारत के मार्ग के निकट इटली को बलशाली देखना पसन्द नहीं कर सकता। किन्तु इसके होते हुए भी फ़्रांस और इँग्लेंड के मुक़ाबिले में इटली इँग्लेंड का ही साथ देना पसन्द करेगा। दूसरी ओर इटली जर्मनी और रूस से भी मिला-जुला रहना चाहता है। योरप के अन्य छोटे छोटे नूतन और पुरातन राष्ट्र भी सुख की नींद नहीं सो रहे हैं। सच पूछा जाय तो इस समय योरप के कष्टों की महौषधि एक ही है और वह है भीषण मारकाट और महाभारत।

योरप के ही नहीं, समस्त पश्चिमीय संसार के भी कुछ राजनीतिज्ञ यह समझने लगे हैं कि योरप की ही नहीं, वरन संसार की आर्थिक दुरवस्था को दूर करने का महाभारत ही एक-मात्र उपाय है। सब राष्ट्र इसी सत्य को जानते हुए तैयार हो रहे हैं, किन्तु मरना किसी को सहसा पसन्द नहीं आता। योरप के कर्तव्य-विमूढ़ राष्ट्र महाभारत में सर्वनाश की भी झलक देखते हैं और इसी लिए प्रत्येक राष्ट्र केवल जान बचाने के लिए जी-जान से इस प्रयत्न में लीन है कि युद्ध में न पिसना पड़े।

इस सत्य को देखते हुए यह समझ में नहीं आता कि महाभारत सन् १९३४ में भी हो सकेगा। ईश्वर की लीला कोई नहीं कह सकता। एक मिनट के बाद क्या होगा, निश्चयपूर्वक यह भी कह सकना असम्भव है। किन्तु बुद्धि यही कहती है कि फोड़ा अभी पूर्ण रूप से पका नहीं है और न उसमें भरपूर मवाद ही भर आया है। महाभारत इस बार १९१४ का महाभारत भी नहीं होगा। विज्ञान और वायुयानों की कृपा से इस बार का महाभारत महाभीषण होगा। आँख खोले हुए बुद्धि और विवेक के साथ राष्ट्र इसके लिए सहसा तैयार नहीं होंगे। तैयारी जो कुछ है वह इस बात की है कि युद्ध होने पर और उसमें योग देने पर आत्मरक्षा हो सके। फ़्रांस और जापान आत्मरक्षा और आक्रमण के लिए भी तैयार हैं, किन्तु फ़्रांस को भी इस समय यह विश्वास न होगा कि उसके समुद्रतटों की रक्षा का भार इँग्लेंड ले लेगा।

एक कठिनाई यह भी है कि साम्राज्यवादी और अस्त्र-शस्त्र के व्यापारी युद्ध करा भी दें तो जनता बलवा कर सकती है और राष्ट्र पर अपना अधिकार जमाने के लिए पागल हो सकती है। जनता के भय से भी कोई राष्ट्र युद्धाग्नि में कूदना नहीं पसन्द करेगा।

इँग्लेंड अगर फ़्रांस के विरुद्ध हुआ तो उसे जर्मनी और इटली का मुँह ताकना पड़ेगा।

राजनीति में भविष्यद्वाणी एक तरह की जबर्दस्ती है, स्थिति में तनिक भी परिवर्तन होने से एकदम कायापलट हो जाना असम्भव नहीं होता। इस समय तो यह कह सकना भी सहज नहीं कि किन किन राष्ट्रों का एक गुट होगा। ऐसी दशा में यह कैसे कहें कि महाभारत होगा और यही कैसे कहें कि नहीं होगा। ३२-३३ में कुछ नहीं हुआ इसलिए यह आशा जरूर लगी हुई है कि ३४ में कुछ होकर रहेगा।

अन्त में इतना कहकर इस लेख को समाप्त करना चाहता हूँ कि यह समझना कि भावी महाभारत में कोई राष्ट्र विजयी होगा और कोई विजित, भूल होगी। अगर महाभारत इस बार हुआ तो कोई विजयी नहीं होगा। विजय अगर किसी की होगी तो जनता की, और राष्ट्रों का स्वरूप सदा के लिए बदल जायगा। इस एक दृष्टि से ही भावी महाभारत सर्वनाश करनेवाला होता हुआ भी कल्याणकर हो सकता है।

कला-सम्बन्धी कुछ स्वतन्त्र विचार



स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

कला क्या है ? साहित्य में जो वस्तु कला मानी जाती है वह क्या बला है ? स्वामी जी ने इस लेख में इन्हीं दोनों प्रश्नों पर अपनी सुन्दर शैली में बड़े ही रोचक ढङ्ग से विचार किया है।





(य)ह सन् १९२९ की बात है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र के सम्पादक के घर में मैं ठहरा हुआ था। क्रान्तिकारियों की बातें होने लगीं। बातें करते हुए वे मुस्करा कर कहने लगे—

"मैं क्रान्तिकारियों में था। बम फेंकने और गोली-बारूद इकट्ठा करने में मेरा भी हाथ था, परन्तु मैंने पुलिस को ऐसा चकमा दिया कि वह मुझे बिलकुल निरपराध समझती रही। फल-स्वरूप मैं बच गया।"

मेरा कौतूहल जाग उठा और मैंने बड़े उत्सुकता-पूर्ण शब्दों में पूछा—"क्या सी० आई० डी० के इन्स्पेक्टर ने आपको तंग नहीं किया था ?"

सम्पादक महोदय हँसकर बोले—"मैंने ऐसा मुँह बनाया और भोलेपन का ऐसा स्वाँग रचा कि टिकटिकी महाशय ने मेरा सोलहों आने विश्वास कर लिया। पहले तो कई घंटे तक वे मुझे धमकाते-डराते रहे, बाद में खुशामद और चापलूसी भी की, लेकिन मैं झूठ बोलने की कला में पुराना सिद्धहस्त था, भला उनके हथकण्डों में कैसे आ सकता था।"

'कला' का शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा। कला ! क्या झूठ बोलने में भी कोई कला है ? यह प्रश्न मेरे दिमाग़ में रह रह कर उठने लगा। मैंने अपने मित्र सम्पादक जी से हैरानी से पूछा—"तो क्या झूठ बोलने की भी कोई कला होती है ?"

सम्पादक जी खिलखिला उठे और कहने लगे—"सच तो बड़े बुद्धू भी बोल सकते हैं, उसमें कौन-सी अक़्लमंदी है। झूठ बोलने में ही बड़ी कला है—ऐसा झूठ जो दूसरे को बेवक़ूफ़ बना दे और उस पर सत्य का रंग चढ़ा दे। बड़ा बुद्धिमान्, बड़ा चालाक और अतिकुशल व्यक्ति ही अपनी प्रतिभा से झूठ को सच करके दिखला सकता है। वकील लोग यही करते हैं। यह उनकी कला है।"

× × × ×

कला का यह स्वरूप अभी तक मेरे मस्तिष्क में नहीं आया था। मैं तो यह समझता था कि शिल्प-कला, चित्रकला, नृत्य-कला, स्थापत्य-कला आदि कलाओं का ही

'कला' के अर्थ में व्यवहार किया जाता है, पर अब मुझे पता लगा कि झूठ बोलना भी एक बड़ी भारी कला है। ऐसे ही जब कोई लड़का किसी जेब कतरनेवाले की कहानी पढ़ता है और उसकी सफ़ाई के करिश्मे देखता है तब वह उसे भी एक कला समझकर स्वयम् उसका अनुभव जान लेने के लिए घर से निकल जाता है। ऐसे कई मुक़द्दमे अदालतों में आये हैं, जहाँ छोटी उम्र के लड़कों ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए इस बात को न्यायालय के सामने माना है कि जेब कतरनेवालों की फ़ुर्ती और उनके हाथों की सफ़ाई को ऊँचे दर्जे की कला समझकर ही उन्होंने ऐसा काम करने का संकल्प किया था।

तो कला क्या वस्तु है? मैंने जब बम्बई के एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता से कला की पुस्तकों की लिस्ट माँगी तब उसने मुझे एक पुस्तिका दे दी। उस पर मोटे अक्षरों में लिखा था—'art' अर्थात् कला। जब मैंने उसमें पुस्तकों के नाम देखे तब वे सब शिल्प, फोटोग्राफी, चित्रकारी तथा भ्रमण-सम्बन्धी वृत्तान्तों से सम्बन्ध रखते थे। एक पुस्तक भी मुझे ऐसी न मिली जिसका साहित्य अथवा संगीत के साथ कोई सम्बन्ध होता। मुझे इससे पता लगा कि पुराने संस्कृत-साहित्याचार्यों के मतानुसार साहित्य, संगीत और कला, ये तीनों अलग अलग चीज़ें हैं और आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इन्हें वैसा ही माना है।

तो फिर साहित्य और कला का यह नया झगड़ा हिन्दीवालों ने कैसा उठाया है? इनके जो लेख कला पर निकलते हैं वे प्रायः ऐसे कि जिनका सिर न पैर, भ्रम से भरे हुए; कोई बात स्पष्ट व्यक्त नहीं करते, क्योंकि वे अँधेरे में टटोल रहे हैं। वे अनन्त ज्ञान, विश्व का व्यक्तित्व, सत्य, सुन्दर और शिव आदि ऐसे शब्द रटे हुए हैं जिन्हें कहकर अपने पाठकों को भूल-भुलैयाँ में डाल अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हैं। यूनानी कलाविदों ने जिस वस्तु को कला माना है वह वही है जिसे आज योरप की विद्वन्मण्डली मानती है। पर मैं यहाँ केवल इस बात पर विचार कर रहा हूँ कि साहित्य में जो वस्तु कला मानी जाती है और जिसकी आज दुहाई दी जाती है वह है क्या बला? आज कहानी-कला पर भी लेख लिखे जा रहे हैं। संक्षेप में जो भी कोई उठता है वह कला की आड़ में अपना रोब जमाना चाहता है।

देखिए। हमें शब्दों के जंगल में मत ले जाइए और न ऐसे क्षेत्र में पाँव रखिए जिसके विषय में आपको कुछ मालूम नहीं। साहित्य-सम्बन्धी बातों पर विचार करते समय भी हमारे मस्तिष्क में वैज्ञानिक ढंग ही रहना चाहिए—वह ढंग जो वस्तु की खाल खींच लेता है और उसके अंगों को काटकर स्पष्ट दिखला देता है। गोल-मोल बातें करने से हम कभी अपनी प्रतिभा की छाप नहीं डाल सकते। कुछ समय के लिए लोग भले ही बहक जायँ; परन्तु अन्त में एक समय ऐसा आता है जब माया-जाल की पोल खुल जाती है।

असल में कला का प्रारम्भिक स्वरूप यह है—किसी काम को सफ़ाई से कर लेना। उर्दू में इसे हुनर कहते हैं। यह कला-शब्द का व्यापक व्यवहार है। आप किसी कहानी को ऐसी सफ़ाई से कहते हैं कि सुननेवाला उसे बिलकुल सत्य समझकर मन्त्रमुग्ध होकर आपकी बात मान लेता है और उसके दिल में यह जम जाता है कि वह कहानी सच्ची है। डेनियल डीफ़ो के राबिन्सन क्रूसो के पढ़नेवाले लाखों पाठक उसे अक्षरशः सत्य समझते हैं। वह लिखी ही ऐसे ढंग से गई है कि पढ़नेवाला सत्य माने बिना नहीं रह सकता। यह एक कला है। इस कला का सम्बन्ध केवल कहानी कहने के ढंग के साथ है, अर्थात् उसकी उस ख़ूबी को प्रकट करती है जिसके बल पर एक कल्पनात्मक घटना बिलकुल सच्ची जान पड़ती है। कहानी में कोई शिक्षा है या नहीं, उसमें कोई उद्देश छिपा हुआ है या वह बिना उद्देश के ही है—ये बातें उस कला के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखतीं। कला का क्षेत्र इस अंश में इतना ही है कि कहानी इस ढंग से कही जाय कि जो वस्तुस्थिति का जीवित चित्र खींच दे और शिक्षित या अशिक्षित—दोनों प्रकार के—पाठकों के हृदय पर वह अपना प्रभाव डाले। कई कहानियाँ ऐसी होती हैं कि बालक उन्हें मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हैं,

लेकिन कलाविद् पुरुष को वे बड़ी भोंड़ी और कला-शून्य जान पड़ती हैं। तो कला का शब्द भी सापेक्षिक है और इसका व्यवहार उसी के अनुसार किया जाना चाहिए। शेक्सपियर के जिन नाटकों ने अँगरेज़ी-साहित्य का मस्तक ऊँचा कर दिया, कलाविद् टाल्सटॉय की दृष्टि में वे ऊँचे ही नहीं। क्योंकि ऋषि टाल्सटॉय जिस चीज़ को कला समझते थे उसको उन्होंने उन रचनाओं में नहीं पाया। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर यह है कि ऋषि टाल्सटॉय ने कला के साथ किसी दूसरी और वस्तु का समावेश कर लिया। जैसे एक मनुष्य दिल बहलाने के लिए ताश के पत्तों का हुनर—अपने हाथ की सफ़ाई—इस ढंग से दिखलाता है कि देखनेवाले दाँतोंतले उँगली दबाने लगते हैं; वे आश्चर्य में डूब जाते हैं; उनका मन बहलता है। थिएटरों में कई प्रकार के ऐसे हुनर—ऐसे तमाशे—दिखलाये जाते हैं जिनकी कला को देखकर दर्शक अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि उनके टिकट का दाम क़ीमत से अधिक वसूल हो गया। परन्तु महात्मा गान्धी और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे आदर्शवादियों को मन बहलानेवाले उन नाटकों, खेल-तमाशों और ताश-शतरञ्ज की चालों में कोई कला नहीं दिखलाई देती—वे उसमें मानव-समाज का उत्थान करनेवाली कोई शिक्षा नहीं पाते—इसी लिए वे उनका विरोध करते हैं और ऐसे खेलों में मन बहलाना समय का व्यर्थ खोना मानते हैं। आदर्शवादियों की जीवन-चर्या में कला के मन बहलानेवाले ऐसे स्वरूप के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ तक तो कला का सम्बन्ध किसी काम को सफ़ाई अथवा परिष्कृत रूप में करने के साथ है, इसी लिए मानव-समाज के सङ्गठन के समय से ही किसी काम को अत्यन्त कौशल से करनेवाले लोग कुशल कारीगर कहे जाने लगे। वे अपने अपने विभाग में साधारण काम करनेवाले की अपेक्षा अपने हाथ के हुनर को बड़ी चतुराई से दिखलाते थे—वे उसी कला के विशेषज्ञ माने जाते थे। जैसे तलवार चलाने की कला, कुशल अश्वारोही, खनिज पदार्थों पर भिन्न भिन्न प्रकार की मीनाकारी, बर्तन बनाने की कारीगरी, रुई अथवा ऊनी कपड़ों पर सुई का विस्मय-जनक काम इत्यादि—ये सब हुनर 'कला' के अन्तर्गत हैं। इसमें सच्चरित्रता, शिक्षा, भावुकता अथवा ऊँचे दर्जे के उपदेश के लिए कोई गुंजाइश नहीं। यह केवल हाथ की सफ़ाई, कारीगरी और व्यावहारिक कुशलता से सम्बन्ध रखनेवाला हुनर है। कला का यही प्रारम्भिक स्वरूप है। प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर तथा जीवन-संग्राम में विजय की लालसा के हेतु जिस चतुराई और बुद्धिमत्ता का मनुष्य ने प्रयोग किया है उसी गुण ने अपने विकास में कला का रूप धारण कर लिया है।

परन्तु जब मानव-समाज में ज्ञान की अधिक उन्नति हुई, जब मनुष्य ने अपने मस्तिष्क को साहित्य और सङ्गीत से परिष्कृत किया, तब वह भी शिल्पियों की तरह कला को अपने क्षेत्र में स्थान देने लगा और उसने अपनी कला को परिष्कृत कला कहकर पुकारा। अब तक कला के व्यवहार में भावुकता, धर्म-दीक्षा और आदर्शवाद के लिए कोई स्थान न था; उसमें सत्य और शिव का कोई पचड़ा न था, वह केवल सौन्दर्य और व्यावहारिक चतुराई की वस्तु थी। पर जब विद्वान्-वर्ग ने कला को अपनाया तब उन्होंने अपने भाई कलाकार शिल्पियों की अपेक्षा उसे दूसरा ही रूप देने का प्रयत्न किया। इसी लिए आज इस वैज्ञानिक युग में कला के सम्बन्ध में बड़ा गड़बड़ मचा हुआ है। जो काम शिल्पियों और व्यवहारकुशल पुरुषों के लिए सरल था, विद्वद्वर्ग के लिए वह झगड़े की चीज़ बन गया है। ऐसा क्यों हुआ?

सत्य बात यह है कि आदर्शवादी पूर्व से व्यवहार-कुशल पश्चिम का मिलन प्रारम्भ हुआ है। पूर्वी ढंग का मस्तिष्क रखनेवाले पाश्चात्य विद्वान् भी कला के स्वाभाविक विकास में आदर्शवाद का रङ्ग चढ़ाना चाहते हैं, इसी लिए कला के क्षेत्र में इस प्रकार का मतभेद देखने में आता है। तभी एक नई समस्या कला के क्षेत्र में खड़ी हो गई है। पुराना पेशेवर कलाकार कभी उपदेशक नहीं था और न उसने कभी ऊँचे दर्जे के आदर्शवाद और विश्वबन्धुता के सिद्धान्तों का ही प्रचार

किया। कला के क्षेत्र में साहित्य और सङ्गीत के प्रवेश से मानो इसका उत्तरदायित्व बढ़ गया है। स्वाभाविक गति पर चलनेवाला कलाकार कहता है कि वह केवल कला के लिए ही जीता है, नैतिक उत्थान या पतन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसी दल में फ़्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी कलाकार सम्मिलित हैं। वे कला को उसी मार्ग से ले जाना चाहते हैं जिससे वह हज़ारों वर्षों से चली आ रही है। जैसा प्रकृति का स्वरूप है, जैसा बुरा-भला सामाजिक जीवन है, और जैसी समस्यायें मानव-समाज के सामने हैं, ठीक उनका वैसा ही रूप वे साहित्य-द्वारा संसार के सामने रखना चाहते हैं। उनकी ज़िम्मेदारी केवल यह है कि चित्र हूबहू हो, उसमें कोई त्रुटि न आने पावे। इसके विपरीत आदर्शवादी यह कहता है कि हमारा कर्त्तव्य समाज को उन्नत करना है, उसकी बुराइयों को दूर करना है और उसकी समस्याओं को हल करना है। साहित्य आदर्श की पूर्ति का एक साधन है। वह कला ही क्या जो लोगों को सुधारे ही नहीं। लोगों का मन बहलाइए, लेकिन उस मन-बहलाव में उपदेश की सुरभि भरिए। बस यही समस्या है।

अब कला के साथ सुन्दर उपदेश को जोड़ना, यह एक नई समस्या कलाकार के सामने उपस्थित हो गई है। कलाकार यह तो मान सकता है कि तमाशा अथवा कहानी या कविता ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को समाज के लिए निकम्मा न बना दे, उसका विकास न रोक दे, परन्तु यह बात वह स्वीकार नहीं करता कि अवश्य ही कलाकार को धर्माचार्य भी होना चाहिए। उसका यह मत है कि धर्माचार्य का मस्तिष्क पक्षपात-पूर्ण होता है, वह एकांगी होता है, उसकी आगे बढ़ने की शक्ति मारी जाती है, क्योंकि सच्चरित्रता और धर्म विकास की चीज़ें नहीं हैं, जो देश काल के अनुसार आगे बढ़ सकें, इसलिए इनके साथ कला को बाँधना सर्वथा अनुचित होगा। कला का स्वरूप यह होना चाहिए कि जो शाब्दिक अथवा रँगीला चित्र खींचा जाय वह बिलकुल ठीक और स्वाभाविक हो। उसमें मनोविज्ञान की कोई त्रुटि न हो और मानवीय स्वभाव तथा सामाजिक जीवन का पूरा फ़ोटो हो। यदि कलाकार को पहले से फ़र्ज़ की हुई कसौटियों अथवा आदर्शों के साथ जोड़ दें तो वह कभी भी कोई नई चीज़—कोई रचनात्मक कला—जगत् के सामने पेश नहीं कर सकता। उसकी दशा वही होगी जो किसी साम्प्रदायिक विद्वान् की होती है, जो अपने दिल में पहले से जमे हुए सिद्धान्तों के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या करने लगता है। कलाकार को यथाशक्ति अपने इर्द-गिर्द के मज़हबी अथवा आदर्शवाद के सिद्धान्तों से बिलकुल स्वतन्त्र रहना चाहिए। तभी वह संसार के ज्ञान की वृद्धि कर सकता है।

इतना कथन करने के बाद अब मैं कला की भिन्न भिन्न विकसित अवस्थाओं को ब्योरेवार पाठकों के सामने रखता हूँ। पहली अवस्था कला की व्यावहारिक है। मानव-समाज की प्रारम्भावस्था से ही कला का जन्म हुआ जब समाज भिन्न भिन्न वर्गों में विभक्त था। अपने अपने वर्ग के चिह्न लोगों ने निश्चित किये और उन्हें अपने तीरों, नावों और घरों पर बनाया। किसी ने मृग का रूप अपनाया तो किसी ने गिद्ध का, एक ने सिंह की शक्ल अपने डोंगे पर खींची तो दूसरे वर्ग ने हाथी को अपना प्यारा निशान माना। इस प्रकार पत्थर-युग से लेकर खनिज पदार्थों के विकसित युग तक मनुष्य धीरे धीरे कला में उन्नति करता गया। ज्यों ज्यों उसके सौन्दर्य का ज्ञान बढ़ा, त्यों त्यों भिन्न भिन्न पेशेवर कलाकार अपना समुदाय बनाते गये। वह कला ही उनका धन्धा हो गया। स्त्री सौन्दर्य का केन्द्र है और मनुष्य उसकी ख़ूबसूरती को बढ़ाने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के यत्न करता है। उसी उद्योग में उसने प्राकृतिक पदार्थों को सुई-द्वारा कपड़े पर चित्रित किया और उससे अपनी दुलहिन की पूजा की!

इसी युग में वीर लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने युद्ध की नई कला का आविष्कार किया और वीरों को जितना सुन्दर, जितना अधिकरण-कुशल और जितना योग्य कलाकार बना सकते थे, उतना बनाया। रोटी के संग्राम में भिन्न भिन्न प्रकार के हुनरों की ईजाद हुई

और इस प्रकार व्यावहारिक कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हुआ।

इसके बाद आया देवी-देवताओं का युग। इसे हम काल्पनिक युग कहते हैं। इस युग में कला में श्रद्धा, अन्धविश्वास और मनमानी कल्पना ने स्थान पाया। प्रत्येक सम्प्रदाय में इस युग के कलाकारों की कल्पनाओं के चित्र आज हमारे सामने हैं। निश्चय ही इस युग में कला ने बड़ी उन्नति की है और बड़े बड़े प्रसिद्ध कलाकार इस युग के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने कला-द्वारा अमरत्व-पद प्राप्त कर लिया है। ईसाई-मज़हब के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के पुराने गिर्जे इस कला के ज्वलंत उदाहरण हैं। माता मरियम और ईसा मसीह के सैकड़ों भिन्न भिन्न चित्र उनके भक्त कलाकारों के प्रगाढ़ प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। इसी युग के हज़ारों गद्य और पद्य के ग्रन्थ भी कलाकार लेखकों की कीर्ति को उज्ज्वल करते हैं। इसी प्रकार हिन्दू और बौद्ध कलाकारों की बनाई हुई मूर्तियाँ इस युग के उदाहरण हैं। यह हृदय-प्रधान युग है। मस्तिष्क को इसमें कोई स्थान नहीं। भगवान् बुद्ध कैसे थे? हज़रत ईसा मसीह का चेहरा बचपन में कैसा था? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर कोई नहीं दे सकता। परन्तु कलाकारों ने ऊँची से ऊँची उड़ान भरकर उनके चित्र खींचे हैं—शब्द में, रङ्गों-द्वारा और पत्थरों पर। प्रसिद्ध वैज्ञानिक टिंडल के शब्दों में कि यदि बैल और घोड़ा को ईश्वर मानकर उसकी तसवीर खींचेंगे तो वे अच्छे से अच्छा बैल और अच्छे से अच्छा घोड़ा बनाकर रख देंगे। भगवान् बुद्ध की मूर्तियों को देखिए। चीनियों ने उनका स्वरूप मंगोलियनों जैसा बनाया है और मध्य-एशिया के लोगों ने अपने जैसा। जैसी जिसकी सूझ हुई, वैसी ही उसने अपने इष्ट-देव की शक्ल बनाई। जिस काली की मूर्ति को मैं देखना भी पसन्द नहीं करता, जिस जगन्नाथ जी की मूर्ति मुझे इतनी बीभत्स मालूम होती है, जिस गणेश जी के सिर पर हाथी का सिर देखकर मैं लज्जा अनुभव करता हूँ, चित्र बनाने-वाले कलाकारों ने इन्हें इसी रूप में देखा था। मस्तिष्क से शून्य कला की यही अवस्था होती है। इसमें सत्य के लिए कोई स्थान नहीं, मनमानी कल्पना और अन्धविश्वास ही इसके शस्त्र हैं। मैं कला के इस युग का अधिक प्रशंसक नहीं हूँ।

अब आता है तीसरा युग, जिसे मैं बोध-जन्य युग कहता हूँ। पौराणिक युग की यह प्रतिक्रिया है। इस युग के प्रवर्तक मार्टिन लूथर और स्वामी दयानन्द जैसे सुधारक हैं। इन लोगों ने रोमन कैथोलिक, बौद्ध और पौराणिक मस्तिष्क-शून्य कला का विरोध किया। इन्होंने यह कहा कि कला में भी ज्ञान को स्थान मिलना चाहिए जो मानव-समाज को उन्नत करे और उसे अन्धविश्वासों से निकाले। इसी का विकसित स्वरूप कला का आदर्शवाद है। इस युग में आदर्शवादी लेखक हुए, जो सच्चरित्रता और शिक्षा के विकट पक्षपाती थे। काल्पनिक युग की कला उनके लिए मानो विष थी। इसी कारण वे उस कला के अत्यन्त विरोधी हुए। ऐसे ही सुधारकों को हम विशुद्धतावादी (Puritans) कहते हैं, जिन्होंने काल्पनिक युग में फैली हुई कला की बुराइयों का घोर विरोध किया। वे अपनी छाप कला पर छोड़ गये और कला में आदर्शवाद ने प्रवेश किया। ऋषि टालस्टॉय और महात्मा गांधी इसी शैली के प्रवर्तक हैं, जो कला में अत्यन्त ऊँचे दर्जे की सच्चरित्रता को लाना चाहते हैं और मानव-समाज का उत्थान ही जिनका लक्ष्य है।

चौथा युग है प्रकृतिवादियों का, जो जैसी चीज़ है वैसी ही चित्रित करना चाहते हैं। ये प्रकृति के उपासक हैं और बिलकुल उसकी नक़ल करना चाहते हैं। मैं इस कला को 'Imitative Art' कहता हूँ और दूसरे लेखक इसे 'Realistic Art' कहते हैं। मेरे विचार में इस कला के उपासक प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी हैं। उन्हें अन्धविश्वास से कोई मतलब नहीं, वे झूठी कल्पना नहीं करते और न बे-सिर-पैर की उड़ानें भरते हैं। उनका कोई मज़हब नहीं; न वे देवी-देवताओं के भक्त हैं; पीर-पैग़म्बर उनके पास खड़े नहीं होने पाते और न वे समाज के माने हुए सच्चरित्रता के नियमों के पाबन्द हैं। वे कलाकार हैं। उनमें निरीक्षण की अद्भुत शक्ति है। प्रकृति ने उन्हें

एक अलग इन्द्रिय दी है, जिसके द्वारा वे प्राकृतिक और मानव-समाज के फूलों को सूँघ लेते हैं। उनका लक्ष्य है वस्तु का नङ्गा चित्र खींचना। जैसी जो वस्तु है उसे वैसा ही दिखलाना। वे पहाड़ों पर घूमते हैं, नदी-तट पर जाते हैं, बाग़-बग़ीचों की सैर करते हैं और सौन्दर्य की खोज में संसार की ख़ाक छानते हैं, जहाँ भी जो सुन्दर वस्तु उन्हें मिलती है, उसे वे अपनी कविता अथवा रङ्गों में भर लेते हैं। स्त्री-पुरुषों की नङ्गी तसवीरें खींचने में उनको लज्जा नहीं और न समाज की अश्लील बातों पर उपन्यास लिखने में उन्हें कुछ सङ्कोच ही है। समाज के उत्थान या पतन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वे कलाकार हैं और कला के लिए ही जीते हैं।

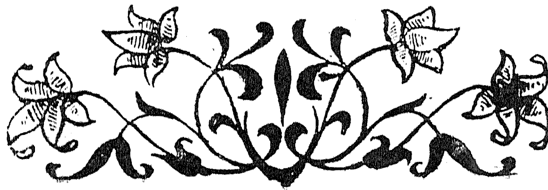
कलाकार का पाँचवाँ युग है रचनात्मक काल। इस युग का कलाकार अपने व्यक्तित्व को समझता है। वह अंजील के ख़ुदा की तरह अपनी शक्ल का आदम बनाना चाहता है। वह ऐसी चीज़ चित्रित करने की इच्छा रखता है जो उसकी हो और संसार से भिन्न हो—जिस पर कोई दूसरा कलाकार अपना हक़ न जमा सके। जैसे स्त्री और पुरुष मिलकर ऐसी सन्तान की रचना करते हैं जो उनकी है और संसार से भिन्न है। उस सन्तान पर उनके व्यक्तित्व की छाप है और कोई भी दूसरा उस पर अपना हक़ नहीं जमा सकता। ठीक इसी प्रकार इस युग का कलाकार यही धुन रखता है कि मैं कुछ रचना करूँ। जो मेरी हो—बस मेरी ही। यह तभी हो सकता है जब उसे आत्मानुभूति हो और उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हो। जिस स्त्री या पुरुष ने अपने आपको दूसरे के व्यक्तित्व में मिला दिया उसका व्यक्तित्व मिट गया। वह कभी भी कोई नई चीज़ संसार को नहीं दे सकता। चौथे युग का कलाकार बेशक कलाकार है। लेकिन वह नक़लची है; वह अभी उम्मीदवार है, कला करना सीखता है। वह कलाकार तभी हो सकेगा जब वह अपने आपको इस विश्व से पृथक् कर फिर विश्व का अध्ययन करना सीखेगा। उस दिन उसमें उसकी आत्मा की जाग्रति होगी और तभी वह नई रचना कर सकेगा।

इसलिए रचनात्मक कला का प्रतिनिधि योरप और एशिया के कलाकारों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाता है। एशिया की कला अपने पौराणिक युग में है, जिसकी व्याख्या करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे कलाकार उसका बचाव करते हुए कहते हैं कि एशिया की कला का सम्बन्ध हृदय की अनुभूति के साथ है—निरीक्षण के साथ नहीं। इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को अटपट पागलों की तरह अनुभव करने लगे और वह कैसी ही मूर्ति खींचकर रख दे तो वह भी एक प्रकार की कला ही मानी जायगी, ऐसा ही हुआ भी है। तभी तो हमारे सामने मस्तिष्कशून्य देवी-देवताओं के चित्र, फ़रिश्तों की मूर्तियाँ और स्त्रियों के रङ्गीन चित्र हैं, जिनका अस्तित्व मस्तिष्क कभी स्वीकार नहीं कर सकता। कलाकार भी पुराने पंडितों की तरह विचित्र हृदय की अनुभूति-द्वारा कला करनेवाले लोगों की कृतियों की व्याख्या करते हुए आपस में लड़ मरेंगे और जन-साधारण को अविद्यान्धकार में ढकेल देंगे। रचनात्मक कला का माननेवाला यह कहता है कि हृदय और मस्तिष्क का बराबर विकास हुए बिना सच्ची कला का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जब मनुष्य विज्ञान की सहायता से मस्तिष्क को अन्ध विश्वासों से अलग रक्खेगा, जब वह रोमन कैथोलिक, पौराणिक और बौद्ध-काल की शिशु-कला को बच्चों का खेल समझ लेगा, जब उसके हृदय से मज़हबी पक्षपात बिलकुल निकल जायँगे और जब वह हृदय और मस्तिष्क की एकता कर अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का स्थापन कर लेगा, तभी इस विश्व के पदार्थ उसे अपना सन्देश सुना सकेंगे।

निस्सन्देह दो प्रकार के जगत् हैं—बाह्य और आभ्यन्तरिक, किन्तु बाह्य जगत् के बिना आभ्यन्तरिक जगत् की रचना नहीं की जा सकती। जो बाह्य जगत् को बुद्धिपूर्वक अध्ययन कर सकता है, उसी का आभ्यन्तरिक जगत् भी निर्दोष हो सकता है। यह बात ग़लत है कि मिट्टी में लथ-पथ रहनेवाला, गन्दी से गन्दी चीज़ खा लेनेवाला और आवारा घूमनेवाला अघोरी आभ्यन्तरिक जगत् को भले प्रकार देख सकता है। समाज में फैले हुए इन झूठे

सिद्धान्तों का मैं घोर विरोधी हूँ। इसी कारण एशिया की उन्नति रुक गई और ऐसे ही भ्रान्ति-पूर्ण सिद्धान्तों के मानने से आज भारतवर्ष के लोग अपनी बेहूदा मूर्तियों का पीछा न छोड़ सके। मस्तिष्क-शून्य हृदय की अनुभूति एक ऐसी भ्रमात्मक उक्ति है जिसकी लीला भारत के बड़े बड़े ग्रेजुएट और दिग्गज पण्डित भी आज तक नहीं जान सके। हृदय की अनुभूति के साथ मस्तिष्क का विकास लाज़िमी है। दोनों साथ साथ चलने चाहिए तभी निर्दोष कला का स्वरूप संसार के सामने आ सकेगा और सौन्दर्य की महिमा हम समझ सकेंगे।

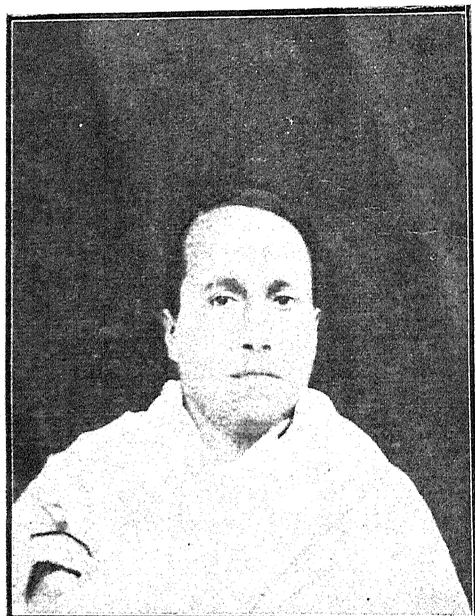
यह बात ठीक नहीं है कि पश्चिम की कला में हृदय की ज्योति की झलक नहीं दिखलाई देती। राजनैतिक क्षेत्र को छोड़कर बाक़ी सब विभागों में पाश्चात्य देशों के विद्वान् बड़ी सचाई और ईमानदारी से सत्य की खोज करते हैं। जब उन्हें अपनी भूल स्पष्ट मालूम हो जाती है तब वे उसे बड़ी उदारता से स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिए कमर कसते हैं। उनकी उदारता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके बड़े बड़े लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्यों ने महात्मा गान्धी जी को एक दूसरा ईसा मसीह स्वीकार किया है। एशिया के लोगों में ऐसी विशाल हृदयता कहाँ! क्या हिन्दू लोग कभी किसी अच्छे से अच्छे योरपीय को भगवान् कृष्णचन्द्र या मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान मान लेंगे? क्या मुसलमान किसी श्रेष्ठतम चरित्रवाले पाश्चात्य महापुरुष को हज़रत मुहम्मद जैसा मान सकते हैं? क्या बौद्ध लोग किसी भी पश्चिमी सच्चरित्र विद्वान् को भगवान् बुद्ध की तरह मानकर उनका आदर करने को तैयार हैं? कदापि नहीं। एशिया के लोगों में इस सम्बन्ध में विनय और उदारता की अत्यन्त कमी है, इसी लिए संसार की दौड़ में वे पीछे रह गये हैं। कला में भी उनकी यही अवस्था है। अपनी भोंड़ी कला को दोषयुक्त न मान कर वे 'हृदय की अनुभूति' की आड़ में उसकी उलटी-सीधी व्याख्या करने बैठ जाते हैं और अपनी कलाशून्य मूर्तियों तथा चित्रों में कोई न कोई विशेषता निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। पश्चिम के चित्रकार अपने मनोविज्ञान और पदार्थ-विज्ञान की सहायता से अपनी कला को बहुत आगे बढ़ा रहे हैं और पूर्व अपनी पुरानी, दक़ियानूसी और भोंड़ी कला की आध्यात्मिक व्याख्या करने में लगा हुआ है। वह यह समझता है कि अपनी भूल मान लेने से शायद उसका गौरव कम हो जायगा। वह अपने अध्यात्मवाद के घमण्ड में अपनी कला की स्पष्ट भूलों को भी देखना नहीं चाहता और पुराने पण्डितों की तरह वेद के मंत्रों से ही सभी अच्छी अच्छी बातें निकालकर अपनी कीर्ति स्थापित करना चाहता है। इसी बीमारी के कारण आज हम कला के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं पहचान रहे हैं। विज्ञान ही संसार का भविष्य बनाएगा और उसी का सहारा लेने से विश्व की कला के रहस्यों का उद्घाटन होगा। हमें अपनी आत्मा में स्वतन्त्रता की दामिनी की स्थापना करनी चाहिए और अपने नेत्रों में विज्ञान का प्रकाश लाना चाहिए। जब तक हम इन दो साधनों को नहीं अपनायेंगे, हमें कदापि बाह्य और आभ्यन्तरिक जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता नहीं लगेगा।

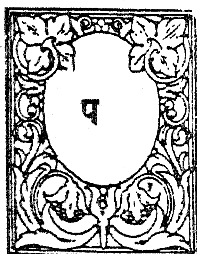


हिन्दुस्तान से हिजरत करके सीमाप्रान्त के एक गाँव में आश्रय ग्रहण करनेवाले एक मुसलमान के धर्मोन्माद की कहानी।

सलीम

बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद'





पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त में एक छोटी-सी नदी के किनारे पहाड़ियों से घिरे हुए उस छोटे-से गाँव पर सन्ध्या अपनी धुँधली चादर डाल चुकी थी। प्रेमकुमारी वासुदेव के निमित्त पीपल के नीचे दीपदान करने आई थी। आर्य-संस्कृति में अश्वत्थ की वह मर्यादा अनार्य-धर्म के प्रचार के बाद भी उस प्रान्त में बची थी, जिसमें अश्वत्थ चैत्य-वृक्ष या वासुदेव का आवास समझ कर पूजित होता था। मन्दिरों के अभाव में तो बोधि-वृक्ष ही देवता की उपासना का स्थान था। उसी के पास लेखराम की बहुत पुरानी परचून की दूकान और उसी से सटा हुआ छोटा-सा घर था। बूढ़ा लेखराम एक दिन जब 'रामा रामा जै जै रामा' कहता हुआ इस संसार से चला गया तब से वह दूकान बन्द थी। उसका पुत्र नन्दराम सरदार सन्तसिंह के साथ घोड़ों के व्यापार के लिए यारकन्द गया था। अभी उसके आने में विलम्ब था। गाँव में दस घरों की बस्ती थी, जिसमें दो घर खत्रियों के और एक घर पण्डित लेखराम मिसर का था। वहाँ के पठान भी शान्ति-पूर्ण व्यवसायी थे। इसी लिए वज़ीरियों के आक्रमण से वह गाँव सदैव सशङ्क रहता था। गुल-मुहम्मदख़ाँ—७० वर्ष का बूढ़ा—उस गाँव का मुखिया—प्रायः अपनी चारपाई पर अपनी चौपाल में पड़ा हुआ काले-नीले पत्थरों की चिकनी मनियों की माला अपनी लम्बी लम्बी उँगलियों में फिराता हुआ दिखाई देता। कुछ लोग अपने अपने ऊँट लेकर बनिज-व्यापार के लिए पास की मंडियों में गये थे। लड़के भी अपनी बन्दूकें लिये पहाड़ियों के भीतर शिकार के लिए चले गये थे।

प्रेमकुमारी दीप-दान और खीर की थाली वासुदेव को चढ़ाकर अभी नमस्कार कर रही थी कि नदी के उतार से अपनी पतली-दुबली काया में लड़खड़ाता हुआ एक थका हुआ मनुष्य उसी पीपल के पास आकर बैठ

गया। उसने आश्चर्य से प्रेमकुमारी को देखा। उसके मुँह से निकल पड़ा, "क़ाफ़िर......।"

बन्दूक़ कन्धे पर रक्खे और हाथ में एक मरा हुआ पक्षी लटकाये वह दौड़ता चला आ रहा था। पत्थरों की नुकीली चट्टानें उसके पैर को छूती ही न थीं। मुँह से सीटी बज रही थी। वह था गुलमुहम्मद का सोलह बरस का लड़का अमीरख़ाँ! उसने आते ही कहा—"प्रेमकुमारी, तू थाली उठा कर भागी क्यों जा रही है? मुझे तो आज खीर खिलाने के लिए तूने कह रक्खा था"।

"हाँ, भाई अमीर! मैं अभी यहाँ और ठहरती, पर क्या करूँ, यह देख न कौन यहाँ आ गया है? इसी लिए मैं घर जा रही थी।"

अमीर ने आगन्तुक को देखा। उसे न जाने क्यों क्रोध आ गया। उसने कड़े स्वर से पूछा—"तू कौन है?"

"एक मुसलमान" उत्तर मिला।

अमीर ने उसकी ओर से मुँह फिरा कर कहा—"मालूम होता है कि तू भी भूखा है। चल तुझे बाबा से कह-कर कुछ खाने को दिलवा दूँगा। हाँ, इस खीर में से तो तुझे नहीं मिल सकता। चल न वहीं, जहाँ आग जलती दिखलाई दे रही है।" फिर उसने प्रेमकुमारी से कहा—"तू मुझे क्यों नहीं देती? वह देख, सब आ जायँगे तब तेरी खीर मुझे थोड़ी ही-सी मिलेगी।"

सीटियों के शब्द से वायुमण्डल गूँजने लगा था। नटखट अमीर का हृदय चञ्चल हो उठा। उसने ठुनक कर कहा—"तू मेरे हाथ पर ही देती जा और मैं खाता जाऊँ।"

प्रेमकुमारी हँस पड़ी। उसने खीर दी। अमीर ने उसे मुँह से लगाया ही था कि नवागन्तुक मुसलमान चिल्ला उठा। अमीर ने उसकी ओर अब की बार बड़े क्रोध से देखा। शिकारी लड़के पास आ गये थे। वे सबके सब अमीर की ही तरह लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाले स्वस्थ, गोरे और स्फूर्ति से भरे हुए थे। अमीर खीर मुँह में डालते हुए न जाने क्या कह उठा और लड़के आगन्तुक को घेर कर खड़े हो गये। उससे कुछ पूछने लगे। उधर अमीर ने अपना हाथ बढ़ाकर खीर माँगने का संकेत किया। प्रेमकुमारी हँसती जाती थी और उसे देती जाती थी। तब भी अमीर उसे तरेरते हुए अपनी आँखों से और भी देने को कह रहा था। उसकी आँखों में से अनुनय, विनय, हठ, स्नेह सभी तो माँग रहे थे, फिर प्रेमकुमारी सबके लिए एक एक ग्रास क्यों न देती? नटखट अमीर एक आँख से लड़कों को दूसरी आँख से प्रेमकुमारी को उलझाये हुए खीर गट-कता जाता था। उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी-फूटी पश्तो में लड़कों से 'क़ाफ़िर' का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था। वे आश्चर्य से उसकी बातें सुन रहे थे। एक ने चिल्ला कर कहा—"अरे देखो, अमीर तो सब खीर खा गया।"

सब लड़के घूमकर अब प्रेमकुमारी को घेर कर खड़े हो गये। वह भी सबके उजले उजले हाथों पर खीर देने लगी। आगन्तुक ने फिर चिल्ला कर कहा—"क्या तुम सब मुसलमान हो?"

लड़कों ने एक-स्वर से कहा—"हाँ पठान।"

"और उस क़ाफ़िर की दी हुई......?"

"यह मेरी पड़ोसिन है!" एक ने कहा।

"यह मेरी बहन है।" दूसरे ने कहा।

"नन्दराम बन्दूक़ बहुत अच्छी चलाता है।" तीसरे ने कहा।

"ये लोग कभी झूठ नहीं बोलते।" चौथे ने कहा।

"हमारे गाँव के लिए इन लोगों ने कई लड़ाइयाँ लड़ी हैं।" पाँचवें ने कहा।

"हम लोगों को घोड़े पर चढ़ना नन्दराम ने ही सिखलाया है। वह बहुत अच्छा सवार है।" छठे ने कहा।

"और नन्दराम ही तो हम लोगों को गुड़ खिलाता है।" सातवें ने कहा।

"तुम चोर हो," यह कहकर लड़कों ने अपने अपने हाथ की खीर खा डाली और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। सन्ध्या उस पीपल की घनी छाया में पुञ्जीभूत हो रही थी। पक्षियों का कोलाहल शान्त होने लगा था। प्रेमकुमारी ने सब लड़कों से घर चलने के लिए कहा। अमीर

ने भी नवागन्तुक से कहा—"तुझे भूख लगी हो तो हम लोगों के साथ चल।" किन्तु वह तो अपने हृदय के विष से छटपटा रहा था। जिसके लिए वह हिजरत करके भारत से चला आया था उस धर्म का मुसलमान-देश में भी यह अपमान! वह उदास मुँह से उसी अन्धकार में कट्टर दुर्दान्त वज़ीरियों के गाँवों की ओर चल पड़ा।

[२]

नन्दराम पूरा साढ़े छः फ़ुट का बलिष्ठ युवक था। उसके मस्तक में केसर का टीका न लगा रहे तो कुलाह और शलवार में वह सोलहो आने पठान ही जँचता। छोटी छोटी भूरी मूँछें खड़ी रहती थीं। उसके हाथ में कोड़ा रहना आवश्यक था। उसके मुख पर संसार की प्रसन्न आकांक्षा हँसी बनकर खेला करती। प्रेमकुमारी उसके हृदय की प्रशान्त नीलिमा में उज्ज्वल बृहस्पति ग्रह की तरह झलमलाया करती थी। आज वह बड़ी प्रसन्नता में अपने घर की ओर लौट रहा था। सन्तसिंह के घोड़े अच्छे दामों में बिके थे। उसे पुरस्कार भी अच्छा मिला था। वह स्वयं अच्छा घुड़सवार था। उसने अपना घोड़ा भी अधिक मूल्य पाकर बेंच दिया था। रुपये पास में थे। वह एक अच्छे से ऊँट पर बैठा हुआ चला आ रहा था। उसके साथी लोग बीच की मण्डी में रुक गये थे, किन्तु काम हो जाने पर उसे तो प्रेमकुमारी को देखने की धुन सवार थी। ऊपर सूर्य की किरणें झलमला रही थीं। बीहड़ पहाड़ी पथ था। कोसों तक कोई गाँव नहीं था। उस निर्जनता में वह प्रसन्न होकर गाता आ रहा था।

"वह पथिक कैसे रुकेगा, जिसके घर के किवाड़ खुले हैं और जिसकी युवती प्रेममयी स्त्री अपनी काली आँखों से पति की प्रतीक्षा कर रही है।"

"बादल बरसते हैं, बरसने दो। आँधी उसके पथ में बाधा डालती है। वह उड़ जायगी। धूप सीना बहाकर उसे शीतल कर लेगा। वह तो घर की ओर आ रहा है। उन कोमल भुज-लताओं का स्निग्ध आलिंगन और निर्मल दुलार प्यासे को निर्झर और बरफ़ीली रातों की गर्मी है।

"पथिक! तू चल, चल। देख तेरी प्रियतमा की सहज नशीली आँखें तेरी प्रतीक्षा में जागती हुई अधिक लाल हो गई हैं। उनमें आँसू की बूँद न आने पावे।"

पहाड़ी प्रान्त को कम्पित करता हुआ बन्दूक़ का शब्द प्रतिध्वनित हुआ। नन्दराम का सिर घूम पड़ा। गोली सर्र से कानों के पास से निकल गई। एक बार उसके मुँह से निकल पड़ा—"वज़ीरी!" वह झुक गया। गोलियाँ चल चुकी थीं। सब ख़ाली गईं। नन्दराम ने सिर उठा कर देखा, पश्चिम की पहाड़ी में झाड़ों के भीतर दो-तीन सिर दिखाई पड़े। बन्दूक़ साध कर उसने गोली चला दी।

दोनों तरफ़ से गोलियाँ चलीं। नन्दराम की जाँघ को छीलती हुई एक गोली निकल गई और सब बेकार रहीं। उधर दो वज़ीरियों की मृत्यु हुई। तीसरा कुछ भयभीत होकर भाग चला। तब नन्दराम ने कहा—"नन्दराम को नहीं पहचानता था? ले तू भी कुछ लेता जा।" उस वज़ीर के भी पैर में गोली लगी। वह बैठ गया और नन्दराम अपने ऊँट पर घर की ओर चला।

सलीम नन्दराम के गाँव से धर्मोन्माद के नशे में चूर इन्हीं सहधर्मियों में आकर मिल गया था। उसके भाग्य से नन्दराम की गोली उसे नहीं लगी। वह झाड़ियों में छिप गया था। घायल वज़ीरी ने उससे कहा—तू परदेशी भूखा बनकर इसके साथ जाकर घर देख आ। इसी नाले से उतर जा। वह तुझे आगे मिल जायगा। सलीम उधर ही चला।

नन्दराम अब निश्चिन्त होकर धीरे धीरे घर की ओर बढ़ रहा था। सहसा उसे कराहने का शब्द सुन पड़ा। उसने ऊँट रोक कर सलीम से पूछा—

"क्या है भाई? तू कौन है?

सलीम ने कहा—"भूखा परदेशी हूँ। चल भी नहीं सकता। एक रोटी और दो घूँट पानी!"

नन्दराम ने ऊँट बैठाकर उसे अच्छी तरह देखते हुए फिर पूछा—"तुम यहाँ कैसे आ गये?"

"मैं हिन्दुस्तान से हिजरत करके चला आया हूँ।"

"ओहो ! भले आदमी, ऐसी ऐसी बातों से भी कोई अपना घर छोड़ देता है ? अच्छा, आओ मेरे ऊँट पर बैठ जाओ ।"

सलीम बैठ गया। दिन ढलने लगा था। नन्दराम के ऊँट के गले के बड़े बड़े घुँघरू उस निस्तब्ध शान्ति में सजीवता उत्पन्न करते हुए बज रहे थे। उल्लास से भरा हुआ नन्दराम उसी की ताल पर कुछ गुनगुनाता जा रहा था। उधर सलीम कुढ़ कर मन ही मन भुनभुना रहा था, परन्तु ऊँट चुपचाप अपना पथ अतिक्रमण कर रहा था। धीरे धीरे बढ़नेवाले अन्धकार में भी वह अपनी उसी गति से चल रहा था।

सलीम सोचता था—"न हुआ पास में एक छुरा, नहीं तो यहीं अपने साथियों का बदला चुका लेता !" फिर वह अपनी मूर्खता पर झुँझला कर विचारने लगा—"पागल सलीम ! तू उसके घर का पता लगाने आया है न ?" इसी उधेड़बुन में कभी वह अपने को पक्का धार्मिक, कभी सत्य में विश्वास करनेवाला, कभी शरण देनेवाले सहधर्मियों का पक्षपाती बन रहा था। सहसा ऊँट रुका और एक घर का किवाड़ खुल पड़ा। भीतर से जलते हुए दीपक के प्रकाश के साथ एक सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। नन्दराम ऊँट बैठाकर उतर पड़ा। उसने उल्लास से कहा—"प्रेमो !"

प्रेमकुमारी का गला भर आया था। बिना बोले ही उसने लपककर नन्दराम के दोनों हाथ पकड़ लिये।

सलीम ने आश्चर्य से प्रेमा को देखकर चीत्कार करना चाहा। पर वह सहसा रुक गया। उधर प्यार से प्रेमा के कंधों को हिलाते हुए नन्दराम ने उसका चौंकना देख लिया।

नन्दराम ने कहा—"प्रेमा ! हम दोनों के लिए रोटियाँ चाहिए ! यह एक भूखा परदेशी है। हाँ, पहले थोड़ा-सा पानी और एक कपड़ा तो देना !"

प्रेमा ने चकित होकर पूछा—"क्यों ?"

"यों ही कुछ चमड़ा छिल गया है। उसे बाँध लूँ ?"

"अरे तो क्या कहीं लड़ाई भी हुई है ?"

"हाँ, तीन-चार वज़ीरी मिल गये थे।"

"और यह ?" कहकर प्रेमा ने सलीम को देखा। सलीम भय और क्रोध से सूख रहा था। घृणा से उसका मुख विवर्ण हो रहा था।

"एक हिन्दू है।" नन्दराम ने कहा।

"नहीं मुसलमान हूँ।" कहते हुए सलीम चिल्ला उठा।

"ओहो, हिन्दुस्तानी भाई ! हम लोग हिन्दुस्तान के रहनेवालों को हिन्दू ही सा देखते हैं। तुम बुरा न मानना।" कहते हुए नन्दराम ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह झुँझला उठा। और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। आज की हँसी कुछ दूसरी थी। उसकी हँसी में हृदय की प्रसन्नता साकार थी। एक दिन और प्रेमा का मुसकाना सलीम ने देखा था, तब जैसे उसमें स्नेह था। आज थी उसमें मादकता, नन्दराम के ऊपर अनुराग की वर्षा ! वह और भी जल उठा। उसने कहा—"काफ़िर, क्या यहाँ कोई मुसलमान नहीं है ?"

"है तो पर आज तो तुमको मेरे ही यहाँ रहना होगा।" दृढ़ता से नन्दराम ने कहा।

सलीम सोच रहा था घर देख कर लौट जाने की बात ! परन्तु यह प्रेमा ! ओह, कितनी सुन्दर ! कितना प्यारभरा हृदय ! इतना सुख ! काफ़िर के पास यह विभूति ! तो वह क्यों न यहीं रहे ? अपने भाग्य की परीक्षा कर देखे !

सलीम वहीं खा-पीकर एक कोठरी में सो रहा और सपने देखने लगा—उसके हाथ में रक्त से भरा हुआ छुरा है। नन्दराम मरा पड़ा है। वज़ीरियों का सरदार उसके ऊपर प्रसन्न है। कर में पकड़ी हुई प्रेमा को उसे दे रहा है। वज़ीरियों की बदला लेने में उसने पूरी सहायता की है। सलीम ने प्रेमा का हाथ पकड़ना चाहा। साथ ही प्रेमा का भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा। उसने तिलमिला कर आँखें खोल दीं। सूर्य की किरणें उसकी आँखों में घुसने लगीं।

बाहर अमीर चिलम भर रहा था। उसने कहा—"नन्द भाई, तूने मेरे लिए पोस्तीन लाने के लिए कहा

था। वह कहां है"? वह उछल रहा था। उसका ऊधमी शरीर प्रसन्नता से नाच रहा था।

नन्दराम मुलायम बालोंवाली चमड़े की सदरी—जिस पर रेशमी सुनहरा काम था—लिये हुए बाहर निकला। अमीर को पहना कर उसके गालों पर चपत जड़ते हुए कहा—"नटखट, ले, तू अभी छोटा ही रहा। मैंने तो समझा था कि तीन महीनों में तू बहुत बढ़ गया होगा।"

वह पोस्तीन पहन कर उछलता हुआ प्रेमा के पास चला गया। उसका नाचना देख कर वह खिलखिला पड़ी। गुलमुहम्मद भी आगया था। उसने पूछा—

"नन्दराम, तू अच्छी तरह रहा?"

"हाँ जी! यहीं आते हुए कुछ वज़ीरियों से सामना हो गया। दो को तो ठिकाने लगा दिया। थोड़ी-सी चोट मेरे पैर में भी आ गई।"

"वज़ीरी"! कह कर बूढ़ा एक बार चिन्ता में पड़ गया। तब तक नन्दराम ने उसके सामने रुपये की थैली उलट दी। बूढ़ा अपने घोड़े का दाम सहेजने लगा।

प्रेमा ने कहा—"बाबा! तुमने कुछ और भी कहा था। वह तो नहीं आया!"

बूढ़ा त्योरी बदल कर नन्दराम को देखने लगा। नन्दराम ने कहा—

"मुझे घर में अस्तबल के लिए एक दालान और बनाना है। इसलिए बालियाँ नहीं ला सका।"

"नहीं नन्दराम! तुझको पेशावर फिर से जाना होगा। प्रेमा के लिए बालियाँ बनवा ला। तू अपनी ही बात रखता है।"

"अच्छा चाचा! अब की बार जाऊँगा तो......ले ही आऊँगा।"

हिजरती सलीम आश्चर्य से उनकी बातें सुन रहा था। सलीम जैसे पागल होने लगा था। मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है। उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना, चुटकी लेने लगी! वह प्रेम को 'क़ाफ़िर' कहता था। आज उसने चपाती खाते हुए मन ही मन कहा—"बुते-क़ाफ़िर!"

(३)

सलीम घुमक्कड़ी जीवन की लालसाओं से सन्तप्त, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असन्तुष्ट युक्तप्रान्त का मुसलमान था। कुछ न कुछ करते रहने का उसका स्वभाव था। जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आन्दोलन खड़ा हुआ था। सलीम भी उसी में जुट पड़ा। मुसलमानी देशों का आतिथ्य कड़वा होने का अनुभव उसे अफ़ग़ानिस्तान में हुआ। वह भटकता हुआ नन्दराम के घर पहुँचा था।

मुसलिम उत्कर्ष का उबाल जब ठंडा हो चला तब उसके मन में एक स्वार्थ-पूर्ण कोमल कल्पना का उदय हुआ। वह सूफ़ी कवियों-सा सौन्दर्योपासक बन गया। नन्दराम के घर का वह काम करता हुआ जीवन बिताने लगा। उसमें भी "बुते-क़ाफ़िर" को उसने अपनी संसार-यात्रा का चरम लक्ष्य बना लिया।

प्रेमा उससे साधारणतः हँसती-बोलती और काम के लिए कहती। सलीम उसके लिए खिलौना था। दो मन दो विरुद्ध दिशाओं में चल कर भी नियति से बाध्य थे एकत्र रहने के लिए।

अमीर ने एक दिन नन्दराम से कहा—"उस पाजी सलीम को अपने यहाँ से भगा दे। क्योंकि उसके ऊपर अमीर को पूरा सन्देह है।" नन्दराम ने हँस कर कहा—"भाई अमीर! वह परदेश में बिना सहारे आया है। उसके ऊपर सबको दया करनी चाहिए।"

अमीर के निष्कपट हृदय में यह बात न जँची। वह रूठ गया। तब भी नन्दराम ने सलीम को अपने यहाँ रहने दिया।

सलीम अब कभी कभी दूर दूर घूमने के लिए भी चला जाता। इसके हृदय में सौन्दर्य के कारण जो स्निग्धता आ गई थी वह लालसा में परिणत होने लगी। प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। एक दिन उसे लँगड़ा वज़ीरी मिला। सलीम की उससे कुछ बातें

हुई। वह फिर से कट्टर मुसलमान हो उठा। धर्म की प्रेरणा से नहीं; लालसा की ज्वाला से !

वह रात बड़ी भयानक थी। कुछ बूँदें पड़ रही थीं। सलीम अभी सशंक होकर जाग रहा था। उसकी आँखें भविष्य का दृश्य देख रही थीं। घोड़ों के पद-शब्द धीरे धीरे उस निर्जनता को भेद कर समीप आ रहे थे। सलीम ने किवाड़ खोल कर बाहर झाँका। अँधेरी उसके कलुष-सी फैल रही थी। वह ठठा कर हँस पड़ा।

भीतर नन्दराम और प्रेमा का स्नेहालाप बन्द हो चुका था। दोनों तन्द्रालस हो रहे थे। सहसा गोलियों की कड़कड़ाहट सुन पड़ी। सारे गाँव में आतङ्क फैल गया।

"वज़ीरी ! वजीरी !"

उन दस घरों में जो भी कोई अस्त्र चला सकता था, बाहर निकल पड़ा। अस्सी वज़ीरियों का दल चारों ओर से गाँव को घेरे में करके भीषण गोलियों की बौछार छोड़ रहा था।

अमीर और नन्दराम बग़ल में खड़े होकर गोली चला रहे थे। कारतूसों की परतल्ली उनके कन्धों पर थी। नन्दराम और अमीर दोनों के निशाने अचूक थे। अमीर ने देखा कि सलीम पागलों-सा घर में घुसा जा रहा है। वह भी भरी गोली चलाकर उसके पीछे नन्दराम के घर में घुसा। बीसों वज़ीरी मारे जा चुके थे। गाँववाले भी घायल और मृतक हो रहे थे। उधर नन्दराम की मार से वज़ीरियों ने मोरचा छोड़ दिया था। सब भागने की धुन में थे। सहसा घर में से चिल्लाहट सुनाई पड़ी।

नन्दराम भीतर चला गया। उसने देखा प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रञ्जित छुरा है। एक वज़ीरी वहीं घायल पड़ा है। और अमीर सलीम की छाती पर चढ़ा हुआ कमर से छुरा निकाल रहा है। नन्दराम ने कहा—"यह क्या है अमीर ?"

"चुप रहो भाई ! इस पाजी को पहले...।"

"ठहरो अमीर ! यह हम लोगों का शरणागत है।" कहते हुए नन्दराम ने उसका छुरा छीन लिया। किन्तु दुर्दान्त युवक पठान कटकटा कर बोला--

"इस सूअर के हाथ, नहीं नन्दराम ! तुम हट जाओ, नहीं तो मैं तुमको ही गोली मार दूँगा। मेरी बहन, मेरी पड़ोसिन का हाथ पकड़ कर यह खींच रहा था। इसके हाथ......।"

नन्दराम आश्चर्य से देख रहा था। अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ ही दी। सलीम चिल्ला कर मूर्छित हो गया। प्रेमा ने अमीर को पकड़ कर खींच लिया। उसका रणचण्डी वेश शिथिल हो गया था। सहज नारीसुलभ दया का आविर्भाव हो रहा था। नन्दराम और अमीर बाहर आये।

वज़ीरी चले गये थे।

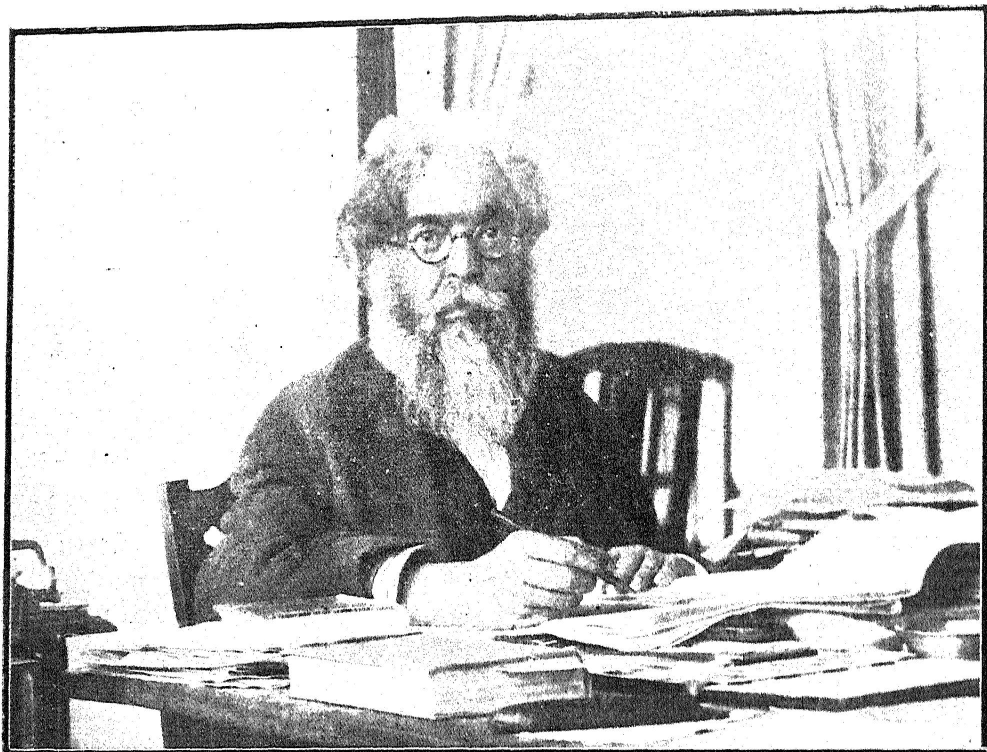
× × × ×

एक दिन टूटे हुए हाथ को सिर से लगा कर जब प्रेमा को सलाम करते हुए सलीम उस गाँव से बिदा हो रहा था तब प्रेमा को न जाने क्यों उस अभागे पर ममता हो आई। उसने कहा—"सलीम ! तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है तो वहाँ जाकर क्या करोगे ? यहीं पड़े रहो।"

सलीम रो रहा था। वह अब भी हिन्दुस्तान जाने के लिए इच्छुक नहीं था। परन्तु अमीर ने कड़क कर कहा—"प्रेमा ! इसे जाने दे ! यहाँ ऐसे पाजियों का काम नहीं।"

सलीम पेशावर में बहुत दिनों तक सराय में भीख माँग कर खाता और जीता रहा। उसकी "बुते-क़ाफ़िर" वाले गीत को लोग बड़े चाव से सुनते थे।





पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि श्रीयुत सेंट निहालसिंह की यह अत्यन्त लोकप्रिय लेख-माला इस वर्ष भी जारी रहेगी। इस लेख में उन्होंने स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी ऐसी रहस्यपूर्ण बातों का उल्लेख किया है जो अब तक किसी भी समाचार-पत्र में किसी लेखक ने नहीं लिखीं। ऊपर के चित्र में पाठक इस जगत् विख्यात पत्रकार को अपना लेखन-कार्य्य करते हुए देख सकते हैं।

विट्ठलभाई जवेरभाई पटेल

श्रीयुत सेंट निहालसिंह

[१]

एक ऐसा भी मनुष्य है जो कह सकता है—"मैं विट्ठलभाई जवेरभाई पटेल को जानता था, परन्तु उनकी ओर से मैं सर्वथा उदासीन था।"

विट्ठलभाई से जो मिलता था उसे या तो वे अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे या उसे अपने से विमुख कर देते थे। मिलनेवाला या तो उनसे प्रेम करता था या घृणा करता था। या कदाचित् यह कहना अधिक सत्य

होगा कि वे एक ही व्यक्ति को बारी बारी से अपनी ओर आकर्षित और अपने से विमुख करते थे। उनकी मुस्कुराहट में आकर्षण और उनके कटाक्षों में घृणा का भाव मिश्रित रहता था।

कोई उनसे चाहे प्रेम करे चाहे घृणा, परन्तु यह असम्भव है कि कोई उनकी बुद्धि की प्रशंसा न करे। उनकी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि वे कवच में एक न एक छिद्र खोज लेते थे और धुनी और उद्योगी इतने थे कि उसी दरार पर तब तक चोट करते चले जाते थे जब तक उनका मार्ग रोकनेवाली लोहे की दीवार चूर चूर नहीं हो जाती थी।

[२]

मैं प्रथम बार उनसे सन् १९१९ में एक दिन शाम को मिला था। उस दिन मैं लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक से जो लंदन के "मैडावेल" नामक एक पश्चिमी महल्ले में रहते थे, मिलने गया था। वे वहाँ एक-दो दिन पहले पहुँचे थे और उस समय बीमार थे।

उनकी अवस्था कोई विशेष ख़राब न थी, परन्तु उनका बिस्तर में लिपट कर बैठने का ढङ्ग करुणोत्पादक था। कदाचित् भारतवर्ष में वे जिस प्रकार के लाड़-प्यार के आदी थे वह उन्हें सबका सब वहाँ नहीं मिल रहा था। वे मित्रों के बीच में थे और वे सब मित्र उन पर स्नेह रखते थे। परन्तु वे लोग लंदन में थे और उनका कार्य्य राष्ट्रीय और महत्त्वपूर्ण था, इसलिए वे विट्ठलभाई पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रीभूत नहीं कर सकते थे।

यदि घर में कोई बीमार हो तो हमारे देश की स्त्रियाँ इतना अधिक स्नेह-भाव प्रदर्शित करती हैं कि वे हम पुरुषों को बिगाड़ देती हैं। सच तो यह है कि कुछ पुरुष इतना अधिक दुलराये जाते हैं कि वे सदैव बच्चे ही बने रहते हैं।

उस दिन शाम को जब मैंने विट्ठलभाई से हाथ मिलाया तब मुझे उनके गृहजीवन का कुछ भी पता न था। परन्तु उनकी मुखाकृति और व्यवहार से यह झलक रहा था कि वे अपनी माता के बड़े ही लाड़ले बेटे रहे होंगे। मैंने देखा कि वे अपनी माता का स्मरण-सा



[स्वर्गीय प्रेसीडेंट पटेल]

कर रहे थे और वे उन बीमार के बिस्तर पर झुककर उन्हें दुलराने के लिए वहाँ नहीं थीं।

यह उनके लिए और मेरे लिए भी अच्छा ही था कि मेरी और उनकी भेंट इस परिस्थिति में हुई थी। जो भारतीय नेता के रूप में ग्रहण किये जाते हैं वे अत्यधिक सम्मान के आदी हो जाते हैं और मेरे जीवन का अनुभव यह रहा है कि मैं किसी की कभी बढ़ाकर प्रशंसा नहीं करता।

बाद को जब कभी मैं पटेल का स्वागत-सत्कार होते हुए देखता था तब उनका लंदन के उस एकान्त कमरे में बीमारी का चित्र मेरी आँखों के सामने खिंच जाता था और मैं उनकी इस प्रकार बहलाये जाने की इच्छा पर हँसता था। मैं कह नहीं सकता कि उन्हें इस स्थिति का स्मरण था या नहीं, परन्तु मेरे उनके परिचय के आरम्भ-काल में मैंने यह देखा कि यदि हँसी-मज़ाक होता था और मैं भी उस समय उपस्थित रहता था तो वे उसमें भाग नहीं लेते थे।

[३]

अच्छे होने पर विट्ठलभाई पटेल वेस्ट मिनिस्टर में रहने चले गये। यह स्थान पार्लियामेंट की इमारतों और इंडिया आफ़िस से बहुत दूर नहीं था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वे नेशनल लिबरल क्लब में या वहीं पास ही कमरा लेकर रहते थे।

स्थान बदलने का कारण उन्होंने यह बतलाया कि वे मामले के निकट रहना चाहते थे। उनका यह तर्क ठीक जँचता था। लंदन की पार्लियामेंट के भवनों से उनके मकान में ढेला फेंका जा सकता था। परन्तु मुझे जान पड़ा कि स्थान-परिवर्तन करने में उनकी तिलक से दूर रहने की भी इच्छा थी। क्योंकि लोकमान्य उस समय अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे और पटेल का सितारा अभी बहुत ऊँचा नहीं चढ़ा था। मेरी धारणा सत्य भी हो सकती है और ग़लत भी; परन्तु अब वह व्यर्थ है।

परन्तु उस समय भी पटेल किसी अन्य को अपने से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं स्वीकार कर सकते थे। भारतवर्ष को नवीन विधान देने के लिए मिस्टर मांटेग्यू के प्रयत्न से बने बिल पर विचार करने के लिए पार्लियामेंट के दोनों भवनों की कमेटी नियुक्त की गई। कमेटी के सामने गवाही देने के लिए नेशनल कांग्रेस का जो डेलीगेशन विलायत गया था उसके वे मन्त्री थे। वे अपने सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता के साथ विचार करते थे और मज़ा तो यह था कि वे इस बात की ज़िद करते थे कि दूसरे लोग भी उन्हें वैसा ही समझें।

जिस संस्था ने उन्हें भारतवर्ष से भेजा था उसका उन्हें बड़ा गर्व था। इस सम्बन्ध में मैं उनसे सहमत था, क्योंकि भारतवर्ष की सबसे प्राचीन और सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था होने के कारण कांग्रेस का कोई भी कार्य्यकर्ता अपने पद का गर्व कर सकता है।

वस्तुस्थिति को देखते हुए विट्ठलभाई जैसे व्यक्ति का कांग्रेस के डेलीगेशन का मन्त्री होना सर्वथा उपयुक्त था। वे साहसी भी थे और ज़िद्दी भी। उस समय वे गुण बड़े महत्त्व के थे।

उन दिनों की उस ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देने के लिए भारतवर्ष की कितनी ही नगण्य राजनैतिक संस्थाओं ने अपने प्रतिनिधि भेजे थे। इन प्रतिनिधियों में से कुछ लोग उद्दण्ड और तेज़-तर्रार भी थे। वे अपनी संस्थाओं को कांग्रेस के ही समान और कोई कोई तो उससे भी बढ़कर समझते थे। वे अपनी उदारता का गर्व करते थे।

अधिकारियों को उनकी पीठ थपथपाने में मज़ा आता था। क्योंकि उनके गर्जन के भीतर कोई बल न था। वे बातें तो बड़ी दूर की करते थे, पर जो कुछ उन्हें दिया जाता उसी को वे बच्चों की भाँति चुपचाप लेकर चले आ सकते थे। इसलिए अधिकारी लोग इन प्रतिनिधियों को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। जिनके नाम-मात्र के अनुयायी थे उनकी भी बड़ी क़द्र थी।

यदि विट्ठलभाई पटेल जैसा कोई व्यक्ति वहाँ न गया होता तो ये भारतीय लंदन में जाकर मौज करते और कांग्रेस का ख़ातमा करके चले आते। उन सबों से अधिक उद्दण्ड होने के कारण ही वे उन्हें चैन से नहीं रहने देते थे। उनका हमेशा मज़ाक उड़ाते रहते थे और मज़ाक भी ऐसा कि छुरे की भाँति काटनेवाला। ऐसे अवसरों पर उनका भाषण सुनने ही लायक़ होता था। उनको देखकर मुझे उस शैतान लड़के की याद आ जाती थी जो अपने प्रतिद्वन्द्वी के परिश्रम से फुलाये हुए ग़ुब्बारे में सुई चुभो दे।

नर्म-दल के किसी भी व्यक्ति के घमंड का ग़ुब्बारा वे अपने एक मज़ाक से पचका देते थे। उनकी बात का प्रभाव इतना अधिक पड़ता था कि जिसके सम्बन्ध में वे कहते थे उसका चेहरा उसी समय फीका पड़ जाता था और उसको छोड़कर शेष लोग हँस पड़ते थे।

[४]

विट्ठलभाई पटेल का यह विचार था कि मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट भेदोत्पादक सिद्ध हुई है। मेरी भी यही धारणा थी। क्योंकि उसके अनुसार दिये गये विधान के पहले किसी ने मदरास-प्रान्त में उठनेवाले ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न को कभी सुना भी न था। और

न किसी ने माडरेट कान्फ़रेंस नाम की एक कांग्रेस से अलग संस्था की कल्पना ही की थी। मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड स्कीम से देश का क्या भला होगा, यह उस समय देखना बाक़ी था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय राजनीतिज्ञों में मतभेद उत्पन्न करके इस स्कीम ने भारत की कठिनाइयों को और बढ़ा दिया था।

इतना होते हुए भी सोचते थे कि कोई भी अपने नाम का ध्यान रखनेवाला भारतीय यह नहीं कह सकता कि भारत पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं है। वे इस बात की ज़िद करते थे कि उनके देशवासी अँगरेज़ों से मर्द की भाँति वह उत्तरदायित्व माँगें। भारत का शासन अँगरेज़ों के हाथ से निकल कर भारतीयों के हाथ में आना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से वे इससे कम में सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे।

लंदन में उस समय विभिन्न राजनैतिक दलों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी भारतीय थे उन सबको उन्होंने यह सलाह दी कि मिस्टर मांटेग्यू की २० अगस्त सन् १९१७ वाली घोषणा की कतिपय शर्तों को वे स्वीकार न करें, क्योंकि उन शर्तों के अनुसार भारत को उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन दिये जाने के समय और सीमा का निर्णय करना विदेशियों के हाथ में होगा।

भारतीय नेताओं को उन्होंने यह याद दिलाई कि श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १९१७ की इंडियन नेशनल कांग्रेस में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि पार्लियामेंट एक समय निश्चित कर दे जिसके भीतर भारतवर्ष का शासन भारतीयों के हाथ में सौंप दिया जाय। और श्रीमती एनीबेसेंट इस मामले में उनसे भी आगे थीं। उन्होंने कांग्रेस के उसी अधिवेशन में यह घोषणा की कि यह समय पन्द्रह वर्ष का निश्चित कर दिया जाय। पटेल ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारतवर्ष की इच्छा की पूर्ति करने में ब्रिटेन को कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। क्योंकि भारतवासियों को 'कामनवेल्थ आव् नेशंस' से अलग रहने की इच्छा नहीं है। वे स्वाधीन प्रजातन्त्र शासन की स्थापना नहीं करना चाहते, किन्तु कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका के समान औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते हैं।

१९१९ के ग्रीष्मकाल में जब मेरी पटेल से भेंट हुई थी तब वे भीतर और बाहर सर्वत्र इसी प्रकार की बातें करते थे।

[५]

अपना निवासस्थान बदलने के बाद शीघ्र ही उन्होंने एक दिन मेरे घर पर आकर मुझसे भेंट की। वे एक नवयुवक ब्राह्मण वकील श्रीयुत एस० सत्यमूर्ति के साथ आये थे। ये महाशय उन दिनों मदरास-प्रान्त की राजनीति में अपना मार्ग बना रहे थे। हाल में इन्होंने एक दल का निर्माण किया है, जो महात्मा गान्धी के साथ मौखिक सहानुभूति प्रकट करता है, परन्तु वास्तव में उनका विरोधी है।

मुझे प्रथम वार ही इस बात का अनुभव हो गया कि इंडियन नेशनल कांग्रेस के ये मंत्री महोदय किसी मनुष्य की प्रशंसा भी उतनी ही अच्छी तरह कर सकते हैं जितनी अच्छी तरह कि उसको छोटा बना कर दिखा सकते हैं। उन्होंने भारत के समाचार-पत्रों में छपनेवाले मेरे लेखों की प्रशंसा की और कहा कि वे वर्षों से मेरे लेख पढ़ र[illegible] हैं। उनकी प्रशंसा से मैं प्रभावित हुआ। यह अनु[illegible] करके मुझे प्रसन्नता हुई कि मैं उनकी प्रशंसा का उत्त[illegible] दे सकता था। मैं उनकी लेजिस्लेटिव सभा की कार[illegible] को ध्यान से पढ़ा करता था। बम्बई-प्रन्त में [illegible] सम्बन्धी एक क़ानून बनवाने के लिए [illegible] बड़ी प्रशंसा की थी। उस क़ानून के अनुसार सर्वसाधारण के लिए शिक्षा सरल हो गई थी।

[६]

इसके कुछ समय बाद जब उन्होंने इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में रौलट बिल का विरो[illegible] किया तब मुझे उनकी प्रशंसा के लिए शब्द न मिले थे। इस बिल की भारत में और बाहर भी बड़ी निन्दा हुई थी। क़ानून बनवानेवालों के सिवा शेष सबकी यही राय थी कि यह विधान देश की स्वाधीनता को पङ्गु बनानेवाला है।

मेरे जीवन का एक अच्छा भाग ऐसे देशों में व्यतीत हुआ है जहाँ लोगों को लिखने-बोलने और चलने-फिरने

की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है। मैंने देखा था कि युद्ध के पश्चात् इन देशों में भी जनता की स्वाधीनता का कितना अपहरण किया गया था। इसलिए लंदन में अपने अध्ययन के कमरे में बैठा बैठा मैं भारत में अधिकारियों के अपने हाथ में अधिकाधिक शक्ति लेने के प्रयत्न पर बराबर दृष्टि रखता था। मैंने भारतीयों के, अधिकारियों से मिल-जुलकर रौलट बिल न उपस्थित करने के प्रयत्न पर और बाद को जब अधिकारियों ने उनकी विनय पर ध्यान नहीं दिया तब व्यवस्थापिका सभा में उसको गिराने के प्रयत्न पर भी ग़ौर किया था।

जिस ढङ्ग से व्यवस्थापिका सभा के सदस्य भेद-भाव छोड़कर इस बिल का विरोध करने में एकमत हुए थे वह प्रशंसनीय था। जो लोग चुनाव के द्वारा नहीं बल्कि अधिकारियों की कृपा से उस स्थान पर पहुँचे थे उनको भी बिल के विरोध में सहयोग करते देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी।

६००० मील की दूरी पर बैठे हुए भी मैंने इस युद्ध को इतनी बारीकी से देखा था कि इसमें विट्ठलभाई पटेल ने जो भाग लिया था उससे मैं सर्वथा परिचित हो गया था। उनकी बुद्धि, उनकी दृढ़ता और उनके साहस पर मैं मुग्ध था।

आरम्भ में जब मैंने विट्ठलभाई से बातें की थीं तभी मेरे हृदय पर उनकी देशभक्ति का प्रभाव पड़ा था। जान पड़ता था जैसे भारतीयों को राजनैतिक स्वाधीनता दिलाने के अतिरिक्त उनकी और कोई इच्छा ही न हो। उनकी समस्त शक्ति उसी दिशा में व्यय होती थी।

[७]

परन्तु उनके स्वभाव में कतिपय ऐसी बातें थीं जो मुझे प्रिय नहीं थीं। कभी कभी उनके हृदय की बात समझना असम्भव हो जाता था। ऐसे अवसरों पर प्रश्न करने पर वे बहुत संक्षिप्त और बेतुका उत्तर देते थे। उनसे भलीभाँति परिचित होने से पूर्व मैं इस बात पर आश्चर्य किया करता था कि वे संशयात्मा तो नहीं हैं? क्या वे दूसरों को अपने इरादे तब तक नहीं बताते जब तक ये पूरे नहीं हो जाते। एक-आध बार मैंने यह भी सोचा कि कदाचित् उनका ज्ञान संकुचित है और वे ऐसे उत्तर इसलिए देते हैं कि प्रश्न-कर्ता को उनकी कमज़ोरी का पता न लगे। कभी कभी उनकी बातों में द्वेष का भी आभास मिलता था।

ज्यों ज्यों समय व्यतीत हुआ और मैंने उनका अधिकाधिक परिचय प्राप्त किया, त्यों त्यों यह अनुभव किया कि उनके सम्बन्ध में उक्त धारणाओं में से कोई भी न्याययुक्त नहीं है। उनके सोचने, बोलने और बर्ताव करने का ढङ्ग उन परिस्थितियों का परिणाम था जिनमें उनका बचपन और युवावस्था का प्रारम्भ-काल व्यतीत हुआ था।

[८]

उनकी जन्मभूमि गुजरात का कुछ भाग मैंने देखा था। वह एक अत्यन्त आनन्दप्रदायक स्थान है। वहाँ की भूमि उर्वरा है और भलीभाँति जोती जाती है। वहाँ के निवासी उसे उपवन कहते हैं जो अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं है।

जिन किसानों के बीच में वे पले थे वे अत्यन्त तुच्छ समझे जाते थे। परन्तु वह धारणा केवल उन व्यक्तियों की थी जिनके विचार पथभ्रष्ट होकर भटक गये थे। यह सत्य है कि इस कृषक-समाज के पास धन का अभाव था, परन्तु इसके पास जो गुण थे वे उस अभाव की पूर्ण रूप से पूर्ति करते थे। इसकी रुचि सादी थी। स्वभाव भी वैसा ही था। दुर्व्यसनों से यह मुक्त था। यह हृष्ट-पुष्ट, परिश्रमी, मितव्ययी और सन्तोषी कृषकों का समाज था। तूफ़ान के सामने यह झुक जाता था, परन्तु उसके जाते ही यह फिर सँभल जाता था। कदाचित् इन सुन्दर गुणों से युक्त होने के कारण इस समाज में स्वाधीनता और ज़िद के भाव थे।

मुझसे यह बताया गया है कि गुजरात का यह कृषक-समाज उन क्षत्रियों का वंशज है जो उत्तरी-पश्चिमी भारत से यहाँ आकर बसे थे। परन्तु मैं इसका कोई प्रमाण नहीं देता। यहाँ मैं केवल सुनी बात लिख रहा हूँ।

[९]

यदि विट्ठलभाई अपने अन्य साथियों की भाँति अपने पूर्वजों के खेत में परिश्रम करके ही सन्तोष कर लेते तो

संसार कभी उनका नाम भी न सुनता। हुआ यह कि बजाय खेत में परिश्रम करने के वे स्कूल गये और वकील बनने की इच्छा की और तब तक दम न ली जब तक वास्तव में वकालत नहीं करने लगे।

उन दिनों जो लोग लंदन से डिग्री प्राप्त करके आते थे उनकी भारत में ही पढ़नेवालों की अपेक्षा अधिक क़द्र होती थी। इस भाव को बदलना विट्ठलभाई की शक्ति के बाहर का काम था। परन्तु वे दूसरे दर्जे के वकील नहीं कहलाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस घेरे से जितनी शीघ्र हो सके, निकल जाने का निश्चय किया।

बैरिस्टर बनने के लिए कालापानी पार करने में उन्हें झिझक नहीं थी, परन्तु कठिनाई यह थी कि आवश्यक व्यय कहाँ से आवे? वे जानते थे कि उनके परिवार के लोग उनकी सहायता नहीं कर सकते।

उन्होंने ब्रिटेन जाने के लिए चुपचाप धन जोड़ना प्रारम्भ किया। उनके मुवक्किल भी ग़रीब ही थे। और जिस अदालत में वे प्रैक्टिस करते थे वहाँ, और बड़ौदा में भी जहाँ वे आमदनी बढ़ाने के उद्देश से चले गये थे, उनके जैसे वकीलों को मेहनताना भी कम ही मिलता था। लंदन में बैरिस्टरी पढ़ने के लिए कम से कम धन जितना आवश्यक हो सकता था उसका उन्होंने हिसाब लगाना और उसे जुटाना प्रारम्भ किया।

लंदन में पहुँचने पर उन्होंने अपने आपको उन समस्त विनोदों से वञ्चित रक्खा जो उनके साथी जीवन का एक आवश्यक अङ्ग समझते थे। उनके पास उन बातों के लिए धन भी न था।

यह स्थिति उनके हक़ में अच्छी ही थी। क़ानून का ज्ञान प्राप्त करने में ही उनकी शक्ति लगने लगी। उससे जो बचता उसे वे इँग्लेंड की राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन करने में लगाते।

[१०]

धन-लोभी न होने के कारण इँग्लेंड से लौटने पर वे अपनी जीविकोपार्जन के कार्य्य में डटकर नहीं लगे। इस कार्य्य को वे आवश्यक व्यय प्राप्त करने का साधन-मात्र मानते थे। उनकी आवश्यकतायें न्यून थीं और जब तक वे पूरी होती रहती थीं, उन्हें सन्तोष था।

बम्बई में वकालत आरम्भ करने के पश्चात् ही विट्ठलभाई ने अपने एक मित्र से कहा था—"द्रव्योपार्जन में मुझे मज़ा नहीं आता। मैं देश की सेवा करना अधिक पसन्द करूँगा। परन्तु मेरे सामने कठिनाई यह है कि बिना वकालत किये मैं अपना रोज़ का मामूली व्यय भी नहीं चला सकता। इसलिए मैं अदालत में जाना और जो कुछ मिल जायगा उसे स्वीकार करना जारी रक्खूँगा। यद्यपि इस प्रकार का कार्य्य मुझे अखरता बहुत है।"

उनके ये मित्र महोदय बड़े धनी व्यक्ति थे और यदि मुझे ठीक ख़बर मिली है तो मैं कहूँगा कि इन्होंने विट्ठलभाई को आर्थिक सहायता देकर वकालत के बन्धन से मुक्त कर देश के कार्य्य के लिए उन्हें स्वाधीन कर दिया था। उनके ये मित्र भी कोई बड़े देशभक्त ही रहे होंगे।

[११]

लंदन में जब मैं पटेल से मिला तब मैंने देखा कि वे उन भारतीयों में नहीं थे जो वहाँ बड़ी शान-शौकत से रहने में विश्वास करते थे। वे एक सादे मकान में रहते थे और सादा खाना खाते थे। भड़कीले होटलों से उन्हें प्रेम न था और न वे वैसी जगहों में ग़रीब देश के धन पर लोगों को बुलाकर दावतें देते थे। वे मशीन से सिले हुए फ़ैशनेबुल कपड़े नहीं पहनते थे और न प्राइवेट मोटरों में चलते थे।

मैं अपने कुछ देशवासियों को जानता था जो देश के ही कार्य्य से आये थे, परन्तु ऊपर लिखे हुए सब कार्य्य करते थे। मेरा यह तात्पर्य्य नहीं है कि वे क्रूर थे। उनकी भूल यह थी कि वे सोचते थे कि लंदन में ख़ास कर अपने अँगरेज़ दोस्तों पर पानी की भाँति रुपया बहाकर वे भारत का हित-साधन कर रहे हैं।

भारत के एक ऐसे ही स्वयम्भू दूत की बात मुझे यहाँ याद आ रही है। उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया था कि संसार हमारे देश का परिचय हम

लोगों के विदेश में रहन-सहन के ढङ्ग से ही पा सकता है। उन्होंने मुझसे कहा कि जो भारतीय अँगरेज़ों को अपने पक्ष में प्रभाव के साथ लाना चाहे उसे सस्ते होटलों में न रहना चाहिए और ऐसे विश्रामगृहों में चाय आदि न पीनी चाहिए जिनमें टाइपिस्ट लड़कियां और नीचे दर्जे के लोग आते-जाते हैं।

ये महोदय इस प्रकार सोचते ही नहीं थे, किन्तु इसी प्रकार रहते भी थे, मानो उनके पास अपार धन था। और मज़ा तो यह कि उनके पास जो कुछ भी था वह उनका नहीं था।

विट्ठलभाई पटेल से लंदन में मिलकर मैंने देखा कि वे इस प्रकार के व्यक्तियों में नहीं थे। वे अर्थशास्त्री थे, कम से कम वहाँ जहाँ उनके देशवासियों का धन व्यय होता था, बिना प्रयोजन एक पाई ख़र्च करने में भी उन्हें दुख होता था। बिगड़ी रुचि के लोग उन्हें कंजूस कहते थे। पर वे परवा नहीं करते थे। और जो लोग दूसरों के धन पर मनमाना ख़र्च करते थे उनके सम्बन्ध में उनके कटाक्ष बड़े कड़े होते थे और उन्हें डङ्क की भांति चुभते थे।

[१२]

अपनी आवश्यकताओं को काटते-छाँटते रहने पर भी मैंने देखा था कि वे ऐसे लोगों की दावत में जिनसे उन्हें भारत के स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायता मिल सकती थी, ख़र्च करने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाते थे। उनका वह गुण मुझे पसन्द था।

इसमें सन्देह नहीं कि वे असाधारण रूप से बुद्धिमान् थे, तथापि मित्रभाव से मिलनेवाले लोग उनके हृदय में अपना स्थान बना लेते थे। इससे मुझे आश्चर्य भी होता था और निराशा भी। लंदन में आने के पश्चात् ही कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की सद्भावना पर उन्होंने बड़ा विश्वास कर लिया था। मेरा ख़याल था कि उनकी यह धारणा निराधार थी। इन राजनीतिज्ञों ने उनसे भारत के सम्बन्ध में मीठी-मीठी बातें की होंगी और भारत का हित-साधन करने के लिए उन्हें विश्वास दिलाया होगा, बस वे उनके चक्कर में आ गये थे।

मेरा यहाँ यह तात्पर्य्य नहीं है कि जिन अँगरेज़ों से उन्होंने एक प्रकार का सहयोग प्राप्त किया था वे प्रवञ्चक थे। वे सब सम्मानित स्त्री-पुरुष थे और उनके भावों पर सन्देह नहीं किया जा सकता था। परन्तु प्रश्न तो यह है कि जब भारत और ब्रिटेन में मतभेद उत्पन्न होता तब क्या वे भारत के स्वार्थ को ब्रिटेन के स्वार्थ के मुक़ाबले में अधिक महत्त्व देते। कहते वे यही थे कि वे भारत के स्वार्थ को अधिक महत्त्व देंगे। परन्तु मैं अपने अन्तस्तल में पूर्णरूप से जानता था कि वे ऐसा कदापि न कर सकेंगे।

मैं ऐसा दो कारणों से सोचता था।

पहला कारण यह था कि वे अँगरेज़ थे और अँगरेज़ों के वंशज थे। अँगरेज़ों के स्कूलों में अँगरेज़ों की लिखी पुस्तकों-द्वारा उन्हें शिक्षा मिली थी। अपने जन्मकाल से ही जिस वायुमंडल में वे साँस ले रहे थे वह ब्रिटेन की भक्ति से व्याप्त था। उनकी रग रग में यह विचार समाया हुआ था कि "ब्रिटानिया लहरों पर शासन करती है," "मेरा देश सर्वोपरि है," "ग़लत हो चाहे ठीक, मेरा देश मेरा देश है" और "मेरा देश पहले है।"

दूसरा कारण यह था कि ऐसी परिस्थिति में पलने पर भी जो लोग भारत का ख़याल पहले करने का दावा करते हैं, क्या दोनों देशों के स्वार्थों में संघर्ष होने पर वे ऐसा करने पावेंगे?

मुझे यह स्मरण था कि ब्रिटिश हाउस आव् कामन्स में जो लोग गये थे वे वहाँ सरकार के किसी उच्च पदाधिकारी की कृपा से नहीं पहुँचे थे, बल्कि इँग्लेंड की जनता के वे प्रतिनिधि थे। जिन लोगों ने उन्हें चुनकर भेजा था वे मज़दूर-श्रेणी तक के होते हुए भी अपढ़ और मूर्ख नहीं थे। उनमें से कुछ अत्यन्त शिक्षित थे। अपने देश के इतिहास के आरम्भ से ही वे स्वाधीनता के वायुमण्डल में लालित-पालित होते आ रहे हैं। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उनमें से कुछ उन मेम्बरों पर अवश्य दृष्टि रक्खेंगे जिन्हें उन्होंने चुनकर पार्लियामेंट में भेजा है। और जब देखेंगे कि वे जिस उद्देश से भेजे गये हैं उससे दूर जा रहे हैं तब अवश्य उनकी प्रतारणा करेंगे।

ऐसी परिस्थिति में यह आशा करना कि कोई अँगरेज़ जो ब्रिटिश निर्वाचन-क्षेत्र से पार्लियामेंट में पहुँचेगा, भारत की भलाई की बात सोचेगा और ऐसी बात सोचेगा जो ब्रिटेन के हित के अनुकूल न हो, व्यर्थ है। विट्ठल-भाई पटेल इस सत्य बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे। कम से कम उस समय वे मुझे ऐसे ही जान पड़े।

[१३]

ब्रिटेन में वर्षों, विद्यार्थी या यात्री के रूप में नहीं बल्कि वहाँ के समाचार-पत्रों का एक अङ्ग बनकर रहने का अवसर पाने के कारण मैं यह जान गया था कि अपने अन्तःकरण में अँगरेज़ अपने देश के स्वार्थ को क्या महत्त्व देते हैं। उनके उस गुण का मैं आदर करता था, क्योंकि उनमें से बहुत कम लोग उसको प्रकट करते थे। इसके विपरीत मैंने देखा कि भारतीयों की देशभक्ति जो कुछ थी भी वह केवल मौखिक थी।

युद्ध के दिनों में मैंने अँगरेज़ों की देशभक्ति देखी। प्रत्येक वर्ग के स्त्री-पुरुषों का उन दिनों एक-मात्र यह प्रयत्न था कि ब्रिटेन की विजय हो। अँगरेज़ साम्यवादियों का व्यवहार और भी आश्चर्यजनक था। वे युद्ध की निन्दा करते थे और मनुष्यों के बीच में भ्रातृभाव के सिद्धान्त की दुहाई देते थे। परन्तु जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तब उन्होंने अपने सिद्धान्त को वैसे ही छोड़ दिया जैसे कोई लड़की अपनी गुड़ियों को छोड़कर ससुराल चली जाती है। वे सेना या जङ्गी बेड़ा या हवाई जहाज़ जहाँ से भी शत्रु से लड़ने का अवसर देखा वहीं जा डटे या युद्ध का सामान जैसे गोली, कारतूस, बारूद आदि बनाने में लग गये।

मैंने यह बात नोट की थी कि जब भारत और ब्रिटेन के स्वार्थों में संघर्ष होता था तब मज़दूरदलवालों की भी सहानुभूति भारत के साथ नहीं होती थी। उदाहरण के लिए मैंने देखा कि जब भारत की सार्वजनिक नौकरियों के प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाली रिपोर्ट प्रकाशित हुई तब मज़दूरदल के प्रतिनिधि मिस्टर राम्से मैकडानल्ड ने, जो इस समय ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हैं, बजाय भारतवर्ष की इस माँग के समर्थन करने के कि इंडियन सिविल सर्विस और इंडियन पुलिस सर्विस में पूर्णरूप से भारतीयों को ही स्थान मिलना चाहिए और इनका भारतीय-करण शीघ्र आरम्भ हो जाना चाहिए, वही पुराना राग अलापा कि सदा के लिए नहीं तो अभी अनिश्चित काल तक इन नौकरियों में ग़ैर भारतीयों का एक बहुत बड़ी संख्या में लिया जाना जारी रहेगा।

इसके कुछ समय के बाद हाउस आफ़ कामन्स के भीतर और बाहर के मज़दूरदल के नेताओं ने इंडिया आफ़िस पर इसलिए अपना क्रोध प्रकट किया था कि उसने एक ऐसे विधान को स्वीकार कर लिया था जो उनकी दृष्टि में लङ्काशायर के सूत के व्यवसायियों और उनके नौकरों के लिए हितकर नहीं था। भारत-सरकार ने धन की आवश्यकता का अनुभव किया, क्योंकि उसने युद्ध में ब्रिटेन की सहायता करने के लिए उसे दस करोड़ पौंड उपहार-स्वरूप दिया था। भारत-सरकार ने बाहर से आने-वाली सूती वस्तुओं पर चुङ्गी बढ़ाकर इस अभाव की पूर्ति करनी चाही। इस पर ब्रिटेन के मज़दूरों ने वहाँ के पूँजीपतियों के साथ मिलकर अधिकारियों पर यह दबाव डालना आरम्भ किया कि वे बढ़ी हुई चुङ्गी उठा लें या यदि वे ऐसा न कर सकें तो भारत में बननेवाली विशेष प्रकार की सूती वस्तुओं पर ब्रिटिश काटन इंडस्ट्री के कार्यकर्ताओं की प्रेरणा के अनुसार जो टैक्स लगाया गया था उसे और बढ़ा दें।

मेरा अनुमान था कि जब मैं इस भाव से मिस्टर पटेल से बातें करूँगा तब मुझसे कहेंगे—"आप अपना काम देखिए और मुझे अपना काम देखने दीजिए।" परन्तु मुझे उल्टा अनुभव हुआ। वे मुसकराते हुए बोले कि मुझे इस सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। वे मनुष्य-स्वभाव की कमज़ोरियाँ जानते थे। उन्हें यह पता था कि जो अँगरेज़ आदर्श की बातें करते हैं, परीक्षा का समय आने पर असफल सिद्ध होंगे। परन्तु उन्होंने मुझसे कहा कि मैं मित्र-भाव से मिलनेवाले अँगरेज़ों से भारत के कार्य्य में जो सहायता मिल सके वह ले लेना चाहता हूँ। वे यह स्वीकार करते थे कि उनके अँगरेज़ मित्र उनका

साथ अपनी पूर्ण इच्छाशक्ति लगाकर नहीं दे सकते और देना भी चाहें तो उनका प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि पार्लियामेंट में उनकी संख्या कम ही है। तथापि भारत के पक्ष की इस प्रकार इँग्लेंड में जो चर्चा हो जायगी वही क्या कम है ?

मैं उनकी इन बातों की क़द्र करता था। इससे मुझे उनकी दूरदर्शिता का परिचय मिलता था। इससे मैं उनके मनोभावों और कार्य्य-पद्धति को भी समझ सकता था।

[१४]

पटेल का जन्म किसी दूसरे देश में हुआ होता या भारत में ही किसी दूसरे समय में वे उत्पन्न हुए होते तो उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होता। जातिगत भेदभाव उनमें नाममात्र को भी न था।

स्त्री-पुरुष का भेद भी वे नहीं मानते थे। वे पुरुष का दर्जा स्त्री से बड़ा नहीं स्वीकार कर सकते थे। उनकी धारणा थी कि स्त्रियों के सहयोग के बिना हमारा भविष्य सुधर नहीं सकता। इसलिए वे लड़कियों को शिक्षा-सम्बन्धी प्रत्येक सम्भव सुविधा देने को तैयार रहते थे। इस सम्बन्ध में मेरे उनके विचार मिलते थे और इस विषय में हम आपस में प्रायः बातें भी किया करते थे।

स्त्रियों के पक्ष में मैंने उनके भाषण भी सुने थे। एक बार श्रीमती सरोजिनी नायडू के एक डेपुटेशन में मैं उनके साथ इंडिया आफ़िस भी गया था। इस डेपुटेशन का उद्देश भारतीय स्त्रियों को मताधिकार दिलाना था।

मुझे याद है, मिस्टर मांटेग्यू से उस समय उन्होंने कहा था कि एक भारतीय के लिए यह अपमान की बात है कि उसकी बहनें एक भिन्न जाति के पुरुषों से यह भिक्षा माँगें कि वे भारतीय स्त्रियों को पुरुषों के समान राजनैतिक अधिकार दें। उन्होंने सेक्रेटरी आफ़ स्टेट से यह अनुरोध किया कि वे भारतीय स्त्रियों के साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा समर्थ होने पर भारतीय स्वयं उनके साथ करते।

मिस्टर मांटेग्यू ने पूछा – "समर्थ होने पर भारतीय पुरुष क्या करते ?"

बिना एक क्षण भी हिचकिचाये मिस्टर पटेल ने कहा— "वे उनको वोट देते।"

[१५]

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और दीवान बहादुर वी० पी० माधवराव के साथ उन्होंने जिस वीरता से ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी के सामने गवाही दी वह प्रशंसनीय थी।

उनसे पूछा गया था कि क्या वे बन्द कमरे में अपनी बात कहना पसन्द करेंगे। इसके उत्तर में यदि वे "हाँ" कहते तो उसी समय पिँजड़े में चूहे की भाँति फँस जाते।

उनके सम्बन्ध में कहा जाता था कि वे जन-समाज में नुक्ताचीनी से घबराते थे और प्रश्नों का उत्तर कुछ का कुछ दे जाते थे।

इस अग्निपरीक्षा से स्वयं को बचाने से (कम से कम उनके राजनैतिक शत्रु यही कहते) वे भारत के शत्रुओं की खुले आम अपने हृदय का ज़हर न उगलने के कारण निन्दा कैसे कर सकते थे ? और फिर बन्द कमरे में ये लोग और भी भयानक सिद्ध हो सकते थे।

पटेल बच्चे नहीं थे। इस सुविधा को उन्होंने अस्वीकार कर दिया और खुले आम ही अपनी गवाही देने का हठ किया।

[१६]

कोई भी व्यक्ति हाउस आफ़ लार्ड्स के 'ए' कमरा में जहाँ लार्ड सेलबोर्न के सभापतित्व में हाउस आफ़ लार्ड्स और हाउस आफ़ कामन्स के सात सात सदस्यों की कमेटी बैठी थी, पटेल की गवाही सुन सकता था। जिस प्रकार भारत की माँग उन्होंने पेश की थी वह उनके विरोधियों के हृदय में भी प्रशंसा का भाव उदय करने-वाला था।

उन्होंने कहा कि इस बात का अधिकार भारतवासियों को होना चाहिए कि वे आत्मशासन की ओर बढ़ने की सीमा और अवधि निश्चित करें। उन्होंने यह भी कहा कि बिल में ऐसे संशोधन होने चाहिए जो भारत के राजनैतिक विचार रखनेवालों के एक बड़े दल को सन्तुष्ट कर सकें। प्रान्तों को पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए

और केन्द्रीय शासन में भी एक निश्चित सीमा तक भारतीयों को अधिकार मिलना चाहिए। और पार्लियामेंट को निश्चयात्मक रूप से यह निर्णय कर देना चाहिए कि आगामी १५ वर्षों के भीतर भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो जायगा।

इसके साथ ही उन्होंने एक और बिल पास करने पर ज़ोर दिया जिसमें ब्रिटिश प्रजा के सभी अधिकार भारतीयों को प्राप्त रहें। उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि गवर्नमेंट आफ़ इंडिया एक्ट के अनुसार उन्हें ये अधिकार प्राप्त भी हैं। परन्तु हाल में कुछ ऐसे क़ानून बने हैं जिनसे भारतीयों के ये अधिकार संकुचित हो गये हैं और कहीं कहीं तो छिन भी गये हैं।

[१७]

ज्वाइंट सिलेक्ट कमेटी के कुछ सदस्यों ने पटेल को इस प्रकार स्वाधीनतापूर्वक बात करने से रोकना चाहा। उनमें कमेटी के चेयरमैन (लार्ड सेलबोर्न) भी एक थे। उन्होंने अधिकारों के बिल के सम्बन्ध में बोलने से कांग्रेस के इस प्रतिनिधि को मना किया। परन्तु पटेल ने मिस्टर बेन स्पूर एम० पी० की सहायता से उन्हें हरा दिया। मिस्टर बेनेट ने भी जिन्होंने बम्बई में पत्रकार के रूप में कई वर्ष बिताये थे और जो उस समय पार्लियामेंट के मेम्बर थे, कांग्रेस के डेपुटेशन को गिराने का प्रयत्न किया। परन्तु पटेल उनके क़ाबू में न आये।

लार्ड इस्लिंगटन ने जो 'इंडियन पब्लिक सर्विसेज़' से सम्बन्ध रखनेवाली जाँच-कमेटी के सभापति थे, पटेल से यह कहलवाना चाहा कि पार्लियामेंट जो बिल पास करेगी वह कांग्रेस को मान्य होगा और कांग्रेस उसके अनुसार काम करेगी। परन्तु विट्ठलभाई ने तुरन्त उत्तर दिया कि पार्लियामेंट भारतीयों को जो 'छोटी चीज़' देना चाहती है उससे उन्हें सन्तोष न होगा और वे तब तक आन्दोलन करते रहेंगे जब तक उनके हाथ में पूर्ण शक्ति न आ जायगी।

इससे मिस्टर मांटेग्यू को क्रोध आ गया। उन्होंने पूछा—मिस्टर पटेल "छोटी चीज़" किसको कहते हैं?

इस प्रश्न का न पूछा जाना ही अच्छा होता। इससे पटेल को नवीन विधान को असन्तोषजनक सिद्ध करने का एक और अवसर मिल गया।

सर जान डी० रीस ने, जिनके जीवन का अधिकांश समय भारतीय रियासतों में पोलिटिकल आफ़िसर के रूप में बीता था, पटेल को चकमा देने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन्होंने कमेटी से कहा कि भारत की शासन-प्रणाली अच्छी नहीं है।

[१८]

हाउस आफ़ लार्ड्स के उस कमरे की बहस का कोई परिणाम न निकला, और न उसी कार्य्य का कुछ परिणाम निकला जो पटेल और उनके साथी मांटेग्यू के बिल को उदार भावनात्मक बनाने के लिए निजी तौर पर कर रहे थे।

कमिटी का अनुदार अङ्ग इस प्रकार के प्रत्येक प्रस्ताव को गिराने का निश्चय किये बैठा था और उदारों में उत्साह नहीं था। पार्लियामेंट में मज़दूरदल के प्रतिनिधि मिस्टर बेन स्पूर ने उस बिल में सुधार करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु विरोध की प्रबलता को कम करना उनके लिए कठिन था।

कमिटी की सिफ़ारिशों के साथ जब वह बिल हाउस आफ़ कामन्स में उपस्थित हुआ तब भी उसकी यही गति हुई। भारतीयों के अधिकारों को संकुचित करनेवाले विधानों को हटाने के सम्बन्ध में जितने प्रस्ताव आये सब गिराये गये और जितने प्रयत्न हुए सब व्यर्थ गये।

मैंने पटेल के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। इन दिशाओं में उन्होंने बड़ी तत्परता और सत्यता के साथ प्रयत्न किया था। यदि इसका कोई फल नहीं निकला तो इसमें उनका कोई दोष नहीं था।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की ब्रिटिश शाखा-द्वारा उन्होंने १९१९ के जलियाँवाला-बाग़ और पञ्जाब के अन्य काण्डों की ओर अँगरेज़ जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए बड़ा घोर परिश्रम किया। इस पर मैं अपने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक-सम्बन्धी लेख में विशेषरूप से लिखूँगा। परन्तु साम्राज्यवादी इन कार्यों

के करनेवालों को साम्राज्य और अँगरेज़ स्त्रियों के सम्मान के रक्षक कहते थे। इन कुकृत्यों के करनेवालों को दण्ड देने के सम्बन्ध में हिज़ मैजेस्टी की सरकार ने इतना कम ध्यान दिया था कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने मिस्टर मांटेग्यू के प्रयत्न से बने नवीन विधान से कोई सम्बन्ध न रखने का निश्चय किया।

[१९]

विट्ठलभाई पटेल ने महात्मा गांधी को कांग्रेस को असहयोग-आन्दोलन की ओर ले जाने से नहीं रोका था, तथापि जब मैं अपने १९२१-२३ के भारतवर्ष के दौरे में उनसे मिला तब मुझे मालूम हुआ कि उस आन्दोलन की सफलता पर उन्हें विश्वास नहीं था। उन्होंने अपना 'एक पुराना मित्र' कहकर इस सम्बन्ध में मुझे यह बताया था कि कांग्रेस ने एक बहुत बड़ी भूल की है। यदि उनकी चलती तो वे प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कांग्रेस-मैनों को खड़ा करते और केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं पर क़ब्ज़ा कर लेते।

स्वराज्यपार्टी के निर्माण और कौंसिलों में कांग्रेस-मैनों के प्रवेश के साथ पटेल के जीवन में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। जब वे इँगलेंड में थे तब उन्होंने पार्लियामेंट के नियम-क़ायदों का अध्ययन करने में बड़ा समय लगाया था, मानो वे अपने भविष्य के जीवन को जानते थे और उसके लिए तैयारी कर रहे थे। इस अध्ययन और बम्बई की कौंसिल और बाद को इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के अनुभवों ने उन्हें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बना दिया।

इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के जब वे प्रेसीडेंट चुने गये तब मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने प्रेसीडेंट पटेल को असेम्बली में अपना कार्य्य-सञ्चालन करते कभी नहीं देखा इसलिए उनके इन कार्य्यों के वर्णन का भार मैं अनुभवी व्यक्तियों पर छोड़ता हूँ।

[२०]

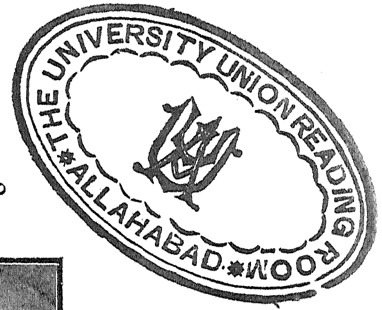
१९२८ के नवम्बर मास में मैंने लङ्का से जहाँ मैं वहाँ की सरकार के लिए एक पुस्तक लिख रहा था, जल्दी में भारतवर्ष की यात्रा की थी। सौभाग्य से उन दिनों पटेल मदरास में थे। वहाँ मेरी उनसे एक दावत में भेंट हुई जो मदरास-कौंसिल के प्रेसीडेंट ने कौंसिल-भवन में ही दी थी।

मैं पटेल के पास ही बैठा था और भोजन करते समय मैंने उनसे कुछ बातें कर ली थीं। नमस्कार के पश्चात् हमारे वार्तालाप का प्रवाह लाला लाजपतराय की मृत्यु की ओर हो गया। लाला जी की मृत्यु कुछ ही दिन पूर्व हुई थी। इसके पश्चात् मैंने उनसे असेम्बली की कार्य्य-प्रणाली के सम्बन्ध में पूछा जिसका उन्होंने यह उत्तर दिया कि मेरे जैसे समाचार-पत्रों के पाठक से कोई बात छिपी नहीं है। बहुत पूछने के बाद उन्होंने कहा कि वर्तमान परिस्थिति में असेम्बली के भारतीय प्रेसीडेंट और उच्च पदाधिकारियों में संघर्ष अनिवार्य्य है। उन्होंने अनुभव किया था कि प्रेसीडेंट उनके किसी भी कार्य्य में कोई बाधा न उपस्थित करेगा। परन्तु पटेल की धारणा ऐसी नहीं थी। वे सोचते थे कि उस कुर्सी पर वे मेंबरों के अधिकारों और सुविधाओं की रक्षा के लिए हैं। अफ़सरों को उनके अधिकारों से द्वेष था और वे चाहते थे कि उनका प्रयोग न किया जाय। वे सदैव प्रभाव के स्थान में नहीं रह पाते थे और जब उनकी नहीं चलती थी तब वे इस तमाशे का आनन्द भी नहीं ले पाते थे।

इस संसार में मेरी उनसे वह आख़िरी भेंट थी।

कम से कम एक बात में विट्ठलभाई जवेरभाई पटेल अपने युग के भारतीयों में सबसे भिन्न विशेषता रखते थे, जो केवल उन्हीं की थी। अँगरेज़ों के पार्लिया-मेंटरी अस्त्र के चलाने में उन्होंने जैसी दक्षता प्राप्त कर ली थी, वैसी कदाचित् कोई अन्य भारतीय नहीं कर सका था। और उसका वे ऐसी दृढ़ता के साथ प्रयोग करते थे कि कभी कभी ब्रिटिश पार्लियामेंट के धुरन्धर खिलाड़ी भी मुँह बा देते थे।

गीत



श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०



(१)

आ मेरी चिर मिलन यामिनी!
तममयि ! घिर आ धीरे धीरे;
आज न सज अलकों में हीरे;
चौंका दें जग, श्वास न सीरे;
धीरे झरें शिथिल कवरी में
गूँथे हरश्रृंगार कामिनी !

(२)

हौले डाल पराग बिछौने;
आज न दें कलियों को रोने;
दें चिर चञ्चल लहरें सोने;
जगा जगा जग को न बाँट तू
विधुप्याले से मधुर चाँदनी !

(३)

परिमल भर लावे नीरव घन,
गले न मृदु उर आँसू बन बन,
हो न करुण पी पी का क्रन्दन;
अलि ! जुगुनू के छिन्न हार को
पहिन न विहँसे आज दामिनी!

(४)

अपलक हैं अलसाये लोचन;
मुक्ति बन गये मेरे बन्धन;
है अनन्त अब मेरा लघु क्षण;
सजनि ! न मेरी उर-कम्पन से,
आज बजेगी विरह-रागिनी !

(५)

तम में हो चल छाया का क्षय;
सीमिति की, असीम में चिरलय;
एक हार में हों शत शत जय;
सजनि ! मुझे यह नीरव कन कन—
आज कहेगा चिर सुहागिनी !

निश्चे और उसकी फ़िलासफ़ी



भाई परमानन्द, एम० ए०, एम० एल० ए०

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक निश्चे के विचारों का जर्मन-जाति की संस्कृति पर भारी प्रभाव पड़ा है। इस दार्शनिक के विचार हम भारतीयों के लिए विशेष रूप से रोचक हैं, क्योंकि इसने हमारे दार्शनिक विचारों के महत्त्व को स्वीकार किया है।



न्तिम शताब्दी के दूसरे आधे भाग में जर्मनी ने एक महापुरुष को जन्म दिया। विचारों की दृष्टि से वह एक बिलकुल निराला मनुष्य था। अपने इर्द-गिर्द का योरप उसे बिलकुल पसन्द न आता था। उसके मतानुसार योरप ग़लत विचारों के जाल में फँसा है और यह जाल तब से बिछा है जब से इस भू-खंड में ईसाई-मत का प्रचार शुरू हुआ है। अपने प्रारंभिक जीवन में ही उसने अनुभव करना शुरू किया कि वह प्राचीन काल का बालक है; इसलिए वर्तमान काल में पैदा होने के कारण उसका जन्म ग़लत ज़माने में हुआ है। वह अपने आपको 'ग्रीक' (यूनानी) और 'पेगन' (Pagan) कहना पसन्द करता था। उसे 'क्रिश्चियन' (ईसाई) शब्द से स्वाभाविक घृणा थी। उसके मन में एक ही इच्छा काम करती थी कि कोई ऐसा तरीक़ा निकल आये जिससे वह वर्तमान योरप को उस पुरानी राह पर ले आये जिससे ईसाई-मत उसे परे ले गया है। वह मानव-जीवन के आदर्श को बदलना चाहता था। वह कहता है—"ईसाई-मज़हब ने संसार को उल्टा समझा है, इसलिए उसने मनुष्य को कुमार्ग पर डाल दिया है। योरप के बड़े बड़े दर्शनवेत्ता जो न ख़ुदा को मानते हैं न ईसाई-मज़हब के किसी सिद्धान्त को, इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि ईसाई-मत की नैतिक शिक्षा बहुत ऊँची है। उन्होंने यह देखने की कभी कोशिश ही नहीं की कि इस शिक्षा में ऊँचाई पाई भी जाती है कि नहीं, और इसकी असली क़ीमत क्या है।" वह ईसाई-मत की नींव पर चोट करता है और कहता है—"आओ मेरे साथ, और देखो कि उस आचार-नीति का मूल्य क्या है जो इतनी ऊँची उठाई जाती है।" इसका अन्दाज़ा वह ईसाई ख़ुदा की आचार-नीति से लगाता है। इस ख़ुदा ने बहिश्त और दोज़ख़—स्वर्ग और नरक—इसलिए बना रक्खे हैं कि हज़ारों नस्लों में पैदा हुए जो मनुष्य उसकी पूजा विशेष विधि से नहीं करते उन्हें सदा के लिए दोज़ख़ में डाल दे। ऐसे ख़ुदा से बढ़कर ईर्ष्यालु और कौन हो सकता है!

× × × ×



[दार्शनिक निश्चे]

संक्षेपतः इतना बता देना ज़रूरी है कि यह दर्शन-वेत्ता निश्चे* जर्मनी के एक गाँव में सन् १८४६ में पैदा हुआ था। उसका बाप और दादा पादरी थे। गाँव के स्कूल से निकलकर वह क़स्बे के पब्लिक स्कूल में गया, जहाँ उसे वज़ीफ़ा मिलता रहा। स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करने के बाद वह यूनीवर्सिटी में गया। यहाँ निश्चे ने एक बार ऐसा निबंध पढ़ा कि उसे बग़ैर परीक्षा में बैठे ही डिग्री मिल गई। इसका परिणाम यह हुआ कि बेल (स्विट्ज़लैंड) की यूनीवर्सिटी में उसे भाषा-शास्त्र के लेक्चरर का पद दिया गया। इसे उसने स्वीकार कर लिया। सन् १८७० में फ़्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया। निश्चे ने इस युद्ध में जाना अपना आवश्यक कर्तव्य समझा। वहाँ घोड़े से गिर जाने पर उसे वापस आना पड़ा। इस चोट से निश्चे के स्वास्थ्य पर ऐसा असर हुआ कि कुछ ही वर्ष के पश्चात् उसे अध्यापन-कार्य छोड़ देना पड़ा। परन्तु उसकी योग्यता की प्रशंसा करते हुए विश्वविद्यालय ने उसे दो हज़ार फ़्रैंक वार्षिक पेंशन में दिये। अब से उसका समय स्वास्थ्य-सुधार के लिए विभिन्न स्थानों में फिरने और पुस्तकें लिखने में ख़र्च होने लगा। नींद न आने के कारण उसे क्लोरल खाने की आदत पड़ गई। इस दवा का उसने इतनी ज़्यादा मिक़दार में इस्तेमाल किया कि सन् १८८६ में वह पागल हो गया। इस बीमारी से उसे अन्त-समय तक मुक्ति न प्राप्त हुई और १६०० में उसकी मृत्यु हो गई।

× × × ×

जर्मनी के विद्वानों और दर्शनाचार्यों की एक विचित्र विशेषता यह रही है कि उनके दिमाग़ पर ईसाई-मत की शिक्षा का बहुत कम प्रभाव पाया जाता है। गेटे शापनहावर आदि कवि और विद्वान् अधिकतर हिन्दू-दर्शनों के भक्त रहे हैं। निश्चे पर शापनहावर, और शापनहावर-द्वारा हिन्दू-विचारों का, पर्याप्त प्रभाव पड़ा। निश्चे ने संसार के सामने मानव-जीवन का एक बिलकुल नया आदर्श रक्खा और आचार-नीति की नई बुनियादें तलाश कीं। इस खोज में उसे यह आवश्यक जान पड़ा कि अपने दर्शन या फ़िलासफ़ी को वह नींव से ही सम्पूर्ण बनाये। इसलिए उसने ज्ञान की सापेक्षता (Relativity), सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की कल्पना (Theory) की। यह कल्पना बहुत हद तक वेदान्त और बौद्ध-कल्पना से साम्य रखती है। जर्मन-भाषा पर निश्चे का बड़ा अधिकार था। अपने दर्शन की एक पुस्तक उसने पद्य में लिखी, जिसका नाम 'ज़राथस्ट्रा' (ज़रदुश्त) रक्खा।

* Nietzsche—इस शब्द का उच्चारण जर्मनी में एक है, फ़्रांस में दूसरा और इँग्लैंड में तीसरा। कोई इसे निश्चे कहते हैं, कोई निच्चे और कोई नीट्शे। लेखक ने निश्चे ही ठीक समझा है।

सबसे पहला सवाल यह है कि हमारे ज्ञान की वास्तविकता क्या है। क्या जो कुछ हम देखते हैं उसकी सचाई को हम जानते हैं? निश्चे उत्तर देता है—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किसी वस्तु के विषय में हमारा ज्ञान सिवा उन संस्कारों के संग्रह के और कुछ नहीं जो हमारी इंद्रियों के द्वारा हमारे मन पर होते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ केवल यह है—प्रथम, कुछ वस्तुओं की विद्यमानता; दूसरे हमारे मन की विद्यमानता और तीसरे वे संस्कार जो इन वस्तुओं के बारे में हमारे मन पर हुए। परन्तु यह कैसे मालूम हुआ कि ये संस्कार सच-मुच वही हैं जो कुछ कि वह वस्तु है? हमारी अपनी समझ इस मामले में निर्णायक या जज का काम नहीं कर सकती, क्योंकि अपने आपको परखना और दुरुस्त या ग़लत ठहराना उससे नहीं हो सकता। निर्णायक या जज का काम तो वे व्यक्ति कर सकते हैं जो मनुष्य से ऊपर हों। वे व्यक्ति ही इन वस्तुओं का हमारे मन पर पड़े हुए संस्कारों के साथ मुक़ाबला करके बतला सकते हैं कि ये संस्कार उन वस्तुओं को ठीक तौर पर बताते हैं। परन्तु ऐसे कोई व्यक्ति हैं नहीं, इसलिए कुछ नहीं कहा जा सकता कि हमारा ज्ञान वास्तविकता या सचाई पर आश्रित है। वस्तुओं के विषय में हमारे ज्ञान का अर्थ हमारा अपने आपको उन वस्तुओं के सम्बन्ध में लाना है। इसलिए उनका ज्ञान हमारे सम्बन्ध से सीमित हो जाता है और हम यह नहीं जान सकते कि वास्तव में वे क्या पदार्थ हैं। हमारा ज्ञान पदार्थ के प्रकट रूप का है, वास्तविक वस्तु का नहीं।

हमारे यहाँ एक कहानी कही जाती है। कुछ अंधों ने एक हाथी को टटोला। जिस अंधे ने हाथी के कान टटोले उसने कहा—हाथी पंखे की शकल का होता है। जिसने टाँगों को हाथ लगाया उसने कहा—वह खम्भे का-सा होता है। जिसने उसकी सूँड़ को टटोला वह कहने लगा—हाथी की शकल गाजर की-सी होती है। हम भी इसी प्रकार किसी चीज़ को आँखों से देखकर उसके रंग को जानते हैं, हाथों से छूकर उसकी बनावट को और नाक से सूँघ कर उसकी बू को। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ है क्या, यह जानना हमारे लिए असंभव है। हमारी आँख, कान और नाक में नुक़्स हो जाने पर तो उस वस्तु के विषय में हमारा यह ज्ञान भी बदल जाता है।

स्वामी शंकराचार्य ने भी एक स्थल में यह प्रश्न उठाते हुए कहा है कि मैं हर एक वस्तु के बारे में सन्देह कर सकता हूँ कि वह है या नहीं है; परन्तु मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि मैं सन्देह कर रहा हूँ, इस-लिए मैं हूँ। इसी प्रकार यद्यपि रात को स्वप्न में हमारी इंद्रियाँ काम नहीं करतीं तो भी हम देखते हैं, बातें करते हैं और सुनते हैं। वास्तव में वहाँ कोई और वस्तु नहीं होती। हमारा मन ही सब कुछ उत्पन्न करता है और अपनी सृष्टि रच लेता है।

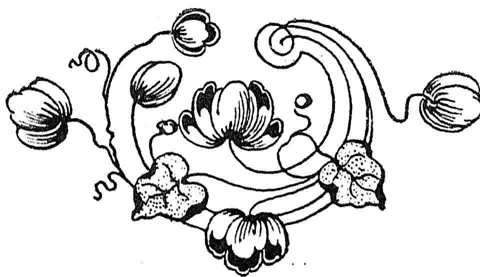
हमारी इंद्रियों की बनावट विशेष प्रकार की है इस-लिए अन्य वस्तुओं का एक विशेष संस्कार हमारे मन पर होता है। मनुष्य से भिन्न दूसरे जानवर हैं। उनकी इंद्रियाँ और प्रकार की हैं, इसलिए उनके मन पर बिलकुल दूसरी तरह का संस्कार होता होगा। समुद्र में रहने-वाली मछली पर समुद्र का क्या संस्कार होता है, हम इसका अनुमान नहीं कर सकते। गिद्ध की आँखें कई मीलों से लाश को देख सकती हैं। कई कुत्ते रास्ते को सूँघ कर यह मालूम कर लेते हैं कि शिकार इस रास्ते से गया है या नहीं हालाँकि मनुष्य की नाक या मन पर उसका कोई असर नहीं होता।

कांट और दूसरे दर्शनवेत्ता कहते हैं कि हमारा ज्ञान हमारे मन पर वस्तुओं का केवल प्रतिबिम्ब नहीं है, बल्कि उन वस्तुओं के नंगेपन को ढाँप कर हमारा मन उनको विशेष रूप में पेश करता है। यह बात एक बड़े सुन्दर दृष्टांत में प्रकट की जाती है। मकड़ी मक्खी को अपने जाले में फँसा कर उसे पकड़ लेती है, इसलिए मक्खी अपनी असली सूरत में नहीं पकड़ी जाती, प्रत्युत उसके गिर्द जाले के तार लिपट जाने पर ही वह उसमें फँसती है। इसी प्रकार हमारा मन भी विभिन्न वस्तुओं को विशेष रूप देता है। इसलिए, जैसा कि निश्चे कहता है, यह कहना भी दुरुस्त होगा कि मनुष्य

एक वस्तु को उसी सूरत में देखता है जो स्वयं वह उसे देता है। वास्तविकता न विद्यमान होती है, न मालूम की जा सकती है, बल्कि पैदा की जाती है। इसलिए हमारे ज्ञान की सभी असलियतें वास्तव में मनुष्य की ही बनाई होती हैं। इससे यह भी प्रकट है कि संभव है, मनुष्य के सभी विश्वास और संसार के विषय में उसके विचार महज़ बनावट ही हों और विज्ञान आदि के आविष्कार सचाई पर केवल पर्दा ही डालते हों, उसी प्रकार जिस प्रकार सचाई तो वास्तव में कुएँ की तह में हो और हम कुएँ में नज़र डाल कर सिर्फ़ अपनी ही शक्ल देख रहे हों; सचाई तह के अन्दर ही छिपी पड़ी रहे।

यहाँ एक सवाल उठाया जा सकता है कि चूँकि मानवीय विचार और आविष्कार इतना काल बीत जाने पर भी ठीक तौर पर हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हो रहे हैं, इसलिए हम उन्हें ग़लत और झूठा कैसे कह सकते हैं। निश्चे इसका उत्तर देता है—चूँकि हमारे आविष्कार सचाई पर आश्रित नहीं हैं, इसलिए इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वे सबके सब हमारे लिए फ़िज़ूल हैं, बल्कि इससे उलटी बात यह है कि उनमें से एक प्रकार के आविष्कार ऐसे हैं जो मानव-जीवन के लिए लाभदायक और उसे बढ़ानेवाले हैं, दूसरे ऐसे हैं कि वे मानव-जीवन के लिए हानिकारक हैं। जिन जातियों या लोगों ने दूसरे प्रकार के विचारों और आविष्कारों को ग्रहण किया वे विनष्ट हो गये; पहले प्रकार के विचारों और आविष्कारों के अनुकूल आचरण करनेवाली जातियाँ बच गईं; वे उनको फैलाती भी गईं। इसलिए वे विचार और आविष्कार मनुष्य के ज्ञान का कोष बन गये। फिर भी यह कहना ठीक नहीं कि वे विचार चाहे कैसे ही लाभदायक हों, सच्चे हैं। इनमें भी ग़लतियाँ हो सकती हैं, यद्यपि ये लाभदायक ग़लतियाँ हैं। मानव-अनुभव ने हमारे लिए इतना किया है कि उसने कुछ विचारों की उपयुक्तता हमको सिखा दी है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का मन और उसका अनुभव सचाई को मालूम करने के साधन नहीं हैं, बल्कि जीवन बढ़ाने और शक्ति प्राप्त करने के हैं। हमारे कार्य-कारण के सभी सिलसिले और विज्ञान के आविष्कार मनुष्य के आराम के लिए हैं। परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि वे सचाइयाँ हों क्योंकि मनुष्य के लिए लाभदायक होना सचाई की कोई मियाद नहीं है। एक बात सच हो सकती है, चाहे मनुष्य के लिए वह कितनी ही हानिकारक और भयानक क्यों न हो। इतिहास में बहुत-से ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं जिनमें दूसरों से मत-भेद होने पर या दूसरों के विचार को ग़लत समझकर उनको अगणित कष्ट दिये गये, यहाँ तक कि आग में भी जला दिये गये। यद्यपि यह कोई नहीं कह सकता है कि वे विचार ग़लत थे या दुरुस्त, तथापि किसी विचार के रखने के अधिकार की ख़ातिर जल जाना निस्सन्देह सच है।

[क्रमशः



श्री राधारानी स्वकीया थीं या परकीया ?



पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी

तिवारी जी की साहित्य-सम्बन्धी लेख-माला का यह तीसरा लेख भी उनके पिछले दो लेखों की तरह महत्त्वपूर्ण है। अपने इन लेखों के द्वारा जो साहित्यिक प्रश्न उन्होंने उठाये हैं उनका हल होना भविष्य-साहित्य के निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। फ़रवरी में उनका 'रहस्यवाद या हिजड़ावाद' और मार्च में 'विद्रोही सूरदास और घातक तुलसीदास' छपेगा।



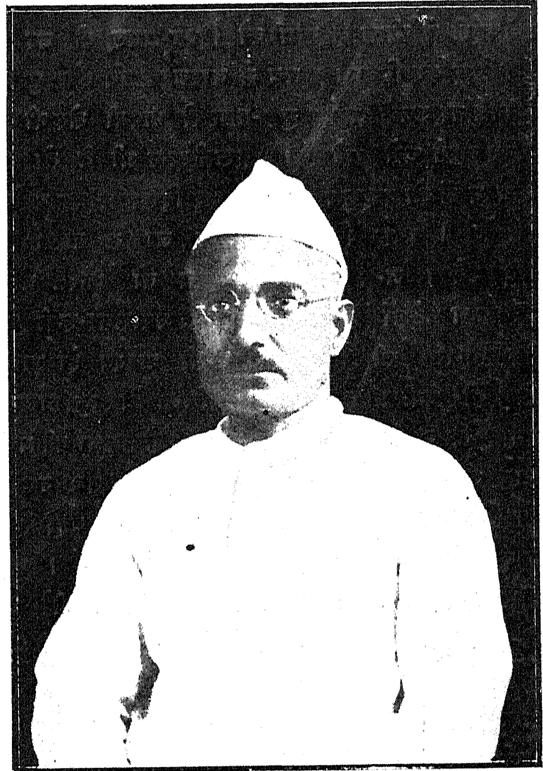
क्या श्री राधा स्वकीया थीं या परकीया*? इस प्रश्न को देखकर पाठक चौंकेंगे, बेतरह चौंकेंगे। मैंने भी जब १९३० में अपने एक बंगाली मित्र से लखनऊ के डिस्ट्रिक्ट जेल में पहले-पहल यह सुना था कि श्री राधारानी परकीया थीं, तब मेरे हृदय को बहुत गहरी चोट लगी थी। उन दिनों मैं सूरसागर पहली बार पढ़ रहा था; और जयदेव के गीतगोविन्द से भी उसी जेल में और उसी समय प्रथम परिचय का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उसके पहले, श्री राधारानी के सम्बन्ध में मेरी वही धारणा थी, जो इस प्रान्त के—अधिक लोगों की क्या—प्रायः प्रत्येक हिन्दू की अब तक है। हम सब मानते चले आये हैं कि श्री राधा उस समय कुमारी थीं जब वह श्री कृष्णचन्द्र के साथ यमुना के कूल पर सघन कुंजों में विहार करतीं या कदम्ब की छाँह में रास-लीला में भाग लेती थीं। सूरदास के सूरसागर के पढ़ने से यह भी पता चला कि बहुत वर्षों के बाद श्रीकृष्ण ने उनसे ब्याह भी कर लिया था। अतएव, छुटपन में संयोग-शृङ्गार के कारण यदि उनकी कुछ बदनामी भी हुई थी, तो वह सब आजन्म अटल कृष्णनिष्ठा और उन्हीं के साथ विवाह हो जाने से अन्त में धुल गई।

* "जो नारी अपने पति पर अनुरक्त न होकर अन्य पुरुष पर अनुरक्त होती है वह परकीया नायिका, और जो अपने पति पर अनुरक्त रहती है वह स्वकीया नायिका, कहलाती है। अपने पति के साथ मिलने का जो आग्रह होता है, उससे कहीं अधिक परकीया नारी का उपपति से मिलने का आवेग होता है।"

—द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ६९।

यही कथा बचपन से हम सब सुना करते हैं। लोकमत भी अपने श्री राधा-कृष्ण के जीवन में धर्म की मर्य्यादा का अन्ततो गत्वा समादर देखकर सन्तुष्ट हो जाता है। इसलिए, हृदय में मर्म-वेधिनी वेदना का होना स्वाभाविक था, जब एक बंगाली सज्जन ने इस बात का आग्रह किया कि नहीं, सूरदास ने श्री राधा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह अप्रामाणिक है। उन्होंने बताया कि बंगाल के कृष्ण-भक्त श्री राधा को स्वकीया नहीं मानते और इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उनका विवाह बहुत पहले किसी एक ग्वाले के साथ हो गया था; और, बाद में, उनका सम्बन्ध श्री कृष्णचन्द्र से स्थापित हुआ। बात सुन तो ली, पर वह किसी तरह गले के नीचे न उतरी। इसी लिए मैंने उसकी असलियत की जांच-पड़ताल की कुछ चेष्टा न उस समय और न बाद में की। इस घटना को हुए, कई साल बीत गये। हाल में, अनायास एक ऐसा संयोग आ गया, जिससे बरबस मेरा ध्यान श्री राधा के विषय में उपर्युक्त दो परस्पर-विरोधी मतों के अनुसंधान की ओर फिर आकर्षित हुआ—क्या श्री राधा स्वकीया थीं या परकीया ? अकस्मात् यह प्रश्न फिर से सजीव होकर उत्तर के लिए मचलने लगा। 'अकस्मात्' शब्द का मैंने इसलिए प्रयोग किया है कि न मैंने उद्धवशतक को पढ़ा होता, और न इस तरह की साहित्यिक गुत्थियों को सुलझाने की उलझन में मैं फँसता ही।

सोचिए तो सही कि श्री राधा के प्रति हमारे हृदय में कितनी अगाध भक्ति और श्रद्धा भरी है। सीता-राम और राधा-कृष्ण के नाम इस प्रान्त के हिन्दू-परिवारों की ज़बान से सोते-जागते निकलते हैं। क्या सुख में, क्या दुःख में, जब देखो तब और जहाँ देखो वहाँ, इन्हीं दो शब्दों में से एक न एक हमें सुनाई देता है। हमारा धर्म, हमारे आदर्श, हमारी श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा, हमारी सारी महत्त्वाकांक्षायें, इन्हीं में साकार होकर प्रकट होती हैं। माता का प्रेम, पिता का वात्सल्य, पत्नी की पूजा, तथा त्याग और पर-सेवा की भावना, हमारे हास-विलास की लालसा इन्हीं शब्दों की मधुर ध्वनि से समूर्त



[पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी]

और सजीव हो उठते हैं। जाति की संस्कृति और समाज के संस्कार, मानो, इन्हीं सीता-राम या राधा-कृष्ण के नामोच्चार में समेट कर भर दिये गये हों। हमारी भाषा में, मा और लाल को छोड़कर, कौन-से वे दूसरे शब्द आपको मिलेंगे, जिनमें इतनी ममता और मिठास हो, जितनी इनमें है, या जिनको सुनकर हमारा रोम रोम उतना ही फड़क उठता है जितना इनको। वास्तव में, सीता-राम और राधा-कृष्ण की गणना भाषा के साधारण शब्दों की श्रेणी में नहीं हो सकती। हमारे हृदय की तंत्रियाँ उनमें चारों ओर से लिपट गई हैं, और वे अब हमारे रक्त-मांस के अभिन्न अंश बन गये हैं। जाति की अव्यक्त अन्तरात्मा की संगीत-लय को व्यक्त करने की वे स्वर-लिपियाँ हैं।

इन दोनों में से श्री सीता की प्राचीनता जितनी निर्विवाद है, उतनी ही श्री राधा की नवीनता में भी कुछ

सन्देह नहीं। वाल्मीकि की अमर प्रतिभा ने हज़ारों वर्ष पहले से सीता के नाम को हिन्दू-जगत् के घर घर में प्रसिद्ध कर दिया। तब से बराबर कवि और पुराणों के निर्माता उनके अखंड गुण-गान से अपनी लेखनी को पवित्र करते चले आये हैं। तुलसीदास जी ने तो इस सम्बन्ध में जो अद्भुत चमत्कार कर दिखाया, वह वर्णनातीत है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यदि उनका जन्म न हुआ होता तो भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में राधा-कृष्ण की उपासना-रूपी बाढ़ से सीता-राम की श्री लुप्त-प्राय-सी अवश्य हो जाती। सिर्फ़ गोस्वामी जी की अद्वितीय प्रतिभा को इसका श्रेय प्राप्त है कि मध्यकालीन युग में जब कृष्णोपासना की प्रचंड लहर बंगाल से लेकर गुजरात तक फैल गई तब उत्तरीय भारत में श्री सीता-राम की कीर्ति-पताका न बही और न बूड़ी, बल्कि दिनों दिन ऊपर ही उठती गई। इस बीसवीं सदी में तो हिन्दू-जनता की अभिरुचि, धीरे धीरे किन्तु स्थायी रूप से, वृन्दावन से हटकर साकेत की ओर झुकती हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इस विचार-परिवर्तन के पीछे राष्ट्रीय जागृति और नैतिक क्रान्ति है। परन्तु इस परिवर्तित दृष्टि-कोण पर लिखने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। इस लेख का शीर्षक ही उसकी अनुपयुक्तता का प्रमाण है। यहाँ पर तो मैं केवल एक बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ। वह यह है कि कम से कम वाल्मीकि के समय से, यदि उसके बहुत पहले से नहीं, श्री सीता के नाम को हम अपने साहित्य और इतिहास का एक अनमोल रत्न मानते चले आये हैं।

श्री सीता का साहित्यिक जीवन जहाँ इतना प्राचीन है, वहाँ उनके मुक़ाबिले में श्री राधा अभी हाल की जन्मी मालूम होती हैं। मालूम ही क्या होती हैं; वह वास्तव में हैं भी बहुत ही आधुनिक। हमारे साहित्यिक गगन में उनका उदय बहुत पुरानी घटना नहीं है। महाभारत में श्री कृष्ण का सविस्तर वर्णन मौजूद है। वहाँ न तो पाठक को उनकी विलासिनी गोपियों का और न श्री राधिका का वर्णन मिलेगा, और न यही मिलेगा कि वे कभी मथुरा या वृन्दावन में रहे भी थे।

महाभारत के श्री कृष्ण द्वारिकावासी हैं, वह न तो राधिकारमण हैं, और न गोपिका-मन-रञ्जन हैं। विष्णु-पुराण में श्री कृष्णचन्द्र का पूरा विवरण है, क्योंकि वह तो वैष्णवपुराण ही है। लेकिन उसमें भी जब श्री राधिका का नाम तक नहीं आया, तब उसमें उनके संयोग और वियोग की अकथ कहानी की चर्चा का होना कैसे सम्भव हो सकता है। विष्णुपुराण का जो संकलन इस समय मिलता है, वह कम से कम १६०० वर्ष पुराना माना जाता है।

इसी तरह से, भागवत में भी उनका कोई ज़िक्र नहीं किया गया। जब रत्नाकर जी अपने उद्धव-शतक का आरम्भ नीचे दिये हुए कवित्त में वर्णित घटना से करते हैं—

'न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि,
बास-बासना सौं नैकु नासिका लगायौ है॥
त्यौंहीं कछु घूमि-झूमि बेसुध भए कै हाय,
पाय परे उखरि उभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥'

तब आप निश्चय समझ लें कि श्री राधा के नाम का इस प्रसंग में उल्लेख उन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर नहीं किया है। जो भागवत आज-कल हमें उपलब्ध है, उसका अन्तिम संकलन कम से कम सन् ईसवी की ८वीं या नवीं शताब्दी में हुआ था। सम्भव है कि उसके बाद भी उसमें समय समय पर हेर-फेर होता रहा हो। कुछ विद्वानों की एक समय पर यह धारणा थी कि गीत-गोविन्द के रचयिता, जयदेव, के भाई बोपदेव ने भागवत की रचना की थी। परन्तु यह अनुमान सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि बाण के समय में भागवत का विद्यमान होना अब विद्वानों ने एक प्रकार से मान ही लिया है। एक और भी प्रबल दलील इस मत को अस्वीकार करने के लिए दी जा सकती है। वह यह है कि जयदेव के गीतगोविन्द की नायिका श्री राधा हैं, परन्तु भागवत में उनके

नाम का कहीं पता भी नहीं मिलता। उसके अन्तिम संकलन में यदि बोपदेव का कुछ भी हाथ रहा होता, तो यह कैसे सम्भव था कि उसमें श्री राधा का उल्लेख वे न करते; क्योंकि बोपदेव और जयदेव के काल में श्री राधा-कृष्ण की उपासना का काफ़ी प्रचार हो चुका था। यदि ऐसा न हुआ होता तो जयदेव ने स्वयमेव भागवत की गोपिकाओं को छोड़कर श्री राधा को अपने गीत-गोविन्द में इतनी प्रधानता कदापि न दी होती। इससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि आज से १००० वर्ष पहले विष्णु-भक्तों की मंडली श्री राधा के अस्तित्व से एकदम अपरिचित थी।

जयदेव का जन्म-काल बारहवीं सदी में माना जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मत से वे ग्यारहवें शतक में हुए थे; परन्तु अब बहुमत बारहवीं सदी के पक्ष में स्थिर-सा हो गया है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द में श्री राधा को गोपियों से कहीं ऊँचा स्थान दिया है। वास्तव में, वही उनके काव्य की प्रमुख नायिका और श्री कृष्ण उसके नायक हैं। गीतगोविन्द के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक ही में श्री राधा का नाम दो बार आया है—

"मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
"र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
"इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमम्
"राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

गीतगोविन्द में जयदेव ने आदि से लेकर अन्त तक इन्हीं श्री राधा-माधव की 'रहःकेलि' का—रति-क्रीड़ा का इतनी मधुर और विलासिनी भाषा में वर्णन किया है कि, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में, 'जहाँ गीतगोविन्द है वहीं रसिक-समाज है, वहीं वृन्दावन है, वहीं प्रेम-सरोवर है, वहीं भाव-समुद्र है।' 'उसमें मिठाई है' और साथ ही—यही उसका अनूठापन है—वह 'नमकीन' भी है।

जयदेव के समकालीन श्री निम्बार्काचार्य थे, जिन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर एक भाष्य लिखा है। उस भाष्य में श्री राधा-कृष्ण की उपासना की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। अतएव, श्री राधा का जन्मकाल भागवत के अन्तिम संकलन के बाद और जयदेव तथा निम्बार्काचार्य के पहले, अर्थात् नवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच में, मानना पड़ेगा। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में श्री राधा का वर्णन अवश्य पाया जाता है। परन्तु भागवत के बाद उसकी रचना का काल माना गया है।

फिर, चौदहवीं शताब्दी (ईसवी) में विद्यापति और चण्डीदास ने श्री राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला पर सुन्दर रचनायें बनाईं। इसके बाद, पन्द्रहवीं सदी में महेन्द्रपुरी और सोलहवीं में श्री चैतन्य और उनकी शिष्य-मंडली ने राधा-कृष्ण की उपासना को भगवद्भक्ति का परम साधन बना दिया। उनके प्रभाव से प्रेरित होकर असंख्य वैष्णव कवियों और कथावाचकों ने बंगाल, उड़ीसा और वृन्दावन के आस-पास के प्रदेश के कोने कोने में राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण की ध्वनि भर दी। इनके अतिरिक्त, एक दूसरी प्रबल शक्ति ने भी इस प्रचार में बहुत बड़ा भाग लिया था। चैतन्य महाप्रभु के समकालीन श्री वल्लभाचार्य थे, जिन्होंने वैष्णव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत पुष्टि-मार्ग चलाया। सूरदास और अष्टछापवाले कवि इसी पुष्टि-मार्ग के अनुयायी थे। इन प्रयत्नों से श्री राधा-कृष्ण की पूजा संयुक्त प्रान्त और उसके अड़ोस-पड़ोस में अच्छी तरह से फैली। राजपूताने में मीराबाई के उदाहरण और उपदेशों से इसके प्रचार में बहुत कुछ मदद मिली। गुजरात में निम्बार्काचार्य और उनके पश्चात् वल्लभाचार्य के अनुयायियों ने इस मत को काफ़ी फैलाया। परन्तु महाराष्ट्र के प्रसिद्ध महात्मा, ज्ञानेश्वर, राधा-कृष्ण के उपासक न थे। उनके विठोबा, रुक्मिणी-रमण ही करके पूजे जाते हैं। अतएव महाराष्ट्र के साधु-सन्तों ने राधा-सम्प्रदाय के स्थान में स्वकीया रुक्मिणी ही को अधिक आदरणीय माना। महाराष्ट्र में परकीया-उपासना का उतना अधिक प्रचार कभी नहीं हुआ, जितना बंगाल, बिहार, युक्त-प्रान्त, राजपूताने, गुजरात और काठियावाड़ में रहा और आज भी है।

इस स्थान पर विषय की गति को रोक कर सूरदास के सम्बन्ध में एक-आध शब्द कह देना अनुचित न होगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि सूरदास के धर्म-गुरु श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की थी। उन्होंने सूरदास को श्री राधा की अपार महिमा अच्छी तरह से बताई होगी। यह भी बताया होगा कि जब वह पुरी में श्री चैतन्य से * मिले और वहीं गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, तब उन्होंने परकीया-भाव से श्री राधा की उपासना में बंगाली वैष्णवों की कितनी अपार, अथाह श्रद्धा थी। फिर, श्री चैतन्य के प्रयत्नों से, उन्हीं के जीवन-काल में, बंगाल के वैष्णवों का प्रमुख धार्मिक केन्द्र वृन्दावन बन चुका था। इनके बाद भी वर्षों तक बंगाल में वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रसार और शासन का सारा काम-काज वृन्दावन ही से होता रहा। अतएव, यह मानना पड़ेगा कि, राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में शृङ्गारी कविता करने की परिपाटी का श्रीगणेश बंगाल के कवियों से हुआ—उसी बंगाल में जो वाममार्गी बौद्ध और तांत्रिक शाक्त धर्म का केन्द्र था और जहाँ सहजिया सम्प्रदाय का जन्म हुआ, इस राधा-कृष्ण की उपासना की उत्पत्ति हुई, और परकीया-भाव का महत्त्व बढ़ा है। वहीं श्रीराधा का जन्म किसी अज्ञात प्रतिभाशाली कवि के मस्तिष्क में हुआ; और ऐसी शुभ घड़ी में हुआ कि आज श्री राधा का नाम घर-घर में व्याप रहा है। इस नायिका के आदि-जन्मदाता का प्रत्येक हिन्दू चिरकृतज्ञ होगा, जिसकी कल्पना की यह उपज इतनी फैली और फली-फूली। वह सचमुच स्रष्टा और द्रष्टा था। उसकी कृति अमर है। उसने इस मामले में ब्रह्मा को भी हरा दिया। ब्रह्मा की सृष्टि में लाखों ही रोज़ पैदा होते और मरते हैं, और उनका अस्तित्व केवल पल-भर के लिए रहता है। जीवन-काल में भी उन्हें मुट्ठी भर आदमी ही जानते हैं। इधर मरा और उधर उसका नाम लेनेवालों में से कुछ दिनों के बाद एक भी नहीं बचता। परन्तु 'राधा' अमर हैं। उन्हें न जरा का भय है, और न मृत्यु का डर, जब तक रत्नाकर के-से 'महाकवि' अपनी अपनी लेखनी से संसार को कृतार्थ करने के लिए उत्पन्न होते रहेंगे। उत्पन्न होंगे इसकी भी आशा निर्मूल है, क्योंकि भारत-भूमि रत्नगर्भा है—इसके गर्भ में तो अनन्त रत्नाकर मौजूद हैं!

महाभारत, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत के रचयिता, हिन्दू-समाज के प्रचलित विश्वास के अनुसार, यहाँ पर इस झगड़े में पड़ने की ज़रूरत नहीं है कि यह विश्वास कहाँ तक ऐतिहासिक प्रमाणों-द्वारा सिद्ध है—श्री व्यास जी माने जाते हैं। और इन तीनों ही में श्री राधा का कहीं पर नामो-निशान भी नहीं मिलता; उनकी रूप-रेखा, और भावी विभूति के सविस्तर वर्णन की कौन कहे? लेकिन बलिहारी है इन कृष्ण-भक्त आचार्यों और इस सम्प्रदाय के कविगणों की; जिनके अदम्य उत्साह तथा जिनकी श्रद्धा-भक्ति और अपूर्व प्रचार-कौशल ने व्यास की श्री रुक्मिणी को श्री राधा के सामने नीचा दिखवा दिया। क्या इसका कारण यह हो सकता है कि बेचारी रुक्मिणी स्वकीया थीं, और राधारानी परकीया? कारण कुछ भी रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि वेदव्यास जो बात हज़ारों वर्षों में नहीं कर पाये, उसको पिछले नौ-दस शतकों में दूसरों ने इतनी सफलता के साथ कर दिखाया कि विस्मय से बुद्धि चकित और स्तम्भित हो जाती है। परकीया का पल्ला सदा ऊँचा रहता है। व्यास की इस पराजय से—मैं केवल साहित्यिक दृष्टि से इस अवसर पर लिख रहा हूँ; धार्मिक पहलू से कुछ भी कहने का मुझे अधिकार नहीं है—हमें विवश होकर वही परिणाम निकालना पड़ता है कि परकीया की कहानी स्वकीया के मर्यादा-वेष्टित, धर्म्म-सम्मत और लोकमत से समादृत कथानक से कहीं अधिक रोचक और हृदय-ग्राही होती है। आज-कल का मामूली उपन्यास-लेखक भी इस सिद्धान्त का अनुसरण कर अपनी कहानियों की रचना करता है। दुनिया को अमर त्रिभुज* के रहस्यों के उद्घाटन में अनादि

*यह बात मैंने श्री चैतन्य की जीवनी के आधार पर लिखी है कि श्री वल्लभाचार्य को पुरी में दीक्षा दी गई थी।

* अमर त्रिभुज की पहली भुजा तो पति, दूसरी पत्नी, और तीसरी अन्य उपपति या उपपत्नी मानी जाती है। इन्हीं तीनों के पारस्परिक सम्बंध-संघर्ष से जो अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं, उन्हीं का वर्णन अधिकांश साहित्य में रहता है।

काल से जो आनन्द मिलता रहा है, वह पति-पत्नी के सामान्यतः और शुष्क जीवन में कहाँ उपलब्ध हो सकता है? इसलिए श्रीकृष्ण के उपासकों ने—जिनमें धर्ममूर्ति और सात्त्विक पवित्रता के अतुलित भाण्डार, श्री चैतन्य महाप्रभु, अग्रगण्य थे—भक्ति-मार्ग में मधुर या शृङ्गाररस को प्रधानता दी और उसमें भी परकीया-भाव से उपासना को सबसे ऊँचा आसन दिया। श्री चैतन्य महाप्रभु की उज्ज्वल और पावन स्मृति के प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति है। लेकिन मैं यहाँ पर एक साहित्यिक मत-विशेष का विवेचन कर रहा हूँ। धर्म की व्याख्या तो धर्म्माचार्य करें; मुझमें इतनी क्षमता कहाँ? परन्तु यदि उस सिद्धान्त को इतने बड़े महात्मा की अनुकूल सम्मति का आश्रय प्राप्त हो तो उसका उल्लेख न करना उस मत के प्रति अन्याय करना होगा।

श्री राधा के जन्म-काल के निरूपण के बाद, आइए, देखें कि किन परिस्थितियों में राधा-सम्बन्धी साहित्य का उद्भव हुआ; और देश-काल के अन्तर से उनके रूप और व्यक्तित्व के विकास में क्या-क्या अन्तर पड़ते गये। इसके लिए, बंगाल, बिहार और युक्त-प्रान्त के साहित्यिक क्षेत्रों का सरसरी तौर से सिंहावलोकन करना आवश्यक है। मैं यही चेष्टा करूँगा कि संक्षेप में मैं बाक़ी कहानी को कह जाऊँ, क्योंकि यही सुविधा-जनक होगा।

श्री कृष्ण की उपासना भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में बहुत दिनों से चली आई है। भागवत-धर्म या विष्णु की पूजा की प्राचीनता को पठित समाज अब प्रायः एक सम्मति से स्वीकार करता है। कृष्णावतार का माहात्म्य भी बहुत सदियों से हिन्दू-समाज में प्रचलित है। यह भी नहीं कि उनकी पूजा द्वारिकाधीश और भगवद्गीता के प्रवर्तक के रूप ही में आदि-काल में होती थी। कम से कम ईसवी सन् के आरम्भ के कुछ आगे-पीछे, श्री कृष्ण के साथ गोपियों का ज़िक्र हमें मिलता है। विष्णु-पुराण का प्रचलित स्वरूप, कहा जाता है, उस अन्तिम संकलन के आधार का आश्रित है, जो आज से सम्भवतः १५०० वर्ष से पहले किया गया था। किन्तु, जैसा हम दिखा चुके हैं, श्री कृष्ण की उपासना में श्री राधा का समावेश नवीं और बारहवीं सदी (ईसवी) के बीच में हुआ होगा। कब और कहाँ और कैसे यह हुआ, इसका पता नहीं। हमने ऊपर कहा है कि राधा-सम्प्रदाय की उत्पत्ति का स्थान हमें बंगाल को मानना चाहिए। इस अनुमान की पुष्टि में उमापतिधर की कविता का प्रमाण काफ़ी है। ये गौड़ के राजा विजयसेन के राज-कवि कहे जाते हैं। यदि यह ठीक है तो उमापतिधर ईसवी सन् की ग्यारहवीं सदी के मध्य-भाग में मौजूद थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उमापति बंगाली नहीं किन्तु, विद्यापति के समान, बिहारी थे। दोनों बातों में से कोई भी बात सही हो, श्री राधा-कृष्ण के विषय में जो कविता हमें आज-कल प्राप्त है, वह उन्हीं उमापतिधर की लेखनी का प्रसाद है। यह प्रश्न गौण है कि वह पहले मैथिल-भाषा में लिखी गई थी, या बँगला में। श्री राधा का कितना सुन्दर वर्णन उमापतिधर ने किया है—

सकल शरीर कुसुम तुअ सिरजिल
　　किअ तुअ हृदय पखाने।*

इनके बाद, जयदेव का बारहवीं सदी में प्रादुर्भाव हुआ। उनके बनाये हुए गीतगोविन्द का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी रचना में अद्भुत मिठास है; परन्तु राधा-कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध में इसका इतना विलासिता-पूर्ण, स्थूल वर्णन कहाँ तक उचित है, यह दूसरी बात है। अपने विपक्ष में हमें यह कह देना चाहिए कि श्री चैतन्य के समान पवित्र महात्मा गीतगोविन्द को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते और उसके पदों को समय-समय पर सुनकर ब्रह्मानन्द के उद्रेक से विह्वल हो उठते थे। जयदेव की कविता के एक-आध उदाहरण दे देना अनुचित न होगा; विशेष कर जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ के एक लेख में उससे उद्धरण दिये गये हैं। ऐसी प्रतिष्ठित संरक्षता में प्रकाशित ग्रन्थ में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उसमें भूल से भी कोई ऐसी चीज़ सम्मिलित की जायगी, जिसे 'घासलेटी' कहने का किसी

*पखाने = पत्थर का।

उद्दंड आलोचक को दुस्साहस हो ? अतएव, निश्शंक-भाव से और आँख मीच कर मैं श्री नलिनीमोहन सान्याल महोदय-द्वारा लिखित उपर्युक्त लेख में दिये गये गीत-गोविन्द के उद्धरणों की नक़ल किये देता हूँ ।

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि
कामपि रमयति वामाम् ।
पश्यति सस्मितचारुपरा-
मपरामनुगच्छति वामाम् ॥४६॥

(२)

दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै--
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः ।
हस्तेनानमितः कचेऽधरसुधापानेन सम्मोहितः
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः ॥

चैतन्य महाप्रभु इस गीतगोविन्द को परम प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे । वेदों से कहीं अधिक, इनकी दृष्टि में, इसका सम्मान था । श्रीकृष्ण को आदर्श प्रेमी सिद्ध करने के लिए जब रामानन्द राय ने महाप्रभु के सामने गीतगोविन्द के दो श्लोकों का प्रमाण दिया तब महाप्रभु ने गद्गद होकर उनसे कहा कि, सचमुच, आप वैष्णव-धर्म के अनन्य रहस्य के पूर्ण रूप से ज्ञाता हैं ।

जयदेव का गीतगोविन्द इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश नहीं डालता कि श्री कृष्ण से मिलने के समय श्री राधा का विवाह किसी दूसरे के साथ हो चुका था या नहीं । यह तो प्रत्यक्ष ही है कि श्री राधा-कृष्ण का एक दूसरे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, और वे एक दूसरे में इस दर्जे तक लीन हो गये थे कि उसकी न मिसाल हुई और न आगे होगी । जहाँ आत्म-समर्पण इस उत्कृष्ट कोटि का हो, वहाँ साधारण लौकिक नियमों की गति नहीं । ऐसी दशा में, हम तो जयदेव-वर्णित श्री राधा जी को स्वकीया ही कहेंगे; रीति-ग्रन्थवाले या धर्मशास्त्री ऐसे सम्बन्ध को चाहे जिस नाम से पुकारें । इससे हम यह परिणाम निकालते हैं कि कम से कम जयदेव के समय में श्री राधा को परकीया का रूप नहीं दिया गया था; यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु श्री कृष्ण के प्रति श्री राधा के अनुराग को परकीया की श्रेणी ही में गिनते थे ।

बारहवीं सदी से १५०-२०० वर्ष आगे बढ़ आइए, आप विद्यापति तथा चण्डीदास के युग में पहुँच जायँगे । इन दोनों महाकवियों ने, श्री राधा को साक्षात् परकीया का स्वरूप देकर, श्री कृष्ण के प्रति उनके अनुराग की विविध दशाओं का इतनी चमत्कारी भाषा में वर्णन किया है कि पढ़कर विस्मय से पाठक मन्त्र-मुग्ध हो जाता है । साहित्य के इस अङ्ग-विशेष में सूरदास को छोड़कर और कोई दूसरा कवि नहीं हुआ है, जो विद्यापति या चण्डीदास की बराबरी कर सके । विद्यापति बिहारी थे । चण्डीदास का जन्म बंगाल में हुआ था । दोनों ही समकालीन थे । दोनों के काव्य बङ्गाल की सार्वजनिक विभूतियाँ हैं, जिनका राजमहलों और अनपढ़ खेतिहरों की कुटियों में समान आदर है ।

दोनों ही ने अपने काव्य में श्री राधा को परकीया माना है । श्री कृष्ण से मिलने के पहले ही, उनका ब्याह इन कवियों ने करा दिया है । चण्डीदास शाक्त से वैष्णव हुए थे । परन्तु विद्यापति थे शैव तथा देवी के भी उपासक थे । एक ने अपने उपास्यदेव के गुणगान करने के अभिप्राय से श्री राधा-कृष्ण पर कविता की; परन्तु विद्यापति ने अपने संरक्षक और आश्रयदाता, राजा शिवसिंह, के मनोरंजन ही के लिए राधा-कृष्ण पर काव्य रचा । परन्तु दोनों ही ने श्री राधा को परकीया ही मानकर उनकी अपूर्व प्रेम-कथा कही है । श्री राधा के विकास-क्रम की यह तीसरी मंज़िल है ।

इस लेख में हम उन कारणों का विवेचन न करेंगे, जिनकी वजह से, सम्भव है, लोगों की—कम से कम उस चौदहवीं सदी के बिहारी और बंगाली महाकवियों की दृष्टि में श्री राधा का यह नूतन स्वरूप अधिकतर रुचिर और सम्मान्य ठहरा हो । तो भी इतना तो कही दूँ कि चण्डीदास इस मत के प्रवर्तक थे कि भगवान् तक पहुँचने का सीधा मार्ग एक ही है; और वह है किसी परकीया के अनुराग को भक्ति का सोपान बनाना । विद्यापति दरबारी कवि थे । राजा-रानी के मनोविनोद के लिए ही प्रधानतः वे कविता लिखते थे ।

विद्यापति और चण्डीदास के एक-एक पद को उद्धृत करने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता । क्यों

रोकूँ ? वही अभिनन्दन-ग्रन्थ मेरी इस उच्छृंखलता को क्षन्तव्य बना देगा।

विद्यापति का एक संयोग-चित्र नीचे देखिए-—

थर थरि कांपल लहुलहु भास।
लाजे न बचन करये परकास॥
आज धनि पेखल बड़ विपरीत।
छन अनुमति छन मानइ भीत॥
सुरतक नामे मुदइ दुहुँ आँखी।
पाओल मदन महोदधि साखी॥
चुंबन बेरि करइ मुख बंका।
मिललह चाँद सरोरुह अंका॥
नीबिबंध परस चमकि उठि गोरी।
जानल मदन भांडारक चोरी॥
कुचल बसन हिय भुज बाहु साँठि।
बाहिर रतन आंचर देहि गाँठि॥

—(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, ६१।)

चण्डीदास का निम्न भजन देखिए। इसमें प्रेम का कितना शुद्ध और अनुपम वर्णन है !

जनम अवधि हाम रूप निहारन,
नयन ना तिरपित भेलो।
साई मधुर बोल श्रवनहि सुनलू,
पतिपद दरशन गेलो॥
कतो मधु जामिनी नसे गोंपाजनु,
न बुझिनु कैछन केलो।
लाख, लाख जुग हिये रखनु,
तबु हिया जुड़ाय न गेलो॥

उसी काल में बंगाल में सहजिया-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। चण्डीदास जी के अपना आचार्य मानकर परकीया राधा ही उसका आदर्श हैं। सोलहवीं सदी में श्री चैतन्य ने श्री राधा के परकीयत्व को बेहद बढ़ाया। लेकिन वे सिद्ध पुरुष थे। वे संसार के मायामोह की दुर्जेय शक्ति को और मानव-आत्मा की दुर्बलता को खूब समझते थे। इसी लिए, उन्होंने अपने चेलों को कठोर आज्ञा दे रक्खी थी कि वे लोग स्त्रियों से दूर ही रहें; और जब उनके एक शिष्य ने अनजान में इस आज्ञा का उल्लंघन किया, तो उन्होंने उसे अपने दर्शनों से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिया। उसने प्राण दे दिये, पर महाप्रभु ने उसे क्षमा न दी। श्री राधा के परकीया-स्वरूप पर उनकी श्रद्धा का अर्थ ही दूसरा था। उनकी राधा मानव-आत्मा थी, जो लोक-लाज और लोक-मर्यादा-रूपी पति को तिलांजलि दे, प्रभु के चरणों में सब कुछ समर्पण कर देती है। भक्ति-मार्ग में वही सफल होगा, जो स्त्री-पुरुष के भेद-भाव को एक-दम भूल गया हो और अपने को राधा समझ कृष्ण के प्रेम में वृषभान-सुता की तरह उन्मत्त हो उठे। उनके भाव की प्रत्यक्ष उत्कृष्टता और पवित्रता ने वैष्णव-समाज में जो अद्भुत स्फूर्ति पैदा की, वह वर्णनातीत है। लेकिन बंगाल के वैष्णव-समाज में परकीया-भाव को उनके व्यक्तित्व ने विशेषरूप से जीवित रक्खा और पुष्ट किया। श्री राधा की सास और उनके पति के भी नाम कवियों ने गढ़ डाले; और सास-पतोहू का पूरा काण्ड रच खड़ा कर दिया।

बिहार और बंगाल को छोड़कर युक्तप्रान्त में पदार्पण कीजिए। यहाँ श्री राधा-कृष्ण के प्रधान गायक सूरदास हुए हैं। वे श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। ऊपर हम कह आये हैं कि श्री वल्लभाचार्य श्री चैतन्य के पास रह चुके थे; और वृन्दावन में दोनों ही की शिष्य-मंडलियाँ एक दूसरे से मिलती-जुलती रहती थीं। विचार-विनिमय अवश्य होता रहा होगा। पुष्टि-मार्ग दारा, पुत्र एवं समस्त पदार्थों को कृष्णार्पण करने की अनिवार्य आवश्यकता पर विशेष रूप से ज़ोर देता है; और श्री गोसाईं जी महाराज ही उस समर्पण को अंगीकार करते हैं। मैं इस सम्बन्ध में अधिक न लिखूँगा; क्योंकि पुष्टि-मार्ग की व्याख्या करना इस लेख का उद्देश नहीं है। उसका वास्तविक रूप अदालतों में एक-आध बार आ चुका है, जिससे इन सिद्धान्तों को अक्षरशः पालन करने से कभी-कभी उत्पन्न परिणामों का पता जनता को लग सकता है। मैं केवल द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ से सूरदास का अग्रलिखित पद नक़ल कर दूँगा, जिससे पाठक सूरदास की श्री राधा-कृष्ण के बिहार की शैली का अन्दाज़ा स्वयं कर लें—

आजु नँदनंदन रंग भरे
बिबिलोचन सुविसाल दोउन के, चितवत चित्त हरे।
भामिनि मिले परम सुख पायो, मंगल प्रथम करे।
कर सों करज कर्यो कंचन ज्यों, अम्बुज उरज धरे।
आलिंगन दै अधर पान कर, खंजन खंज लरे।
हठ करि मान कियो नव भामिनि, तब गहि पाइँ परे।
ले गये पुलिन-मध्य-कालिंदी, रस-बस अनँग अरे।
पुहुप मंजरी मुक्तनि माला, अँग अनुराग भरे।
सुरति नाद मुख बेनु सुधा सुनि, ताप अनतप जो टरे॥

सूरदास थे पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध अनुयायी; साथ ही, पैदा हुए थे न बंगाल में और न बिहार में। अतएव श्री राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में यद्यपि उन्होंने भी अश्लीलता की मर्यादा का विचार नहीं किया, लेकिन, युक्त-प्रान्त में पैदा होने के कारण, उन्हें परकीया राधा की विरुदावली गाने की हिम्मत नहीं हुई। उन की श्री राधा के न सास है, और न पति। वे कुमारी थीं, जब कृष्ण के साथ रास-लीला में वे नाचा करती थीं। इतना ही नहीं, महाभारत के युद्ध के बाद सूरदास ने श्री राधा का श्री कृष्ण के साथ बाक़ायदा विवाह भी करा दिया है। युक्त-प्रान्त के सामाजिक वातावरण में रहते हुए सूरदास को उससे आगे बढ़ना असम्भव था, जितना वे बढ़े। सचमुच, कवि अपने युग का पुत्र है।

जिस पाठक ने इस लेख को यहाँ तक पढ़ने की कृपा की है, उससे हम, लेख के आदि में दिये गये प्रश्न को दोहरा कर, पूछते हैं कि बताइए, राधा स्वकीया थीं या परकीया? साहित्य के नाम पर, कला की दोहाई देकर, आज दिन बड़े बड़े विद्वान् सत्य से असत्य को, प्रकाश से अंधकार को, पवित्रता से अपवित्रता, को अधिक ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार हैं। उन्हीं से हम सविनय निवेदन करते हैं कि वे साहित्य में श्री राधा की कल्पना और उसके व्यक्तिगत विकास के क्रम पर ध्यान दें, और बतायें कि उसका सामाजिक जीवन पर अच्छा या बुरा असर पड़ा। श्री राधा के स्वकीया या परकीया होने का प्रश्न ईश्वर की छीछालेदर के मसले का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है। वह हमारे धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण का—साहित्यिक क्षेत्र में—ज्वलन्त, यद्यपि दुःखप्रद, उदाहरण है। हमें यह न भूलना चाहिए कि जो जाति सत्य और धर्म के मामले में सर्वत्र और सर्वदा सतर्क और सचेत नहीं रहती, उसे लोक और परलोक दोनों से हाथ धोना पड़ता है।

सत्य और असत्य को पहचानने की अचूक कसौटी साहित्य है। क्योंकि साहित्यकार ही जीवन की समस्याओं और उनकी प्रेरित प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण के लिए समाज के सामने उत्तरदायी है। अपने गीतों से, किसी ने ठीक कहा है, वह बड़े बड़े राष्ट्रों को बनाता और बिगाड़ता है। संसार की सारी सभ्यतायें और समाज की सारी संस्कृतियाँ पहले उसके मस्तिष्क में जन्म लेती हैं, और उसी की बदौलत संसार उनसे लाभ उठाने में समर्थ होता है। जो स्वप्न वह आज देखता है, वे ही दूसरे दिन घटनाओं के रूप में हमारे सामने समूर्त होकर प्रकट होते हैं। दुनिया रोती है उसकी आह पर; मरने-मारने को दौड़ती है उसी की हुंकार पर। शब्द के मोहक दंड को हाथ में लेकर, उसने अनादि काल से हमारे ऊपर अनियंत्रित शासन किया है; और जब तक संसार जीवित है, तब तक उसी मन्त्र-बल से वह हमें जो नाच नचाना चाहेगा नचायेगा। इसी लिए, मैं फिर एक बार उन लोगों से—जो कलाविद् हैं और साहित्यिक क्षेत्र के कुशल कृषक कहलाते हैं—पूछता हूँ कि बताइए, श्री राधा स्वकीया थीं या परकीया? क्योंकि उनके उत्तर पर बहुत अंश में निर्भर है हमारी भावी प्रगति की गति और उसके लक्ष्य की सार्थकता।

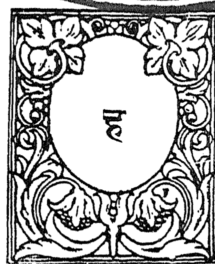


भारत में हरिजनों की दशा

प्रोफ़ेसर दयाशङ्कर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०



> इस समय हरिजनों का प्रश्न देश का सबसे बड़ा प्रश्न है। ऐसी दशा में यह जानना आवश्यक है कि हरिजनों की कहाँ कितनी संख्या है और उनकी कैसी दशा है। इस लेख में इन प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।



हरिजनों में वे व्यक्ति सम्मिलित हैं जिनके साथ हिन्दू-समाज उनके हिन्दू होने पर भी उचित व्यवहार नहीं करता। अपने को उच्च कहनेवाले हिन्दू-समाज के व्यक्ति उनके हाथ का जल नहीं ग्रहण करते, उनको स्पर्श नहीं करते, उनको देव-मंदिरों में नहीं आने देते, उनको अपने गाँव के अन्दर नहीं रहने देते, उनको अपने कुओं से जल नहीं भरने देते, कहीं कहीं उनको आम सड़क से भी नहीं जाने देते, कहीं कहीं उनको दिन के समय अपनी झोपड़ियों से भी बाहर नहीं निकलने देते तथा उनको चाँदी-सोने के गहने या ताँबे-पीतल के बर्तनों का भी उपयोग नहीं करने देते। इन हरिजनों के साथ कहीं कहीं ऐसा निन्दनीय व्यवहार किया जाता है, जैसा विधर्मियों के साथ भी नहीं किया जाता। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के समय प्रत्येक प्रान्त तथा देशी राज्य में इन हरिजनों की ठीक संख्या तथा दशा जानने का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया था। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्टें हाल में ही प्रकाशित हुई हैं। इन रिपोर्टों के आधार पर इस लेख में हरिजनों की दशा बतलाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रांतों में हरिजनों की जन-संख्या

सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार संपूर्ण भारत में हरिजनों की संख्या ५,०१,९५,७७० है। इनमें से ३,९०,६४,००६ हरिजन ब्रिटिश भारत में और शेष देशी राज्यों में निवास करते हैं। आगे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रांत तथा देशी राज्यों में हरिजनों की संख्या क्या है और यह संख्या हिन्दुओं की संख्या अथवा संपूर्ण जन-संख्या की तुलना में प्रतिशत कितनी है—

प्रांत	हरिजनों की संख्या	हिन्दुओं की संख्या का प्रतिशत	संपूर्ण जन-संख्या का प्रतिशत
युक्त-प्रांत	१,१३,२२०००	२८	२३
मदरास	७२,३४ ,,	१८	१५
बंगाल	६८,६६ ,,	३२	१४
बिहार और उड़ीसा	५७,४४ ,,	१६	१५
मध्य-प्रांतऔरबरार	२८,१८ ,,	२१	१८
आसाम	१८,२६ ,,	३७	२१
बम्बई	१७,५० ,,	११	८
पंजाब	१२,७६ ,,	२०	५
ब्रिटिश भारत के शेष भाग	१,८६ ,,	१७	५
ब्रिटिश भारत	३,९०,६४ ,,	२२	१४
देशी राज्य	१,११,३२ ,,	१८	१४
संपूर्ण भारत	५,०१,९६ ,,	२१	१४

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि संपूर्ण भारत—देशी राज्य या ब्रिटिश भारत में हरिजनों की संख्या संपूर्ण जन-संख्या की १४ प्रतिशत है। ब्रिटिश भारत में २२ प्रतिशत हिन्दू हरिजन हैं। हरिजनों की संख्या युक्त-प्रांत में सबसे अधिक है। यहाँ १ करोड़ से अधिक व्यक्ति हरिजन हैं। परन्तु इस प्रांत में हरिजनों को उतनी असुविधायें नहीं हैं जितनी उन्हें मदरास-प्रांत में सहन करना पड़ती हैं। मदरास-प्रांत में हरिजनों की संख्या ७२ लाख से अधिक है। यह संख्या वहाँ के हिन्दुओं की संपूर्ण संख्या के १८ प्रतिशत के बराबर है। बंगाल और आसाम प्रांतों में क़रीब एक तिहाई हिन्दू हरिजन हैं, परन्तु इन प्रांतों में भी उनको उतनी असुविधायें नहीं हैं जितनी मदरास-प्रांत में हैं। बम्बई प्रांत में हरिजनों की संख्या सबसे कम है। देशी राज्यों में हरिजनों की संख्या एक करोड़ से अधिक है। संपूर्ण भारत में हिन्दूसमाज का कम से कम पाँचवाँ हिस्सा हरिजन कहलाता है और इनको निरंतर असंख्य दुर्व्यवहारों का शिकार होना पड़ता है।

हरिजनों की जातियाँ और उनकी जन-संख्या

हिन्दूसमाज असंख्य जातियों में विभक्त है। इसी प्रकार हरिजनों की भी बहुत-सी जातियां हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक प्रांत में जो जाति हरिजन समझी जाती है वह अन्य सब प्रांतों में भी हरिजन समझी जाय। कहीं कहीं तो एक प्रांत के अन्दर ही किसी भाग में एक जाति हरिजन समझी जाती है और दूसरे भाग में वह हरिजन नहीं मानी जाती।

सन् १९३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि हरिजनों में २७६ जातियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं। इनमें से अधिकांश (क़रीब १५६) जातियां तो ऐसी हैं जिनमें व्यक्तियों की संख्या संपूर्ण भारत में दस हज़ार से कम है और ८८ जातियां ऐसी हैं जिनमें एक हज़ार व्यक्ति भी नहीं हैं। २६ जातियों में व्यक्तियों की संख्या १०० से भी कम है। इससे यह स्पष्ट है कि हरिजनों में छोटी छोटी बहुत-सी जातियां सम्मिलित हैं। केवल १५ हरिजन जातियां ही ऐसी हैं जिनमें व्यक्तियों की संख्या ५ लाख से अधिक है। नीचे के कोष्ठक में इन्हीं १५ जातियों की जन-संख्या दी जाती है।

हरिजनों की जाति	सन् १९३१ में जन-संख्या
चमार ...	१ करोड़ १७ लाख ५१ हज़ार
महार ...	५४ ,, ४८ ,,
आदि-द्रविड़ ...	२६ ,, २१ ,,
माँग ...	२५ ,, ४८ ,,
नामशूद्र (चांडाल)...	२२ ,, ६८ ,,
पासी ...	१६ ,, ५१ ,,
धोबी ...	१४ ,, ०६ ,,
दुसाध ...	१४ ,, ०१ ,,
परैयाँ ...	१२ ,, ०० ,,
बगड़ी ...	१० ,, २३ ,,
कोरी ...	९ ,, ६५ ,,
डोम ...	८ ,, ८४ ,,
भंगी ...	८ ,, ६५ ,,
बवरी ...	७ ,, २१ ,,
बलाई ...	५ ,, ६२ ,,

अब हम इनमें से प्रत्येक जाति की दशा का अलग अलग दिग्दर्शन कराने का यहाँ प्रयत्न करते हैं।

(२)

चमार

संपूर्ण भारत में सन् १९३१ में चमारों की संख्या १ करोड़ १७ लाख थी। सन् १९२१ में उनकी संख्या १ करोड़ १२ लाख थी। इस प्रकार दस वर्षों में ५ लाख की वृद्धि हुई। भिन्न भिन्न प्रांतों में इनकी कई उपजातियाँ हैं, जिनमें पारस्परिक वैवाहिक संबंध नहीं होता। पंजाब में इनकी पाँच प्रधान उपजातियाँ हैं जो चंदोर, रामदासी, जटिया, चंबार और गोलिया कहलाती हैं। चंदोर अधिकांश कबीरपंथी हैं। रामदासी चमार परम वैष्णवभक्त रैदास के अनुयायी हैं। चमारों में जटिया सबसे उच्च और गोलिया सबसे निकृष्ट समझे जाते हैं। बंबई प्रांत में ये चंमार कहलाते हैं। उस प्रांत के कनारा-विभाग में इनको चमगार तथा कर्नाटक में समगार कहते हैं। बंबई-प्रांत में चंमार दो प्रधान संप्रदायों में विभक्त हैं—वैष्णव और शैव। ये लोग हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। युक्तप्रांत में भी चमारों की कई उपजातियाँ हैं। कुछ चमार सातनामी कहलाते हैं। सन् १९२१ और १९३१ में भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में चमारों की संख्या नीचे के कोष्ठक के अनुसार थी—

प्रांत	चमारों की संख्या	
	१९३१ में (हज़ार)	१९२१ में (हज़ार)
युक्त-प्रांत	६३,१२	५८,४३
पंजाब	१०,९७	११,५९
बिहार और उड़ीसा	१२,८७	११,३३
मध्य-प्रांत	६,१६	८,२२
राजपूताना	३,९६	७.००
अन्य प्रांत	२०,४३	१५,४६
भारत	१,१७,५१	१,१२,६३

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि चमारों की सबसे अधिक संख्या युक्तप्रांत में ही है। गत दस वर्षों में पंजाब, मध्यप्रांत और राजपूताना में इनकी संख्या बहुत कम हो गई है। इस कमी के कारणों की जाँच की जानी चाहिए। चमार-जाति के प्रायः सब व्यक्ति हिन्दू हैं। कहीं कहीं थोड़े-बहुत मुसलमान भी हैं। पंजाब में १ लाख ५५ हज़ार चमार सिक्ख हो गये हैं। पंजाब में २ लाख ५९ हज़ार चमारों ने अपने को आदि-धर्मी बतलाया है, अर्थात् ये लोग अब अपने को हिन्दुओं से अलग समझने लगे हैं। यह हिन्दूसमाज के लिए अहितकर है।

चमारों में बालविवाह की प्रथा ख़ूब प्रचलित है। नीचे के कोष्ठकों में १३ वर्ष से कम उम्र की विवाहित चमार लड़कियों तथा १६ वर्ष से कम उम्र के विवाहित लड़कों की संख्या सन् १९३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के आधार पर दी जाती है—

उम्र	विवाहित लड़कों की संख्या	प्रतिसैकड़ा कितने लड़के विवाहित थे
०-६ वर्ष	४२,२४९	३.५
७-१३ ,,	२,३८,३१६	२२.८
१४-१६ ,,	२,१६,७८३	५१.८

उम्र	विवाहित लड़कियों की संख्या	प्रतिसैकड़ा कितनी लड़कियाँ विवाहित थीं?
०-६ वर्ष	५६,८१४	४.७
८-१३ ,,	३,७२,३३८	४०.७

इन कोष्ठकों से मालूम होता है कि सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के दिन ६ वर्ष से कम उम्रवाले ४२,२४९ चमार लड़के तथा ५६,८१४ चमार लड़कियाँ विवाहित पाई गईं। यह संख्या बहुत ही अधिक है। सात से तेरह वर्ष तक के एक पंचमांश से अधिक लड़के तथा एक तिहाई से अधिक लड़कियाँ विवाहित थीं।

१४ से १६ वर्ष तक के आधे से अधिक लड़के विवाहित थे। बालविवाह रोकने का क़ानून बन जाने पर भी इस जाति में विवाहित बच्चों की संख्या का इतनी अधिक होना यह प्रमाणित करता है कि इस जाति के व्यक्तियों ने इस क़ानून की कुछ भी परवा नहीं की। बालविवाह अधिक होने के कारण इस जाति में बालविधवाओं की संख्या भी अधिक है। सन् १९३१ में १३ वर्ष से कम उम्र की ९ हज़ार से अधिक चमार बालिकायें विधवा थीं। उनमें से १,८३७ विधवाओं की उम्र तो ६ वर्ष से भी कम थी। इस जाति में विधवा-विवाह प्रचलित है, इसी लिए इन बालविधवाओं को शायद अधिक कष्ट न हो, तो भी बालविवाह बंद कर देना बहुत ही आवश्यक है।

इस जाति में शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम हुआ है। सन् १९३१ में साक्षर चमारों की संख्या ४७,६६५ थी, जिनमें से ४४,८८६ पुरुष, और शेष स्त्रियाँ थीं। यह संख्या संपूर्ण चमारों की संख्या के ·५ प्रतिशत से भी कम है अर्थात् इस जाति के ९९·५ प्रतिशत व्यक्ति बिलकुल अपढ़ हैं, वे अपना नाम तक लिखना नहीं जानते। इस जाति में प्रारंभिक शिक्षा का प्रचार ज़ोरों से करने की आवश्यकता है। इस जाति के कुछ पुरुषों ने अँगरेज़ी-शिक्षा भी प्राप्त की है। सन् १९३१ में इस जाति में अँगरेज़ी जाननेवाले व्यक्तियों की संख्या १,५२९ थी, इनमें से ११८ स्त्रियाँ थीं।

'चमार'-शब्द 'चर्मकार' का अपभ्रंश है। चर्मकार उसे कहते हैं जो चमड़े का काम करे, परन्तु आज-कल अधिकांश चमारों का पेशा तो खेती तथा मज़दूरी हो गया है। सन् १९३१ में चमारों के जीविका के साधन नीचे लिखे अनुसार थे—

खेती	७२ प्रतिसैकड़ा
चमड़ा-संबंधी काम	१२ ,,
मज़दूरी	५ ,,
उद्योग-धंधा	३ ,,
व्यापार-व्यवसाय	२ ,,
घरू नौकरी	१ ,,
अन्य	५ ,,

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि क़रीब तीन चौथाई चमारों की जीविका का साधन खेती है और केवल १२ प्रतिशत चमार ही अपने ख़ानदानी पेशे-द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। उनको अपने ख़ानदानी पेशे की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी उन्नति करनी चाहिए। देश से प्रतिवर्ष लाखों रुपयों का कच्चा चमड़ा बाहर जाता है। देश में चमड़े के बड़े बड़े कारख़ानों-द्वारा इन चमारों की सहायता से चमड़े का माल अधिक परिमाण में तैयार किये जाने का प्रयत्न होना चाहिए। इससे चमारों की आर्थिक दशा भी सुधरेगी और देश को भी लाभ होगा।

(३)
महार

सन् १९३१ में सम्पूर्ण भारत में महार-जाति के व्यक्तियों की संख्या ५४ लाख ४८ हज़ार थी। भिन्न भिन्न प्रान्तों में इस जाति के व्यक्तियों को चेरुमा, ढेड़, होलिया, होलार, माल, माला, मेहरा, पुलियाँ, बक्कार इत्यादि नामों से भी सम्बोधित करते हैं। ये महार की प्रधान उपजातियाँ हैं और इनमें पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता। महार-शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग यह मानते हैं कि 'महाहारी' (अधिक खानेवाला) शब्द से महार निकला है और कुछ लोगों का मत है कि यह 'मृताहारी' शब्द का अपभ्रंश है। मृताहारी-शब्द का अर्थ है मृतक का आहार करनेवाला। ये लोग अक्सर मरे हुए पशुओं का मांस खाते हैं।

महार लोग हिन्दूधर्म को मानते हैं। ये लोग शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के होते हैं। प्राचीन काल में चोखामेला नाम का एक महार साधु था। इस जाति में उसके अनेक अनुयायी हैं। ये लोग अपने गले में तुलसी की माला धारण करते हैं और पंढरपुर की यात्रा भी करते हैं। पंढरपुर पहुँच कर प्रार्थना और भजन करते हैं, परन्तु मन्दिर के अन्दर नहीं जा पाते। कुछ लोग कबीर, गिरि और नाथ के अनुयायी हैं। महार लोग हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं,

तो भी हिन्दूसमाज में इनकी परछाईं तक अपवित्र समझी जाती है। मदरास-प्रान्त में महारों को चेरुमा, पुलियाँ और होलिया भी कहते हैं। वहाँ ऊँची जाति के हिन्दुओं की गुलामी करना ही इनका प्रधान व्यवसाय है। मदरास-प्रान्त के कुछ भागों में यदि मार्ग में किसी चेरुमा की किसी उच्च जाति के व्यक्ति से भेट हो जाय, तो उसको दस गज़ की दूरी पर खड़ा रह जाना पड़ता है। कोई चेरुमा कभी किसी भी दशा में ब्राह्मणों के तालाबों, मन्दिरों और ग्रामों में प्रवेश नहीं कर पाता। हिन्दू-समाज से इस प्रकार अपमानित होने के कारण दक्षिण में इस जाति के मनुष्य प्रतिवर्ष हज़ारों की संख्या में मुसलमान और ईसाई होते जा रहे हैं।

भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में महारों की संख्या सन् १९३१ में इस कोष्ठक के अनुसार थी—

प्रांत या राज्य	महारों की संख्या सन् १९३१ में
बम्बई-प्रांत	१४ लाख ३८ हज़ार
मदरास-प्रांत	१४ ,, १३ ,,
मध्य-प्रांत और बरार	१२ ,, ५६ ,,
हैदराबाद-राज्य	१० ,, ७६ ,,
बंगाल	१ ,, ११ ,,
अन्य प्रांत	१ ,, ५४ ,,
मीज़ान	५४ ,, ४८ ,,

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि महार-जाति के व्यक्तियों की संख्या बम्बई-प्रान्त में ही सबसे अधिक है। इस प्रान्त में इस जाति के व्यक्तियों को ढेड़ भी कहते हैं। मदरास-प्रान्त में इनकी जो १४ लाख १३ हज़ार संख्या ऊपर दी हुई है उसमें ८ लाख ३७ हज़ार तो माल-जाति के, ३ लाख १२ हज़ार पुलियाँ-जाति के, २ लाख १५ हज़ार चेरुमा-जाति के और शेष होलिया-जाति के व्यक्ति हैं। पुलियाँ-जाति के व्यक्ति अधिक संख्या में कोचीन और ट्रावनकोर राज्यों में रहते हैं। मध्य-प्रान्त और बरार में मेहरा तथा ढेड़ जाति के व्यक्ति सम्मिलित हैं। हैदराबाद-राज्य में माल-जाति के व्यक्ति सम्मिलित हैं। उत्तरभारत में महार-जाति के व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है।

इस जाति में बालविवाह का ख़ूब प्रचार है। सन् १९३१ में महार-जाति के विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित बालक		विवाहित बालिकाएँ	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
०-५ वर्ष	९,२४४	२·९	१९,११५	५·७
७-१३ ,,	४६,३५५	१६·७	९८,१३३	३६·२
१४-१६ ,,	५८,४७१	४०·२	९५,४९६	६८·०

यद्यपि महार-जाति में चमार-जाति की अपेक्षा बाल-विवाह कुछ कम होता है, तो भी इस कोष्ठक से यह मालूम होता है कि इस जाति में अधिक बालिकाओं का विवाह १३ वर्ष के पहले ही हो जाता है। सन् १९३१ में ६ से कम उम्र के विवाहित बालक और बालिकाओं की संख्या क्रमशः ९ हज़ार और १९ हज़ार से अधिक थी। इसी बाल-विवाह की अधिकता के कारण इस जाति में ६ वर्ष से कम उम्र की बाल-विधवाओं की संख्या १,३४४ थी। बालविवाह को रोकने का शीघ्र प्रयत्न होना आवश्यक है।

चमार-जाति के समान इस जाति में भी शिक्षा के प्रचार की बहुत कमी है। सन् १९३१ में इस जाति के केवल ६६,५०७ व्यक्ति साक्षर थे। इनमें से ६१,०६१ पुरुष और ५,४४६ स्त्रियाँ थीं। इस प्रकार इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या २·५ प्रतिसैकड़ा है। इसका अर्थ यह है कि ९७·५ प्रतिशत महार अविद्यारूपी अन्धकार में ग़ोते लगा रहे हैं। इनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए शिक्षा-प्रचार की तरफ़ विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए।

इनका प्रधान व्यवसाय ग्रामों और नगरों में झा लगाना है। ये लोग गाँवों की चौकीदारी भी व

हैं और मज़दूरी करके भी अपना भरण-पोषण करते हैं।

(४)

आदिद्रविड़

सन् १९३१ में आदिद्रविड़-जाति के व्यक्तियों की संख्या २६ लाख २१ हज़ार थी। इनमें से १६ लाख से अधिक मदरास-प्रान्त में निवास करते थे। शेष ट्रावनकोर और मैसूर-राज्य में रहते थे। इनकी दशा भी बहुत शोचनीय थी। सन् १९३० और १९३१ में मदरास-प्रान्त के रामनद ज़िले के उच्च जाति के व्यक्तियों ने आदिद्रविड़ों के सम्बन्ध में नीचे लिखे प्रस्ताव स्वीकार किये—

(१) आदिद्रविड़-जाति के व्यक्ति घुटने के नीचे कोई कपड़ा न पहनें।

(२) इस जाति के व्यक्ति सोना या चाँदी का कोई ज़ेवर न पहनें।

(३) इस जाति के पुरुष कोट, कमीज़ और बनियाइन का उपयोग न करें।

(४) इस जाति के पुरुष अपने सिर के बाल न कटवावें।

(५) इस जाति के व्यक्ति मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के बर्तनों का उपयोग न करें।

(६) इस जाति के पुरुष छाता और खड़ाऊँ का भी उपयोग न करें।

(८) इस जाति के बालक किसी भी प्रकार की शिक्षा न प्राप्त करें। वे केवल अपने मिरासदार के जानवरों की देखभाल करें।

(९) इस जाति के व्यक्ति अपनी ज़मीन मिरासदार को बेंच दें और उनके ग़ुलाम बनकर रहें। यदि वे ीन न बेंचें तो आबपाशी के लिए उनको जल न जाय।

१०) वे अपने मिरासदार के यहाँ प्रातःकाल ७ बजे ाल ६ बजे तक कुली का काम करें और पुरुषों ने तथा स्त्रियों को दो आने प्रतिदिन मज़दूरी

(११) इस जाति के व्यक्ति किसी विवाह आदि उत्सव में भारतीय संगीत का उपयोग न कर, दूलह को घोड़े पर या पालकी में न ले जायँ और वे किसी प्रकार की सवारी का उपयोग न करें।

जब उपर्युक्त प्रस्तावों के अनुसार आदिद्रविड़ों ने काम न किया तब रामनद-ज़िले के उच्च जाति के व्यक्तियों ने इन ग़रीबों की झोपड़ियाँ जला दीं, सब सामान नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और जानवरों को लूट कर ले गये। इस प्रकार का अत्याचार सर्वथा निन्दनीय है।

(५)

माँग

सन् १९३१ में माँग जाति के व्यक्तियों की संख्या २५ लाख ४८ हज़ार थी। इस जाति में उप-जातियाँ सम्मिलित हैं—मदीगा, मतंगी, मेघ, मेघवाल और मडगी। कुछ लोगों के मतानुसार संस्कृत-साहित्य में इस जाति के लिए 'मातंग' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसलिए ये लोग मतंगी भी कहलाते हैं। मातंग का अर्थ हाथी, श्वपच और चांडाल है। इस जाति के सम्बन्ध में चांडाल के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। माँग और महार प्रायः एक ही प्रकार की जाति समझी जाती है। हिन्दू-समाज में दोनों की दशा प्रायः एक-सी है। इन दोनों में यदि कोई भिन्नता है तो यह कि जहाँ महार सूअर नहीं खाते, गाय खाते हैं, वहाँ माँग गाय नहीं खाते, सूअर ही खाते हैं। महार और माँग जातियाँ परस्पर एक दूसरे को शत्रु समझती हैं। माँग जल्लाद का भी काम करते हैं। किसी महार को फाँसी चढ़ाने से माँग जल्लाद को अपार आनन्द होता है।

माँग लोग अधिकांश शैव हैं। परन्तु ये प्रायः सब हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं। ये लोग मन्दिरों में नहीं प्रवेश कर पाते। ये प्रायः रविवार के दिन देवताओं तथा मंगल और शुक्रवार के दिन देवियों पर बकरों तथा मुर्गों की बलि चढ़ाते हैं।

सन् १९३१ में भिन्न भिन्न प्रान्तों में माँगों की संख्या आगे लिखे अनुसार थी—



प्रकृत पुरुष

[चित्रकार श्रीरविशंकर म० रावळ

प्रान्त या राज्य	माँगों की संख्या १९३१ में
हैदराबाद-राज्य	१२ लाख ८१ हज़ार
मदरास-प्रान्त	६ ,, १२ ,,
बम्बई-प्रान्त	३ ,, ७६ ,,
मध्य-प्रान्त और बरार	१ ,, ०१ ,,
अन्य प्रान्त	१ ,, ७५ ,,
मीज़ान	२५ ,, ४८ ,,

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि आधे से अधिक माँग हैदराबाद-राज्य में रहते हैं। वहाँ उनको मदीगा कहते हैं। मदरास-प्रान्त में भी वे मदीगा ही कहलाते हैं। बम्बई तथा मध्यप्रान्त और बरार में भी उनकी संख्या काफ़ी अधिक है। इस जाति के कुछ लोग पंजाब और काश्मीर में भी रहते हैं। वहाँ वे मेघ कहलाते हैं।

इस जाति में भी बालविवाह की प्रथा प्रचलित है। सन् १९३१ में माँग-जाति के विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

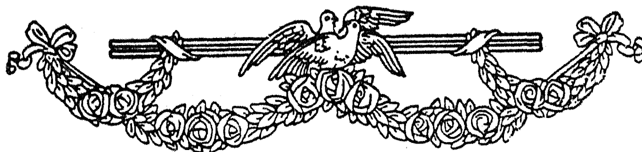
उम्र	विवाहित बालक		विवाहित बालिकायें	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	३,५०२	२·२	५,३२७	२·६
७ से १३ ,,	११,७००	६·६	३६,२८७	२१·६
१४ से १६ ,,	२१,६३६	२०·२	५६,७६८	५४·८

महार-जाति के बालविवाह-सम्बन्धी कोष्ठक से उपर्युक्त कोष्ठक का मिलान करने से मालूम होता है कि माँग-जाति में बालविवाह महार-जाति से बहुत कम होता है। जहाँ महार-जाति में ७ से १३ वर्ष की एक तिहाई से अधिक लड़कियाँ विवाहित थीं, वहाँ माँग-जाति में उनकी संख्या क़रीब एक पंचमांश थी। तो भी सन् १९३१ में इस जाति में विवाहित बच्चों की संख्या काफ़ी अधिक थी। बालविवाह की अधिकता के कारण इस जाति में ६ वर्ष से कम उम्र की बालविधवाओं की संख्या १,५८६ थी। बालविवाह को शीघ्र रोकने का दत्तचित्त होकर प्रयत्न करना आवश्यक है।

इस जाति में भी शिक्षा-प्रचार का अभाव है। सन् १९३१ में इस जाति के साक्षर व्यक्तियों की संख्या १२,४६६ थी। इनमें से ११,१०० पुरुष और शेष स्त्रियाँ थीं। हिसाब लगाने से मालूम होता है कि इस जाति में केवल ·६ प्रतिशत व्यक्ति ही अपना नाम उल्टे-सीधे अक्षरों में लिख सकते थे। शेष ९९·४ प्रतिशत व्यक्ति अक्षर-ज्ञान से रहित थे। इस जाति के अधिकांश व्यक्ति हैदराबाद-राज्य में रहते हैं। निज़ाम-सरकार को इनकी प्रारम्भिक शिक्षा की तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिए। मनुष्य-गणना के वर्ष ७६५ माँग व्यक्ति अँगरेज़ी भी पढ़ लेते थे। यह संख्या भी बहुत कम है।

माँग लोगों का व्यवसाय चमड़े की रस्सी अथवा ताँत बनाना है। ये लोग बाँस के कई प्रकार के सामान तैयार करते हैं। कुछ माँग चमड़ा तैयार करते हैं और कुछ लोग साँप पालने का व्यवसाय करते हैं। इनके पास सर्पदंश का विष नाश करने की अच्छी दवाइयाँ रहती हैं। इन लोगों का गाँव के मृतक पशुओं पर भाग निश्चित किया रहता है। अधिकांश मृतक पशुओं का तीन चौथाई भाग महारों को और एक चौथाई माँगों को दिया जाता है। इनकी आर्थिक दशा सन्तोषप्रद नहीं है।

[असमाप्त



कश्मीर

श्रीयुत आर० एस०

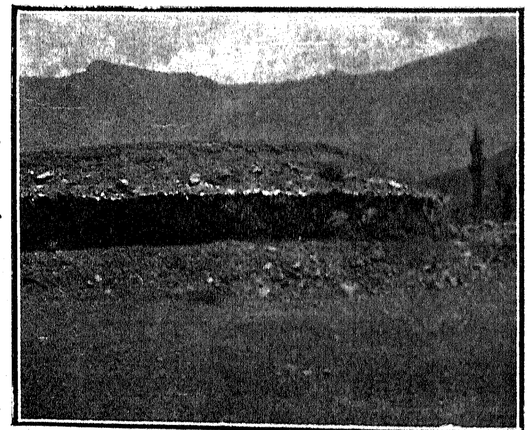


[मार्तण्ड-मन्दिर में एक मूर्ति]

पिछले जून में सौभाग्य से मैं फिर कश्मीर का परिदर्शन कर सका। दस दिन का अवसर मिला था, अतएव कश्मीर के मन्दिरों और घाटियों के दृश्यों को जल्दी जल्दी देख डाला। वराहमूल की (चुनार की) वृक्षावलि बहुत प्रसिद्ध है। जो पहला योरपीय औरंगज़ेब के शासन-काल में कश्मीर गया था वह फ़रासीसी डाक्टर फ़्रेंसिस बर्नियर था। उसने इस शानदार वृक्षावलि का वर्णन किया है। तब से यह प्रत्येक यात्री को अपने सौन्दर्य से चकित करती रही है। स्वेन हेडिन की पुस्तक में भी इसका वर्णन मिलना एक रोचक बात ही है। प्रचार के उद्देश से युद्ध के प्रारम्भिक काल में जर्मन-सेना के जनरल स्टाफ़ ने इस प्रसिद्ध खोजी को जर्मनी के युवराज के शिविर म आमन्त्रित किया था। स्वेन हिडेन अपनी उस पुस्तक में लिखते हैं कि भोजनोपरान्त भिन्न भिन्न विषयों पर बातचीत होने लगी। उसमें जर्मनी के युवराज की भारत-यात्रा की भी चर्चा हुई।



[मार्तण्ड-मन्दिर के भग्नावशेष]



[स्तूप (हार्वन)]

मैं दस दिन

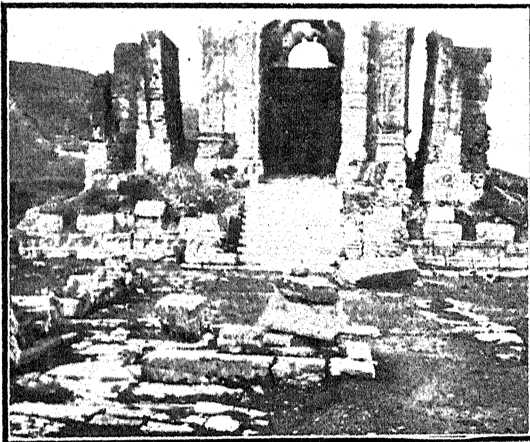
पण्डित, बार-एट-ला

कश्मीर का उल्लेख होने पर उस आनन्ददायक घाटी की सुन्दरता की बातचीत होने लगी। जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्होंने उन दिनों का जब उन्होंने वराहमूल की विचित्र वृक्षावलि तथा कश्मीर की दूसरी वृक्षावलियों का दर्शन किया था, खेद के साथ उल्लेख किया।

श्रीनगर से कुछ मील दूर वितस्ता नदी के समीप महाराज अवन्तिवर्मा का एक नगर है। उन्होंने यहाँ अवन्ति स्वामी का एक प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था। सन् १९१५ में इसकी खुदाई हुई थी। संयोग-वश उस समय मैं कश्मीर में ही था। कश्मीर के पुरातत्त्व-विभाग के तत्कालीन प्रधान श्रीयुत दयाराम सानी की कृपा से खुदाई के काम में सहायता करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने देखा कि जो कुछ उस समय खोद निकाला गया था वह अब कुछ कुछ जोखिम की दशा में है। दुर्भाग्य से कश्मीर-



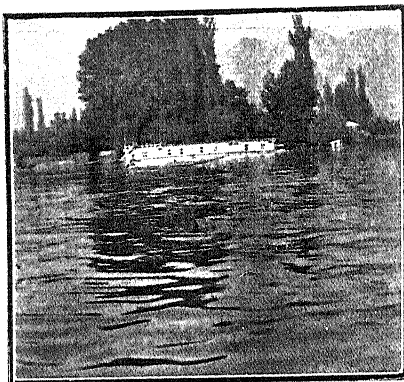
[संगीत-मण्डली और अन्य दृश्य]

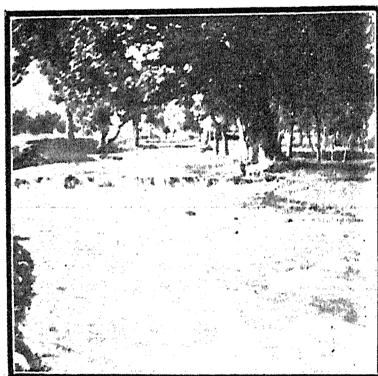


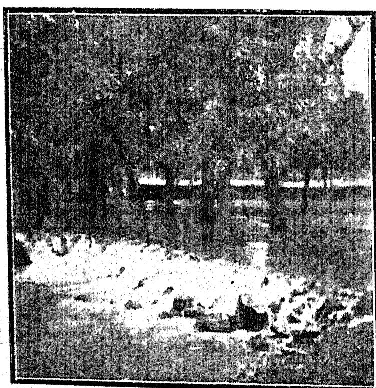
[मार्तण्ड-मन्दिर]



[हाल में पाया गया शिला-लेख (मार्तण्ड-मन्दिर)]


[हाउस-बोट]


[हार्वन के निर्झर]

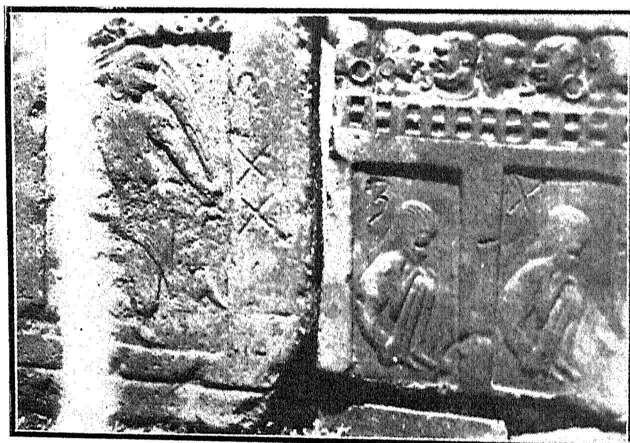

[भवन के निर्झर]

दरबार पुरातत्त्व-विभाग तोड़ देने को बाध्य हुआ है। उसके अधिकारी महोदय कम किये गये वेतन पर खोज के सुपरिंटेंडेंट के रूप में काम कर रहे हैं।

मेरे इस बार अवन्तिपुर जाने के दो सप्ताह पहले, मुझे वहाँ मालूम हुआ, सर जान मार्शल आये थे। उन्होंने लिखा है कि जो दृश्य पहले से खोद निकाले गये हैं उनकी मरम्मत करने की बड़ी ज़रूरत है और यथासम्भव उनकी अधिक सावधानी से रक्षा करनी चाहिए।

श्रीनगर वापस आने पर मैंने नवाब ख़ुशरोजंग का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि वहाँ के जो स्थल पहले खोद निकाले गये हैं उनकी रक्षा के लिए उन पर कुछ धन व्यय करने की बड़ी आवश्यकता है। जब तक वे नहीं खोदे गये थे, सुरक्षित थे, परन्तु अब जब वे खोद निकाले गये हैं तब हवा, पानी और धूप के आक्रमण के लिए वे खुल गये हैं। यदि उनको रक्षा न की जायगी तो इनसे उनकी बहुत अधिक हानि होगी। नवाब साहब ने उस ओर ध्यान देने का वादा किया और आशा है कि उनकी मरम्मत करने में कुछ धन व्यय किया जायगा।

पुरातत्त्व-विभाग को तोड़ देने से सारा पुरातत्त्व-सम्बन्धी कार्य अब बन्द कर दिया गया है। श्रीनगर


[हार्वन का खपड़ा (नृत्य-चित्र और काकासन तपस्वी)]

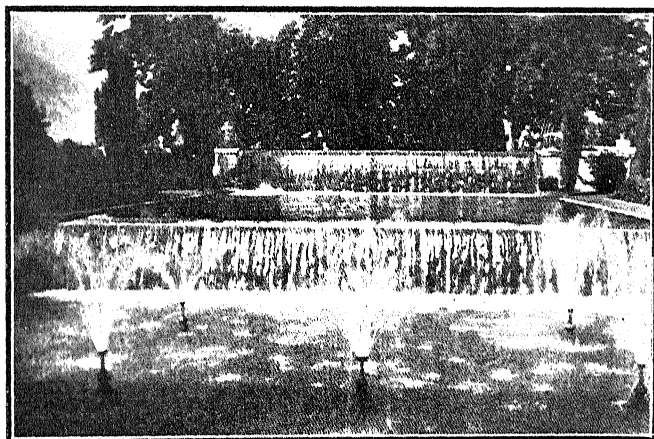
के अजायबघर में भिन्न भिन्न अच्छी वस्तुएँ रक्खी हुई हैं। उनमें से कुछ पुरातत्त्व की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। परन्तु वह भी जनता और दर्शकों के लिए बन्द कर दिया गया है। वह उन कुछ दर्शकों के लिए जो आवश्यक अनुमति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, विशेष आज्ञा से खोला जाता है। सौभाग्य से मुझे ऐसी अनुमति प्राप्त हो गई थी। बाद को मैंने नवाब ख़ुशरोजंग के सामने इस प्रश्न को भी उपस्थित किया कि अजायबघर को क़ायम रखना आवश्यक है। मैंने सुना था कि अजायबघर बन्द कर दिया जायगा और उसकी चीज़ें महाराज के भिन्न भिन्न महलों में पहुँचा दी जायँगी।

अवन्तिपुर के निकट ही मार्तण्ड-मन्दिर है। यह एक पहाड़ी पर स्थित है। यह एक अपूर्व इमारत है। कहा जाता है कि यह ग्रीक-ढङ्ग का बना है। खोज के वर्तमान सुपरिंटेंडेंट विद्वान् काश्मीरी पण्डित मधुसूदन कौल ने हाल में एक शिला-लेख खोज निकाला है। कौल महोदय ने काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थमाला के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है।

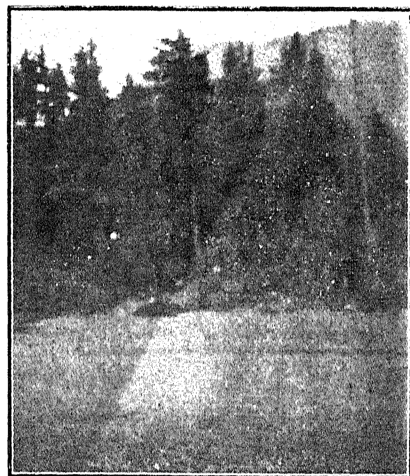
प्रसिद्ध शालामार-बाग़ के आगे वह पहाड़ी है, जहाँ से श्रीनगर के लिए पानी लाया जाता है। यह हार्वन कहलाता है। फ़रासीसी यात्री बर्नियर के अनुसार



[हार्वन का खपड़ा (ईसवी सन् की तीसरी सदी)]



[शालामार-बाग़]



[देवदार-वृक्ष]

शालामार एक प्राचीन हिन्दू-उद्यान था, जिसे मुग़ल सम्राटों ने पुनरुज्जीवित किया था। बर्नियर के मतानुसार शालामार का अर्थ संस्कृत 'शाला'-शब्द से घर और 'मार'-शब्द से कामदेव अर्थात् कामदेव का घर है।

हाल में हार्वन में पहाड़ी के ऊपर बौद्ध स्तूप और विहार के ध्वंसावशेष खोज निकाले गये हैं। वहाँ से डल झील का विस्तार और दूर पर हर-पर्वत दिखाई देते हैं। स्तूप की दीवार विचित्र बनी हुई है। वे पत्थर के टुकड़ों से बीच बीच में कुछ बड़े बड़े टुकड़े रख कर बनाई गई हैं। यह ईसवी सन् की तीसरी सदी का बना हुआ बताया जाता है।

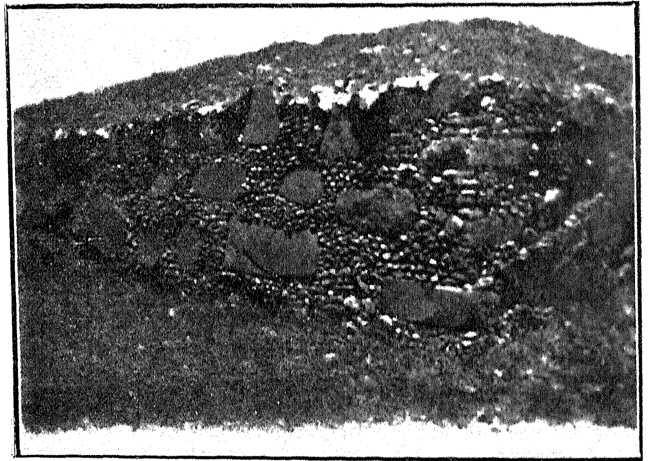


[मिस्टर और मिसेज़ पंडित]

विहार की छत कुछ कुछ लाल रंग के सुन्दर खपड़ों से जड़ी हुई है। इनमें सुन्दर सुन्दर आकृतियाँ बनी हुई हैं। एक खपड़े पर एक गायक-मण्डली का दृश्य चित्रित है। एक उनमें वीणा और दूसरा नगाड़े बजा रहा है। खपड़ों पर पशुओं के जो चित्र बनाये गये हैं वे सजीव-सा जान पड़ते हैं। एक खपड़े पर चलता हुआ बारहसिंगा बनाया गया है जो जीवित-सा जान पड़ता है। एक खपड़े में साधु काकासन बैठे दिखाये गये हैं। इस खपड़े के शिरोभाग में स्त्री-पुरुष के एक दूसरे के आमने-सामने चित्र बनाये गये हैं। स्त्री कुण्डल पहने है और हाथ में कमल की कली लिये हुए है। एक खपड़े पर धनुष-बाण के सहित एक घुड़सवार का चित्र है जो सुन्दर है। इसमें वीरपट्ट उड़ता हुआ दिखाई देता है। कल्हण की राजतरंगिणी में इस वस्त्र का प्रायः उल्लेख हुआ है। एक खपड़े पर नर्तकी का चित्र उसकी पोशाक की दृष्टि से ध्यान देने योग्य

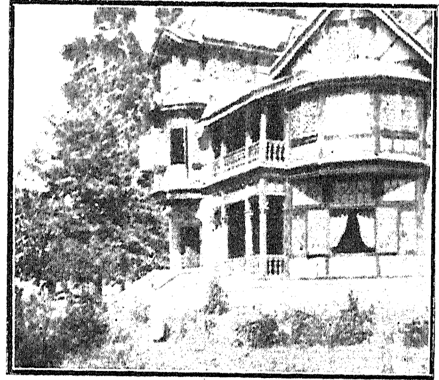


[हार्वन का खपड़ा (ईसवी सन् की तीसरी सदी)]



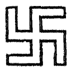
[दीवार का एक भाग]

है। वह आधुनिक ढङ्ग की पूरी पञ्जाबी पोशाक पहने हुए है। वह सलवार, कुर्ता और ओढ़नी पहने हुए नाच रही है। दो और खपड़े भी विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जो स्त्री नगाड़े बजा रही है वह भी सलवार पहने है। दूसरे खपड़े में स्त्री-पुरुष की आकृतियाँ हैं। पुरुष की धज आकृति में पम्पिआई के पुरुष की-सी है। वह सम्भवतः मद्य या द्राक्षा-रस के घट लिये हुए है। उन दिनों कश्मीर में ये दोनों वस्तुएँ उसी प्रकार प्रिय पेय थीं, जैसे वे आज आधुनिक इटली और फ्रांस में हैं। उसी खपड़े में स्त्री की आकृति एक घट अपने बायें हाथ में लिये हुए है और दाहने हाथ से अपने वस्त्र सँभाले हुए है। यह चित्र विशेष रूप से सुन्दर है। वह हाथों और पैरों में कड़े और कानों में कुण्डल, पहने हुए है। उसकी पोशाक, धज और आकृति से प्रकट होता है कि वह ग्रीक स्त्री होगी।



[मिस्टर आर० एस० पंडित के ठहरने का स्थान]

कश्मीर के झरनों, देवदार के जङ्गलों और देवदार की धूप की सुगन्ध का वहाँ की कविता में प्रायः गान किया गया है। कश्मीर की सुन्दरता का वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। उसको वहाँ के कवियों ने भू-स्वर्ग की पदवी दी है।





[यूनानी ढङ्ग की स्तम्भ-श्रेणी (मार्तण्ड-मन्दिर)]



[वराहमूल (बारा मूला)]



[हार्वन का खपड़ा (ईसवी सन् की तीसरी सदी)]

विदेश में भारतीयों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली एक मनोरञ्जक कहानी

जी० एन० सिंह और लिप्सी

श्रीयुत श्रीराम शर्मा



लदन में इंडियन यूनियन में बैठा हुआ मैं 'लीडर' के पन्ने उलट रहा था। "अरे भाई तुम कहाँ? कब आये? सब कुशल-मंगल?" की आवाज़ से चौंक कर मैंने ऊपर की ओर देखा। गंगानारायणसिंह सामने खड़े आश्चर्य से मेरी ओर देख रहे थे। मिस्टर जी० एन० सिंह दुबले-पतले २४ साल के युवा थे। होंठों पर चूहे की दुम की तरह दो छोटी छोटी मूँछें उग रही थीं। वेसलीन या ब्रिलियनटीन से तर बालों में बाईं ओर टेढ़ी-सी माँग निकली हुई थी। ब्रह्मांड पर रस्सी-सी बटी हुई चुटिया विद्यमान थी। बरौनी-विहीन छोटी छोटी आँखें कीचड़ में धँसी-सी हुई थीं। नाक तीन बार बल खाकर हाथी की सूँड़ की तरह नीचे की ओर लटक रही थी। मोज़ों में पैर सूखी टहनी की तरह घुसे हुए थे। हाथ नैनीताल के बाँझ के डंडों की तरह रहे थे, जिन पर चिड़ियों के पंजों की तरह उँगलिया लगी हुई थीं। दोनों गाल सूख कर खंखड़ हो गये थे। नाक पर बाबा आदम के ज़माने का ज़टियल, ताल के कोरों में मैल से भरा हुआ, सुनहरे फ्रेम का चश्मा टिका हुआ था। दाँत पान और तम्बाकू की पुरानी आदत के कारण रंग-बिरंगे हो रहे थे। शरीर पर बॉंडस्ट्रीट का सूट शोभायमान था, पर कमीज़ का कालर कम से कम तीन साइज़ ढीला था। टाई कालर से खिसक कर कमीज़ पर उतर आई थी। जूते शी की तख्तियों की तरह मांस-रहित पंजों पर कसे हुए थे। गरज़ यह कि मिस्टर जी० एन० सिंह एक-दम चोंच थे, तिस पर तुर्रा यह था कि वे अपने को आर्यसमाजी कहते थे।

मैंने कहा—बड़ी प्रसन्नता हुई। सुना था, तुम यहाँ हो, पर तुम्हारा पता नहीं मालूम था। कहो यहाँ क्या करते हो।

जी० एन० सिंह ने खीस निकाल कर कहा—अगरीकल्चर पढ़ने का विचार है। पर यार लंदन लंदन बहुत सुना था। मैंने सोचा था कि स्वर्ग होगा, पर यहाँ तो दिन-रात पानी बरसता है, धुयें और कोहरे के मारे नाक में दम रहता है। मैं तो परेशान हो गया हूँ। यह कह कर वे मेरे बग़ल में बैठ गये और कुछ देर तक ग़पशप करते रहे। एकाएक उनकी ग्रामीण स्मृतियाँ जाग उठीं। उर्दू या हिन्दी छोड़ कर वे देहाती में लौट पड़े।

"हिअई बैठ व्या कि चला कतौं चली।"

"कहाँ?"

"कार्नर हाउस बहुत सुन्दर बा। चला, चाह पिई।"

मैंने हँस कर कहा—अच्छा चला।

इस कहानी के लेखक महोदय उत्तर भारत के एक रईस युवक हैं, और लंदन में रहते हैं। वहीं से यह कहानी आपने सरस्वती के लिए भेजी है।

हम दोनों कार्नर हाउस की ओर रवाना हुए। रास्ते भर में वे मेरी जान खा गये। "भाई सुना है कि तू समाज से अलग होइ गया।" इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश से लेकर ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका तक के सारे सिद्धान्त दोहरा गये। मैं केवल 'हाँ' या 'नहीं' करता रहा।

कार्नर हाउस में वे उचक्के की तरह चारों ओर दृष्टि दौड़ा रहे थे। आती-जाती लड़कियों पर रिमार्क पास करते जाते थे, 'गज़ब ऐंठती चलती है' इत्यादि, पर बीच बीच में समाज और कांग्रेस से मेरा दिमाग़ चाटे जा रहे थे। डेढ़ घंटे के बाद जब वे बकवाद से कुछ थके तब वहाँ से चलने को उद्यत हुए, पर एकाएक रुक कर मेरी ओर मर्मभेदी दृष्टि डालते हुए बोले—संझा के का करब्या? चला हाइडपार्क मा घूमी। मैंने सोचा कि यह प्रस्ताव बुरा है। जाड़े में हाइडपार्क में घूमने का क्या तुक? इसके अलावा यह वहाँ भी इसी प्रकार पीछे पड़ा रहेगा। मैंने क्षण भर सोचकर कहा—आज अवकाश नहीं है, कल मिलूँगा। शाम को तो तुम यूनियन में आते ही हो? किसी तरह से जान छूटी।

× × × ×

दूसरे दिन जी० एन० सिंह अचानक रास्ते में मिल गये।

"गुडमार्निंग, गुडमार्निंग......नमस्ते से तो शायद आपको घृणा हो।"

"गुडमार्निंग, कहाँ जा रहे हो?"

"तुम कहाँ जा रहे हो?"

"खाने"।

"चला हमहूँ चली।"

"अच्छा कम अलांग (आइए)।"

एक छोटे से पास के लायन्स में हम लोग खाने गये। रेस्ट्राँ भरा हुआ था। केवल एक मेज़ ख़ाली थी, जिस पर सिर्फ़ एक बुढ़िया बैठी थी—ज़टियल, गन्दी और जर्जर। कपड़ों से दुर्गन्धि आ रही थी, तोते की टोंट की तरह सिकुड़न से परिपूर्ण लाल लाल नाक थी। चेहरे पर अगणित झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। फटी हुई टोकरी की तरह सिर पर घिसा हुआ सा एक काला हैट औंधाया हुआ था। सूखी खटाई की तरह दो कान जटायु के-से चेहरे पर लगे हुए थे। होंठों पर सफ़ेद, भूरे, पीले, काले और मटीले रंग के बाल मूँछों की लकीर बना रहे थे। ठुड्डी पर एक दर्जन आधी आधी इंच के बाल तीन इंच के सरकम्फ़रेंस में बिखरी हुई दाढ़ी के रूप में उगे हुए थे। मैं सोच रहा था कि इस मेज़ पर बैठूँ या न बैठूँ। इतने में जी० एन० सिंह ने एक बार बुड्ढी की ओर देख कर मुँह बिचकाया; दूसरे क्षण झट कुर्सी घसीट कर बैठ गये। बोले—बैठा भाई बैठा, ससुरी तौ डाइन की तरह बा, मुदा और कतहूँ जगहै नाही ना।" हताश मुझे भी बैठना पड़ा। इतने में वेट्रेस ने आकर खाने के बारे में पूछा। उन्होंने आर्डर किया, "फ्राइड पुटेटोज़, पीज़, कार्नफ्लावर......"

वेट्रेस ने यह सोच कर कि यह तो तरकारी का आर्डर हुआ और क्या आर्डर होता है, मिस्टर सिंह से पूछा—"एंड?" (और)

अत्यन्त सरलता के साथ झेंपते हुए उन्होंने उत्तर दिया "दैट्साल (बस)।"

बुढ़िया की विकराल आकृति से भयभीत होकर लोग उससे दूर जाकर बैठते थे। उसकी मेज़ की तीनों कुर्सियाँ ख़ाली थीं। परन्तु मेरे मित्र की देहाती के धारा-प्रवाह तथा खिलखिलाती हुई हँसी से वह बुड्ढी शीघ्र ऊब गई, जल्दी जल्दी खाकर बिल चुका कर भाग खड़ी हुई। मेरे मित्र ने आलू, मटर और गोभी खाकर एक दीर्घ स्वाँस ली। उसके बाद फिर वार्तालाप में मग्न हो गये।

मिस्टर सिंह मुझ पर बड़ी कृपा करते थे। कभी सिनेमा दिखलाते, कभी थियेटर की हवा खिलाते, पर पिण्ड न छोड़ते। यहाँ तक कि एक दिन असबाब के सहित वे मेरे होटल में आ उपस्थित हुए। धीरे धीरे मैं उन्हें एक प्रकार से चाहने लगा, पर कभी कभी तो इतना परेशान हो जाता था कि उन्हें छोड़ कर भाग जाता। दिन भर ग़ायब रहता। शाम को यह सोच कर कि वे यूनियन में होंगे, यूनियन जाता और वहीं उनसे भेंट होती। मुझे देखते ही वे व्यंग्य में कहने लगते—भाई कहाँ उड़ि गया? मैं मामूली तौर से उत्तर

देता—ऐसे ही काम था। "हां, हां, लौंडियों के फ़िराक में...?" यह कह कर वे बत्तीसों दाँत खोल कर हँस देते।

× × ×

दो सप्ताह बाद मैं जर्मनी चला गया। एक दिन अमेरिकन इक्सप्रेस में पत्र लेने गया। एक पत्र जी० एन० सिंह का था।

लंदन
६—

प्रिय शर्मा,

मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम स्कूल की तरह अब भी वैसे ही पाजी हो। मैंने तुम्हें दो पत्र लिखे। तुमने एक का भी उत्तर नहीं दिया—शान है। ख़ैर, मैं छुट्टियों में बर्लिन आनेवाला हूँ। ११ तारीख़ को वहाँ पहुँच जाऊँगा। अच्छा होता यदि तुम मुझे २॥ बजे वाली गाड़ी के समय जू स्टेशन पर मिलते। कृपा कर अपने होटल का पता शीघ्र लिखो ताकि मैं सीधे स्टेशन से तुम्हारे होटल में चला आऊँ।

आशा है, तुम सकुशल हो। शेष मिलने पर।

तुम्हारा,
गंगानारायण

११ तारीख़ को मैं मिस्टर सिंह से स्टेशन पर मिला। "बड़ा कष्ट किया; भाई बड़ा कष्ट किया।" गद्गद होकर उन्होंने कहा और दोनों हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते किया। मेरे इस कष्ट से सन्तुष्ट होकर उन्होंने पत्रोत्तर की त्रुटि के लिए मुझे क्षमाप्रदान किया। हम दोनों होटल में आये। शाम को खाने के लिए मैं उन्हें इंडियन होस्टल दिखला कर एक आवश्यक कार्य से दूसरी जगह चला गया। मैंने कहा—डेढ़ घंटे के बाद होस्टल में मिलूँगा। जब वापस आया तब देखता क्या हूँ कि मिस्टर सिंह एक मेज़ पर डटे हुए हैं, सामने प्लेट पर चावल का ढेर लगा हुआ है, पास ही ऊपर तक भरी हुई कटोरे में दाल रक्खी हुई है, जिस पर वे गीदड़ की तरह टूट रहे हैं। उनके ठीक सामने दूसरी ओर लिप्सी बैठी हुई है।

× × × ×

लिप्सी बराबर होस्टल में चक्कर लगाती थी। लोग उसे अँगरेज़ी जासूस कहते थे। उससे मारे डर के कोई बात नहीं करता था। यदि कोई कुछ बात भी करता था तो केवल व्यंग्य के रूप में। नतीजा यह होता था कि लिप्सी चिढ़ कर चुप हो जाती थी। पर लिप्सी मुझसे प्रसन्न रहती थी। मैं कभी कभी उसके पास बैठ जाता और साधारण रूप से बातें करता। लिप्सी पूछती—तुम यहाँ क्या करते हो? मैं—ऐसे ही जर्मनी की हवा खाता हूँ। वह—हवा कैसे खाई जाती है? मैं—यों ही बातचीत कर। वह—और कैसे? मैं—टियरगार्टन में घूम कर। वह—बस? मैं—और क्या? वह—हवा कैसी लगती है? मैं—ख़ूब ठंडी। गर्मी की ज़रूरत होती है तब तुम्हारे पास चला आता हूँ। वह—इस समय किसकी ज़रूरत है? मैं खाने की। वह—हँ, हँ, हँ, खाना और सोना; केवल? मैं—कैसे? वह—कुछ नहीं।

लिप्सी कुरूपा न थी, अधिक सुन्दर भी न थी, पर उसके बोलने में एक प्रकार की मनोहरता थी। वह बड़ी सुन्दरता के साथ लिस्प* करती थी। उसके ज़्यू आर ब्वनी†—में एक प्रकार की मोहकता थी। उसे भी इसका ज्ञान था। 'लिस्प' से मैं उसे 'लिस्पी' कहने लगा था। शीघ्र ही 'लिस्पी' से उसका नाम 'लिप्सी' हो गया। उसे भी यह नाम पसन्द था, प्रायः कहा करती थी, 'जिस इज़ शर्माज़ सूविनीर।'

एक दिन शाम को लिप्सी होस्टल में थी। मैं रोज़ की तरह बातें कर रहा था—लिप्सी, मुझे सर्दी लग रही है। वह—कुछ खा लो। मैं—भूख नहीं है। वह—जाकर सो रहो। मैं—कहाँ? वह—टियरगार्टन में। मैं—सर्दी मालूम पड़ेगी। वह—गर्मी का मौसम है। ओवरकोट ले लो। मैं—चलो लिप्सी ज़रा घूम आयें। वह—कहाँ? मैं—टियरगार्टन में। वह—तुम तो कहते हो कि अकेले घूमना पसन्द है। मैं—देखें तुम्हारे साथ कैसा मालूम पड़ता है?

---

*Lisp. †You are funny.

ग्रीष्म का चन्द्रमा तेज़ी से चमक रहा था। लम्बे दरख़्तों से छन छन कर चाँदनी छिटक रही थी। लान ग़लीचे की तरह मुलायम था, ओस का नाम-निशान न था। धीमी धीमी वायु बह रही थी। मैंने लिप्सी की आँखों की ओर देखते हुए कहा—लिप्सी, आओ बैठ जायँ। लिप्सी ने उसी तरह मेरी ओर देखते हुए कहा—मेरी ओर इस तरह मत देखो। हम दोनों लान पर बैठ गये।। यों तो लान पर पदार्पण करना मना है। पर रात थी, वहाँ कोई न था।

मैं और लिप्सी साधारण जीवन में संसार के दो भिन्न प्राणी थे। एक को दूसरे के प्रति एक प्रकार का मानसिक विरोध था। वह मुझे अकारण दम्भी समझती थी और मैं उसे 'प्रूड'। इस अवसर की बात दूसरी थी। लिप्सी का हठपूर्ण गर्व चन्द्रमा की रश्मियों में भाफ बन कर उड़ गया था, मेरा काल्पनिक दम्भ उस मन्द वायु में विलीन हो गया था। बिना बनावट के काल्पनिक दम्भवाद से मुक्त, हम दोनों इस समय संसार के साधारण प्राणी थे। साधारण अवस्था में साधारण अभिलाषाओं का साधारण मार्ग पर चलना साधारण है। इसके बाद हम दोनों बड़ी देर तक घास पर लेटे रहे। कुछ देर के बाद लिप्सी ने कहा—घर जाने का समय है। अनिच्छा के साथ हम दोनों धीरे धीरे उठे। सड़क पर लिप्सी ने पश्चिम की ओर नम्बर १२ की बस ली और मैंने पूर्व की ओर नं० १ की।

कुछ दिनों के बाद मैं फिर लिप्सी से होटल में मिला, पर एकाएक हम दोनों का पुराना मानसिक युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। शीघ्र ही लिप्सी मेरी दृष्टि में वही पुरानी हठपूर्ण गर्व की मूर्ति बन गई और उसकी दृष्टि में मैं वही दम्भी हो गया।

× × ×

मैं कुछ देर तक दरवाज़े पर खड़ा मिस्टर सिंह की विचित्र मूर्ति का दर्शन करता रहा। वे खाते जाते थे, बातें करते जाते थे, पर उनकी दृष्टि लिप्सी पर गड़ी हुई थी। लिप्सी भी बीच बीच में उनकी ओर देखती जाती थी। एक बार मैंने सोचा कि चलो यहाँ से खिसक चलो। उसी क्षण लिप्सी ने मेरी ओर आकर्षित होकर कहा—हलो मिस्टर शर्मा...बहुत दिनों के बाद...। बात काटते हुए मैंने उत्तर दिया—हाँ, गुड ईवनिंग लिप्सी, ज़रा काम में फँसा था। तुम तो यहाँ बराबर आती ही होगी। मैं लिप्सी के पास बैठ गया और मिस्टर सिंह के भोजन समाप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा। भोजन के बाद मैंने दोनों का परिचय कराया। मैंने कहा—आप मिस्टर सिंह हैं और...मिस बेकमान, (हँस कर) ...लिप्सी बेकमान। सिर झुकाते हुए मुसकरा कर लिप्सी ने कहा—आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता...। मिस्टर सिंह ने दाँत दिखलाते हुए उत्तर दिया—हें, हें, हें। इसके बाद बड़ी देर तक हम लोग आपस में बातें करते रहे। विदा होते समय लिप्सी ने जी० एन० सिंह पर एक गहरी मुसकान की दृष्टि डाली।

रास्ते में हम और मिस्टर सिंह चुपचाप होटल की ओर चले जा रहे थे। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि मिस्टर सिंह चुप क्यों हैं, पर शीघ्र ही उनकी इस चुप्पी का कारण प्रत्यक्ष होने लगा। लिप्सी की गहरी मुसकान ने उनके हृदय पर जादू का काम कर दिया था। वे मुझसे इस विषय पर बात छेड़ने या सलाह लेने का उद्योग कर रहे थे, पर उनके मस्तिष्क में भयानक युद्ध हो रहा था। सदाचार का ढोंग मानसिक प्रवृत्तियों का गला घोट रहा था, पर वे प्रबलता के साथ उसका विरोध कर रहे थे। मैंने सहानुभूति दिखलाते हुए कहा—लिप्सी तुम्हारी ओर बहुत ग़ौर से देख रही थी।

"हाँ, ई के आय, अच्छी तो है।"

"रीझ रहे हो क्या ?"

"अरे भाई इस सूरत पर कौन ......?" मैंने हँस कर कहा—सूरत-ऊरत का सवाल नहीं है, पर ज़रा बचना। लिप्सी के छत्ते में शहद तो ख़ाक न मिलेगा, मारे डंकों के परेशान हो जाओगे।

मिस्टर सिंह ने उत्सुक होकर पूछा—पर वह तो तुम्हारी दोस्त है।

मैंने एक साथ गम्भीर तथा हास्यपूर्ण होकर कहा—लेकिन तुम तो ब्रह्मचारी थे। सुना था कि लंदन में

समाज-मन्दिर खोलनेवाले हो। इस पर कुछ चिढ़ कर असम्बन्धित से होकर उन्होंने उत्तर दिया—अरे जाने भी दो।

× × ×

मिस्टर सिंह का और मेरा कमरा बग़ल ही बग़ल था, पर केवल सोने के समय को छोड़कर वे बराबर मेरे ही कमरे में डटे रहते थे। दो-तीन दिन उन्हें बर्लिन दिखलाने में बीते, पर जब उनको तनिक भी अवकाश मिलता तब वे बे-सिर-पैर की हाँकने लगते। जीवात्मा, पुरुष और प्रकृति से मैं परेशान हो गया; असहयोग और अहिंसा से ऊब गया; इसके अलावा शुद्धि, सनातनधर्म मूर्तिपूजा से फ़ुर्सत न मिलती। एक-आध बार मैं हैरान होकर बिगड़ भी गया, पर वे कब माननेवाले थे।

कुछ काल के बाद धीरे धीरे मिस्टर सिंह के वाक्य-क्रम में परिवर्तन होने लगा। लिप्सी ने उनके हृदय में घर बना लिया था। पहले तो वह जीवात्मा और प्रकृति के पीछे छिपी हुई थी, क्रमशः वह परमपुरुष के रूप में प्रत्यक्ष प्रकट होने लगी। वे प्रायः शाम को होस्टल में खाने जाते थे। इस समय मुझे फ़ुर्सत रहती थी। मैं इस अकेले होने के अल्प आनन्द का भली भाँति लाभ उठाता।

एक दिन मिस्टर सिंह कुछ खिन्न-से दिखलाई पड़ते थे। मैंने उनकी खिन्नता का कारण ज्ञात करने के हेतु उनसे पूछा—कहो, आज तुम उदास-से जान पड़ रहे हो? उन्होंने कुछ देर तक उत्तर न दिया। उसके बाद बे-परवाही से बोले—लिप्सी की बात कुछ समझ में नहीं आती। मैंने भी उसी प्रकार लापरवाही से थोड़े में उत्तर दिया—हूँ, क्यों? उन्होंने कहा—यों ही बड़ा मुश्किल मामला है। मैं—झगड़ा हो गया? उन्होंने—अरे भाई अभी बातें भी नहीं शुरू हुईं। मैंने हँस कर कहा—अच्छा है, सब सामान मौजूद है; यहीं समाज खोलो, शुद्धि करो। उन्होंने अपने पेटेन्ट 'हें, हें, हें' के द्वारा मेरे इस व्यङ्गय का उत्तर दिया।

दूसरे दिन शाम को मैंने लिप्सी को चाय के लिए निमन्त्रित किया। पाँच बजे हम तीनों एक काफ़े में चाय पी रहे थे। मिस्टर सिंह पीने की अपेक्षा चाय सुड़क रहे थे। चाय पीते जाते थे, मुँह बनाते जाते थे। डेढ़ प्याला चाय सुड़कने के बाद उन्होंने धीरे धीरे लिप्सी से वार्तालाप आरम्भ किया। धीरे धीरे स्टीम तेज़ होने लगी, थोड़ी ही देर में वाक्यधारा इस प्रकार वेग से बहने लगी—भारतवर्ष के बराबर संसार में दूसरा देश नहीं है। काश्मीर में ठंडी से ठंडी जल-वायु मिल सकती है, कोलम्बो में गर्म से गर्म। फिर हिमालय कितना सुन्दर है? स्विटज़र्लैंड उसके सामने क्या है? जिस समय योरपीय लोग असभ्य थे, हमारे यहाँ सभ्यता उन्नति की सीमा को पहुँच चुकी थी। कला-कौशल में हमारा प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं था। कालिदास की 'शकुन्तला' में जो भाव हैं, शेक्सपियर उसका क्या मुक़ाबला कर सकता है? आज भी रविवर्मा के सदृश चित्रकार हमारे यहाँ हो गये हैं। हमारे नवीन चित्रकारों की कौन बराबरी कर सकता है? हमारा दोष केवल हमारी दासता है, पर शीघ्र वह समय आनेवाला है जब हम विदेशी शासन को एक नई युक्ति 'असहयोग'—'सत्याग्रह' के द्वारा अपने देश से निकाल बाहर करेंगे। हमारे वेद क्या अनुपम ग्रन्थ हैं? प्रत्येक मन्त्र संसार की सभ्यता के प्रत्येक अंग के बीज हैं। वेदों का समय मिस्टर तिलक के अनुसार ईसा की ८००० शताब्दी से पहले का है। बीच में हमारे धार्मिक विचार बिगड़ गये थे। वेद एक ईश्वर को मानता है। हाल में वेदों का पुनरुत्थान हुआ है। मैक्समूलर ने वेदों का ग़लत उल्था किया है। स्वामी जी ने हज़ारों वर्ष बाद वेदों पर फिर नया प्रकाश डाला है। हम तीन वस्तुएँ मानते हैं।

मैंने वाक्यप्रवाह में विघ्न डालते हुए कहा—जीवात्मा, पुरुष और प्रकृति! इस पर मिस्टर सिंह ने मेरी तरफ़ बिगड़ कर देखा। इस समय लिप्सी के प्रति उनके भाव दूसरे ही हो रहे थे। इस समय वह 'अच्छी लौंडिया' न थी, बल्कि धर्मोपदेशक के सामने धर्मभिक्षु। मिस्टर सिंह ने प्रभाव-पूर्ण भाषा में मेरे आचार का खंडन आरम्भ किया। उन्होंने

कहा—मिस—मिस बेकमान, मिस्टर शर्मा जैसे लोगों के स्वदेशप्रेम के भाव लुप्त हो गये हैं। योरप की तड़क-भड़क में इन्होंने अपना आत्मिक जीवन खो दिया है। इनका वेद तथा इवोल्यूशन आफ़ स्पेसीज़, डिसेंट आफ़ मैन, हिस्टारिकल मेटेरियलिज़्म तथा गन्दा आधुनिक पोरोनोग्रेफ़िक लिटरेचर है।

मैंने कहा—ख़ैर लिप्सी, मेरे मित्र कुछ ही दिनों के बाद लंदन लौट जायँगे। मैंने इन्हें बर्लिन की ख़ास ख़ास चीज़ें दिखला दी हैं। क्या तुम कृपा करके इनके साथ एक बार ओपरा और थियेटर में जा सकोगी? लिप्सी ने फिर वैसे ही पुराने मूड की तरह शान के साथ उत्तर दिया—इस सप्ताह मुझे अवकाश नहीं है, दूसरे...मैंने बात काटते हुए कहा—कम (आओ) लिप्सी। मिस्टर सिंह शीघ्र चले जायँगे, हीला-हवाला न करो। इस पर गम्भीर होकर एहसान जनाते हुए लिप्सी ने मिस्टर सिंह को उत्तर दिया—हाँ, कल मैं आपके साथ ओपरा में चल सकती हूँ। मिस्टर सिंह अवसर पाते ही सरपट हाँकने लगे—धन्यवाद, बड़ी कृपा है—हाँ, तो हिन्दुस्तान में आज-कल दो जमातें हैं'—हिन्दू और मुसलमान...। मैंने अपने जी में कहा, मर हिन्दू और मुसलमान। अन्त में उन्होंने गाँधी-अरविन-पैक्ट पर बात ख़तम की।

मिस्टर सिंह की लेक्चरबाज़ी सुनने के बाद लिप्सी ने शिष्टाचार के रूप में तारीफ़ करते हुए कहा—वास्तव में आपके द्वारा बहुत-सी नई बातें मालूम हुईं। आपने बहुत अध्ययन किया है। पर मुझे विश्वास था कि लिप्सी ने मिस्टर सिंह के व्याख्यान के किसी भी विषय का अर्थ ठीक नहीं समझा। बाद में एक दिन मैंने लिप्सी से पूछा—वेद क्या है? लिप्सी ने उत्तर दिया—मैं नहीं जानती। फिर मैंने पूछा—काश्मीर कहाँ है? लिप्सी ने उत्तर दिया—पागल हो गये हो?

× × ×

दूसरे दिन रात में मिस्टर सिंह के ओपरा से वापस आने पर मैंने कहा—कहो भाई, ओपरा अच्छा रहा? उन्होंने मुग्ध कंठ से जर्मन-गान-विद्या की तारीफ़ की, कहा—मैं हिन्दुस्तान में योरपीय म्यूज़िक को केवल हल्ला-गुल्ला ही समझता था। मिलिटरी बैंड के चीत्कार से कान के पर्दे फटने लगते थे, पर यहाँ गिर-गिरी, ताल, सुर से मस्त हो गया। मिस्टर सिंह को म्यूज़िक में दख़ल था, तबला अच्छा बजा लेते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई गाने-बजाने के टेकनिकल शब्दों का उपयोग किया जो मुझे याद नहीं आते। पर लिप्सी के बारे में वे अधिक बात नहीं करते थे। यदि मैं लिप्सी के विषय में इशारा करता तो वे फ़ौरन बात बदल देते। पर बातें बदलने में उनके छिपे हुए भाव प्रत्यक्ष थे। थियेटर के विषय में प्रश्न करने पर विदित हुआ कि वे परसों लिप्सी के साथ थियेटर जानेवाले हैं।

धीरे धीरे मिस्टर सिंह ग़ायब रहने लगे। दोपहर में भोजन के बाद दूसरे-तीसरे वे २ से ६ बजे तक चले जाते। लौटने पर मैं पूछता, कहाँ थे तब कहते भाई बड़ा अच्छा मौसम है, तुम तो शहर छोड़ते नहीं। मैं देहाती हूँ, मुझे वृक्षों की छाया में, निर्जन एकान्त में, पक्षियों के कलरव में जो आनन्द आता है, यहाँ इन बड़े बड़े मकानों में, नागरिक जीवन के शोर-गुल में नहीं प्राप्त होता। मैं शहर के बाहर चला जाता हूँ। चीड़ के घने वृक्षों के जंगलों में लेटा लेटा ग्रामीण स्मृतियों की याद किया करता हूँ। मैं इन 'ग्रामीण स्मृतियों' की बात अच्छी तरह समझता था, पर इस भय से कि कहीं रंग में भङ्ग न हो जाय, मैंने लिप्सी के विषय में पूछताछ एक-दम बन्द कर दी।

दो सप्ताह के बाद मैं पेरिस चला गया। चलते समय मैंने मिस्टर सिंह से पूछा, लंदन कब जाओगे, उत्तर मिला, लंदन में भारतवासियों के लिए रहना घोर अपमान-जनक है। अँगरेज़ हमसे घृणा करते हैं और हमारे और उनके राजनैतिक विरोध के कारण हम लोगों का जीवन लंदन में नरकपूर्ण है। मुझे गवर्नमेंट सर्विस का लालच नहीं है। मेरा पहला उद्देश केवल विद्या प्राप्त करना है, जो यहाँ भी प्राप्त की जा सकती है। मैं जर्मन सीखने का उद्योग कर रहा हूँ। उसके बाद यहीं पढ़ूँगा। इस विषय में मैंने पिता जी को लिख दिया है। दूसरा

प्रश्न आर्थिक है। तुम जानते हो कि पौंड का भाव गिर जाने पर भी लंदन की अपेक्षा बर्लिन में रहना अधिक सस्ता है और तीसरी बात यह कि मैं लंदन के धुएं धक्कड़ से परेशान हो गया हूँ। यह शहर अत्यन्त साफ़-सुथरा और सुन्दर है। न धुआँ है, न कोहरा; मैं यहाँ बहुत प्रसन्न रहूँगा। मैंने पूछा—और चौथी बात क्या है? उन्होंने कहा—चौथी बात क्या? ये ही तीन बातें हैं।

× × ×

आठ महीने के बाद मैं जाड़ों में नीस नगर के पास के एक छोटे-से गाँव में था। पेरिस की जल-वर्षा, शीत और बादलों से भागकर मैंने मेडीटरेनियन सागर पर हरे-भरे वृक्षों के बीच में बसे हुए इस गाँव की शरण ली थी। नील समुद्र सामने की ओर नील गगन में मिला हुआ था; क्षितिज केवल एक-से रंगों के मिलने की पतली लकीर-सा दिखलाई पड़ता था। समुद्र की ओर से मन्द और सुहावना समीर बह रहा था। हम और ऐस्ट्रिड समुद्र के किनारे की एक चट्टान पर बैठे हुए थे। सूर्य की किरणें ऐस्ट्रिड के सुनहरे स्वीडिश बालों पर पड़कर उनके चारों ओर एक सतरंगा प्रभा-मण्डल-सा बना रही थीं। ऐस्ट्रिड की नीली आँखें मानो नीचे भरे हुए मेडीटरेनियन के दो चम्मच जल से बनाई गई थीं। ऐस्ट्रिड नीचे की ओर दो समुद्री गलों की लड़ाई देख रही थी। मैं चट्टान पर लेटा हुआ भोजन के बाद पाइप का आनन्द ले रहा था। ऐस्ट्रिड का ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने कहा—ऐस्ट्रिड, आज हमारे एक पुराने मित्र का पत्र आया है। बड़ा मज़ेदार है, सुनने क़ाबिल है। सुनिए तो। वह इस प्रकार है—

लंदन
२१—

प्रिय शर्मा,

तुम्हें मालूम है कि अग्रवाल भारत लौटने के पहले कुछ दिनों के लिए बर्लिन आया था। साला अपने को नेता समझता है। इसका जीवन किन गन्दी नालियों का गोरखधन्धा है, ईश्वर जाने; पर ऊपर से ऐसी गढ़ी गढ़ी बातें करता है कि सुनते सुनते मेरा खून उबलने लगता है। बातें क्या करता है, मानो कबीर और रैदास के फ़िकरे सुनाता है। खैर, मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि ऐसे संकीर्ण विचार के टकहे सदाचारियों का जीवन अहंकार, आत्म-प्रशंसा और भ्रम का स्टोर होता है। स्वस्थ जीवन का अभाव उनके साधारण मानसिक विकास में बाधक होता है। मेरा तो विश्वास है कि तुम्हारा तर्क किसी अंश में ठीक है। यद्यपि मैं तुम्हारी हर बात से सहमत नहीं हूँ, पर यह तो मानना ही होगा कि पाखण्ड का मुख्य कारण बनावटी आचार है। यह अग्रवाल अपने को 'पिलग्रिम फ़ादर्स' का भी पड़दादा समझता है।

तुम्हारे चले जाने के बाद, मैं साफ़ बतलाता हूँ, मेरा और लिप्सी का प्रेम बढ़ता रहा। यद्यपि मेरे और उसके बेहद विदेशी होने के कारण कठिनाइयाँ आती रहीं, मेरी और उसकी प्रकृति भिन्न थी, भाषा का सम्बन्ध केवल अँगरेज़ी-द्वारा था, जो न वही ठीक बोलती थी और न मैं ही—पर और कोई विशेष विघ्न न था। मैं यह नहीं समझता था कि मैं लिप्सी के प्रेम में इस प्रकार उलझ जाऊँगा, पर उसके चक्कर में पड़ कर न तो मैंने जर्मन ही सीखी और न पढ़ाई ही आरम्भ की। जीवन काहिल, निकम्मा और अपरिश्रमी होने पर भी कुछ काल तक बड़े सुख से बीतता रहा। इसी समय यह अग्रवाल यहाँ आ पहुँचा। मेरे इस जीवन-क्रम को देखकर उसने मुझ पर एक लम्बा-चौड़ा लेक्चर झाड़ा। खैर, दो-एकबार तो मैं चुप रहा, उसके बाद एक दिन मैंने तीव्र भाषा में अपने विचार उसके प्रति प्रकट कर दिये, जिससे खीझ कर उसने मुझसे बोलना ही बन्द कर दिया। मैंने समझा, यह बात यहीं खतम होगई है, पर ऐसे लोग पाजीपन से कब बाज़ आते हैं। घर पहुँच कर अग्रवाल ने पिता जी को सारी बातें नमक-मिर्च लगाकर बतला दीं। मेरे लाख प्रयत्न करने पर भी पिता जी ने मेरी न सुनी। वे अग्रवाल की राय के मुताबिक़ मुझे लंदन वापस जाने को बाध्य करने लगे। पर जब मैंने लंदन में आने से इनकार कर

दिया तब क्रमशः मेरा खर्च बन्द कर दिया गया। अब मुझे मालूम होता था कि पृथ्वी पैरों के तले खिसकी जा रही है; आँखों के सामने चिनगारियाँ-सी उड़ती नज़र आती थीं, चेतना-शक्ति लोप-सी होती चली जाती थी। मैं न इस ओर ही निश्चित कर पाता था, न उस ओर ही। एक तरफ़ लिप्सी का व्यवहार प्रतिदिन बदलता जाता था; दूसरी ओर महीने भर के लिए केवल डेढ़ सौ मार्क* पास रह गये थे।

लिप्सी के व्यवहार में परिवर्तन का कारण मेरी समझ में न आता था। आख़िरकार एक दिन मैंने उसे साफ़ साफ़ सारी बातें प्रकट करने के लिए बाध्य किया। तीन रात मुझे नींद न आई थी, मेरी आँखें लाल हो रही थीं, बुख़ार-सा आ रहा था। पहले तो लिप्सी ने आनाकानी की, पर मेरे पीछे पड़ जाने पर बोली—अच्छा सुनो, बुरा न मानना। मेरे तुम्हारे प्रेम का सूत्र अजब है। वह कैसे आरम्भ हुआ मैं स्वयं नहीं जानती, पर मेरे ख़याल में उसकी जड़ तुम्हारे मित्र शर्मा हैं। मेरे और शर्मा के बीच में प्रेम का कोई प्रश्न न था, पर शर्मा की अहंकारपूर्ण बेपरवाही ने मुझमें उनके प्रति 'बदले' के भाव अंकुरित कर दिये। इसका मुझे उस समय केवल अज्ञात रूप से ज्ञान था। इसी समय तुम आये। तुमने मेरी ओर दिलचस्पी ज़ाहिर की। हमारा-तुम्हारा प्रेम आरम्भ होने लगा। मैं स्वयम् विचार करती थी कि हमारी और तुम्हारी प्रकृति भिन्न है, तुम वेज़ीटेरियन धर्मोपासक तथा आदर्शवादी हो; मैं 'जड़वादी' और नवीन विचारों की समर्थक हूँ। ऐसी दशा में हमारी-तुम्हारी घनिष्ठता का क्या सामान्य आधार हो सकता है? फिर मैं सोचती थी कि इसका कारण कदाचित् शारीरिक आकर्षण हो। पर इस उत्तर से मैं स्वयम् सन्तुष्ट न थी। कहने का अभिप्राय यह कि मैं तुमसे उस प्रकार का प्रेम न करती थी जो तुम कदाचित् समझते थे। यह प्रेम एक बार एक विशेष कारण से उत्पन्न होकर बराबर बढ़ता रहा, जिसमें मैंने, अधिक इच्छुक होते हुए भी, विघ्न डालने की चेष्टा न की। इस सम्बन्ध का दूसरा कारण तुम्हारा अनोखा मन था, तुम्हारी बातें मुझे अच्छी लगती थीं, मुझे तुमसे मिलने में आनन्द प्राप्त होता था। पर स्त्री और पुरुष के बराबर मिलने का रूप केवल दो ही हो सकता है—घनिष्ठता या विरोध। घनिष्ठता की अनुपस्थिति में विरोध का मार्ग अनिवार्य है। शिष्ट पुरुष इस विरोध को बाहरी शिष्टाचार में छिपाये रहते हैं, असभ्य पुरुष इसे बेढङ्ग रूप से प्रकट कर देते हैं। हमारे तुम्हारे सम्बन्ध ने विरोध का मार्ग नहीं ग्रहण किया; इसका परिणाम प्रेम हुआ। मेरी क्यूरियासिटी तृप्त होने लगी। धीरे धीरे क्राइसिस आ उपस्थित हुई। क्राइसिस के आने पर हमारी स्थगित भावनाओं ने सारे मार्ग बन्द पाये, परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक-मात्र खुले हुए घृणा के मार्ग का अवलम्बन लिया। अब तुम्हारी सभी बातों में मुझे परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगा। तुम्हारे अनोखेपन में जिससे मुझे आमोद प्राप्त होता था, जंगलीपन प्रकट होने लगा—तुम्हारे प्रेम से जिसमें रोमान्स का अनुभव होता था, नफ़रत मालूम होने लगी। परन्तु मैं तुम्हें अब भी अपना मित्र समझती हूँ।

× × ×

इस वार्तालाप के बाद मुझे जो मानसिक क्लेश हुआ वह मैं ही जानता हूँ, पर मैंने बुद्धि से एक-दम हाथ नहीं धो डाला था। और दो-एक रातें अकथनीय पीड़ा में पड़े पड़े काटीं। उसके बाद तीसरे दिन लिप्सी से 'गुडबाई' कर मैंने लंदन की गाड़ी पकड़ी। यहाँ से मैंने पिता जी को तार भेजा कि मैं यहाँ आ गया हूँ और यहीं पढ़ूँगा इत्यादि, इत्यादि। तब से फिर सब कुछ ठीक है, पर लिप्सी की याद अब भी कभी हृदय को जलाया करती है। प्रेम का तो अन्त हो गया है, पर अपमान की ज्वाला की लपट अभी तक नहीं बुझी है।

तुम्हारा
गंगानारायण

*जर्मन मार्क = लगभग १० आने।

दुलहिन

ठाकुर गोपालशरणसिंह

अज्ञात प्रेम-गृह में है
नववधू पदार्पण करती।
है एक अपरिचित जन को
जीवन-धन अर्पण करती॥

अनजाने हाथों में है
निज भाग्य धरोहर धरती।
जा रही अकेली ही है
क्या है वह तनिक न डरती॥

निज देश छोड़ सागर से
जाती है सरिता मिलने।
मृदु गोद लता की तजकर
नव कली चली है खिलने॥

रमणी एवं मणियों को
तक़दीर एक-सी मिलती।
वे कहाँ जन्म लेती हैं
हैं कहाँ पहुँच कर खिलती॥

है गई अङ्क से छीनी
वह दुखी जनक-जननी के।
करुणा से आर्द्र नयन हैं
उस दिवस और रजनी के॥



सुध मातृ-स्नेह की उसको
है बारम्बार रुलाती।
पर नई प्रीति आकर है
सान्त्वना उसे दे जाती॥

है छूट गया गुड़िया का
खेलना सरल सुखदायी।
है नये खेल की बारी
उसके जीवन में आई॥

निज जीवन-आभरणों को
है स्वयं उसी को गढ़ना।
इस नई पाठशाला में
है पाठ प्रेम का पढ़ना॥

जीवन-प्रभात में ऊषा
दुलहिन बन कर है आई।
है छिपा प्रकाश अपरिमित
उसमें सुन्दर सुखदायी॥

सुख-सूर्य उदय होगा ही
अरुणोदय है जीवन का।
विकसित होनेवाला है
आनन-सरोज यौवन का॥

है लदी शोक से आई लेकर आँसू नयनों में।
थी खेली किन सदनों में, है पहुँची किन सदनों में॥
शशि-प्रथम-कला क्रीड़ाकर कुछ काल गगन-आँगन में।
आई प्रकाश है भरने सुरपति के सौख्य-सदन में॥

विधु की वह आदि कला है छवि-रेखा-सी मनभाई।
पर और कलायें भी हैं लघुतन के मध्य समाई॥
शृङ्गार छिपा है उर में करुणा है भरी नयन में।
है शोक भरा मृदु मन में लावण्य-लोक है तन में॥

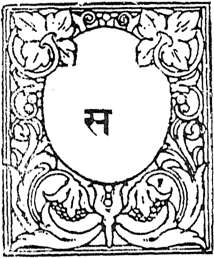
है लुप्त कौन अभिलाषा उसके अति कोमल मन में।
कुछ भेद अवश्य छिपा है नत लाज-भरी चितवन में॥
शरमीली छुई-मुई-सी नन्ही नादान अजानी।
आई है बनने के हित उर-रुचिर-राज्य की रानी॥

है हृदय-देश पर करना शासन, क्या क्या साधन है।
शुचि प्रेम भव्य भोलापन अमृतोपम मधुर वचन है॥
मन्त्री बस सदय हृदय है उपमन्त्री कोमल मन है।
शुचि सत्य शील ही बल है, धन केवल जीवन-धन है॥

किसान ऋणी क्यों हैं ?

श्रीयुत सीतलासहाय

शायद ही कोई किसान ऐसा होगा जो क़र्ज़ के बोझ से दबा न हो। किसानों की यह अवस्था तभी सुधर सकती है जब स्वदेशी का प्रचार हो, लगान के क़ानून में तब्दीली हो, मालगुज़ारी कम की जाय। बाबू सीतलासहाय ने इस लेख में इन बातों पर बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से विचार किया है।



सन् १९२९ में जब किसानों पर वर्तमान आर्थिक सङ्कट नहीं था, इस प्रान्त के किसान एक अरब चौबीस करोड़ रुपये के ऋणी थे अर्थात् ग्रामीण आबादी की दृष्टि से ३५ रुपया प्रतिमनुष्य क़र्ज़ का औसत पड़ा; और यह प्रान्त की १० साल की मालगुज़ारी के बराबर हुआ।* उस समय से आज तक किसानों और ज़मींदारों को घाटा ही होता रहा है। इसलिए यदि आज तहक़ीक़ात की जाय तो क़र्ज़ की मात्रा १९२९ की अपेक्षा कहीं ज्यादा निकलेगी। सन् ३२ में युक्तप्रान्तीय गवर्नमेंट ने रेवेन्यु अफ़सरों और कोआपरेटिव सोसायटी के ज़रिये से क़र्ज़ के सम्बन्ध में जाँच करवाई थी और वह इस नतीजे पर पहुँची है कि "चालीस प्रतिसैकड़ा किसान क़र्ज़ में इतने फँसे हैं कि उन्हें महाजन का सम्पूर्ण दास समझना चाहिए, इनके अलावा सौ में बीस ऐसे हैं जो महाजन से उधार लिये बिना अपना काम-काज नहीं चला सकते।" †

* बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट पृष्ठ १०५ पैरा २०१।

† युक्तप्रान्त गवर्नमेंट गज़ट, सितम्बर १०, ३२, पृ० २४७।

जो लोग आज-कल की ग्रामीण अवस्था से परिचित हैं वे जानते हैं कि शायद ही कोई किसान ऐसा होगा जो क़र्ज़ के बोझ से न दबा हो। अर्थशास्त्रज्ञों ने इस प्रान्त के किसानों की आर्थिक अवस्था की जाँच करके यह निश्चय किया है कि यहाँ ३० प्रतिशत किसान ऐसे हैं जो साल में कई महीने भूखे रहते हैं, अर्थात् जिन्हें दूसरे-तीसरे दिन भोजन नसीब होता है। ४२ प्रतिशत किसान ऐसे हैं जो यदि फ़सल अच्छी हुई तो भोजन पा सकते हैं और यदि फ़सल ख़राब हो गई तो इनको भी भूखों मरना पड़ता है, अर्थात् ४२ प्रतिशत किसान ऐसे हैं जो फ़सल के तनिक भी ख़राब होने पर प्रतिदिन भोजन पाने से वंचित हो जाते हैं। सौ में केवल १८ किसान ऐसे हैं जो दोनों समय भोजन पा सकते हैं। दोनों समय भोजन पाने का अर्थ यह नहीं है कि घी और दूध खाते हों, भोजन का मतलब है मोटे अनाज की रोटी और दाल।

प्रश्न यह होता है कि किसान ऋणी क्यों हैं? यों तो हर एक देश के किसान ऋणी होते हैं। व्यापारी भी ऋणी होते हैं और व्यवसायी भी ऋणी होते हैं। व्यापार की मशीन बिना ऋण के नहीं चलती। लेकिन एक ऋण लिया जाता है व्यापार का लाभ बढ़ाने के लिए और एक ऋण होता है व्यापार का घाटा पूरा करने के लिए। युक्तप्रान्त के किसानों

का अधिकांश क़र्ज़ द्वितीय प्रकार का है। यही उनकी अनुपम दरिद्रता का प्रमाण है। मेरा मत यह है कि अगर परदेश में गये हुए ग्रामीण अपने कुटुम्बियों को सहायतार्थ धन न भेजें तो कृषकों का लगान अदा करना कठिन हो जाय। कलकत्ता, बम्बई, रंगून आदि नगरों से सन् २८-२९ में इस प्रान्त में १३ करोड़ २५ लाख रुपया मनीआर्डर के ज़रिये से आया है। और अगर अलग ज़िलों के आँकड़े देखें तो पता चलता है कि लगान की आधी मात्रा बाहर के शहरों या देशों से आती है*। किसानी के व्यवसाय में कोई लाभ नहीं। अगर बाहरी आमदनी न हो तो लगान देना कठिन हो जाय। १९३० में मैंने सैकड़ों किसानों के आय-व्यय का चिट्ठा स्वयं बनाया है और मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि किसान किसानी क्यों करते हैं।

पहली बात यह है कि किसानी ऐसा पेशा है कि इसमें उपयुक्त वर्षा और वायु का होना अत्यन्त आवश्यक है। युक्तप्रान्त में वर्षा और वायु पिछले पाँच-सात वर्षों से इतनी अनुपयुक्त रही है कि किसानी की उपज में बहुत अन्तर आ गया है। दूसरा कारण यह है कि इस प्रान्त की आबादी का ७६ प्रति सैकड़ा अंश किसानी करके अपना निर्वाह करता है। आबादी बहुत घनी है और पहाड़ी हिस्से के अतिरिक्त सर्वत्र पृथिवी पर मनुष्य का भार बहुत अधिक है और कुछ जगहों में तो असह्य है। कुछ लोग घर छोड़ कर परदेश चले जाते हैं, इससे ज़मीन का भार कुछ कम ज़रूर पड़ जाता है, लेकिन शहरों में उद्योग-धन्धे इतने उन्नत नहीं हुए हैं कि ग्रामीण जनता के किसी भी हिस्से को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। जितने खेत हैं, परिमित हैं। उन्हीं के ऊपर बढ़ती हुई आबादी को निर्वाह करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि खेतों का परिमाण छोटा होता जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ खेत इतने बड़े हैं कि उनमें खेती करके लोग कुछ मुनाफ़ा उठा लेते हैं और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सकते हैं, लेकिन अधिकांश इतने छोटे हैं कि जब तक किसान कोई दूसरा और धन्धा न किये हो, उनसे किसान और उसके कुटुम्ब का निर्वाह होना असम्भव है। इस प्रांत के अधिकांश किसानों को ज़िन्दगी एक फ़सल से दूसरी फ़सल तक आर्थिक संकटों से संग्राम करने में ही जाती है। और जिसके पास कोई सहायक धन्धा होता है उसी को अपने संग्राम में कुछ सरलता रहती है।

नौतोड़ अर्थात् नई ज़मीन में खेती करने के लिए एक तो ज़मीन नहीं है। अगर है भी तो किसान के पास इतनी संपत्ति नहीं और इतना धैर्य नहीं कि नौतोड़ ज़मीन ले। एक और कारण भी है। किसान अपढ़ होते हैं। शिक्षा का उनमें पूर्ण अभाव है। वे हिसाब-किताब नहीं रख सकते, न हिसाब-किताब के लाभ से ही परिचित हैं। उनको यह पता नहीं चलता कि किस काम में मुनाफ़ा है और किस काम में घाटा।

धार्मिकता उनमें इतनी है कि जहाँ दो-चार रुपये इकट्ठे हुए कि गया या जगन्नाथ की यात्रा ठान देते हैं। विवाह, जन्म और मरण के अवसरों पर अपनी हैसियत से अधिक ख़र्च कर डालते हैं।

ऋण के सम्बन्ध में गवर्नमेंट ने जो आँकड़े इकट्ठे किये हैं उनके आधार पर वह यह कहती है कि किसानों का तीस प्रतिशत ऋण आवश्यकताओं के लिए लिया जाता है, ३४ प्रतिशत दरिद्रता के कारण, ३६ प्रतिशत धार्मिक और सामाजिक संस्कारों के लिए। कोआपरेटिव सोसाइटी ने जो आँकड़े निकाले हैं

---

* बाहर से मनीआर्डर द्वारा आई हुई रक़म

कानपुर	८७$\frac{1}{4}$ लाख	फ़ैज़ाबाद	४८ लाख
बनारस	८०$\frac{1}{4}$ "	सुल्तानपुर	४३$\frac{3}{4}$ "
इलाहाबाद	७१ "	प्रतापगढ़	३५$\frac{1}{2}$ "
आगरा	६६$\frac{1}{2}$ "	बलिया	३०$\frac{3}{4}$ "
लखनऊ	६५ "	रायबरेली	२७$\frac{1}{4}$ "
गोरखपुर	६० "	मिर्ज़ापुर	२५ "
आज़मगढ़	५४$\frac{1}{4}$ "	ग़ाज़ीपुर	२१$\frac{1}{2}$ "
जौनपुर	५३$\frac{3}{4}$ "		

उनके अनुसार ४७ प्रतिशत किसानी की उन्नति के लिए, ३७ प्रतिशत दरिद्रता के कारण और १६ प्रतिशत धार्मिक और सामाजिक उपदेशों के लिए लिये जाते हैं।

ग्रामीण महाजनी

गाँव में दो प्रकार के महाजन होते हैं। एक तो ऐसे जिनका पेशा ही महाजनी है, दूसरे वे जिनका पेशा महाजनी तो नहीं है, लेकिन किसानों को रुपया उधार देते हैं। पेशावाले महाजन चार प्रकार के होते हैं। एक तो गाँव का 'बनिया' जिसकी पूँजी बहुत कम होती है। यह अनाज उधार देता है और छोटी छोटी रक़में भी। इसका व्यापार दो-तीन गाँव से आगे नहीं जाता। दूसरे हैं ग्रामीण 'महाजन'। ये रुपया और अनाज उधार देते हैं। इनकी पूँजी ग्रामीण बनिया की पूँजी से कहीं ज्यादा होती है। इनका क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होता है और इनका रुपया कई ज़िलों में फैला रहता है। तीसरे हैं 'साहूकार' जो शहर में रहते हैं। इनका रुपया शहरों और गाँवों दोनों में फैला रहता है। ये अपना रुपया गाँव के महाजनों को देते हैं या ज़मीन रेहन रखकर ज़मींदार को। चौथे हैं गश्त करनेवाले महाजन। ये लोग गाँवों में फिरते रहते हैं और हर किसी को उधार देने को तैयार रहते हैं, चाहे उसे जानते हों या नहीं। जैसे क़िस्त 'उगाहीवाले' जो आठ या दस रुपया देकर साल में हर महीने एक एक रुपया लेते हैं। काबुली और पञ्जाबी इसी श्रेणी में हैं। लेकिन ये लोग ज्यादा ज़ालिम और बदमाश होते हैं। ये किसानों को बहुत सताते हैं और बहुत अधिक सूद लेते हैं।

जो लोग पेशे से महाजन नहीं हैं वे या तो ज़मींदार होते हैं या किसान, जिनके पास किसी न किसी प्रकार कुछ सम्पत्ति इकट्ठा हो गई है और जो किसानों को साधारण रक़म मौक़े पर उधार दे देते हैं।

गाँव में क़र्ज़ देते समय किसानों से अनुचित रूप से कुछ पैसे ले लिये जाते हैं और इस प्रथा का भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न नाम रख दिया गया है। पहाड़ी ज़िलों में दो रुपये से सवा छः रुपया सैकड़े तक 'गाँठ खुलाई' ली जाती है।

मुज़फ़्फ़रनगर में रुपये में दो पैसे 'कटौती', इलाहाबाद में बीस से पच्चीस सैकड़े तक 'बटावन', सीतापुर में एक रुपये से दो रुपये तक फ़ी सैकड़ा 'टिपावन', गोरखपुर में १० प्रतिशत 'सलामी', बस्ती में पाँच प्रतिशत 'पहरवा', गाज़ीपुर में पाँच प्रतिशत 'दफ़्तर ख़र्च', रायबरेली तथा प्रतापगढ़ में पाँच से दस प्रतिशत 'कमीशन' ले लिया जाता है। अक्सर महाजन जितना रुपया नहीं देते उससे अधिक लिखा लेते हैं या सादे दस्तावेज़ पर अँगूठे का निशान अथवा दस्तख़त करवा लेते हैं। इसके अलावा भी कुछ छोटी छोटी अन्य कुरीतियाँ और भी हैं, जैसे यदि कोई किसान एक एक या दो दो रुपया देकर अपना क़र्ज़ अदा करना चाहे तो महाजन नहीं लेते, हिसाब गड़बड़ लिखते हैं, सूद लगाने में बेईमानी कर जाते हैं।

क़र्ज़ मिटाने के उपाय

किसानों की अवस्था अत्यन्त दुःखजनक देखकर सर मालकम हेली की गवर्नमेंट ने तीन बिल युक्त-प्रान्तीय कौंसिल में पेश किये हैं। उनका वर्णन 'सरस्वती' के पिछले अङ्क में निकल चुका है। ये बिल एक सिलेक्ट कमिटी को संशोधनार्थ सौंप दिये गये थे और अब संशोधित होकर वापस आ गये हैं इस स्थान पर मैं इन बिलों का संशोधित रूप वर्णन करना नहीं चाहता, क्योंकि अभी कौंसिल में भी इन बिलों में परिवर्तन होगा। जब ये बिल क़ानून की सूरत में आ जायँगे तब यदि इनकी समालोचना करना आवश्यक हुआ तो की जायगी।

प्रश्न यह होता है कि सरकार ने जो बिल पेश किये हैं उनसे किसानों को क्या लाभ और हानि होगी? मेरा यह मत है कि इन बिलों से गवर्नमेंट क़र्ज़रूपी भयङ्कर रोग की जड़ काटने में समर्थ न

होगी। यह मैं मानता हूँ कि यदि बनियों के हिसाब फिर से देखे गये और दस्तावेज़ों की निगरानी हुई तो बहुत कुछ बेईमानी जो बनियों और साहूकारों ने की होगी, खुल जायगी और उस हद तक किसानों को लाभ होगा। यदि सूद की दर घटा दी गई तो भी किसानों के कर्ज़ का बोझ कुछ कम पड़ जायगा। बनिया लोग दस्तावेज़ लिखाते समय जो बेईमानी से रुपया ठग लिया करते थे वह न कर सकेंगे। सूद लगाने या हिसाब लिखने में जो गोल-माल करते थे वह अब सम्भव न होगा। इसी तरह और अनेक छोटी छोटी बातों में किसानों को अवश्य फ़ायदा होगा। किन्तु क़र्ज़ का मुख्य कारण ज्यों का त्यों बना रहेगा और जब तक उन कारणों पर आघात नहीं होता, क़र्ज़ की जोंक किसानों का ख़ून चूसती ही रहेगी।

किसानों को उनकी वर्तमान दयनीय अवस्था से बचाने के केवल दो उपाय हो सकते हैं। एक तो यह कि उनकी आमदनी बढ़ाई जाय, और दूसरे उनका ख़र्च कम किया जाय। आमदनी निम्नलिखित उपायों से बढ़ सकती है।

(१) खेत की पैदावार तथा लगान या मालगुज़ारी के बीच में जो फ़र्क़ है वह बढ़ाया जाय। आज-कल यह दशा है कि यदि पैदावार दस रुपये की है तो लगान आठ या नौ रुपया है, अर्थात् पैदावार और लगान में केवल एक रुपया का फ़र्क़ है। यह स्पष्ट है कि जब तक लगान और पैदावार में पाँच या सात रुपये का अन्तर नहीं हो जाता, किसान क़र्ज़ लेने को विवश है। अन्तर बढ़ाने का एक साधन तो यह हो सकता है कि पैदावार बढ़ाई जाय और दूसरा साधन यह कि लगान घटाया जाय। पैदावार बढ़ाने के लिए यही हो सकता है कि कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा की जाय जिससे किसान अपने खेत से जिसमें आज दस रुपया पैदा होता है, बीस रुपया पैदा कर ले। किसान के पास अगर पूँजी हो तो वह अपने खेत में हर फ़सल पर जहाँ एक रुपये की खाद छोड़ता है, पाँच रुपये की खाद डालेगा। किसान के पास अगर पूँजी हो तो जहाँ वह १५ रुपये के बैलों से काम लेता है, १०० रुपये की जोड़ी से गहरा खेत जोतेगा। किसान के पास यदि विद्या हो तो वह जौ, ज्वार, बाजरा आदि सस्ते अन्नों को छोड़कर तम्बाकू, सरसों, गन्ना आदि की फ़सलें बोये। जिन किसानों के कुटुम्ब में परदेश का कमाया हुआ कुछ धन है वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने का यत्न नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि किसी खेत में वे सौ दो सौ रुपये लगा दें तो उसका लाभ उनके कुटुम्ब या सन्तानों को नहीं हो सकता। अवध और आगरे का क़ानून-लगान ऐसा है जिससे खेत किसान के मरने पर उससे छिन जाता है और अनेक परिस्थितियों में वह अपने जीवन में ही बेदख़ल हो सकता है। यदि यह भी मान लें कि किसान बेदख़ल न होगा तो भी अवध-क़ानून-लगान के अनुसार हर दसवें वर्ष ताल्लुक़ेदार को लगान बढ़ाने का अधिकार है। इस अधिकार के अनुसार किसान के धन और परिश्रम से बढ़ाई हुई पैदावार को १० वर्ष के बाद ताल्लुक़ेदार इज़ाफ़ा के नाम पर अपनी जेब में रख लेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय क़ानून पैदावार के बढ़ाने के अनुकूल नहीं है। पैदावार के बढ़ाने के लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली तो यह कि क़ानून में ऐसे परिवर्तन किये जायँ जिससे ज़मीन में किसान को अधिक स्वत्व प्राप्त हो। दूसरे यह कि बैंक के द्वारा या लगान कम करके किसान के पास पूँजी बचवाई जाय, जिसे वह अपने खेतों की उन्नति में लगा सके। जब तक ये दो बातें नहीं हो जातीं, पैदावार नहीं बढ़ सकती और किसान का क़र्ज़ नहीं जा सकता।

दूसरा तरीक़ा है लगान कम करना। यह भी गवर्नमेंट के हाथ में है। उसने युक्तप्रान्त के किसानों को सन् ३१ में ४ करोड़ रुपये की लगान में छूट दी है, उससे उनके आँसू ज़रूर पुँछ गये हैं, लेकिन छूट इतनी नहीं है जिससे उन्हें कुछ बचत हो जाय।

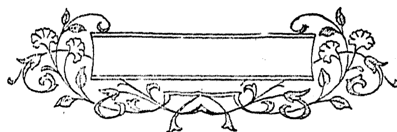
अनाज के भाव के गिर जाने से जो हानि किसानों को हुई थी, इस छूट से केवल उतना ही पूरा हुआ है। अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ यह भी नहीं हुआ। लगान की दर जो ऊँची चली आती है, ज्यों की त्यों बनी है। यदि किसान को क़र्ज़ से वास्तव में छुड़ाना हो तो मालगुज़ारी की दर में कमी करनी चाहिए और अत्यन्त आवश्यक बात तो लगान में कमी करना है, जिससे किसान के पास कुछ बच सके और वह क़र्ज़ लेने पर मजबूर न हो।

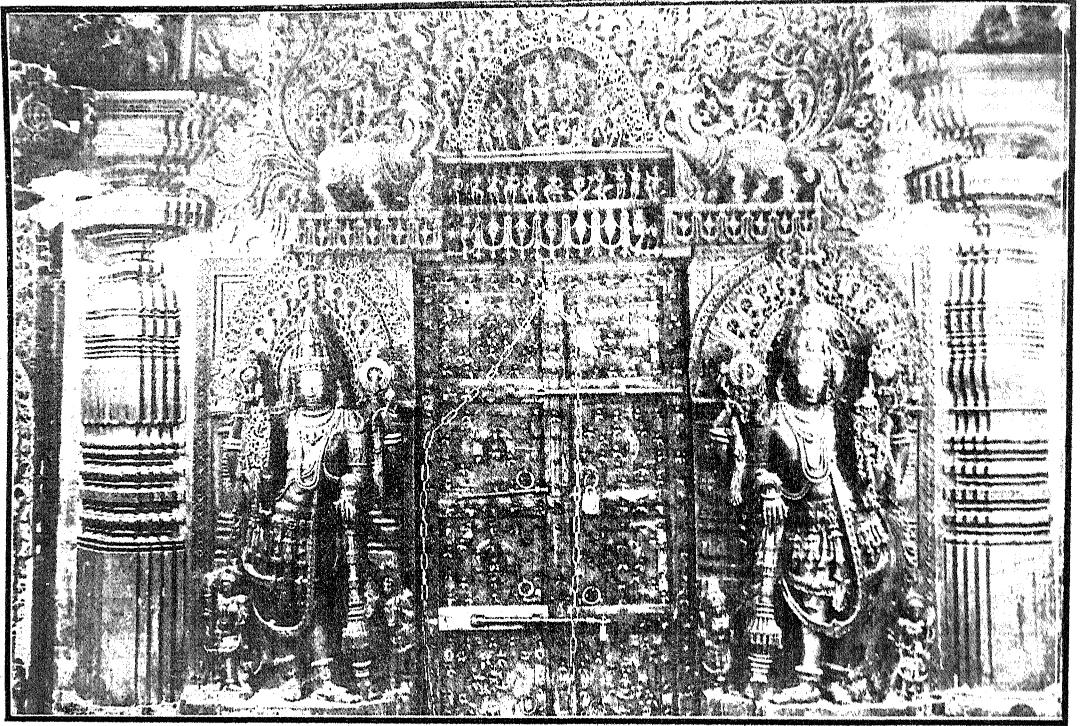
दूसरा उपाय यह है कि उद्योग-धन्धों की उन्नति की जाय। संसार के इतिहास में तथा हर एक देश में किसानों के आर्थिक संकट मिटाने का यही एक मार्ग रहा है। गाँव की फ़ाज़िल आबादी गाँव से निकलकर शहरों में इस तरीक़े से जा लगती है, और ज़मीन पर जो भार होता है वह कम पड़ जाता है। उद्योग-धन्धों के कारण नये आदमियों को जो गाँव से निकल कर जाते हैं, नया रोज़गार मिल जाता है। गाँव में रहनेवाले उनके कुटुम्ब को भी सहायता मिल जाती है। किन्तु हमारे प्रान्त में इतने व्यवसाय नहीं हैं जिनमें ग्रामीण जनता का कुछ भी भाग जाकर जीविका उपार्जन कर सके। शहर के उद्योग-धन्धों की उन्नति में लाखों-करोड़ों की पूँजी लगती है और उसे हम इस समय नहीं कर सकते तो कम से कम ग्रामीण उद्योगों को तो उत्तेजना दे ही सकते हैं। यदि ग्रामीण चमार के जूते बिकें और इस व्यवसाय से उन्हें कुछ आमदनी हो जाय तो निःसन्देह वे क़र्ज़ न लेंगे। अगर ग्रामीण लुहार अपने छुरे-सरौते इत्यादि बनाकर धनोपार्जन कर सके तो वह भी क़र्ज़ न लेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर किसानों का क़र्ज़ कम करना है तो शहरों में बड़े व्यवसाय खोले जायँ और गाँवों के ग्रामीण धंधे उत्तेजित किये जायँ, अर्थात् एक शब्द में कहा जा सकता है कि स्वदेशी का प्रचार किया जाय।

क़र्ज़ के मिटाने का दूसरा मार्ग यह बतलाया जाता है कि किसानों को अपना घरबार छोड़कर विदेशों में जाना चाहिए। यह तरीक़ा निस्सन्देह उन देशों के लिए अत्यन्त उत्तम है जिनकी तलवारों में ज़ोर है, जैसे इंग्लेंडनिवासी न्यूज़ीलेंड में जाकर बसे हैं या जैसे जापानी बस रहे हैं, किन्तु हिन्दुस्तान जैसे देश के लिए यह मार्ग लाभदायक नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तानी जिस देश में जाता है, ग़ुलाम और कुली बन कर जाता है।

गाँवों में अगर अन्न के बजाय फल पैदा करने का प्रचार किया जाय तो भी आमदनी बढ़ सकती है। लेकिन इसमें भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। न तो गवर्नमेंट और न ताल्लुक़ेदारों ने अभी तक कोई ऐसा आदर्श बग़ीचा लगाया है जिसे देखकर किसान फल पैदा करने में उत्साहित हों। फलों के लिए बाज़ार चाहिए, फलों के लिए साल दो साल तक धीरज चाहिए जो किसानों में नहीं पाया जा सकता।

किसान के ख़र्च घटाने की बात करना अन्याय है। किसान इतने ग़रीब हैं कि वहाँ ख़र्च घटाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। इस तरीक़े से क़र्ज़ में कोई कमी नहीं आयेगी। गवर्नमेंट ने जो बिल पेश किये हैं वे ज़रूर एक हद तक फ़ायदा पहुँचायेंगे, लेकिन उनका ऋण समूल तभी नष्ट होगा जब स्वदेशी का प्रचार होगा, लगान के क़ानून में तबदीली की जायगी, मालगुज़ारी और लगान में कमी होगी और कृषकों को खेत की उन्नति के लिए उधार देने के वास्ते बैंक खोले जायँगे।





[केशवमन्दिर (बेलूर, मदरास) का फाटक]

हिन्दू-मन्दिर-निर्माण-कला का एक रत्न

श्री सूर्यप्रकाश



मैसूर-राज्य के उत्तरी-पश्चिमी अञ्चल में एक छोटा-सा मगदी गाँव है। कहा जाता है कि इस गाँव का नाम पहले अंगदी था। इसमें वसन्तिका देवी का एक मन्दिर था।

नौ सौ वर्ष पहले की बात है। शाल नामक एक साधक वसन्तिका देवी की पूजा कर रहा था। देवी उसकी कुलदेवता थी। एकाएक उसने देखा कि एक बाघ क्रोध से गुर्राता हुआ जंगल से आ पहुँचा है और उस पर झपटना चाहता है। भक्तों के गुरु, मन्दिर के यति ने भी यह बात देखी। उन्होंने एक पतला-सा डंडा खींचकर उस साधक के हाथ में थमा दिया और कहा 'पोई शाल' (मार शाल)।

साधक ने वैसा ही किया। मैसूर-राज्य के जैनियों में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि बाघ डर गया। और वह जहाँ से आ कूदा था, वहीं जंगल में भाग गया। तब से वह मनुष्यों को सताने फिर कभी नहीं आया। एक और किंवदन्ती है। इसके अनुसार उस लौहदण्ड के प्रहार से वह बाघ यमलोक को सिधार गया था।

आस-पास के किसान शाल के प्रति कृतज्ञ हुए। उसने उन्हें बाघ के डर से मुक्त कर दिया था। उसके

डर के मारे वे वर्षों से मन्दिर के उत्सव बन्द किये हुए थे। अतएव वे स्वेच्छा से उसे कुछ भेंट देने लगे। प्रत्येक घर से शाल को एक फनभ (कोई चार आना आठ पाई) मिलता था। पर शाल वह सब भेंट लेने को राज़ी नहीं हुआ। वह त्यागी साधक था। उसने वह सब ले जाकर यति महाराज के चरणों में रख दी। उसे विश्वास था कि उक्त लौहदण्ड में यति महाराज ने अपनी शक्ति दे दी थी, जिससे बाघ भाग खड़ा हुआ था।

शाल की इस भक्ति से प्रसन्न होकर यति महाराज ने उससे कहा कि इस धन से कुछ योद्धा अपने पास नौकर रक्खो। गाँववालों ने देखा कि उनकी भेंट की रक़म उस कृतज्ञता के मुक़ाबिले में कम है। उन्होंने दूसरे वर्ष दूनी, तीसरे वर्ष तिगुनी, चौथे वर्ष चौगुनी और पांचवें वर्ष पँचगुनी कर दी। इस आय-वृद्धि से शाल के योद्धाओं की वृद्धि होती गई। धीरे धीरे वह एक छोटे-से भू-भाग का राजा हो गया। बाद को यही भू-भाग एक बड़े राज्य में परिणत हुआ। शासन-सम्बन्धी सुविधाओं के कारण शाल अपना गाँव छोड़कर वहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर कुछ मील दूर 'द्वारसमुद्र' में जाकर रहने लगा था। पुराने विदेशी यात्रियों ने इस स्थान का हेलबिड के नाम से उल्लेख किया है। वसन्तिका देवी की कृपा को अपने सौभाग्योदय का कारण मानकर उसने जिस घटना से उसके सौभाग्य की नींव पड़ी उसका सूचक चिह्न अपने झंडे पर अंकित किया था। जैसा कि स्मृति-मंदिरों पर उत्कीर्ण रहते हैं, उसकी चूड़ा में एक बाघ को अपने शिकार पर झपटने की तैयारी की स्थिति में दिखाया।

उसका राजघराना 'पोयशाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। देश के इस भाग में 'प' का 'ह' हो जाता है। अतएव शाल और उसके वंशधर 'होयशाल' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

होयशाल लोग जैसे बलशाली योद्धा तथा बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ थे, वैसे ही इमारतें बनवाने के भी प्रेमी थे। उसी प्रकृति के उनके कुछ सेनाध्यक्ष भी थे। उनकी बनवाई हुई इमारतें आज भी कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। इन इमारतों में से कुछ ऐसी हैं कि उनकी



[केशवमन्दिर (बेलूर, मदरास) के भीतर केशव की प्रतिमा]

दीवारों की एक इंच जगह भी नक़्क़ाशी से मुश्किल से बाक़ी बची होगी। जो लोग खान से निकले हुए पत्थर को तराश तराश कर फूल-पत्तियों, घरेलू तथा बनैले पशुओं, भिन्न भिन्न स्थितियों में स्थित स्त्री-पुरुषों तथा देवलोकवासियों के रूप में परिणत करने की कला के ज्ञाता थे वे ऐसी इमारतें बना गये हैं कि किसी भी जाति का कलाविद् उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा।

इन श्रेष्ठ इमारतों के भीतरी भागों को आभूषित करने तथा सुन्दर बनाने में किसी तरह की उपेक्षा नहीं की गई है। जिन फ़र्शों तथा खम्भों पर वे स्थित हैं, दीवारें और दरवाज़े, विशेषकर जिनसे पवित्रतम स्थान को पहुँचना होता है, वे सब ऐसे सिद्धहस्त कारीगरों की रचनायें



[बेलूर के केशवमन्दिर का गोपुर]

हैं जिनमें बड़े बड़े इंजीनियरों की ठीक अन्दाज़ रखने की वैज्ञानिक योग्यता और जड़ियों या हाथीदांत का काम करनेवालों की हस्तलाघवता दोनों बातें समान रूप में विद्यमान थीं। उनके द्वारा ऐसी बारीक और सुन्दर वस्तुएँ बनाई गई हैं जिनमें क़ीमती से क़ीमती खुर्दबीन से भी देखने पर कहीं कोई दोष नहीं मिलता है।

होयशाल नरेशों और उनके सेनापतियों का यह स्वभाव था कि वे अपना सारा धन तथा बुद्धि अपने व्यक्तिगत आराम तथा भोग-विलास के लिए राजमहलों के बनवाने में नहीं लगाते थे, किन्तु ऐसे देवमन्दिरों के बनवाने में लगाते थे जिनसे राजा और रैयत दोनों की आत्मा को भोजन मिलता था। ऐसा करके वे श्रेष्ठ हिन्दू-आदर्श का ही पालन करते थे।

होयशाल-घराने के जो मन्दिर वर्षा और धूप के कोप तथा आक्रमणकारियों के ध्वंसकार्य से बच गये हैं उन सबका इस छोटे से लेख में परिचय देना सम्भव नहीं है। अतएव यहां उनमें से एक ही मन्दिर का साधारण वर्णन करना समुचित होगा। इसके लिए मैं बेलूर के केशव-मन्दिर को चुनता हूँ। होयशाल घराने के बड़े मन्दिरों में यद्यपि इसकी गिनती नहीं की जाती है, तो भी कारीगरी की दृष्टि से यह उनमें से एक श्रेष्ठ मन्दिर है।

जो पहला प्रभाव इस मन्दिर ने मुझ पर डाला था वह मेरे स्मृति-पटल पर से कभी नहीं मिटा। मैसूर-नरेश महाराज श्रीकृष्णराज ओदियर बहादुर के अतिथि-रूप में मैं उनके राज्य में भ्रमण कर रहा था। इस भ्रमण का प्रबन्ध महाराज के तत्कालीन प्राइवेट सेक्रेटरी मिर्ज़ा (अब सर) मुहम्मद इस्माइल (अब राज्य के दीवान) ने इतने परिश्रम से कर दिया था कि मैं आराम से यात्रा कर सकूँ। पिछली रात को मैं हसन नामक एक छोटे-से क़स्बे में पहुँचा था। वहां के डिप्टी कमिश्नर ने मुझसे मिलकर मुझे यात्रियों के ठहरने के बँगले में ले जाकर ठहराया। दूसरे दिन सवेरे कलेवा कर चुकने के बाद मोटर से मैं बेलूर को गया, जो बीस मील के लगभग दूर था।

गाँव के मुख्य मार्ग के सिरे पर मन्दिर की ऊँची दीवार में एक दरवाज़ा था। यह मन्दिर के सहन का प्रवेश-द्वार था। मार्ग के दोनों ओर खजूर के पेड़ लगे हुए थे। वे दूकानों पर झुके हुए थे। इन वृक्षों ने मिलकर एक मेहराब-सी बना दी थी, जिससे गोपुर का गुम्बज ढँक गया था।

अभी सूरज अधिक नहीं चढ़ा था। मृदु प्रकाश नीले आकाश में फैला हुआ था और गुम्बज पर उष्ण प्रकाश झलक रहा था।

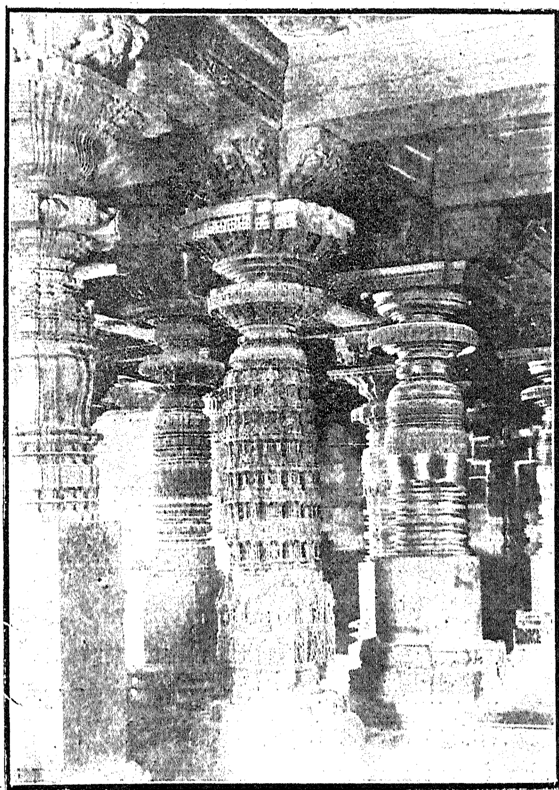
मैं मोटर से उतर पड़ा। लम्बी और तंग सीढ़ियां चढ़कर मैंने मन्दिर की सीमा में प्रवेश किया। उस स्थान का अधिकारी जिसे हम उत्तर-भारत में तहसीलदार कहते हैं, सरकार की ओर से मन्दिर की भी देख-रेख रखता था। उसने ड्योढ़ी में एक कुर्सी रखवा दी थी, जिससे

में बैठकर आराम से जूते उतार दूँ। वहाँ से मन्दिर कुछ कुछ टूटी-फूटी और एक असुन्दर इमारत की आड़ में दिखाई देता था। पूछने पर मालूम हुआ कि वह मण्डप कहलाता है और उसी में वर्ष भर की धार्मिक क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं।

मुख्य मन्दिर तीन फ़ुट ऊँचे चबूतरे पर स्थित था। मैंने देखा कि पुरुष, स्त्री और बच्चे मन्दिर की प्रदक्षिणा कर रहे हैं और उपयुक्त मंत्र पढ़ते जाते हैं। मुझे यह भी मालूम हुआ कि उनमें कुछ स्त्रियाँ निस्सन्तान हैं और वे सन्तान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर रही हैं।

मैसूर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की नाप के अनुसार यह मन्दिर १७८ फ़ुट लम्बा और १५६ फ़ुट चौड़ा है। इसकी नींव सन् १११७ ईसवी के लगभग रक्खी गई थी। आचार्य रामानुज ने होयशाल-नरेश विष्णुवर्द्धन को जैनधर्म छुड़ाकर वैष्णवधर्म की दीक्षा दी थी। इसी घटना की स्मृति में इस मन्दिर का निर्माण हुआ था। मूर्ति की स्थापना के संस्कार-कार्य में आचार्य के भतीजे मुदालियनंदन ने भी भाग लिया था। विष्णुवर्द्धन ने इस मन्दिर में विजयनारायण की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी, जिससे यह मन्दिर विजयनारायणमन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद को उसका नाम केशव-मन्दिर हो गया।

जब मैं मन्दिर में जाने की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा तब वहाँ की विलक्षण नक़्क़ाशी पर मेरी दृष्टि पड़ी। मुश्किल से डाक के टिकट के बराबर जगह बिना नक़्क़ाशी के कहीं छूट पाई होगी। इमारत के चारों ओर की चित्र-कारियाँ एक दूसरे पर बनी हुई थीं। निम्नतम चित्रकारी की पंक्ति हाथियों की थी। एक का सिर दूसरे की पूँछ को स्पर्श करता हुआ बनाया गया है। इसी तरह इनका सिलसिला चारों ओर चला गया है। इसके ऊपर दानों के काम की कारनिस है। इसमें बीच बीच में सिंह के सिर बने हुए हैं। इसके ऊपर दूसरे ढंग की कारीगरी का क्रम शुरू होता है। इसके साथ प्रत्येक प्रकार की कल्पना में आ सकनेवाले खुदाई का काम किया गया है।



[केशवमन्दिर (बेलूर) के कुछ स्तम्भ। खुदाई की बारीकी ध्यान देने योग्य है]

इसके अनन्तर दूसरी कारनिस शुरू होती है। यह पहली कारनिस से बिलकुल भिन्न तथा उससे अधिक सुन्दर है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नीचे की कारीगरी को ऊपर की कारीगरी से अलग करने के लिए यह कारनिस बनाई गई है।

इस दूसरी कारनिस के ऊपर ही छोटी छोटी आकृतियाँ बनाई गई हैं। ये एक पंक्ति में हैं और अधिकांश आकृतियाँ स्त्रियों की हैं। ये सब उभड़े हुए ताख़ों में स्थित हैं। इन ताख़ों में भी ख़ूब कारीगरी की गई है और इनमें यक्षों की आकृतियाँ बनाई गई हैं। इनके बाद बहुत सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। ये सब भी प्रायः स्त्रियों की हैं। प्रत्येक के दोनों ओर आयताकार स्तम्भ हैं।

सबसे ऊपर का बंधन ही ओलती है। इसमें माला की गुरियों की तरह का काम किया हुआ है। इसकी ऊपरी ढलान के किनारे-किनारे एक सघन लता चली गई है। यह छोटे छोटे झरनों, सिंहों और आकृतियों से अलंकृत किया गया है। इसके ऊपर बेंड़े-बेंड़े पत्थर की एक पट्टी है जिसमें दोहरे कालमों के बीच आयताकार खंडों में आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं और इस पर एक सुन्दर बंधन बना हुआ है।

इस मन्दिर की तराशी के कामों में ऐसे विषय चित्रित किये गये हैं जिनसे प्रत्येक हिन्दू परिचित है। उनमें रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियाँ चित्रित की गई हैं।

उदाहरण के लिए एक स्थान पर दानवराज बलि विष्णु के अवतार वामन को दान देते हुए दिखाये गये हैं। एक जगह लक्ष्मीनारायण अपने पार्षदों के सहित चित्रित किये गये हैं। दूसरी जगह कृष्ण कालीनाग का दमन करते हुए दिखाये गये हैं। यदि वहाँ प्रह्लाद की कथा चित्रित की गई है तो दूसरी जगह नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध करते हुए दिखाये गये हैं। इस मन्दिर में इतनी अधिक आकृतियाँ इतने सुन्दर ढंग से तराशकर बनाई गई हैं कि उन सबका वर्णन करने के लिए एक पोथा लिखना होगा।

कुछ सांसारिक दृश्य भी अंकित किये गये हैं। उदाहरण के लिए एक जगह मन्दिर के निर्माता राजा के दरबार का दृश्य अंकित किया गया है। राजा के बराबर उसकी राजमहिषी सन्तली बैठी हुई है। मन्दिर के कई स्थानों में राजमहिषी की आकृति उत्कीर्ण की गई है। राजा के अनुचरों, अधिकारियों और राजपुरोहितों की भी आकृतियाँ यथास्थान उत्कीर्ण की गई हैं। एक दूसरे स्थान में राजारानी मल्लयुद्ध देखते हुए दिखाये गये हैं, दूसरे स्थान में गाना-बजाना सुनते दिखाये गये हैं।

यह प्रकट होता है कि उस ज़माने में स्त्रियाँ शिकार खेला करती थीं। एक जगह एक आखेट-प्रिय स्त्री की आकृति बनाई गई है। उसके साथ उसका अनुचर बनाया गया है, जो बाँस की लाठी से मारा हुआ एक हिरन और एक सारस बाँधे हुए है; और एक दूसरा नौकर सुई से अपने साथी के पैर का काँटा निकालते हुए दिखाया गया है।

एक जगह एक स्त्री अपनी साड़ी को सुलझाती हुई तथा उसकी लपेट में एक छिपकली निकालती हुई दिखाई गई है। उसके मुँह पर आश्चर्य का भाव भले प्रकार व्यक्त किया गया है।

पशुओं की आकृतियाँ विशेषरूप से सुन्दर अंकित हुई हैं। जैसे एक अंगूर की लता पर एक मक्खी बैठी हुई और उस पर एक छिपकली झपटती हुई दिखाई गई है।

एक जगह दो सिर का उक़ाब शरभ पर और वह शरभ ऐसे सिंह पर आक्रमण करता हुआ दिखाया गया है जो एक हाथी से घोर युद्ध करने में संलग्न था। वह हाथी अपनी सूँड़ से एक साँप पकड़े और साँप एक मेंढक को निगलता हुआ दिखाया गया है। इस संहार-क्रम को आश्चर्य से देखता हुआ वहीं एक साधु की आकृति उत्कीर्ण कर दी गई है। पत्थर को तराश कर जो यह दृश्य अंकित किया गया है उसे कोई भी देखकर जड़वत् होकर वहीं एकटक देखता रह जायगा।

इनके साथ साथ मन्दिर के बाहरी भाग में कुछ ताख़ बने हुए हैं जिनमें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, उनमें कुछ बहुत बड़ी बड़ी हैं, स्थापित हैं।

मैंने यह भी देखा कि प्रत्येक दरवाज़े पर वही होयशाल मुकुट गनाया गया है जिसमें शाल और सिंह की उक्त घटना का चित्रण किया गया है।

मैंने घूम घूम कर उस मन्दिर को देखा और एक एक वस्तु की आश्चर्यजनक कारीगरी का चातुर्य ब्योरेवार जानने का प्रयत्न किया। मैंने देखा कि कोई भी दो आकृतियाँ एक-सी नहीं हैं। वहाँ सैकड़ों हाथी उत्कीर्ण हैं, परन्तु प्रत्येक एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न है। यही हाल दूसरे पशुओं, फूलों, लताओं तथा दूसरी आकृतियों का है। ध्यान से देखने पर प्रत्येक आकृति दूसरी वैसी ही आकृति से भिन्न दिखाई पड़ी। तथापि कुल मिलाकर एक साथ देखने से एकरूपता का ही प्रभाव पड़ता है।

जिस कला के भाण्डार का नयनाभिराम सौन्दर्य मेरी आँखें अवलोकन कर रही थीं उससे उन्हें हटाकर बड़े portal से होकर मैं मन्दिर के भीतर गया। मैं यह देखकर चकित हो गया कि भीतर पत्थरों में जो नक्काशी की गई थी वह बाहर की दीवारों की कारीगरी से कहीं बढ़चढ़ कर थी। भीतर के हाल के खम्भों ने तो मुझे आश्चर्य में डाल दिया। उनमें कोई भी एक दूसरे जैसा नहीं था। बिना नक़ाशी के भी वे बहुत सुन्दर रहे होते। उनकी नक़ाशी तो बहुत बारीक हुई है।

एक खम्भे पर मैंने शिव के वाहन वृषभ की एक छोटी आकृति देखी। वह चने के एक दल से बड़ी न रही होगी, तो भी वह सभी बातों में पूर्ण थी। एक दूसरे खम्भे पर एक छोटा-सा टुकड़ा बिना नक़ाशी किया हुआ छोड़ दिया गया था। पुजारी ने मुझसे कहा कि कारीगर ने इसे इस तरह छोड़कर दूसरे कारीगरों को चुनौती दी है कि अगर दम हो तो अगल-बग़ल की एकरूपता में इस स्थान में नक़ाशी कर दे। खम्भों के जिन स्थलों पर नक़ाशी नहीं है, वहाँ ऐसी बढ़िया पालिश की गई है कि वे शीशे की तरह चमकते हैं।

मुख्य गुम्बज चार खम्भों पर स्थित है। उसका व्यास १० फ़ुट है और वह ६ फ़ुट गहरा है।

भीतरी छत के आधारभूत उक्त चारों खम्भों के शिरोभागों पर चार स्त्री-आकृतियाँ बनाई गई हैं। एक हाथ में तोता लिये है। उसकी कलाई में पत्थर की जो चूड़ी है वह नीचे ऊपर खिसकाई जा सकती है। इसी प्रकार एक दूसरे खम्भे पर नृत्य-मुद्रा में सरस्वती की जो आकृति बनाई गई है उसके सिर का आभूषण भी खिसकाया जा सकता है।

बीच के हाल को पार करने के बाद मैंने अपने को मूर्ति-स्थान के द्वार पर पाया। इस दरवाज़े पर अत्यधिक नक़ाशी थी और बड़े बड़े तालों के सिवा वह जंज़ीरों से भी कसा हुआ था। दोनों ओर द्वारपालों की सुन्दर आकृतियाँ बनी हुई थीं।

मन्दिर के पुजारी ने कृपा करके बहुत कुछ कर्मक्रिया करने के बाद मन्दिर का द्वार खोल दिया। मैंने अपने को केशव की मूर्ति के सामने खड़ा पाया। मूर्ति, मेरी समक्ष में, ६ फ़ुट के लगभग ऊँची रही होगी। वह तीन फ़ुट के लगभग ऊँची वेदी पर खड़ी थी और उसके अगल-बग़ल शक्तियों की २ मूर्तियाँ थीं। मूर्ति चतुर्भुजी थी। ऊपर के दोनों हाथों में से एक में चक्र और दूसरे में शंख था। नीचे के दोनों हाथों में से एक में कमल और दूसरे में गदा थी।

इस मूर्ति का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह एक बड़ी सुन्दर मूर्ति थी और यह अर्द्धनारीश्वर की—ईश्वर में स्त्री और पुरुष का भाव व्यक्त करनेवाली मूर्ति थी। मूर्ति के ये रूप वस्त्राभूषणों से पुजारी-द्वारा पूजाकाल में भले प्रकार प्रदर्शित किये जाते हैं। मुँह का दाहना अंश पुरुष की कठोर धज व्यक्त करता है और बायाँ भाग मृदुल। इस भाग में नथुनी और स्त्रियों के दूसरे प्रिय आभूषण बने हुए थे। शरीर के इस भाग का वक्ष भी उन्नत था, पर दूसरी ओर का वैसा नहीं था। मूर्ति के स्त्रीभाग की आकृति पूर्ण और सुडौल थी।

मन्दिर के भीतर और बाहर की अनेक उत्कीर्ण आकृतियों पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। उनमें से किसी में बनानेवाले कारीगर का नाम है तो किसी में उसके नाम के साथ साथ उसके गाँव, पिता का नाम और पदवी आदि भी उत्कीर्ण हैं। उन कारीगरों में अहंभाव भी था। उनमें एक ने अपने को 'उपाधिधारी संगतराशों के समूह का विध्वंसक' लिखा है तो दूसरे ने अपने को 'प्रतिद्वन्द्वी संगतराशों पर विजय पानेवाला' और तीसरे ने 'संगतराशों में शेर' बताया है। उन लोगों में एक दूसरे के प्रति उस समय कैसा ईर्ष्याभाव था तथा अपने कीर्ति-काल में उनके आस-पास कैसी कैसी दलबन्दियाँ थीं, इसका इनसे सरलता से अनुमान किया जा सकता है। जब इन कारीगरों का शरीर चिता में जलकर राख हुआ था उस समय उनके साथ उनका यह अभिमान और ईर्ष्या भी विनष्ट हो गई, परन्तु जो वस्तु वे बना गये हैं, आज भी मौजूद है। उसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं और उस अप्राप्य रत्नभाण्डार के हम लोग अपने प्रतापी पूर्वजों के (प्रायः, मुझे डर लगता है, अयोग्य) वंशधर के रूप में उत्तराधिकारी हैं।

भारत की वर्तमान राजनैतिक अवस्था

पण्डित प्रकाशनारायण सप्रू,

(एम० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-ला)

पण्डित प्रकाशनारायण सप्रू सर तेजबहादुर सप्रू के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप राजनीति के पूरे पण्डित हैं और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में अवैतनिक रूप से राजनीति पर भाषण भी करते हैं। इस लेख में भारत की वर्तमान राजनैतिक दशा के सम्बन्ध में आपने अपनी जो सम्मति दी है वह ध्यान देने योग्य है।



यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत की स्थिति के जैसे देश में राजनैतिक प्रश्न दूसरे सारे प्रश्नों को पीछे कर दे। भारत में बढ़ते हुए आत्म-सम्मान के भाव के साथ आत्म-शासन की माँग भी अस्तित्व में आती जा रही है। पराधीन देश की केवल एक ही असली राजनीति हो सकती है और वह यह है कि जल्दी से जल्दी और उत्तम से उत्तम ढङ्ग से वह कैसे स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है।

इस लेख में संक्षेप के साथ मैं इस बात का वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा कि वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति के क्या लक्षण हैं। राजनैतिक परिस्थिति का विवेचन करने में मैं विधानात्मक प्रश्न और उसके शीघ्र हल हो जाने की सम्भावना की भी विशद रूप से चर्चा करूँगा।

शासनाधिकारों के वास्तविक रूप में हस्तान्तरित होने की क्या सम्भावनायें हैं? अपनी राजनैतिक माँग के कार्य में परिणत होने के लिए हम स्वीकृति कैसे प्राप्त कर सकते हैं? राजनैतिक संस्थाओं की क्या शक्ति है और उनमें क्या त्रुटियाँ हैं? क्या कोई परिवर्तन आवश्यक है और यदि है तो किस रूप में? यही कुछ प्रश्न हैं जिन पर इस लेख में संक्षेप के साथ विचार किया जायगा।

विधानात्मक प्रश्न गत छः वर्षों से सारे दूसरे प्रश्नों को जीवित किये रहा है। शासन-विधान के भिन्न-भिन्न रूपों पर विचार करने के लिए शाही कमीशन आया तथा तीन राउंडटेबल कान्फ़रेंसें हुईं, ज्वायंट सेलेक्ट कमिटी बैठी तथा कई एक दूसरी कमिटियाँ हुईं और कमीशन आये। हमारी राष्ट्रीय सभा के प्रतिनिधि महात्मा गान्धी दूसरी राउंडटेबल कान्फ़रेंस की बैठक में उपस्थित हुए थे और वे गत तीन वर्षों से या उससे कुछ अधिक समय से इस बात का प्रयत्न करते रहे हैं कि भारतीय माँग अस्तित्व में आ जाय तथा शासनाधिकार स्वीकार किये जायँ। अतएव राजनैतिक परिस्थिति समझने के लिए गत तीन वर्षों की घटनाओं की यहाँ आलोचना करना आवश्यक प्रतीत होगा, क्योंकि वास्तविक स्थिति को समझे बिना

हम भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर ठीक ठीक विचार न कर सकेंगे।

एक ओर हम देखते हैं कि अँगरेज़ लोग सुसंगठित और सुव्यवस्थित हैं। वे भारत जैसे विशाल देश पर अपना प्रभुत्व अधिक समय तक बनाये रखने के उपायों के ढूँढ़ने की कला में अति निपुण हैं। भारत आर्थिक दृष्टि से उनके लिए बड़े महत्त्व का है। वे अपने एजेंटों-द्वारा उस पर राजनैतिक एकाधिकार स्थापित किये हुए हैं।

दूसरी ओर भारतीयों का विशाल जन-समूह है। ये लोग अज्ञ, मिथ्याविश्वासी, शान्तिरूप और ऐक्य-शून्य हैं एवं भिन्न भिन्न लोगों की अधीनता में रहने के फलस्वरूप अपने अपने रूप की भिन्न भिन्न भारतीय भावनाओं में विभाजित हैं।

निरंकुश ढंग से शासित भारतीय रियासतों की भी एक समस्या है, जिस पर विचार करना ही पड़ेगा। इस विशाल जन-समूह के बीच हमारे राष्ट्रीयतावादी भारतीय भी हैं, जिन्हें ठोस राष्ट्रीयता की रचना के द्वारा इस विशाल जनता में जान फूँकनी है; इस देश को स्वाधीन करने के लिए लोगों में इच्छा पैदा करनी है।

अस्तु जिस घातक घटना से हमें सचाई के साथ सामना करना पड़ेगा वह यह है कि हमारी माँग के अमल-दरामद के लिए प्रभावात्मक और तात्कालिक स्वीकृति की प्राप्ति का प्रयत्न इस समय निष्फल हुआ है। कष्ट-सहन के द्वारा जेलें भरने और प्रसन्नता से लाठी की मार सहन करने से स्वीकृति प्राप्त करने की कांग्रेस की पद्धति, सफल नहीं हुई है यह मानना ही पड़ेगा। कांग्रेस की वर्तमान कार्यपद्धति के विरुद्ध कांग्रेसवालों में भी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है। मैं बहुत दूर की नहीं सोच रहा हूँ। कोई नहीं कह सकता कि किसी को भविष्य में क्या बदा है, परन्तु मैं समझता हूँ कि अत्यन्त कट्टर कांग्रेसवादी भी इस बात से इनकार न करेगा कि कम से कम इस समय कांग्रेस का संगठन शिथिल हो गया है। तथापि यह सत्य है कि जिस भाव का वह प्रतिनिधित्व करती है तथा जो आदर्श वह उपस्थित करती है वह लोगों की समझ में वर्तमान है। मैं नहीं कहता कि तीन वर्ष का आन्दोलन पूर्ण रूप से व्यर्थ हुआ है अथवा कांग्रेसवालों ने हमें संगठन का, आत्मत्याग का और देश के लिए कष्ट-सहन करने का पाठ नहीं पढ़ाया है। मैं नैतिकता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से विचार नहीं कर रहा हूँ। मैं यह भी नहीं कहता कि राष्ट्र ने जो कष्ट सहन किये हैं उनके द्वारा किसी रूप में उसने नैतिकता का रूप नहीं प्राप्त किया है। परन्तु मैं यह बात ज़रूर कहता हूँ कि सत्याग्रह की पद्धति पर्याप्त दृढ़ नहीं सिद्ध हुई है कि वह तुरन्त या काफ़ी दबाव उन लोगों पर डालती जिनके हाथों में अधिकार है। फलतः उसे विरोध का सामना करना पड़ेगा। और इस देश की स्वाधीनता की स्वीकृति धीरे धीरे और कष्ट के साथ विकसित होगी।

तात्कालिक स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न असफल हो गया, अतएव इस बात पर आश्चर्य करने का अवसर नहीं है कि शासन-सुधार-सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव अत्यन्त ही असन्तोषजनक हैं। ह्वाइट पेपर से आगे जाने के लिए ब्रिटन लोगों के लिए बाध्य करनेवाली कोई आवश्यकता नहीं है। भारतीय आत्मशासन के मार्ग की कठिनाइयों के प्रकट करने में अँगरेज़ों की नीति अपने दृष्टिकोण से सफल हुई है। भावना उन लोगों में यह है कि भारतीय कांग्रेसवालों ने जहाँ तक कर सकते थे, बुरा से बुरा किया, परन्तु उससे गवर्नमेंट का शासन-चक्र नहीं रुक सका। और कांग्रेस के संगठन के निर्बल पड़ जाने से उनकी वह भावना यहाँ तक बढ़ गई है कि कुछ दृढ़ता भर आवश्यक है और वह दृढ़ता स्थिति को पूर्ववत् बनाये रख सकती है। अधिकारी-मंडल की यह धारणा है कि कांग्रेस को बहुत अधिक अवसर दिया गया है और उसके साथ व्यवहार करने में लार्ड इरविन बहुत ही निर्बल सिद्ध हुए।

भारत की विभिन्नता के देश में किसी विदेशी सरकार के ठीक तरह चलते रहने के लिए केवल कुछ सहायता की आवश्यकता होती है। इस सहायता को हस्तगत करने के लिए ब्रिटन लोगों के लिए विधानात्मक वस्तु-स्थिति में कुछ सुधार करने की आवश्यकता है। अतएव ह्वाइट पेपर के आधार पर न्यस्त स्वार्थवालों तथा साम्प्रदायिकों द्वारा समर्थित भारतीय स्वदेशी सरकार के हाथों अदृश्य शासकों के रूप में भारत का शासन करने का बहाना किया जायगा। पञ्जाब और बङ्गाल में मुसलमानों को बहुमत देने से साम्प्रदायिक निर्णय उन प्रान्तों में शासन-सुधारों को कार्य में परिणत कर देगा। यदि मुसलमान पञ्जाब और बङ्गाल में नव-शासनविधान को कार्य में परिणत करेंगे तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं को बाध्य होकर दूसरे प्रान्तों में जहाँ उनका बहुमत है, उसे कार्य में परिणत करना होगा। क्योंकि वे राजनैतिक आत्महत्या करना पसन्द न करेंगे।

अँगरेज़-राजनीतिज्ञों का अग्रसोचीदल यह समझता है कि यह जानना उनके लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश प्रभुत्व के लिए क्या आवश्यक है और क्या नहीं है। जो तत्त्वतः प्रभुता नहीं है, ह्वाइटपेपर भारतीय व्यवस्थापक सभा को उन्हीं अधिकारों को हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव करता है। और जो वस्तुतः शासन का अधिकार है वह अँगरेज़ों के हाथों में रहेगा। अतएव ह्वाइटपेपर के शासन-विधान का यह लक्ष्य जान पड़ता है कि वह डोमिनियन स्टेट्स नहीं होगा किन्तु एक प्रकार की साझेदारी या संरक्षा का शासन होगा। नये शासन-विधान का उद्देश जैसा कि स्वयं सर सैमुएल होर ने स्वीकार किया है, यह है कि उन्नत विचार के भारतीयों के विरुद्ध एक शक्ति खड़ी की जाय।

फलतः हमें प्रजातन्त्रात्मक ढङ्ग की सरकार प्राप्त होगी, परन्तु वह प्रजातन्त्रात्मक देशों की वास्तविक शक्ति से रहित होगी। आज इस बात का प्रयत्न है कि ऐसी संस्थायें निर्मित की जायँ जिनकी अधीनता में जनता आ सके। इस नये शासन-विधान से इस बात का डर है कि न्यस्त स्वार्थवालों और साम्प्रदायिकों की सहायता से राष्ट्रीयतावादी भारतीयों की सम्मति तथा उन्नतमुख राष्ट्रीय विचार-धारा के भी उन्मूलन करने का प्रयत्न किया जायगा। मिस्र के राष्ट्रीयतावादी दल की दशा हमारे लिए चेतावनी होनी चाहिए। हमें बहादुरी से यह बात मान लेनी चाहिए कि तत्काल स्वीकृति नहीं प्राप्त हो सकती है। जब तक हम यह बात नहीं जान लेते तब तक हम इस अवस्था का सामना करने को समर्थ नहीं हो सकते, और ऐसा करके हम अँगरेज़-सरकार को बाध्य करने को समर्थ नहीं होंगे कि वह हमें सन्तोषजनक शासन-विधान प्रदान करे। अतएव अगले कुछ वर्षों में हमारा काम यह होगा कि हम इस देश में ऐसा आवश्यक वायुमण्डल निर्माण करें जिससे हमें वे स्वीकृतियाँ प्राप्त हो जायँ जिनके बिना अँगरेज़ नौकरशाही इस देश का पिंड छोड़ने को तैयार नहीं है। यह हमारा दृष्टिकोण है।

अब हमें यह विचार करना है कि क्या यह हमारे लिए बुद्धिमानी का काम होगा कि हम उन लोगों को व्यवस्थापक मण्डलों में जाने दें जो देश की उन्नति का वहाँ काम न करेंगे। क्योंकि ये सुधार और कुछ करने या न करने में समर्थ चाहे न हों, किन्तु यदि प्रगतिविरोधियों के हाथों में चले जाने दिये जायँगे तो प्रगतिविरोध के साधन बनाये जा सकते हैं। राजनीति में स्थिति बदलती रहती है और उसकी कार्य-पद्धतियाँ भी बदलनी चाहिए। आनेवाले समय के लिए हम किसी एक नीति का आग्रह नहीं कर सकते। विधानात्मक आन्दोलन, सत्याग्रह, प्रत्यक्ष आक्रमण, निष्क्रिय प्रतिविरोध, भद्र अवज्ञा—ये सब अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की पद्धतियाँ ही हैं। हम इनकी परीक्षा करते रहे हैं और ये परीक्षण क्या शिक्षा देते हैं, इसका लाभ उठाने के

लिए हमें तैयार रहना चाहिए। भविष्य के लिए किसी एक विधि का आग्रह नहीं करना चाहिए। हमारी कार्य-पद्धति में भी दावँ-पेंच की बात होनी चाहिए। यह ठीक नहीं है कि हम अपने आपको निशाने का शिकार होने दें।

कांग्रेस की नीति के परिवर्तन के प्रश्न पर हमें खुले और ताज़े दिल से विचार करना चाहिए। हमें अपने आपसे गम्भीरता से पूछना चाहिए कि क्या उस समय जब राष्ट्र आर्थिक संकट तथा दूसरे कारणों से अपने को इतना अधिक थका हुआ अनुभव करता है, कष्ट-आह्वान करनेवाली पद्धति को—क्योंकि भद्र अवज्ञा व्यवहार में वस्तुतः यही संघटित करती है—जारी रहने देना चाहिए? नये शासन-विधान के काल में अँगरेज़ी संगीनों की सहायता-प्राप्त प्रगति-विरोधी स्वत्वों की भारतीय बनाई गई सरकार के द्वारा भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया जायगा, जिसे हमें रोकना चाहिए। स्वयं कांग्रेस ने यह बात मान ली है कि विस्तृत रूप के सत्याग्रह के लिए देश तैयार नहीं है। उसने सार्वजनिक सत्याग्रह को स्थगित भी कर दिया है और उसके स्थान में व्यक्तिगत सत्याग्रह को जारी किया है। विचारवान् पुरुष के लिए यह सोचने की बात है कि क्या व्यक्तिगत सत्याग्रह को वहाँ सफलता प्राप्त होगी, जहाँ सार्वजनिक सत्याग्रह विफल हो चुका है।

क्या यह आशा करने का मौका जाता रहा है कि कांग्रेस अपनी नीति के दोष दूर करने की बात स्वीकार करेगी और भारतीय सार्वजनिक जीवन का पुनः संगठन करने में उसने अब तक जो कुछ किया है उससे अधिक प्रयत्न करेगी? क्योंकि निकट भविष्य में हमें जिस स्थिति का सामना करना होगा वह जटिल होगी और उसके साथ व्यवहार करने में बुद्धिमानी और दाँव-पेंच दोनों की आवश्यकता होगी। यह स्पष्टतया निश्चित है कि ह्वाइट पेपर के प्रस्तावों के निर्देशानुसार किसी भी तरह के शासन-विधान पर पार्लियामेंट अपनी स्वीकृति देगी। ये प्रस्ताव चाहे कुछ भी करने या न करने में समर्थ हों, राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाने के साधन बनाये जा सकते हैं।

व्यवस्थापक सभाओं का बायकाट करने की नीति का हमें कुछ अनुभव हो गया है। उसका क्या परिणाम हुआ है? असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों के पिछले तीन वर्षों का इतिहास प्रकट करता है कि उनकी उपेक्षा करने में क्या जोखिम है। अतएव यह परामर्श विचार करने के योग्य है कि राष्ट्रीयतावादी भारतीय व्यवस्थापक मण्डलों का बायकाट करना छोड़ दें और उन पर अधिकार करने की नीति पर अपना ध्यान लगावें और इसके लिए एक ज़ोरदार कार्य-क्रम निश्चित करें। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि जहाँ प्रगतिविरोधी सरकार नये शासन-विधान के काल में अधिकारारूढ़ होने में सफल हुई, उसका मुख्य प्रयत्न इस उद्देश के लिए अधिकारारूढ़ रहने का होगा कि वह अपनी दमन-नीति में वर्तमान सरकार से भी अधिक पूर्ण होगी। इस संकट के टालने का केवल एक ही उपाय है और वह उन्नतिशील दल के सब समूहों की एकता है। अतएव यदि सम्भव हो तो कांग्रेस के भीतर एक उन्नतिशील दल का होना आवश्यक है, जो वास्तविक बातों का सामना करते हुए साम्प्रदायिक और अधिकारवाले हितों के मेल-द्वारा विनष्ट किये जाने से इस देश के प्रजातन्त्रात्मक आन्दोलन के बचाने का प्रयत्न करेगा।

अभी बहुत कुछ रचनात्मक कार्य करना है, जैसे स्वदेशी का विस्तृत प्रचार, जो राजनैतिक मर्यादा तथा देश की औद्योगिक उन्नति दोनों बातों के लिए आवश्यक है। साम्प्रदायिक एकता, छुआछूत मिटाना और ग्राम्य जीवन का संगठन करना आदि बातें भी हैं। हम अपनी कुछ शक्ति इस रचनात्मक प्रोग्राम की ओर क्यों न लगावें? हमारे सैकड़ों स्वयंसेवकों के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने को मिलेगा। वस्तुतः जितने स्वयंसेवक हमारे पास हैं उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वयंसेवकों की ठीक ठीक रचनात्मक कार्य

करने में आवश्यकता होगी। हमें स्पष्ट रूप से स्वीकार करना होगा कि वर्तमान अवस्था में हम ऐसी स्थिति नहीं बना सकते कि अँगरेज़-सरकार को सिवा झुकने के और कोई मार्ग न रहने दें। इसके सिवा यह भी कि निकट भविष्य में हमारा कार्य तैयारी के ढङ्ग का होगा। हम अपने देश की सेवा अपनी असफलताओं से ही कर सकते हैं। यह तो आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए होगा कि वे हमारा बोया हुआ काटेंगी। आओ हम लोग फ़सल बो दें। एक इसी काम पर हमें अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

सच्ची विजय

श्रीयुत आत्माराम देवकर

गुलाब में काँटा था। राजकुमारी इसका अनुभव न कर सकी। उसने उसे तोड़कर अपने जूड़े में खोंस लिया। उसकी कोमल अँगुलियों से रक्त-धारा बह निकली। उसके नेत्रों से ज्वाला प्रकट होकर गुलाब को दग्ध करने लगी। वह पाशच्युत हो धरित्री की गोद में लुढ़क गया। निष्प्रभ पुष्प की निर्वाणप्राय दीप्ति ने भर्त्सना से कहा—"हृदयहीन अरसिकों के कठोर हस्तक्षेप से तो मलयानिल का नैसर्गिक आघात ही श्रेयस्कर था। दृष्टि-पथ में आने के पूर्व ही पञ्चत्व को प्राप्त हो रेणु-राशि में मिल जाता। तब न मुझे कोई गुलाब कहता, न तिरस्कार के शिलीमुख से मेरा हृदय विदीर्ण होता।"

राजकुमारी तमक उठी। उसने आवेश-पूर्ण स्वर से कहा—"दुर्मुख, देख मेरा हाथ कितना सुन्दर और कोमल है!" गुलाब ने शान्तभाव से उत्तर दिया—"राजनंदिनी यह तुम्हारा बाह्य रूप है। अन्तरूप इसका उलटा है।"

राजकुमारी ने क्षुब्ध होकर कहा—"इसका क्या प्रमाण है?" गुलाब ने उत्तर दिया—"प्रमाण यही मेरा भग्न कलेवर है!"

राजकुमारी ने विमर्शभाव से कहा—"यह तुम्हारी करनी का फल है।" गुलाब ने घृणा से उत्तर दिया—"तुम्हारी अन्तर्दृष्टि बहुत निर्बल है। स्वार्थपरता की भी सीमा होती है। तुम उससे बहुत आगे बढ़ चुकी हो। जो पाटल-पुष्प की दैवी गंध से चित्त प्रसन्न करेगा, उससे शरीर की शोभा बढ़ायेगा, वही कंटक की यन्त्रणा भी सहेगा। यह न्याय की बात है।"

राजकुमारी ने खिन्न होकर कहा—"तब मैं उसे दूर से प्रणाम कर लूँगी।" गुलाब ने कर्कश स्वर से उत्तर दिया—"इसके लिए तुम्हें आमन्त्रण नहीं किया गया था। प्रणाम का लांछन कैसा?"

राजकुमारी ने लज्जित होकर सिर झुका लिया। गुलाब ने फिर कहा—"यह तुम्हारा आत्म-प्रवंचन है। इस दुर्भाव को त्याग दो और मेरा आदर करो। कंटक की यन्त्रणा को भी भुला दो। अन्यथा आत्मा की सच्ची उन्नति से वंचित रहोगी।"

राजकुमारी की मोह-निद्रा भंग हुई। उसने गुलाब को उठा कर अपनी वेणी में फिर गूँथ लिया, रक्त-रंजित अँगुलियों को धोकर पट्टी चढ़ा ली। परन्तु वह यन्त्रणा से अधीर होकर शय्या पर जा लेटी। गुलाब ही उसका एकमात्र ध्येय था। नश्वर पाटल-पुष्प की पँखुरियाँ ज्यों ज्यों सूखकर झड़ती जाती थीं, त्यों त्यों राजकुमारी के विलसित हृदय की आशा-कलिकायें भी मुरझाती जाती थीं। एक दिन उसकी वेदना असह्य हो उठी। उसने अवलंब के लिए वेणी पर हाथ रक्खा। किन्तु उसे गुलाब न मिला। उस समय तक उसका अस्तित्व लुप्त हो चुका था। राजकुमारी के मुख से एक दीर्घ निःश्वास निकल पड़ा। वह उसका चिरशान्तिदायक अंतिम निःश्वास था। उसके मुख पर हलकी हास्य-रेखा अंकित थी। वह संसार की सच्ची विजय थी!

पतिता ?

पण्डित मोहनलाल नेहरू



नेहरू जी हिन्दी के सबसे पुराने कहानी-लेखक हैं। आपकी कहानियों में गृह-जीवन की समस्याओं की चोखी मीमांसा रहती है। आपकी यह नई कहानी उसी का एक सुन्दर नमूना है।

[१]



जब से प्रेमलता ने पति के घर में प्रवेश किया था उसे प्रेम के दर्शन नहीं मिले थे। न तो उसका रंग-रूप ही ज़्यादा अच्छा था, न माता ने काफ़ी सोने-चाँदी के भार से उसे अलंकृत किया था। न मालूम क्यों सुबोध बाबू के पिता को यह भ्रम था कि प्रेमलता के पिता अपनी एकलौती बेटी के वास्ते बहुत धन-दौलत छोड़ गये हैं। इसी भ्रम से तीन दफ़े इंट्रेंस में फ़ेल होने पर भी उन्होंने सुबोधचन्द्र का विवाह करने का ही निश्चय किया। चट मँगनी और पट ब्याहवाली मसल हो गई। किन्तु जब पुत्रवधू ने उनका घर न भरा, यहाँ तक कि जो क़र्ज़ लेकर उन्होंने विवाह का ख़र्च निबाहा था वह भी अदा न कर सके तब उनका और उनकी श्रीमती जी का सारा क्रोध उस लड़की पर उतरा; और क्रोध भी कैसा कि मरते दम तक जिसने पीछा न छोड़ा।

सुबोधचन्द्र मर-पिट कर इंट्रेंस पास हो गया। पिता की हैसियत आगे की पढ़ाई का ख़र्च बरदाश्त करने की न थी। पिता-पुत्र में बहुत कुछ कहा-सुनी हुई। सुबोध ने संन्यासी हो जाने की धमकी दी; पर उसने कुछ काम न किया; और करता भी कैसे? न तो काफ़ी पेंशन ही मिलती थी, न लड़के के चरित्र ऐसे दिखते थे कि और क़र्ज़ काढ़ कर ख़र्च बरदाश्त करें। किसी तरह चार प्राणियों का भोजन-मात्र ३०) में चलाते रहे और वह भी तब जब कि रोटी-पानी, चूल्हा-चौके के काम के लिए बिना तनख़्वाह की नौकरानी मिल गई थी।

सुबोध ने अपनी सास से बी० ए० तक पढ़ाई का ख़र्च बरदाश्त करने को कहा, किन्तु यह भार उस बेचारी के बित का न था। दामाद को समझाने की कोशिश की, मगर वह न समझा। उस रोज़ से प्रेमलता की सारी आशायें मिट्टी में मिल गईं, उसके चारों तरफ़ अँधेरा था। भोजनों का सहारा बस ससुर की ज़िन्दगी

तक रह गया, क्योंकि पतिदेव ने बोलना भी छोड़ दिया।

सुबोध अख़बारों का बड़ा भक्त दिखाई देता था। जो कोई भी अख़बार मिलता, उठाकर देखने लगता, मगर ग़ौर से देखनेवाले यह जान गये थे कि वह सिवा वांटेड के कालम के और कुछ न देखता था। उसे न तो इससे कुछ मतलब था कि दुनिया में क्या हो रहा है, न वह यह जानता था कि अपने शहर की क्या ख़बर है, एक दिन सारे शहर में सन्नाटा और दूकानें बन्द देखकर पूछने पर उसे मालूम हुआ कि प्रिंस आफ़ वेल्स के आने पर कांग्रेस ने हड़ताल बोल दी है। बस कांग्रेस और कांग्रेसवालों की शामत आ गई। जो कुछ भी ज़बान पर आया, कह सुनाया।

ख़ाँ बहादुर चौधरी नसरतजङ्ग शहर के कोतवाल थे। वे सुबोध के पिता को जानते थे और उनके आग्रह पर उसको नौकरी दिलाने की कोशिश करते रहते थे, मगर वे अभी तक अपने प्रयत्न में सफल न हुए थे। जो कोई जगह ख़ाली देखते, इस लड़के की सिफ़ारिश कर देते, मगर हर जगह के वास्ते पाँच-सात सौ बी० ए०, एम० ए० की दरख़ास्तें आ जातीं, ऐसी दशा में तीन दफ़े फ़ेल होकर इंट्रेंस पास होनेवाले को कौन पूछता।

सरकारी नौकरी पच्चीस वर्ष की अवस्था के बाद नहीं मिलती और सुबोध अब पचीस का हो रहा था। कांग्रेस की तरफ़ उसका घृणा का भाव देखकर ख़ाँ बहादुर ने पुलिस के सुपरिंटेंडेंट से बहुत-कुछ सिफ़ारिश करके सुबोध को सब इंसपेक्टरी का उम्मीदवार करा दिया। साहब से उन्होंने कहा कि हुज़ूर आज-कल कांग्रेस ने बहुत सिर उठाया है और आगे चलकर मैं कहता हूँ, यह बहुत सिर उठायेगी। ऐसे आदमी अभी से भर्ती कर लेने चाहिए जो मौक़े पर काम दें। सुबोध वैसे ही लोगों में है। आगे हुज़ूर मालिक हैं। इससे ज़्यादा क्या सिफ़ारिश की ज़रूरत थी।

[२]

प्रेमलता अपने ही घर में नौकरों के समान रहती थी। सास-ससुर जब तक जीवित रहे, उसे भोजनों का कष्ट न हुआ, मगर उनके मरने के बाद कभी कभी दरोग़ा जी थाने ही पर रह जाते और बाज़ार से कचौरी मँगाकर खा लेते। कभी कभी तहक़ीक़ात पर देहात जाते और जहाँ कहीं भी कोई सुन्दर युवती दिख जाती तहक़ीक़ात में कई कई दिन लग जाते। घर में अन्न-पानी भर रखने का दस्तूर न था। रोज़ दरोग़ा जी के पर्चे पर बनिया देता था। कभी कभी दो दो दिन प्रेमा फ़ाक़े करती और पतिदेव से लौटने पर कुछ न कहती, क्योंकि उसे हरदम घर से निकाल दिये जाने का डर रहता था। कई दफ़े वे कह भी चुके थे कि इस घर में तेरी गुज़र नहीं।

पिछले पाँच बरस से जब से सुबोध पुलिस में नौकर हो गया था, प्रेमलता को उसकी माता का समाचार न मिला था। डर के मारे उसने सुबोध से कुछ ज़िक्र भी नहीं किया था। आज वे ख़ुद ही दौरे से लौट कर कुछ ग़ैर मामूली नम्रता से उससे पूछने लगे, तुम चाहो तो अपनी माता से मिल आओ। वे बेचारी बीमार पड़ी हैं।

"क्या आपने देखा है? कैसे मालूम हुआ? क्या हुआ है?"

"मैंने देखा तो नहीं क्या हुआ? जिसने देखा है उससे सुना है। बुख़ार है और फिर अवस्था भी तो काफ़ी हो गई है।"

"तो क्या मैं देखने जा सकती हूँ। दो तीन दिन में आ जाऊँगी।"

"हाँ, हाँ, ज़रूरत हो तो ज़्यादा दिन भी रह सकती हो।"

प्रेमलता इक्के पर बैठ कर एक कानिस्टबिल के साथ माता के घर को रवाना हुई। रात को वह माता के सामने जा उपस्थित हुई। अकेले आँगन में पड़ी हुई उसकी माता कुछ जप कर रही थी। बेटी को अपना हाथ माथे पर रखते ही वे दीये के प्रकाश में ग़ौर से देखने लगीं, पहचान लेने पर दोनों मा-बेटी एक दूसरे को लिपट कर पहले तो रोईं, फिर हँसीं।

मा—तू अच्छे समय पर आ गई। अभी मैं जीती हूँ। यह दर्शन-मेला भी बदा था।

हाँ अम्मा, मैं डर के मारे इतने दिनों तक नहीं आई। सब हाल तो जानती हो। क्या कहूँ? न मालूम मेरे भाग्य में क्या लिखा है।

"बेटी, परमेश्वर तेरी सहायता करेंगे।"

"मगर अम्मा, अभी तक तो कोई आशा नहीं। हर दूसरे-तीसरे दिन कह दिया करते हैं कि तू घर से निकल जा। मेरे तो दिन रोते ही बीतते हैं। हैं! यह ड्योढ़ी में खटका कैसा?"

यह कह कर दीया उठाकर वह दूसरे कमरे में गई, कोई आदमी निकल कर बाहर जा रहा था। वह दरवाज़ा बन्द करके लौट आई। उसने कहा—

मालूम होता है, मुझे यहाँ भेजने में भी कोई भेद है। मेरे साथ जो सिपाही आया था, वह छिप कर हमारी बातें सुन रहा था। देखें अब क्या होता है। मेरा तो जी बाज़ वक्त चाहता है कि डूब मरूँ। मगर हिम्मत नहीं होती।

"बेटी, औरत तकलीफ़ें उठाने को ही पैदा होती है। पिछले जन्म के पापों के फल हैं। नहीं तो हम स्त्री-जाति में पैदा ही क्यों होतीं।"

"मुझसे वे उसी दिन से ख़फ़ा हैं, जबसे तुमने पढ़ाई का ख़र्च नहीं दिया था।"

"मेरे पास था ही क्या? तेरे बाप कुछ जमा तो करते नहीं थे। अपना गहना तुझे दे डाला। एक मकान बेच कर ख़र्च निकाला। दूसरे के दस रुपये के किराये से अपना गुज़र करती हूँ।"

"कहा करते हैं कि कङ्गाल की लड़की है, तो भी मेरा गहना बेच चुके हैं।"

इसी तरह देर तक उन दोनों में बातें होती रहीं। प्रेमलता की मा की बीमारी बढ़ गई थी। पाँचवें दिन उसका देहान्त हो गया। तब प्रेमलता ने अपने पति को एक पत्र भेजा। सुबोधचन्द्र स्वयं ही आ पहुँचे। उन्हें आशा थी कि ख़ासा माल हाथ लगेगा, किन्तु हाल मालूम होने पर बहुत उदास हो गये। कानिस्टबल ने जो कुछ सुना था उससे दूना-चौगुना कहा था। बहुत-कुछ पुरानी घृणा थी ही। इधर कुछ माल भी हाथ न लगा। अतएव वे चिढ़े हुए थे। क्रिया-कर्म के ख़र्च के वास्ते मकान गिरवी रक्खा गया और वह महाजन के क़ब्ज़े में चला गया। जो कुछ भी ख़र्च से बचा उसे सुबोध ने अपने मेहनताने में हथिया लिया और जाने की तैयारी की। प्रेमलता से चलते समय कह दिया कि उसका उनके घर में कोई काम नहीं, अब वे दूसरा विवाह करेंगे।

बहुत दिनों से यही बात सुनते सुनते वह जली बैठी थी। इस दफ़े बरदाश्त न कर सकी। बोली—अगर मैं भी अपने मा बाप की असली बेटी हूँ तो तुम्हारी सूरत न देखूँगी।

दरोग़ा जी को यह कहाँ बरदाश्त होता। बेत हाथ में था ही। दस-पाँच जमा दिये और बोले—यह घमण्ड! भीख माँगेगी या कोठे पर जा बैठेगी।

"अच्छी बात है। देखा जायगा। मेरा गहना था, सो तुम खा गये। मेरे लिए ईश्वर है! मैं ख़ुद तुम्हारे घर से तङ्ग आ गई हूँ।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं? कोई नई दोस्ती गाँठी होगी। मुझे पहले से ही तेरा हाल मालूम था। क्या मैं तेरे रोने-धोने से पसीजूँगा! नहीं।

इतना कहकर सुबोध उसे रोता छोड़ कर चला गया। चलते समय इतना कह गया कि तेरी ऐसी पतिता की कभी सूरत न देखूँगा।

[२]

असल में तो सुबोधचन्द्र पाँच-छः बरस पहले ही उसे परित्याग कर चुका था, किन्तु वह हिन्दू लड़की उसकी सेवा करने में ही अपने को धन्य समझती रही। यहाँ तक कि अपनी माता से मिलने तक की कभी इच्छा न प्रकट की। माता के मरने का तो दुःख था ही, अब इस परित्याग का दुःख ऊपर से और आ पड़ा। परन्तु दुःख ही एक ऐसी वस्तु है जो आदमी की विचार-शक्ति को बढ़ाता है और तरह तरह के रास्ते दिखाता है। अभी वह युवावस्था में पदार्पण कर रही थी। बीस बरस की अवस्था और ऐसा दुःख आ पड़ा! किन्तु यह हमारे अभागे देश के वास्ते कोई आश्चर्य की बात

न थी। वह सोचने लगी, अपनी सारी उम्र मैं कैसे काटूँगी? अपने छोटे से झोपड़े को किराये पर दूँ तो दस रुपये भी न मिलेंगे और न मालूम कोई ले भी या नहीं। स्कूल में भी केवल छोटे दर्जे तक पढ़ी हूँ। तब क्या मज़दूरी ही करनी पड़ेगी! न मालूम बोझ उठेगा या नहीं? रोटी पकाने के वास्ते ब्राह्मणी होती तो भी ठीक होता। इन्हीं विचारों में वह मग्न थी कि किसी ने दरवाज़े की कुण्डी खटखटाई। किवाड़ खुलते ही एक स्त्री जो चादर में लिपटी हुई थी, भीतर घुसते ही उसे लिपट गई। उसके कपड़े साफ़ थे, मगर उसने प्रेमा के गन्दे कपड़ों की परवाह न की; उसका रंग गोरा था, किन्तु उसने प्रेमा के साँवले रंग से घृणा न दिखाई; उसके गले में मोतियों का हार और कानों में हीरे के बुन्दे थे, तो भी वह आभूषणहीन प्रेमा से गहरे प्रेमभाव से मिली। प्रेमा गद्गद हो गई।

"हैं! मैं यह क्या देख रही हूँ, मोहिनी! तू इधर कैसे भूल निकली? प्रेमा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा।

"मुझे आज ही तो मालूम हुआ कि मा जी का स्वर्गवास हो गया और तू यहीं है। तूने इतना पास होते भी मुझे ख़बर न दी। मुझे इसकी बड़ी शिकायत है।" मोहनी ने रोते रोते कहा।

"बहन, मैं किससे सन्देश भेजती।" यह कहकर रोते रोते उसने अपनी मा की मृत्यु का, साथ ही अपनी दुर्दशा का सारा हाल मोहिनी से कहा।

मोहिनी ने उसे धीरज दिया और उसका मन दूसरी ओर ले जाने के लिए स्कूल के दिनों की बात छेड़ दी। उसने कहा—मुझे तो स्कूल के दिन याद आते हैं। जी चाहता है फिर वैसी ही हो जाती। तेरे और देवयानी के साथ खेला करती।

"देवयानी का कुछ हाल-चाल भी मालूम है? उसका ब्याह हो गया या नहीं, हम सब बराबर की लड़कियाँ थीं।"

"हो भी गया और नहीं के बराबर। वह तो सती है, मगर आज-कल सतियों को कौन पूछता है? उसका मर्द बड़ा शक्की और दुराचारी है। रोज़ ही उसकी हड्डी-पसली तोड़ा करता है। मगर वह उसकी पूजा ही करती रहती है।"

"वह तो मेरे सामने इंट्रेंस तक पहुँच गई थी।"

"सो पास भी कर लिया। फिर शादी हो गई। पढ़ना तो और भी उसके हक़ में बुरा हुआ। वह कहता है, पढ़ी-लिखी औरतें सब व्यभिचारिणी होती हैं। सख्त क़ैद में रहती है।"

"तो क्या मेरी सब साथिनें एक से ही कष्ट झेलने को पैदा हुई हैं? नहीं, तुम बची हो। परमेश्वर तुम्हें ख़ुश रक्खे।"

"तो तू मुझे ख़ुश समझती है। हाँ मोतियों-हीरों से सजी देखकर क्यों न ऐसा समझेगी? मेरी बहन! गहना-पाता ख़ुशी के चिह्न नहीं हैं। अमीर हमेशा ख़ुश नहीं रहते। हाँ, मुझे खाने-पीने का कोई दुःख नहीं है। पैसे की तंगी नहीं है। किन्तु ख़ाली इन्हीं बातों से तो लड़कियाँ ख़ुश नहीं हो सकतीं।"

"तो आख़िर तुझे हुआ क्या है? खाने को है, पहनने-ओढ़ने को है, पैसे-कौड़ी की तंग नहीं है और विवाह किया नहीं। तो फिर काहे का रोना।"

"तो फिर सुन। तुझसे पर्दा काहे का। तू जानती है, मेरे पिता कितने क्रोधी आदमी हैं। नाक पर मक्खी बैठे तो नाक काट डालें। फिर ये मर्द लोग कहें चाहे जो कुछ, मगर अपनी ज़िद रखने पर तुले रहते हैं। बाप हो या भाई, पति हो या देवर, यों तो औरतों के अधिकारों के बखान करेंगे, किन्तु व्यवहार कुछ और ही होता है।"

"यह तो ठीक है, मगर तेरे पिता तो तुझ पर जान देते थे।"

"हाँ, क्यों। यही तो मेरे वास्ते आफ़त हो गई। तुझे याद है, जब मैं तेरे साथ पढ़ती थी, मुझे एक मास्टर साहब पढ़ाते थे। वे ग़रीब आदमी थे, किन्तु चतुर, सुन्दर और सुशील थे। वे कालेज में पढ़ते थे और मैं स्कूल में। वही मुझे बराबर इंट्रेंस तक पढ़ाते रहे। उनके गुणों को देख मैं उन पर मोहित हो गई। मुझे कुछ दिन पीछे

मालूम हुआ कि वे मुझसे प्रेम करते थे। किन्तु तुझसे सच कहती हूँ कि न उन्होंने कभी कुछ कहा न मैंने। वे एल-एल० बी० पास हो गये थे और काम-काज की खोज में जानेवाले थे। मैं उदास थी। जब वे आख़िरी दिन मिलने आये तब मेरी बातों और सजल नेत्रों से वे कुछ ताड़ गये। उस दिन मुझसे उनसे साफ़ बातें हो गईं। मैंने उनको वचन दे दिया कि सिवा उनके किसी से विवाह न करूँगी। कहीं पिता जी ने छिपकर सुन लिया। उस दिन से मेरे ऊपर भाई और बाप सभी कड़ा पहरा रखते हैं। चार बरस हो गये हैं। उनकी मुझे कुछ ख़बर नहीं। मगर जब कभी मैं विवाह करने से इनकार करती हूँ तब काफ़ी ताने सुनती हूँ और दिन रोते कटते हैं। मैं बच्ची नहीं, बी० ए० पास हूँ। फिर भी औरत हूँ।

"तो क्या तू विवाह न करेगी।"

"कभी नहीं करूँगी! वे मिलें तो दूसरी बात है। मैंने तो स्कूल में नौकरी के वास्ते दरख़ास्त दे दी है।"

"मैं मूर्ख उस काम की तो हूँ नहीं। मेरे भाग्य में भूखों मरना ही लिखा है। मुझे भी कुछ सलाह दे बहन।"

"अच्छा सोचकर कहूँगी।"

"वह जो तेरी एक रिश्ते की बहन मोटर पर थोड़े दिन स्कूल आई थी, उसका कुछ हाल सुना।"

"वही भगवतीप्रसाद इंजीनियर की लड़की सुशीला? उसका क्या बताऊँ? वह भी दुखी है। उसके पिता ज़्यादा पढ़ाने के ख़िलाफ़ थे। तुझे याद होगा, वह पाँचवें दर्जे के बाद स्कूल से उठा ली गई थी।"

"हाँ, इसी से तो मुझे उसका नाम याद न रहा।"

"उसका विवाह इश्तिहार-द्वारा हो गया। उसके लिए लीडर में एक इश्तिहार निकला था।

बिना लड़की के पूछे उसका विवाह कर दिया गया। वह छोटी थी पूछते भी क्या। उस लड़के ने इस शर्त पर विवाह किया कि वह विलायत भेज दिया जाय। उसकी यही माँग थी। वहाँ से लौट कर आया तब बैरिस्टरी के साथ एक मेम भी लेता आया। इंजीनियर साहब तो सुनते ही शोक के मारे मर गये। सौभाग्य से उनकी धर्मपत्नी पहले ही मर चुकी थी। मरते समय सुशीला से क्षमा-प्रार्थी हुए और कुल जायदाद की वसीयत उसी के नाम कर गये।"

"भला इश्तिहार-द्वारा विवाह करना भी कोई बात है, जैसे उसे कोई पूछता ही नहीं था। वह भी क्या बिक्री का सौदा थी।"

"मगर सुशीला अपने कर्मों को रोती नहीं। उसने पतित्याग के बाद पढ़ना शुरू किया और संस्कृत का ख़ासा अभ्यास कर लिया। पारसाल एफ़० ए० भी पास कर लिया है और लखनऊ में डाक्टरी पढ़ रही है। मगर नाम बदल रखा है।"

"वह पैसेवाली है, पढ़ सकती है। मैं तो कंगाल हूँ। कंगाल स्त्री पतिता नहीं तो क्या है? पैसेवाले सदाचारी और कङ्गाल दुराचारी हैं।"

दोनों युवतियों को बातें करते करते सन्ध्या हो चुकी थी। मोहिनी के घर से आदमी आया और कहा कि बाबू जी घूमने जाने को आपका इंतिज़ार कर रहे हैं।

[४]

लाल जी कई बरस से वकालत कर रहे थे, किन्तु वकालत ने उन्हें पूरी तरह अपनाया न था। महात्मा जी के सन् २१ के आन्दोलन ने वकीलों की पदवी गिरा दी थी। मगर देश में काम के अभाव से नवयुवक हज़ारों की संख्या में वकालत के पेशे में भूखों मरने को आकर सम्मिलित होते ही जाते थे। करते भी क्या? किसी तरफ़ जाने का रास्ता ही नहीं मिलता था। नौकरी सबको मिल नहीं सकती, तिजारत का कोई सिलसिला नहीं, फ़ौजी कैंटूनमेंटों के रास्तों पर कड़ा पहरा था। क्या करते। वकालत का दरवाज़ा खुला पाकर वहीं घुसते आते थे। लाल जी विलायत से लौट कर बैरिस्टरी करने लगे थे। थोड़ी-सी आमदनी ज़रूर हो जाती थी, मगर अँगरेज़ जोरू का ख़र्च नहीं चलता था। रोज़ ही पैसे की तंगी से आपस में कहा-सुनी होती थी और वह कहा करती थी कि जिसने अपनी हिन्दुस्तानी जोड़ू को धोखा दिया उससे क्या आशा की जा सकती है।"

लाल जी के पास मोटर न था, दो बाइसिकलें थीं। दोपहर को बाइसिकल पर बैरिस्टर साहब कचहरी जाते

तब उन्हें यह जान पड़ता था कि मवक्किल लोग उनकी तरफ़ उँगली उठा रहे हैं। शाम को हवा खाते समय अपने चार बरस के पुत्र को उसी के डंडे पर बैठा लेते और जब कोई मोटर आगे निकल जाता तब दम्पति धूल में नहा जाते और दो चार कटु शब्द सुनने पड़ते। अब उन्होंने मेम साहब से कह रक्खा था कि इस साल मोटर अवश्य लेंगे, किन्तु सेकेंड हैंड। जब अच्छी तरह सीख लेंगे तब नये के आते क्या देर लगती है।

आदमी जो सोचता है वह पूरा नहीं कर सकता। कांग्रेस का आन्दोलन फिर ज़ोरों से शुरू हो गया था। वायसराय ने आर्डिनेंस पर आर्डिनेंस जारी करने शुरू कर दिये, सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में स्त्री और पुरुष जेल जाने लगे। लाठियों का सामना भी कितनों ने किया, कुछ गोलियों के भी शिकार हो गये। इस आन्दोलन में स्त्रियों ने बड़ी वीरता से देशोद्धार का भार अपने सिर पर उठाया, इससे कितने ही कायर पुरुष भी आगे बढ़ने पर मजबूर हुए।

मुक़द्दमे कम दायर होने लगे, वकीलों की दूकानें अधिकतर ख़ाली रहने लगीं। कोर्ट फ़ीस बढ़ा दी गई, किन्तु उसकी आमदनी घट गई, छोटे वकीलों का तो मानो दिवाला ही निकल गया। बड़ों तक को धक्का लग गया। पुलिस को कांग्रेसवालों का पीछा करने या उन पर लाठियाँ बरसाने से ही फ़ुरसत न थी। उन्हीं की पकड़-धकड़ में वह फँसी रहती थी। चोरी या फ़ौजदारी क़रीब क़रीब बन्द थी या उस तरफ़ पुलिस का ध्यान न था। फ़ौजदारी अदालतें बिलकुल बेकार-सी हो गई थीं, क्योंकि कांग्रेसवाले न तो मुक़द्दमा लड़ते, न वकील करते थे। ऐसी स्थिति में वकीलों की दशा कहने योग्य नहीं थी। नाज सस्ता था। किसानों की दशा ख़राब थी। मुक़द्दमे लड़ता कौन?

लाल जी का मोटर लेना असम्भव था। मेम साहब को गरमी और धूल बरदाश्त न थी। वे विलायत जाने पर कटिबद्ध थीं। इनके पास सफ़र ख़र्च देने को पैसा नहीं। दोनों एक दूसरे से अलग होना चाह रहे थे, पर उसकी कोई युक्ति नहीं लगती थी। बैरिस्टर साहब बड़े सोच में थे कि क्या करें। वे बहुत दिन से सुशीला की खोज में थे कि शायद उसे राज़ी कर सकें और संकट दूर हो जाय। वे यह समझते थे कि जब से वे विलायत गये और दूसरे विवाह की ख़बर सुशीला को भेजी, वह रोती रोती अगर पूरी अन्धी नहीं तो आँखों की रोगी तो ज़रूर हो गई होगी और जब वह कमज़ोर आँखोंवाली काली दुबली त्यागी हुई स्त्री को ग्रहण करने की सूचना देंगे तब मारे ख़ुशी के आकर उनके पैरों से अवश्य लिपट जायगी। जब उन्होंने अपनी अँगरेज़ स्त्री से पैसा कमाने की यह तरकीब बताई तब वह बोली कि "चाहे दस बरस पहले यह दशा रही हो, आज तो हिन्दू स्त्री पुलिस और गवर्नमेंट का मुक़ाबला कर रही है। वह इतनी बेवक़ूफ़ नहीं हो सकती। मैं तो रोज़ ही उनकी वीरता का समाचार पढ़ती हूँ और सोचती हूँ कि मैं भी यदि हिन्दुस्तानी होती तो उन्हीं के साथ धरना देती अथवा जुलूसों में सम्मिलित होती।"

बहुत कुछ तलाश और पूछ-पाछ करने पर भी सुशीला का पता न चला। उनकी कोठी में किरायेदार बसे थे। वे बैंक को किराया देते थे और बैंक सिवा इसके कुछ न बता सका कि वह किराया डाक्टर मिस गोयल को दे देता है, मिस गोयल एक सरकारी अस्पताल में नौकर थीं, किन्तु कांग्रेस हास्पिटल खुलने पर वे नौकरी छोड़कर वहाँ बिना वेतन के काम कर रही थीं, रात हो या दिन जब कभी गोली या लाठी से घायल आदमी अस्पताल में लाये जाते वे तुरन्त उपस्थित हो जातीं और कोई नर्स या दाई के न होने से आवश्यकता पड़ने पर नर्स का भी काम करतीं, जुलूस या धरने में वे सम्मिलित न होतीं। यह ख़बर उन्हें सुबोधचन्द्र से मिली थी। वह कई दफ़े अस्पताल जाकर चुटीले आदमियों को गिरफ़्तार कर लाया था, उसे उनसे बातचीत करने का भी कई दफ़े अवसर मिला था। वह गम्भीर स्वभाववाली अत्यन्त सुन्दर युवा स्त्री थी। सुबोध मुलज़िम ढूँढ़ने के बहाने केवल उन्हें ही देखने अकसर जाता था।

इससे ज़्यादा ख़बर न मिलने से लाल जी बहुत परेशान रहते, किन्तु इस परेशानी में एक आशा की

झलक दिखाई देने लगी। वह बिना वसीयत किये मर गई हो तो शायद मैं ही वारिस हूँ, मेम साहब की भी आशा बँधी और कुछ दिन के वास्ते घर में अमन हो गया, जिस ससुराल से वे ख़ाली 'संरक्षा' चाहते थे वह आज उन्हें स्वर्ग-द्वार ही दिखाई देने लगा।

एक दिन डाक्टर गोयल अस्पताल में किसी मरीज़ के ज़ख़्म से छर्रे निकाल ही चुकी थी कि मोहिनी सीधी स्कूल से आ पहुँची।

उसे बहुत ही ख़ुश देखकर डाक्टर ने पूछा कि आज क्या मामला है। क्या वे मिल गये।

"नहीं बहन, उनकी कोई बात नहीं। आज तो लाल जी तुझे खोजते हुए मेरे पास आये थे।" इतना कह कर मोहिनी ज़ोर से हँस पड़ी।

"क्या उन्हें ख़बर हो गई कि मैं कौन हूँ" डाक्टर ने कुछ गम्भीर भाव से पूछा।

"मैं क्या पागल हूँ जो बता देती। मैंने प्रेमा तक को तो आज तक बताया नहीं है। वह तेरे खोने पर बहुधा शोक प्रकट किया करती है। अब उसे बताऊँगी। वह भी हमारी-सी दुखी है।"

"मुझे क्यों खोज रहे हैं?"

"मेम साहब भी साथ थीं। वे भी तेरी खोज में घूम रही हैं, ओ हो तुमने भी आख़िर हँस ही दिया।"

"तू तो बड़ी ठठोल है, कुछ कहती तो है नहीं। यों ही हँस रही है।"

"वे आज मिस गोयल से मिलने मेरा ख़त लेकर आवेंगे। वे समझ रहे हैं कि तू मर चुकी है और सब माल-जायदाद उनका है।"

सुशीला का कुछ हाल तुमसे पूछेंगे। हा! हा!"

"मैं न मिलूँगी। कहीं पहचान लें तो?"

"पगली है क्या? मैंने कह दिया है कि सुशीला रोते रोते अंधी होकर कहीं ग़ायब हो गई है। और न भी कहती तो तुझे पहचानते कैसे? बारह बरस की छोकरी, कहाँ छब्बीस बरस की औरत! जुग बीत गया जुग।" दोनों युवतियाँ लाल जी को पागल बनाने के विचार को देखकर हँस रही थीं कि प्रेमलता भी आगई।

"क्या है जो तुम दोनों इतनी ख़ुश हो?"

"योंही हँस रही थीं, आज तुम बड़ी जल्दी छुट्टी पा गईं।" मिस गोयल ने कहा।

हाँ, आज वेतन भी मिला है। लेडी डाक्टर मुझसे बहुत ख़ुश हैं १००) कर दिये।"

"मिठाई खिलाओ या मेरे अस्पताल के वास्ते चंदा दो।" मिस गोयल ने कहा।

"लो, इस महीने का वेतन इसी के निमित्त है।"

"नहीं, इतना नहीं, कुछ ख़र्च के लिए भी रक्खो।"

"बहन, जब से मोहिनी ने मुझे अस्पताल में नौकरी दिला दी है तब से मैंने बहुत कुछ जमा कर लिया है। तुम तो अपना सारा समय देश के काम में देती हो। मैं दो बरस में एक महीने का वेतन दे दूँ तो क्या हर्ज। मेरी यह भेंट स्वीकार करो। नहीं तो मुझे दुःख होगा, मैं अब कंगाल पतिता नहीं हूँ।"

"ले लो, न। जो ख़ुशी से दे ले लो। यह तो बीबी रानी पहले नर्स बनती ही न थीं। कहती थीं कि मर्दों को बेड-पैन लगाना होगा, न मालूम किस किस का मल-मूत्र धोना होगा।" मोहिनी ने कहा।

"अब तो कोई कहे भी कि छोड़ दो तो न छोड़ूँ।"

"क्यों छोड़ो? क्या घर में चक्की पीसने और रात-दिन लातें खाने से यह अच्छा नहीं? कम से कम आज़ाद तो हो। तुम दोनों मेरे घर पर चलो। आज मेरे ही साथ भोजन हो। अकेली न मिलूँगी।" मिस गोयल ने कहा।

[४]

चाय ख़तम भी न होने पाई थी कि नौकर ने कार्ड देते हुए मिस गोयल से कहा कि एक साहब, मेम साहब के साथ मिलने आये हैं। तीनों सखियाँ मुसकराईं, इस समय तक प्रेमा को भी मालूम हो चुका था कि मिस गोयल कौन हैं और बैरिस्टर साहब उससे क्यों मिलने आये हैं। नौकर को आज्ञा हुई कि 'गोल कमरे में बिठाओ'।

प्रेमलता ने बड़े स्नेह से सुशीला की तरफ़ देखकर कहा—देखो, पत्थर का कलेजा कर लो। ज़रा आँखें पोंछ डालो, सावधान हो जाओ।

तीनों सखियां साथ साथ ड्राइंग रूम में घुसीं। मिस्टर लाल जी और मिसेज़ लीना दोनों खड़े हो गये। सुशीला और मोहिनी खादी की मोटी साड़ियां पहने थीं। प्रेमा देशी मिल की महीन साड़ी में सुसज्जित थी। मोहिनी के साथ दो स्त्रियों को देखकर लाल जी ने उसकी तरफ़ प्रश्न की दृष्टि डाली कि कौन-सी डाक्टर गोयल हैं।

मोहिनी ने हँसते हुए एक दूसरे का परिचय दिया। सबने एक दूसरे से हाथ मिलाया। मोहिनी ने कहा—मैंने सोचा कि मैं स्वयं ही आपको परिचय कराने के वास्ते उपस्थित रहूँ। ख़त से यही अच्छा है न? लाल जी ने कहा—आपने बड़ी कृपा की, मैं और लीना भी यही चाहते थे, किन्तु आपसे कहने की हिम्मत नहीं हुई।

लीना ने कहा—बड़ी उमस है। आप लोग मोटी खादी कैसे पहने रहती हैं? मैं तो इस मौसम में कोई मोटा कपड़ा पहनूँ तो पागल हो जाऊँ।

मिस गोयल—अगर आपका देश भी परतंत्र हो जहाँ ग़रीबों को दोनों समय भोजन न मिलता हो और आपको यह विश्वास हो कि मोटे कपड़े का पैसा सीधा उनके हाथों में जायगा तो आप क्या करें?

लाल जी—मैं तो समझता हूँ कि मिलों से ग़रीबों की परवरिश काफ़ी हो सकती है।

लीना—मगर सवाल तो यह नहीं है। मैं तो बिलकुल वही करूँ जो डाक्टर या मिस मोहिनी करती हैं।

मिस गोयल—खादी ही एक ऐसी वस्तु है जिसका पैसा सीधा ग़रीब के हाथ में जाता है। हर गज़ खादी उसके हाथ चार-छः पैसे पहुँचा देती है। वह अपनी झोपड़ी में बाल-बच्चों में रहकर अपनी खेती-बारी को देखता हुआ रात-बिरात थोड़ा-बहुत काम करके ये पैसे पैदा कर सकता है।

लाल जी—मिल में नौकरी करने पर भी तो उसे पैसे मिलते हैं।

मिस गोयल—ठीक है, मिलों में पहले तो २० आदमी का काम एक आदमी करता है और शायद गज़ पीछे उसका आठवां हिस्सा भी नहीं मिलता जो झोपड़ी में काम करने से मिलता है। फिर मिलों में काम करने से वह घर से सैकड़ों कोसों पर रहता है और वह भी गंदगी और तंगी में।

लाल जी—तो इसका उपाय यह है कि उसके रहन-सहन का ज़्यादा अच्छा इंतज़ाम कराया जाय या यह कि मिलें बन्द कर दी जायँ।

मिस गोयल—अगर बन्द हो सकें तो अवश्य फ़ायदा अधिक हो। हमारे देश में मज़दूर बहुत हैं जो बेकारी में अपना हुनर भूल गये हैं। वे थोड़े ही दिनों के अभ्यास से फिर उन्नति के शिखर पर पहुँच जायँगे और पहले की भांति फिर सुन्दर से सुन्दर और महीन से महीन कपड़े तैयार करने लगेंगे।

लाल जी—गत दस साल में तो इतनी खादी वे नहीं दे सके कि सब देश उस पर गुज़र कर सकता।

सुशीला—यह न भूलिए कि गत दस साल में हमारी गवर्नमेंट ने उसके प्रचार में कोई सहायता नहीं दी। अगर मैं यह कहूँ कि कहीं कहीं उसके अफ़सरों ने खादी का विरोध किया तो शायद अनुचित न होगा। किसी मुल्क की कला बढ़ाना वहां की गवर्नमेंट का काम है। जो कुछ भी खादी ने उन्नति की वह केवल इस वजह से कि लाखों आदमी उसके भक्त हो गये हैं।

लीना—मगर वह महँगी बहुत है। मैं तो लाल जी से कई दफ़े कह चुकी हूँ कि अगर मैं हिन्दुस्तानी होती तो सिवा खादी के कुछ न पहनती।

मोहिनी—तो आप हिन्दुस्तानी नहीं तो क्या हैं? जब हिन्दुस्तानी से विवाह किया है तब हिन्दुस्तान को अपना देश बनाया जैसे जर्मन या फ्रेंच से विवाह कर जर्मनी या फ्रांस को बनातीं। अब आप खादी पहना कीजिए।

यह वाद-विवाद बड़ी गरमागरमी से हो रहा था कि इतने में मोहिनी ने बीच में बोल कर बात टाल दी।

लीना—मिस गोयल, हम लोग आपसे एक ऐसी बात पूछने आये हैं जिसके पूछने में संकोच तो होता है, किन्तु पूछे बिना रहा भी नहीं जाता।

सुशीला ने मोहिनी की तरफ़ देखते हुए कहा—ज़रूर पूछिए। बताने लायक़ होगी तो बता दूँगी बशर्ते कि मुझे ख़ुद मालूम हो।

लीना—यह तो निश्चय है कि आपको मालूम है, क्योंकि अगर आपको मालूम नहीं तो किसी को मालूम नहीं हो सकती, शायद मिस मोहिनी ने आपसे हमारी बात कही हो।

मिस गोयल—जी हाँ, मगर मैं यह पूछना चाहती हूँ कि आप सुशीला के बारे में क्यों तहक़ीक़ात करती हैं।

लीना ने लाल जी की ओर देखा, उसने गर्दन झुका ली और निगाह नीची कर ली। प्रेमा, मोहिनी और सुशीला ने एक दूसरे की ओर ताका और मुसकराईं।

लीना—जी हाँ, ज़रूर। शायद आपको यह मालूम होगा कि मेरे पति की पहली शादी सुशीला देवी से हुई थी।

मिस गोयल—जी हाँ, ख़ूब मालूम है और यह भी मालूम है कि ये ससुर के रुपये पर......

लीना—अच्छा, ज़्यादा लज्जित न कीजिए, इन्होंने बहुत बेजा बात की और जब से मुझे मालूम हुआ है, मैंने इनको क्षमा नहीं किया।

"कोई भी स्त्री ऐसी बात क्षमा नहीं कर सकती। क्यों बहन माधुरी ?"

प्रेमलता—मगर पुरुषों का यही हाल है। उन्हें इस बात से क्या वास्ता कि स्त्री का दिल टूटता है या रहता है। उन्हें तो दूसरों की स्त्रियों के पीछे घूमने से मतलब।

लीना—यह बिलकुल ठीक है। मुझे इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। मगर यह तो आप मेरा विश्वास करें कि जब मुझे मालूम हुआ और मैंने इनको आड़े हाथों लिया तब से ये अपनी हरकतों पर लज्जित हैं और देवी जी की तलाश में हैं। अगर वे मिल जायँ तो ये और मैं उनकी ग़ुलामी करने को तैयार हैं।

मिस गोयल—उसका मिलना तो कठिन बात है। स्त्री का दिल जब एक दफ़े किसी की तरफ़ से हटा तो फिर उधर नहीं जा सकता।

लाल जी—मगर हिन्दू स्त्री दया की मूर्ति है। यदि वह ज़िन्दा है तो मैं एक दफ़े तो पैर पकड़ कर उससे क्षमा-प्रार्थना करूँगा ही, आपसे मैं सच कहता हूँ, मुझे विश्वास है कि मुझ ऐसे पिशाच को भी वह देवी अवश्य क्षमा कर देगी।

ऐसे करुण शब्दों में लाल जी ने कहा कि तीनों सखियों की आँखों में पानी आ गया और उन्हें अपनी साड़ियों के आँचलों से अपनी आँखें पोंछनी पड़ीं।

लीना—मैं स्वयं यह जानती हूँ कि पुरुष स्वार्थ में डूबा है, मैं अपनी ही कहूँ। मैं रात दिन अकेली पड़ी रहती हूँ। सुबह से ये दफ़्तर में रहते हैं, दिन को कचहरी में। शाम को घूमने जाते हैं और रात हुई कि भोजन करते ही मुँह लपेटा और सो रहे। घर में रहना न रहना बराबर। हमारे यहाँ न कोई आता है, न हम किसी के यहाँ जाते हैं।

मोहिनी ने हँसते हुए कहा—जब ये हर वक़्त आपके ही साथ रहते हैं तब आपको तो शिकायत नहीं होनी चाहिए। इस पर लाल जी को भी मानो खोई हुई ज़बान आ गई। वे बोले—मरे शेर को सभी लात मार देते हैं। मुझ पर इन्होंने भी चोट कर दी, ख़ैर मैं हूँ भी इसका मुस्तहक़।

मिस गोयल—हिन्दू स्त्री दया की मूर्ति हो या न हो, मगर सुशीला नहीं है। मोहिनी ने आपसे कहा था कि उसकी आँखें ख़राब हो गई थीं, फिर वह ग़ायब हो गई, उसने अपनी आँखें अमरीका में बनवाईं और वह अब उन्हीं आँखों से उसी मुल्क की औरतों की तरह देखती है। बस मैं इतना आपसे बता दूँ कि वह ज़िन्दा है, मगर अब वह यहाँ आने से इनकार करती है। मुझसे उससे बचपन की मित्रता है। वह अपना सारा काम मेरे सुपुर्द कर गई है, उसे उसके पिता की भूल ने और आपके स्वार्थ ने किसी लायक़ नहीं रक्खा।

"मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ। एक दफ़े मुझे उससे मिलने का अवसर दीजिए। मैं अपना दिल चीर कर उसके सामने रक्खूँगा।"

"मैं आपका संदेश उसे लिख भेजूँगी। एक हफ़्ते के बाद मोहिनी-द्वारा ख़बर भेज दूँगी।"

लीना—नहीं, उन्हें कष्ट न दीजिए। हम लोग स्वयं उपस्थित होंगे।

[६]

गांधी जी गोलमेज़ सभा के वास्ते रवाना हो चुके थे, मगर कांग्रेस के बाक़ी नेता इस बात पर असंतुष्ट थे। वे खुले ख़ज़ाने कह रहे थे कि यह संधि गवर्नमेंट ने नये हथियार गढ़ने और किसानों को दबा कर रुपया वसूल करने को की है। इसका वे यह प्रमाण देते थे कि मालगुज़ारी वसूल करने में सरकारी दूत बहुत सख़्ती कर रहे हैं। सरकार का कहना था कि रुपया वसूल करने का समय है और किसी पर ज़रूरत से ज़्यादा सख़्ती नहीं होती। कुछ मालगुज़ारी में कमी भी की गई है। एक दूसरे पर इल्ज़ाम लगा रहे थे। दिल किसी का साफ़ न था। कौन ठीक था, यह किसी समय इतिहास लिखनेवाले बतावेंगे।

शहर के पास के ही एक गाँव में किसी ज़मींदार के घर चोरी हो गई। उसने उन काश्तकारों पर सन्देह किया जो ज़रा "टर्रे" थे। सुबोधचंद्र ने उन पर सख़्ती की। सर्दी के दिन थे। उसने कई मुल्ज़िमों को रात भर पानी में खड़ा कर रक्खा। सुबह होते होते एक मर गया। सुपरिंटेंडेंट साहब को इत्तिला हुई। साहब बहुत नाराज़ हुए कि इस तरह तो किसान लोग सरकार से बिगड़ उठेंगे और सब किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा। रियाया सुबोध की शिकायत कलक्टर साहब तक ले गई। उन्होंने दरोग़ा की पिछली ख़िदमतों का ख़याल करते हुए उस पर मुक़द्दमा चलाना मुनासिब न समझा, किन्तु रियाया के संतुष्ट करने को उसे नौकरी से अलग कर दिया। सुबोध बहुत गिड़गिड़ाया, पैरों पर पगड़ी रख दी, कई दिन तक सुपरिंटेंडेंट साहब के दरवाज़े पर हाज़िरी देता रहा, मगर वे उसकी मदद न कर सके। एक के वास्ते सैकड़ों को नाराज़ कैसे करते?

ताक़त के अभिमान में सुबोध अब तक मस्त था। वह घर में अकेला ही था। इस समय तक उसने कौड़ी जमा न की थी। वह कहा करता था कि मुझ अकेले के वास्ते पेन्शन काफ़ी होगी। जमा किसके वास्ते करूँ। उसे यह तो मालूम न था और वह स्वप्न में भी नहीं देख सकता था कि उसका ऐसा सच्चा सरकार का भक्त कभी नौकरी से अलग किया जा सकता है और वह भी केवल एक किसान के मर जाने से। जो कुछ भी प्राविडेंट फंड वसूल हुआ वही लेकर घर बैठा। सोच में था कि इतने से गुज़र कैसे होगी। कपड़े की ज़रूरत थी। एक दिन खादी ख़रीदने चला गया। वही ग़रीब-परवर कपड़ा था। मैनेजर ने कुछ विनोद से पूछा कि क्या दरोग़ा जी तलाशी लेने आये हैं। उसने उत्तर दिया — मैंने तो नौकरी छोड़ दी। भाई सच कहूँ। मैं तो ख़ून में हाथ रँगते रँगते थक गया था। नमक का तो हक़ अदा करना ही था। बस, जहां महात्मा जी ने सुलह कर ली, मैंने इस्तीफ़ा दे डाला कि कहीं फिर वैसी ही डंडेबाज़ी न करनी पड़े, उसकी इस बात की सराहना हो रही थी कि मोहिनी और प्रेमा भी कुछ खादी ख़रीदने आगई।

हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ चाहे परदा न भी करें और कालेजों में पढ़ भी लें, बहुधा दाहिने-बायें देखती नहीं। उन्हें यह ख़बर ही नहीं होती कि कौन पुरुष इधर-उधर बैठे हैं या चले जा रहे हैं। उनके वास्ते "सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं" तुलसीदास जी बता ही गये हैं। अगर हम यह कहें कि उनकी शिक्षा, जो उन्हें पैदा होने के दिन से मिलती है और जिस पर स्कूलों में पढ़ने से असर नहीं होता उन्हें पुरुषांध बना देती है तो ग़लत न होगा। हाँ, सिर्फ़ दूकानदारों को वे अब पहचानने लगी हैं, मगर शायद उन्हें वह उस हैसियत में पुरुष स्वीकार ही नहीं करतीं। सुबोध तो पहले ही दफ़े खादी भांडार में ख़रीदारी करने आया था, मगर ये दोनों अकसर आया करती थीं। जिस दिन से सुशीला ने खादी की इतनी प्रशंसा की थी, प्रेमा भी खादी ही पहनने लगी थी।

प्रेमलता को साफ़-सुथरे कपड़े और कुछ हलके आभूषण पहने देख सुबोध एकटक उसकी तरफ़ देखता रहा और जब उसने खादी की थैली से उसे नोट निकालते देखा तब उसके मुँह में पानी आगया। भांडार में ही उसे माधुरी देवी का भी नाम मालूम होगया। दोनों औरतें

बाहर चली गईं तब सुबोध पीछे हो लिया। कुछ दूर चलकर मोहिनी को शक हुआ। उसने प्रेमा से धीरे से कहा कि कोई बदमाश पीछा कर रहा है, चलो तांगा करके चल दें। प्रेमा ने घूम कर देखा। रात होगई थी, शक्ल न पहचान सकी। तांगे पर दोनों प्रेमा के घर जा पहुँचीं। सुशीला वहाँ पहले से ही मौजूद थी। मोहिनी ने कुछ हाल बताते हुए कहा कि आज बड़ी ख़ैरियत हुई बहन। कोई उचक्का पीछे लगा था। हम तो कहो बच ही गईं। कहो बैरिस्टर साहब फिर आये थे।

"तूने तो मुझे न मालूम क्यों झगड़े में फँसा दिया। कितने ही दफ़े कह दिया कि सुशीला मिलना मंजूर नहीं करती। वे हर दूसरे-तीसरे घेरे ही रहते हैं। आज तो मैंने सुशीला की तरफ़ से एक हज़ार उन्हें भेंट कर दिये और उसी का दस्तख़ती ख़त बैंक को भेज दिया।

प्रेमलता—तुम बड़ी चतुर हो बहन। वे पैसे की ही लालच से तुम्हारे पीछे पड़े हैं।

मोहिनी—देख, कोई खटखटा रहा है। जा कहीं से बुलावा आया होगा।

प्रेमलता—मैं ज़रा कपड़े रख दूँ तो आऊँ। तूही तब तक बाहर कमरे में बिठा।

मोहिनी ने जाकर दरवाज़ा खोला। देखा, एक चौंतीस पैंतीस वर्ष का गठीले बदन का पुरुष खड़ा है। उसके कठोर मुँह पर बटी हुई मूँछें थीं और दाढ़ी चार-पांच रोज़ से न बनी थी। बालों की कीलें चमक रही थीं। वह एक खादी का पारसल बग़ल में लिये था। मोहिनी ने बैठक की बिजली का लंप जलाते हुए उसे एक कुर्सी पर बैठने को कहा और कहा कि माधुरी देवी अभी आती हैं। यह कह कर वह भीतर चली गई और सुशीला से कहा कि कोई गुंडा-सा है। ख़ैर इस पेशे में सबसे साबक़ा पड़ता है। सुबोध को माधुरी का नाम पहले से मालूम था, क्योंकि वही एक हिन्दुस्तानी औरत नर्स का काम करती थी और मशहूर हो गई थी। किन्तु उसे यह आज ही मालूम हुआ कि माधुरी और प्रेमा एक ही चीज़ हैं।

दीवार पर कुछ चित्र टँगे थे। उनके देखने में सुबोध लगा था कि प्रेमा ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ। सुबोध ने पीठ फेर कर देखा। दोनों की आँखें चार होगईं, पहचान होगई। प्रेमा घबरा कर मोहनी को पुकार बैठी। भीतर से दोनों सखियाँ दौड़ आईं। प्रेमा कुर्सी पर घबराई हुई बैठी थी। सुशीला ने दरोग़ा को पहचाना और कुछ क्रुद्ध होकर बोली—आप यहाँ क्यों आये और क्या किया जो यह घबरा गई है? बोल प्रेमा, क्या हुआ?

सुबोध हाथ जोड़ कर बोले—देवी जी, मैं ही वह पापी हूँ जिसके पैशाचिक कृत्यों से इस देवी को इतने कष्ट झेलने पड़े। मेरे व्यवहार से तंग आकर इसे दूसरों की सेवा करनी पड़ी और दरवाज़े दरवाज़े टकराना पड़ा। देवी जी, मैं आप से सच कहता हूँ कि जिस दिन से मैं क्रोध में बुरा-भला कहकर इसे रोता छोड़ गया था उसी दिन से मैं पछता रहा था।

प्रेमा इस समय तक सावधान हो चुकी थी। उसका मुँह क्रोध से तमतमाया हुआ था। वह खड़े होते हुए ज़रा तेज़ी से बोली—मुझे इनकी एक बात का भी एतबार नहीं।

सुबोध के जी में तो आया कि ऐसे कटुवचन कहने-वाली का गला घोंट दे, किन्तु वहाँ तो ऐश्वर्य के सामान दिख रहे थे। क्रोध को पीकर बोला—मैं इसी योग्य हूँ कि मैं इससे भी अधिक अपमानित किया जाऊँ। मेरा ऐसा ही व्यवहार रहा है, किन्तु अब मैं वह सुबोध नहीं हूँ जो पहले था। मेरा एक एक रोयाँ अपनी पिछली हरकतों पर रोता है।

सुशीला—अच्छा, इस समय तो आप जाइए। उसे सोचने का समय दीजिए!

प्रेमलता—सोचना क्या है? मैं इनके साथ कभी नहीं रहूँगी।

सुबोध उठ खड़ा हुआ और यह कहता हुआ चलने लगा कि डाक्टर साहब, आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ। किन्तु यह बताये देता हूँ कि यदि प्रेमा देवी मुझे क्षमा न करेंगी तो मैं उनके नाम पर जान दे दूँगा।

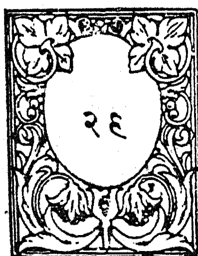
मेरी रूस-यात्रा

वर्तमान रूस पूँजीवाद और धर्म का घोर विरोधी है। नेहरू जी ने इस लेख में अपने व्यक्तिगत अनुभव से रूस की ऐसी ही बातों और इस नवीन परिस्थिति में वहाँ के बालकों की शिक्षा-दीक्षा का बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया है।



पंडित ब्रजलाल नेहरू

(एम० ए० आक्सन, बार-एट-ला, चीफ़ आडीटर, एन० डब्ल्यू० रेलवे, लाहौर)



अप्रैल को हम लोग मास्को पहुँचे। उस समय काफ़ी दिन चढ़ चुका था। तीन दिन की रेलवे यात्रा के बाद असबाब सँभालने, नहाने-धोने और कपड़े बदलने में तीसरा पहर हो गया। यात्रा का प्रोग्राम अभी बनना था। इस कार्य के लिए लार्ड मार्ले और कुछ अन्य साथियों को छोड़कर हम मास्को की सड़कों पर टहलने निकल गये।

मास्को अब रूस की राजधानी है। इस नगर की जन-संख्या लगभग ३५ लाख के होगी। साधारण तौर पर देखने से यह योरप की अपेक्षा पूर्व का नगर जान पड़ता है। यहाँ तक कि इसके गिरजे, विद्यालय और मठ इत्यादि भी योरप की ऐसी इमारतों से भिन्न हैं। परन्तु यात्री को रूस की सड़कें सबसे पहले आकर्षित करती हैं। मुख्य मुख्य सड़कों पर ट्राम की एक लाइन के अतिरिक्त और सवारियां नहीं दिखाई देतीं। ट्राम गाड़ियां भी दो-एक दिखाई पड़ती हैं जो बहुत भरी रहती हैं। भीड़ इतनी होती है कि इन गाड़ियों पर चढ़ना या उतरना सरल नहीं होता। अधिकतर लोग पैदल ही चलते दिखाई पड़ते हैं। परन्तु विदेशियों के साथ रियायत की जाती है। इस सवारी का उपयोग करने में हमें कोई कठिनाई नहीं हुई। हमें

प्रायः मोटर और लारियाँ मिल जाती थीं। परन्तु यह शौक़ की सवारी समझी जाती है और इसका आनन्द बहुत कम रूसी ले पाते हैं। कुछ बहुत ऊँचे अफ़सरों को ही मोटर मिलते हैं। शेष लोग या तो ट्राम का सहारा लेते हैं या पैदल चलते हैं। सवारी के लिए कुछ मोटर भी मिलते हैं। परन्तु उनका किराया इतना अधिक होता है कि बहुत कम लोग उन पर चढ़ते हैं।

उदाहरण के लिए एक दिन हम अपने एक भारतीय मित्र से, जो आज-कल मास्को में रहते हैं परन्तु जिनसे मेरी पहचान उस समय से है जब मैं विलायत में पढ़ता था, मिलने मेट्रोपोल होटल तक टहलते हुए गया। फ़ासला क़रीब दो मील का था। परन्तु कष्ट उठाने का फल मुझे मिल गया। मेरे मित्र अपने कमरे में मौजूद थे। यद्यपि मेरी और उनकी भेंट २५ वर्ष से नहीं हुई थी, तो भी उन्होंने मुझको पहचान लिया। टहलना मेरा प्रिय विनोद कभी नहीं रहा है, इसलिए जब लौटने का समय आया तब मैंने अपने मित्र से पूछा कि क्या यहाँ मोटर जैसी कोई सवारी मिल सकती है। उन्होंने कहा—"हाँ।" मैंने पूछा— "मेरे होटल तक जाने का कितना लगेगा।" उन्होंने कहा—"बहुत नहीं, तीन या चार रबल।" मैंने उत्तर दिया—"आपको धन्यवाद है, परन्तु सस्तेपन की मेरी यह धारणा नहीं है।" दो मील के लिए ४ रबल देने की कल्पना कीजिए। यह रक़म ७) के बराबर होती है। भारतवर्ष में इतने सफ़र के लिए १) से अधिक नहीं लग सकता। इसलिए मैंने निश्चय किया कि थोड़ा पैदल चलना अच्छा होगा।


[श्रीमती रामेश्वरी नेहरू रूसी यात्रा की पोशाक में]

पहले दिन प्रोग्राम आदि निश्चित करने के बाद केवल शाम का समय हमें मिला। इसे हमने सिनेमा और कार्यकर्ताओं का एक क्लब देखने में व्यतीत किया। चित्र-घर की इमारत यथेष्ट रूप से बड़ी थी, परन्तु बड़प्पन का भाव उसमें न था और योरप के अन्य नगरों के चित्र-घरों की भाँति भीतर उसकी सजावट भी अच्छी न थी।

एक चित्र-दृश्य एक रूसी कथानक पर बना था। नाम था—"नीली रेल"। कथा चीन में साम्राज्यवादियों के कृत्यों से सम्बन्ध रखती थी। दृश्य का उद्देश यह बताना था कि चीन के मज़दूरों के साथ कैसी हृदयहीनता और निर्दयता का बर्ताव होता है और उनके साम्राज्यवादी शासक अपने योरपीय सहयोगियों और सलाहकारों के साथ कैसा आनन्द करते हैं। टेकनिक और फोटोग्राफी प्रशंसनीय थी। परन्तु मेरी समझ में साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रचार करने में यह उतना सफल नहीं हुआ था। कदाचित् दूसरों की भी इस सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा थी। क्योंकि हाल केवल आधा ही भरा था। मैंने शेरीकीना से पूछा कि क्या यहाँ प्रायः प्रचार की दृष्टि से ही खेल दिखाये जाते हैं और क्या लोग ऐसे खेल देखते देखते ऊबते नहीं। उसने इस बात को स्वीकार किया और कहा कि जब कोई अमेरिकन खेल आता है तब ख़ूब भीड़ होती है और लोग उसका आनन्द भी लेते हैं।

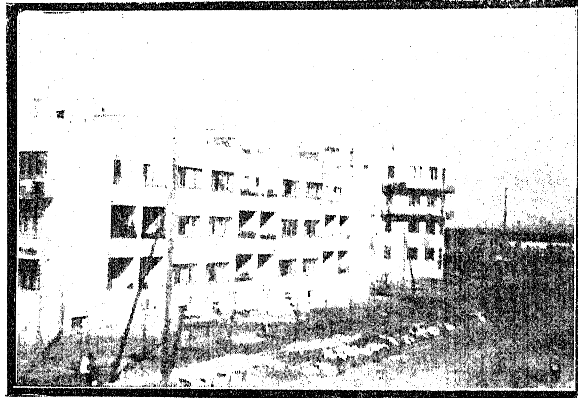
रूस में फ़िल्म देखने का मुझे दो बार और अवसर मिला। एक बार स्टेलिनग्रेड में और दूसरी बार लेनिनग्रेड में। एक खेल का मुझे स्मरण नहीं रहा। पर वह अमेरिकन खेल था और लोगों ने उसे पसन्द किया था। दूसरा रूसी खेल था और वह वास्तव में उच्च कोटि का था। इसका नाम है "पोटेम कीन"। यह विश्वविख्यात खेल है, पर मैं कह नहीं सकता कि यह भारतवर्ष में कभी दिखाया गया है। साम्राज्यवाद और धर्म के विरुद्ध अनिवार्य रूप से आनेवाला प्रचार का भाव इसमें भी है, परन्तु इसमें भाव प्रकट नहीं है।



[मास्को के बग़ीचों में रूसियों का ग्राम्य नृत्य]

इसमें एक ऐतिहासिक घटना का अत्यन्त स्वाभाविक रूप से वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। इच्छित प्रभाव कथा के परिणामों से प्राप्त होता है।

कहानी का सम्बन्ध रूस की सन् १९०५ ईसवी के अशान्ति के दिनों की एक घटना से है। "पोटेम कीन" नामक एक जङ्गी जहाज़ पर, जो काला सागर में ठहरा हुआ था, बलवा हुआ। मल्लाहों को जो भोजन दिया जाता था उस पर उन्होंने आपत्ति की थी। अफ़सरों ने कड़े दण्ड देने की धमकी दी और पुरोहित को उन्हें समझाने के लिए भेजा। परन्तु यह सब बेकार गया। यहाँ तक कि गोली चलाई गई जिसका मल्लाहों ने उत्तर दिया, और जहाज़ पर उन्होंने अधिकार कर लिया।



[कीफ़ के कारख़ानों में काम करनेवालों के लिए निवास-गृह]

वहाँ से वह जहाज़ ओडेसा के बन्दर में लाया गया, जहाँ उन मल्लाहों के साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए जनता उमड़ पड़ी। इसके बाद ही सेना का आगमन हुआ। स्त्री, पुरुष, बालक जो भी सामने पड़ा, सब पर गोलियाँ चलाती हुई सेना आगे बढ़ी। लोगों का घबरा कर भागना, तितर-बितर होना, मार्ग न पाना, गोली चलाने में सिपाहियों की अविवेकिता, बालक-वृद्ध-युवा सबको मारना और गोद के बच्चों को भी न छोड़ना इत्यादि बातें चित्रपट पर इस प्रकार दिखाई गई हैं कि सम्पूर्ण दृश्य स्मृति में अङ्कित हो जाता है। यह सब स्वयं एक अच्छा प्रचार-कार्य्य बन जाता है और इच्छित नीति को प्रकट करने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

रूस में फ़िल्म बनाने का कार्य्य बड़ी उन्नति कर गया है। हमने जितने खेल देखे, सब मूक सिनेमा के थे। हमने पूछा कि क्या इस देश में बोलता सिनेमा नहीं बनाया जा सकता। हमें बताया गया कि इसकी भी व्यवस्था की जा रही है। इसके बाद ही



[मास्को के एक सार्वजनिक स्कूल के छात्र]



[भोजन करने में निमग्न बच्चे]

लेनिनग्रेड में हम एक 'स्टुडियो' देखने गये, जिसमें बोलता सिनेमा तैयार किया जा रहा था। यह बड़े बड़े कमरों से युक्त एक विशाल भवन था। गोली आदि चलाना दिखाने के लिए समुचित प्रबन्ध था। बहुत-सी वस्तुओं को हम समझ नहीं सके। वे चाहते भी थे कि हम न समझें। इमारत के भीतर हमें प्रवेश का अधिकार देने के पूर्व उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि हममें से किसी का सम्बन्ध सिनेमा के व्यवसाय से तो नहीं है। इसका कारण हमारी समझ में नहीं आया। क्योंकि हमने सदैव यही समझा है कि रूस की शासन-प्रणाली में रक्षा और अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त और किसी बात को छिपा कर रखना पसन्द नहीं किया जाता।

इस इमारत के एक कमरे में नटों की विविध प्रकार की पोशाकों और वर्दियों का ढेर लगा था। बहुत-सी पोशाकें अत्यन्त मूल्यवान् थीं। ये चीज़ें किसी समय में ज़ार या उच्च घराने के लोगों की थीं। रूस में इन वस्तुओं का अब कोई प्रयोजन नहीं है। ये या तो म्यूज़ियम में रक्खी जाती हैं या सिनेमा के स्टुडियो में।

सिनेमा देखने के पश्चात् हम लोग श्रमिकों का क्लब देखने गये। कदाचित् यह रेलवे के कर्म्मचारियों का क्लब था। प्रत्येक कारखाने के समस्त कर्मचारियों के लिए उनका एक ट्रेड यूनियन होता है, जिसके अन्तर्गत एक क्लब, एक स्कूल, एक औषधालय, और उनके रहने के लिए गृह इत्यादि होते हैं। रूस में सब प्रकार के जीवन का व्यवसाय के आधार पर संगठन किया जा रहा है। क्लब सम्पूर्ण सुविधाओं के सहित एक बड़ी इमारत में था। इसके अतिरिक्त एक बड़ा हाल था, जिसमें थियेटर और खेल आदि होते रहते हैं। जिस समय हम लोग पहुँचे उस समय इस बड़े कमरे में गत वर्ष के कार्य्य की समालोचना की जा रही थी और जिन कर्म्मचारियों ने अपने कार्य्यों में विशेष कुशलता दिखाई थी उनका उल्लेख किया जा रहा था। कारखाने का बैंड तैयार खड़ा था। प्रत्येक कार्य्य के नामोल्लेख के समय बैंड बजता था।

हमारे एकाएक पहुँचने से इस कार्य्य-क्रम में कुछ बाधा का उपस्थित हो जाना स्वाभाविक था। सबका ध्यान हमारी ओर आकर्षित हो गया। वे उसी समय समझ गये कि हम विदेशी यात्री हैं और उन्होंने हमें बैठने के लिए कुर्सियाँ दीं। इसी समय शेरकीना ने हमारी पार्टी के नेता लार्ड मार्ले को डायस के पास ले जाकर सभापति से उनका परिचय कराया और हमारे आने का उद्देश उनसे बताया। सभापति ने जो एक नवयुवक



[रूसी किसानों की स्त्रियाँ]

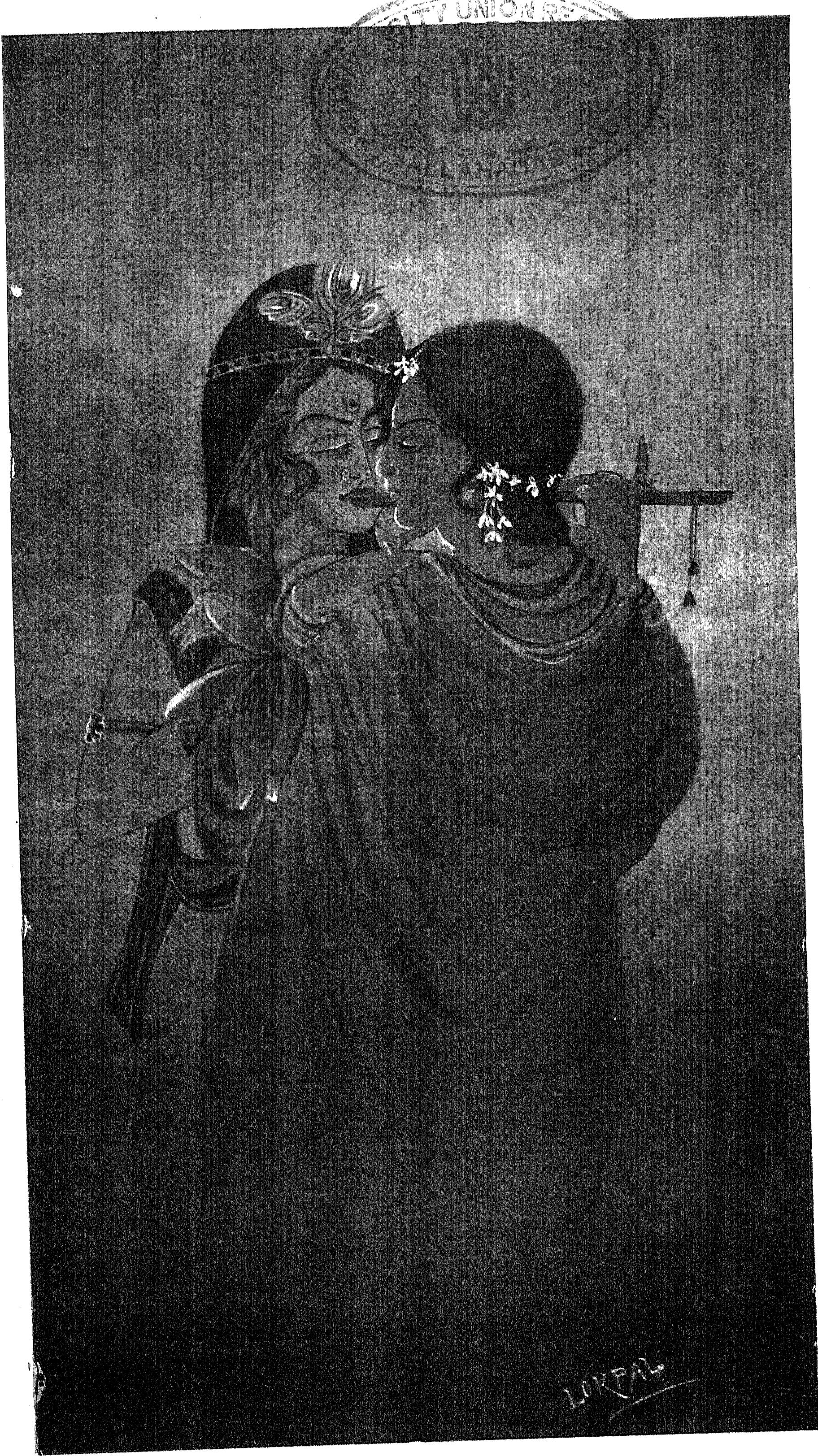
रूसी थे, उठकर लार्ड मार्ले से हाथ मिलाया और हमारा स्वागत करते हुए रूसी-भाषा में उन्होंने एक छोटी-सी वक्तृता दी। हमारे लाभ के लिए शेरकीना ने इसका तुरन्त अँगरेज़ी में अनुवाद किया। हमारी ओर से लार्ड मार्ले ने अँगरेज़ी में जवाब दिया। शेरकीना ने इसका अनुवाद तुरन्त रूसी-भाषा में कर दिया। इस कार्य्य से शेरकीना की योग्यता की हम सबने अत्यधिक प्रशंसा की।

इस शिष्टाचार-प्रदर्शन के पश्चात् क्लब के कुछ सदस्यों ने हमें इमारत के सम्पूर्ण भागों में घुमाया। यह समय वार्षिक निरीक्षण का था। वर्ष की सफलताओं के अङ्क-चक्रों से दीवारें सुशोभित थीं, गत वर्ष की अपेक्षा फ़ैक्टरी ने अपने विविध विभागों में क्या उन्नति की थी, इसका भी उल्लेख किया गया था। इसके अतिरिक्त दीवारों पर बड़े बड़े पोस्टर लगे थे, जिनमें यह दिखाया गया था कि पूँजीवाद और धर्म का राक्षस किस प्रकार मज़दूरों और किसानों को खा जाना चाहता है। किसी भी बड़े शहर में क्लबों के नाम के साथ ही दीवारों पर सुन्दर चित्रों का भाव हृदय में उदित होता है। यहाँ इन वस्तुओं का स्थान प्रचार ले रहा है। फिर नवीन रूस प्रबल इच्छा से प्रेरित है, आलस्य-पूर्ण आमोद-प्रमोद की इच्छा उसे नहीं है।

दूसरे दिन ३० अप्रेल को हम पैदल ही मास्को नदी के पुल पर होकर प्रसिद्ध रेड स्क्वायर देखने गये। विख्यात क्रेमलिन, ज़ार के महल और उसके निजी गिरजा-घर यहीं हैं। नवीन रूस के उद्धारक और उसके अर्द्ध-परमेश्वर लेनिन की संगमरमर की लाल मूर्ति भी यहीं है। एक विशेष ओषधि-प्रयोग के द्वारा लेनिन का शव भी अपनी मूल-स्थिति में यहीं रक्खा गया है, जिसे देखने के लिए नित्य सैकड़ों लोग आते हैं और श्रद्धा के साथ उस शव की परिक्रमा करते हैं। यह शव एक काँच के घर में एक साधारण पोशाक* में रक्खा हुआ है और देखने से जान पड़ता है जैसे कोई जीवित व्यक्ति आराम कर रहा हो। केवल श्वास नहीं है। एक या दो दिन पश्चात् हम यह मक़बरा देखने गये और देखा कि लोग एक लम्बी श्रेणी में प्रवेश करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। साधारण नियम के अनुसार हमें अपनी बारी आने पर अन्दर जाना चाहिए था। इसमें एक घंटा या कुछ अधिक लगता, जो हम लगा न सकते थे। परन्तु शेरकीना अपना कर्तव्य समझती थी। वह हमें सीधा द्वार पर ले गई। भीड़ ने प्रसन्नता के साथ हमें मार्ग दे दिया। विदेशियों के प्रति यहाँ ऐसा ही शिष्ट व्यवहार किया जाता है। अपनी यात्रा के सिलसिले में इसका हमें कई बार प्रत्यक्ष अनुभव हुआ।

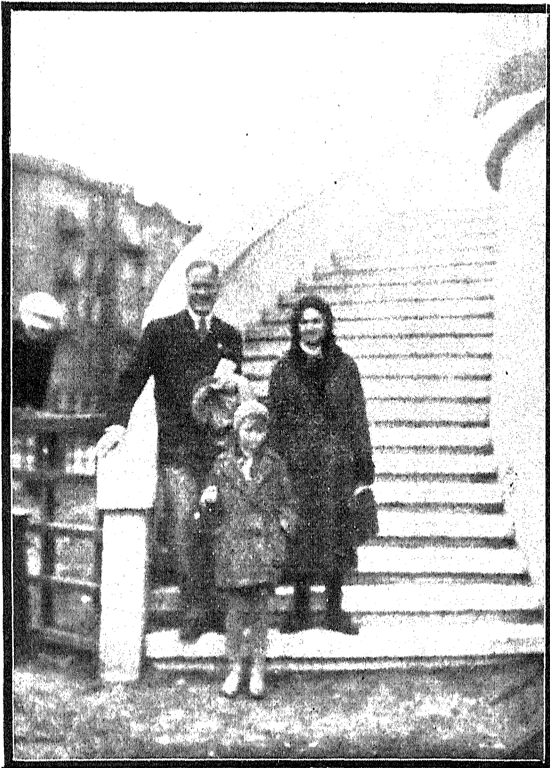
* Loung

रेड स्क्वायर से विशाल भवनों से आवृत कितनी ही सड़कों और स्क्वायरों से होकर हम टार्गसिन या विदेशियों की दूकान में गये। इस संस्था का वर्णन पाठकों के लिए मनोरञ्जक होगा, क्योंकि संसार के किसी और भाग में ऐसी कोई संस्था नहीं है। यह तो सभी जानते हैं कि रूस का सम्पूर्ण वैदेशिक व्यापार गवर्नमेंट के एक विशेष विभाग-द्वारा सञ्चालित होता है, इसलिए उन्हें विदेशी करेन्सी की सदैव आवश्यकता पड़ती है। बाहर भेजी जानेवाली वस्तुओं पर वे जो धन पाते हैं उसके साथ साथ उन्होंने प्रत्येक बड़े शहर में दो एक ऐसी दूकानें भी खोलने में लाभ समझा है जिनमें केवल विदेशी सिक्कों में बिक्री की जाती है, रूसी सिक्का नहीं लिया जाता। परन्तु उसके अतिरिक्त समस्त देशों के सिक्के विनिमय की प्रचलित दर के अनुसार लिये जाते हैं। इस कार्य्य के लिए ऐसी दूकानों में सरकारी बैंक की एक शाखा भी रहती है जो सब प्रकार के सिक्के लेते हैं और भांज देते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई १० शिलिंग की वस्तु ख़रीदे और पौंड दे तो वे पहले यह प्रयत्न करेंगे कि बाक़ी शिलिङ्ग में ही लौटायें। यदि अँगरेज़ी सिक्का उस समय न होगा तो वे बाक़ी संसार के किसी भी देश के सिक्के में जो उनके पास होगा, लौटा देंगे। हाँ, रूसी सिक्का न देंगे। इस प्रकार हमने बहुत-से अपरिचित सिक्के जमा किये और कुछ के सम्बन्ध में तो हम जान भी न सके कि



तन्मयता

[चित्रकार श्रीलोकपाल सिंह



[लार्ड मार्ले और शेरकीना एक रूसी बालिका के साथ]

वे किस देश के हैं। यह कार्य्य हास्यप्रदायक था, पर असुविधा-जनक नहीं, क्योंकि बाक़ी रक़म जो हम वापस पाते थे, बहुत थोड़ी होती थी।

वस्तुओं का मूल्य सदैव रूसी सिक्के में अंकित किया जाता है, केवल बेची वे विदेशी सिक्कों में जाती हैं। इन दूकानों में सभी लोग जा सकते हैं। बहुत-से रूसी अपने विदेश में रहनेवाले सम्बन्धियों से विदेशी सिक्के पाते हैं। उन सिक्कों को ये इन दूकानों में चलाना अधिक सुविधाजनक पाते हैं। इन दूकानों में चीज़ें कुछ सस्ती भी मिलती हैं। यहाँ के रहनेवाले मेरे एक भारतीय मित्र ने मुझसे बताया कि यहाँ चीज़ें अन्य दूकानों की अपेक्षा एक तिहाई या एक चौथाई मूल्य में ही मिल जाती हैं। वे रूस में बहुत दिनों से रहते हैं और इसका उन्हें पता होना ही चाहिए। पर मुझे यह जानने का अवसर न मिला कि यह बात कहाँ तक सत्य है। कुछ भी हो, इन दूकानों में भी मूल्य काफ़ी अधिक था।

मास्को और लेनिनग्रेड के इन टार्गसिनों (विदेशियों की दूकानों) को बड़े बड़े इम्पोरियम ही समझिए। ये बहुत-से विभागों में विभक्त होते हैं और इनमें रूस में पाई जानेवाली सब प्रकार की वस्तुएँ रहती हैं। यह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ होती ही बहुत कम चीज़ें हैं और रूस की कोई भी दूकान इन बड़े बड़े स्टोरों की समता नहीं कर सकती जो यात्री को योरप के बड़े नगरों में प्रायः मिलते हैं।

मास्को के टार्गसिन के एक या दो विभाग उल्लेखनीय हैं। एक विभाग में सोने-चाँदी और जवाहरात की



[रूस में हमारी पार्टी, लार्ड मार्ले बैठे हुओं में बाईं ओर, शेरकीना उनके पीछे खड़ी है।]

बड़ी सुन्दर कारीगरी से युक्त वस्तुएँ थीं। रूस के सब लोग किसी न किसी प्रकार के उत्पादक कार्य्य में लगे रहते हैं और इस प्रकार के कार्य्य वहाँ नहीं होते। जान पड़ता है, शारीरिक शृङ्गार का शौक़ ही मिट गया है। हमें आशा करनी चाहिए कि यह अवस्था अस्थायी है। वहाँ जितनी ऐसी वस्तुएँ थीं वे सब १९१७ की क्रान्ति के पहले की थीं और सम्भवतः उन स्वर्णकारों और कारीगरों की दूकानों से आई थीं जो ज़ार के दिनों में अपना व्यापार करते थे। दूसरे विभाग में गिरजाघरों, मठों और ज़ार और अन्य सरदारों के महलों की अत्यन्त मूल्यवान् प्राचीन स्मृतियाँ एकत्र की गई थीं। सोना, चाँदी या जवाहरात जिस धातु की वे बनी थीं उसके मूल्य को देखते हुए भी वे सस्ती प्रतीत होती थीं। यह होते हुए भी साधारण लोगों के लिए वे महँगी थीं। इसलिए हम लोगों ने उन्हें दूर से ही देखकर सन्तोष किया। कदाचित् अमरीका के धनकुबेर लोग इन वस्तुओं को अपने 'ड्राइंग रूम' के लिए ख़रीदते हैं। वर्तमान गवर्नमेंट उनका कोई उपयोग नहीं समझती, इसलिए उन्हें बेचना चाहती है और इस आमदनी को बाहर से मशीनें ख़रीदने में लगाना चाहती है। इस प्रकार बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ बेची जा चुकी हैं। परन्तु बहुत-सी जो अत्यन्त मूल्यवान् हैं अभी बिकने को बाक़ी हैं, क्योंकि उनके ख़रीदार नहीं मिलते। वे वस्तुएँ मास्को और लेनिनग्रेड के संग्रहालयों में रक्खी हुई हैं।

दूसरा स्थान जो हम लोगों ने देखा, रबर के कार्य्यकर्ताओं का एक क्लब था। इस स्थान पर बालकों ने अधिकार कर रक्खा था, जो विविध प्रकार के अपने खेल कर रहे थे। मंच पर कुछ वयस्क लोग भी थे, परन्तु दर्शकों में केवल बच्चे ही थे—बालक और बालिकायें दोनों। नवागन्तुकों के अकस्मात् प्रवेश ने स्वभावतः उनके कार्य्यक्रम में विघ्न उपस्थित कर दिया, परन्तु बजाय किसी प्रकार का विरोध का भाव प्रकट करने के वे सब बड़े प्रसन्न हुए और सबों ने हम लोगों से हाथ मिलाने का हठ किया। हमारे लिए उन सबसे हाथ मिलाना असम्भव था और जो बहुत पीछे थे वे इससे कुछ निराश भी हुए, पर अपनी उस स्थिति का उन्होंने भी प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया। फिर उन्होंने हमारे बैठने के लिए आगे की जगहें ख़ाली कीं और आग्रह किया कि हम वहीं बैठें। वहाँ कुछ देर बैठकर हम लोगों ने नाटक देखा। शीघ्र ही भोजन का समय आगया। लड़के हमें भी अपने साथ खाने लिवा ले गये। प्रत्येक बालक को जो भोजन दिया गया उसमें कई प्रकार की वस्तुएँ थीं और हमें होटल में जो खाना मिलता था उसकी अपेक्षा परिमाण में अधिक था। और गुण में भी बुरा नहीं था। 'चा' भी थी। दुर्भाग्य से हमारे उनके बीच किसी भाषा का माध्यम नहीं था। इसलिए हमारा वार्तालाप बहुत परिमित रहा। हमारी पार्टी के कुछ व्यक्तियों ने जो रूसी-भाषा के कुछ शब्द जानते थे उन बालकों से कुछ कहा-सुना, परन्तु हममें से बहुतों को इशारे और मुसकान बदलकर ही सन्तोष करना पड़ा। अपरिचित देश में सद्भाव और जानने की इच्छा होने पर इन साधारण साधनों के द्वारा भी आश्चर्य्य-जनक कार्य्य किया जा सकता है। रूस के बच्चों में हमने जैसा मित्र-भाव, सद्व्यवहार और साहस देखा, वैसा अन्यत्र कम दिखाई देता है। उन बच्चों के बीच में एक घंटा व्यतीत करने में हमें बड़ा आनन्द आया। यह जानने के लिए कि बालकों की शिक्षा का रूस में कैसा बुद्धिमत्तापूर्वक प्रबन्ध किया गया है, हम ऐसी ही परिस्थिति में भारतीय बच्चों के एक समूह के व्यवहार की कल्पना करके अपना अनुमान निकाल सकते हैं।

इसके बाद हम लोगों ने एक स्कूल देखा। जिस समय हम पहुँचे बालकों में पारितोषिक वितरण हो रहा था। यहाँ भी तुरन्त ही सबका ध्यान हमारी ओर आकर्षित हो गया और उनके कार्य्य में बाधा उपस्थित हुई। क्लब में जिन लड़कों से हम मिले थे उनकी अपेक्षा ये बालक छोटे थे, पर शर्मीले ये भी न थे। हमसे हाथ मिलाने के लिए ये भी मुस्कराते हुए हमें घेर कर खड़े हो गये। हम लोगों में से बहुतों ने उनकी मुस्कराहट का जवाब मुस्कराहट के द्वारा ही दिया। परन्तु हमारी पार्टी के एक रूसी-भाषा जानने-वाले सदस्य ने उन बच्चों से

कुछ बात-चीत शुरू की। एक छोटे बच्चे की एक बात सुनकर वे बड़े ज़ोर से हँसे। बात यह थी कि एक छः या सात वर्ष के छोटे बालक ने बड़ी गम्भीरता के साथ पूछा था कि क्या आपके देश में अब भी पूँजीपति पाये जाते हैं। उस छोटे बालक को यह पता न था कि पूँजीपति कौन जानवर है। उसका ख़याल था कि वह सम्भवतः कोई राक्षस है, जो रूस से भगा दिया गया है, परन्तु संसार के किसी अन्य भाग में अब भी अड़ा हुआ है। एक इसी उदाहरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि रूस की नव सन्तति पर पूँजीवाद और धर्म के विरुद्ध लगातार आन्दोलन का कैसा प्रबल प्रभाव पड़ा है।

हमने स्कूल की इमारत का परिदर्शन किया और कुछ अध्यापिकाओं तथा अन्य स्त्रियों से जिनके सुपुर्द बालकों की देख-रेख का प्रश्न था, बातें कीं। एक स्त्री जो काफ़ी अधिक आयु की थी, क्रान्ति के पूर्व के समय की जान पड़ती थी। हमने उससे पूछा कि वर्तमान स्थिति को वह कैसा पसन्द करती है। उसने पूर्ण विश्वास के साथ उत्तर दिया कि मैंने कुलकों (ज़मींदारों) के साथ ४० वर्ष कार्य्य किया है, परन्तु मैं इतनी प्रसन्न कभी नहीं रही। उसका उत्तर शेरकीना ने अनुवादित करके हमें सुनाया था, परन्तु हमारे रूसी जाननेवाले मित्र ने भी इसकी ताईद की थी। इस प्रकार बच्चों के बीच में हमारा दूसरा घंटा सुख से समाप्त हुआ। जब हम चलने लगे तब बहुत-से बच्चे हमें विदाई देने बाहर निकले। वे हमारे मोटर के चारों तरफ़ और उसकी पटरियों पर चढ़कर खड़े हो गये। उनके बीच से निकल कर रवाना होने में हमें काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इतने पर भी कुछ हमारी गाड़ी के पीछे दौड़े और इतनी प्रसन्नता प्रकट की जितनी लड़के कर सकते हैं। अच्छी तरह खिलाये पिलाये हुए, स्वच्छ और प्रसन्न-चित्त इतने अधिक बच्चों को देखना उन सर्वोत्तम स्मृतियों में से एक है जो हम रूस से लाये हैं।

तेरी याद



शिशिर

कुँवर हिम्मतसिंह, साहित्यरञ्जन

वसनरूप निज पत्र पुराने वन-स्थली जब देती दान।
ऋतु-पति के स्वागत में प्रमुदित गाते हैं द्विज मञ्जुल गान॥
मत्त हुई-सी वनितायें बहु विविध भाँति के गातीं राग।
उपवन में जाकर नित दम्पति प्रमुदित हो रचते हैं फाग॥
मदिरा के अविरत सेवन से बढ़ता है मादक उन्माद।
मेरा हृदय सूख जाता है, आ जाती है तेरी याद॥

पत्रिकाओं का निर्माण



कुँवर राजेन्द्रसिंह

(भूतपूर्व एग्रीकल्चर मिनिस्टर, यू० पी० गवर्नमेंट)

कुँवर साहब ने इस लेख में पाश्चात्य देशों में प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं की सञ्चालन-विधि का जो विवरण दिया है वह भारतीय पत्रकारों तथा पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों और पाठकों के लिए मनोरञ्जक तथा उपयोगी है।



जैसे पत्रिकाओं और दैनिक समाचार-पत्रों के साहित्य में भिन्नता होती है, वैसे ही उनकी निर्माण-कला में भी भिन्नता होती है। पत्रिकाओं की निर्माण-कला के विषय पर अँगरेज़ी में बहुत-सी पुस्तकें हैं और पढ़ने के योग्य हैं। जान वेकलेस ने न्यूयार्क में एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका नाम 'मैगज़ीन मेकिंग' है। उन्होंने बतलाया है कि आधुनिक पत्रिकायें दो तरह की होती हैं—(१) जो किसी विशेष अभिप्राय, ध्येय या लक्ष्य—चाहे वह अभिप्राय राजनैतिक हो, चाहे शिल्प-विषयक, चाहे साहित्यिक या वैज्ञानिक ही—के सिद्ध्यर्थ प्रकाशित की जाती हैं उनका प्रसार व्यापक नहीं होता है और न उनकी आर्थिक सफलता ही पर अधिक ध्यान दिया जाता है। (२) दूसरी तरह की पत्रिकायें प्रथम तरह की पत्रिकाओं के बिलकुल प्रतिकूल होती हैं। इनमें समाचारों के अतिरिक्त उपन्यासों और कहानियों की बहुलता होती है।

एक प्रकाशन-कला-कुशल का कहना है कि बिना विज्ञापनों के आर्थिक सफलता असम्भव है। यह स्वतः सिद्ध है। पहले कुछ पत्रिकायें ऐसी थीं जो विज्ञापन नहीं स्वीकार करती थीं, पर वह समय और था, उस समय संसार की आर्थिक दशा और थी, अब कुछ और है। अब सभी देशों में विज्ञापन सफलता का मुख्य साधन समझा जाता है। पश्चिमीय देशों की किसी पत्रिका को देखिए। इस कथन की सत्यता प्रतीत हो जायगी।

उपर्युक्त पुस्तक में यह भी बतलाया गया है कि प्रकाशक भी दो तरह के होते हैं। प्रथम श्रेणी में वे हैं जो

प्रकाशन-कला में कार्य-कुशल होते हैं और यही व्यवसाय उनकी जीविका होता है। दूसरी श्रेणी में उनकी गणना है जो किसी क्षेत्र—जैसे राजनैतिक या सामाजिक—में विशिष्टता या श्रेष्ठता के इच्छुक होते हैं। इस कला में सिद्धहस्त न होने के कारण प्रायः ऐसे ही लोग असफल होते हैं, और इन्हीं का बर्ताव पत्रिका के सम्पादक और प्रकाशक के साथ विश्वास-रहित होता है। वे यह जानते ही नहीं हैं कि सम्पादक और प्रकाशक को किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनुभव की कमी रुपया से नहीं पूरी हो सकती है। उस पुस्तक में लिखा है कि एक पत्रिका के स्वामी ने पत्रिका के प्रसारार्थ चतुर और निपुण पुरुषों-द्वारा लिखे गये विज्ञापनों में अनावश्यक परिवर्तन करके अपनी बड़ी हानि की थी। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

सम्पादक पर बड़ी ज़िम्मेदारी होती है और तभी तक वह अपना काम अच्छी तरह सम्पादन कर सकता है जब तक उस कार्य में हस्तक्षेप न हो। एक दफ़े एक बड़ी पत्रिका के स्वामी ने कहा था कि मैं सम्पादकों का सम्पादन करता हूँ। वह कभी किसी सम्पादक के काम में बेमतलब दख़ल नहीं देता था। सम्पादक के बड़े कामों में एक यह भी बड़ा काम है कि वह जनता की रुचि का पता रखने के लिए सदैव यत्नवान् रहे। उसकी इतनी सूक्ष्म दृष्टि हो कि वास्तव में परिवर्तन होने के पहले ही वह परिवर्तित हो जाय। यह बिना अनुभव या नैसर्गिक ज्ञान के नहीं हो सकता। सम्पादकीय विषयों और प्रश्नों को निश्चित करने में सम्पादक को स्वच्छन्द होना चाहिए। एच० के० कार्टिस का कहना है कि सम्पादक ही पत्रिका की विवर्तन-कील है। "उचित सम्पादक नियुक्त करो और उचित पत्रिका प्राप्त होगी"। सम्पादक के मुख्य कर्तव्यों में यह भी बतलाया गया है कि उसकी दृष्टि पत्रिका के प्रसार पर सदैव रहे और वह देखता रहे कि पत्रिका में प्रकाशित उपन्यास, लेख, कविता इत्यादि को जनता कैसा पसन्द करती है। ऐसा न करने से पत्रिका को आर्थिक हानि पहुँचने की सम्भावना रहेगी। सम्पादक के इस कर्तव्य को अन्य देशों में 'वाणिज्य-ज्ञान' कहते हैं। योग्यताओं में मुख्य योग्यता सम्पादक की साहित्य-मर्मज्ञता है। पत्रिका के ग्राहकों को इससे कोई प्रयोजन नहीं रहता है कि पत्रिका की आर्थिक दशा कैसी है, उनका मतलब सिर्फ़ इस बात से रहता है कि पत्रिका कैसी प्रकाशित होती है। पढ़नेवाले के सम्मुख ये प्रश्न रहते हैं—(१) क्या पत्रिका शिक्षित-समुदाय के सुख और रुचि को परितोषित करती है? (२) क्या पत्रिका जीवित है? (३) पत्रिका प्राचीन समय के योग्य विचारों से मुँह तो नहीं मोड़े हुए है और अर्वाचीन विचारों का उसे ज्ञान है? (४) क्या पत्रिका में प्रकाशित विषय निर्जीव और उत्साह-रहित हैं? यह सत्य है, जैसा जान वेकलेस ने लिखा है कि सम्पादक को आधुनिक जीवन के गम्भीर और विनोदी दोनों पक्षों से परिचित होना चाहिए और सम्पादक में इस बात की भी योग्यता होनी चाहिए कि दोनों पक्षों पर लिखनेवालों का वह संग्रह कर सके। पत्रिका का भविष्य सबसे अधिक सम्पादक के विचारों पर निर्भर है। सम्पादक के विचारों और पत्रिका में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यदि एक को दूसरे का प्रतिबिम्ब कहें तो अत्युक्ति न होगी।

दूसरा मुख्य स्थान व्यवस्थापक सम्पादक का है। उसका कर्तव्य यह है कि वह देखे कि उचित समय पर लेखकों ने अपने लेख भेजे हैं और उचित समय पर उनके पास उनके लेखों के 'प्रूफ़' पहुँच गये हैं। यह भी उसका कर्तव्य है कि वह देखे कि पत्रिका ठीक समय पर प्रकाशित हो, ठीक समय पर समाचार-पत्र प्रतिनिधियों के पास पहुँच जाय और ठीक समय पर ही पुस्तकशालाओं में भेजी जाय। यह काम बड़ी योग्यता और सावधानी का है और इसका उचित रीति से सम्पादन होने से जनता को आक्षेप करने का अवसर नहीं मिलता है।

तीसरा स्थान 'साहित्य-सम्पादक' का है। इसका मुख्य काम पुस्तकों की समालोचना करना है। इसका यह भी काम है कि कहानियों को, धारावाहिक उपन्यासों को, निबन्धों और कविताओं को संकलित करे। यह बड़ा काम है और बड़ी सावधानी से करने के योग्य है, नहीं तो लेखक शीघ्र ही असन्तुष्ट हो जाते हैं।

चौथा स्थान 'कला-सम्पादक' का है। इसका काम यह बतलाया गया है कि वह चित्रकारों से मिलता-जुलता रहे, पत्रिका में चित्रों के उचित स्थान का सदैव ध्यान रक्खे, लेखों के लिए उचित चित्रों की खोज करे और इस विषय के सम्बन्ध के सभी कामों का सम्पादन करे। किसी चित्रकार ने मिल्टन का चित्र चित्रित किया था। उस समय उनकी अवस्था केवल २१ वर्ष की थी, परन्तु चेहरे के भावों से प्रकट होता था कि वह चित्र एक ४० वर्ष के बुड्ढे का है। फ़ोटो में भी प्रायः यह दोष पाया जाता है। इस कारण पत्रिका में प्रकाशित चित्रों आदि का निरीक्षण पहले अच्छी तरह कर लेना चाहिए।

पत्रिका के कार्यालय में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान मैनेजर का है। मैनेजर भी एक से अधिक होते हैं। इनमें प्रथम स्थान व्यवसाय-मैनेजर का है। इसका काम हिसाब रखना है और यह देखते रहना है कि चन्दा वसूल हो गया है या नहीं, और लेखकों को उचित समय पर उनका पुरस्कार मिल गया है या नहीं।

दूसरे मैनेजर का काम यह देखते रहना है कि पत्रिका का प्रसार कहाँ तक है और किस तरह बढ़ाया जा सकता है। ग्राहकों की समुचित संख्या को घटने न देने का प्रयत्न अत्यन्त कठिन काम है। जान वेकलेस ने ठीक कहा है कि ग्राहकों को ग्राहक बनाये रखने के लिए विशेष उपाय और युक्ति की आवश्यकता होती है, जैसे विज्ञापन, विशेष उपहार, विशेष पत्र इत्यादि। मैनेजर के अनुभवी होने की ज़रूरत है। प्रसार में कनवेसरों से बड़ी सहायता मिलती है। यह काम घर बैठे नहीं हो सकता। हमारे देश में शायद ही किसी पत्रिका के कनवेसर हों और उसी का परिणाम यह है कि हमारी पत्रिकाओं के सम्मुख सदैव आर्थिक समस्या उपस्थित रहती है।

विज्ञापन-मैनेजर का काम बड़ी योग्यता और सूझ-बूझ का है। उसी के उद्योग और उद्यम पर पत्रिका का आर्थिक जीवन निर्भर रहता है। न्यूनातिन्यून उसकी कोशिशों का यह परिणाम होना चाहिए कि उसका वेतन पत्रिका को भार न प्रतीत हो।

इसमें सन्देह नहीं है कि पत्रिका का प्रत्येक अङ्क नई पुस्तक के समान है, जिसके लिए कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक दृष्टि से सफलता होगी या निरी असफलता। ऐसे भी अवसर पत्रिकाओं के सामने आये हैं कि एक ही अङ्क ने पत्रिका के भविष्य को चौपट कर दिया है। पत्रिका के नियमित समय के प्रकाशन में विलम्ब का कारण प्रायः चित्रकार और लेखक होते हैं। एक अपने देश के सुयोग्य विद्वान् का नियम-सा था कि तब तक वे लेखनी नहीं उठाते थे जब तक सम्पादक की मांग चार-छः दफ़े नहीं आ जाती थी। अन्य देशों में एक दिन की भी देर घातक होती है।

पत्रिका के कार्यालय में दो और बड़ी अड़चनें होती हैं—पहली पत्रिका की 'कापी' तैयार करने में और दूसरी 'प्रूफ़' पढ़ने में। जान वेकलेस के मतानुसार 'कापी पढ़नेवाले' का महत्त्व 'प्रूफ़पढ़नेवाले' से अधिक है। यद्यपि उसका इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि अमुक लेख साहित्य-क्षेत्र में किस दृष्टि से देखा जायगा या पत्रिका की क्या नीति है। यह काम सम्पादक का है। 'कापी पढ़नेवाले' को बहुत कुछ यन्त्रवत् काम करना पड़ता है तो भी उसे बहुत बड़ी योग्यता, अनुभव और अवधान की आवश्यकता होती है। उसको सदैव अपना अविचलित ध्यान लेख के व्याकरण पर, काल और तिथियों पर, उद्धृत वाक्यों पर, विरामचिह्नों पर, परिच्छेदों के विभाग पर रखना पड़ता है। यह एक अनिवार्य आवश्यकता है। कोई लेखक अपनी छोटी त्रुटियों का संशोधन करने में कभी भी सफल नहीं हुआ है। लेखक लिखने के समय उत्पादक होता है न कि संशोधक। 'कापी पढ़नेवालों' की आवश्यकता डाक्टर जानसन और आलिवर गोल्डस्मिथ तक को प्रतीत हुई है। 'कापी पढ़नेवालों' की प्रशंसा में चार्ल्स डिकेन्स ने लिखा है कि मैं कृतज्ञतापूर्वक यह कह सकता हूँ कि मेरी कोई भी पुस्तक ऐसी नहीं है जिसे 'कापी पढ़नेवालों' के संशोधन करने के बाद मुझे यह न प्रतीत हुआ हो कि संशोधन बड़ी योग्यता से किया गया है और वास्तव में त्रुटियाँ रह गई थीं। यह काम बड़ी सावधानी का है। ऐसे भी अवसर आये हैं जब बड़ी भद्दी त्रुटियाँ

संशोधन करने से रह गई हैं। एक दफ़ा ब्रिटिश पार्लिमेंट के एक सदस्य ने अपने भाषण में कहा था कि अमुक वाक्य को समझना इतना ही कठिन है जितना ग्रीक के ओड्स (गीत) रिपोर्टर ओड्स को गोट्स (बकरे) लिख गया और वही प्रकाशित हो गया। लेखों से अधिक भाषणों के संशोधित करने में कठिनाई होती है। स्वर्गीय बाबू गंगाप्रसाद वर्मा इतनी जल्दी बोलते थे कि प्रायः उनके भाषण की रिपोर्ट त्रुटियों से भरी रहती थी। उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए एक पत्र ने लिखा था कि बाबू गंगाप्रसाद संक्षिप्त लेखन-कला की कसौटी थे। बाबू साहब के प्रतिकूल इँग्लैंड में ग्लैडस्टन और जान ब्राइट थे। इनके भाषणों की रिपोर्ट प्रायः ठीक छपती था। इन सबका ध्यान व्याकरण पर अधिक रहता था। विचारों में उलझन न होने के कारण भाषा स्पष्ट होती थी, और ये हर एक शब्द स्पष्ट बोलते थे।

'प्रूफ़' में घटाना-बढ़ाना लेखकों और भाषण-दाताओं का एक सहज अवगुण है। कहा जाता है कि बैलज़क और टाल्सटाय के उलट-फेर करने की कोई सीमा ही नहीं थी। एक यूनीवर्सिटी के एक प्रोफ़ेसर की भी यही हालत थी। किसी विद्यार्थी ने किसी विषय पर एक निबन्ध लिखा और उन प्रोफ़ेसर महोदय को दिखलाया। प्रोफ़ेसर ने उसे संशोधित कर दिया और कहा कि अब ठीक है। विद्यार्थी ने दस-पाँच दिनों के बाद उसी संशोधित निबन्ध की कापी करके फिर प्रोफ़ेसर को दिखलाया। प्रोफ़ेसर महोदय ने फिर जी खोल करके काट-छाँट की। तब विद्यार्थी ने कहा कि इसे आप संशोधित कर चुके थे। प्रोफ़ेसर साहब कुछ लज्जित हुए और कहा कि उस समय उनके विचार कुछ और रहे होंगे। कौंसिल के मेम्बरों की प्रायः इसी तरह की काट-छाँट करने की आदत होती है। ऐसे लेखकों के कारण भी पत्रिका की छपाई में बहुधा देर हो जाती है। जहाँ तक हो सके, इससे बचना चाहिए।

लेखों को सुरक्षित रखने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। कोई भी लेख शायद ही खोकरके कभी मिला हो। लेखकों का यह दुःखद अनुभव है। लेखों या पुस्तकों को अस्वीकार करने में भी सावधानी होनी चाहिए। बड़ी बड़ी पुस्तकें प्रायः शीघ्रता और क्षिप्रता से अस्वीकार कर दी जाती हैं। किपलिंग के प्रथम लिखित उपन्यासों को कोई प्रकाशक नहीं मिलता था। 'सेंचुरी' पत्रिका ने रिचर्डहार्डिंग डेविस की एक सुविख्यात कहानी को अस्वीकार कर दिया था। उमरखैयाम की रुबाइयों का अनुवाद भी जिसे फ़िट्ज़िरैल्ड ने किया था (जिसके लिए कहा जाता है कि किसी अनुवादक ने किसी पुस्तक के अनुवाद करने में इतना परिश्रम न किया होगा), छापने से अस्वीकार हुआ था। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। लेखकों के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपने लेखों का प्रतिलेख रख लिया करें। किसी लेख के स्वीकार या अस्वीकार करने के समय सम्पादक के सामने निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित होते हैं —(१) क्या अमुक लेख रोचक है? (२) क्या अमुक लेख उसी ढंग का है जैसे पत्रिका प्रकाशित करती है? (३) क्या अमुक लेख पत्रिका की नीति के अनुसार है? (४) अमुक लेख किसी विशेष समुदाय या संघ के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों को क्षति तो नहीं पहुँचाता है? (५) अमुक लेख पत्रिका के प्रसार का घातक तो नहीं होगा? प्रत्येक अनुभवी सम्पादक की दृष्टि इन प्रश्नों पर रहती है।

सम्पादक और लेखकों में मित्रता आवश्यक है। दोनों को एक दूसरे की कठिनाइयों का ज्ञान होना चाहिए। बिना परस्पर की सहायता और सहानुभूति के काम ठीक तौर से नहीं हो सकता। सम्पादक लेखकों के लेख पर अवलम्बित रहता है और लेखक सम्पादक के परामर्श पर। दोनों का उद्देश पत्रिका की सफलता है। प्रायः नये लेखक इस बात से रुष्ट हो जाते हैं कि उनके लेखों में काट-छाँट कर दी गई है, और प्रायः नये सम्पादक अनावश्यक काट-छाँट भी किया करते हैं। यह ख़याल रखना चाहिए कि लेखक के विचार भङ्ग न होने पावें और उनका प्रवाह अवरुद्ध न हो जाय।

बहुत कुछ सफलता का साधक लेख का शीर्षक होता है। यदि वह फीका है तो समस्त लेख अरुचि-कर

प्रतीत होगा। इसके कई उदाहरण जान वेकलेस ने अपनी पुस्तक में दिये हैं। एक पुस्तक की जिसकी बिक्री प्रतिवर्ष केवल ६,००० प्रतियाँ थी, ५०,००० प्रतियाँ हर साल बिकने लगीं जब उसके नाम में थोड़ा हेर-फेर कर दिया गया। लेखों के शीर्षक पर भी सम्पादक को विशेष ध्यान देना चाहिए। यह मेरा स्वयं अनुभव है कि एक सम्पादक को एक लेख लिखने से अधिक उसके शीर्षक के निश्चित करने में समय लगा था।

पत्रिका के कार्यालय में पुस्तकों की समालोचना का भी काम बड़ा महत्त्वपूर्ण है, यदि अधिक नहीं तो अल्प भी नहीं है, और बड़ा कठिन है। सम्पादक को किसी पुस्तक की समालोचना करते समय तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—(१) समालोचना से उस समुदाय की इच्छाओं की पूर्ति हो जानी चाहिए जो पुस्तक का नाम, प्रकाशक का नाम, पुस्तक का मूल्य इत्यादि जानना चाहते हैं (२) साधारण तौर से पुस्तकों के विषय का परिचय हो जाय (३) और यह ज्ञात हो जाय कि उन पुस्तकों का साहित्य में क्या स्थान होगा। अँगरेज़ी-भाषा में प्रायः पाठक समालोचना पढ़ने के पहले पुस्तक के नाम और विषय से परिचित होना चाहते हैं। इस अभिप्राय से कि समालोचना पढ़ने के पहले उनकी भी कुछ राय हो जिससे वे समालोचना की समालोचना कर सकें। पत्रिकाओं में समालोचना की बदौलत बहुत-सी पुस्तकें साहित्य के शिखर पर पहुँच गईं और बहुत-सी क्षयिष्णु पुस्तकें आज भी जीवित हैं। जो बुरी पुस्तकों की कड़ी आलोचना नहीं कर सकता वह अच्छी पुस्तकों की प्रशंसा भी नहीं कर सकता। यही मत जान वेकलेस का भी है। जेफ़रे ने कीट्स की 'एंडीमियन' नामक पुस्तक समालोचना करते हुए लिखा था कि जिसको इस पुस्तक में प्रशंसा करने और प्रसन्न होने की सामग्री न मिले उसे कोई अधिक सामग्री मिल्टन और शेक्सपियर की उच्च कोटि की कविता में भी नहीं मिलेगी। कितनी बड़ी प्रशंसा है और कितने अच्छे ढंग से की गई है! जान वेकलेस ने लिखा है कि बुरी पुस्तकों के सम्बन्ध में मौन धारण करना ही उचित है या उन पुस्तकों की कड़ी समालोचना करना केवल कर्तव्य ही नहीं, वरन एक बहुत बड़ा सुख है। प्रायः हम भारतवासियों पर यह दोषारोपण किया जाता है कि हम केवल पुस्तक के आधे या चौथाई पन्ने पढ़कर समालोचना कर देते हैं। यह दोष सभी देशों के समालोचकों में है। प्रोफ़ेसर ब्लिस पेरी से किसी सम्पादक ने सगर्व कहा था कि उसने एक घंटे में ग्यारह नवीन वैज्ञानिक पुस्तकों की केवल प्रस्तावना और विषय-सूची पढ़कर समालोचना की थी। अमेरिका की परिस्थिति का परिचय देते हुए स्टुअर्ट पी० शरमैन ने लिखा है—"आज-कल के साहित्य-समालोचक कौन हैं? या तो अशिक्षित संवाददाता या अतिभाराक्रान्त सम्पादक या किसी कालेज के रविवार के अध्यापक जिनको एक मीटिंग से दूसरी मीटिंग के बीच में जो समय मिलता है उसमें समालोचना लिखते हैं। और इसी कारण ऐसी समालोचनायें त्वरित और क्षिप्र होती हैं, जिनमें प्रमाण और मनोरमता दोनों का अभाव होता है"। डाक्टर केन्री ने लिखा है कि समालोचक में विद्वत्ता, निरीक्षण-शक्ति, निष्कपटता और उत्साह होना चाहिए, और सबसे बड़ा गुण समालोचक का यह है कि अपने विचारों में दम्भहीन हो और उनके प्रकट करने का साहस रखता हो।

यदि हम अपने देश की पत्रिकाओं की स्थिति पर ध्यानपूर्वक विचार करें और उनकी कठिनाइयों को भुला न दें तो प्रकट होगा कि महान् अड़चनों का सामना करते हुए भी किस योग्यता से वे प्रकाशित होती हैं। कहाँ पश्चिमीय देशों की सुविधायें, अपार धन-सम्पत्ति, और कहाँ हमारे देश के विघ्न और बाधायें और दरिद्रता—उनकी और हमारी क्या तुलना? मैं स्वयं जानता हूँ कि एक दैनिक समाचारपत्र के सम्पादक को महीनों सम्पादक, प्रकाशक, लेखक, समालोचक सभी का काम करना पड़ता था। ईश्वर से प्रार्थना है कि हमारे शिक्षित-समुदाय को पत्र और पत्रिकाओं से सहयोग करने और उनके उत्थान करने का सौभाग्य प्राप्त हो।



पागलपन

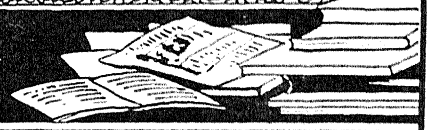
कुमारी रामेश्वरीदेवी गोयल, एम० ए०

सजनि ! है यह कैसा पागलपन ?
नीरव आँधी शून्य गगन में
मचल मचल वह जाती ।
शुष्क अधर की संचित लाली
झर झर झर झर जाती ॥
न रहता है किंचित् अपनापन,
सजनि ! है यह कैसा पागलपन ?

नयन हठीले सो सो जाते
मधुमय के मधुवन में ।
मनभावन आकर खो जाते
स्वप्नों की उलझन में ॥
न खोने पाता यों सूनापन
सजनि ! है यह कैसा पागलपन ?

पीड़ामय तन्द्रा में भी, सखि !
याद उसी की आती ।
निठुराई निर्मम के उर
चुभती, पर खोज न पाती ॥
सजनि ! क्या ऐसा ही है बन्धन ?
सजनि ! है यह कैसा पागलपन ?





नावक के तीर



‘आर्यमहिला’ ने अपने मार्गशीर्ष की संख्या में अँगरेज़ों में सद्गुण के सम्बन्ध में एक लेख लिखा है। उसमें उसने लिखा है कि—

अधिकारयुक्त शासन करने की योग्यता उन्हीं में है। दुरवस्था में भी अँगरेज़ सदा शासक-भाव से बात करेगा, दीनता नहीं दिखायेगा।

महिलायें स्वभावतः शासन और शासक को पसन्द करती हैं। ‘आर्यमहिला’ ने कदाचित् अपनी इसी स्वाभाविकता का इस तरह से प्रदर्शन किया है। महिला महोदया से मेरा निवेदन यही है कि उनकी बहनें इस सहज प्रवृत्ति का बायकाट कर रही हैं। वे स्वतन्त्र रहना चाहती हैं, अपने पैरों खड़ा होना चाहती हैं और शासक पति को अपना सेवक बना कर रखना चाहती हैं। किन्तु शायद ‘आर्यमहिला’ को इनसे सहानुभूति न होगी। वह अपने कुल-धर्म का ही पालन करना चाहती है।

× × × ×

‘साहित्य-सम्मेलन का छकड़ा’ शीर्षक लेख ‘वर्तमान’ में प्र[illegible]शित हुआ है। सहयोगी सभापति के निर्वाचन [illegible] करते हुए लिखता है—“कभी राजा-महाराजाओं [illegible]ला पकड़ने की हवा ज़ोर पकड़ती है, तो कभी व्यक्ति-[illegible] का सम्मान करके उऋण होने का नाटक खेला जाता है।” बौरहे की बात भइया, अरे अब तो दशा यह है कि राजे-महाराजे स्वयं ही सम्मेलन का पल्ला पकड़ना चाहते हैं। सभापति के सम्बन्ध में भी प्रायः दो वर्षों से कनवेसिंग का ज़ोर बँधने लगा है। सहायक, पालक, समर्थक जिसे देखिए, सर तोड़ परिश्रम के कारण मार्गशीर्ष के महीने में भी पसीने से तर है।

× × × ×

‘भारत’ में पंडित वेंकटेश नारायण जी तिवारी का स्वामी श्रद्धानन्द के सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेख में आपने एक स्थान पर लिखा है—“यह स्त्रियों का ज़माना है। आज मुश्किल से कोई पढ़ा-लिखा हिन्दुस्तानी मिलेगा जो स्त्रियों के अधिकारों का समर्थक न हो।” सादर क्षमा माँगते हुए तिवारी जी के कानों में बहुत धीरे से इतना ही कहना चाहता हूँ कि सुनते हैं और कुछ कुछ देखते भी हैं कि स्त्रियों के युग के नाटक का अन्तिम पर्दा गिर चुका है या गिर रहा है और बच्चों के युग के उषा-काल की लालिमा से आकाशमंडल रंजित है। अगर स्त्रियों का ज़माना एक-दम ख़त्म नहीं भी हुआ तो भारत की पुरानी कहावत “चार मास ऋतु आगे धावे” के अनुसार यह मान लेना अनुचित न होगा कि बच्चों के युग का दौर-दौरा शुरू हो गया है। आप कृपा कर इसलिए वर्तमान काल को ‘स्त्रियों के ज़माने’ के

नाम से न याद करिए, यह हिन्दी के अन्य लेखकों के लिए रहने दीजिए, क्योंकि संसार से वे सौ वर्ष पीछे रहना ही पसन्द करते हैं।

× × × ×

"हिन्दी और उर्दू का भावी पृथक्करण अनिवार्य है। बोलचाल की 'हिन्दुस्तानी भाषा' साहित्यिक प्रयोजनों के लिए नितान्त अपर्याप्त है, फलतः शब्दभाण्डार को बढ़ाने के लिए विवश हो दूसरी भाषाओं के पास हाथ पसार कर जाना होगा, और जाते ही एकीकरण की अवश्यम्भावी असफलता प्रकट हो जायगी।" 'सरस्वती' की जुलाई की संख्या में कदाचित् आत्मस्वरूप जी शर्मा ने उपर्युक्त विचार प्रकट किये हैं। इस सम्बन्ध में लिखते हुए दिसम्बर की सरस्वती में श्री मुरलीमनोहर गुप्तारा, एम० ए०, आक्सफ़ोर्ड, ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"विदेशी भाषाओं के शब्दों का ग्रहण बहुत ही अनिवार्य होने पर करना चाहिए। दांत फैला और आँखें मीच कर हर शब्द का स्वागत करना अपनी भाषा की हत्या करना है। शब्द-सृजन चाहिए। उधार लेकर हमारी भाषा दूर नहीं चल सकती।"

मैं क्या कहूँ, मैं तो दोनों ही सज्जनों से सहमत नहीं हूँ। मैं यह नहीं मान सकता कि बोल-चाल की हिन्दुस्तानी भाषा साहित्यिक प्रयोजनों के लिए नितान्त अपर्याप्त है। अभी उसमें कमियाँ हैं। किन्तु जितना हम देहात के निकट जायँगे, और जनता की वास्तव में भाषा बना देने का प्रयत्न करेंगे, यह भाषा सर्वथा पर्याप्त सिद्ध होगी। हाँ, संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के फेर में अगर पड़े तो हिन्दी और उर्दू सदा अलग भी रहेंगी और पिछड़ी भी रहेंगी। मुरलीमनोहर जी से इतना ही निवेदन है कि उधार लेकर भी भाषा उन्नति कर सकती है। अगर ख़याल इतना रक्खा जाय कि उधार-स्वरूप जो कुछ लिया जाय, वह अपनी स्वदेशी की टकसाल में ढाल लिया जाय। और भद्दी ही सही, परन्तु उस पर स्वदेशी की मुहर हो।

× × ×

हिन्दी की एक पत्रिका को इसका खेद है कि "ओटावा के समझौते से भी यहाँ का व्यापार नहीं चेता और न इन समझौतों से ही चेतेगा जो अभी शिमले में हुए हैं।" शिमले का समझौता ओटावा के ढँग का, उसी की नीति का, एक बच्चा है। जब ओटावे के समझौते से व्यापार नहीं चेता तब फिर शिमले के समझौते से क्या हो सकता था। इन समझौतों से भारत का व्यापार सँभल भी नहीं सकता। भारत के व्यापार के सँभलने के लिए तो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की ज़रूरत है। ज़रूरत इसकी है कि देश की राजनैतिक स्थिति में भारी परिवर्तन हो। साथ ही समझौता अमेरिका, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, जापान आदि से हो।

× × × ×

किन्तु व्यापार केवल इतने से भी न चलेगा। संसार इस समय सामूहिक उत्पादन, आवश्यक से अधिक पैदा करने और कलपुर्ज़ों के प्रयोग की बहुतायत का शिकार हो रहा है, भौतिक विज्ञान की अभिवृद्धि ऐसी अन्ध गलियों में हमें लेती बढ़ती जा रही है, जहाँ अँधेरा है और रास्ता नज़र नहीं आता। हम स्वार्थ और भय से त्रस्त हैं। इस समय अगर हम लोग मंगल के ग्रहमंडल को पहुँच सकें तो कुछ समय की ख़ुशी के बाद ही हमें यह फ़िक्र सताने लगेगी कि कहीं मंगल-ग्रह के निवासी हम लोगों पर बम न गिराने लगें, हमारा नाश न कर दें और हम फ़ौरन विज्ञान की सहायता से मंगल-ग्रह के निवासियों को क़ाबू में करने, उनको दबाये रखने या उनका नाश ही करने की फ़िक्र में पागल हो जायँगे। हमारी ये ही प्रवृत्तियाँ हमारे नाश का कारण बन रही हैं। अभी क्या है, अभी तो रूस ही बाज़ार में आया है, ज़रा चीन और भारत को भी कलपुर्ज़ों के सहारे अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा करने दीजिए। देखिए फिर व्यापार की दशा क्या होती है और यह संसार कहाँ रहता है?

—एक 'तीरन्दाज़'





जाग्रत महिलायें

अमरीका का मातृ-कार्य

श्रीमती सूर्यदेवी अनूपकार

सरस्वती के पाठकों को श्रीमती सूर्यदेवी अनूपकौर का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। ये अपने पति श्रीयुत सेंट निहालसिंह की ही भाँति संसार-विख्यात लेखिका हैं। यह लेख इन्होंने ख़ास तौर से सरस्वती के लिए लिखा है।



अधिकांश देशों की सरकारें सभ्य समझी जाने की इच्छा से पशुओं की देख-भाल के लिए ब्यूरो खोले रहती हैं। साधारण रीति से ये ब्यूरो कृषि-विभाग के अंगीभूत रहते हैं। ये ब्यूरो उन पशुओं के सम्बन्ध के आँकड़े संग्रह करने का काम करते हैं जो भिन्न भिन्न रीति से मनुष्यों के बड़े काम के होते हैं। अपने दूध तथा दूध की दूसरी वस्तुओं से, माल-असबाब ढोकर, खेती-बारी जोतकर, धुनने, कातने और कपड़ा तथा कम्बल बुनने के लिए ऊन या बाल देकर ये पशु उन्हें लाभ पहुँचाते हैं। इन ब्यूरोओं की निगरानी में पालतू पशुओं को स्वस्थ रखने और जिन रोगों के वे उपाय करने पर भी शिकार हो जाते हैं उनसे उनको मुक्त करने के लिए संस्थायें खुली हुई हैं। इस सम्बन्ध में बड़ी बड़ी रक़में ख़र्च की जाती हैं—विशेषकर उन छूत के रोगों को दूर करने के लिए जो सारे पशुओं को विनष्ट करने को फूट निकलते हैं। इस बात का भी अधिक प्रयत्न किया जाता है कि गायों-बैलों, घोड़ों-ऊँटों, भेड़ों-बकरियों, मुर्ग़ियों और सूअरों की नस्लें उन्नत हों। इस उद्देश के लिए कभी कभी मूल्यवान् नर ख़रीद कर लाये जाते हैं।

इसी प्रकार राष्ट्र के दूसरे प्रकार के अर्थ-सम्बन्धी साधनों की संरक्षा, उन्नति और उनका उपयोग करने के लिए सरकारों-द्वारा संस्थायें स्थापित की गई हैं।

परन्तु किसी सरकार ने इस प्रकार का कोई ऐसा अलग ब्यूरो नहीं खोला है जो बच्चों की भलाई की देख-रेख रखता हो, बच्चों के जीवन पर भला या बुरा प्रभाव डालनेवाली भिन्न भिन्न बातों के मूल कारणों के जानने के लिए यत्नवान् रहता हो; शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक बुराइयों का बच्चों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है उसको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूर करता हो, बच्चों के जन्म लेनेवाले वायुमण्डल के सुधारने में ऐसे उपायों से काम लेता हो कि वे अपनी पूरी सीमा तक बढ़ सकें। और बच्चे किसी भी राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं—पशुओं, या मछलियों, जंगलों या वनस्पतियों, खनिजों या अन्न से कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। केवल उन्हीं के द्वारा कोई राष्ट्र जीवित रह सकता तथा बढ़ सकता है—संसार की दृष्टि में आदर प्राप्त कर सकता है।

निस्सन्देह इस बात का अनुभव करने में उतना विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि बच्चों के आगे पशुओं को महत्त्व देना किसी भी राष्ट्र के लिए संकुचित नीति मानी जायगी। तो भी संसार में ऐसे कितने राष्ट्र हैं—जो राष्ट्र अपने को सभ्य समझते हैं और जो यदि उनसे कोई कहे कि तुम असभ्य हो तो बुरा मान जायँगे—जो इस आत्महत्यावाली नीति का अनुकरण नहीं करते हैं ?

अमरीका के संयुक्त-राज्यों के स्त्री-पुरुष भविष्य जान लेने की अलभ्य शक्ति से सम्पन्न हैं और अपनी उस शक्ति की रक्षा करने के लिए वे अपने भरसक प्रयत्न करने के लिए अपने भीतर अदम्य इच्छाशक्ति का अनुभव करते रहते हैं। लगभग बीस वर्ष हुए, उन्होंने अपने सह-नागरिकों को उपर्युक्त अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु की—जीवित राष्ट्रीय वस्तु की—उपेक्षा करने की भूल का अनुभव करा देने में सफलता प्राप्त की। वाशिंगटन की कांग्रेस में एक ऐसी एजेंसी क़ायम करने के लिए जो सारे देश के बच्चों के जीवन पर प्रभाव डालनेवाली अवस्थाओं की जाँच करे और उनमें सुधार करने के लिए सारे उपायों का प्रयोग करे, एक क़ानून का मसविदा उपस्थित किया गया।

संयुक्त-राज्यों के तत्कालीन राष्ट्रपति मिस्टर विलियम टाफ़्ट ने इस क़ानून के प्रति अपनी व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित की। कांग्रेस और सीनेट के रिपब्लिकन दल के सदस्यों ने अपने दल की परम्परा के अनुसार अपने मनोनीत नेता का अनुसरण किया। डेमोक्रेटिक दल के सदस्यों ने भी इस सामाजिक क़ानून का यद्यपि यह उनके विरोधी दल के द्वारा उपस्थित किया गया था, समर्थन करके अपनी सद्बुद्धि का ही परिचय दिया। अतएव उक्त क़ानून दोनों हाउसों से सरलता के साथ पास हो गया। १९१२ की ९वीं अप्रेल को राष्ट्रपति ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। तब से वह क़ानून वहाँ जारी है और उसके अनुसार ज़ोरों से काम हो रहा है।

उक्त क़ानून बहुत व्यापक है और उसके इस रूप का विशेष उद्देश भी है। उसके अनुसार बच्चों का जो ब्यूरो वहाँ खोला गया है उसे कांग्रेस ने खोज करने तथा उसकी रिपोर्ट मज़दूर-मंत्री को भेजने का आदेश किया है। यह ब्यूरो मज़दूर-विभाग के मंत्री के अधीन ही रक्खा गया है। इसका कार्य—(१) सभी श्रेणियों के बच्चों और उनके जीवन की भलाई से सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की रिपोर्ट करना और (२) बच्चों की मृत्यु तथा उत्पत्ति के औसत, अनाथालयों, अपराधी बालकों की अदालतों,



[श्रीमती सूर्यदेवी अनूपकौर (मिसेज़ संट निहालसिंह) पंजाबी वेष में]

बच्चों को छोड़ देने की बातों, भयंकर पेशों, बच्चों की दुर्घटनाओं, बच्चों के रोगों, बच्चों के सम्बन्ध के क़ानूनों और उनकी जीविका के सब रूपों की गहराई के साथ वैज्ञानिक ढंग से जाँच करना है। इस क़ानून के बनानेवालों ने इस बात का पहले से ही ध्यान रक्खा था कि स्थापित होनेवाले ब्यूरो की कार्यवाही की रिपोर्टें कहीं सरकारी भाण्डार-गृहों में बन्द न पड़ी रहें। अतएव उन्होंने यह नियम बना दिया है कि ब्यूरो के प्रधान को चाहिए कि वह मज़दूर-मंत्री के आदेश के अनुसार की गई अपनी खोज के परिणाम पुस्तकाकार प्रकाशित किया करे। इन परिणामों का प्रचार करने के लिए समुचित रूप से व्यय का भी प्रबन्ध कर दिया गया है।

फलतः विज्ञप्तियों तथा पुस्तिकाओं के रूप में इस विषय की जो साहित्य-धारा वहाँ बह निकली है वह राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

कांग्रेस के प्रतिनिधियों और सीनेट के सदस्यों ने उक्त क़ानून में संरक्षणों की व्यवस्था करके बुद्धिमानी का काम किया है। उनके कारण बच्चों का उक्त ब्यूरो अत्याचार का साधन नहीं बन सकता है। उसकी एक धारा के अनुसार ब्यूरो के प्रतिनिधि, एजेंट तथा कोई भी अधिकारी किसी ऐसे घर में नहीं घुस सकेंगे जिसके स्वामी को आपत्ति होगी। इस प्रकार ब्यूरो से सम्बन्धित कोई भी व्यक्ति अपना कार्य सञ्चालित करने के लिए सिद्धान्त रूप में—वस्तुतः एक-मात्र साधन-रूप में—विनम्र व्यवहार का ही उपयोग करने को बाध्य है।

निस्सन्देह यह नहीं कहा जा सकता कि सभी अवस्थाओं में यह कार्य-पद्धति कारगर सिद्ध होती है। नहीं होती है और नहीं हो सकती है। क्योंकि कोई भी उलटी समझ का आदमी अपनी इच्छा-मात्र से खोज के काम में सुविधायें देने से इनकार कर सकता है और उसका यह ख़राब नमूना दूसरों के अनुकरण का कारण हो सकता है।

परन्तु दूसरे उपाय ही क्या हैं? तर्क के लिए हम कह सकते हैं कि राज्य ने सामाजिक सुधार के लिए बनाई गई संस्था के एजेंट को इस बात का अधिकार दिया है कि वह बलपूर्वक उस घर में घुस जाय जहाँ वह न जाने पाता हो। ऐसी अवस्था में क्या पूरी पूरी और सच्ची सूचनायें तत्काल मिल जायँगी? क्या उस घर के निवासी नागरिकों और राज्य में सहयोग होगा? ऐसे परिदर्शन के परिणाम-स्वरूप क्या उन नागरिकों में सन्तोष या प्रशंसा का भाव जाग्रत होगा? इन प्रश्नों में किसी का भी उत्तर हाँ में नहीं होगा। अनिच्छुक नागरिकों से बलपूर्वक जो सूचना प्राप्त की जायगी वह अपूर्ण और सदोष होगी। उनके आधार पर निकाले गये परिणाम अविश्वसनीय होंगे।

जो लोग तङ्ग किये जायँगे वे रुष्ट हो जायँगे। अपने इन प्रयत्नों के द्वारा राज्य जो भलाई करना चाहता है उसकी प्रशंसा करने के स्थान में वे उसे गृह-शान्ति का विनाशक समझ कर उसको अभिशाप देंगे। और उन लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा जो इस प्रकार बलपूर्वक सूचना प्राप्त करने के आदी हो जायँगे? यदि वे सचमुच अपने नाम के अनुसार स्त्री और पुरुष होंगे तो वे अपने उस काम को घृणा की दृष्टि से ही देखेंगे। उसके करने में, यहाँ तक अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, वे किसी हद तक निकृष्ट बन गये होंगे। यदि इसके विपरीत वे उत्पीड़न के साधन बनने में प्रसन्न होंगे तो वे शीघ्र ही उस ढंग के अत्याचारी बन जायँगे, जैसे हम जंगलियों तथा अर्द्ध सभ्यों के सम्बन्ध की पुस्तकों में पढ़ते हैं। वे उस राज्य में किसी काम के नहीं हो सकते जो कम से कम अपने कथनानुसार जनता की इच्छा से जनता की भलाई के लिए चल रहा है।

परन्तु जब किसी ब्यूरो को क़ानून-द्वारा यह भार सौंपा जाता है कि वह सामाजिक तथा जाति-सम्बन्धी समुन्नति के कार्य में अपनी शक्तियाँ लगाये तब वह लोगों का सहयोग प्राप्त करके ही अपने कर्तव्य का पालन करने को बाध्य होता है, वह उपर्युक्त दोषों की केवल उपेक्षा ही नहीं करता है, किन्तु वह आवश्यकतावश अत्यन्त ही लाभदायक शिक्षात्मक प्रचार-कार्य में संलग्न हो जाता है। जितना ही अधिक वह समाज का सहयोग प्राप्त करेगा, उतनी ही अधिक दृढ़ता उसके अस्तित्व को प्राप्त

होगी। और वह सहायता तभी प्राप्त हो सकेगी जब ब्यूरो अपने उद्देश और लक्ष्य लोगों को बोधगम्य और उत्साह-जनक भाषा में समझायेगा।

संयुक्त-राज्यों में इस विषय का जो अनुभव बीस वर्ष में प्राप्त किया गया है उससे उक्त ब्यूरो की उपयोगिता पूर्ण-रूप से सिद्ध हो गई है।

वाशिंगटन का उक्त बच्चों का ब्यूरो कम से कम एक बात में अनूठा रहा है। प्रारम्भ से अब तक उसका सञ्चालन स्त्री के ही हाथों में रहा है। ब्यूरो का प्रधान पद एक स्त्री को देकर राष्ट्रपति टाफ़्ट ने अपनी प्रतिभा का ही परिचय दिया था। ऐसा करके उन्होंने महत्त्वपूर्ण सरकारी पदों पर पुरुषों के नियुक्त करने की प्रचलित पद्धति को तोड़ा था। इससे अधिक उपयुक्त और क्या हो सकता है कि राष्ट्र के बच्चों की देख-रेख अर्थात् मातृत्व का कार्य एक स्त्री के ही सिपुर्द हो।

मिस्टर टाफ़्ट ने शिकागो की मिस जूलिया लैथ्रोप को इस पद पर नियुक्त किया। इसी शिकागो के समीप मेरा जन्म हुआ था और इसी नगर में मैं वर्षों तक पत्र-कार का काम तथा सार्वजनिक सेवा करती रही हूँ।

उक्त चुनाव से अधिक अच्छा और नहीं हो सकता था, और वह एक-मात्र योग्यता के विचार से किया गया था। मिस लैथ्रोप वर्षों से शिकागो में ग़रीबों और रोगियों की सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं। हुल हाउस की मिस जेन एडम्स ने उनके कार्य में उनका बहुत अधिक साथ दिया था। मिस्टर टाफ़्ट के पूर्ववर्ती प्रेसीडेंट थियोडोर रूज़वेल्ट ने उनको अमरीका का 'प्रथम नागरिक' कहकर उस समय प्रशंसा की थी जब अमरीका में स्त्रियाँ प्रान्तीय या केन्द्रीय चुनावों में वोट नहीं दे सकती थीं। मेरे अंगीकृत देश भारत की भी स्त्रियाँ 'प्रथम नागरिक' ही कही जायँगी, क्योंकि इन्हें भी वोटाधिकार नहीं प्राप्त है। मिस लैथ्रोप ने उस समय विशेष रूप से उन पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की सहायता की थी जो योरप से वहाँ बसने आये थे। उन्होंने उन लोगों को भी स्वास्थ्य और प्रसन्नता प्रदान करने का प्रयत्न किया जो विपरीत परिस्थिति के कारण नगर के अत्यन्त गन्दे, घने बसे और रोगाक्रान्त अञ्चल में रहने को बाध्य थे।

उन्होंने उन लोगों की महत्त्व की सेवा का कार्य अपने ऊपर ले लिया था जो जनता के दान पर अपना जीवन यापन करते थे। जो लोग जनता तथा व्यक्तियों से सहायता की प्रार्थना करते थे उनका परिचय जानने के लिए शिकागो में एक ब्यूरो स्थापित किया गया था। ऐसे सहायताकांक्षी लोग उस ब्यूरो के पास भेज दिये जाते थे जो उनकी सत्यता की जाँच करता था। यदि वे सहायता के पात्र समझे जाते थे तो उनकी यथाशक्ति सहायता ब्यूरो करता था। इस प्रकार जिस व्यक्ति की सहायता की जाती थी या जो सहायता के लिए याचना करता था उसका पूरा लेखा ब्यूरो रखता था।

शिकागो में साहित्यिक कार्य करते समय मुझे मिस लैथ्रोप की कार्य-पद्धति देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। वे बड़ी दयालुहृदय और उससे बढ़कर कार्यकुशल थीं। उन्होंने अपने आपको समृद्धिपूर्ण करने का प्रयत्न कभी नहीं किया, किन्तु दीन-दुखियों को अपना काल-यापन करने और उनमें से कुछ को फलने-फूलने देने के काम में पूरी सहायता की। मैंने देखा कि वे मानव-स्वभाव के परखने में बहुत ही प्रवीण थीं और उनको सभी प्रकार की समस्याओं का पूरा ज्ञान था। वे जीवन की दुर्घटनायें सदैव देखती रहती थीं, तो भी उनमें अपने को स्थिर रखने की क्षमता थी और वे कभी निराश नहीं होती थीं।

अतएव जब सन् १९१२ के वसन्त में प्रेसीडेंट टाफ़्ट ने मिस लैथ्रोप को ब्यूरो का कार्य-भार ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया तब मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन पर बहुत भारी ज़िम्मेदारी लाद दी गई। यदि छः और उसके नीचे की उम्र के बच्चे ही केवल लिये जायँ तो १,२६,६७,००० बच्चों का भार उन पर आ गया था। परन्तु यदि उम्र की शर्त १६ वर्ष की कर दी जाय तो उनकी संख्या ३,१२,२०,००० होगी।

उस बड़े कार्य का—इतने बड़े कार्य का भार तब तक किसी स्त्री को नहीं सौंपा गया था—भार ग्रहण करके उन्होंने आडम्बरपूर्ण सर्कुलर पर सर्कुलर निकाल कर

दम्भ नहीं किया और न झूठी आशायें बँधाकर लोगों पर उनके द्वारा आतंक ही जमाया। इसके स्थान में वे जाकर चुपचाप अपने काम में लग गईं। और यह बात उन्होंने वहाँ की जहाँ सभी श्रेणियों और स्थितियों के कार्यकर्ता कीर्ति की कामना सबसे पहले करते हैं।

सबसे पहले उन्होंने वहाँ के बच्चों की आवश्यकताओं की जाँच-पड़ताल की। और उन अवसरों की भी जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अस्तित्व में थे। उन्होंने आनेवाली कठिनाइयों और मिलनेवाली सहायताओं को भी ध्यान में रख लिया।

जब वे इन दिशाओं में स्थूल जांच-पड़ताल कर रही थीं, उसी समय कार्य-सञ्चालन के लिए कार्यालय स्थापित करने और उसकी कार्य-प्रणाली पूर्ण करने के काम में भी संलग्न थीं। इस प्रकार मिस लैथ्रोप ने परिश्रमपूर्वक कुछ वर्षों तक कार्य करने के बाद अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। वे थक गई थीं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी।

अधिकारियों ने फिर उस पद के लिए एक स्त्री को ही नियुक्त किया। मिस ग्रेस अबाट उक्त ब्यूरो में उसके जन्म-काल से ही थीं। उन्होंने अपने प्रधान मिस लैथ्रोप की उनके कार्य में अपनी शक्ति भर सहायता की थी। जैसा कि लोगों को आशा थी, इनके निरीक्षण में ब्यूरो की कार्यवाही बढ़ती ही गई। फलतः बच्चों की भलाई के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक बहुमूल्य बातों का पता लगा। जो परिणाम निकाले गये उनकी विशेषज्ञों ने सावधानी से जाँच की। वे परिणाम अब उन लोगों को सुलभ हैं जो अपने राष्ट्र के बच्चों की भलाई करने से अनुराग रखते हैं।

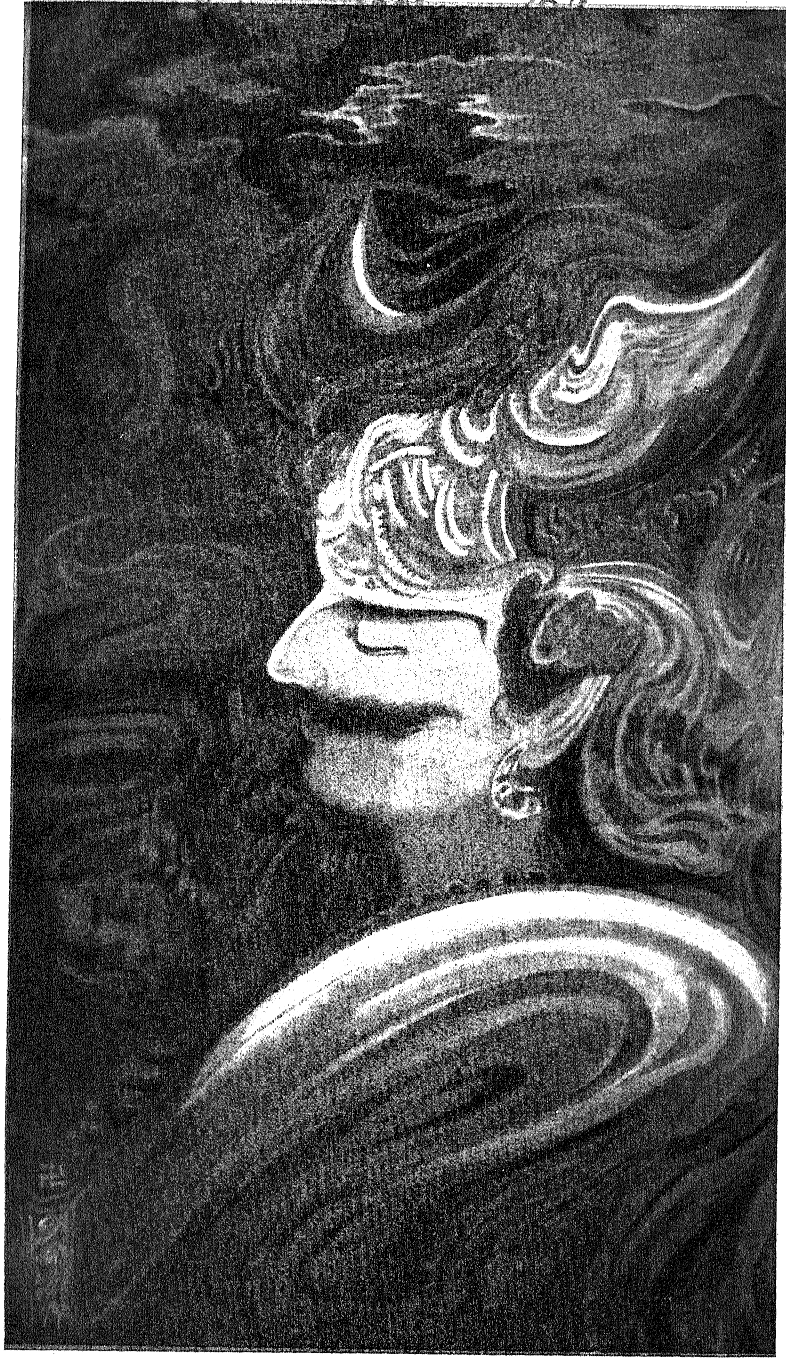
पहले-पहल जो जांच-पड़ताल हुई थी उसमें से एक जांच के अनुसार संयुक्त-राज्यों में रहनेवाले २१ वर्ष की आयु तक के बालकों और बालिकाओं की संख्या के अंक एकत्र किये गये थे। वे संख्या में लगभग ४,१०,००,००० निकले थे। इस सम्बन्ध की रिपोर्ट में उनके सम्बन्ध की ये दूसरी बातें भी कि वहाँ के भिन्न भिन्न राज्यों में उनकी कितनी संख्या है, उनकी जाति क्या है, वे कहाँ के निवासी हैं और उनके माता-पिता कौन हैं, ब्योरेवार दी गई थीं। उसमें शहर और देहात के बच्चों की संख्यायें भी अलग दी गई थीं।

एक दूसरी जाँच-द्वारा मज़दूरी करनेवाले बच्चों के भी आँकड़े एकत्र किये गये थे। इन आंकड़ों में बालक और बालिकाओं तथा उनकी उम्र के आंकड़े पृथक् पृथक् लिखे गये थे।

अनुभवी समाजतत्त्ववेत्ताओं-द्वारा भी अलग अलग इस बात की जाँच की गई थी कि कारखानों या दूसरी जगहों में भिन्न भिन्न उम्र के मज़दूरी करनेवाले बच्चों पर उनके परिश्रम का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसी जाँचों के परिणामों का पैंफ़्लेटों-द्वारा ख़ूब प्रचार किया गया। इसके फल-स्वरूप क़ानून बनाये गये और दूसरे उपाय भी काम में लाये गये। इस प्रयत्न से ऐसे हज़ारों बच्चों की रक्षा हुई जिनका मनुष्य के स्वार्थ की वेदी पर बलिदान हो रहा था।

इसी प्रकार बच्चों की असामयिक मृत्यु की अवस्थाओं की भी जांच हुई। इस जांच से प्रकट हुआ कि वहाँ प्रतिवर्ष एक वर्ष की आयु से कम के कोई तीन लाख बच्चे एक न एक कारण से मर जाते हैं। उक्त ब्यूरो को विश्वास है कि यदि लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने लगें तो इन बच्चों में से आधे तो ज़रूर ही जीवित रह सकेंगे। अनुभव से प्रकट होता है कि बुरी अवस्था में पालित-लालित होनेवाले जो अनेक बच्चे बच जाते हैं वे फिर बलिष्ठ तथा तेजस्वी नहीं हो पाते। इस प्रकार सारे समाज के स्वास्थ्य पर इस अवस्था का भयंकर प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा उसे रोगियों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था करने के लिए अर्थ-व्यय करना पड़ता है। क्या धन और क्या समाज की स्थिति, दोनों दृष्टियों से राष्ट्र की भारी हानि होती है।

उक्त ब्यूरो अपने जन्मकाल से ही इस बात पर ज़ोर डालता रहा है कि यदि बच्चे अच्छे ढंग से उत्पन्न हों और उनकी ठीक ठीक देख-रेख हो तो बच्चों की मृत्यु-संख्या नहीं के बराबर हो जाय। उसने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि बच्चों की मृत्यु-संख्या इस बात के जानने



महानवीर वाजी प्रभु

[चित्रकार श्रीप्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय

का अचूक स्टैंडर्ड प्रस्तुत करती है कि माता-पिताओं की सच्चरित्रता, बुद्धिमत्ता और स्वास्थ्य कैसा रहा है तथा शिक्षकों, स्वास्थ्य-विभाग के अधिकारियों, चिकित्सकों, दाइयों की कैसी योग्यता रही है।

उक्त ब्यूरो केवल बच्चों के जीवन-सम्बन्धी अवस्थाओं का ही परिचय नहीं प्राप्त करता रहा है, किन्तु उन अवस्थाओं से व्यवहार करने के मार्ग का भी वह निर्देश करता रहा है। और इस पिछली बात के सम्बन्ध का उसका कार्य महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक हुआ है।

उदाहरण के लिए मैं तत्सम्बन्धी उसके साहित्य का ही यहाँ उल्लेख करती हूँ। बच्चों की मृत्यु घटाने और उनका शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सुधारने के विचार से ही उसने वैसा साहित्य निर्माण किया है। इस विषय की छोटी छोटी पुस्तिकायें विशेषज्ञों से लिखाई गई हैं और वे इस ढंग से लिखी गई हैं कि साधारण शिक्षित भी उन्हें भले प्रकार समझ सकता है। उनका मूल्य भो इतना कम रक्खा गया है कि ग़रीब से ग़रीब आदमी उन्हें ख़रीद सकता है।

उक्त ब्यूरो ने अपनी उद्देश-सिद्धि के लिए संसार के दूसरे देशों के अनुभवों का उपयोग करने में चूक नहीं की है। उदाहरण के लिए मैं यहाँ एक विज्ञप्ति का उल्लेख करूँगी। उसने एक विज्ञप्ति प्रकाशित करके संक्षेप में यह बतलाया है कि बच्चों की मृत्यु कम करने के लिए न्यूज़ीलेंड में सार्वजनिक संस्थायें तथा व्यक्तिविशेष कितने महत्त्व का कार्य कर रहे हैं। वास्तव में इस क्षेत्र में यह देश संसार के अन्य देशों से बहुत आगे है।

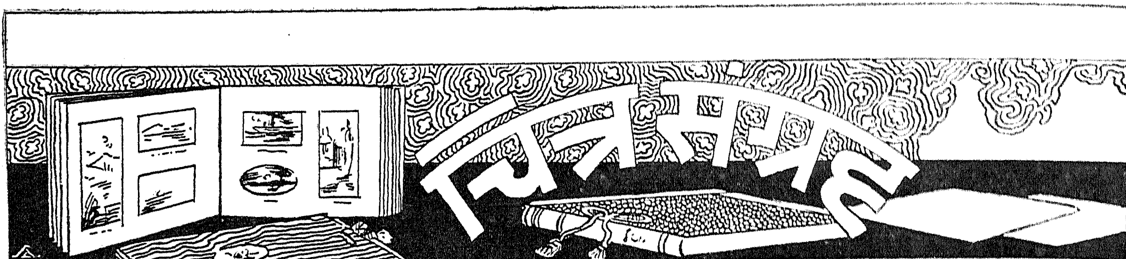
जो बच्चे स्वाभाविक स्थिति से हीन या बढ़े रूप में उत्पन्न होते हैं उनके सम्बन्ध में ब्यूरो ने बहुत कुछ महत्त्व का कार्य किया है। स्वाभाविक अवस्था से हीन रूप में उत्पन्न होनेवाले बच्चे जन्मजात दोष या माता-पिता की मूर्खता, असावधानी या दरिद्रता से अथवा रोग या दुर्घटना से शारीरिक या मानसिक त्रुटिवाले होते हैं, अतएव उनकी देख-रेख की विशेष आवश्यकता रहती है।

इसके सिवा जो बच्चे स्वाभाविक स्थिति की अपेक्षा बढ़े हुए रूप में उत्पन्न होते हैं उनमें पशु-भावनायें अधिक मात्रा में होती हैं, अतएव वे बुराई में पड़ जा सकते हैं। या उनमें ऐसा पैतृक स्वभाव आ जाता है जो उन्हें चोरी करने या किसी पर अत्याचार करने को उत्तेजित करता है। या वे अपने माता-पिता की अयोग्यता, उदासीनता या लोभ से दूषित परिस्थितियों में डाल दिये जाते हैं, जहाँ उनका दुष्ट स्वभाव और भी पक्का हो जाता है और वे यथासमय समाज के शत्रु बन जाते हैं। उनकी भी देख-रेख करनी चाहिए और उन्हें उनके बिगाड़नेवालों से बचाना चाहिए।

बच्चों के भिन्न भिन्न ऐसे अस्वाभाविक रूपों का विशेषज्ञों ने परिश्रम के साथ परीक्षण किया और उन्हें यह क्षेत्र बहुत विस्तृत ज्ञात हुआ। मैं यहाँ स्थानाभाव से इसकी मुख्य मुख्य बातों का भी उल्लेख नहीं कर सकूँगी। और न संस्थाओं तथा लोकहितैषी व्यक्तियों की कार्य-विधि का ही परिचय दे सकूँगी जो इस क्षेत्र में इसके कारणों के अन्वेषण और उनके दूर करने का कार्य कर रहे हैं।

परन्तु यह सब कार्य व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों के लिए बहुत उपयोगी है। इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए सावधानी और सहानुभूति की आवश्यकता है। अब यह निश्चित हो गया है कि भारत में संघ-सरकार की स्थापना कुछ ही दिनों में हो जायगी। अतएव मुझे आशा है कि अमरीका के उपर्युक्त अनुभव को आत्मसात करने का यहाँ भी प्रयत्न होगा।

भारत-सरकार का अपना कृषि-विभाग है ही। पशुओं तथा वैसी दूसरी बातों की भी वह पूरी देख-रेख रखती है। तब दिल्ली में ऐसा कोई छोटा-मोटा विभाग क्यों न खोल दिया जाय जो बच्चों की भी सँभाल किया करे?





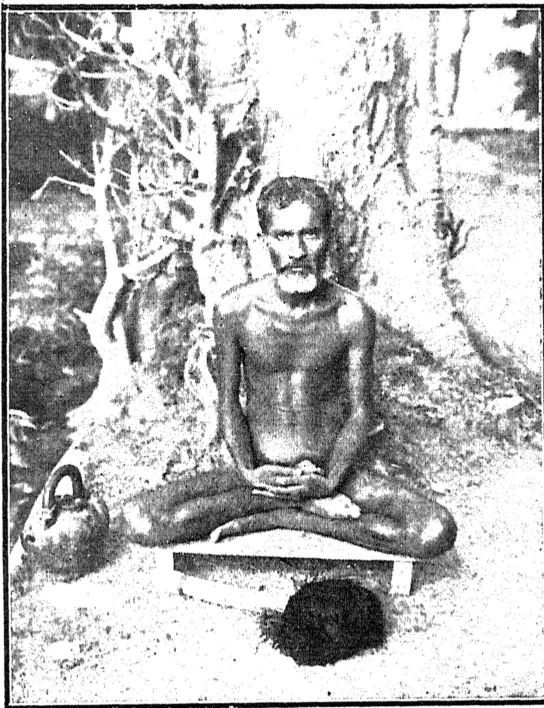
स्वर्गीय रायबहादुर एदलसिंह—आप बिहार के विद्याव्यसनी और बड़े ही उदारमना रईस थे। आपने अपने स्वर्गारोहण से पूर्व बिहार के प्रसिद्ध नालन्दा-विश्वविद्यालय को अपनी स्टेट से बराबर मिलते रहने के लिए आठ हज़ार रुपये वार्षिक की रजिस्ट्री करा दी थी। आपका स्वर्गवास १७ अगस्त सन् १६२० में हुआ था।



श्रीयुत धर्मचन्द्र सरावगी—विलायत से वायु-यान-द्वारा भारत आनेवालों में आप प्रथम भारतीय हैं। आपने बंगाल फ़्लाइंग क्लब से हवाई जहाज़ उड़ाने का सार्टिफ़िकेट भी प्राप्त किया है। आप हिन्दी के सुलेखक भी हैं।



यह विशाल वट-वृक्ष शुक्रतीर्थ के पास नर्मदा के किनारे है। इसे 'कबीर बड़' कहते हैं। यह अति प्राचीन है और बहुत बड़े विस्तार में है। इसके नीचे पूरी सेना विश्राम ले सकती है।



जैनमुनि श्री जयसागर महाराज—आप दक्षिण में जैन-सम्प्रदाय के प्रधान हैं और सदैव नग्न रहते हैं। पिछले दिनों निज़ाम-सरकार ने आपको नग्न वेश में सड़कों पर चलने की मनाही कर दी थी, इससे आपने आमरण उपवास ठान दिया था। यह प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने आपका हठ मान लिया और आपको इसी वेश में रहने की आज्ञा मिल गई, जिसके बाद ही आपने अपने सहस्रों अनुयायियों के साथ जैन-मंदिरों का परिदर्शन किया था।



कुमारी एम० बी० सिंह—बी० एस-सी० डी० टी०—ये मेरठ के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सदस्या हैं और वहाँ के मिशन गर्ल्स स्कूल के ट्रेनिंग विभाग की अध्यक्षा भी हैं।



कुमारी सीता देवदास, बार-एट-ला, मदरास।



कुमारी राय सुन्निसा बेगम—ये हैदराबाद के डाक्टर मुहम्मद अशराफुलहक़ की पुत्री हैं और डाक्टरी पढ़ने के लिए हाल ही में लन्दन गई हैं। भारत से पढ़ने के लिए विलायत जानेवाली ये प्रथम मुसलिम महिला हैं। इनकी अवस्था अभी १९ साल की है।



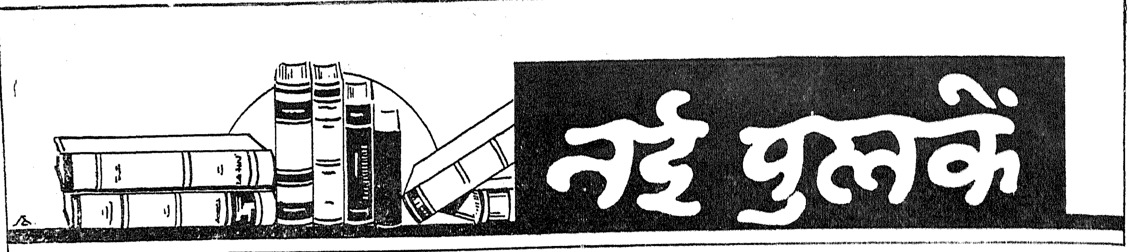
कुमारी रमा बोस, एम० ए०—ये कलकत्ता-विश्वविद्यालय में एम० ए० फ़िलासफ़ी की परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुई हैं। ये बङ्गाल के एम० एल० सी० श्रीयुत एस० एम० बोस की पुत्री हैं।



सहभोज—राजा साहब कालाकांकर, बाबू साहब पृथ्वीगंज और कुमार रणञ्जयसिंह (अमेठी) एक सह-भोज का आनन्द ले रहे हैं। इन व्यक्तियों ने सर्वसाधारण में मिलकर हमारे प्रान्त के सामाजिक जीवन में अच्छी चहल-पहल उत्पन्न कर दी है। यह चित्र हमें श्रीयुत पी० एन० वर्मा (फोटोग्राफर, प्रयाग) से प्राप्त हुआ है।



इलाहाबाद म्यूज़िक एकेडेमी के शिक्षक और विद्यार्थी। आज-कल इसमें तीन अमरीकन महिलायें भी भारतीय संगीत सीख रही हैं। प्रोफ़ेसर जे० एन० पाठक, प्रिन्सिपल आर० के० पटवर्धन और प्रोफ़ेसर एन० आर० जोशी क्रम से बीच में बैठे हैं। इस संस्था के द्वारा इन प्रान्तों में सङ्गीत का अच्छा प्रचार हो रहा है।



१—ग़ज़ल-संग्रह—सङ्कलनकर्ता श्री लाल वीरेंद्र-प्रताप साही, एम० ए०, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, डिप्टी कलेक्टर, कानपुर हैं, प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग है। आकार डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १ + १२ + ४ + ३२ + ६ + ३७२ + ४, मूल्य २॥) है।

पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। इसमें पहले संस्कृत के चार श्लोकों का मंगलाचरण, फिर एक लम्बा-चौड़ा समर्पण है, जिसमें यह पुस्तक भगवान् के चरणों में अर्पण की गई है।

इसके पश्चात् निवेदन, ग़ज़ल-सूची, उनके रचयिताओं की नामावली और फिर चुनी हुई ६०० ग़ज़लों का संग्रह है। अन्त में उर्दू-कविता के कुछ विशेष शब्दों की व्याख्या और फिर एक शब्द-कोष है।

साही जी बड़े रसिक जान पड़ते हैं। उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए बहुत-सी ग़ज़लें लिख रक्खी थीं, उन्हीं को मित्रों के आग्रह से कुछ काट-छाँट कर प्रकाशित कराया है। इसमें बड़े बड़े उस्तादों की हर प्रकार की ग़ज़लें हैं और निस्सन्देह अधिकांश सुन्दर, सरस, उत्तम और भावपूर्ण हैं, पर कुछ भर्ती की भी हैं, जिनका समावेश इस संग्रह में शोभा नहीं देता, जैसे ग़ज़ल नं० ५७, ६४, ६६, १३८, १७०, २१५ और २८० आदि।

सम्पादक महोदय का उत्साह सराहनीय है। परन्तु यदि यह पुस्तक उन पाठकों के लिए लिखी गई है जो उर्दू नहीं जानते अथवा जिनको उर्दू-साहित्य का अच्छा ज्ञान नहीं है, तो मेरी राय में वे पाठमात्र के सिवा इससे अधिक लाभ नहीं उठा सकते। केवल एक मामूली शब्दकोष से उच्च कोटि के शेरों का सूक्ष्म भाव हिन्दी जाननेवालों की समझ में कदापि नहीं आ सकता। उदाहरण के लिए हम केवल दो ही शेर उद्धृत करते हैं—

(१) ग़ज़ल नं० ५५ से

"नक़्श फ़रयादी है किसके शोख़िये तहरीर का।
काग़ज़ी है पैरहन हर पैकरे तसवीर का॥"

(२) या ग़ज़ल नं० २६७ का यह शेर—

"अज़ल में नक़्श बन्दे सूरते मानी वह नुक़्ता था।
लहू की बूँद होकर जो गिरा है हल्के बिस्मिल में॥"

फिर शब्दकोष भी ऐसा है, जिसमें कितने क्लिष्ट शब्दों के अर्थ नहीं हैं, जैसे—

मवाहिद, मश्रालेसोज़, उज़लत, जहाँनुमा, उदू, काशाना, दरा तग़य्युर, हमनवा, सायक़ा, मसख़्ख़र इत्यादि।

कोष में जो शब्द दिये भी गये हैं, उनमें से कितनों के अर्थ में बड़ा गड़बड़ है, जैसे लिखा है—

"परदा दरी" का अर्थ "ढांपे रहना" (बिलकुल उलटा अर्थ है)

"आहंगे दिरा" = "लोहे का ज़रा बख़्तर"
"तबर्रुक" = "अलग अलग"
"तशफ़्फ़ी" = "सफ़ा चाहना"
"तअम्मुल" = "काम करना"
"तअय्युन" = "पैदाइश"
"तकररि" = "मुकर्रर करना-रिपोर्ट"
"देहरो हरम" = "रात दिन ज़माना" इत्यादि।

ग़ज़ल नं० २१५ के कई शेर नहीं बैठते। ऐसा ही "मीर" की प्रसिद्ध ग़ज़ल (नं० १६०) का अन्तिम शेर भी बड़ी असावधानी से इस प्रकार नक़ल किया गया है—

"सुबह गुज़री शाम होने आई "मीर"।
तू न चौंक दिन भी अब हाय कम रहा।।"

जिसका वास्तव में शुद्ध पाठ यह है—

"तू न चेता और बहुत दिन कम रहा"

महाकवि "अकबर" की पुरानी ग़ज़लें नक़ल की गई हैं। इनमें से एक में भी अकबरी रंग की झलक नहीं है, जिसकी बदौलत आज उनका नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। ऐसा ही "दाग़" की भी चूमा-चाटी की कई ग़ज़लें हैं।

फिर भी जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इन कुछ त्रुटियों के होते हुए भी हिन्दी जाननेवाले पाठक यदि समझ सकें तो उनके मनोरंजन के लिए इस संग्रह में पर्याप्त सामग्री है।

—शालिग्राम श्रीवास्तव, एम० आर० ए० एस०

२—आँखों देखा महायुद्ध—मूल-लेखक मिस्टर एरिक रिमार्क, अनुवादक बाबू रामचंद्र वर्मा, प्रकाशक विद्याभास्कर बुकडिपो, काशी हैं। पृष्ठ-संख्या २९०, मूल्य २॥) है।

"All Quiet on the Western Front" नामक अँगरेज़ी पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद है। मूल-पुस्तक एक जर्मन लेखक-द्वारा जर्मन-भाषा में प्रथम बार सन् १९२९ की जनवरी में प्रकाशित हुई थी और इसके डेढ़ महीने बाद ही इसका अँगरेज़ी में अनुवाद प्रकाशित हो गया था। और एक महीने में इस अँगरेज़ी-अनुवाद के आठ संस्करण निकले। फिर अगले दो वर्षों में इसके २७ संस्करण निकले। इसके सिवा योरप की सभी भाषाओं में इसके अनुवाद छपे और बेतरह बिके। मूल-लेखक इसी एक पुस्तक की बदौलत धनकुबेर बन बैठा और इसके अनुवादक और प्रकाशक सभी को यथेष्ट द्रव्यलाभ हुआ। इनके बाद सिनेमा और 'टाकी' वालों की बारी आई। इस पुस्तक के कथानक का 'सिनेरियो' बना और इसकी फ़िल्में सारे संसार में अत्यंत लोकप्रिय हुईं। पर यह सब क़िस्सा मूल-पुस्तक के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद ही ख़त्म हो गया। पुस्तकप्रेमी समुदाय के बीच इस पुस्तक को 'बैक नम्बर' में शामिल हुए कम से कम तीन साल हो चुके। यह स्थायी साहित्य की चीज़ तो है नहीं। इसका उद्देश था युद्ध के विरुद्ध रोचक कथा के रूप में एक ज़बर्दस्त प्रोपेगेंडा खड़ा करना और सो इसने अच्छी तरह किया।

पर भारत की समस्या दूसरी है। यहाँ इस प्रकार के प्रोपेगेंडे का कोई प्रश्न नहीं है। हाँ, महायुद्ध की भीषणता का वास्तविक अनुमान करने की इच्छा रखने-वालों के लिए यह एक अच्छी पुस्तक है। पर इसे हम हिंदी का दुर्भाग्य ही कहेंगे कि इतने समय बाद इस अनुवाद के दर्शन हुए। जिस चीज़ की अब कोई चर्चा भी नहीं करता, उसका अब अनुवाद हो रहा है! ख़ैर जो हो पुस्तक की रोचकता में किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। रह गया अनुवाद, सो इसके बारे में यही कहना काफ़ी होगा कि इसके अनुवादक हिंदी के यशस्वी और सफल अनुवादक बाबू रामचन्द्र जी वर्मा हैं। आपने राजनीति तथा दर्शन जैसे गहन विषयों के अँगरेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद किये हैं और वे अनुवाद विद्वत्समाज में समादृत हुए हैं।

इस पुस्तक की कथा आदि के संबन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है। लेखक को युद्ध-स्थल में उपस्थित होने का सौभाग्य दुर्भाग्य दोनों ही प्राप्त थे। उसने सारी कथा एक नवयुवक सैनिक के मुख से कहलवाई है, जो कालेज छोड़कर युद्ध में शरीक होने पर बाध्य हुआ था।

पुस्तक अच्छी छपी है, कवर पर लड़ाई का एक काल्पनिक चित्र दिया गया है जो काफ़ी भद्दा है। तनिक चेष्टा करने से अच्छा से अच्छा वास्तविक चित्र मिल सकता था। पुस्तक का नाम भी ज़रा अजीब-सा है।

—गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०

३—अर्थशास्त्रशब्दावली—सम्पादक प्रोफ़ेसर दया-शंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०, श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ट विशारद, विद्यालंकार तथा श्रीभगवानदास केला; प्रकाशक व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन हैं। पृष्ठ-संख्या १५०, मूल्य ।॥) है।

विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीति आदि विषयों के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीपर्यायवाची शब्दों के रचे जाने की बड़ी आवश्यकता थी। उपर्युक्त सम्पादकत्रय ने कई वर्षों तक अथक परिश्रम करके अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का एक हिन्दीकोष—'अर्थशास्त्रशब्दावली' प्रकाशित करके उस आवश्यकता की पूर्ति की है। इस कोष में लगभग ढाई-तीन हज़ार अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी-पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। हिन्दी में अर्थशास्त्र-विषयक पुस्तक-प्रणयन एवं पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों एवं लेखकों के लिए प्रस्तुत कोष अत्यधिक उपादेय सिद्ध होगा। खेद है कि इसमें जहाँ-तहाँ सामासिक चिह्नों और विभक्तियों के प्रयोग की उपेक्षा की गई है, जिससे हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों का रूप कुछ विकृत हो गया है।

प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे एक बृहत् अर्थशास्त्रकोष के संकलन में लगे हुए हैं। उनका यह परिश्रम सर्वथा सराहनीय है। आशा है हिन्दी-प्रेमी 'अर्थशास्त्रशब्दावली' को अपना कर उसके विद्वान् सम्पादकों को बृहत् अर्थशास्त्रकोष को प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे।

—शङ्करदयालु श्रीवास्तव, एम० ए०

४—योगदर्शनम्—(मूल और अनुवाद-सहित) अनुवादक पण्डित हरिप्रसाद वैदिकमुनि हैं। मूल्य ।-) है। पता—मैनेजर महेशौषधालय, पोस्ट बक्स नं० १४, पापड़मण्डी, शाहआलमी गेट, लाहौर।

भगवान् पतञ्जलि का योगदर्शन सुप्रसिद्ध दर्शन-ग्रन्थ है। इन्हीं सूत्रों पर भगवान् व्यास-कृत भाष्य, तथा उक्त भाष्य पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'संक्षिप्त स्पष्ट बह्वर्था' व्याख्या है। प्रस्तुत पुस्तक में सूत्र तथा उन सूत्रों का स्पष्ट अक्षरार्थ तथा सरल संक्षिप्त टिप्पणी वैदिकमुनि जी ने हिन्दी में लिखी है। योगदर्शन का सामान्य परिचय पाने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। पुस्तक की भाषा शुद्ध तथा छपाई अच्छी है।

५—तत्त्वविज्ञान (दर्शन-ग्रन्थ)—लेखक तथा प्रकाशक, श्री साधु शान्तिनाथ जी हैं। यह ग्रन्थ मंगल-भुवन, पंचवटी, नासिक को लिखने से बिना मूल्य के मिलता है।

यह ग्रन्थ अद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादक है। यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। लेखक ने संस्कृत के प्रकाशित तथा अप्रकाशित अद्वैत-सिद्धान्त के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थों से तत्पन्न की युक्तियों तथा तर्कों का संकलन कर एवं विरोधी तर्कों का निराकरण कर यह दिखलाने का यत्न किया है कि अद्वैत-सिद्धान्त-द्वारा प्रतिपादित स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश तथा सत्य वस्तु ही इस परिदृश्यमान विश्व-प्रपञ्च का मूलतत्त्व है। यह ग्रन्थ बड़ी खोज तथा परिश्रम से लिखा गया है। तर्क-रसिक लोगों के मनन करने के लिए इसमें प्रचुर सामग्री है तथा इसके अध्ययन से भारतीय दार्शनिक शैली की विवेचन-पद्धति का सुन्दर परिचय प्राप्त हो सकता है। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृतप्रचुर तथा दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों से ओत-प्रोत है। जहाँ वाक्य लम्बे हो गये हैं, वहाँ उनका गठन शिथिल तथा आशय अस्पष्ट हो गया है। मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी जहाँ तहाँ रह गई हैं। दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या न होने से यह ग्रन्थ उन्हीं लोगों के काम का है जो दर्शन के ग्रन्थों से परिचित हैं। विषय की सूक्ष्मता के साथ ही साथ ग्रन्थ की भाषा आवश्यकता से अधिक कठिन हो गई है। विद्वानों तथा दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह उपयोगी है।

—कैलासचन्द्र शास्त्री, एम० ए०

६—प्रताप-पीयूष—स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु के समय के हिन्दी के प्रधान व्यक्तियों में थे। खेद की बात है कि उनकी रचनायें सुलभ नहीं हैं। उनकी गद्य-पद्यमयी रचनाओं का एक संग्रह अभ्युदय-प्रेस से प्रकाशित हुआ था, पर वह भी अप्राप्य है। ऐसी दशा में प्रोफ़ेसर रमाशङ्कर त्रिपाठी, एम० ए० ने इस संग्रह को निकाल कर प्रशंसनीय कार्य किया है। इसमें मिश्र जी के १२ निबन्ध, ६ सामयिक और परिहास-पूर्ण लेख, ७ फुटकर लेख एवं ४ सामयिक, ४ हास्यपूर्ण और १५ विभिन्न कवितायें संग्रह की गई हैं। संग्रहकार ने इनका

विशेष दृष्टिकोण से संग्रह किया है। प्रारम्भ में प्रस्तावना में स्वर्गीय मिश्र जी की संक्षिप्त जीवनी दी गई है और उनकी रचना-निपुणता की भी विवेचना की गई है, जिससे इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। साहित्य के प्रेमियों को इसका संग्रह करना चाहिए। इसे सिटी बुक हाउस, कानपुर, ने प्रकाशित किया है। छपाई और काग़ज़ उत्तम है। मूल्य १॥) है। पुस्तक सजिल्द है।

७—प्रेतनगर—लेखक, पंडित मोहनलाल नेहरू, प्रकाशक, ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।=) और आकार डबल क्राउन सोलहपेजी है।

भूत होते हैं या नहीं होते, इस प्रश्न पर संसार में सर्वत्र विवाद चल रहा है। कुछ लोग वास्तव में भूतों में विश्वास करते हैं और कुछ लोग भूतों को केवल भ्रम और भय समझते हैं। हमारे देश में छोटे बच्चों को प्रायः लोग भूतों की कहानियाँ सुनाकर डराते हैं। इस पुस्तक में भी भूतों की कहानियाँ हैं, परन्तु उनको पढ़ने से बालकों के हृदय में भय नहीं, साहस का सञ्चार होगा। पुस्तक में १२ कहानियाँ हैं और सभी दिलचस्प हैं। सभी कहानियों में लोगों के भूत देखने और डरने के साथ साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि देखनेवालों ने भूत नहीं तो क्या देखा था और उनका डरना कहाँ तक हास्यास्पद था।

८-११—गीता-प्रेस की चार पुस्तकें—

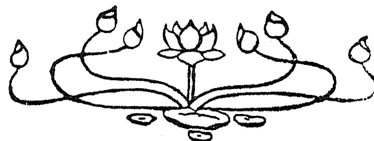
(१) विवेकचूडामणि—श्री शङ्कराचार्य-कृत ग्रन्थों में इस पुस्तक की भी गणना की जाती है। अध्यात्मतत्त्व का निरूपण इसमें सरल ढंग से किया गया है। अपने विषय की यह प्रारम्भिक पुस्तक है। यह हिन्दी-अनुवाद-सहित है। अनुवाद श्री मुनिलाल जी ने किया है जो सरल हुआ है। हिन्दी-भाषी उसके द्वारा मूल-पुस्तक के विचारों को हृदयङ्गम कर सकते हैं। पृष्ठ-संख्या २१६ और मूल्य ।=) है।

(२) अपरोक्षानुभूति—यह भी श्री शङ्कराचार्य-विरचित है और अध्यात्म-तत्त्व-सम्बन्धी प्रारम्भिक पुस्तक है। यह भी हिन्दी-अनुवाद-सहित है। अनुवादक भी मुनिलाल जी हैं। इसका मूल्य =)॥ है।

(३) परमार्थ पत्रावली—इसके लेखक श्रीयुत जयदयाल गोयन्दका हैं। श्री गोयन्दका जी अध्यात्म-तत्त्व के बड़े तेज़-तर्रार लेखक हैं। आपने ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी अपने विचारों से हिन्दी-साहित्य का एक प्रकार से भाण्डार ही भर दिया है। इस पुस्तक में आपने परमार्थ-सम्बन्धी विचार 'पत्रों' के रूप में पुस्तक-बद्ध किये हैं। इसका मूल्य ।) और पृष्ठ-संख्या १४० है।

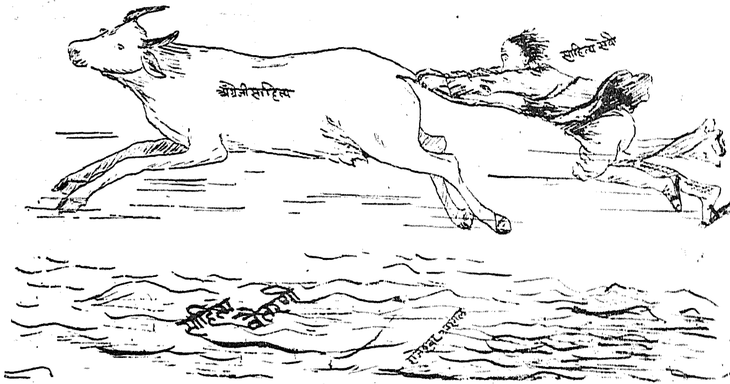
(४) ब्रह्मचर्य—इसे श्री हनूमानप्रसाद जी पोद्दार ने लिखा है। इस ३२ पृष्ठ की पुस्तिका में उन्होंने ब्रह्मचर्य के विषय का पूरा विवेचन कर दिया है। पुस्तक निस्सन्देह महत्त्व की है। यह इसका ५ वाँ संस्करण है जो इसके लिए प्रशंसा की बात है। मूल्य -) है।

१२—श्री साधुबेला तीर्थ—सक्खर के समीप सिन्धुनद के बीच एक छोटा-सा टापू है। कोई डेढ़ सौ वर्ष हुए श्री बनखंडी उदासीन नाम के एक महात्मा ने यहाँ अड्डा जमाया। वे और उनके उत्तराधिकारी अच्छे साधु हुए, जिससे इस स्थान का महत्त्व बढ़ता गया, यहाँ तक कि इस समय यह स्थान उक्त प्रदेश का एक बड़ा तीर्थ हो गया है। यहाँ अहर्निश धर्म-चर्चा होती रहती है और यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। इस आलोच्य पुस्तक में इसी स्थान का इतिहास थोड़े में दिया गया है और इस समय यह स्थान कितना मनोरम हो गया है तथा यहाँ कहाँ कैसी धर्म-चर्चा रहती है, इसका भी वर्णन किया गया है। इसका मूल्य ।=) है।



हास-परिहास



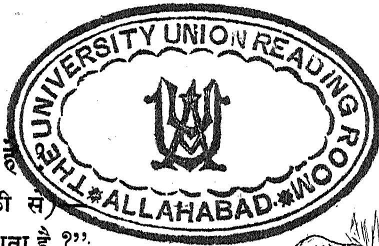


अँगरेज़ी साहित्य सहायक हुआ मिटे सब क्लेश।
जो कुछ आप लिखेंगे, होगा नव युग का संदेश॥

काल्पनिक

डाक्टर—"महाशय, आपकी स्त्री का रोग काल्पनिक है। इसलिए मैं कोई काल्पनिक दवा तजवीज़ करूँगा।"

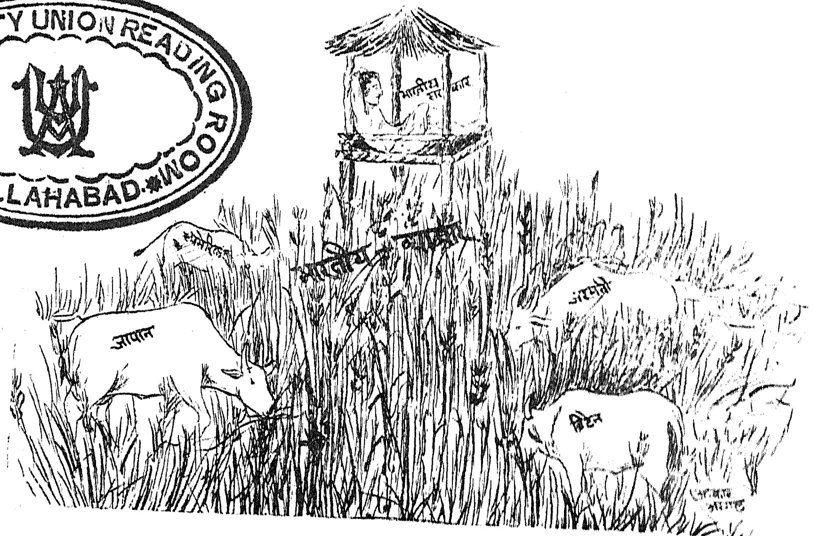
प्रार्थी—"अच्छी बात है, पर मूल्य भी मुझसे काल्पनिक ही लीजिएगा।"



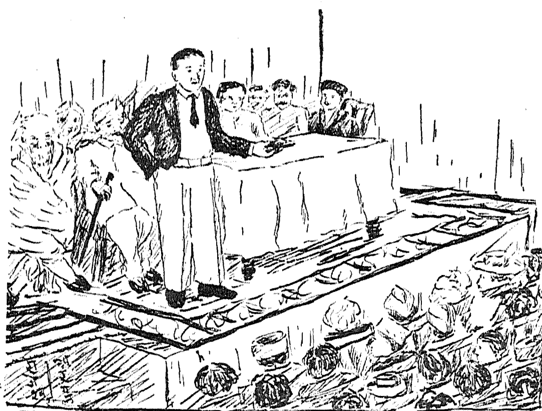
क्यों रोता है

माँ (बड़ी लड़की से)—"छोटा बच्चा क्यों रोता है?"

लड़की—"उसने बाग़ में एक गड्ढा खोदा है, और उसे उठाकर घर लाना चाहता है।"



हो सकता किस तरह अरक्षित भारत का व्यापार।
बहुत दूर तक देख रही है ऊँचे से सरकार॥



सभा में—"जो एक पैसा भी दहेज माँगे उसका मुँह मत देखो।"



घर पर—"इससे कम ? हरगिज नहीं।"



जब चलना ही नहीं, व्यर्थ है मार्ग दिखानेवाला।
बच्चों का दिल बहलाने को बाजा नया निकाला॥

गृह-कलह का कारण

एक समाज-सुधारक का कहना है कि प्रत्येक स्त्री को यह सोचना चाहिए कि जब उसका पति बाहर से भूखा-प्यासा घर आता है तब उसे मानसिक शान्ति की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि घर पहुँचते ही वह स्त्री की शान्ति खा जाता है।

जौहरी की उलझन

एक महाशय को अँगरेज़ी ढङ्ग पर ब्याह करने की सूझी। उन्होंने अपनी प्रेमिका के लिए एक जौहरी से एक बढ़िया अँगूठी ख़रीदी। पर शीघ्र ही उसे लौटाने पहुँचे। जौहरी ने पूछा—"क्यों ? क्या उन्हें अँगूठी पसन्द नहीं आई ?"

बोले—"अँगूठी तो पसन्द आई, पर मैं ही पसन्द नहीं आया।"

चिट्ठी-पत्री

धर्म में राज्य का हस्तक्षेप

प्रिय महाशय,

नवम्बर के महीने की सरस्वती में मैंने "धर्म में राज्य का हस्तक्षेप" शिर्षक लेख बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा।

आपने लिखा है—"पाश्चात्य देशों में रोमन कैथोलिकों के द्वारा प्रोटेस्टेंटों पर किये गये (इँग्लेंड में क्वीन मेरी के समय के) अत्याचारों की कथा को कौन भुला सकता है?"

आपका यह लिखा हुआ वाक्य पढ़ते ही मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। हो सकता है कि प्रोटेस्टेंटों की लिखी हुई पुस्तकों में इस प्रकार की बातें दिखाई पड़ें। पर यह बड़ी भूल है। इस बात को सुगमता से समझ लेने के लिए कई घटनाओं की याद करना बेफ़ायदा नहीं होगा।

इतिहास को पक्षपातहीन मन से पढ़ने से बातें किस प्रकार मालूम देती हैं?

आठवें हेनरी की ओर से कैथोलिकों के विरुद्ध एक घोर धर्मविद्रोह उत्पन्न हुआ और १० वर्ष तक होता रहा। कारण यह कि कैथोलिक लोग हेनरी को "चर्च" का सरगना मानना अस्वीकार करते थे। आपको ज्ञात होगा कि हेनरी जो पहले कैथोलिक था और आज-कल के कैथोलिकों की भाँति सन्त पापा का प्रभुत्व मानता था, पीछे से उसी कैथोलिक धर्म का शत्रु हो गया और अपने साथ इँग्लेंड के सब खीस्तानों को सन्त पापा के विरुद्ध इस आन्दोलन में घसीटने की कोशिश की।

उसके बाद एडवर्ड (छठा) इँग्लेंड की गद्दी पर बैठा और ६ वर्ष तक कैथोलिकों के सताने में लीन रहा।

इसके पश्चात् मेरी रानी हो गई। उसने केवल ५ वर्ष तक देश का शासन किया। सच है, उसी समय प्रोटेस्टेंटों को कैथोलिकों की ओर से कष्ट उठाना पड़ा। लेकिन यह कार्य मेरी रानी की इच्छा के प्रतिकूल हुआ। कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि कैथोलिक गिरजा ने ही उन कैथोलिकों के बुरे व्यवहार का समर्थन कभी नहीं किया।

मेरी को गिरफ़ार करके एलिज़ाबेथ गद्दी पर बैठी और ४५ वर्ष तक कैथोलिकों के प्रति घोर विद्रोह चलाया।

अब तुलना करने से क्या देखते हैं? कैथोलिकों के विरुद्ध धर्म अंधेर ७१ वर्ष तक होता रहा, प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध ५ वर्ष तक!

खेद की बात है कि भारतवर्ष के पण्डित कैथोलिक गिरजा के असली इतिहास से परिचित नहीं हैं। वे प्रोटेस्टेंटों की पुस्तकों के द्वारा गिरजा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। और कैसा ज्ञान? मानो कैथोलिक लोग जो हिन्दू-धर्म-सिद्धान्तों का परिचय करना चाहते हैं, मुसलमानों की लिखी हुई हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी किताबों का संग्रह करें और एक बार भी हिन्दू की लिखी हुई पुस्तक नहीं खोलें!

तो भी कैथोलिक गिरजा के इतिहास के बारे में भिन्न भिन्न भाषाओं की अनेक सुन्दर किताबें मिल सकती हैं जैसे ('Church History.' A complete history of the Catholic Church to the present day, by Rev. John Laux, M.A. With illustrations and maps.—New York, Benziger Brothers.)

उन किताबों को पढ़ेंगे तो देखेंगे कि असली कैथोलिक मंडली ऐसी नहीं है जैसी प्रोटेस्टेंटों की पुस्तकों में दिखाई

पड़ती है। कैथोलिक गिरजा का इतिहास कितना अद्‌भुत है! यह गिरजा (वा कैथोलिकों का समाज) बीस शताब्दियों से क़ायम है। क़रीब दो हज़ार वर्षों तक उसने लगातार तरह तरह के गुप्त तथा प्रकट विरोध सहे। बहुत राजाओं ने विश्वासियों को मार डालने और सन्त पापा को कभी कभी मारकर वा गिरफ़्तार कर कैथोलिक गिरजा का मटियामेट करने की चेष्टा की। गिरजा के कितने ही ख़राब बेटे उसे छोड़कर विरोधी झूठे धर्म फैलाने लगे। खेद की बात है, गिरजा के प्रधान ने (सन्त पापा भी मनुष्य हैं, और मनुष्य होने के कारण पाप कर सकते हैं) कभी कभी बुरे बनकर ख़राब नमूने उपस्थित किये। तिस पर भी कैथोलिक गिरजा स्थिर, एक और पवित्र बना रहा।

मनुष्यों की पीढ़ियाँ आती-जाती हैं—उनके कामों में सब प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं—नगर, राज्य, सम्राट् आदि नष्ट हो जाते हैं। केवल कैथोलिक गिरजा, युगों की चढ़ाई का आमना-सामना करके, तनिक भी नहीं बदलता और सदा एक ही बना रहता है!

प्रिय महाशय, मुझे विश्वास है कि आप भी अपने जीवन तथा अपने वैज्ञानिक अध्ययन में सत्य की उन्नति एवं सत्य की विजय को छोड़कर और किसी बात की अभिलाषा नहीं करते हैं। इस कारण मैंने इतिहास की एक बात के विषय में इस पत्र के लिखने का साहस किया है।

कुछ भी हो, परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह आपके ऊपर अपनी कृपाओं को बरसावे और आपकी रक्षा करे।

आपका
पी० वान विंसबर्ग एस० जे०
(करसियाङ्ग)

एक चिट्ठी

श्रीमान् सम्पादक जी,

'सरस्वती' के नवम्बर के अङ्क में "एक विचित्र बिक्री" नामक कहानी प्रकाशित हुई है। इसमें फ़ौजदारी मुक़द्दमे में 'प्रतिवादी' शब्द का व्यवहार किया गया है। यह ग़लत है। अभियुक्त या मुलज़िम होना चाहिए।

आपका
बिहारीलाल सुरेली, सैलाना

माता-पिता से

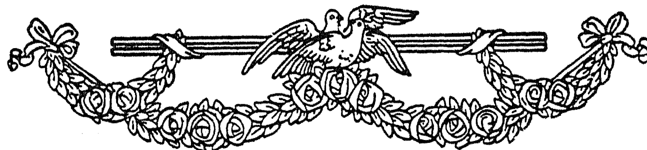
प्रिय सम्पादक जी,

दिसम्बर की 'सरस्वती' में श्रीयुत अनूप की ऊपर लिखे शीर्षक के अन्दर एक कविता छपी है। मुझे यह कविता बहुत पसन्द आई। हाला-प्याला और छायावादी दोनों प्रकार की कविताओं की अपेक्षा मुझे इसमें अधिक रस मिला। वास्तव में इस समय ऐसी कविताओं की आवश्यकता है जिनसे देश की जनता में जाग्रति पैदा हो। स्वास्थ्य की दृष्टि से बालकों का खेलना-कूदना अत्यन्त आवश्यक है। यह दुःख की बात है कि बहुत-से माता-पिता सुकुमार बच्चों पर काम पर काम लादते जाते हैं और उनका जीवन नष्ट करते हैं। कवि ने मूक बालकों की क्या सुन्दर वकालत की है—

फिर न मिलेगा कभी खेलना न छेड़ो इन्हें
बालक अभी हैं कुछ और खेल लेने दो।

कृपया अनूप जी को मेरी ओर से बधाई लिख भेजिए और उचित समझिए तो मेरे इस पत्र को 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दीजिए।

—रुक्मिणी देवी, लाहौर



विचार-संकलन

शिक्षितों की बेकारी की समस्या



क्षितों में भी दिन प्रतिदिन बेकारी बढ़ती जा रही है। हमारे विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त करके जो नवयुवक निकलते हैं उनमें अधिकांश अपनी जीविका कमाने में उतने ही असमर्थ होते हैं जितने कि गाँव के ग़रीब किसान। इसका मुख्य कारण यह है कि विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है वह देश की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। पेट न भरा तो कोरा ज्ञान लेकर क्या होगा? सर तेजबहादुर सप्रू ने इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में गत कनवोकेशन के अवसर पर जो भाषण किया है वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उस पर हम सबको गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। वे कहते हैं—

कोई आदर्शवादी विद्यालय के उस संगठन को भले ही पसन्द करे जहाँ संसार की हलचल से दूर ज्ञान-पिपासा शान्त करने के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाता हो, परन्तु आधुनिक संघर्ष-पूर्ण संसार के साधारण लोग ऐसे विश्वविद्यालयों को पसन्द नहीं कर सकते।

पश्चिमीय देशों के विश्वविद्यालयों के विरुद्ध यहाँ न्दोलन बढ़ता जा रहा है। मेरी समझ में हिन्दुस्तान श्वविद्यालयों में तो आदर्श के बदल जाने की और रत है। प्रश्न यह है कि आपके विश्वविद्यालय से विभिन्न विभागों में पूर्ण शिक्षा पाकर प्रतिवर्ष जो सैकड़ों युवक निकलते हैं वे देश, राष्ट्र तथा समाज का कितना हित करते हैं। विश्वविद्यालय से बाहर आने पर उन्हें ज्ञात होता है कि ज्ञान बढ़ाने की अपेक्षा पेट भरने का सवाल ज़्यादा ज़रूरी है और अभी तक उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे उनकी रोटी का सवाल हल नहीं होता। यह सम्भव है कि विश्वविद्यालय के अधिकारी इस प्रश्न की ओर से कुछ समय के लिए मुँह फेरे रहें और अपने मन में यह सन्तोष करें कि उन्होंने कम से कम अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दिया है। परन्तु टैक्स देनेवालों तथा पासशुदा विद्यार्थियों की पुकार इतनी ज़बर्दस्त होगी कि अधिक समय तक उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकेगी।

यद्यपि मेरी यह बड़ी इच्छा है कि कुछ लोग सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति में ही लगे रहें। फिर भी मेरी समझ में यदि संसार की प्रतियोगिता और जीवन-होड़ का ध्यान युवकों की शिक्षा में रक्खा जाय तो अधिक लाभ होगा। हमें ऐसी शिक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगी जो हमें किसी ख़ास पेशे के लिए तैयार कर दे। ऐसी शिक्षा के प्रचार एवं आरम्भ के लिए किसी भी प्रकार का संकोच न होना चाहिए।

कुछ लोगों के लिए उच्च शिक्षा अच्छी हो सकती है, परन्तु सभी लोगों के लिए वह हानिकर है। यूनिवर्सिटियों को ग्रेजुएट बनाने की मशीन नहीं होना चाहिए। न तो विश्वविद्यालय और न सरकार ही इस प्रकार की बहानेबाज़ी कर सकती है कि उसे बेकारों की समस्या हल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कार्य किया जायगा उसका प्रतिफल तो भुगतना ही होगा। उसे कोई

भी सरकार नहीं रोक सकती। इस प्रतिफल का प्रारम्भ हो भी चुका है। हमारे शासक इस बात की चाहे जितनी उपेक्षा करें और धमकी दें, फिर भी मध्यश्रेणी के भूखे ग्रेजुएटों की संख्या और उसके साथ ही उनकी ओर से ख़तरा बढ़ता ही जा रहा है।

इस समस्या को एक संस्था नहीं सुलझा सकती। विश्वविद्यालयों और सरकार दोनों को सम्मिलित होकर प्रयत्न करना चाहिए। युवकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिसे प्राप्त करने के बाद ही वे अपनी रोज़ी कमाने में लग सकें।

यह मानी हुई बात है कि सन् १९३२ में बेकारी सबसे ज़्यादा बढ़ गई और इस समय विश्वव्यापी आर्थिक संकट है। फिर भी पश्चिमीय देशों की सरकार बेकारी को दूर करने की यथाशक्ति प्रयत्न कर रही है। यहाँ सरकार ऐसा नहीं कर रही है।

विश्वविद्यालयों का वास्तविक कार्य्य

विश्वविद्यालयों का वास्तविक कार्य्य क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में काशी-विश्वविद्यालय के कनवोकेशन के अवसर पर भाषण देते हुए आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने जो विचार प्रकट किये हैं वे अनेक दृष्टियों से महत्त्व-पूर्ण हैं। उनका यह कहना ठीक ही है कि यदि शिक्षा का माध्यम देशी-भाषा हो जाय तो विद्यार्थियों को ज्ञानार्जन में उतना समय और शक्ति न लगानी पड़े जितनी उन्हें इस समय लगानी पड़ती है। सर तेजबहादुर सप्रू की भाँति बेकारी के प्रश्न को इन्होंने भी उठाया है। इन बातों से इतना तो कम से कम स्पष्ट ही हो जाता है कि हमारे बड़े बड़े विचारशील नेता विश्वविद्यालयों की कार्य्य-पद्धति में परिवर्तन चाहते हैं। यह परिवर्तन ऐसा होना चाहिए कि विद्यार्थी कम से कम समय में अपनी जीविकोपार्जन की योग्यता प्राप्त कर सकें, और अन्वेषण आदि उच्च कोटि के बौद्धिक कार्य्य सब पर न लाद कर केवल चुने हुए व्यक्तियों को ही सौंपना चाहिए। आचार्य्य राय कहते हैं—

विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर भारी भूल की गई है, और आश्चर्य तो इस बात का है कि अब भी कुछ ऐसे प्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञ हैं जो अँगरेज़ी शिक्षा का भयानक परिणाम देखते हुए भी उसको अधिक महत्त्व देते हैं। लोगों को ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मैं अँगरेज़ी या किसी अन्य विदेशी भाषा के अध्ययन का विरोधी नहीं हूँ, क्योंकि इससे नये नये विचारों के लिए मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु मैं इसको शिक्षा का माध्यम बनाने का विरोधी अवश्य हूँ। शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति को पहले सब विषयों और बातों के ज्ञान की आवश्यकता है, जिसे वह थोड़े समय में अपनी मातृभाषा में ही प्राप्त कर सकता है। गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगोल, राजनीति और तर्कशास्त्र आदि सभी विषयों के लिए यह बात लागू है। केवल मातृ-भाषा के द्वारा इन विषयों की शिक्षा प्राप्त करके ही हम थोड़ी अवस्था में बहुज्ञ बन सकते हैं।

गस्टेवली वान के कथनानुसार जब से बच्चा पढ़ना आरम्भ करता है तब से कालेज छोड़ने तक किताबों का कीड़ा बना रहता है और व्यक्तिगत शक्ति को देखे बिना ही उस पर किताबें रटने का बोझ लदा रहता है। जिन लड़कों पर रटने का यह भार होता है वे ही जानते हैं कि यह कैसा अप्रिय कार्य है, और इसी लिए अधिकांश छात्र इस प्रकार की पढ़ाई छोड़ भागने की गहरी इच्छा रखते हैं। हमारे देश में मध्यम श्रेणी के लड़कों का ध्येय केवल सरकारी नौकरी और क्लर्की पर होता है, किन्तु फ़्रांस में लड़के ऐसे सर्वजनोपयोगी कार्यों के सीखने में लगाये जाते हैं जिन्हें सीखकर वे सरलतापूर्वक जीवन में सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

जो सरकार पुस्तकों से गढ़ गढ़ कर प्रतिवर्ष इतने ग्रेजुएट तैयार करती है वह उनमें से मुट्ठी भर लोगों को सरकारी नौकरी देती है और बाक़ी सबके सब बेकार मारे मारे फिरते हैं। इस प्रकार थोड़े-से ग्रेजुएट सरकार के भक्त बनते हैं, तो बहुत-से दुश्मन। अकेले विज्ञान के ही विभाग में इस समय २०,००० अध्यापक-अध्यापिकायें बेकार हैं। और वे सरकार की ओर अपनी

अपनी आजीविका के लिए देख रहे हैं—इस प्रकार उनमें असन्तोष की वृद्धि होती है।

यह बात सभी स्वीकार करेंगे कि सुविकसित आरम्भिक शिक्षा के साथ विश्वविद्यालय वास्तविक उन्नति की ओर बढ़ सकते हैं। जिस प्रकार की यान्त्रिक ढंग की शिक्षा आज-कल दी जाती है, वह स्कूल में ही समाप्त हो जानी चाहिए, किन्तु दुर्भाग्यवश यह कालेजों में भी आ घुसी है। जब तक कालेजों से यह यान्त्रिक ढंग की शिक्षा दूर न होगी तब तक विश्वविद्यालय ज्ञान और संस्कृति के केन्द्र नहीं बन सकते।

मेरी राय में आरम्भिक शिक्षा में ही बच्चों को सब विषय देशी भाषा में पढ़ाये जाने चाहिए और जब तक उच्च शिक्षा के अनुकूल लड़के की मनोवृत्ति न हो, उसे कालेज नहीं भेजना चाहिए। केवल चुने हुए विद्यार्थी ही कालेज में प्रविष्ट हों, जिससे कालेज विद्वत्ता, अन्वेषण और संस्कृति के केन्द्र बन जायँ। केवल उन्हीं को इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए जो अपना जीवन सरस्वती के चरणों में अर्पित करने को तैयार हों।

कर्मणा वर्ण

कुछ लोगों का खयाल है कि वर्णव्यवस्था को बिना मिटाये दलितों की समस्या हल नहीं हो सकती। काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक डाक्टर भगवानदास इसके विरुद्ध मत प्रकट करते हैं। श्रद्धानन्द मेमोरियल ट्रस्ट के मंत्री को स्वामी जी की जयन्ती मनाने के उपलक्ष्य में सन्देश भेजते हुए वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि बजाय जन्मना वर्ण के कर्मणा वर्ण का प्रचार किया जाय तो यह समस्या अपने आप हल हो जाय, क्योंकि जन्मना वर्ण कर्मणा वर्ण के सिद्धान्त के अनुचित पतन का परिणाम है। वे कहते हैं—

'कर्मणा वर्णः' का अभिप्राय है कि वर्ण अथवा जाति—कर्म अर्थात् जीविका, कर्म, रोज़गार, कमाने के काम के अनुसार मानी जाय। जो मनुष्य अपनी आजीविका किसी भी ज्ञान अथवा विद्या-सम्बन्धी कर्म से कमाते हैं, वे सब, अब, इस क्षण में, ब्राह्मण हैं—उनका धर्म, जाति या देश कुछ भी हो। जो लोग शासन-सम्बन्धी रोज़गार, सरकारी नौकरी अथवा अन्य अधिकार का काम करते हैं सब क्षत्रिय हैं—उनका धर्म, जाति या देश कुछ भी हो। जो लोग कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य, महाजनी अथवा अन्य धन कमाने के पेशों में हैं वे सब वैश्य हैं—उनका धर्म, जाति या देश कुछ भी हो। अन्य सब जो मिहनत-मजूरी पर जीते हैं वे शूद्र हैं—उनका धर्म, जाति या देश चाहे जो हो।

इतना हो जाय तो दलित जातियों के अलग जाति के रूप का तुरन्त अन्त हो जायगा। उनमें से आज-कल जो दलित कहे जाते हैं उनके अन्य जाति-नामों का अन्त होकर वे सब शूद्र कहायेंगे। उनमें से जो अध्ययनाध्यापन, यज्ञ, योग आदि कामों में लगे हुए हैं वे ब्राह्मण और दूकानदार आदि वैश्य कहलायेंगे। इसी प्रकार अन्यों को समझना चाहिए।

इतना हो जाय तो संसार के मनुष्य-मात्र एक-दम, चाहो या न चाहो, बिना किसी रुकावट के आपसे आप, मनुष्य-जाति के एक संसारव्यापी संगठन के भीतर आ जायँगे। और वर्ण-धर्म का वास्तविक अर्थ भी यही है और इस वर्ण-धर्म के बिना हिन्दू तथा हिन्दूत्व शब्दों का कुछ अभिप्राय ही नहीं रहता।

पाठ्य-पुस्तकें

सच्ची शिक्षा वह है जो बालकों और बालिकाओं के हृदयों में रहनेवाली उत्तम भावना को प्रकट करे। पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण इसी उद्देश से होना चाहिए। महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में 'हरिजन-सेवक' में अपनी राय प्रकट की है। वे लिखते हैं—

आज-कल पाठशालाओं में, ख़ास कर बाल-पाठशालाओं में, जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें से ज़्यादातर हानिकारक नहीं तो निकम्मी तो ज़रूर हैं। पाठशालाओं में पढ़ाई जानेवाली अँगरेज़ी पाठ्य-पुस्तकें जिन लोगों के लिए और जिस वातावरण में लिखी जाती हैं

उनके लिए तो वे उत्तम हो सकती हैं, पर वे पुस्तकें भारतवर्ष के विद्यार्थियों या भारतवर्ष के वातावरण के लिए नहीं लिखी जातीं। भारत के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई अधिकांश पुस्तकें उनका अधूरा अनुकरण-मात्र ही होती हैं; और उनसे विद्यार्थियों को सीखने लायक़ बातें नहीं मिलतीं। इस देश में, प्रान्त तथा बालकों की सामाजिक स्थिति के अनुसार, शिक्षा मिलनी चाहिए—जैसे हरिजन बालकों को प्रारम्भ में अन्य बालकों से कुछ भिन्न ही प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए। अतएव मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि विद्यार्थियों से कहीं अधिक शिक्षकों की पाठ्य-पुस्तकों की ज़रूरत है। प्रत्येक शिक्षक को जो अपने विद्यार्थियों को सच्चे मन से पढ़ाना चाहता है, अपने पास की पाठ्य-पुस्तकों में से प्रतिदिन पाठ तैयार करना चाहिए। उसे बालकों की विशेषताओं और अपनी आवश्यकताओं से मेल खानेवाला पाठ तैयार करना पड़ेगा।

सच्ची शिक्षा तो वह है जो बालकों और बालिकाओं के हृदय में रहनेवाली उत्तम भावना को प्रकट करती हो। विद्यार्थियों के दिमाग़ में निकम्मी और इधर-उधर की व्यर्थ बातें ठूँस देने से अन्तर की उत्तम भावना विकसित नहीं की जा सकती। ऐसी बातें तो विद्यार्थियों के लिए निर्जीव और भार-रूप हो जाती हैं तथा उनकी स्वतन्त्र विचार-शक्ति को नष्ट करके उन्हें एक 'यंत्र' बना देती हैं। अगर हम ख़ुद इस पद्धति के शिकार न हुए होते तो लोक-शिक्षा की वर्तमान रीति, विशेषकर भारत में प्रचलित पद्धति से होनेवाली हानि का भान हमें कभी हो गया होता।

मैं यह दावा नहीं करता कि ऊपर के ये विचार पहले-पहल मैंने ही प्रकट किये हैं। हरिजन-पाठशालाओं के संचालकों और शिक्षकों के सामने भगीरथ कार्य पड़ा हुआ है। उनके लाभ के लिए ही मैंने ये विचार लिखे हैं। उन्हें केवल इतने से ही सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों से यन्त्र के समान काम करा सकते हैं और किसी तरह नियत पुस्तकों की ऐसी शिक्षा बालकों को उन्होंने दे दी है कि 'तोता-रटन्त' से उन्हें उन पुस्तकों का अर्थ-शून्य ज्ञान हो गया है। हरिजन-पाठशालाओं के संचालकों और शिक्षकों ने अपने ऊपर भारी ज़िम्मेदारी ले रक्खी है। इससे उन्हें साहस, कुशलता और सचाई के साथ अपना काम पूरा करना चाहिए।

यह काम कठिन तो है, पर यदि अध्यापक अथवा संचालक अपना सच्चा हृदय इस काम में लगा दें तो जितना हम समझते हैं उतना कठिन यह काम नहीं रहेगा। जो अपने विद्यार्थियों के पिता का पद ग्रहण करता है उसे उनकी आवश्यताओं का ध्यान तो रहेगा ही; और वह उन्हें वही बातें सिखायेगा। अगर ये बातें सिखाने के लिए उसके पास यथेष्ट ज्ञान नहीं है तो वह उतना ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेगा।

मदरास में महात्मा गांधी का भाषण

महात्मा गांधी का मदरास का दौरा अनेक दृष्टियों से सफल रहा। मदरास अस्पृश्यता का गढ़ है, परन्तु जिस धूम-धाम के साथ महात्मा जी का वहाँ की जनता ने स्वागत किया उससे यह आशा करना अनुचित नहीं है कि अस्पृश्यता को अब वहाँ भी दाल न गलेगी। मदरास की एक विराट् सभा में महात्मा जी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसका सारांश नीचे दिया जाता है—

"यह आप लोगों का शुद्ध प्रेम-प्रदर्शन है कि आज आप इतनी बड़ी संख्या में यहाँ उपस्थित हुए हैं। आप लोग मेरे उद्देश्य को गम्भीरतापूर्वक समझते होंगे, मैं परमेश्वर के नाम पर और उसी के लिए तथा उसके पीड़ित बच्चों के लिए यह उद्देश्य सामने लेके चल रहा हूँ। उन्हीं पीड़ित बच्चों को आज हम 'हरिजन' समझने लगे हैं। परमेश्वर की दृष्टि में जिस प्रकार मनुष्य-मात्र में कोई भेदभाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार पशुओं में भी अन्तर नहीं हो सकता। यदि परमेश्वर ने किसी को नीचा और ऊँचा बनाया होता तो मनुष्य के शरीर

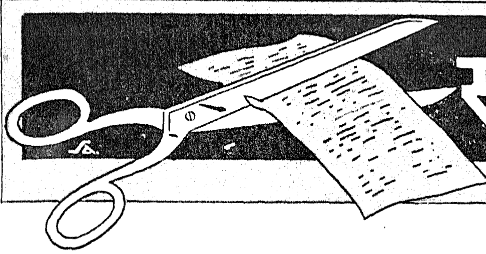
में उस तरह का कोई चिह्न होता, जिसे हम समझ सकते। भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चले जाइए, आपको उन लोगों में ऐसा कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ेगा, जो अपने को उच्च श्रेणी का कहते हैं। मैंने यह भेद जानने की कोशिश की, परन्तु मुझे तो उच्च वर्णवालों और अछूतों में कोई भेद नहीं मिला। अतः मैं आप लोगों से भी कहूँगा कि आप भी इस प्रश्न पर खूब ग़ौर करके विचार करें। मैंने हज़ार बार हज़ारों आदमियों के सामने जो बात कही है, वही आज भी कहता हूँ कि यदि हम अस्पृश्यता को जड़-मूल से मिटा नहीं देंगे तो हमारा पतन है, हम मानव-जाति के कहाने लायक़ न रहेंगे, अन्य समाजों की ही तरह हिन्दू-समाज भी नष्ट हो जायगा और अन्य लोगों के सामने हमारा कम मूल्य होगा। इस वक्त यहाँ बड़ी भीड़ है; ऐसी अवस्था में आप लोगों के सामने इस आन्दोलन की सारी बातें पेश नहीं करना चाहता। यहाँ इतना ही करना यथेष्ट होगा कि ज्योंही हमारे हृदय से अस्पृश्यता मिट जायगी; और हम हरिजनों को भाई-बहन की तरह समझने लगेंगे और यह समझने लगेंगे कि उनके और हमारे अधिकार समान हैं, त्यों ही उनमें नवीन ज्योति प्रज्वलित होगी। मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि जब हम हरिजनों को अपना लेंगे तब वे भी सवर्ण हिन्दुओं की ही तरह संयमी हो जायँगे। और व्यवहार-कुशल तथा सभ्य होंगे। यदि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह सन्देश आपके हृदय तक पहुँच जाता है तो निःसन्देह हम ऊँच-नीच की भावना त्याग देंगे।

आर्य्य-समाज और वर्ण-व्यवस्था

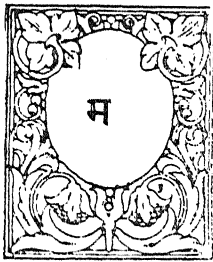
आर्य्य-समाज को इस बात का गर्व है कि अछूतोद्धार की दिशा में सबसे आगे वही है। परन्तु जातपाँत-तोड़क-मंडल के श्री सन्तराम जी बी० ए० ने 'सुधार' में एक लेख लिखकर उसके गर्व को मिथ्या सिद्ध किया है और यह दिखलाया है कि आर्य्य-समाज भी दकियानूसी पन्थ है और अछूतों को अपनाने में इस बीसवीं सदी में भी असमर्थ बना है। वे लिखते हैं—

कट्टर-पन्थी कहते हैं, वर्ण-व्यवस्था स्वामी दयानन्द का सिद्धांत है। वेदों में इसका विधान है, और यह ऋषियों की दी हुई बपौती है। इसलिए इसको क्रियात्मक रूप से नहीं तो कम-से-कम सिद्धांत रूप से तो ज़रूर मानना चाहिए, अन्यथा तुम आर्य्य-समाजी नहीं कहला सकते। मैं इन कथन-मात्र सिद्धांतियों की इस कपोल-कल्पित व्यवस्था के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं। दयानन्द और वेद को समझने का ठेका केवल इन्होंने ही नहीं ले रक्खा है, दूसरे मनुष्यों को भी भगवान् ने सोचने-समझने की बुद्धि दी है। मैं पूछता हूँ, वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों के लिए है या मनुष्य वर्ण-व्यवस्था के लिए हैं? आपका सिया हुआ वर्ण-व्यवस्थारूपी कुर्ता इस समय मनुष्य-समाज-रूपी शरीर पर फ़िट नहीं आ रहा है। आप इसको फ़िट करने के लिए कपड़े की काट-छाँट करने के बजाय शरीर को ही छील डालना चाहते हैं! यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? चातुर्वर्ण्य-विभाग इस समय समाज के लिए अतीव घातक सिद्ध हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने भी तंग आकर लिखा है—"आज-कल वर्ण-व्यवस्था तो आर्यों के लिए मरण-व्यवस्था बन गई है। देखें, इस डाकिन से आर्यों का पीछा कब छूटता है।" वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है। यह वर्ण-व्यवस्था ही हिन्दुओं में फूट, जाति-पाँति और छूत-छात की जननी है। इसे सिद्धान्त कहना भूल है।

यदि यह वर्ण-व्यवस्था समाज के लिए कोई शान्ति-दायिनी वस्तु होती तो आज बाज़ीगर, चमार और सरैहड़े लाखों की संख्या में मुसलमान न होते। आर्य-समाज में आकर उनको समता के अधिकार मिल जाते। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे सरकारी नौकरियों के लालच या कौंसिलों की मेम्बरी के लिए मुसलमान होते हैं। कोई कारण है, तभी आर्य-समाज की अपेक्षा इस्लाम उनको अधिक आकर्षित करता है।



वास्तविक सनातनी कौन हैं ?



महात्मा गांधी के हरिजन-आन्दोलन का सनातन-धर्म के नाम पर कुछ लोगों ने विरोध करना आरम्भ किया है। जहाँ महात्मा जी जाते हैं, वहाँ वे भी जाते हैं, उन्हें काले झण्डे दिखाते हैं और कहते हैं कि "गांधी लौट जाओ।" क्या सनातन-धर्म के नाम पर इन लोगों को यह सब करने का अधिकार है? क्या शेष लोग सनातनी नहीं हैं? सहयोगी 'विकास' ने इस सम्बन्ध में एक विचारपूर्ण अग्र-लेख प्रकाशित किया है। उसका कुछ अंश हम नीचे देते हैं—

प्रश्न यह है कि क्या इस उत्पात का उत्तरदायित्व वस्तुतः सनातन-धर्मियों पर है? और क्या इस आन्दोलन के पीछे सचमुच सनातन-धर्मियों का लोकमत है?

विचारशील पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है। न तो यह आन्दोलन ही सनातन-धर्म का है और न सामूहिक रूप से सनातन-धर्म इसे पसन्द ही करते हैं। सनातन-धर्म के वास्तविक और विश्वविख्यात नेता महामना मालवीय जी का गांधी जी के साथ जो स्नेह-सम्बन्ध है उस पर कुछ लिखना पत्र के कालमों का दुरुपयोग करना है। और वे इस समय जिस निर्भीकता से महात्मा जी के अस्पृश्यता-सम्बन्धी मिशन की पूर्ति में लगे हुए हैं वह भी पाठकों से छिपा हुआ नहीं है। उनकी अखिल भारतीय सनातन-धर्म महासभा का इस सम्बन्ध में जो रुख है वह उसके प्रस्तावों से स्पष्ट है। भारतवर्ष में यदि कोई सनातन-धर्मी संस्था वास्तव में संगठित कही जा सकती है तो वह पंजाब-प्रतिनिधि सभा है। प्रसन्नता की बात है कि वह अखिल भारतीय महासभा से सम्बद्ध होगई है और उसके प्रचारक निर्भीकता के साथ अस्पृश्यता और मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में वाणी और लेखनी-द्वारा प्रचार कर रहे हैं। गुरुवयूर के मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश के लिए जो मत-गणना की गई उसमें ६० प्रतिशत सम्मतियाँ गांधी जी के साथ थीं। इस सम्बन्ध में एक बार महात्मा जी को यरवदा-जेल में एक पत्र लिखा गया था कि आप अपने वक्तव्यों में मन्दिर-प्रवेश के विरोधियों को सनातनी के नाम से पुकार कर उनके साथ अन्याय कर रहे हैं। उनके लिए आप कट्टरपन्थी या और कोई नाम चुनें, क्योंकि उपर्युक्त प्रमाणों से सनातनियों का बहुमत आपके साथ होना सिद्ध है। महात्मा जी ने इसके उत्तर में लिखा कि हमें नाम के झंझट में न पड़कर सनातन-धर्म की सेवा करते रहना चाहिए। भविष्य स्वयं बता देगा कि वास्तविक सनातनी कौन हैं?

हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ और हरिजन

हरिजनों का एक दल जिसके नेता डाक्टर अंबेदकर हैं, महात्मा गांधी के वर्तमान हरिजन-आन्दोलन से असन्तुष्ट ही नहीं है बल्कि उसे व्यर्थ भी समझता है। इस दल की ओर से हाल में ही "अधिकार" नाम का लखनऊ से एक साप्ताहिकपत्र प्रकाशित होने लगा है। हरिजन-आन्दोलन को व्यर्थ सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए इस पत्र ने अपने एक अग्रलेख में

यह इशारा किया है कि हिन्दू-धर्म के अन्दर रहने से हरिजनों का उद्धार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में सहयोगी ने जो दलीलें पेश की हैं वे ध्यान देने योग्य हैं—

हिन्दू-धर्म साम्यवादी धर्म नहीं। उसकी जड़ अधिकार-भेद और उसका विधान वर्ण-व्यवस्था है। हनुमान-चालीसा से लेकर वेद भगवान् तक सारे ब्राह्मणी हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ इस वर्ण-भेद एवं अधिकार-भेद का पोषण करते हैं। प्रसिद्ध हिन्दू-धर्म की पुस्तकें गीता, महाभारत और रामचरितमानस आदि इस भेद-भाव से कूट-कूट कर भरी हैं। गीता की बुनियाद ही वर्ण-विरुद्ध धर्म को क़बूल करने से अर्जुन को रोकना है। अर्जुन कहता है—"मैं भीख माँग कर खाऊँगा, मगर अपने बुज़ुर्गों को मारकर उनके ख़ून से सने राज को न भोगूँगा।" कृष्ण कहते हैं—"भीख माँगना ब्राह्मण का धर्म है! तू क्षत्री है, तेरा धर्म युद्ध करना है।" कृष्ण के इसी मुख्य उत्तर का विस्तार गीता के शेष १७ अध्याय हैं। महाभारत में कर्ण जैसा वीर-शिरोमणि हमेशा "दासीपुत्र" और "शूद्र" कहकर तिरस्कृत किया गया, एकलव्य-जैसे धनुर्विद्या के जाननेवाले का अँगूठा अछूत-जाति का होने के कारण काटा गया! रामायण में तपस्वी शंबूक शूद्र का रामचन्द्र ने सिर काट डाला! रामचरितमानस में तो ब्राह्मणों की अगाध महिमा और शूद्रों की अपरिमित नीचता के वर्णन की हद कर दी गई है। रामचन्द्र का अपार हित करनेवाले गुहराज निषाद की तारीफ़ की गई है—"जासु छाँह छुइ लेइ असींचा।" शरीर के छुआछूत की कौन कहे, उसकी परछाईं भी छू लेने से अपवित्र हो जाने का ढिंढोरा पीटा गया है! कथा-प्रसंग में मौक़े के साथ ग़रीब शूद्रों को ढोल की तरह पीटने का इशारा किया गया है। ब्राह्मण के लिए यहाँ तक कहा गया है कि "चाहे वह शाप देता हो, गाली देता हो, कलेजा छेदनेवाली बात कहता हो, मारता हो, तो भी उसके चरणों में गिरकर उसकी पूजा ही करनी चाहिए; उसके अनादर का कभी ख़याल तक न करना चाहिए।" और भी कह दिया गया है कि "इस विधान की अगर कोई निंदा करता हो, यदि वश चले तो उसकी ज़ुबान काट लेना चाहिए, और बस न चले तो अपने कानों को बंदकर फ़ौरन वहाँ से चल देना चाहिए।" इत्यादि। इन्हीं सब धर्म-ग्रंथों से हिन्दू-मनोवृत्ति बनी है, और बनती रहती है। जिस समाज में इन ग्रंथों की आरती उतारी जाती हो, इनके जलूस निकाले जाते हों, इनकी जयंतियाँ मनाई जाती हों, दिन-रात ऊँचे-ऊँचे आसनों पर बैठकर ब्राह्मण कथावाचकों-द्वारा इनकी कथायें सुनाई जाती हों, इनके नाटक किये जाते हों, इनके हिंदी-अनुवाद बेशुमार रंग-बिरंगी तसवीरों के साथ छापकर हिन्दू-पब्लिशर लाखों की दौलत कमाते हों, इनके सिनेमा दिखाये जाते हों, इन पर भाष्य, टीका, व्याख्या, काव्य-नाटक और उपन्यास इत्यादि लिखे जाते हों, इनकी प्रशंसा और इनकी अंधभक्ति में उन्मत्त होकर लोग पागल की तरह ताली बजाकर नाचते हों, उस समाज से इन्हीं ग्रंथों की महिमा बढ़ाकर ऊँच-नीच और छुआछूत का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न करना यदि बाँझ का बेटा तलाश करना, बैल का दूध लेने जाना तथा आकाश के फूलों की माला पहनने की कामना करना नहीं है तो और क्या है?

साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़

भारतवर्ष की राजनैतिक उन्नति के मार्ग में साम्प्रदायिकता सबसे बड़ी बाधा है। यह हर्ष की बात है कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू की घोषणा पर इसको मिटाने के लिए संगठित रूप से प्रयत्न आरम्भ हो गया है। इस सम्बन्ध में सहयोगी 'कर्मवीर' में 'एक भारतीय' का बहुत ही विचारपूर्ण लेख छपा है। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सर मुहम्मद इक़बाल बेचारे हिन्दू-मुसलिम मेल की चर्चा करने चले। सर मुहम्मद के विचारों की वक़त थी, जब वे भारत के लोगों से कवि के नाते कहा करते थे—

पत्थर की मूर्ती को
समझा है तू, ख़ुदा है;
ख़ाके वतन का मुझको
हर ज़र्रा देवता है।

किन्तु जब उन्हें, साम्प्रदायिकता याद आ गई, जब 'ख़ाके वतन' का 'हर ज़र्रा' देवता नहीं रह गया, तब वे मेल की चर्चा करने चले। किस मेल की? सर मुहम्मद कहते हैं कि यदि हिन्दू लोग मुसलमानों की १४ माँगें मान लें तो मुसलमान भी हिन्दुओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ें।

सर मुहम्मद ने गोलमेज़-परिषद् में मेल न हो सकने का इलज़ाम महात्मा गांधी पर डालने की कोशिश की है। महात्मा गांधी से मिलने के लिए सर इक़बाल और उनके साथी तैयार ही कब थे? सर इक़बाल और उनके साथियों ने मिलकर एक तो राष्ट्रीय मुसलमानों को गोलमेज़-परिषद् में नहीं आने दिया, दूसरे अपने अँगरेज़ प्रभुओं से मिलकर सारी बात पहले ही निश्चय कर ली, और भारतीय स्वतन्त्रता को दफ़ना देनेवाली माँगें महात्मा जी के सामने रक्खीं। ऐसे समय यदि हिन्दू-मुसलिम मेल के कोई दुश्मन थे तो या तो वे साम्प्रदायिक जो अपने धन-वैभव और ब्रिटिश प्रेम को राष्ट्र के नाम पर ख़तरे में नहीं पड़ने देना चाहते थे, या फिर वे ब्रिटिश अधिकारी जो हिन्दू और मुसलमानों को लड़ते रहने में भारतीय पराधीनता तथा ब्रिटिश निरंकुशता को अधिक दिनों तक जीवित रहती समझते थे।

हमारे देश का साम्प्रदायिक विरोध हिन्दू और मुसलमान धनिकों, पद-लोलुपों और राजभक्तों का एक खिलौना है। जब तक पार्लियामेंट में भारत-शासन-विधान पास नहीं हो जाता तब तक शासकों के हाथों अपनी अन्तरात्मा रहन रख चुकनेवाले ये मित्रगण बराबर 'मेल न होने देने के लिए' मेल की यह चर्चा चलाये जायँगे! पण्डित जवाहरलाल ने राष्ट्र के बलवान् नेता का-सा साहस और निश्चय प्रकट किया जब उन्होंने साम्प्रदायिकों को फटकार दिया। सर मुहम्मद ने महात्मा जी पर आक्रमण करके लोगों के घटनाओं को भूल जानेवाले स्वभाव का दुरुपयोग करना चाहा, और महात्मा गांधी पर कीचड़ फेंकना चाहा। पर विश्वास किसे हो?

पण्डित जवाहरलाल नेहरू की घोषणा पर बम्बई के नेताओं ने मिलकर साम्प्रदायिकता को देश से खोद बहाने के लिए कमर कसी है। उन सज्जनों का निश्चय है कि "देश की स्वतन्त्रता के दुश्मनों से समझौता करनेवाला मेल का हामी नहीं हो सकता; कट्टर साम्प्रदायिकतावादियों का तो विरोध ही किया जाना चाहिए, उनसे तो लड़ा ही जाना चाहिए।" वे कहते हैं कि "देश की स्वतन्त्रता के पथ में धार्मिक भावों को उकसा कर देश के मेल को ख़तरे में डालनेवाले लोगों का कड़ा विरोध किया जाना चाहिए।" इन प्रयत्नशीलों में श्रीमती सरोजिनी नायडू हैं, डा० हार्डीकर हैं, सैयद अबदुल्ला बरेलवी हैं, भूलाभाई देसाई हैं, मिस्टर नरीमेन हैं, श्री अब्दुल रहमान मीठा हैं, श्री महरअली हैं, श्री उमाशंकर जी दीक्षित हैं। और कितने ही कसे हुए देश-भक्त हैं। हमारे विचार से राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ अकाण्ड तांडव करनेवाले साम्प्रदायिक पागलपन का यही उचित जवाब है।

पञ्चवर्षीय आयोजन

संयुक्त-प्रान्त के आर्थिक विकास के लिए श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि ने प्रान्तीय कौंसिल में पञ्चवर्षीय आयोजन-सम्बन्धी जो प्रस्ताव उपस्थित किया था उस पर एक अग्रलेख लिखते हुए सहयोगी भारत ने इस आयोजना के विरोधियों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से उत्तर दिया है। और उस आयोजन के समर्थन में जो लिखा है उसका एक अंश इस प्रकार है—

सच बात यह है कि अब ज़माना बहुत गिर गया है। हमारे प्रान्तवासियों की दरिद्रता बहुत बढ़ गई और उसको दूर करने के लिए लगान में छूट अथवा इस प्रकार के अन्य अस्थायी उपायों से काम नहीं चल सकता। उसके लिए तो अब किसी न किसी प्रकार की संगठित आर्थिक आयोजना ही करनी होगी। परन्तु स्वयं अपनी ओर से इस प्रकार की कोई आयोजना पेश करना तो दूर रहा,

सरकार उसका विरोध करना ही अपना कर्तव्य समझती है। यदि सरकार अपनी आयोजनाओं-द्वारा प्रजा को संतुष्ट रख सके तो वह कितना भी क्यों न भड़काई जाय उसका कोई भी असर न होगा। इसके विपरीत यदि सरकार इस आर्थिक दुर्दशा की ओर से आँखें बंद रखना ही अपना कर्तव्य मानती है तो जल्द ही एक ज़माना ऐसा भी आ जाना असंभव नहीं है जब कि बिना किसी प्रकार के भड़काने के प्रजा ख़ुद ही भड़क सकती है। श्रीयुत चिन्तामणि ने आर्थिक आयोजना-संबंधी प्रस्ताव कौंन्सिल में पेश करके प्रान्त की सेवा करने के साथ ही सरकार को बहुत उचित चेतावनी दे दी है। युक्त-प्रान्त की सरकार को चाहिए कि इस प्रस्ताव पर वह अब पूर्ण उत्साह और तबीयत से काम करे और प्रान्त के लिए पञ्चवर्षीय आर्थिक आयोजना तैयार करके अन्य प्रान्तों को भी इसी मार्ग पर चलने के लिए पथ-प्रदर्शन करे।

ग़रीबों का स्वराज्य

उपर्युक्त शीर्षक के अन्दर सहयोगी 'अर्जुन' में प्रोफ़ेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि अब स्वाधीनता की इच्छा झोपड़ों में रहनेवाले ग़रीबों तक पहुँच गई है और इस समय देश में जो विविध आन्दोलन चल रहे हैं वे इसी इच्छा के विभिन्न स्वरूप हैं। इस सिलसिले में हरिजन-आन्दोलन और किसान-मज़दूर-आन्दोलन का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

देश में इस समय दो और बड़े आन्दोलन चल रहे हैं। एक हरिजन-आन्दोलन और दूसरा किसान-मज़दूर-आन्दोलन। दोनों आन्दोलनों का लक्ष्य जाति के उस हिस्से को संगठित और जागृत करना है जिसे हम वृक्ष के तने या मकान की दीवारों से उपमा दे सकते हैं। वृक्षों के फल खाये जाते हैं और फूलों से आँखों को तृप्त किया जाता है, परन्तु तने के बिना यह कुछ भी नहीं। असली आधार तो तना है। मकान की छाया छत से है, परन्तु छत का सहारा दीवारें हैं। वृक्ष का तना मज़बूत नहीं तो वह समय से नहीं लड़ सकता। ज़रा-सा हवा का झोंका या छोटा-सा राह जाते का धक्का वृक्ष के गिराने के लिए पर्याप्त होगा। हरिजन-आन्दोलन और किसान-मज़दूर-आन्दोलन का उद्देश जाति के तने की रक्षा करना और उसे मज़बूत बनाना है।

देखने में हरिजन-आन्दोलन और किसान-मज़दूर आन्दोलन दो प्रतीत होते हैं, परन्तु गहरे विचार के अनन्तर हर एक व्यक्ति इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि उनका लक्ष्य एक है। वह लक्ष्य है भारत की ग़रीब प्रजा को जागृत करना। उसमें स्वाधीनता की चाह पैदा करना और उस लड़ाई के लिए तैयार करना जिसका फल यह होगा कि ग़रीबों की ग़रीबी, निर्बलों की निर्बलता और अधिकारहीनों की अधिकार-हीनता जाती रहेगी। वही ग़रीबों का स्वराज्य होगा।

महात्मा गांधी एक गाँव में

महात्मा गांधी का विश्वास है कि गाँववालों की ग़रीबी दूर करने के लिए खादी ही अमोघ औषध है। अपने मध्यप्रान्त के दौरे में एक ऐसा गाँव जिसके निवासियों ने उनके विश्वास के अनुसार खादी को अपनाया है, देखने पर वे 'हरिजन-सेवक' में लिखते हैं—

जो झोपड़े अनन्तपुर में मैंने देखे उनके बारे में भी यहाँ दो शब्द कहूँगा। मैं छः से अधिक झोपड़ों में गया। उनमें से एक झोपड़ा हरिजन का भी था। यहाँ यह कहना ही पड़ता है कि इस खादी-सन्देश के अनुसार काम करने में हरिजन भाई सबसे अधिक तत्पर पाये गये।

झोपड़े नीची छतों के थे। उनकी कच्ची दीवारें मिट्टी की बनी हुई थीं। हवा और रोशनी आने के लिए झरोखे तो नाम को भी कहीं नहीं थे। झोपड़ों में सन्दूक़ और धातु के बर्तन-भांड़े तक न थे। जिन्होंने अपने लिए खादी बुन ली थी उन्हें छोड़कर बाक़ी

लोग कटे-फटे चिथड़े पहने हुए थे। मैंने उनके पास जो कुछ देखा वह साल भर का नाज रखने के लिए उनकी मिट्टी की खाली कुटिया ही थी। एक ही कोठा रसोई बनाने, रहने और सोने के काम में लाया जाता है। उनके बिस्तरे भूसे या पयाल के थे, और वे कुछ चिथड़ों से ढँके हुए थे। यह बात वहाँ नहीं थी, जहाँ उन्होंने अपने लिए कुछ खादी बुन ली थी। अब उनका भोजन सुनिए—ज्वार की पनपथी रोटियाँ और तेल या बिना तेल की दाल या दल-भजिया। दूध-घी तो शायद ही उन्हें कभी नसीब होता हो। जिस चमार भाई का झोपड़ा मैंने देखा, वह तो एक अपवाद था। उसके यहाँ दो गौएँ थीं। उसे और उसके बच्चों को कभी दूध की एक बूँद मिल जाती है या नहीं, यह तो एक दूसरी बात रही। गाँववालों को अपर्याप्त ही भोजन मिलता है और पहनने को कपड़े तो और भी कम। पूरे बारह महीने कुछ बच्चे तो बिलकुल नंग-धड़ंग ही रहते हैं। दिन में धूप से और रात में फूस की आग से वे अपने ठिठुरते हुए तन को गरम कर लेते हैं। मुझसे कहा गया कि अनन्तपुर में कुछ ऐसे परिवार हैं जिन्होंने खद्दर के धन्धे को एक पैसे की रुई ख़रीद कर शुरू किया था। एक पैसे की रुई ख़रीद कर जो सूत काता गया उसे बेचकर दूसरे दिन दुगुने से काम शुरू किया गया। इस तरह धीरे-धीरे पूँजी बढ़ाकर अब वे अपने कपड़े आप तैयार करने लगे हैं।

मेरे दौरे के अवसर पर जो विवरण-पुस्तिका तैयार की गई थी उसमें से यहाँ कुछ अंश मैं नीचे उद्धृत करता हूँ—

सारे सामान की यह लागत है—

ओटने की चर्खी	।≶)
धुनने की कमान, तांत और हत्था	।।−)।।
चरखा और तकुआ	।≶)।।
अटेरन या नटाई	−)
३२ इंच चोड़ा करघा और उसका सामान	३)
	४।।)

अनन्तपुर के चारों ओर पांच मील के चक्कर में १७ गाँवों में हम खादी का काम करते हैं। इन गाँवों की आबादी ४,५०० के लगभग है। हमारे श्रम के फल-स्वरूप ८० प्रतिशत लोगों ने धुनना सीख लिया है। सौ से अधिक आदमी बुनना सीख गये हैं।

गाँववालों के काम करने का औसत साल भर में १२० दिन का है—शेष समय में वे बिलकुल बेकार बैठे रहते हैं। आज-कल हर एक आदमी बेकारी के दिनों में से साल भर में औसत ५०० घण्टे खादी के काम में लगाता है। हमारा आदर्श तो यह है कि यह औसत साल भर में हम १६०० घण्टे तक पहुँचा दें।

हमारे मासिक ख़र्च का औसत ३२५) है। अखिल-भारतीय चर्खा-संघ की ओर से हमें यह पैसा मिलता है।

इस महान् प्रयोग की ओर जनता का ध्यान मैं केवल इसलिए ही आकर्षित नहीं करता कि हरिजनों को इससे कहाँ तक लाभ है, बल्कि इसलिए भी कि तमाम गाँववालों पर खादी के इस सफल प्रयोग का कैसा प्रभाव पड़ता है। इस प्रयोग का उद्देश सिर्फ़ हरिजन-सेवा ही नहीं है, इसका उद्देश तो केवल चरखे के द्वारा उन ग़रीब ग्रामवासियों की सेवा करना है जिन्हें पर्याप्त भोजन और वस्त्र नहीं मिलते। खादी के द्वारा ग्राम-सुधार करने का इससे अधिक सरल, सस्ता और प्रभावकर प्रयोग मैं नहीं जानता। फ़िलहाल उन्नति तो निस्सन्देह धीमी मालूम होती है, मगर मुझे उम्मीद है कि अन्त में इस प्रयोग के द्वारा ही उन्नति की गति तेज़ से तेज़ देखने में आयेगी।

अमरीका का एक राक्षसी कार्य्य

संसार को सभ्यता का उपदेश देनेवाले अमरीका के गोरे निवासी इस बीसवीं सदी में भी ऐसे ऐसे अमानुषिक कार्य करते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे ही कार्यों में 'लिंचिंग' भी एक है। लिंचिंग का अर्थ है किसी मनुष्य को पकड़कर मनमाने तौर पर पीटना और उसे ज़िन्दा जला

देना। यह व्यवहार वहाँ के गोरे निवासी हबशियों के साथ करते हैं। इस प्रकार सन् १९३३ में २१ व्यक्ति ज़िन्दा जलाये गये। सहयोगी 'आज' ने 'हिन्दू' से लेकर हाल की एक लोमहर्षण घटना प्रकाशित की है, जिसका ज्ञातव्य अंश नीचे दिया जाता है—

यद्यपि यह बात बार बार कही जाती है कि अमरीका की 'लिंचिंग' की आदत छूटती जा रही है, पर अभी उस दिन मेरीलेंड रियासत के प्रिंसेस एनी क़स्बे में एक अत्यन्त लोमहर्षण लिंचिंगकाण्ड हुआ है।

कहा जाता है कि लिंचिंग के शिकार अभागे हबशी ने एक अधेड़ यूरोपियन स्त्री पर बलात्कार करने की बात स्वीकार कर ली थी। घटना का समाचार सुनकर ४ हज़ार गोरों की भीड़ जिसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, जेल के फाटक पर चढ़ गई और लगी उसे तोड़ डालने के लिए ज़ोर ज़ोर से पीटने।

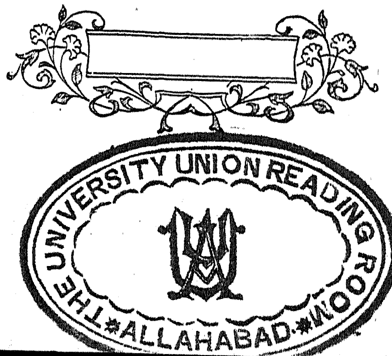
बात की बात में उपद्रव ने उग्ररूप धारण कर लिया। यहाँ तक कि भीड़ ने दर्जनों कान्स्टेबुलों को ईंटों और डण्डों से पीटकर पटरा कर दिया और फिर जेल के फाटक को तोड़ डाला।

तथोक्त अपराधी हबशी अपनी कोठरी से बाहर खींच लाया गया। भीड़ ने उसकी गर्दन में रस्सी डालकर उसे एक मोटर के पीछे बाँध दिया और शहर की सड़कों पर घसीटने लगी। अनन्तर उसे एक पेड़ के सहारे फाँसी लटका दिया और फिर उसे कुछ देर फांसी का तमाशा देख लेने के बाद शहर के बीचोबीच ले जाकर जीता ही जला डाला। अग्निकुण्ड के सब ओर इतनी ज़बर्दस्त भीड़ थी कि पुलिस हज़ार प्रयत्न करके भी अभागे हबशी को बचाने के लिए उसके पास न पहुँच सकी।

एक १८ वर्षीय गोरे नवयुवक ने जीवित अवस्था में ही उसका एक कान काटकर रख लिया और वह उसे उस पैशाचिक काण्ड की निशानी के तौर पर घर ले गया।

कहा जाता है कि अमरीका के गोरे अपनी स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते हैं। पर प्रिंसेस एनी के एक संवाददाता का तार है कि "शाहबलूत के पेड़ के नीचे स्त्रियों और बच्चों की विद्यमानता में हतभाग्य हबशी के सारे कपड़े फाड़ डाले गये और वह कई मिनट तक नंगा-धड़ंगा पेड़ से लटकता रहा।" गोरी जनता इतनी क्रोधोन्मत्त हो रही थी कि अभागा जब नीचे ज़मीन पर गिर पड़ा और इतना बेदम हो रहा था कि उठ भी नहीं सकता था तब भी उसकी देह पर ताण्डव नृत्य करते रहे।

क्या इन सब लोगों को कोई सज़ा दी जायगी? सम्भावना तो नहीं है। मेरीलेंड की फ्री स्टेट में लिंचिंग की १५ घटनाओं का हाल में राज्य ने पता लगाया है, पर एक भी मुक़द्दमा नहीं चला। कहा जाता है कि मेरीलेंड रियासत दक्षिण में है और दक्षिणी जनता उत्तेजित होने पर उत्तरी जनता की अपेक्षा अधिक उच्छृंखल हो जाती है। पर उत्तरी शिकागो के पूर्वी लुई और स्प्रिंगफ़ील्ड में भी तो जहाँ अब्राहम लिंकन की आत्मा अपने मक़बरे में विश्राम कर रही है, हाल की वर्षा में अनेक हबशी लिंच किये गये हैं—जंगली जानवरों की तरह 'हँकवा' करके शिकार किये गये हैं। इन सामूहिक नरमेधों में शामिल होनेवाले भारत के जाति-भेद की निन्दा में मुँह खोलने का साहस करते हैं।



सम्पादकीय नोट

योरप की अशान्ति

योरप की वर्तमान राजनैतिक अवस्था से वहाँ के बड़े बड़े लोगों को भी शान्ति-भङ्ग होने की आशंका होने लगी है। वहाँ के अख़बारवाले तो कभी से उसके स्वप्न देख रहे हैं।

हमारे यहाँ भारत में भी ज्योतिषी तक उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ कर रहे हैं।

बँगलोर के श्री जे० एस० बी० शास्त्री 'हिन्दू' अख़बार में लिखते हैं—"१६ नवम्बर के 'बँगलोर मेल' में मैं एक लेख लिख चुका हूँ। इसमें मैं यह भविष्यवाणी कर चुका हूँ कि सन् १६३४ में पश्चिमीय देशों में युद्ध होगा। मैंने यह भविष्यवाणी अख़बार में प्रकाशित ख़बरों और विचारों के आधार पर नहीं की है, वरन नक्षत्रों तथा ग्रहों की चाल का हिसाब लगाकर मैंने अपने विचार प्रकट किये हैं।

"२३ जनवरी को १२ वें स्थान से छठे स्थान तक कोई ग्रह न होंगे, अर्थात् काल-सर्प-योग होगा। इस योग का परिणाम आर्थिक विप्लव, युद्ध तथा कष्ट होगा। यह दशा एक मास तक जारी रहेगी और इसके परिणाम मार्च मास के अन्त तक होंगे। अतः २३ जनवरी सन् १६३४ से मार्च के अन्त तक के समय में युद्ध होगा। × × × ×

"जब सन् १६१४ में महायुद्ध हुआ था तब उस समय भी इसी प्रकार के ग्रह आगये थे।"

इस प्रकार भावी युद्ध की चर्चा ज़ोरों पर हो रही है। ऐसी अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि योरप के वर्तमान कर्णधारों के आगे विकट समस्या है और वे उसका अपने अनुरूप सामना भी कर रहे हैं। ऐसे संकट-काल पहले भी आचुके हैं और योरप के राजनीतिज्ञों ने तलवार को म्यान से बाहर नहीं होने दिया है। इसके लिए उनकी जितनी अधिक प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। और इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही ग्रेट-ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों का प्रमुख भाग रहा है। उन्होंने अब तक सब अवसरों पर उपस्थित होकर शान्ति बनाये रखने की योजनाओं से बराबर सहयोग किया है। इसके सिवा वे अपना सैन्य-बल दूसरों की तरह बढ़ाने के स्थान में घटाते रहे हैं। परन्तु जब इतने दिनों के बाद उन्होंने देखा कि अन्यान्य राष्ट्र विश्व-शान्ति के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति रखते हैं और वे अपना सैन्य-बल उत्तरोत्तर परिष्कृत तथा दृढ़ करते जा रहे हैं तब वे ग्रेट-ब्रिटेन की मर्यादा और प्रभुता को जोखिम में कैसे डाल सकते थे। फलतः अब उन्हें भी अपना सैन्य-बल बढ़ाना समयोचित जान पड़ा है।

हाल में ब्रिटिश सरकार ने अपने नौ-बल की वृद्धि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किया है उससे इस बात का ज़रूर संकेत होता है कि हवा का क्या रुख़ है। परन्तु इसके साथ ही ब्रिटिश राजनीतिज्ञ शान्ति की ओर जो तत्परता दिखा रहे हैं वह भी उपेक्षा की बात नहीं है। कहने का मतलब यह कि अभी शान्ति का पल्ला भारी है और जब तक ग्रेट-ब्रिटेन विक्षुब्ध नहीं होता तब तक योरप की शान्ति नहीं भंग हो सकती।

यह सच है कि फ़्रांस जर्मनी के हिट्लरवाद से शङ्कित हुआ है और वह जर्मनी के विरुद्ध तरह तरह के आरोप कर रहा है। 'टैम्प्स' लिखता है—"वर्सेल्ज़ की सन्धि के अनुसार जर्मनी १,००,००० सेना रख सकता है, पर कई सप्ताह पूर्व उसकी सैन्य-संख्या १,६९,००० हो गई थी,

और यह संख्या बराबर बढ़ रही है। सैनिक दल और नये नये अस्त्र-शस्त्र वह बराबर बढ़ा रहा है। उसने वर्सेल्ज़-सन्धि के विरुद्ध ऐंटी-टेंक गनें, नई बन्दूकें और नये ढङ्ग के हवाई जहाज़ बनाये हैं। जर्मन-सेना को दो हथियार बिलकुल नये दिये गये हैं—एक तो है सुरंग उड़ानेवाली तोप और दूसरा है ऐंटी-टेंक गन। जर्मनी अब अपने नये रिसाले भी बनवा रहा है, और भारी शस्त्रधारी मोटरों के रिसालों को सङ्गठित कर रहा है।

"सन् १९३२ से जर्मनी की पुलिस को साल में दो मास छुट्टी मिलती है, और इन दो महीनों में पुलिस के सिपाहियों को बाक़ायदा सैनिक शिक्षा दी जाती है। जर्मन-पुलिस का संगठन सैनिक पद्धति के अनुसार किया जा रहा है।

"जर्मन-सेना और जर्मन-पुलिस की संख्या मिल कर फ्रांस की स्थायी सेना के बराबर हो जाती है। जर्मनी की अन्य छिपी सेनायें भी हैं। हिटलर के 'शाक ट्रूप्स' और एसाल्ट ट्रूप भी सैनिक संगठन के ही अन्दर हैं।"

इस प्रकार फ्रांस और बेल्जियम यह बात ज़ोर देकर कह रहे हैं कि भीतर ही भीतर युद्ध की तैयारी करके जर्मनी ने वर्सेल्ज़ की सन्धि को भंग किया है। परन्तु ब्रिटेन और इटली इस ओर वैसा ध्यान देने की अपेक्षा जर्मनी से न्यायोचित समझौता करने में ही अधिक तत्पर दिखाई दे रहे हैं।

हर हिटलर ने सर एरिक फ़िलिप्स के ज़रिये एम० फ्रांकोइ पोंसेट के पास निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव भेजे हैं, जिनमें निम्नलिखित बातें मुख्य हैं—

(१) जर्मनी अपनी सरकारी सेना को घटा कर उसे कम मियाद की ३ लाख की संख्या की सेना कर लेगा। परन्तु जर्मनी एक-दूसरे राष्ट्र पर धावा न करने के विषय में समझौता कर लेगा। (२) यदि अन्य राष्ट्र भी जर्मनी का साथ दें तो वह राष्ट्रीय सैनिकवाद को हटाने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। (३) जर्मनी निरस्त्रीकरण के निरीक्षण में अन्य देशों का साथ देगा बशर्ते कि उसकी सेना के पुनर्गठन में बाधा न डाली जाय। (४) जर्मनी भारी शस्त्रों को बिलकुल ही मिटा देने के पक्ष में है, परन्तु वह अपनी रक्षा के लिए अन्य राष्ट्रों के समान ही लड़ाई के सामान चाहता है।

यद्यपि फ्रांस ने जर्मनी के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया है, तथापि शान्ति-प्रेमी राजनीतिज्ञ अपने प्रयत्न में लगे हुए हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की यह व्यवस्थित कार्य-तत्परता ही कुछ राजनीतिज्ञों को युद्ध का कारण प्रतीत हो रही है जो ठीक नहीं है, क्योंकि इन प्रयत्नों की बदौलत ही योरप में अब तक शान्ति स्थापित रही है और आशा है कि भविष्य में भी वह स्थायी ही रूप धारण किये रहेगी।

शासन-सुधार और सर तेज

'ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमिटी' से विदा होते समय सर तेजबहादुर सप्रू ने अपना जो मेमोरेंडम उसके सामने उपस्थित करने को कहा था वह पुस्तक रूप में प्रकाशित हो गया है। यह रायल साइज़ । १२० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। सर तेजबहादुर सप्रू जैसे व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ हैं, वैसे ही परिश्रमशील और विचारवान् भी हैं। आपने अपने इस मेमोरेंडम को जैसे परिश्रम से तैयार किया है, वैसा ही यह महत्त्वपूर्ण भी हुआ है। भारतीय राजनीति के प्रेमियों को इस मेमोरेंडम को अवश्य पढ़ना चाहिए। इसे पढ़ने पर वे समझ सकेंगे कि सप्रू महोदय ने भारतीयों की कम से कम माँग को कैसी प्रामाणिकता एवं दृढ़ता के साथ उपस्थित किया है। आपकी वह माँग मुख्यतः पाँच बातों पर आश्रित है जो इस प्रकार हैं—

(१) केन्द्रीय शासन लोकप्रतिनिधियों के प्रति उत्तर-दायी बनाया जाय। परिवर्तनकाल के लिए जो आवश्यक संरक्षण रक्खे जायँ वे भारत के हित में हों।

(२) प्रान्तों में स्वराज्य की स्थापना की जाय। परि-वर्तनकाल के लिए आवश्यक संरक्षण रक्खे जायँ।

(३) संरक्षित विषय गवर्नर जनरल के अधीन जितने समय के लिए रक्खे जायँ वह समय न तो अनिश्चित हो और न अधिक लम्बा ही हो।

(४) जिस नीति से संरक्षित विषय भी भारत-सरकार के हाथ में सुविधा के साथ अल्पकाल के भीतर चले जायँ और उनके विभागों की उपयुक्त व्यवस्था भी हो जाय, वह प्रारम्भ से ही ग्रहण की जाय।

(५) ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ़ नेशंस में भारत का क्या दर्जा होगा, उसकी विधान में स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए।

सर तेजबहादुर सप्रू की इन सूचनाओं के अनुसार भी यदि नये शासन-सुधार का क़ानून निर्मित होगा तो निस्सन्देह वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के विवेक का ही द्योतक होगा। वास्तव में उनको यह एक अलभ्य अवसर प्राप्त हुआ है और वे चाहें तो उसका सदुपयोग भारतीय साम्राज्य को सन्तुष्ट करने में कर सकते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि इसके पहले ऐसे जो जो अवसर आये थे उनमें अपने ही निश्चय को कार्य का रूप देने का आग्रह रखने से तत्कालीन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारतीयों को सन्तुष्ट करने में सफलता नहीं प्राप्त की। इसी से इस बार ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारतीयों का मतामत जानने के लिए जो राजोचित आयोजन किया वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हुआ है।

आयोजन के महत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर यही समझ में आता है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भारतीय नेताओं तथा राजनीतिज्ञों के विचारपूर्ण परामर्शों के अनुसार ही नये शासन-विधान की रचना करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देंगे—अपने पूर्व निर्दिष्ट परिणामों का उसकी रचना में आग्रह करके अपने पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों की भूल के शिकार नहीं बनेंगे। और इस सम्बन्ध में उन्हें सबसे अधिक उपयुक्त सहायता सप्रू महोदय के इस मेमोरेंडम से प्राप्त होगी। क्योंकि इसमें भारतीयों की कम से कम मांग का पूरा विवेचन किया गया है।

आयर्लेंड का फ़्री स्टेट

इँग्लेंड और आयर्लेंड के फ़्री स्टेट की समस्या सुलझने के स्थान में दिन दिन उलझती ही जाती है। इसका स्पष्टीकरण उस दिन पार्लियामेंट में उपनिवेश-मंत्री मिस्टर जे० एस० टामस ने प्रामाणिक रूप से कर दिया। उन्होंने बताया कि २९ नवम्बर को आयरिश फ़्री स्टेट ने सरकार के पास एक पत्र भेजा है, जिसमें सन् १९२१ की सन्धि का स्थायित्व नहीं स्वीकार किया गया है और यह पूछा गया है कि यदि फ़्री स्टेट ब्रिटिश-साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले तो ग्रेट-ब्रिटेन उसके विरुद्ध युद्ध तो नहीं घोषित कर देगा। इस पत्र का उत्तर ब्रिटिश-सरकार ने ५ दिसम्बर को दिया, जिसमें लिखा गया कि सन्धि-सम्बन्धी उसका मन्तव्य ब्रिटिश सरकार को नहीं स्वीकार है, क्योंकि वह स्थायी सन्धि है। रही सम्बन्ध-विच्छेद की बात सो दोनों देशों का प्राकृतिक सम्बन्ध ऐसा है कि फ़्री स्टेट को साम्राज्य के भीतर ही रहना चाहिए।

इस प्रकार इन दोनों देशों की सरकारों में कशमकश चल रहा है। उधर स्वयं फ़्री स्टेट में भी डी वेलरा की सरकार के विरुद्ध एक सुदृढ़ दल संगठित हो गया जिसका दमन करने को वहाँ की सरकार कड़े नियमों से काम ले रही है। यहाँ तक कि उस दल के प्रधान जनरल ओ० डफ़ी को पुलिस ने कैद कर लिया है। फ़्री स्टेट की इस समय ऐसी ही विकट परिस्थिति है।

हिन्दू-महासभा

'हिन्दू-महासभा' के नाम से इस समय जो काम हो रहा है वह राष्ट्रीयतावादी हिन्दुओं के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। फलतः उनका ध्यान उसकी कार्यवाही की ओर गया है और पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीयतावादी नेताओं ने हिन्दू-महासभा के वर्तमान रुख़ की कठोर टीका-टिप्पणी की है। यह सच है कि हिन्दू-महासभा का नेतृत्व डाक्टर मुंजे, भाई परमानन्द जैसे देशभक्तों के हाथ में है। परन्तु यह भी सच है कि इस बीसवीं सदी में वे हिन्दू-जाति को भारत में बसनेवाली अन्य जातियों से पृथक् रख कर ग़ैरियत की खाई बनाये रखने का उपदेश कर रहे हैं। और सो भी उस समय जब

भारत के नवयुवक जातिगत भेद-भावों को दूर कर भारत में राष्ट्रीयता की भावना के बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हिन्दू-महासभा की यह कार्यवाही राष्ट्रीयता के मार्ग का बाधक ही होगी। और हिन्दुओं की भलाई तो राष्ट्रीयता-वाद का ही मार्ग ग्रहण करने में है। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली है। यदि हिन्दू अधिक दृढ़ता और धैर्य से अपने राष्ट्रीयतावादी मार्ग पर आरूढ़ रहें तो हिन्दू-महासभा क्या, सभी सम्प्रदायवादी संस्थायें एक दिन अपने आप ठंडी पड़ जायँगी।

रिज़र्व बैंक बिल

उधर ज्वाइंट सेलेक्ट कमिटी के अधिवेशन समाप्त हुए और इधर असेम्बली में रिज़र्व बैंक बिल पेश हो गया। गोलमेज़-कान्फ़रेंस के अवसर पर सरकार ने कहा ही था कि संघ-सरकार की स्थापना के पहले भारत में रिज़र्व बैंक की स्थापना की जायगी। फलतः सरकार की ओर से नया शासन-विधान जारी करने का मार्ग परिष्कृत होना प्रारम्भ हो गया है।

उक्त बैंक की योजना तैयार करने के लिए सरकार ने लन्दन में एक पृथक् कमिटी बैठाई थी। उस कमिटी ने जो रिपोर्ट तैयार की उसके आधार पर भारत-सरकार ने बिल का मसविदा तैयार किया। उस पर विचार करने के लिए असेम्बली ने एक कमिटी नियुक्त की। कमिटी में यद्यपि एकमत नहीं हो सका। तो भी बहुमत की रिपोर्ट के आधार पर संशोधित मसविदे को सरकार ने असेम्बली में बिल के रूप में उपस्थित किया। असेम्बली के कई सदस्यों ने उसमें संशोधन कराने के लिए बहुसंख्यक संशोधन उपस्थित किये, पर उनमें दो को छोड़कर एक भी पास न हुआ और उक्त बिल क़रीब क़रीब जैसा का तैसा पास हो गया है।

असेम्बली की कमिटी में मतभेद की मुख्य बातें ये थीं—यह बैंक सरकारी हो, यदि सरकारी न हो तो ७५ फ़ी सदी हिस्सेदार और डायरेक्टर भारतीय हों, बैंक के गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नरों में एक भारतीय अवश्य हो, विनिमय दर का भी निर्द्धारण हो जाय, जिन उपनिवेशों में भारतीयों के साथ सद्व्यवहार न होता हो वहाँवाले बैंक के हिस्सेदार न होने पावें।

मतभेद रखनेवालों की इच्छा थी कि बिल में इन सब बातों की निष्पत्ति कर दी जाय। परन्तु भारत-सरकार के अर्थ-मन्त्री सर जार्ज शुस्टर को यह बात नहीं स्वीकार हुई, यद्यपि उन्होंने असेम्बली में अपने भाषण में यह कह कर कि ७५ फ़ी सदी से अधिक हिस्सेदार भारतीय होंगे और डायरेक्टरों में भी उनकी पर्याप्त संख्या होगी एवं गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नरों में भी भारतीय होंगे, मौखिक आश्वासन दिया है।

इस बैंक की स्थापना के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा है कि इससे संघ-सरकार को उपयुक्त सहायता न मिलेगी, क्योंकि इस पर उसका प्रभाव नहीं रहेगा। और उस दशा में वह देश की व्यावसायिक उन्नति के उद्देश से विनिमय की दर को अपनी सुविधा के अनुसार घटा-बढ़ा न सकेगी। कतिपय विशेषज्ञों ने इसके सम्बन्ध में निराशा के भाव व्यक्त किये हैं।

चाहे जो हो, बिल असेम्बली से पास हो गया है और सरकार अब बैंक के स्थापन के कार्य में प्रवृत्त होगी, क्योंकि इस बैंक की स्थापना के बाद ही संघ-सरकार का प्रवर्तन हो सकेगा।

स्पेन का गृह-युद्ध

स्पेन योरप का इतिहास-प्रसिद्ध देश है। किसी समय इसके नौ-बल के आगे योरप का कोई भी राष्ट्र नहीं ठहर सकता था। परन्तु अब यह योरप का तीसरी श्रेणी का राष्ट्र हो गया है। अभी तक यह राजतंत्र था। परन्तु पिछले दिनों यहाँ साम्यवादियों का बल बढ़ जाने पर स्पेन-नरेश को लाचार होकर अपना राज्य छोड़कर फ्रांस भाग जाना पड़ा। राजा के चले जाने पर साम्यवादी नेताओं ने स्पेन को प्रजातन्त्र-राज्य घोषित किया और वहाँ तदनुरूप शासन की व्यवस्था की। परन्तु हाल में पार्लियामेंट का जो नया चुनाव हुआ है

उसमें साम्यवादी अल्पमत में पड़ गये हैं और राजभक्तों का बहुमत हो गया है। फलतः इस डर से कि प्रजातन्त्र जोखिम में न पड़ जाय, साम्यवादियों ने एक प्रकार का विद्रोह कर दिया है। इस समय स्पेन में कई एक स्थानों में प्रकट विद्रोह हो गया है और अवस्था के सँभालने में प्रजातन्त्र-सरकार को कठिनाई से सामना करना पड़ रहा है। भूतपूर्व राजा अल्फेंसों ने जिस गृह-युद्ध के भय से राज्य तक को छोड़ देना उचित समझा था वही विभीषिका स्पेन के प्रजातन्त्री लोकनेताओं के आगे आ उपस्थित हुई है। राजा अल्फेंसों की भाँति वे उसे नहीं रोक सके और स्पेन में एक प्रकार का गृह-युद्ध आरम्भ हो गया है।

सर गणेशदत्तसिंह

बिहार और उड़ीसा प्रान्त के लोकल सेल्फ़ गवर्नमेंट के मिनिस्टर सर गणेशदत्तसिंह ने देशी मिनिस्टरों के लिए स्वदेश-सेवा का एक बहुत ही उपयुक्त आदर्श उपस्थित किया है। आप उक्त प्रान्त में सन् १९२३ से मिनिस्टर के पद पर आसीन हैं। इधर गत तीन वर्षों में आपने सार्वजनिक हित में साढ़े तीन लाख रुपये का दान किया है। सन् १९३१ में आपने एक लाख रुपया पटना-विश्वविद्यालय को इस उद्देश से दिया था कि उसकी आय से छात्रवृत्ति देकर चिकित्सा और विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विलायत को उपयुक्त छात्र भेजे जाया करें। उसके बाद दो लाख रुपये की दूसरी रकम इस उद्देश से दी कि उसके ब्याज से भारत या विदेश में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों को ऋण दिया जाया करे। अभी हाल में साठ हज़ार रुपये बच्चों के अस्पताल की इमारत बनाने के लिए दिये हैं। इस प्रकार आपने अपनी आय का सद्व्यय करने का सुन्दर उदाहरण दिखाया है। अपने हाल के कनवोकेशन में पटना-विश्वविद्यालय ने आपको डाक्टर आफ़ लॉ की डिग्री देकर आपका समुचित सम्मान किया है। यदि हमारे अन्य देशी मिनिस्टर सर गणेशदत्तसिंह के इस आदर्श का अनुकरण करने का संकल्प कर लें तो निःसन्देह इस देश का कहीं अधिक हित हो। हमें विश्वास है, उक्त मिनिस्टर महोदय अपनी इस उदार मनोवृत्ति से अपने प्रान्त की अभी और गहरी सेवा करेंगे। क्या ही अच्छा होता यदि ऐसे उदाराशय मिनिस्टर कम से कम एक ही एक प्रत्येक प्रान्त में अस्तित्व में आ जाते।

ब्रह्मदेश का भविष्य

पार्लियामेंट की भारत-सम्बन्धी ज्वाइंट सिलेक्ट कमिटी की बैठकें समाप्त हो गईं। और अब ब्रह्मदेश के सम्बन्ध में एक दूसरी वैसी ही कमिटी नियुक्त की गई है। यह कमिटी ब्रह्मदेशवासियों की गवाहियाँ लेगी। इसकी पहली बैठक में इस बात पर ख़ास वाद-विवाद हुआ कि ब्रह्मदेश को भारत के संघ-शासन में रखना चाहिए या उससे उसको स्वतन्त्र रखना चाहिए। यह प्रश्न ब्रह्मदेश में इधर बहुत दिनों से छिड़ा हुआ है और वहाँ के लोकनेता ब्रह्मदेश को भारतीय संघ से अलग रखने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने अपने इस मनोभाव को सरकार पर भले प्रकार व्यक्त भी किया है। परन्तु ब्रह्मदेश में भी एक दल ऐसा है जो ब्रह्मदेश को भारत से अलग कर लेना चाहता है। यद्यपि यह दल अल्प-संख्या में है एवं जनता का बल इसे वैसा नहीं प्राप्त है, तथापि ऐसा प्रकट होता है कि इसके पीछे स्वयं अँगरेज़-सरकार है। ज्वाइंट कमिटी के उक्त वाद-विवाद के अन्त में भारत-मन्त्री सर सेमुएल होर ने जो भाषण किया है उसमें उन्होंने ब्रह्मदेश को अलग रखने के सम्बन्ध में अपनी सम्मति ही नहीं प्रकट की है, किन्तु यह भी कह दिया है कि जनता का चाहे जो मत हो, सरकार का भी अपना एक मत है जिसके अनुसार कार्य्य करने को वह बाध्य है। सो इसे निश्चित ही समझना चाहिए कि ब्रह्मदेश भारत से अलग रहेगा। इस सम्बन्ध में ब्रह्मदेशवासियों का आवेदन-निवेदन अरण्यरोदन में ही परिणत होगा।

पाकिस्तान की योजना

'पाकिस्तान की योजना' भारतीय राजनैतिक क्षेत्र की एक नई पहेली है। उस दिन 'ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमिटी' के समक्ष अपनी गवाही में इसका उल्लेख या संकेत करके एक पादड़ी महोदय ने इसे कुछ महत्त्व भी दे दिया। अब दिसम्बर के पहले सप्ताह में 'पाकिस्तान नेशनल कांग्रेस' के सभापति मियां अब्दुलहक् ने एक वक्तव्य निकाल कर उसे हल भी कर डाला। उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है—

"हिन्दुस्तान और ब्रिटिश इंडियन इम्पायर एक नहीं हैं। ब्रिटिश इंडियन इम्पायर में कुछ ऐसे हिस्से हैं जो कभी हिन्दुस्तान में सम्मिलित नहीं थे। इतिहास के किसी समय में भी उन हिस्सों के रहनेवालों ने हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता स्वीकार नहीं की। उदाहरण के लिए पंजाब, सीमान्त प्रदेश, काश्मीर, सिन्ध और बलोचिस्तान हैं। उक्त प्रदेश ही हमारा पाकिस्तान और मातृभूमि है। हमेशा से इन प्रान्तों में रहनेवाले एक राष्ट्र के हैं। इनकी अपनी राष्ट्रीयता सबसे अलग है। इस पाकिस्तान की कुल जन-संख्या लगभग ४ करोड़ के है, जिनमें ३ करोड़ मुसलमान हैं। इनका सामाजिक रस्म-रवाज, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य इत्यादि सारे हिन्दुस्तान से बिलकुल भिन्न है। इनकी सभी कलायें हिन्दुस्तान से एक-दम भिन्न हैं।

"इन पांच प्रान्तों को मिलाकर एक अलग संघ-शासन मिलना चाहिए। यह शासन-विधान एक-दम स्वतंत्र हो। इसका संचालन पाकिस्तान के रहनेवाले ही करें। पाकिस्तान नेशनल कांग्रेस ने श्वेत पत्र पर बहुत अच्छी तरह से विचार किया है और वह इस निश्चय पर पहुँची है कि पाकिस्तान को अखिल-भारतीय-संघ-शासन कभी भी मान्य नहीं हो सकता × × ×।"

प्रसन्नता की बात है कि पंजाब के नेशनलिस्ट मुस्लिम वर्किंग कमिटी के सदस्य मौलाना अब्दुलमजीदख़ां ने इस वक्तव्य की कठोर शब्दों में निन्दा की है और आशा है कि अन्य ज़िम्मेदार मुसलमान नेता भी इस वक्तव्य की निन्दा करेंगे। हमें विश्वास है कि हिन्दू लोग इस वक्तव्य को उतना भी महत्त्व न देंगे और इसे खां साहब के शब्दों में 'घोर कुटिलता' समझकर भूल जायँगे।

स्वदेशी का प्रचार

इस समय देश में स्वदेशी की भावना ज़ोरों पर है। जगह जगह स्वदेशी वस्तुओं की जो प्रदर्शनियां हो रही हैं उनके संगठन में तथा उन्हें यथा-सम्भव सफल बनाने में उस श्रेणी के लोग भी सोत्साह भाग ले रहे हैं जो अभी तक ऐसे सार्वजनिक कार्यों से अपना सम्बन्ध रखना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे। ये सब चिह्न निस्सन्देह शुभ हैं। परन्तु स्वदेशी की उन्नति तथा उसका प्रसार तभी सम्भव होगा जब हमारे ये नेता लोग स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण के आयोजनों की व्यवस्था में भी इसी प्रकार भाग लेंगे।

कई वर्ष हुए 'सरस्वती' में एक प्रोफ़ेसर महोदय ने एक अँगरेज़ी पत्रिका के पुराने अंक में छपे हुए एक लेख का भाषान्तर छपवाया था। उस लेख में यह सिद्ध किया गया था कि विलायती ऊनी वस्त्र किस तरह चिथड़ों से तैयार किये जाते हैं। उक्त लेख के जैसे ही विचार १० दिसम्बर के 'प्रताप' के 'विलायती और काश्मीरी ऊन में अन्तर' शीर्षक लेख में प्रकट किये गये हैं। इसमें लिखा गया है—

"सारे संसार में कच्चे ऊन की उत्पत्ति बहुत कम होती है और ऊनी कपड़ों की खपत अत्यधिक होती है। इस खपत को पूरा करने के लिए इँग्लेंडवालों ने सड़े-गले फटे-पुराने कपड़ों को जोड़कर उन्हें कूटकाट मलीदा बनाकर उसको ऊनी कपड़े की शक्ल में लाने का प्रबन्ध किया। उसमें थोड़ी-सी रुई भी मिला दी, जिससे वह अधिक खूबसूरत प्रतीत होने लगे। इस प्रकार पैदा किये हुए कपड़ों को अँगरेज़ी में 'शोडी' कहते हैं।

"आज ग्रेट-ब्रिटेन की समस्त दस्तकारियों में से केवल एक 'शोडी' की दस्तकारी ऐसी है जिसको पूरे तौर पर स्थानीय दस्तकारी कहा जा सकता है।

आज वहाँ पर ६०६ ऊन की मशीनें काम कर रही हैं, जिनमें से ८८१ के क़रीब वाटली और उसके इर्द-गिर्द के इलाक़ों में फैली हुई हैं। इनमें से ४६६ 'शोड्डी' बनानेवालों के हाथ में हैं और बाक़ी ऊनी फ़ैक्टरियों में लगी हुई हैं। एक समय था जब वाटली को पूरा अधिकार था। एक प्रकार से व्यापार का एकाधिपत्य मिला हुआ था। परन्तु अब नहीं। हर एक राष्ट्र अब अपने अपने फटे कपड़ों को स्वयम् काम में लाने लगा है। इँग्लेंडवाले अब भी और देशों से फटे कपड़े ख़रीदते हैं। मज़दूरों की संख्या से पता चलता है कि इँग्लेंडवाले तथा और राष्ट्रवाले भारतवर्ष, अफ़्रीका, दक्षिण अमेरिका इत्यादि देशों के फटे कपड़ों को अब भी कूट कूटकर ऊन बनाते हैं।"

यह हाल है पाश्चात्य देशों के व्यवसायियों का कि चीथड़ों से उत्तमोत्तम वस्त्र तैयार कर मालामाल हो रहे हैं। एक हैं हमारे भारतीय व्यवसायी जो पाश्चात्यों के अनुकरण पर नये ढंग के कारबार तो खोलते हैं, पर व्यवहार-कुशल न होने से घर के धान पयाल में मिला देते हैं। वे कारख़ाना खोलकर उसका सारा उत्तरदायित्व कारख़ाने के वैज्ञानिकों पर लाद देते हैं और उन्हीं से उसके प्रबन्ध से लेकर माल तैयार करने तक का ही नहीं, विज्ञापनबाज़ी का भी काम लेने की आशा करते हैं। ऐसी दशा में बेचारे विशेषज्ञ चक्कर में पड़ जाते हैं, न अपना काम कर पाते हैं, न वह काम जिसके वे विशेषज्ञ नहीं होते और जिसे मालिक उनसे लेना चाहता है। फल यह होता है कि एक दिन कारख़ाना मचमचा कर बैठ जाता है।

अतएव समर्थ स्वदेशी के प्रेमियों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए और उन्हें नये नये धन्धे चलाने के ढंग सीखने चाहिए। अभी यहाँ स्वदेशी के प्रचार और प्रसार के लिए प्रदर्शन ही प्रदर्शन है। कहते हैं कि भारत में ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान की अच्छी पढ़ाई होती है। यहाँ ऊपर विलायत के 'शोड्डी' के जिस धन्धे का उल्लेख किया है उसके अभ्युदय में वहाँ के वैज्ञानिकों का पूरा हाथ रहा है। भारत के धन्धे भी अपने अभ्युदय के लिए स्वदेशी प्रेमियों और स्वदेशी वैज्ञानिकों की सहायता की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हमारे साहित्य की गति

हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत की गई है और यद्यपि उसने आशातीत उन्नति की है, तो भी उसे अभी राष्ट्र-भाषा वास्तव में बनना है। हिन्दी के साहित्यकारों को इस अवस्था की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उस दिन काशी में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने वहाँ के 'रत्नाकर-रसिक-मण्डल' में हिन्दी-कविता को 'दरबारी कविता' बताकर हमें एक प्रकार से सावधान भी किया है। हिन्दी के परमप्रेमी राष्ट्र-नेता पण्डित वेंकटेश नारायण जी तिवारी के जो विचारपूर्ण साहित्यिक लेख इधर कुछ दिनों से पत्रों में प्रकाशित होना शुरू हुए हैं उनका भी यही उद्देश है कि हिन्दी वास्तव में राष्ट्र-भाषा बने। हो सकता है कि हमारा नेहरू जी से तथा तिवारी जी से मतभेद हो, परन्तु इस बात में मतभेद नहीं है कि वे भी हमारी ही भाँति राष्ट्र-भाषा के अभ्युदय के इच्छुक हैं।

कोई यह नहीं कहता कि भक्ति के तथा ज्ञान के आश्रयी या नायिका-भेद तथा अलंकार के आश्रयी कवियों की रचनाओं का पठन-पाठन न हो, परन्तु वर्तमान युग में इतना ही बस नहीं है, यह कहने से कोई भी विमुख नहीं होगा। राष्ट्र-भाषा और उसके साहित्य के लिए 'साकेत' या 'उद्धव-सन्देश' या 'रसकलश' के स्थान में ज़रूरत है हमें 'पयामे मशरिक़' जैसी नवजीवन-संचारक अमर रचनाओं की। पुराने नायक-नायिकाओं को देवत्व प्रदान करके हमारे अमृतवर्षी कवियों ने उन्हें हमारे काम का नहीं रहने दिया है। हमें अपने साहित्य में ऐसे नायक-नायिकाओं की ज़रूरत है जो हमारे जीवन में हमारे मार्ग का अपने सफल या असफल चरित से परिष्करण करें। यही कारण है कि हमारा युवक दल पुराने साहित्य से असन्तुष्ट है और समय समय पर जब उसके मनोभावों के अनुकूल कोई अधिकारी व्यक्ति

उसके विरुद्ध कुछ कह बैठता है तब वे उसे नूतन सन्देश के रूप में ग्रहण करते हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हमारे साहित्यकार अब पुरानी परम्परा को बिलकुल छोड़ दें और साहित्य की रचना के लिए देशकाल के अनुरूप नूतन आदर्शों और संस्कारों की सृष्टि करें। पिछले दिनों हमारे कुछ साहित्यकारों ने पुरानी परम्परा के प्रेम के कारण उसे नूतन रूप देकर जो भावपूर्ण रचनायें की हैं वे अपनी कृत्रिम मौलिकता के कारण निरर्थक सिद्ध हुई हैं और उनसे साहित्य की गति को तेजस्विता नहीं प्राप्त हुई है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले हिन्दी-भाषी विद्वानों में इस समय कुछ चञ्चलता दिखाई देने लगी है और वे साहित्य को नई गति प्रदान करने के लिए आगे आना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में हम तिवारी जी का तथा स्वामी सत्यदेव का विशेषरूप से स्वागत करते हैं। हमारे युवक साहित्यकारों को देखना चाहिए कि उनका राष्ट्र-भाषा के प्रति क्या कर्तव्य है। उन्हें अब उसे ऐसे रूप में परिणत करना है कि वह वास्तव में राष्ट्र-भाषा बन जाय और यह तभी सम्भव होगा जब हम देशकाल और संसार के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपने सामने रखकर अपने साहित्य के निर्माण में प्रवृत्त होंगे।

हिन्दी का एक दृश्य

हिन्दी में इस समय जो साहित्य अधिक वृद्धि पर है वह समाज-हित-वर्द्धक नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसे साहित्य को सामयिक पत्र-पत्रिकायें तक आश्रय दे रही हैं। यह सच है कि युवकों को प्रोत्साहन देने के लिए उनकी रचनायें छापी जायँ, परन्तु इससे साहित्य की उपयुक्त सेवा तो नहीं होती है। सामयिक पत्र-पत्रिकायें पाठशालायें नहीं हैं कि युवक लेखक उनका आश्रय लेकर सुलेखक या सुकवि बनने का उनके द्वारा अपना अभ्यास करें। वे तो वस्तुतः साहित्य की समृद्धि का सूचक हैं। परन्तु पत्रकारों का इसकी ओर उचित ध्यान नहीं है। इसी से उनमें दिन दिन गन्दगी और निरुद्देशता बढ़ती जा रही है, जो बड़े दुःख की बात है।

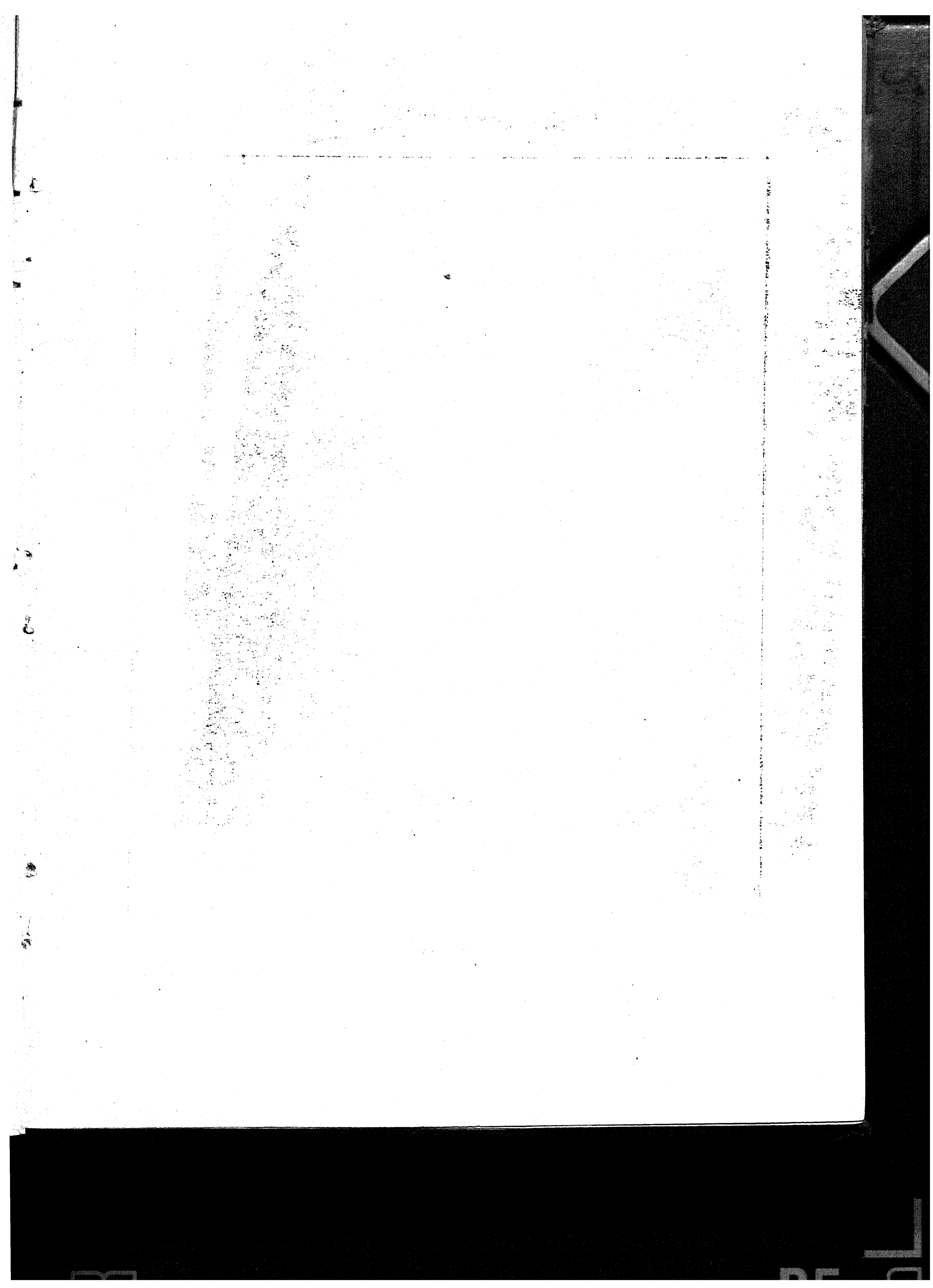
ऐसे साहित्य से हमारा मतलब उन रचनाओं से है जिन्हें हमारे बेकार युवक सुलेखक या सुकवि का बाना धारण कर दम्भ के साथ रचते जा रहे हैं। यहाँ तक ऐसी रचनाओं का पहाड़-सा लग गया है, इन्होंने उन कुछ रचनाओं को अपने नीचे दबा दिया है जिनका प्रणयन निपुण अधिकारियों के द्वारा हुआ है। बड़ी चिन्ता की बात तो यह है कि इन वस्तुओं के प्रादुर्भाव की जो विशाल शृंखला बन गई है वह जल्दी टूटती नहीं दिखाई देती, और उससे बे-तरह जकड़ जाने के कारण बेचारी हिन्दी का कचूमर निकला जा रहा है।

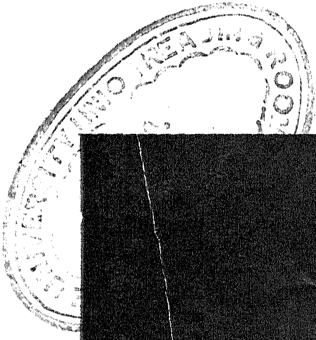
इन बेकार लेखकों में सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जनता को चटकीली बातें सुनाकर उसे इन्होंने अपने हाथ में कर लिया है। अगर कोई इनसे पूछता है कि तुम दुश्चरित्रों को सभ्यता के आवरण से अलंकृत कर लोगों को क्षुब्ध करने का पाप क्यों करते हो तो ये कला और साहित्य की दुहाई देने लगते हैं और उन्हें कुतर्की बतला कर उलटा उन्हीं को हास्यास्पद बनाने लगते हैं। आश्चर्य तो यह है कि उन्हें बढ़ावा देने के लिए हिन्दी के दो-चार प्रतिष्ठित व्यक्ति उनकी पीठ ठोंकते रहते हैं। इस समय हिन्दी के क्षेत्र का यह दृश्य कितना बीभत्स दीख रहा है, हमारे युवकों का ध्यान क्या इस ओर आकृष्ट होगा।

नवयुग

यह हर्ष की बात है कि हिन्दी में दैनिकों की संख्या बढ़ती जा रही है। दिल्ली से 'नवयुग' नाम का एक नया दैनिक प्रकाशित होने लगा है जो सचित्र भी है। इसके संचालक 'नेशनल काल' के प्रसिद्ध पत्रकार श्रीयुत साहिनी हैं। हम अपने इस अप-टु-डेट दैनिक का हर्ष से स्वागत करते हैं। इस पत्र का दृष्टिकोण राष्ट्रीय है और किसी दल विशेष का समर्थक न होने के कारण यह जनता की विशुद्ध रूप से सेवा कर सकता है। हमें आशा है कि 'नवयुग' नवयुग का सच्चा प्रतिनिधि सिद्ध होगा। 'नवयुग' 'नेशनल काल' के ही आकार के आठ पृष्ठों में निकला है। मूल्य प्रतिसंख्या).॥ है

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.





कवि निज़ामी

[चित्रकार श्रीअब्दुर्रहमान चगताई



सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्र श्रीनाथसिंह

फ़रवरी, १९३४ | भाग ३५, खंड १ | सं० २, पूर्ण संख्या ४१० | फाल्गुन, १९९०

प्यार

बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद'

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है आर-पार।
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार॥
वह चित्र! रङ्ग का ले बहार।
जिसमें है केवल प्यार प्यार॥

केवल स्मितिमय चाँदनी रात
तारा-किरनों से पुलक गात।
मधुपों मुकुलों के चले घात
आता है चुपके मलय वात॥
सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूँद चार॥

तब लहरों-सा उठ कर अधीर
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर।
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा, पतझड़ का पा समीर॥
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार॥

देहरादून जेल

पंडित जवाहरलाल नेहरू





म समाप्त कर चुके, प्रिये ! लम्बी कहानी का अन्त हो गया। मुझे अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन शान के साथ—धूम-धड़ाके से—समाप्त करने की अभिलाषा मुझे एक और पत्र लिखने के लिए उत्साहित कर रही है—यही अन्तिम पत्र।

समय आ गया था कि मैं लिखने को खत्म कर देता, क्योंकि दो साल की मेरी अवधि का अन्त भी बहुत समीप आ गया है। आज से तीन और तीस दिन बाद मुझे रिहा हो जाना चाहिए, यदि इसके पहले ही, जैसा जेलर समय-समय पर धमकाया करते हैं, मैं रिहा न कर दिया गया। पूरे दो साल अभी बिलकुल समाप्त नहीं हुए हैं; लेकिन मुझे साढ़े तीन महीने की छूट मिली है, जैसा सभी नेकचलनवाले क़ैदियों को मिलती है। मैं भी एक नेकचलन क़ैदी समझा जाता हूँ, यद्यपि इस नेकनामी को कमाने की मैंने कुछ भी कोशिश नहीं की। इस तरह से मेरी छठी सज़ा का ख़ातमा होता है, और मैं एक बार फिर सुविस्तृत संसार में निकल कर विचरूँगा, लेकिन किस अभिप्राय से ? इसका क्या प्रयोजन है, जब बहुत-से मेरे दोस्त क़ैदख़ानों में सड़ रहे हैं, और सारा देश एक बहुत बड़ा जेलख़ाना-सा मालूम होता है ?

मैंने जो पत्र लिखे हैं, उनका एक ख़ासा पहाड़-सा बन गया है। और न जाने, मैंने कितनी अधिक

पिछली बार जब पंडित जवाहरलाल जी को दो साल की सज़ा हुई तब, पहले की तरह, इस बार भी उन्होंने अपनी पुत्री, इन्दिरा नेहरू, के नाम पत्र लिखे। उनकी संख्या १७६ है, और टाइप किये हुए १,६०० पृष्ठों में वे समाप्त हुए हैं। अँगरेज़ी में प्रकाशन के साथ-साथ, हिन्दी, उर्दू और गुजराती में उनके प्रकाशन का प्रबन्ध किया जा रहा है। हिन्दी में जब वे छपेंगे, तब उनका आकार सरस्वती के १,३०० पृष्ठों के बराबर होगा। इस अपूर्व और महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ का नाम होगा 'विश्व-इतिहास की झलक'। उसका अन्तिम अध्याय आज पाठकों की भेंट करने में मुझे अत्यन्त ख़ुशी है।

—वेंकटेश नारायण तिवारी

से अन्तिम पत्र



[श्री इंदिरा नेहरू]

अच्छी स्वदेशी स्याही स्वदेशी काग़ज़ पर फैलाई है। क्या यह सब करना उपयोगी था—मैं कभी कभी विस्मय के साथ सोचता हूँ ? क्या यह सब काग़ज़ और स्याही तुम तक कोई ऐसा सन्देश पहुँचायेगी, जिससे तुम्हें कुछ दिलचस्पी हो। निःसन्देह तुम कहोगी, हाँ; क्योंकि तुम सोचोगी कि और किसी जवाब से मुझे कहीं चोट न पहुँचे, और तुम मेरा इतना अधिक प्यार करती हो कि इस तरह की जोखिम तुम उठाना न चाहोगी। तुम इन पत्रों की परवा करो या न करो, लेकिन इनके लिखने से मुझे जो आनन्द मिला है, उससे वंचित करने की तुम्हें भी इच्छा नहीं हो सकती। पिछले दो लम्बे-लम्बे सालों में मैंने प्रतिदिन इन पत्रों को तुम्हारे लिए लिखा है। तब जाड़ा था, जब मैं यहाँ आया था। जाड़े का स्थान हमारे अल्पकालिक वसन्त ने लिया, जिसका गर्मी की उष्णता ने जल्द ही संहार कर डाला; और तब, जब पृथ्वी सूख गई और कड़क रही थी और आदमी तथा मवेशी साँस के लिए तड़फ रहे थे, बरसात आ पहुँची और मेंह का ताज़ा और ठण्डा पानी काफ़ी तादाद में चारों ओर फैल गया। शरद् वर्षा-ऋतु के बाद आया, और आकाश अद्भुत रूप से स्वच्छ और नील-रंग-रञ्जित हो गया और दोपहर के बाद का समय बहुत ही सुहावना मालूम होने लगा। एक संवत्सर का क्रम समाप्त हो गया और फिर उसका क्रम शुरू हुआ—जाड़ा, गर्मी, बरसात और वसन्त। मैं यहाँ बैठा-बैठा तुम्हें लिखता और तुम्हारी बाबत सोचता और ऋतुओं की गति को देखता और अपनी बारिक की छत पर मेघ के पटपट की ध्वनि को सुनता रहा हूँः—

"सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !
बरसी बूँदें कर मधुमय स्वर
झर अम्बर से छर-छर, झर-झर
गिर भूतल पर, गिर भवनों पर !
खिल उठा अमित चिर-चिन्तित उर !
"सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !!※

बैनजमिन डिज़रैली ने, जो उन्नीसवीं सदी में एक बड़ा अँगरेज़ राजनीतिज्ञ हुआ है, लिखा है कि "दूसरे आदमी निर्वासन और कारागार से दण्डित होने पर, यदि वे बच गये, हताश हो जाते हैं। साहित्यसेवी उन दिनों को अपने जीवन के सबसे मधुर तिथियों में गिनेगा।" उसने यह ह्यूगो ग्रोटिमस के सम्बन्ध में लिखा है, जो सत्रहवीं शताब्दी में हालेंड का एक प्रसिद्ध दार्शनिक और विधान-शास्त्र का वेत्ता था, और जिसे आजन्म कारावास की सज़ा हुई थी लेकिन जो दो साल के बाद क़ैद से निकल भागा था। उसने क़ैदख़ाने में अपने दो साल दार्शनिक और साहित्यिक काम में व्यतीत किये थे। बहुत-से प्रसिद्ध साहित्यिक क़ैदी हुए हैं, जिनमें से सबसे अधिक ख्यातनामा दो हैं—एक तो स्पेन का सरवेंटे, जिसने "डान कीज़ेट" लिखा था; और दूसरा एक अँगरेज़, जॉन बैनियन, जो "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" का रचयिता था।

※ मूल में फ्रेंच पद हैं, जिनका ऊपर छायानुवाद दिया गया है। इस लेख के उद्धृत पद्यांशों का अनुवाद श्री 'नरेन्द्र' जी ने किया है— वे. ना. ति.

मैं कोई साहित्यकार नहीं; और न मैं यही कहने के लिए तैयार हूँ कि वे बहुसंख्यक वर्ष, जिनको मैंने जेल में बिताया है, मेरे जीवन में सबसे अधिक मधुर थे; लेकिन यह मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पढ़ने और लिखने ने मुझे उनको काटने में बेहद सहायता पहुँचाई है। मैं साहित्यकार नहीं, और न मैं इतिहासकार ही हूँ; मैं वास्तव में हूँ क्या? इस प्रश्न का उत्तर देना मुझे कठिन मालूम होता है। मैंने बहुत-से कामों में दख़ल दिया है। मैंने कालेज में विज्ञान से आरम्भ कर क़ानून को अपनाया; और जीवन की बहुतेरी बातों में दिलचस्पी लेने के बाद, अन्त में जेल जाने के पेशे को अख्तियार किया, जो हिन्दुस्तान में लोकप्रिय हो रहा है और जिसे बहुत-से लोग अपनाते हैं!

मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है, उसे तुमको किसी विषय के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण न मानना चाहिए। राजनीतिज्ञ प्रत्येक विषय पर रायज़नी करना चाहता है; और जितना वह जानता है उससे अधिक जानने का वह सदा ढोंग भी रचता है। बहुत होशियारी के साथ उस पर नज़र रखना चाहिए। मेरे ये पत्र महज़ छिछले चित्रण हैं—जो एक दूसरे के साथ एक बहुत ही पतले धागे से बँधे हैं। मैं विचरता हुआ बढ़ता गया हूँ, सदियों को एक-एक छलाँग में पार करता और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छोड़ता हुआ बढ़ गया हूँ, और कभी-कभी मैं उस घटना के पास, जिसने मुझे आकृष्ट किया है, अपना तम्बू गाड़ काफ़ी देर तक रम भी रहा हूँ। जैसा तुम देखोगी, मेरे राग-द्वेष काफ़ी स्पष्ट हैं। और इसी तरह से जेल की मेरी मानसिक तरंगें भी। मैं यह नहीं चाहता कि तुम इन सबको जैसा का तैसा ही समझ लो। मुझमें बहुत-से दोष भी निकलेंगे। एक जेल—जहाँ न तो पुस्तकालय और न विश्वकोष के समान ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—ऐतिहासिक विषयों पर लिखने के लिए सबसे उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता है। मैंने बहुत कुछ सहारा उन बहुत-सी नोटबुकों का लिया है, जिनको मैंने उस समय से जमा करना शुरू कर दिया था जब १२ वर्ष हुए मैंने जेलयात्रा का श्रीगणेश किया। यहाँ पर मेरे पास बहुत-सी किताबें भी आईं। वे आईं और चली गईं; क्योंकि मैं यहाँ पर एक पुस्तकालय का तो संग्रह नहीं कर सकता था। मैंने निर्लज्जता के साथ उन किताबों से घटनायें और विचार हड़प लिये हैं; मैंने जो कुछ भी लिखा है उसमें कोई बात नवीन नहीं है। शायद, तुम्हें मेरे पत्रों को समझने में कभी कभी कठिनाई हो। उन हिस्सों को छोड़ जाना। उनकी परवा न करना। मेरे उस अंश ने, जो सिन-रसीदा है, कभी कभी मुझे अपने क़ाबू में कर लिया, और मैं इस तरह से लिख गया, जिस तरह से मुझे न लिखना चाहिए था।

मैंने तुम्हें महज़ ख़ाका दिया है। यह इतिहास नहीं है। जो कुछ है, वह है हमारे सुदीर्घ भूतकाल की केवल अनित्य झलक। यदि इतिहास में तुम्हें अभिरुचि है, यदि तुम इतिहास की मोहकता के कुछ अंश को भी अनुभव करती हो, तो तुम्हें आसानी से उन किताबों तक पहुँचने का मार्ग मिल जायगा जिनके द्वारा भूतकालिक युगों के उलझे हुए सूत्रों के सुलझाने में तुम्हें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन महज़ किताबों के पढ़ने ही से मदद नहीं मिलेगी, यदि तुम भूतकाल को जानना चाहती हो तो तुम्हें उसकी ओर सहानुभूति और समझ से देखना चाहिए। उस आदमी को समझने के लिए, जो बहुत पहले जीवित था, तुम्हें उसके वातावरण को समझना पड़ेगा, समझना पड़ेगा उन परिस्थितियों को, जिनके अन्तर्गत उसने अपना जीवन-निर्वाह किया, और उन विचारों को, जिनसे उसका मस्तिष्क भरा था। यह नितान्त भूल है कि हम भूतकाल के मनुष्यों के विषय में अपनी सम्मति क़ायम करें, जैसे मानो, वे आज दिन जीवित हैं और उसी तरह से ही सोचते-विचारते हैं, जैसे हम सोचते-विचारते हैं। आज दास-प्रथा के समर्थन में कोई बोलनेवाला नहीं है। लेकिन तिस पर भी महान् प्लेटो की यह सम्मति थी कि दासत्व आवश्यक है। हाल में लाखों जानें लोगों ने दे दीं ताकि संयुक्तराज्य (अमरीका) में गुलामी जारी रहे। हम वर्तमान की कसौटी पर भूतकाल को नहीं

कस सकते। सब लोग सहर्ष इसे स्वीकार कर लेंगे; लेकिन सब लोग इस बात को उसी तरह से न मानेंगे कि वर्तमान काल को भी भूतकाल की कसौटी से न परखना चाहिए। बहुत-से मत-मतान्तरों ने उन पुराने विश्वासों और रीति-नीतियों को सड़ने-गलने से बचाने में विशेष सहायता पहुँचाई है, जो अपने जन्म के युग और देश में सम्भवतः कुछ उपयोगी रही हों, लेकिन जो आज-कल के ज़माने के लिए नितान्त ही अनुपयुक्त हैं।

तो फिर यदि तुम भूतकालिक इतिहास को सहानुभूति की दृष्टि से देखोगी तो रूखी-सूखी हड्डियाँ मांस और रक्त से भर आयेंगी और जीते-जागते, हमसे भिन्न और बहुत कुछ हमारे समान ही, समान मानव गुण-दोषों से युक्त, नर-नारी और बच्चों का एक बड़ा भारी जलूस, प्रत्येक युग और देश-देशान्तर से आता हुआ तुम्हें दिखाई देगा। इतिहास जादू का खेल नहीं है लेकिन उन लोगों के लिए उसमें भरपूर मात्रा में जादू मौजूद है, जिनके देखने को आँखें हैं।

इतिहास की चित्रशाला से असंख्य चित्रपटों का हमारे मन में जमघट लग जाता है। मिस्र, बैबिलोनिया, निनेवा, प्राचीन भारत की सभ्यतायें? हिन्दुस्तान में आर्यों का आगमन, योरप और एशिया में उनका प्रसार, चीनी संस्कृति का आश्चर्य्यजनक उल्लेख, कनौसस और ग्रीस, साम्राज्यवादी रोम और बिज़ेन्टियम, दो महाद्वीपों के एक कोने से दूसरे कोने तक अरबों का विजयकारी पद-विक्षेप, भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान और उसका ह्रास, मंगोलों की विस्तृत विजय, योरप में मध्यकालीन युग और उसके चमत्कारी गाथिक गिरजे, भारत में इस्लाम का पदार्पण और मुग़ल-साम्राज्य, पश्चिमीय योरप में विद्या और कला का पुनः प्रसार, अमरीका और पूर्व के समुद्री मार्गों का अन्वेषण, बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रचलन और पूँजी-पंथ का विकास, व्यवसायवाद और योरप के आधिपत्य और साम्राज्यवाद का विस्तार और आधुनिक संसार में विज्ञान के चमत्कार।

बड़े-बड़े साम्राज्य उठे और गिरे; और हज़ारों साल से लेकर तब तक आदमी को उनकी सुध न आई, जब तक फिर से सहिष्णु खोजियों ने बालू के नीचे से उनके खँडहर खोद न निकाले। लेकिन बहुत-से विचार, बहुत-सी कल्पनायें तभी बची रहीं। और वे साम्राज्य के मुक़ाबले में अधिक बलशालिनी और चिरस्थायिनी सिद्ध हुईं।

अब कहाँ मिस्र के शक्ति-साज ?
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में
है लीन सकल ऐश्वर्य आज !
हैं कहाँ आज अवनीतल पर
यूनान और वह ट्रॉय-नगर ?
वेनिस का गर्व कहाँ भू पर ?
है कहाँ रोम का ताज आज ?
उनके शिशुओं के स्वर्ण-स्वप्न—
जीवित हैं बस वे स्वप्न आज !
थे वृथा, थिरकते-से सपने
धुँधले, छायामय, छाया-से
चल वात-सदृश चलते-फिरते,
पर जीवित हैं वे स्वप्न आज !
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में
जब लीन सकल ऐश्वर्य-साज !

मेरी कोलीज ने इसी प्रकार गाया है।

भूतकाल हमारे लिए बहुत-से उपहार लाता है; सचमुच, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कुछ पहलुओं का ज्ञान, जो कुछ भी आज दिन हमें प्राप्त है वह सब अतीत या समीपस्थ भूतकाल की हमें देन है। यह उचित है कि भूतकाल के प्रति हम अपनी कृतज्ञता को स्वीकार करें। लेकिन भूतकाल ही तक हमारा कर्तव्य या हमारी कृतज्ञता का अन्त नहीं हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कर्तव्य है और भूतकाल के प्रति हमारे कर्तव्य से भी अधिक बड़ा यह कर्तव्य है। क्योंकि जो होना था वह हो चुका और उसका ख़ातमा हो गया। हम उसे बदल नहीं सकते; भविष्य को तो अभी आना है, और कदाचित् हम उसको किसी अंश तक सुधार-सँवार सकें। यदि भूतकाल ने हमें सत्य का कुछ अंश दिया है, तो सत्य के बहुत अंशों को भविष्य भी छिपाये हुए है। और उसको खोज निकालने के लिए वह हमें आमंत्रित करता है।

लेकिन प्रायः भूत भविष्य से डाह करता और हमें अपने भीषण चंगुल में पकड़े रहता है। हमें उसके साथ लड़ना पड़ता है, ताकि मुक्त होकर हम भविष्य की ओर उन्मुख होकर अग्रगामी बनें।

हमारे पढ़ाने के लिए, यह कहा गया है, इतिहास के पास बहुत-से पाठ हैं; और एक दूसरी भी कहावत है कि इतिहास अपने आपको भी दोहराता नहीं है। दोनों ही ठीक हैं। क्योंकि आँख बन्द कर उसकी नक़ल करने से, या यह आशा करने से कि वह अपने आपको दोहराये या उसका प्रवाह बन्द हो जाय, हम कुछ नहीं सीख सकते। लेकिन उससे हम कुछ न कुछ अवश्य सीख सकते हैं, यदि हम उसके पीछे झाँक कर देखें और उसको सञ्चालित करनेवाली शक्तियों को खोजने की चेष्टा करें। इतने पर भी हमें जो कुछ मिलता है वह कदाचित् ही कभी सीधा-सादा उत्तर होता है। "इतिहास," कार्ल मार्क्स कहता है, "पुराने सवालों का और किसी ढङ्ग से उत्तर नहीं देता, बजुज़ इसके कि वह नये सवाल उपस्थित करे। पुराना ज़माना श्रद्धा—अन्धी, शंकारहित श्रद्धा—का ज़माना था। गत सदियों के विस्मयकारी मन्दिर, मस्जिदें और गिरजे कदापि न बनते, यदि उनके शिल्पियों, बनानेवालों और जन-साधारण में दुर्जेय श्रद्धा न होती। वे ही पत्थर हमें इस विश्वास का पता देते हैं, जिनको उन्होंने श्रद्धा के साथ एक के ऊपर दूसरे को रक्खा, या जिनमें उन्होंने सुन्दर, सुन्दर चित्रकारी अङ्कित की। मंदिरों के स्तूप, मस्जिदों की सुकुमार मीनारें गाथिक गिरजाघर—सब भक्ति की विस्मयोत्पादिनी गम्भीरता से ऊपर की ओर इशारा करते हैं; मानो पत्थर या संगमरमर ऊपर के आकाश की वन्दना कर रहे हों—आज दिन भी हमें पुलकित कर देते हैं; यद्यपि हममें उस प्राचीन श्रद्धा का अभाव है, जिसको वह समूर्त करते हैं। लेकिन उस विश्वास के दिन चले गये और उन्हीं के साथ पत्थर का मोहक स्पर्श भी जाता रहा। हज़ारों मन्दिर, मस्जिदें और गिरजाघर निरन्तर निर्मित होते हैं; लेकिन उनमें उस आत्मा का अभाव है, जो उन्हें मध्यकालीन युग में सजीव करती थी। उनमें और आजकल के व्यापारी इमारतों में जो हमारे युग की प्रतिनिधि हैं—कुछ भी अन्तर नहीं है।

हमारा युग एक भिन्न युग है। यह अविश्वास, संकल्प-विकल्प और संशय का युग है। प्राचीन विश्वासों में से बहुतों को हम अब स्वीकार नहीं कर सकते। उनमें हमारा कुछ भी विश्वास नहीं रह गया—क्या एशिया में, क्या योरप या अमेरिका में। अतएव, नये तरीक़ों को शक्ति के उन नवीन पहलुओं को, जो हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल हैं, हम खोजते हैं। हम एक दूसरे से सवाल पूछते, बहस करते और तरह तरह के वाद और दर्शनों को गढ़ते हैं। जैसे सुकरात के ज़माने में वैसे ही अब हम शंका के युग में रह रहे हैं। लेकिन वह शंका एथेन्स के से नगर ही तक परिमित नहीं है, वह जगद्व्यापी है।

कभी कभी संसार का अन्याय, दुःख, निर्दयता हमें सताती हैं और हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और बाहर निकलने का हमें कोई मार्ग नहीं दिखाई देता है। मैथ्यू आरनाल्ड के साथ हम भी अनुभव करते हैं कि इस संसार में कोई आशा नहीं है; और जो हम कर सकते हैं वह यही है कि एक दूसरे के प्रति हमारा सच्चा व्यवहार हो—

विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है आशा का लोक !—
किन्तु कहाँ सुख-स्नेह स्वप्न में ?
कहाँ अचल विश्वास ? ज्योति दृढ़ ?
कहाँ शान्ति वह, स्वप्न देश में—
हर ले जो उर-उर का शोक ?
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है यद्यपि वह लोक !
हम सब हैं तम-लीन क्षेत्र में—
अनियंत्रित-से युद्ध-नाद में,
युद्ध-निरत हैं यहाँ सैन्य-दल
निशि में, तम में, बिन आलोक !
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है यद्यपि वह लोक !

और इतने पर भी यदि हम दुःखमय दृष्टिकोण का आश्रय लें तो न तो जीवन और न इतिहास के पाठ को

हमने ठीक-ठीक पढ़ा होगा। क्योंकि इतिहास विकास और प्रगति और मनुष्य के लिए अनन्त उन्नति की सम्भावना का पाठ हमें पढ़ाता है। जीवन सम्पन्न और विभिन्न है; और यदि उसमें दलदल, कीचड़ और सीलन है तो उसमें बड़े बड़े समुद्र भी हैं; पहाड़, हिम, ग्लेसियर, चमत्कारिणी, तारागणों से दीप्त, रजनी (विशेषकर जेलखाने में), और परिवार और मित्रों का स्नेह, समान सङ्कल्प की सिद्धि में लगे हुए कार्य्यकर्ताओं की सहकारिता भी हैं। और हैं संगीत-पुस्तकें और विचारों का साम्राज्य। इस तरह से हममें से हर एक यह पद कह सकता है—प्रभो! यद्यपि मैं पृथ्वी पर रहा, पृथ्वी की संतति था, तो भी मैं नक्षत्रमय आकाश-द्वारा पालित-पोषित था।

विश्व की विभूतियों की प्रशंसा करना और विचार तथा कल्पना के संसार में विचरना आसान है। लेकिन न साहस और न सहानुभूति का यह लक्षण है कि हम इस तरह से दूसरों के दुःख से दूर भागने की चेष्टा करें, और इसकी कुछ भी परवा न करें कि उन पर क्या बीत रही है। अपने को सार्थक सिद्ध करने के लिए, विचार का कार्य्य में परिणत होना आवश्यक है। "कार्य्य विचार का ध्येय है," हमारे मित्र रोमें रोला का कहना है, "वे सब विचार जो कार्य्योन्मुख नहीं हैं गर्भपात हैं और विश्वासघातक हैं। अतएव, यदि हम विचारों के सेवक हैं तो कार्य्य का अनुचर हमें बनना चाहिए।"

लोग प्रायः कार्य्य से बचते हैं क्योंकि वे उसके परिणामों से झिझकते हैं। कार्य्य का अर्थ जोखिम और ख़तरा है। ख़तरा दूर से भयानक मालूम होता है; लेकिन वह इतना भयानक नहीं है, यदि हम उसे पास से देखें। और वह प्रायः एक सुखकारी सहचर होता है, जो जीवन को अधिक रसमय और आनन्दपूर्ण बनाता है। जीवन का साधारण क्रम समय-समय पर नीरस हो जाता है। और हम बहुत-सी बातों को जैसा का तैसा मानकर स्वीकार कर लेते हैं, और तब उनमें कुछ मज़ा नहीं रह जाता। लेकिन जीवन की इन्हीं साधारण वस्तुओं का कितना अधिक मोल हमारी आँखों में जँचने लगता है, जब उनके बिना हमें कुछ दिन काटने पड़ते हैं। बहुत-से आदमी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं; और चढ़ाई के आनन्द के लिए और उस उच्छ्वास के लिए जो किसी कठिनता को जीतने या किसी आपत्ति पर विजयी होने पर प्राप्त होता है, अपने जीवन और अपने अङ्गों को जोखिम में डालते हैं; और चूँकि उस समय उनके चारों ओर ख़तरा मँड़राया करता है, उनकी दृष्टि अधिक पैनी हो जाती है और जीवन में उनका आनन्द अधिक गम्भीर हो जाता है, क्योंकि तब उनके प्राण एक धागे के सहारे लटका करते हैं।

हममें से प्रत्येक को यह आज़ादी है कि चाहें तो हम नीचे खाड़ियों में रहें जहाँ रोगोत्पादक कुहरा और पाला है, लेकिन जहाँ जान की जोखिम कम है; या जोखिम और ख़तरे को अपना साथी बनाकर पहाड़ों के ऊपर चढ़ जायें ताकि ऊपर की शुद्ध वायु का पान करें और दूर-दूर के दृश्यों को देखें और उदय होते हुए सूर्य्य का स्वागत करें।

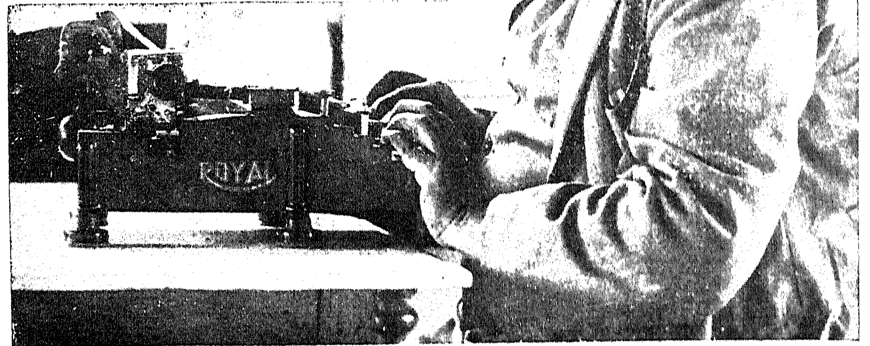
मैंने तुम्हें इस पत्र में कवियों और दूसरों के बहुत-से उद्धरण और अवतरण दिये हैं। मैं एक और अवतरण से इस पत्र को समाप्त करूँगा। यह गीताञ्जलि से है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता है।

चित्त जेथा भयशून्य, उच्च जेथा शिर,
ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर
आपन प्राङ्गणतले दिवसशर्व्वरी
वसुधारे राखे नाई खण्ड क्षुद्र करि',
जेथा वाक्य हृदयेर उत्समुख ह'ते
उच्छ्वसिया उठे, जेथा निर्वारित स्रोते
देशे देशे दिशे दिशे कर्म्मधारा धाय
अजस्र सहस्रविध चरितार्थताय;
जेथा तुच्छ आचारेर मरुवालिराशि
विचारेर स्रोतःपथ फेले नाई ग्रासि',
पौरुषेरे करेनि शतधा; नित्य जेथा
तुमि सर्व्व कर्म्म चिन्ता आनन्देर नेता,—
निज हस्ते निर्दय आघात करि पितः,
भारतेरे सेई स्वर्गे करे जागरित।

समाप्त कर चुका, प्रियतमे! और यह अन्तिम पत्र भी ख़त्म हो गया। अन्तिम पत्र! निःसन्देह नहीं! मैं तुम्हें बहुत-से पत्र लिखूँगा लेकिन इस पत्रमाला का अब अन्त होता है; और, अतएव, तमाम शुद।

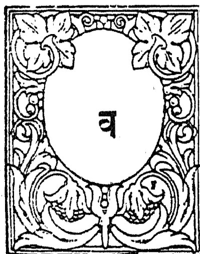
सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

श्रीयुत सेंट निहालसिंह



[सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का जीवन उत्थान और पतन के आश्चर्यजनक संघर्ष का जीवन था। वे किस प्रकार राजनीति के गगन में अपना प्रचण्ड तेज दिखाकर अस्त हो गये, इस लेख में श्रीयुत सेंट निहालसिंह जी ने इसी का सजीव वर्णन किया है।]

[१]



वर्षों की बात है, मैं एक सरकस देखने गया था। उसमें मैंने देखा कि एक सीढ़ी हवा में झूल-सी रही है। एक आदमी ने एक लम्बे बांस के सहारे उछलकर उस सीढ़ी के सबसे निचले डंडे को पकड़ लिया और उसकी चोटी पर चढ़ गया। वहाँ वह सब प्रकार के खेल दिखाने लगा। प्रायः सभी दर्शकों को यह भय लगा हुआ था कि वह किसी समय गिरकर अपने प्राण गँवा सकता है या भीषण रूप से घायल हो सकता है। परन्तु वह सब चिन्ताओं से मुक्त जान पड़ता था और हमारे सिर के ऊपर यह शैतानी कार्य दिखाकर इसका आनन्द ले रहा था।

कुछ समय के बाद वह मनुष्य सिर के बल नीचे उतरने लगा। जब वह सबसे नीचे के डंडे पर पहुँचा तब सिर नीचे करके झूल पड़ा। पैर की अँगुलियों की टेक लगाकर इस रूप में वह इधर से उधर बड़ी तेज़ी से थोड़ी देर तक झूलता रहा। फिर जिस डंडे के सहारे सीढ़ी के ऊपर चढ़ा था उसी को पकड़ कर नीचे उतर आया। जब वह जाने लगा तब दर्शकों ने करतलध्वनि से उसे प्रसन्न किया।

[२]

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नाम इस पीढ़ी के भारतीयों को एक ऐसे ही दृश्य की स्मृति दिलाता है।

अपने प्रयत्न से राजनीति के मैदान में वे जितना आगे निकल गये थे, उतना उनके समय के बहुत कम राजनीतिज्ञ पहुँच सके थे। भारत से बाहर के लोगों को भी उन्होंने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था।

इसके पश्चात् वे एकाएक अपने देशवासियों की दृष्टि से गिरने लगे। यहाँ तक कि जो लोग उनकी प्रशंसा के पुल बांधते थे वही उनकी निन्दा करने लगे और वे प्रगति-विरोधी घोषित किये गये। इंडियन नेशनल कांग्रेस एक अर्थ में उन्हीं का शिशु था। उसके विरोध में जब वे लिबरल फ़ेडरेशन—जिसका अधिक प्रसिद्ध नाम नर्मदल है—का मुस्तैद होकर संगठन करने लगे तब उनके पूर्व प्रशंसक भी उनसे बिगड़ उठे। मांटेग्यू-चेम्स-फ़ोर्ड रिफ़ार्म स्कीम के साथ उन्हें सहयोग करते देखकर बहुत-से लोग उनसे नाराज़ हो गये क्योंकि उनके साथी भी उस स्कीम के विरुद्ध थे। जब उन्होंने १९१९ के गवर्नमेंट आफ़ इंडिया एक्ट के अनुसार बने शासन-विधान में मंत्री का पद ग्रहण किया और 'नाइटहुड' की पदवी स्वीकार की तब बंगाल के राष्ट्रवादियों ने उनकी और भी निन्दा की और इसका प्रभाव भारत के अन्य भागों पर भी पड़ा। जो लोग गर्व के साथ उन्हें 'सरेंडर नाट'* कहते थे वे उन्हें सर सुरेन्द्र के नाम से पुकारने लगे।

[३]

सुरेन्द्रनाथ की त्रुटियों को (इस मृत्युलोक में कौन निर्दोष है ?) जानते हुए भी मैं जब तक वे जीवित रहे तब तक उनके प्रति अपने प्रशंसा के भाव को ज्यों का त्यों बनाये रहा। मेरी दृष्टि में अपने यौवनकाल में वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिसे अपने देशवासियों में राजनैतिक विचारों और उल्लेखयोग्य राजनैतिक संस्थाओं का अभाव खटकता था। अपने कुछ उत्साही मित्रों के साथ उन्होंने सिरतोड़ परिश्रम करके सारे देश में एक अपूर्व राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न कर दी। सौभाग्य से उन्हें स्वस्थ शरीर मिला था। और कोई होता तो इस परिश्रम में पिस जाता और अपना सारा स्वास्थ्य चौपट कर लेता।

यही कारण था कि उनके जीवन के अन्तिम भाग का मुझ पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ा और उनके प्रति मेरा अनुराग और आदरभाव पूर्ववत् बना रहा। जब उनका नाम कीचड़ में घसीटा जा रहा था तब भी मैं उनकी उन महान् सेवाओं को न भुला सका जो उन्होंने भारतवासियों में राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न करने के लिए की थीं। उनका कोई कार्य ऐसा नहीं था या नहीं हो सकता था जो उनके प्रति मेरे सम्मानभाव को इतना कम कर देता कि मैं उनकी सेवाओं को भूल जाता।

[४]

वर्तमान शताब्दी के प्रथम दस वर्षों के बीच में वे अपनी राजनैतिक उन्नति के शिखर पर पहुँच गये थे। रूस-जापान-युद्ध के समाप्त होने के कुछ ही समय बाद लार्ड कर्ज़न ने बंगाल-विच्छेद के रूप में अपनी सबसे बड़ी भूल की। इसका बंगालियों ने बड़ा विरोध किया। इस राजनैतिक आन्दोलन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जी होमकर कूद पड़े और उसमें उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। लोकमत की विरोध-वाहिनी लहर पर वे सबसे ऊपर उठते दिखाई पड़े। इससे उनके अनुयायियों में प्रसन्नता और उनके राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियों में उदासी छा गई।

एक साधारण घटनाचक्र से उन्हीं दिनों मुझे कुछ दिन के लिए बंगाल में जाना पड़ा। वहाँ मैंने इस महान् नेता को प्रथम बार प्रसिद्धि के शिखर पर चढ़ते हुए देखा। देहरादून के एक शान्त मुहल्ले में अपने अध्ययन के कमरे में बैठा हुआ ज्यों ज्यों मैं यह लेख लिख रहा हूँ, त्यों त्यों वह दृश्य समय के गर्त से निकल कर मेरी आँखों के सामने उपस्थित होता जाता है। अपनी कल्पना के द्वारा एक बार फिर मैं उन घटनाओं को देख रहा हूँ जो १६ आक्टोबर १९०५ में घटी थीं। बंगाल को दो राजनैतिक भागों में विभक्त करने के लिए यही तारीख़ निश्चित हुई थी।

[५]

उस दिन जनता में कितना उत्साह फैल गया था! सहस्रों बंगालियों ने मंत्रपाठ करते हुए गङ्गा में स्नान किया और सूर्यदेव को अर्घ्य दिया। हज़ारों व्यक्तियों की कलाइयों में राखी बाँधी गई। मुझे कुछ धुँधला

*उनके नाम का बिगड़ा हुआ अँगरेज़ी रूप जिसका हिन्दी अर्थ होता है 'आत्मसमर्पण नहीं किया।'

स्मरण है कि उस दिन कुछ मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के साथ अपना भ्रातृभाव प्रकट करने के लिए स्वेच्छापूर्वक राखी बँधवाई थी।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उस दिन काम में अत्यन्त व्यस्त थे। शायद इतना व्यस्त वे अपने जीवन में कभी नहीं हुए। वे स्थान स्थान पर जाकर लोगों से आग्रह-पूर्वक तब तक दृढ़ रहने के लिए कहते थे जब तक बंगाल के साथ जो अन्याय किया जा रहा है वह दूर न किया जाय। उनके उच्च मनोभाव, उनके अदम्य उत्साह और उनकी अद्वितीय सम्भाषण-शक्ति ने लोगों में जान फूँक दी थी। जिसने उनको दूर से भी देखा या जिसके कान में उनका एक भी शब्द पड़ा वही उत्तेजित हो उठा।

जिस मार्ग से वे नंगे पांव निकल जाते उसकी धूल उठा कर लोग अपने मस्तक में लगा लेते और जो उनके निकट पहुँच पाते वे उन्हें इतनी फूल-मालायें पहनाते कि उनमें वे ढँक जाते।

एक ब्रिटिश संवाददाता ने लन्दन में अपने पत्र 'डेली मेल' को हमारे रस्म-रवाजों को न समझ सकने के कारण या दुर्भाव से यह तार भेजा कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को बंगाल का राजतिलक कर दिया गया है। उस मिथ्या समाचार को बहुसंख्यक अँगरेज़ों ने उसी अर्थ में लिया। उस समाचार ने अँगरेज़ों को भारतीयों से विमुख करने में जो सहायता पहुँचाई वह कदाचित् ही किसी लिखित वक्तव्य ने पहुँचाई हो। ढूँढ़ने से रेडमार्ड किपलिङ्ग का निम्नलिखित फ़तवा इसका एक-मात्र अपवाद मिलेगा।

"अरे पूर्व है पूर्व और पश्चिम है पश्चिम।
मिल सकते हैं नहीं कभी दोनों आपस में॥"

[६]

१४ वर्ष से अधिक काल तक इस राष्ट्रीय नेता की इसी स्मृति से या उन समाचारों से जो समय समय पर मुझे समाचार-पत्रों या मित्रों से मिल जाते थे मुझे सन्तोष करना पड़ा।

१९१० में महान् अँगरेज़ सम्पादक और बिना जाति और धर्म का विचार किये हुए स्वाधीनता के लिए लड़ने-वालों के मित्र मिस्टर विलियम टी० स्टीड ने मुझसे अपनी और भारतीय देशभक्त की बातचीत का एक दिलचस्प हाल बतलाया। यह बातचीत मेरे लन्दन पहुँचने से कुछ ही पूर्व हुई थी। सुरेन्द्रनाथ थोड़े समय के लिए लन्दन गये हुए थे और मिस्टर स्टीड ने एक एतवार को तीसरे पहर उन्हें प्रसिद्ध वेस्ट मिनिस्टर एबे के ठीक पीछे अपने घर नम्बर ९ स्मिथ स्क्वायर में अपने साथ चाय पीने के लिए बुलाया था।

उनके ड्राइंगरूम में पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों के बहुत-से देशों के लोग जमा थे। चाय का पीना समाप्त होने के बाद जब अतिथि लोग भोजनगृह से निकलकर ड्राइंगरूम में आये तब मिस्टर स्टीड ने हमारे महान् देशवासी से पूछा कि क्या आप सब लोगों की उपस्थिति में इंटरव्यू दे सकेंगे।

सुरेन्द्र बाबू का जीवन सनसनीदार घटनाओं से पूर्ण था, तो भी उन्हें बहुत-से व्यक्तियों को एक साथ इंटरव्यू देने का प्रस्ताव अजीब-सा जान पड़ा। वे मुस्कराये और उसके लिए तैयार हो गये।

[७]

मिस्टर स्टीड ने पूछना आरम्भ किया—"मिस्टर सुरेन्द्र बनर्जी, मान लीजिए कि आपका सिर मृत्युदण्ड के नीचे आ गया है और कुछ ही मिनटों में आपका काम तमाम होनेवाला है। ऐसी अवस्था में स्वदेशवासियों के लिए आपका अन्तिम सन्देश क्या होगा?"

मैं उस दृश्य को स्पष्टतया स्मरण कर सकता हूँ। स्टीड जैसा कि ऐसे अवसरों पर उनकी आदत थी, अँगीठी की ओर पीठ करके खड़े रहे होंगे, उनके हाथ पीछे की ओर जाकेट की पट्टियों के नीचे मिले रहे होंगे। यह जाकेट वे सदैव इन दावतों के अवसर पर पहना करते थे। ये दावतें वे प्रति रविवार को तीसरे पहर देते थे और इनमें समस्त संसार के प्रसिद्ध स्त्री-पुरुष आते रहते थे। प्रश्न करते समय एक प्रसन्नतायुक्त चितवन से उन्होंने कमरे में चारों ओर देखा होगा और जो लोग वहाँ उपस्थित रहे होंगे वे मन्त्र-मुग्ध की भाँति इस महान् सम्पादक और इस महान् भारतीय का शब्द-युद्ध देखने के लिए प्रस्तुत हुए होंगे।

उन्होंने अपने इस असाधारण प्रश्न को मेरे सामने दोहराया था और मुझे अब तक उसकी स्मृति बनी है। इस महान् ब्रिटिश पत्रकार ने जिस शीघ्रता से सुरेन्द्र-नाथ के नाम को बदल कर 'सरेंडर नाट' कर दिया था उससे वहाँ जितने लोग एकत्र थे, सब आश्चर्यचकित रह गये थे।

सुरेन्द्र बाबू ने कहा कि अपनी अन्तिम श्वास छोड़ते हुए मैं लार्ड कर्ज़न की भूल को सुधरवाने की माँग पेश करूँगा। मैं कहूँगा कि बंगाल प्रबन्ध की दृष्टि से जिन दो प्रान्तों में बाँट दिया गया है वे दोनों मिलाकर एक कर दिये जायँ। यह माँग उपस्थित करने के पश्चात् मैं इस बात का आग्रह करूँगा कि भारतीयों को भारत में बड़े से बड़ा सरकारी ओहदा मिल सके और भारत के सम्बन्ध में उन्हें उतना ही अधिकार मिले जितना कनाडावालों को कनाडा में और आस्ट्रेलियावालों को आस्ट्रेलिया में प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने कोई और इच्छा प्रकट की थी तो वह या तो स्टीड साहब ने मुझे बतलाई नहीं या वह मेरी स्मृति से निकल गई है।

उस महान् सम्पादक ने सुरेन्द्रनाथ की बातें सुनकर अपने और उस दिन ९ स्मिथ स्क्वायर में एकत्र हुए अपने मेहमानों के आश्चर्य का जो वर्णन मुझसे किया था वह मुझे अच्छी तरह याद है। वे आश्चर्य इस बात पर कर रहे थे कि एक भारतीय सारे देश के लिए स्वराज्य की स्वीकृति मिलने के पहले ही प्रान्तीय अन्याय को सुधरवाना चाहता है।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को उनकी उस स्थिति की कमज़ोरी के दिखलाने का प्रयत्न किया गया। उनसे बताया गया कि यदि भारत को अपने लक्ष्य पर चलने की स्वाधीनता मिल जायगी तो वह स्वयं बंगाल के सम्बन्ध में जो अन्याय हुआ है उसका निराकरण कर सकता है।

परन्तु सुरेन्द्र बाबू ने जो पक्ष ग्रहण किया था उससे टस से मस होना स्वीकार न किया। बङ्ग-विच्छेद के क़ानून को रद कराने की उन्हें इतनी अधिक चिन्ता थी कि यदि इस समझौते के साथ भारत को स्वराज्य भी मिलता कि बंगाल को विभाजित ही रहने दिया जाय तो वे कहते "नहीं, धन्यवाद" और इस उपहार को ठुकरा देते।

कम से कम उनकी बातों का मिस्टर स्टीड के ऊपर यही प्रभाव पड़ा। उन्हें जान पड़ा जैसे उस देवता से जो सब कुछ देने की शक्ति रखता है, बजाय अमरत्व प्रदान करनेवाला स्वर्गीय फल माँगने के एक साबुन की बट्टी माँगने की प्रार्थना की जा रही है।

[८]

उस कमरे में जो स्त्री-पुरुष एकत्र हुए थे, यदि वे सुरेन्द्रनाथ को और जिन लोगों के बीच से वे आये थे उनको थोड़ा और जानते होते तो उन्हें सुरेन्द्रनाथ की बातों से इतना आश्चर्य न होता। क्योंकि हम सब लोग जानते हैं कि बंगाली लोग बड़े ही भावुक होते हैं। अपने प्रान्त के अभिमान और अपनी जाति के प्रेम से वे ओत-प्रोत होते हैं। कुछ भारतीय जो उनकी इन विशेषताओं की प्रशंसा नहीं कर सकते, उन्हें प्रान्तीयतावादी कहते हैं।

सुरेन्द्रनाथ की सम्पूर्ण राष्ट्रीयता एक पूरे बंगाली की राष्ट्रीयता थी। उनकी भावुकता में दृढ़ निश्चय का वह बल मिश्रित था जो बहुत कम भारतीयों को प्राप्त था। अपनी शक्तियों को सब ओर लगाने के बजाय वे एक छोटा-सा क्षेत्र चुनकर उसमें लगना अधिक पसन्द करते थे। बाद को उन्होंने मुझसे बताया था कि जीवन में उनकी सफलता का यही रहस्य था। यह एक अनुकरणीय गुण है। नवयुवकों के लिए जो अपना जीवन-क्षेत्र निर्माण करना चाहते हैं, इस प्रसिद्ध बंगाली नेता से दूसरा अच्छा आदर्श नहीं मिल सकता।

[९]

यदि सुरेन्द्रनाथ लन्दन में कुछ महीने और ठहरते तो मुझे वहाँ उनसे मिलने का अवसर मिल जाता। परन्तु २ जनवरी सन् १९१० ईसवी में जब मैं अमरीका के संयुक्त-राज्य से समुद्र पार करके लन्दन पहुँचा तब वे वहाँ से बंगाल को लौट गये थे।

मई १९१० में मैंने भारतवर्ष की यात्रा की। दिसम्बर १९१० में जब मैं बम्बई में था, मेरी हिज़ हाइनेस महाराज गायकवाड़ से भेंट हुई। उन्होंने मुझसे बड़ौदा देखने का आग्रह किया। कुछ सप्ताह बाद मैं बड़ौदा गया और जब तक हिज़ हाइनेस योरप जाने के लिए तैयार नहीं हो गये तब तक मेरे लिए बड़ौदा छोड़ना असम्भव हो गया। परन्तु वहाँ से मुझे भी समुद्र-यात्रा करनी पड़ी।

इन कारणों से मैं मिस्टर बनर्जी से भेंट न कर सका। १९११ में मैं लन्दन लौट गया और वहाँ १९२१ तक रहा। इस बीच में योरपीय महाद्वीप की या प्रान्तों की छोटी छोटी यात्रायें करने के अतिरिक्त और कहीं जा न सका। इसलिए सन् १९१९ ईसवी से पहले जब वे नर्मदलवालों के एक डेपुटेशन के नेता होकर लन्दन आये, मैं सुरेन्द्रनाथ से न मिल सका। यह दल इसके कुछ ही पहले बना था।

प्रथम बार मैंने उन्हें एक स्वागत-समारोह में देखा। उन दिनों ऐसे समारोहों की सीमा नहीं थी और मुझे शक्ति से अधिक काम करना पड़ रहा था। जैसा कि मैं दूसरे लेख में लिख चुका हूँ, लन्दन में भारतीयों का उपनिवेश बलशाली हो रहा था। क्योंकि भारत से नये नये लोग आकर उसमें सम्मिलित होते जा रहे थे। बहुत-से प्रसिद्ध भारतीय उन दिनों वहाँ एकत्र हो गये थे।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का व्यक्तित्व असाधारण था। कोई ऐसी सभा नहीं थी जिसमें वे जायँ और सबसे अलग न पहचाने जा सकें। प्रथम बार उनको देखने पर मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ।

इस बंगाली नेता की आकृति इतनी सुन्दर होगी, इसका मुझे कोई ध्यान न था। वे ऊँचे थे और उनके कंधे चौड़े थे। उस समय उनकी अवस्था सत्तर वर्ष की थी, पर वे बिलकुल सीधा तन कर चलते थे। वृद्धावस्था या घंटों मेज के सहारे बैठकर लिखने का परिश्रम उन्हें ज़रा भी झुका न सका था। वे सर्वथा युवा प्रतीत होते थे।

मेरे आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। मैंने देखा कि हमारा एक नेता ऐसा तो मिला जो असमय में ही हमें छोड़ देने के बजाय अभी बहुत दिनों तक इस संसार में हमारे साथ रहेगा। मुझे यह सोच कर दुःख भी हुआ कि बहुत-से भारतीय समय से पहले ही स्वर्गवासी हो गये।

[१०]

मैंने सुरेन्द्रनाथ के विभिन्न आयु के बहुत-से चित्र देखे थे। तब भी मैंने उनकी मुखाकृति की जैसी कल्पना कर रक्खी थी उससे वह मुझे कुछ भिन्न जान पड़ी।

उन चित्रों में मैंने जो छोटी मूँछें और दाढ़ी देखी थी उन्होंने मुझसे जीवित मुख के प्रभाव को छिपा रक्खा था। दाढ़ी-मूँछें थीं, उनमें सन्देह नहीं था और वे सफ़ेद भी थीं, तो भी मैंने, ख़ास कर जब वे बोलते थे देखा कि उनका जबड़ा बलिष्ठ था और उनकी ठुड्डी से दृढ़ता टपकती थी।

उनकी आँखों से भी यही दृढ़ता का भाव टपकता था। आयु उन्हें धुँधली नहीं कर सकी थी। वे भाव-व्यञ्जक थीं, उपस्थित जनता को वे व्यङ्ग्य-पूर्ण हास्य से देख रहे थे। मेरी इच्छा थी कि मैं अत्यन्त विरोधी विचार सामने आने पर उन्हें उत्तेजित होते हुए देखूँ ताकि उनके नेत्रों का भिन्न भाव धारण करनेवाला चित्र भी मेरे सामने आ जाय। परन्तु उस सामाजिक सम्मेलन में मुझे इस प्रकार का दृश्य देखने का अवसर न मिला।

उनकी भौंहें बहुत व्यस्त दिखाई पड़ती थीं। गालों की प्रधान हड्डियों के साथ देखनेवाले के हृदय में वे एक ऐसा चित्र अङ्कित करती थीं जो देख लेने के बाद फिर कभी भुलाया नहीं जा सकता था। उनका मस्तक भी उन्नत और उभड़ा हुआ उन्हीं का जैसा था। उस पर समय और विचार की रेखायें अङ्कित हो गई थीं। उनके केश पके हुए थे और शीघ्रता के साथ क्षीण होते हुए प्रतीत हो रहे थे।

[११]

उनके पास तक पहुँचने के लिए मैं मार्ग खोज ही रहा था कि वे स्वयं मेरे पास आये और मुझको उन्होंने अपना परिचय दिया। उनके इस कार्य्य को मैंने बहुत

पसन्द किया। उनकी स्थिति का दूसरा मनुष्य अपने रोब में अपने स्थान पर खड़ा ही रहता और मेरी अपने पास तक पहुँचने की प्रतीक्षा करता।

उनके प्रथम शब्द आश्चर्य का भाव व्यक्त करनेवाले थे। उन्होंने मुझसे कहा—"मुझे आपसे कहीं अधिक वृद्ध मनुष्य से मिलने की आशा थी। आपके लेख मैं बहुत वर्षों से पढ़ रहा हूँ—कह नहीं सकता कि कितने वर्षों से।"

मैंने उत्तर दिया—"मैंने बहुत थोड़ी आयु में ही लिखना आरम्भ कर दिया था। जब मैं चौदह या पन्द्रह वर्ष का नहीं हुआ था तभी मेरा पहला लेख प्रकाशित हो गया था।

उनके चेहरे पर एक विस्तृत आकार की मुस्कुराहट अङ्कित हो गई और वे बोले—"यह बात है।" वे वास्तव में बड़े ही आनन्दी जीव थे।

उस सार्वजनिक स्थान में हमें अपना हृदय खोलने का अवसर न मिला। इसलिए उन्होंने मुझे उस मकान का पता दिया जिसमें वे ठहरे हुए थे और उसी दिन शाम को उन्होंने मुझे अपने यहाँ भोजन करने के लिए बुलाया। उन्होंने मुझे जल्दी आने के लिए कहा था ताकि देर तक बातें हो सकें।

[१२]

यद्यपि सुरेन्द्र बाबू की अवस्था मेरे पिता की अवस्था से भी कुछ अधिक थी, तथापि उन्होंने डट कर भोजन किया। भोजन का प्रबन्ध उनके पुत्र ने किया था जो उनके साथ ही विलायत आये थे। उनकी भूख तीक्ष्ण थी। अच्छी तरह भोजन करने के बाद उन्होंने एक बड़े प्याले में चाय पी। ऐसे प्याले अँगरेज़ घरों में केवल कलेवा के समय ही प्रयुक्त होते हैं।

भोजन करते समय मैंने उनसे पूछा—"इस सत्तर वर्ष की आयु में भी आपके ऐसे स्वास्थ्य का क्या रहस्य है?" मेरे इस प्रश्न से वे बड़े प्रसन्न हुए और तत्काल मुझे उत्तर देने के लिए तैयार हो गये।

प्रत्यक्षतः उन्होंने अपने स्वास्थ्य की बड़ी सावधानी से रक्षा की थी और इसी लिए इस सम्बन्ध में पूछा जाता था तब वे बहुत प्रसन्न होते थे। अपने अच्छे स्वास्थ्य के उन्होंने चार कारण बताये—

पहला यह कि उनके परिवार में वंश की शुद्धता के लिए बड़ा प्रयत्न किया गया था। वे कुलीन ब्राह्मण थे और कुछ चुने हुए परिवारों की स्त्रियों से ही विवाह करते थे। वधुएँ प्रायः परिपक्व आयु की हुआ करती थीं। उनके परिवार में बाल-विवाह असंभव था। इसलिए सन्तति बलिष्ठ होती थी।

दूसरा यह कि जब वे छोटे बालक थे तब उनके पिता ने बड़ी सावधानी से उनका पालन-पोषण किया था। उनके पिता पहले स्कूल-मास्टर थे, पर बाद को वे डाक्टर हो गये थे और बच्चों की चिकित्सा करने में उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। घर में एक अखाड़ा था, जिसमें उन्हें और उनके भाइयों को कुश्ती लड़ना सिखाने के लिए एक पहलवान नौकर रक्खा गया था। उन्होंने गदका चलाना भी सीखा था।

तीसरा यह कि अपने जीवन में अत्यधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम करते रहने पर भी उन्होंने सदैव सादा जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया था और वे यथाशक्ति प्रकृति के नियमों का पूर्णरूप से पालन करते थे। उन्हें टहलना अत्यन्त प्रिय था और कोई दिन ऐसा न जाता था जब वे खुली हवा में दूर तक टहलने न जाते रहे हों।

चौथा यह कि रात में वे अच्छी तरह सोते थे। तकिये पर सिर रखते ही उन्हें नींद आ जाती थी। शोर-गुल के बीच में भी जहाँ दूसरों को लाख यत्न करने पर नींद नहीं आती थी, वे धूम से सोते थे।

इँगलेंड में अपने विद्यार्थी जीवन के दिनों में जब उन्हें अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता था तब रात में देर तक जागने के लिए वे चाय पीने लगे थे और इसकी उन्हें आदत पड़ गई थी। प्रत्यक्षतः चाय पीने से उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची थी।

[१३]

उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन का ज़िक्र किया था, इससे मुझे प्रसन्नता हुई। गत शताब्दी के सत्तरवें

वर्ष में जब वे इँग्लेंड में थे तब उन्हें कुछ कठिनाई हुई थी और मैं उसके बारे में सुन चुका था। परन्तु मुझे विस्तार के साथ सब बातें नहीं मालूम हुई थीं और न मुझे यही निश्चय था कि जो कुछ मैंने सुना था वह कहाँ तक सत्य है। यहाँ उन बातों को अत्यन्त विश्वस्त सूत्र से जानने का अवसर था।

मैंने पूछा—"मिस्टर बनर्जी, जब आप इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा देने इँग्लेंड आये थे तब आपको कुछ कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं क्या ?"

मेरी इस बात में उन्होंने दिलचस्पी ली। बोले—"क्या आप उस कथा को सुनना चाहते हैं।"

मैंने स्वयं उनके मुख से उसके सुनने की इच्छा प्रकट की, इसलिए वे बोले—"परीक्षा पास करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। उसका आरम्भ उस समय हुआ जब परीक्षाफल प्रकाशित हुआ और मैं पास घोषित किया गया। सिविल सर्विस के कमिश्नरों का एक पत्र मेरे पास आया, जिसमें लिखा था कि आयु अधिक होने के कारण मेरा नाम सूची से निकाल दिया गया है।

"मैं अवाक् रह गया। यदि मेरी आयु अधिक थी तो मैं इस परीक्षा में सम्मिलित ही क्यों किया गया था? फिर इतना समय बीत जाने के बाद यह अन्वेषण कैसे किया गया। बाद को मालूम हुआ कि यह एक दुष्ट भारतीय की करतूत थी जो पर्दे के भीतर काम कर रहा था और जिसने कलकत्ता-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका की परीक्षा में बैठने के लिए मेरे प्रार्थना-पत्र में दी गई जन्म-तिथि के आधार पर यह ख़बर दी थी कि मेरी आयु अधिक है। यदि मेरी आयु ९ महीने कम होती तो मेरा नाम सूची से अलग न किया जाता।

"परन्तु सिविल सर्विस के कमिश्नरों ने मेरी बात सुननी अस्वीकृत कर दी। उनमें एक ऐसा था जो बंगाल में कई वर्ष जज रह चुका था और उसे हमारे रस्म-रवाजों से परिचित होना चाहिए था, परन्तु आश्चर्य्य तो यह हुआ कि उसने भी मेरा पक्ष न लिया।

"इसलिए मुझे अदालत की शरण लेनी पड़ी। सौभाग्य से एक अँगरेज़ ने, जो कलकत्ता में बहुत समय तक क़ानूनी प्रैक्टिस कर चुका था और जो उस समय प्रिवी कौंसिल में प्रैक्टिस कर रहा था, मेरे मामले में दिलचस्पी ली। उन्होंने एक प्रसिद्ध वकील मिस्टर मेलिश को, जो बाद को चीफ़ जस्टिस हुए, मेरी ओर से पैरवी करने के लिए खड़ा किया। उन्होंने एक भावपूर्ण तर्क उपस्थित किया। सब जज मेरे पक्ष में हो गये।

"ख़ैर, फ़ैसला सुनाये जाने के पहले ही सिविल सर्विस के कमिश्नरों ने बुद्धि से काम ले लिया। उन्होंने मेरे विरुद्ध जो आपत्ति की थी उसे वापस ले लिया और मेरा नाम सफल उम्मीदवारों की सूची में दर्ज हो गया"।

[१४]

मैंने पूछा—"इसके कुछ समय बाद क्या कुछ और कठिनाई नहीं उपस्थित हुई थी।"

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"आप किसी मनुष्य के जीवन की गुप्त बातें बाहर निकालने को इतनी ज़िद क्यों करते हैं।"

अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के उद्देश से कहा—"यह घटना उस समय की है जब मेरा जन्म नहीं हुआ था। मैंने इसकी कहानियाँ सुनी थीं, पर मैं यह नहीं जानता कि जो कुछ मैंने सुना है वह सत्य है या नहीं। इसलिए जो कुछ भी हुआ हो उसे मैं संक्षेप में आपसे सुनना चाहता हूँ।"

उन्होंने मुझसे जो कहा उसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

लन्दन से लौटने के कुछ दिन बाद श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सिलहट में असिस्टेंट कलेक्टर नियुक्त हुए। उन दिनों यह शहर बंगाल में था, पर अब आसाम में है। वहाँ पहुँचने में उन्हें एक सप्ताह लगा। यह साठ वर्ष पहले की बात है। तब वह मार्ग तय करने के आधुनिक साधन न थे।

नवागन्तुक को जिस मजिस्ट्रेट से काम सीखना था वह सहृदय प्रतीत होता था। उस स्थान पर जब तक इंडियन सिविल सर्विस का एक और अफ़सर जज नियुक्त होकर नहीं आया तब तक सब कार्य्य सकुशल सम्पन्न होते रहे।

इन जज महाशय को सुरेन बाबू इँग्लेंड से ही जानते थे। पूर्व-परिचय रंग लाया और दोनों ने एक दूसरे को बहुत कुछ देखा-सुना।

अभाग्य से इन नये जज और मजिस्ट्रेट में मनोमालिन्य था। सिलहट जैसे छोटे स्थान में यह बात बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। परन्तु सुरेन बाबू नवयुवक थे और उनका अनुभव कच्चा था। यदि उन दिनों कोई उन्हें यह सलाह देता कि वे इस नये जज से कोई सम्बन्ध न रक्खें, नहीं तो उनका सीनियर अफ़सर उनसे असन्तुष्ट हो जायगा तो वे उसे कदाचित् ऐसा उत्तर देते जिसे वह जन्म भर याद रखता।

इस मित्रता से सुरेन्द्रनाथ और मजिस्ट्रेट में भेद उत्पन्न हो गया और मजिस्ट्रेट ने उनके मार्ग में बाधायें उपस्थित करनी आरम्भ कीं। साधारण बातों के लिए भी उनसे जवाब तलब किया जाने लगा।

[१५]

इस प्रकार वह दिन आया जब उनसे जो जवाब तलब किया गया था उसका सम्बन्ध एक ऐसी घटना से था जिसके लिए उन्हें अपनी नौकरी से ही हाथ धोना पड़ा।

उनके पेशकार ने उनके सामने जो काग़ज़ात रक्खे थे उनमें एक ऐसे मुक़द्दमे का काग़ज़ था जिसकी सुनाई कई बार स्थगित हो चुकी थी। असावधानी के छिपाने के प्रयत्न में यह मुक़द्दमा दीवानी से फ़ौजदारी अदालत में भेज दिया गया। इसका कारण यह बताया गया कि अपराधी ने भागने का प्रयत्न किया था जो असत्य था।

यदि सुरेन्द्र बाबू में सामने आये काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करने से पूर्व उन्हें पढ़ लेने की आदत होती तो वे तुरन्त इस चाल को ताड़ जाते। परन्तु वे अपने दफ़्तर के कामों में कड़ाई से काम नहीं लेते थे। उन दिनों नवयुवक सिविलियनों का यही फ़ैशन था। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसे आर्डर पर हस्ताक्षर कर दिया जिसका उद्देश एक ऐसे व्यक्ति के साथ अन्याय करना था जिसने अदालत से भागने का न तो कोई प्रयत्न ही किया था और न कोई इरादा ही रखता था।

द्वेषी मजिस्ट्रेट ने उनकी इस भूल को तिल का ताड़ बना दिया। असावधानी को अपराध का रूप दिया गया। सुरेन्द्रनाथ पर अभियोग लगाया गया कि उन्होंने अफ़सरों की निगाह से अपनी असावधानी छिपाने के उद्देश से यह नियम-विरुद्ध कार्य्य किया है।

इस मामले की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ, जिसके सब सदस्य ग़ैर भारतीय थे और जांच भी ऐसी परिस्थिति में हुई कि उन्हें अपनी सफ़ाई देने का समुचित अवसर न मिला। उनकी ओर से जो बातें कही गईं उनको कमीशन ने कुछ भी महत्त्व न दिया।

सरकार ने इस कमेटी की रिपोर्ट और उनके विरोधी मजिस्ट्रेट के गुप्त रूप से भेजे गये वक्तव्य से प्रभावित होकर आर्डर पास कर दिया। वे ५०) मासिक एलाउन्स के साथ इंडियन सिविल सर्विस से बरख़ास्त कर दिये गये। लोगों ने बिना किसी अपवाद के इस आर्डर को अनावश्यक रूप से सख़्त समझा। परन्तु इसके रद कराने के सारे प्रयत्न विफल गये।

सुरेन्द्रनाथ लन्दन गये, 'सेक्रेटरी आफ़ स्टेट' से उन्होंने अपील की। पर वह भी व्यर्थ हुई!

[१६]

सरकारी नौकरी का द्वार बन्द हुआ देखकर उन्होंने क़ानून की पढ़ाई, जो उन्होंने अपनी पहली यात्रा के समय आरम्भ की थी, पूरी करने का निश्चय किया। अपमान और चिन्ता से अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति-द्वारा अपने मन को हटाकर वे क़ानून पढ़ने में लग गये। एक वर्ष में (यदि मेरी स्मृति ठीक है) उन्होंने क़ानून की परीक्षा पास कर ली। संसार उन्हें फिर चमकदार दिखाई पड़ा। परन्तु भारत में उनके सामने जो बाधायें आगई थीं वे फिर अपनी क़ब्र से निकलीं और उन्हें फिर उदासी का सामना करना पड़ा।

इँग्लेंड में क़ानून की परीक्षा पास कर लेने से ही कोई वकील नहीं बन सकता। इसके लिए 'इन्स आफ़ कोर्ट्स' में से एक का घोषणा-पत्र प्राप्त करना भी आवश्यक है। जिस इन में सुरेन्द्रनाथ सम्मिलित हुए थे उसके सब नियमों का उन्होंने पालन किया था, परन्तु

अधिकारियों ने उनके इंडियन सिविल सर्विस से बरख़ास्त हो जाने के कारण उन्हें इन की सदस्यता के अयोग्य समझा और उन्हें बैरिस्टर घोषित करना अस्वीकार कर दिया।

प्रत्येक व्यक्ति ने घोषित किया कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का जीवन नष्ट होगया। भारतवर्ष में वे सबसे ऊँची सरकारी नौकरी से हटा दिये गये और उन्हें वकालत करने की भी सुविधा नहीं मिली। अब वे क्या कर सकते हैं?

[१७]

उन्होंने मुझसे बताया कि परीक्षा के उन दिनों में उनकी पत्नी ने उनका बड़ा साथ दिया। उनकी निन्दा का एक शब्द भी उस देवी के मुख से न निकला। उसने अपनी उदासी को भी छिपाया ताकि पति पर उसका प्रभाव न पड़े।

उन्होंने यह भी कहा कि आधुनिक कसौटी पर वह स्त्री अशिक्षिता कही जायगी। परन्तु उस विपत्ति के समय में और जब तक वह जीवित रही तब तक जो विपत्तियाँ आईं, उनमें वह उनके लिए शक्ति का स्तम्भ ही सिद्ध हुई।

सन् १९१९ की उस शाम को जब हम सुरेन्द्र बनर्जी के उस अस्थायी निवास में बैठे बातें कर रहे थे, अपनी पत्नी का उल्लेख करते हुए वे रो पड़े। वे एक नीची कुरसी पर बैठे थे। कमरा वही था जिसमें एक घंटा पूर्व हम लोग खाना खा चुके थे। मैं थोड़ा फ़ासले पर उनके सामने बैठा था। उनके पुत्र थियेटर देखने गये हुए थे।

उन्होंने अपनी कठिनाइयों का इतने वास्तविक ढङ्ग से वर्णन किया था कि सुनते सुनते मुझे रुलाई रोकने के लिए प्रयत्न करना पड़ा। अपनी पत्नी की उन्होंने जो प्रशंसा की वह हृदय को स्पर्श करनेवाली थी और वह देवी उस प्रशंसा की सच्ची अधिकारिणी थी।

जब मैंने उनसे छुट्टी ली तब बहुत देर हो गई थी, पर मार्ग का अधिकांश मैंने पैदल ही चल कर तय किया। पैदल न चलता तो मुझे अपने हृदय के भावों को जो घोर वर्षा के बाद पर्वत के झरनों के समान उग्र हो रहे थे, शान्त करने में कठिनाई होती। उनकी बातों पर मैं जितना ही विचार करता, उतनी ही मुझे उनकी प्रशंसा करने की इच्छा होती। भाग्य-द्वारा दो बार ठुकराये जाने पर भी केवल वही मनुष्य उठ सकता है और अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पुरुष हो सकता है जिसके भीतर असीम शक्ति भरी हो।

देश के युवकों को सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से अधिक उत्साह दिलानेवाला आदर्श नहीं मिल सकता।

मिलन

'निर्मल'

पाया मैंने उनको आली!
जिनकी रूप-राशि घट घट में, मेरे फैलाती उजियाली।
कब से थी मैं आँख लगाये,
जाने किस पथ से वे आये;
मेरे अन्तस्तल में चुपके-
चुपके अपने आप समाये।
सुधि-बुधि जाती नहीं सँभाली, पाया मैंने उनको आली!
विस्मृत-सा वह हुआ कलपना,
नयनों में जीवन का सपना;
बिखरी छवि स्मृति है मुसुकाती,
बस अब है अपना ही अपना।
मुझको मेरी मिली दिवाली, पाया मैंने उनको आली!
आज मिली है मेरी थाती,
मुझको, नवजीवन सरसाती;
रजत-रश्मियाँ जिनकी फैलीं,
उन चरणों पर बलि बलि जाती।
पुलकित सखि! जीवन-निधि पा ली, पाया मैंने उनको आली!

प्ल्यूटो (यम)

डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०

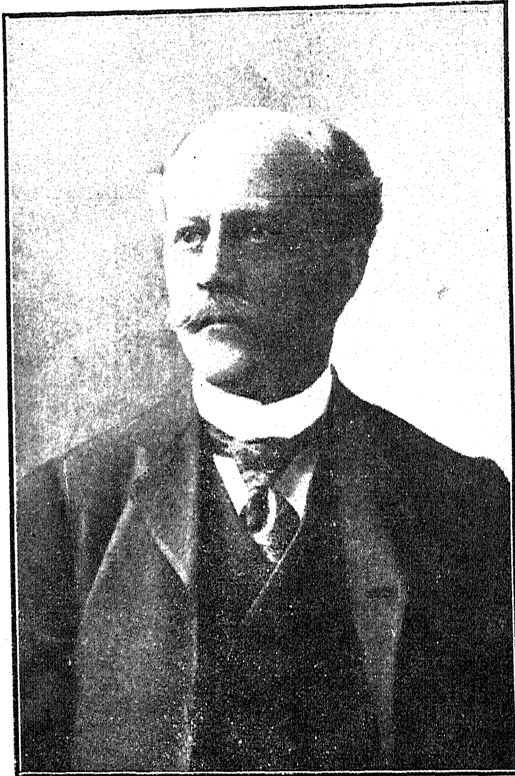


[डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद]

किसी नये ग्रह का पता लगा लेना एक अत्यन्त असाधारण घटना है। अतिप्राचीन काल से लोगों को बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति और शनि छह ही ग्रहों का पता रहा है। जब हर्शेल ने अकस्मात् १३ मार्च सन् १७८१ को एक सातवें ग्रह वारुणी (यूरेनस) का पता लगाया तब वैज्ञानिक संसार में इस महत्त्वपूर्ण अन्वेषण से वैसा ही कौतूहल उत्पन्न हो गया, जैसा कोलम्बस के अमेरिका का पता लगाने के समय हुआ था। इसके पश्चात् सन् १८४६ में फ्रांस के लवेरिये (LeVerrier) और इँग्लेंड के ऐडम्स ने अपने गणित-द्वारा एक आठवें ग्रह वरुण (नेप्च्यून) का अनुसन्धान किया। सन् १९३० में अमेरिका के फ्लैगस्टाफ़-वेधशाला ने जब सहसा एक नये ग्रह प्ल्यूटो के अन्वेषण की घोषणा की तब स्वभावतः सारे वैज्ञानिक समाज में एक बड़ी हलचल मच गई। ज्योतिष तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों में भी अज्ञात को ज्ञात करने के लिए गणित कैसा उपयोगी और अचूक साधन है, यह बात प्ल्यूटो के अन्वेषण से ऐसी उत्तमता से सिद्ध हो जाती है कि इसका कुछ विवरण पाठकों को अवश्य रुचिकर प्रतीत होगा।

इस नये ग्रह की खोज में भी उसी विधि का प्रयोग हुआ है जिससे नेप्च्यून का पता लगाया गया था। किन्तु दोनों समयों की क्रियात्मक कठिनाई में बड़ा अन्तर है। नेप्च्यून के अन्वेषण के समय गणितज्ञों के हाथ में इतना मसाला मौजूद था कि नेप्च्यून का अधिक समय तक छिपा रहना बिलकुल असम्भव था, किन्तु अब की बार जिस निर्दिष्ट के आधार पर प्ल्यूटो का पता लगाया गया है वह इतना अपर्याप्त और क्षीण था कि यह अन्वेषण एक महा उच्च कोटि की वैज्ञानिक विजय समझी जायगी।

नेप्च्यून के अन्वेषण के बाद से ही लोगों का यह अनुमान रहा है कि सम्भवतः इससे भी दूरस्थ कोई नवीन ग्रह हो। यह बात सभी को मालूम है कि प्रत्येक ग्रह की गति, कक्षा इत्यादि पर अन्य ग्रहों के आकर्षण-द्वारा बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि ये अन्य ग्रह उपस्थित न हों तो ग्रह की गति-कक्षा उसकी सम्प्रति



[पी० लोवेल]

[मोर्स के 'मार्स' से

गति-कक्षा से बहुत भिन्न होगी। इस बात की गणना करना कि एक ग्रह से दूसरे पर कितना विचलन उत्पन्न होता है, एक कठिन कार्य्य है। किन्तु यह कठिनाई कई गुनी अधिक हो जाती है जब किसी अज्ञात ग्रह के ज्ञात ग्रह पर उत्पन्न हुए विचलन-द्वारा अज्ञात ग्रह की कक्षा इत्यादि के निश्चय करने का उलटा प्रश्न समुपस्थित हो। इस शताब्दी के आरम्भ में यह पता चला कि यूरेनस और नेप्च्यून की जो गति और कक्षा वेधशाला के द्वारा जानी जाती है वह गणित से निकाली हुई गति और कक्षा से भिन्न है। सब ज्ञात ग्रहों, सूर्य इत्यादि से उत्पन्न हुए आकर्षण को बाद देने पर भी यूरेनस की गति में १२० विकला और नेप्च्यून की गति में २ विकला का अन्तर पड़ जाता था। ज्योतिषियों ने सोचा कि यह अन्तर नेप्च्यून से भी दूर रहनेवाले किसी अज्ञात ग्रह के कारण ही पड़ सकता है। अतः इस अज्ञात ग्रह की तलाश शुरू हुई। किन्तु इस अनुसन्धान में एक बड़ी क्रियात्मक कठिनाई आ उपस्थित हुई। अपने अन्वेषण के बाद से अभी तक नेप्च्यून ने सूर्य की प्रदक्षिणा में केवल आधा ही चक्कर लगाया है, इसलिए उसके भ्रमण-काल, कक्षा इत्यादि का हमको उतना अच्छा ज्ञान नहीं है जितना ऐसी सूक्ष्म गणना के लिए होना चाहिए। अतः गणितज्ञ नेप्च्यून के विचलन पर कुछ भरोसा नहीं कर सकते थे। उनके दो ज़रियों में से एक तो बेकार गया। किन्तु यूरेनस अपने अन्वेषण के बाद से दो चक्कर पूरा कर चुका है। अतः विवश होकर यूरेनस के बचे-खुचे अन्तर पर ही भरोसा करके साहसी अनुसन्धान करनेवाले इस अज्ञात ग्रह की खोज में अग्रसर हुए।

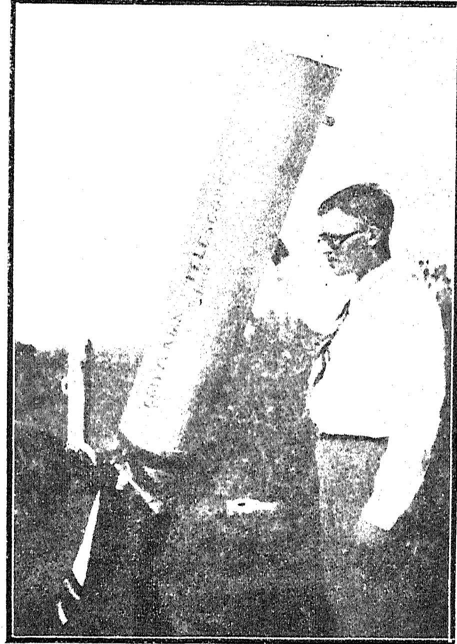
गणितज्ञों के सामने प्रश्न यह था कि ऐसे अज्ञात ग्रह के गुण-गति, कक्षा, विस्तार, वज़न, दूरी, स्थान इत्यादि क्या होंगे जो यूरेनस पर अपने आकर्षण-द्वारा मापित विचलन उत्पन्न कर सकेंगे। अनेक प्रकार की अड़चनों के होते हुए भी कतिपय सुयोग्य और उत्साही गणितज्ञ ज्योतिषी इस कठिन कार्य में लग गये। इनमें से डब्ल्यू० एच० पिकरिंग और पी० लोवेल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

लोवेल एक महा उच्च कोटि का प्रतिभाशाली विद्वान् होगया है। जिस विषय में उसने हाथ लगाया उसमें कमाल कर दिया। जनता में प्रायः वह अपने मंगल-ग्रह-सम्बन्धी कार्य के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु उसने अन्य ग्रहों के विषय में भी बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है। इसके सिवा वह एक बहुत बड़ा यात्री और लेखक

था। लोवेल ने सन् १९०५ में इस अज्ञात ग्रह के विषय में अपना गवेषण-कार्य आरम्भ किया। दस वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उसने इस विषय पर एक लेख प्रकाशित किया। इस लेख में उसने अज्ञात ग्रह की दूरी, गति, कक्षा इत्यादि का विस्तृत विवरण गणित से निकाल कर प्रकाशित किया। अपनी गणना से लोवेल ने सूर्य से इसकी दूरी पृथ्वी की अपेक्षा लगभग ४४ गुनी अधिक ठहराई। इसका विस्तार पृथ्वी और नेप्च्यून के बीच और आवर्त-काल लगभग २८२ वर्ष के निकाला गया। इस गणना से लोवेल ने भविष्यद्वाणी की कि यह अज्ञात ग्रह मिथुन नक्षत्र में, या सूर्य के ठीक दूसरी ओर, बारहवीं या तेरहवीं श्रेणी के तारे के समान चमकता हुआ दिखाई देगा।

अब यह सवाल उठा कि यदि लोवेल की गणना ठीक हो तो यह ग्रह देखा कैसे जाय। लोवेल और उनके सहायकों ने इस ग्रह को देखने के लिए लोवेल के अपने ख़र्च से बनाई हुई फ्लैगस्टाफ़ की सुविख्यात वेधशाला में बहुत समय और शक्ति लगाई, किन्तु नतीजा कुछ नहीं निकला। इतने में सन् १९१७ में लोवेल की मृत्यु होगई। किन्तु उसको अपनी गणना की सत्यता में इतना अटल विश्वास था कि इस ग्रह की खोज को अपने मरने के बाद भी जारी रखने के लिए वह काफ़ी धन छोड़ गया।

धीरे धीरे अन्य ज्योतिषियों को इस ग्रह-सम्बन्धी-खोज में दिलचस्पी कम होगई और वे लोवेल के सन् १९१४ वाले लेख को प्रायः भूल गये। किन्तु फ्लैगस्टाफ़-वेधशाला के कार्यकर्त्ताओं को अपने स्वर्गीय नेता की योग्यता और भविष्यद्वाणी में पूर्ण विश्वास था और वे खोज के काम में बराबर लगे रहे। अनेक तारों के बीच में इतने मंद प्रकाशित ग्रह को देखने की आशा न होने के कारण यह सारी खोज फोटोग्राफी के द्वारा हो रही थी। समय-प्रवाह के साथ ऐसा प्रतीत हुआ कि यह दूरस्थ ग्रह लोवेल के अनुमान से भी, जो उसके कथनानुसार मोटे तौर से निकाले हुए सन्निकट फल थे, और भी अधिक धुँधला होगा। अतः ऐसे धुँधले ग्रह का फोटोग्राफ लेने के लिए एक और अधिक ज़ोरदार यन्त्र की आवश्यकता पड़ी। हार्वार्ड-यूनीवर्सिटी के सभापति ने जो पी० लोवेल के छोटे भाई हैं, उसके लिए प्रचुर धन प्रदान किया। इस धन से १३ इंच छिद्रवाला तेहरे प्रधानताल के साथ एक नया ज़ोरदार दूरदर्शक



[सी० डब्ल्यू० टोम्बॉग]

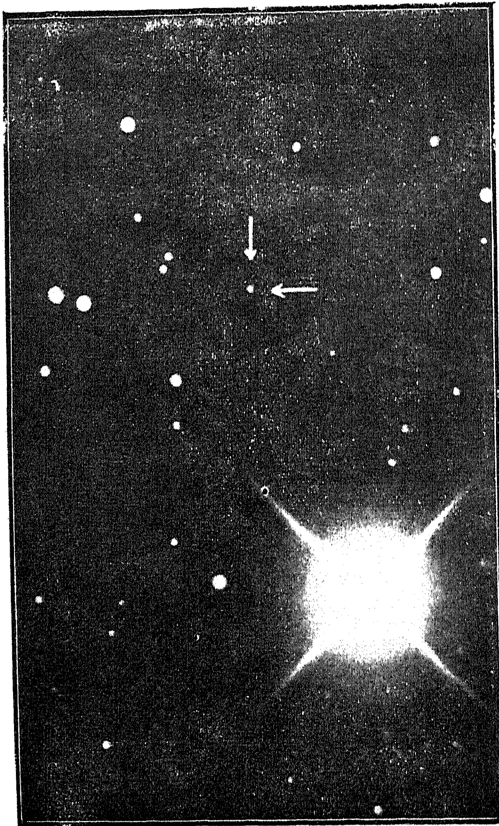
["सायन्टफ़िक् अमेरिकन से"

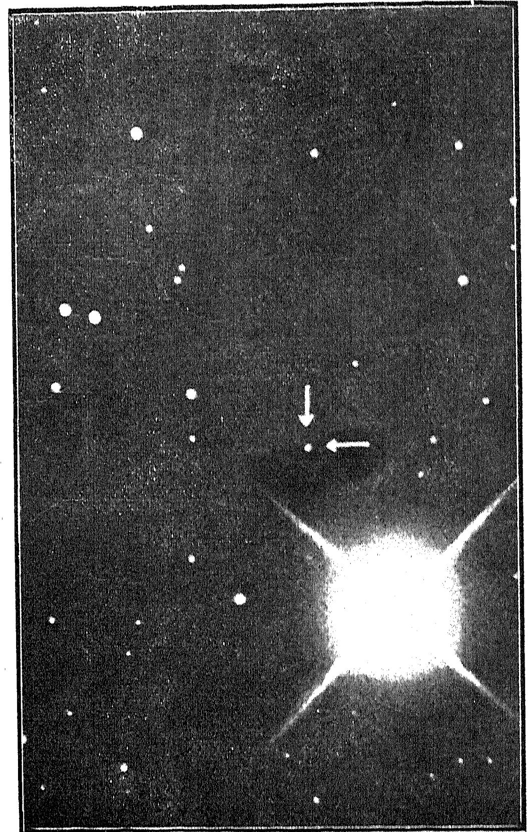
(इन्होंने पहले-पहल प्ल्यूटो का पता लगाया। ये एक किसान के लड़के हैं और बिना किसी यूनिवर्सिटी इत्यादि की उच्च शिक्षा पाये, केवल निजी उद्योग से इन्होंने ज्योतिष में पारंगतता प्राप्त की है। चित्र में ये अपने हाथ से बनाये ९ इंच छिद्रवाले दर्पणयुक्त दूरदर्शक के पास खड़े हैं।)

तैयार हुआ और इस नये यन्त्र से अज्ञात ग्रह की तलाश और भी सरगर्मी के साथ शुरू हुई।

इस नये 'लॉरेन्स लोवेल' नामक दूरदर्शक यन्त्र के प्रयोग से एक वर्ष के भीतर ही यह नटखट ग्रह आख़िर-कार पकड़ा गया। आकाश के उस भाग का जिसमें इसके

पाये जाने की भविष्यद्वाणी लोवेल ने की थी, बहुत-से फ़ोटोग्राफ लिये गये। इन फ़ोटोग्राफ़ों में से एक पर जो २१ जनवरी सन् १९३० को लिया गया था, मिस्टर टोम्बॉग ने जिन्होंने लोवेल की वेधशाला में इस ग्रह-सम्बन्धी खोज का काम अभी हाल में ही शुरू किया था, एक बहुत आशाजनक चीज़ देखी। फ़ोटोग्राफ लिये हुए हज़ारों तारात्रों में उन्होंने एक ऐसा तारा देखा जिसने दो फोटो लेने के बीच के समय में अपना सापेक्षिक स्थान कुछ बदल दिया और इसकी स्थान बदलने की गति वही थी जो लोवेल के गणनानुसार उस अज्ञात ग्रह की होनी चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि तारात्रों का आपस का सापेक्षिक स्थान नहीं बदलता है, किन्तु ग्रह तारात्रों के बीच आगे-पीछे चला करते हैं। उस तारीख़ से फ्लैगस्टाफ़-वेधशाला के लोग दूरदर्शक से इसको देखते और फोटोग्राफ लेते हुए इसके मार्ग का पीछा करते रहे। इसके सब गुण लोवेल के गणित से





[जीन्स के 'यूनिवर्स एराउंड अस' से]

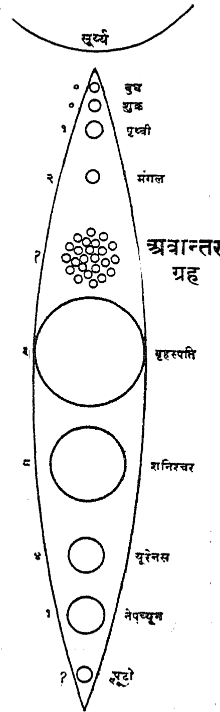
(ये फोटोग्राफ लोवेल वेधशाला में २ और ५ मार्च सन् १९३० की रात में लिये गये। चित्र से विदित होता है कि एक को छोड़कर जिसका संकेत तीरों से किया गया है, किसी आकाशीय पिण्ड ने अपना सापेक्षिक स्थान नहीं बदला है। इस प्रकार इसका सापेक्षिक स्थान बदल जाने से यह मालूम हुआ कि यह सांकेतिक पिण्ड कोई ग्रह है।)

निकाले हुए अज्ञात ग्रह के गुणों से मिलते-जुलते थे। इस तरह पौने दो महीने तक वे इसका निरीक्षण ध्यानपूर्वक करते रहे। अन्त में वे इस नतीजे पर पहुँचे कि निःसन्देह यह वही लोवेल का भविष्यद्वाणी किया हुआ नवीन ग्रह है। १३ मार्च सन् १९३० को यूरेनस के अन्वेषण की १४९ वीं वर्षतिथि पड़ती थी और यही तारीख़ लोवेल का जन्मदिन भी है। फ़्लैगस्टाफ़-वेधशाला के कर्मचारियों ने निश्चय किया कि अपने स्वर्गवासी नेता का जो इस महासफलता के मूल कारण थे, जन्म-दिन मनाने की सबसे उपयुक्त विधि यही है कि इस नवीन ग्रह के अन्वेषण की घोषणा उनके जन्म-दिन ही पर की जाय। अतः १३ मार्च सन् १९३० को यह समाचार विद्युत् के समान फ़्लैगस्टाफ़-वेधशाला से सारे संसार में फैला दिया गया। वास्तव में शायद ही किसी का जन्म-दिन ऐसी सुन्दर रीति से मनाया गया हो!

क्या ही आनन्द की बात होती यदि अपने आरम्भ किये हुए कार्य की सफलता देखने के लिए आज लोवेल मौजूद होते! यहाँ यह लिख देने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे भी कुछ लोग हैं जो समझते हैं कि इस अन्वेषण का श्रेय लोवेल को नहीं मिलना चाहिए। उनका कहना है कि यह तो एक दूसरा ही ग्रह है जो लोवेल के भविष्यद्-वाणी किये हुए ग्रह की खोज में संयोगवश मिल गया। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है। कुछ ने तो पहले इसको ग्रह नहीं, किन्तु एक पुच्छल-तारा समझा था!

आरम्भ में यह ग्रह "ग्रह एक्स" (X) के नाम से सम्बोधित होता था। पीछे आक्सफ़र्ड की कुमारी बर्नी (Burney) ने इसका नामकरण-संस्कार किया। उन्होंने प्रस्ताव किया कि इस नवीन ग्रह का नाम 'प्ल्यूटो' रक्खा जाय और यही नाम फ़्लैगस्टाफ़-वेधशाला के लोगों को भी पसन्द आया। तब से इसका नाम 'प्ल्यूटो' हो गया। प्ल्यूटो के पौराणिक भाव को क़ायम रखने के अभिप्राय से इस लेख के लेखक ने इसका नाम 'यम' रख दिया है।

अभी तक इस ग्रह के सम्बन्ध में बहुत अधिक जान-कारी नहीं प्राप्त हुई है, किन्तु इस विषय का काम ज़ोरों से जारी है। जो कुछ पता अब तक चला है उसका सारांश यह है कि यह नवीन ग्रह पृथ्वी की अपेक्षा ४७ गुनी दूरी पर है और उसकी एक प्रदक्षिणा में २४७.१७ वर्ष लगेंगे। इसकी कक्षा के अनुसन्धान में विशेष कार्य हुआ है। संसार की भिन्न-भिन्न वेधशालाओं में इसके सैकड़ों वेध होशियारी से लिये गये हैं और पिछले वर्षों के वेधों में भी इसके फोटोग्राफ मिले हैं, जिससे कक्षा-गणना में बहुत सहायता मिली है। इसकी कक्षा औरों की अपेक्षा अधिक दीर्घवृत्ताकार है। अभी तक इसके कोई उपग्रह होने का पता नहीं चला है। नाप और वज़न में मोटे तौर से यह क़रीब क़रीब पृथ्वी के बराबर होगा। यह बहुत ही मन्द प्रकाशित १५ वीं श्रेणी के तारे के समान हमको दिखलाई पड़ता है। अत्यन्त दूरी के कारण प्ल्यूटो से सूर्य उतना ही बड़ा दिखलाई पड़ता होगा, जितना पृथ्वी से हमको बृहस्पति मालूम होता है। वहाँ ऐसी सर्दी पड़ती होगी कि यदि हमारी पृथ्वी उस दूरी पर कर दी जाय तो हम सभी लोग अपने वायुमंडल के साथ जमकर बिलकुल ठोस हो जायँगे। ऐसी दशा में इस नवीन ग्रह पर जीव के रहने की सम्भावना नहीं के बराबर है।



[जीन्स के उपर्युक्त पुस्तक के एक चित्र के आधार पर]
(ग्रहों के सापेक्षिक विस्तार का चित्र। प्रत्येक ग्रह के ज्ञात उपग्रह की संख्या अङ्कित है।)

अब तो हमारे सौर-परिवार का द्वार-रक्षक नेपच्यून नहीं रहा। उसको एक दर्जा तरक़्क़ी मिल गई और प्ल्यूटो ने नवीन द्वार-रक्षक होने का स्थान ग्रहण किया है।

गीत

श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०



(१)

कैसे सँदेश प्रिय पहुँचाती !
दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसिप्याली, झरते तारक-द्वय;
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख साँसों के अक्षर;
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !

(२)

छायापथ में छाया से चल,
कितने आते-जाते प्रतिपल;
लगते उनके विभ्रम इंगित,
क्षण में रहस्य क्षण में परिचित;
मिलता न दूत वह चिरपरिचित
जिसको उर का धन दे आती !

(३)

अज्ञात पुलिन से, उज्ज्वलतर,
किरणें, प्रबाल-तरिणी में भर;
तम के नीलम-कूलों पर नित,
ले आती जो ऊषा सस्मित;
वह मेरी करुण कहानी में
मुस्कानें अङ्कित कर जाती।

(४)

सज केशर-पट तारक-वेंदी,
दृग अंजन मृदु पद में मेंहदी;
आती भर मदिरा से गगरी,
संध्या अनुराग सुहाग भरी;
मेरे विषाद में वह अपनी
मधुरस की बूँदें छलकाती।

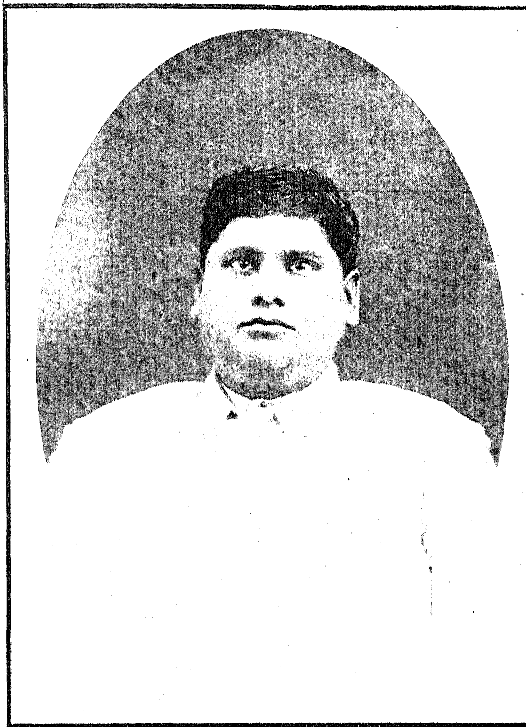
(५)

डाले नव घन का अवगुण्ठन,
दृग तारक में सकरुण चितवन,
पदध्वनि से सपने जाग्रत कर,
श्वासों से फैला मूक तिमिर,
निशि अभिसारों में आँसू से
मेरी मनुहारें धो जाती !

एक दिलचस्प कहानी

क्रान्तिकारी

श्रीयुत विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'



रात के दस बज चुके थे। शहर में सन्नाटा हो चला था। इसी समय एक युवक योरपीय वस्त्र पहने तेज़ी के साथ एक ओर जा रहा था। नाइटकेप से उसका माथा ढँका हुआ था और उसके मुख का निचला भाग ओवरकोट के कालर में छिपा हुआ था। उसके दहिने हाथ में बिजली का "टार्च" था और बायाँ हाथ ओवरकोट की जेब में पड़ा था।

सहसा सड़क से वह एक गली में घुसा। गली में घुसते ही एक अर्द्धवयस्क भिखारी ने हाथ फैलाकर कहा—"कुछ मिल जाय, बाबू! आज दिन भर कुछ नहीं मिला।" युवक के माथे पर बल पड़ गये। उसने भिखारी को ध्यानपूर्वक देखा। भिखारी ने युवक को अपनी ओर देखते हुए देखकर बड़ी दीनतापूर्वक कहा—"बाबू, भूखा हूँ। कुछ मिल जाय।" युवक ने बायें हाथ से कोट के भीतरी जेब से एक एकन्नी निकाल कर भिखारी को दी और चल दिया।

थोड़ी दूर चल कर वह एक द्वार पर रुका। पहले उसने ध्यानपूर्वक अपने चारों ओर देखा। कुछ दूर पर वही भिखारी सिर झुकाये धीरे धीरे चला आ रहा था। युवक ने द्वार की कुण्डी खटखटाई। एक क्षण पश्चात् द्वार खुला और युवक अन्दर चला गया। द्वार फिर बन्द हो गया।

द्वार खोलनेवाला एक युवक था। उसने आगन्तुक से पूछा—"इतनी देर क्यों हुई, रमेश?"

रमेश ने चिढ़े हुए स्वर से उत्तर दिया—"मुझे कितनी दूर से आना पड़ता है, यह भी ख़बर है? तुम्हें क्या, तुम तो घर में घुसे रहते हो।" ये बातें करते हुए दोनों एक कमरे में पहुँचे। इस कमरे में एक गोल-मेज़ पड़ी हुई थी—उसके चारों ओर पाँच-छः कुर्सियाँ थीं और उन पर तीन व्यक्ति बैठे हुए थे। रमेश को देखते ही एक बोला—"लो रमेश आ गया।"

रमेश ने अपनी नाइटकेप मेज़ पर पटक दी और ओवर-कोट उतार कर खूँटी पर टाँग दिया। तत्पश्चात्

अपने सिर के बालों को दाहने हाथ से बराबर करते हुए कुर्सी पर बैठ गया। जिस युवक ने द्वार खोला था वह भी बैठ गया।

कुछ क्षणों तक रमेश सिर झुकाये बालों पर हाथ फेरता रहा। अन्य चारों व्यक्ति उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से उसके मुख की ओर देखते रहे। सहसा उसने सिर ऊपर उठाकर कहा—"अभी इस गली के सिरे पर मुझे एक भिखारी मिला था। वह कौन है, जानते हो?"

"भिखारियों का परिचय प्राप्त करना हमारे कार्यक्रम का अंग नहीं है। क्यों, क्या उसका परिचय प्राप्त करना आवश्यक है?" एक व्यक्ति ने कहा।

"हाँ, यदि वह संदिग्ध व्यक्ति हो तो।"

"तुम्हें वह कैसा जँचा?" दूसरे व्यक्ति ने प्रश्न किया।

"मुझे उस पर सन्देह हुआ तभी तो पूछता हूँ।" रमेश बोला।

इतना सुनते ही सब हँस पड़े।

रमेश भौंह चढ़ाकर बोला—"क्यों आप लोग हँसते क्यों हैं? हम जिस परिस्थिति में हैं उसमें रहकर इस प्रकार का सन्देह करना आवश्यक है, यह जानते हो?"

"परन्तु तुम्हें सन्देह करने की कोई आवश्यकता नहीं। हम उस भिखारी को जानते हैं। वह बहुधा इस गली में भीख माँगने आया करता है।"

"और तुम लोगों को उस पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं है?"

"नहीं।"

"तब कोई बात नहीं!"

कुछ क्षणों तक सब लोग मौन बैठे रहे। हठात् एक युवक बोला—"तुम क्या कर आये? यह तो बताओ।"

रमेश ने कहा—"रुपये का प्रबन्ध तो नहीं हो सका।"

"यह क्यों?" एक ने भौंह चढ़ाकर प्रश्न किया।

"नहीं हो सका बस, इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कह सकता।" रमेश ने उत्तर दिया।

"परन्तु प्रबन्ध न हो सकने का कोई कारण भी तो होगा।"

"कारण यही कि जहाँ से मिलनेवाला था, वहाँ से नहीं मिला।"

"बड़े आश्चर्य की बात है!"

"आश्चर्य क्यों? ऐसा बहुधा हो जाया करता है।" रमेश ने मुँह बनाकर कहा।

"आश्चर्य इसलिए कि तुमने विश्वास दिलाया था कि रुपये का प्रबन्ध निश्चय कर दोगे।"

"हाँ, मैंने विश्वास अवश्य दिलाया था, परन्तु विवश हूँ। मुझे पूरा भरोसा था कि रुपया मिल जायगा। परन्तु समय की बात है, नहीं मिला।"

"तुम तो 'समय की बात' और 'संयोग' कह कर छुट्टी पा गये, परन्तु यहाँ तो सारी आशाओं पर पानी फिर गया।"

"मुझे इसका हार्दिक खेद है; पर क्या किया जाय।"

"हाँ, अब क्या किया जाय, यही सोचना है।"

"बिना रुपये के काम नहीं चल सकता?"

"एक इंच भी नहीं चल सकता।

रमेश विचार में पड़ गया। कुछ क्षणों तक सोच-कर बोला—"अच्छा मुझे कल की मोहलत और दो। मैं एक बार फिर प्रयत्न करूँगा।"

चारों ने एक-दूसरे की ओर देखा। तत्पश्चात् एक बोला—"अच्छा कल की मोहलत और दी जाती है।"

(२)

रमेशप्रसाद एक धनाढ्य परिवार का लड़का है। उसने बी० ए० तक शिक्षा पाई है, परन्तु वह बी० ए० की डिग्री प्राप्त नहीं कर सका। दो साल लगातार फ़ेल होजाने के कारण उसने पढ़ना छोड़ दिया। जब वह कालेज में पढ़ता था उस समय उसे क्रान्तिकारी बातों तथा क्रान्तिकारियों से बहुत दिलचस्पी थी। जब वह समाचार-पत्रों में क्रान्तिकारियों के कारनामे पढ़ता था तब उसके शरीर में बिजली सी दौड़ जाती थी। वह क्रान्तिकारियों का परिचय प्राप्त करने के लिए सदैव उत्सुक रहता था। वह अपने को भी क्रान्तिकारी समझने लगा

था। क्रान्तिकारियों की भांति सदैव सतर्क रहने, प्रत्येक व्यक्ति को सन्देहात्मक दृष्टि से देखने, अपने व्यक्तित्व को छिपाकर घूमने-फिरने तथा इसी प्रकार के अन्य क्रान्तिकारियों जैसे आचरणों का पालन करने में उसे बहुत ही आनन्द मिलता था। उसे क्रान्तिकारियों के लक्ष्य तथा उद्देश से कोई प्रयोजन नहीं था। न उसे देश को स्वतंत्र करने की लगन थी और न उसके सामने अन्य कोई देश भक्तिपूर्ण अथवा राजविद्रोहात्मक लक्ष्य था। उसका लक्ष्य केवल इतना था कि वह क्रान्तिकारियों की तरह एक रहस्यमय व्यक्ति हो जाय और लोग उसे क्रान्तिकारी समझकर उससे भयभीत रहें। वह किसी क्रान्तिकारी-दल का नेता बन जाय, यह उसकी महत्त्वाकांक्षा थी।

रात के ग्यारह बज चुके थे। रमेश के पिता अपने कमरे में अकेले पड़े हुए सो रहे थे। अकस्मात् कुछ खटका होने से उनकी आंख खुल गई। कमरे में बिजली की धुँधली रोशनी थी। उस क्षीण प्रकाश में उन्होंने एक आदमी की छाया देखी। वे तुरन्त उठकर बैठ गये और उन्होंने चाहा कि बिजली की दूसरी बत्ती जलावें। जैसे ही उन्होंने बटन की ओर हाथ बढ़ाया, वैसे ही एक व्यक्ति काले चोगे से अपना शरीर ढँके और मुँह पर नक़ाब डाले लपककर उनके समीप आ गया और उसने अपना दायाँ हाथ बढ़ाकर गम्भीर स्वर में कहा--ख़बरदार! रमेश के पिता ने देखा—उस व्यक्ति के हाथ में एक पिस्तौल है। उस व्यक्ति ने फिर गम्भीर स्वर में कहा—"ख़बरदार! स्विच मत दबाना, नहीं तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।" रमेश के पिता ने शीघ्रतापूर्वक हाथ हटा लिया। उनका हृदय धड़कने लगा, कंठ सूख गया। उन्होंने भयभीत स्वर में उस व्यक्ति से पूछा—"तुम क्या चाहते हो?"

"लोहे की अलमारी की ताली।"

रमेश के पिता विचार में पड़ गये। उस व्यक्ति ने उन्हें हिचकिचाते देख कर्कश स्वर में कहा—"जल्दी करो।"

रमेश के पिता ने काँपते हुए हाथों से अपने सिरहाने से ताली निकाल कर दे दी। उस व्यक्ति ने बायें हाथ से ताली ले ली, तत्पश्चात् कहा--"ख़बरदार! हिलना-डुलना नहीं और न शोर मचाना, अन्यथा जान चली जायगी।"

इतना कहकर वह पास ही दीवार में लगी हुई लोहे की अलमारी के पास पहुँचा और उसने शीघ्रतापूर्वक अलमारी खोलकर उसमें से कुछ निकाला, तत्पश्चात् अलमारी बन्द करके ताली रमेश के पिता की ओर फेंक दी। इसके पश्चात् वह बोला—"ख़बरदार! जब तक मैं निकल न जाऊँ, चुपचाप पड़े रहना!" इतना कहकर उसने पिस्तौल हिलाया और बत्ती बुझा दी। अब बिलकुल अँधेरा हो गया। रमेश के पिता ने द्वार खुलने तथा बन्द होने का शब्द सुना। थोड़ी देर तक वे चुपचाप पड़े रहे, इसके पश्चात् उन्होंने धीरे से हाथ बढ़ाकर 'स्विच' दबाया। कमरा बिजली के पूर्ण आलोक से जगमगा उठा। वे उठे और उन्होंने धीरे से द्वार खोलकर बाहर झाँका—बाहर पूरा सन्नाटा था। उसी समय वे ज़ोर से चिल्लाये—"चोर! चोर! दौड़ो! पकड़ो।"

रात की निस्तब्धता में उनका कंठस्वर घर भर में गूँज गया। कुछ ही क्षणों में फटाफट कई द्वारों के खुलने का शब्द हुआ और दो तीन आदमी 'कहाँ' 'कहाँ' चिल्लाते हुए बाहर निकल आये।

रमेश के पिता को देखकर एक बोला—"क्या है सरकार?"

"अभी एक चोर मेरे कमरे से निकलकर गया है।" रमेश के पिता ने घबराये हुए स्वर में कहा।

"हैं! आपके कमरे में चोर! वहाँ कैसे पहुँचा?"

"मैं स्वयम् चक्कर में हूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

"किधर गया?"

"अभी इसी द्वार से बाहर निकल गया है।"

"तो सदर दरवाज़ा तो बन्द होगा—जायगा कहाँ—यहीं कहीं होगा।"

"परन्तु होशियार रहना। उसके पास पिस्तौल है।"

इसी समय रमेश आँखें मलता हुआ और घबराया हुआ आया। उसने पूछा—"क्या है पिताजी?"

पिता ने सारा वृत्तान्त कह दिया।

रमेश बोला—"हमारे घर में और चोर! बड़े आश्चर्य्य की बात है।"

इसी समय एक व्यक्ति ने आकर कहा—"सदर द्वार खुला पड़ा है। जान पड़ता है चोर निकल गया।"

रमेश बोला—"यह तो बड़े ग़ज़ब की बात हुई। आपने उसे देखा था?"

"हाँ! काला चोग़ा पहने था, मुँह पर काली नक़ाब डाले था और हाथ में पिस्तौल लिये था।"

"तब तो वह कोई साधारण चोर नहीं था! कुछ ले भी गया क्या?"

"ले अवश्य गया है, पर पता नहीं क्या ले गया। चलो देखें।"

(३)

सवेरे पुलिस को सूचना दी गई। पुलिस ने आकर मौक़ा देखा और तहक़ीक़ात आरम्भ कर दी। स्थानीय समाचार-पत्रों में भी यह समाचार निकल गया। पुलिस ने चोर का हुलिया सुनकर अनुमान लगाया कि यह कार्य किसी क्रान्तिकारी का मालूम होता है। रमेश तो पहले से ही यह कह रहा था कि इस ढंग से केवल क्रान्तिकारी ही आ सकता है। नगर भर में सनसनी फैल गई थी। जहाँ देखो, यही चर्चा हो रही थी।

शाम का समय था। उक्त गलीवाले मकान में वे चारों युवक इकट्ठा थे। वे भी इसी विषय पर वार्त्तालाप कर रहे थे। एक कह रहा था—"आज तो रमेश का आना कठिन ही मालूम होता है।"

"हाँ, उसके यहाँ चोरी होगई है। शायद ही आ सके।"

"क्यों जी, भला यह चोर कौन होगा?"

"कोई बड़ा ही होशियार और बहादुर आदमी है। पराये मकान में इस तरह जाकर चोरी कर लाना मज़ाक़ नहीं है।"

"अब तो रमेश से रुपया मिलना कठिन ही मालूम होता है।"

"हाँ, दिखाई तो ऐसा ही पड़ता है।"

"क्या कहें, चिड़िया तो अच्छी फँसी थी, पर विघ्न पड़ गया।"

"परन्तु इसे हाथ से न निकलने देना चाहिए। रुपया इससे मिलेगा अवश्य। अभी नहीं तो महीना बीस दिन बाद सही, पर मिलेगा निश्चय।"

"हाँ, यह बात तो रामचन्द्र ठीक कहता है। उस पर इस समय क्रांतिकारी बनने का भूत सवार है। वह रुपया अवश्य देगा।"

"पहले तो यह देखना है कि आज यहाँ आता है या नहीं।"

"रुपया चाहे न लावे, परन्तु आवेगा तो ज़रूर।"

ये बातें हो ही रही थीं कि द्वार खटखटाने का शब्द सुनाई पड़ा। रामचन्द्र उछलकर खड़ा होते हुए बोला—"लो, आगया!" यह कहकर वह द्वार पर गया और उसने द्वार खोला। द्वार खोलते ही रमेश अन्दर आया। रमेश को लिये हुए रामचन्द्र कमरे में प्रविष्ट हुआ। रमेश को देखते ही एक युवक मुसकराकर बोला—"आगये! हमें तो सन्देह था कि शायद न आ सको।"

रमेश ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"क्यों?"

"तुम्हारे यहाँ चोरी होगई थी, इसलिए!"

रमेश मुँह बनाकर बोला—"तो इससे क्या हुआ। चोरी हो गई सो होगई, उसके पीछे कोई अपना काम-धंधा थोड़े ही बंद कर देगा।"

"ठीक कहते हो। परन्तु यार यह बड़े तअज्जुब की बात है कि तुम्हारे घर में रहते हुए चोरी होगई।"

"इसका क्या मतलब?" रमेश ने किञ्चित् मुसकराकर पूछा।

"क्रांतिकारी के घर में चोरी होजाना आश्चर्य की बात नहीं तो क्या है?"

"क्रांतिकारी के घर में क्रांतिकारी ही चोरी कर सकता है। कुछ भी हो, उसने किया बहादुरी का काम, यह तो मानना पड़ेगा।" रमेश ने कहा।

"हाँ, यह तो अवश्य मानना पड़ेगा। पर तुम्हारे लिए यह लज्जा की बात है।"

"आप लोग अपना काम कीजिए, इस फेर में न पड़िए।"

"काम तो रुपये से होगा। रुपया लाये हो?"

"जब वादा कर गया था तब कैसे न लाता।"

इतना कहकर रमेश ने जेब से नोटों का बंडल निकाला और मेज़ पर रख दिया। रामचन्द्र ने बंडल को देखते हुए पूछा—"कितने हैं?"

"दो हज़ार! इतने ही तो तुम लोगों ने माँगे थे।"

"हाँ, इतने ही माँगे थे। परन्तु यार ख़ूब लाये। हम लोगों को तो आशा नहीं थी।"

"क्यों?" रमेश ने पूछा।

"इसी चोरी के कारण। हम लोगों ने अनुमान लगाया था कि तुम चोरी के झगड़े में पड़े होगे, रुपया भला क्या ला सकोगे।"

रमेश हँसने लगा। हँसते हुए बोला—"ऐसी छोटी छोटी बातों से यदि क्रान्तिकारी लोग विचलित हो जायँ तो बस हो चुका।"

इसी समय किसी ने द्वार की कुंडी खटखटाई। रामचन्द्र चौंककर बोला—"यह कुंडी कौन खटखटाता है?"

सबके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उधर फिर किसी ने कुंडी खटखटाई।

"जाओ देखो, कुंडी कौन खटखटाता है। परन्तु द्वार मत खोलना। पहले मालूम कर लेना कि कौन है।"

रामचन्द्र उधर गया, इधर एक युवक ने नोटों का बंडल उठाकर अपनी जेब में रख लिया और मेज़ की दराज़ से ताश निकाल कर बाँटने आरम्भ कर दिये।

रामचन्द्र द्वार पर पहुँचा और अन्दर से ही बोला—"कौन है?"

"अभी एक बाबू इसी मकान में गये हैं। उनकी कोई चीज़ गिर पड़ी है, ले लीजिए।"

"तुम कौन हो?" रामचन्द्र ने प्रश्न किया।

"मैं तो भिखारी हूँ। बाबूजी ने मुझे जेब से एक इकन्नी निकाल कर दी थी, उसी समय उनकी जेब से यह गिर पड़ी।"

"क्या चीज़ है?"

"कोई छोटी सी किताब है।"

रामचन्द्र ने कहा—"ओहो नोटबुक होगी। अच्छा लाओ।"

यह कहकर रामचन्द्र ने द्वार खोला। उसके द्वार खोलते ही पुलिस के छः-सात आदमी भड़भड़ाकर अन्दर घुस आये। एक ने रामचन्द्र को पकड़ लिया। शेष सब कमरे की ओर चले। आगे आगे सब-इंस्पेक्टर था। उसने कमरे में घुसते ही पिस्तौल निकालकर हाथ में ले ली और कड़क कर बोला—"बस जो जहाँ है, वहीं बैठा रहे।"

पुलिस को देखते ही चारों के हाथों से ताश छूट पड़े।

(४)

कांस्टेबलों ने उन चारों को भी हिरासत में ले लिया। चारों की तलाशी ली गई। एक के पास वही नोटों का बंडल निकला। उसे इंस्पेक्टर ने अपने क़ब्ज़े में किया। बंडल को हाथ में लेकर इंस्पेक्टर ने पूछा—"यह रक़म कहाँ से हत्थे लगी हज़रत?"

रामचन्द्र बोल उठा—"ये नोट अभी रमेश ने लाकर दिये हैं।"

इंस्पेक्टर हँसकर बोला—"यह तो मुझे मालूम है। लेकिन तुम कैसे 'रिवोल्यूशनरी' हो कि इतनी जल्दी भेद खोल दिया। अपने दोस्त को फँसाकर ख़ुद बचना चाहते हो।"

इतना कहकर इंस्पेक्टर ने रमेश की ओर एक रहस्यपूर्ण दृष्टि डाली। इसके पश्चात् इंस्पेक्टर ने कांस्टेबलों से कहा—इन चारों को थाने पर ले चलो, मैं एक घण्टे के अन्दर वहीं आता हूँ। (रमेश से) तुम्हें मेरे साथ चलना पड़ेगा।

× × × ×

रमेश के पिता अपने बाहरी कमरे में बैठे थे। उनके पास ही तीन-चार व्यक्ति बैठे थे। उसी चोरी के विषय में वार्तालाप हो रहा था। इसी समय सबइंस्पेक्टर रमेश को साथ लिये हुए पहुँचा।

इंस्पेक्टर को देखकर रमेश के पिता ने पूछा—"कहिए दारोग़ा साहब, कुछ पता लगा?"

"ज़रा अलग चलिए तो बताऊँ।"

रमेश के पिता उठकर इन्स्पेक्टर तथा रमेश-सहित एक दूसरे कमरे में गये। इंस्पेक्टर ने कमरे का द्वार बन्द करके जेब से नोटों का बंडल निकाला और उसे रमेश के पिता के सामने रखकर कहा—"लीजिए, यह अपना रुपया और यह रुपयों का चोर।" इतना कहकर उसने रमेश का हाथ पकड़कर उनके सामने कर दिया।

रमेश के पिता अवाक् होकर इंस्पेक्टर तथा रमेश का मुँह ताकने लगे। रमेश सिर झुकाये मूर्तिवत् खड़ा रहा। रमेश के पिता बोले—"क्या इसी का काम था?"

"जी हाँ।"

"मुझे विश्वास नहीं होता दारोग़ा साहब! क्या इसने यह बात स्वीकार कर ली है?"

"अभी स्वीकार करते हैं।"

इतना कहकर इंस्पेक्टर ने अपनी जेब से एक कपड़े का टुकड़ा निकाला। इसके पश्चात् उसने रमेश की क़मीज़ के बटन खोल दिये। नीचे की क़मीज़ के ऊपर कपड़े का टुकड़ा रखकर इंस्पेक्टर बोला—"देखिए यह टुकड़ा इस क़मीज़ से मिलता है?"

"हाँ मिलता है, परन्तु..."

रमेश के पिता की बात काटकर दारोग़ा साहब बोले—"ठहरिए!"

इसके पश्चात् उन्होंने क़मीज़ के दामन का कोना देखा—"चारों कोने देखने पर एक कोना फटा हुआ निकला और उस फटे हुए स्थान पर वह टुकड़ा 'फ़िट' हो गया।" रमेश के पिता ने पूछा—"यह टुकड़ा आपको कहाँ मिला?"

"आपके सोनेवाले कमरे की खिड़की की नीचेवाली दहलीज़ में एक कील निकली हुई है। यह टुकड़ा उसमें फँसा हुआ था। मैं सवेरे जब मौक़ा देखने आया था तब मुझे यह मिला था। मैं उसी समय समझ गया था कि यह किसका काम है। परन्तु उस समय यदि मैं इनसे पूछताछ करता तो इतनी आसानी से पता न लगता। मैंने इनके पीछे ख़ुफ़िया का आदमी लगा दिया था। वह इनके पीछे पीछे गया और जब ये मकान के अन्दर गये तब उसने मुझे ख़बर दी। मैंने एक भिखमङ्गे को सिखाकर भेजा। उसने दरवाज़ा खुलवाया तब मैंने इन्हें और इनके साथियों को गिरफ़ार किया। (रमेश से) क्यों यही बात है न?"

रमेश ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

"तो अब क्या होगा दारोग़ा साहब?"

"होगा क्या! आपका रुपया मिल गया। चोर आपका लड़का ही निकला। अब इस पर क्या मुक़द्दमा चलवाइएगा?"

"नहीं, इस पर भला क्या मुक़द्दमा चलवाऊँगा। (रमेश से) वाह बेटा! ख़ूब घर में ही शिकार खेला।"

"यह अच्छा हुआ कि घर से ही श्रीगणेश किया, इसलिए बच भी गये, नहीं तो बड़े घर की हवा खानी पड़ती। अच्छा, अब आप इन्हें सँभालिएगा। मुझे उम्मीद है कि अब इनके दिमाग़ से 'रिवोल्यूशनरी' बनने का ख़ब्त दूर हो जायगा। इन्होंने सवेरे मुझसे बड़े ज़ोर के साथ कहा था कि यह काम सिर्फ़ रिवोल्यूशनरी ही कर सकता है।"

"अच्छा इनके साथियों का क्या होगा?"

"उन सबको मैं जानता हूँ। वे सब शरीफ़ घरानों के लड़के हैं। उनमें से एक भी रिवोल्यूशनरी तो क्या, रिवोल्यूशनरी की दुम भी नहीं है। उन्होंने इनसे रुपया ऐंठने के लिए यह सब स्वांग रचा था। उन्हें भी चेतावनी देकर छोड़ दूँगा। उनके ख़िलाफ़ और कोई बात है भी नहीं। (रमेश से) साहबज़ादे! रिवोल्यूशनरी बनने का ख़ब्त दिमाग़ से निकाल डालो। यह तुम-जैसों का काम नहीं है। अच्छा रुख़सत! आदाब अर्ज़!"



भारत में हरिजनों की दशा

प्रोफ़ेसर दयाशङ्कर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०



इस समय हरिजनों का प्रश्न देश का सबसे बड़ा प्रश्न है। ऐसी दशा में यह जानना आवश्यक है कि हरिजनों की कहाँ कितनी संख्या है और उनकी कैसी दशा है। इस लेख में इन प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

(७)

नामशूद्र



न् १९३१ में नामशूद्रों की संख्या २२ लाख ६७ हज़ार थी। इनको चांडाल भी कहते हैं। इनकी संख्या बंगाल और आसाम में अधिक है। इन प्रांतों में इनकी संख्या सन् १९३१ में नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रांत	नामशूद्रों की संख्या
बंगाल	२०,९६,०००
आसाम	१,७१,०००
मीज़ान	२२,६७,०००

इन दोनों प्रांतों में हरिजनों को उतनी असुविधायें नहीं हैं जितनी अन्य प्रांतों में उनको उठानी पड़ती हैं। बंगाल और आसाम में नामशूद्र सार्वजनिक कुओं और तालाबों से पानी भर सकते हैं और इनके बालक अन्य जातियों के बालकों के साथ पाठशालाओं में पढ़ सकते हैं। सन् १९१५ में आसाम के एक कालेज में विद्यार्थियों के लिए जो भोजनालय बनाये गये उनमें हरिजन विद्यार्थियों के लिए अलग प्रबन्ध करना पड़ा। धीरे धीरे हरिजन विद्यार्थियों को उच्च विद्यार्थियों के साथ भोजन करने की सुविधा मिलने लगी और अब इस कालेज में हरिजन विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों के साथ बिना किसी आपत्ति के भोजन करते हैं। इन दोनों प्रांतों में अपने को उच्च कहनेवाले हिन्दू इनका स्पर्श किया हुआ जल या अन्न नहीं ग्रहण करते और न इनको अपने मंदिरों में उस स्थान तक जाने देते हैं जिस स्थान तक वे जाते हैं। परन्तु इनके मंदिरों में जाने और भगवान् की मूर्ति का दूर से दर्शन कर लेने में कोई विशेष आपत्ति

नहीं की जाती। जब नामशूद्र जाति के व्यक्ति शिक्षित या धनवान् हो जाते हैं तब उनके साथ और भी अच्छा व्यवहार किया जाता है।

नामशूद्रों की सामाजिक दशा अन्य हरिजनों से कुछ अच्छी होने पर भी उनमें बाल-विवाह की प्रथा बहुत प्रचलित है। सन् १९३१ में इस जाति के विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी —

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिसैकड़ा	संख्या	प्रतिसैकड़ा
० से ६ वर्ष	३,८९९	१·९	७,४०१	३·४
७ से १३ ,,	१३,८४७	७·०	७४,७२१	४२·०
१४ से १६ ,,	१४,८६६	१९·६	७०,०७६	८८·६

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि नामशूद्रों में ६ वर्ष से कम उम्र के विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या ११,२९६ थी। यह संख्या बहुत अधिक है। बाल-विवाह के संबन्ध में इस जाति में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि बालिकाओं का विवाह कम उम्र में जितना अधिक होता है, बालकों का उतना अधिक नहीं होता। ७ से १३ वर्ष की ४० प्रतिशत से अधिक बालिकायें विवाहित थीं। इस जाति में भी बाल-विवाह रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। बाल-विवाह की अधिकता के कारण सन् १९३१ में १३ वर्ष से कम उम्र की विधवाओं की संख्या २,३२४ थी। इनमें से ४०० की उमर ६ वर्ष से भी कम थी।

सन् १९३१ में इस जाति के साक्षर व्यक्तियों की संख्या १,४९,४०२ थी। इनमें से साक्षर स्त्रियों की संख्या केवल १२,७६४ थी। अन्य हरिजनों की अपेक्षा इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या अधिक है। हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि इस जाति में १४·० प्रतिशत मनुष्य सन् १९३१ में साक्षर थे। साक्षर स्त्रियों की संख्या १·४ प्रतिशत के बराबर थी। अँगरेज़ी जाननेवाले नामशूद्रों की संख्या २०,९९२ थी। इनमें से ७६४ स्त्रियों ने भी अँगरेज़ी-शिक्षा से लाभ उठाया था। इस जाति के व्यक्ति साधारणतः खेती का काम करते हैं। इस जाति में कृषि-शिक्षा-प्रचार की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

(८)

पासी

सन् १९३१ में पासियों की संख्या १६,५१,४७८ थी। ये अधिकांश में युक्तप्रांत और बिहार में पाये जाते हैं। भिन्न प्रान्तों में इनकी संख्या सन् १९३१ में नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रांत	पासियों की संख्या
युक्तप्रान्त	१४,९६,९४०
बिहार	१,७२,०६१
बंगाल	१८,९२५
अन्य प्रान्त	५५२
मीज़ान	१६,५१,४७८

युक्तप्रान्त में पासियों की पाँच प्रधान उपजातियाँ हैं। उनके नाम हैं—अरख, बौरासी, कैथवान, मोथी और राजपासी। राजपासी उन लोगों के वंशज हैं जिन्होंने प्राचीन समय में अवधप्रांत में वर्षों तक शासन किया था। कहा जाता है कि रामकोट में पासियों का एक सुदृढ़ क़िला था। बिहार-प्रांत में पासियों की उपजातियों के नाम हैं व्याध, गैदुहा, कमानी और त्रिसूतिया। पासी लोग हिन्दू हैं और वे सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। ये लोग साँपों की तरह सूअर का मांस खाते हैं। ये लोग पीपल को भी नहीं काटते। पासियों की सामाजिक दशा चमारों और दुसाधों से ऊँची है। ये लोग चमारों अथवा दुसाधों के द्वारा स्पर्श किया हुआ अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। चमार और दुसाध भी इनका स्पर्श किया हुआ अन्न-जल नहीं लेते।

पासियों में जातीय पंचायत का बहुत प्रभाव है। इनके जातीय झगड़ों का निबटारा पञ्चायत-द्वारा होता

है। सभा में एक मनुष्य प्रधान होता है, जिसे चौधरी कहते हैं। आज-कल यह पद अधिकांश में वंशपरंपरा के अनुसार प्राप्त होता है। जातीय पंचायतों की सहायता से कुछ स्थानों में पासियों ने शराब पीना कुछ वर्षों के लिए बन्द कर दिया था। परन्तु अब फिर से पीना आरम्भ कर दिया है।

पासी अपने पैरों में रस्सी बाँधकर ताड़ और खजूर के ऊँचे वृक्षों पर चढ़ कर ताड़ी निकालते हैं। रस्सी के इसी बंधन के कारण शायद इनका नाम पासी पड़ा है। यह संस्कृत शब्द 'पाशिका' का अपभ्रंश माना जाता है। पाशिका का अर्थ है 'बन्धन'। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ हैं जो विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

इस जाति में शिक्षा-प्रचार की बहुत कमी है। सन् १९३१ में साक्षर पासियों की संख्या ४,६६७ थी। इनमें से साक्षर स्त्रियों की संख्या केवल २४१ थी। हिसाब लगाने से मालूम होता है कि ९९.३ प्रतिसैकड़ा मनुष्य और ९९.९ प्रतिसैकड़ा स्त्रियाँ अपढ़ थीं। इनको अपना नाम तक लिखना नहीं आता था। भारत में शायद ही अन्य कोई जाति ऐसी हो जिसमें अपढ़ों की संख्या इतनी अधिक हो। इस जाति में प्रारम्भिक शिक्षा का विशेष रूप से प्रचार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस जाति में अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या १७१ थी। इसमें से ४ स्त्रियों ने भी अँगरेज़ी का थोड़ा बहुत भाषा-ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पासियों की आर्थिक दशा बहुत ख़राब है।

पासियों में बाल-विवाह ख़ूब प्रचलित है। विधवा-विवाह भी होता है। यदि किसी पासी के मरने से उसकी स्त्री विधवा हो जाय और उसका देवर युवक तथा अविवाहित हो तो प्रायः उसी देवर के साथ विधवा स्त्री का विवाह हो जाता है। विवाह के बाद यदि किसी कारण से पति अथवा पत्नी अपाहिज हो जाय तो विवाह-विच्छेद भी हो जाता है, परन्तु इसके लिए जातीय पंचायत की स्वीकृति लेना अत्यन्त आवश्यक है।

(९)

धोबी

सन् १९३१ में संपूर्ण भारत में हिन्दू धोबियों की संख्या १४,०६,२९१ थी। धोबियों का पेशा कपड़ा धोना है। भारत में इस पेशा से अपना जीवन-निर्वाह करनेवाले व्यक्तियों की संख्या क़रीब ३१ लाख है, परन्तु इनमें से हिन्दू अछूत धोबियों की संख्या ऊपर लिखे अनुसार १४ लाख ही है। हिन्दू धोबियों की मुख्य उपजातियाँ हैं अमोदयावासी, व्यास, चितोरिया, देव-सार, कैथिया, कन्नौजिया, कठारिया, मथुरिया, पुरबिया और श्रीवास्तव। मिर्ज़ापुर के धोबी अपने को रावन का वंशज कहते हैं। अपने को उच्च कहनेवाले हिन्दू इनके धोये हुए कपड़ों का तो बड़े चाव के साथ उपयोग करते हैं, परन्तु इनके साथ उचित व्यवहार नहीं करते।

भिन्न प्रांतों में सन् १९३१ में हिन्दू धोबियों की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त	हिन्दू धोबियों की संख्या
युक्तप्रान्त	६,६६,०००
बिहार	४,१४,०००
बंगाल	२,२९,०००
मध्यप्रान्त	७४,०००
आसाम	२३,०००
मीज़ान	१४,०६,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि हिन्दू धोबियों की सबसे अधिक संख्या युक्त-प्रांत में है। उसके बाद बिहार का नम्बर है। राजपूताना, पंजाब, मध्यभारत और बम्बई-प्रांत में शायद हिन्दू धोबियों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया जाता, इसलिए उनकी संख्या हरिजनों में नहीं दी गई है। युक्त-प्रांत और बिहार में धोबियों की सामाजिक दशा ख़राब है। चमार, दुसाध, भंगी और डोम इनका स्पर्श किया हुआ अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। ये लोग हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं की पूजा

करते हैं। प्रतिवर्ष कुछ लोग हिन्दू-समाज के अत्याचारों से उकता कर मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं।

धोबियों का जातीय संगठन बहुत अच्छा है। इनकी साधारण सभा में कभी कभी आस-पास के पचासों गाँवों के धोबी इकट्ठा हो जाते हैं। जातीय सभा जातीय मुक़द्दमों का निर्णय कर दंड देती है। इन जातीय सभाओं की सहायता से कुछ वर्ष पूर्व शराब पीना इस जाति में बहुत कम हो गया था, परन्तु अब उसमें फिर से वृद्धि होने लगी है।

इस जाति में बाल-विवाह की प्रथा का बहुत प्रचार है। नीचे के कोष्ठक में इस जाति के सन् १९३१ में विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या दी जाती है—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	३,९४०	२·५	६,११०	४·२
७ से १३ ,,	२२,७१३	१६·५	४१,९७९	३४·६
१४ से १६ ,,	२४,६०८	४०,०	४१,५४७	७०·०

इस कोष्ठक से यह पता लगता है कि ६ वर्ष से कम उम्र के विवाहित बालक-बालिकाओं की संख्या इस जाति में १०,०५० थी। १४ से १६ वर्ष की उम्र के क़रीब ४० प्रतिशत लड़के मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाये गये। इसी बाल-विवाह की अधिकता के कारण इस जाति में १३ वर्ष से कम उम्र की विधवाओं की संख्या १,१७० थी। इनमें से २७१ विधवाओं की उम्र तो ६ वर्ष से कम थी। इस जाति में विधवा-विवाह प्रचलित है।

धोबियों में साक्षर व्यक्तियों की संख्या सन् १९३१ में केवल २७,२२० थी। इनमें से साक्षर स्त्रियों की संख्या ३,११६ थी। इस जाति में साक्षर मनुष्यों की संख्या केवल २·९ प्रतिसैकड़ा है, अर्थात् ९७·१ प्रतिसैकड़ा मनुष्य अविद्यारूपी अंधकार में ग़ोते लगा रहे हैं। स्त्रियों की दशा तो और भी ख़राब है। ९९·५ प्रतिशत स्त्रियाँ अपढ़ हैं। अँगरेज़ी जाननेवाले धोबियों की संख्या ९२२ है। इनमें से ११८ स्त्रियों ने भी कुछ अँगरेज़ी सीख ली है।

(१०)

दुसाध

सन् १९३१ में दुसाधों की संख्या भारत भर में १४ लाख थी। इनकी मुख्य उपजातियाँ हैं भरसिया, धाड़ी, गोंडर, कन्नौजिया, मघेसिया, भगहिया, राजर इत्यादि। दुसाध लोग सूअर का मांस खाते हैं। इसी लिए शायद उनको दुसाध कहते हैं। दुसाध दुष-अद् शब्द से बना है, जिसका अर्थ है दूषित भोजन करनेवाला। कुछ लोगों का मत है कि दुसाध शब्द 'दौहसाखिक' का अपभ्रंश है। दौहसाधेक का अर्थ है द्वारपाल। सम्भव है, प्राचीन काल में ये लोग द्वारपाल का काम करते रहे हों। ये लोग सैनिक का कार्य भी करते थे। प्लासी के युद्ध में लार्ड क्लाइव के सिपाहियों में अधिक संख्या दुसाधों की थी। दुसाध लोग हिन्दू-धर्म को मानते और देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। राहु और केतु इनके इष्टदेव हैं। इनकी पूजा वे विशेषरूप से करते हैं। पूजा के समय होम भी किया जाता है। होम के लिए एक गड्ढा खोदा जाता है। उसमें लकड़ी भर कर तेल डाला जाता है। फिर लकड़ी में आग लगा दी जाती है। होम के बाद एक सूअर की बलि चढ़ाई जाती है। पूजा के समय ये लोग राहु और केतु की उपासना के भजन गाते हैं।

भारत के भिन्न प्रान्तों में सन् १९३१ में दुसाधों की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त	दुसाधों की संख्या
बिहार और उड़ीसा	१२,९१,०००
युक्तप्रान्त	७३,०००
बंगाल	३६,०००
मीज़ान	१४ लाख

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि दुसाधों की सबसे अधिक संख्या बिहार और उड़ीसा प्रान्त में है। इस

प्रान्त के शाहाबाद (आरा) और सारन (छपरा) ज़िलों में इनकी संख्या बहुत अधिक है। युक्त-प्रान्त के पूर्वीय ज़िलों में ख़ास कर बलिया और गाज़ीपुर ज़िलों में भी इनकी संख्या बहुत है। बंगाल-प्रान्त में इनकी संख्या केवल ३६ हज़ार है। दुसाधों में भी जातीय पंचायत होती है। जातीय पंचायतों में दुसाधों की आपस की लड़ाई, चोरी, व्यभिचार आदि के मुक़द्दमों का निर्णय होता है और दंड दिया जाता है।

दुसाधों में बाल-विवाह की प्रथा बहुत प्रचलित है। सन् १९३१ में केवल युक्त-प्रान्त में दुसाधों के विवाहित बालक-बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	३५१	४·६	४१३	५·३
७ से १३ ,,	१५३७	२३·१	२११२	३५·६
१४ से १६ ,,	१५०९	५५·४	१८३४	७६·१

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि केवल युक्त-प्रान्त में १३ वर्ष से कम उम्र की इस जाति की विवाहित लड़कियों की संख्या २,५२५ थी। उसमें से ४१३ की उम्र तो ६ वर्ष से भी कम थी। ७ से १३ वर्ष की एक तिहाई से अधिक लड़कियाँ मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाई गईं। उनका विवाह तो पहले ही हो चुका होगा। लड़कों का भी बाल-विवाह ख़ूब होता है। इसी बाल-विवाह की अधिकता के कारण केवल युक्त-प्रान्त में दुसाध बाल-विधवाओं की संख्या १०५ थी। इनमें से १० की उम्र तो ६ वर्ष से भी कम थी। इस जाति में भी विधवा-विवाह प्रचलित है। जातीय लोगों-द्वारा ही यह विवाह निश्चित होता है।

दुसाधों में शिक्षा-प्रचार बहुत कम है। सन् १९३१ में संपूर्ण भारत में साक्षर दुसाधों की संख्या केवल ७,१२९ थी और इनमें से ३७५ स्त्रियाँ थीं। यह संख्या बहुत ही कम है। हिसाब लगाने से पता लगता है कि इस जाति में ९८·८ प्रतिशत मनुष्य और ९९·९ प्रतिशत स्त्रियाँ अपढ़ हैं। इनमें प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इस जाति में अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या केवल २१९ थी।

इस जाति के लोग गाँवों में चौकीदारी और मज़दूरी करते हैं। कुछ लोग खेती भी करते हैं। इनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं है।

(११)

परैया

सन् १९३१ में इस जाति के व्यक्तियों की संख्या १२ लाख थी। ये लोग मदरास-प्रान्त, कोचीन और ट्रावनकोर राज्यों में निवास करते हैं। मदरास और दोनों राज्यों में इनकी संख्या सन् १९३१ की मनुष्य-गणना क के समय नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त और राज्य	परैयों की संख्या
मदरास-प्रान्त	११,१७,०००
ट्रावनकोर-राज्य	७१,०००
कोचीन-राज्य	१२,०००
मीज़ान	१२,००,०००,

इनकी सामाजिक दशा दक्षिण-भारत में बहुत ख़राब है। इनकी दशा माल, मादिगा, होलिया, चेरुया और पुलयाँ जाति के व्यक्तियों के समान है। इनकी छाया तक अपवित्र समझी जाती है और इनको उच्च कहलानेवाली जातियों के व्यक्तियों से दूर दूर रहना पड़ता है। ये लोग अपने मुँह को बिना अपने हाथ से ढँके हुए अपने को उच्च कहनेवाले हिन्दुओं से बोल तक नहीं सकते। ये साधारण-सी बातों के लिए बुरी तरह पीटे जाते हैं। तिरस्कार के कारण इस जाति के व्यक्ति प्रतिवर्ष सैकड़ों की संख्या में हिन्दू-धर्म छोड़कर ईसाई या मुसलमान हो जाते हैं।

इस जाति में बाल-विवाह इतना प्रचलित नहीं है, जितना अन्य हरिजन जातियों में है। सन् १९३१ में

इस जाति के विवाहित बालक-बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिसैकड़ा	संख्या	प्रतिसैकड़ा
० से ६ वर्ष	३६	·०३	६२	·१
७ से १३ ,,	३७२	·३	३,२३४	२·३
१४ से १६ ,,	१०७७	२·७	१२,७५६	३७·१

जब दुसाध जाति के ७ से १३ वर्ष की उम्र के २३ प्रतिसैकड़ा लड़के, धोबियों के १६·५ प्रतिसैकड़ा लड़के और नामशूद्रों के ७ प्रतिसैकड़ा लड़के विवाहित थे, परैयाँ जाति के केवल ·३ लड़के मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाये गये। ६ वर्ष से कम उम्र के विवाहित लड़कों की संख्या केवल ३६ थी। १४ से १६ वर्ष के केवल २·७ प्रतिसैकड़ा लड़के विवाहित थे। ७ से १३ वर्ष की केवल २·३ प्रतिसैकड़ा लड़कियाँ विवाहित थीं। ६ वर्ष से कम उम्र की केवल ६२ लड़कियाँ विवाहित थीं। ट्रावनकोर-राज्य में तो परैया जाति में ६ वर्ष से कम उम्र का एक भी लड़का या लड़की विवाहित नहीं थी। बाल-विवाह की कमी के कारण इस जाति में बाल-विधवाओं की संख्या केवल ६७ थी, जिसमें से ६ विधवाओं की उम्र ६ वर्ष से कम थी।

परैया जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या सन् १९३१ में ३१,४५५ थी। इसमें से ३,३१४ स्त्रियाँ थीं। साक्षर पुरुषों की संख्या ५·६ प्रतिसैकड़ा के बराबर है। ट्रावनकोर-राज्य में इस जाति के क़रीब आधे व्यक्ति ईसाई हैं। उनमें साक्षर पुरुषों की संख्या क़रीब २५ प्रतिसैकड़ा है। इस जाति की क़रीब ९९·४ प्रतिसैकड़ा स्त्रियाँ अपढ़ हैं। ट्रावनकोर-राज्य में इस जाति की क़रीब ८ प्रतिसैकड़ा स्त्रियाँ अपढ़ हैं। इस जाति के १,३६५ व्यक्ति अँगरेज़ी भी जानते थे।

परैयों का मुख्य व्यवसाय टोकरी बनाना है। इनकी आर्थिक दशा ट्रावनकोर-राज्य में कुछ अच्छी है, परन्तु मदरास-प्रांत में ख़राब है।

(१२)

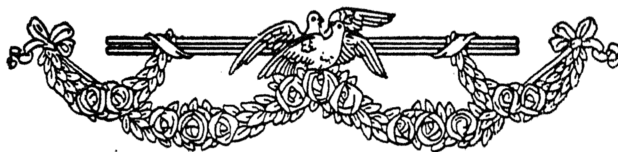
बगड़ी (वधिक)

इस जाति के व्यक्तियों की संख्या सन् १९३१ में १० लाख २३ हज़ार थी। भिन्न प्रांतों में इनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त या राज्य	बगड़ियों की संख्या
बंगाल	९,९७,५७०
ग्वालियर	२३,२०९
राजपूताना	१,५९३
युक्त-प्रान्त	१,३६७
मीज़ान	१०,२३,७३९

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि इस जाति के व्यक्तियों की सबसे अधिक संख्या बंगाल-प्रांत में है। बंगाल-प्रांत में हरिजनों के साथ वैसा ख़राब व्यवहार नहीं किया जाता जैसा दक्षिण-भारत या अन्य प्रांतों में किया जाता है। इस प्रांत में इस जाति के व्यक्तियों की आर्थिक दशा भी उतनी ख़राब नहीं है जितनी दक्षिण-भारत में अन्य हरिजनों की है। ग्वालियर-राज्य में इनकी संख्या २३ हज़ार से कुछ अधिक है। राजपूताना और युक्त-प्रांत में इनकी संख्या २ हज़ार से भी कम है।

[अगले अंक में समाप्त



देव-देव

श्रीयुत अनूप शर्मा 'अनूप' एम० ए०, एल० टी०

(१)

शशि बन प्रकट हुए हो मित्रता की देव !
एकता व्यवस्थित हुई है दोनों तन में।
सारी रजनी भर सुषुप्ति में समावृत हो,
आगई अभिन्नता तुम्हारे-मेरे मन में।
गूँज उठे भ्रमर, विकास कमलों का हुआ,
लुब्ध चकवे हैं चकवी के सम्मिलन में।
सारे धरा-व्योम के प्रभात का रहस्य आज,
प्रकट हुआ दो हृदयों के उपवन में ॥

(२)

आप गगनस्थित हैं, मैं हू धरणी पर ही,
तेजोमय आप मैं तमिस्र का ही जाया हूँ।
आपका प्रसन्न वदनारविन्द दीप्र, किन्तु,
मैं तो पूर्व-काल की नितान्त ध्वान्त-छाया हूँ।
तो भी यह मधुर, रहस्य-पूर्ण संगम है,
मत समझो कि यों ही स्वाँग भर लाया हूँ।
उत्थित युवापन की उन्नत तरङ्ग-द्वारा,
मैं तो बस आपके करों में खिँच आया हूँ ॥

(३)

ओजोमयी राशि भवदीय गरिमा की देव !
संसृति-विजयिनी विभूति दिखलाती है।
मंजुल मयूखों की प्रशस्ति का प्रचार देख,
सुयश-धृता-सी विदिशा भी दृष्टि आती है।
जीवन-समीर की हिलोर मुझे शीघ्रता से,
आपके सकाश में स-हास खीँच लाती है।
बरस रहा है वारिवाह-सा प्रकाश-पुञ्ज,
सार-हीन भिन्नता की भीत ढही जाती है ॥

(४)

एकाकार होते एक पाता हूँ प्रकाश ऐसा,
वीत-भावना के भूत-प्रेत भाग जाते हैं।
सारा भूत-काल एक क्षण में विलीन होता,
भावुक भविष्य के सुदृश्य दिखलाते हैं।
जागृति का परिधि-प्रसार इस भाँति होता,
मेरी चेतना में वह दिव्य दृश्य आते हैं।
जीवन-स्वतंत्रता के चारु अँग-अँग मुझे,
गंगा-गत-सूचिका-समान दृष्टि आते हैं ॥

(५)

होता हूँ स्वतन्त्र ऐसे जीवन-वहित्र से मैं,
शासन-विहीन और अति दुखदायी जो।
जिसमें न डाँड़-पतवार का विधान ऐसा,
देता हो अनिश्चित दिशाओं को विदाई जो।
ऐसी तरणी से मुक्त पाता अपने को आज,
अब लौं यथा-तथा है डगमग आई जो।
जिसको हवा ने जहाँ चाहा वहीं मोड़ दिया,
देती थी भँवर के समीप ही दिखाई जो ॥

(६)

मुक्त हुआ आज ऐसे सृष्टि के विधान से जो,
मुझको बनाये कठ-पूतली समान था।
तन्त्र में अजस्र ही फँसा मैं घूमता था ऐसे,
जिससे स्वतन्त्रता का होता अपमान था।
वेष सूत्रधार का धरा था जिसने कि वही,
मानो महा उच्च विश्व-विभव-वितान था।
ऐसी जगती में रहने का, रखने का मुझे,
मुझको गुमान, आपको न अनुमान था ॥

जर्मन-डिक्टेटर हिटलर



स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

हर हिटलर की वर्तमान नीति क्या है ? वह यहूदियों का जानी दुश्मन क्यों है ? उसने कम्युनिस्ट लोगों का मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न क्यों किया ? और वह जर्मनराष्ट्र का सर्वेसर्वा कैसे बन गया ? ये ही कुछ प्रश्न हैं जो जर्मनी के वर्तमान शासक हर हिटलर के सम्बन्ध में सर्वत्र पूछे जाते हैं। स्वामी जी जर्मनी में बहुत दिनों तक रह चुके हैं और वहाँ की राजनैतिक स्थिति का उन्हें व्यक्तिगत रूप से भी अनुभव है। उसी अनुभव के आधार पर उन्होंने इस लेख में अपने विचार व्यक्त किये हैं जो वास्तव में विचारणीय हैं।



ह लेख मैंने जर्मनी के वर्तमान शासक—हिटलर—का पक्ष-समर्थन करने की अभिलाषा से नहीं लिखा है। मैंने केवल जर्मनी की राजनैतिक परिस्थिति को स्पष्ट करने और हर हिटलर की वर्तमान नीति के कारणों को अपने देशवासियों के सामने रखने का प्रयत्न किया है, ताकि मेरे देशबन्धु जर्मनी के इस देशभक्त के सम्बन्ध में न्याय कर सकें और किसी प्रकार की ग़लत सम्मति उसके विषय में न क़ायम करें।

जिन दिनों मैं जर्मनी में था, उस समय हिटलर का दल संगठित हो रहा था। बावेरिया की राजधानी म्यूनिच को अपना हेड क्वार्टर बनाकर हिटलर सारे जर्मन-राष्ट्र में अपने भक्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। नवयुवक उसके झंडे के नीचे बड़ी संख्या में भर्ती हो रहे थे, क्योंकि वह उन्हें विश्वास दिलाता था कि यदि जर्मनी के निवासी उसके प्रोग्राम के अनुसार चलेंगे तो उनकी पितृ-भूमि सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जायगी।

यह कोई मामूली दावा न था—बड़ा भारी आकर्षण था, जिसके कारण फ्रांस-द्वारा सताये हुए जर्मन-नवयुवक तत्काल हिटलर की ओर ऐसी तेजी से खिंच सकते थे जैसा कि महात्मा गांधी के पीछे सन् १९२१ में सारा भारतवर्ष मन्त्र-मुग्ध हो गया था। महात्मा जी का वह मन्त्र क्या था—"मैं एक साल में स्वराज्य दिला दूँगा।" गांधी जी की इस घोषणा ने भारतवासियों को उनका आशिक़ बना दिया और वे लाखों की संख्या में उनके झंडे के नीचे



[जर्मनी के वर्तमान भाग्यविधाता हर हिटलर]

इकट्ठे हो गये। ऐसी ही घोषणा हर हिटलर की थी, जिसमें जादू भरा आकर्षण था। जर्मनी के सारे दुःखों को दूर करने की ज़िम्मेदारी जो पुरुष ले सके, भला उसके पीछे जर्मन-नवयुवक पागल क्यों न होते? हज़ारों की संख्या में नाज़ी स्वयं-सेवक ख़ाकी वर्दियाँ पहने बड़े बड़े शहरों में दिखाई देने लगे। कैसर के ज़माने के फ़ौजी सिपाही और जनरल सब हिटलर के साथ थे, जिन्होंने जर्मनी के कोने कोने में व्यायाम-शालायें स्थापित कीं और साथ ही हिटलर के मन्त्र से जनता को दीक्षित भी किया। जैसे बाज़ीगर अपना तमाशा दिखलाते हुए घूमा करते हैं, इसी प्रकार हिटलर के इन जवाँमर्दों ने क़स्बे-क़स्बे और ग्राम-ग्राम में जाकर अपने फ़ौजी कर्तब दिखलाने शुरू किये और बड़े कौशल से अपनी पार्टी का संगठन करने लगे।

इसकी क्यों आवश्यकता पड़ी? वर्साई की संधि के अनुसार जर्मनी को एक लाख से अधिक फ़ौज रखने का अधिकार नहीं था। ऐसी अवस्था में हिटलर और उसके साथी क्या करते? व्यायाम-शालाओं का संगठन करने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। तलवार व बन्दूक़ का होना गौण बात है, मुख्य चीज़ तो इच्छाशक्ति और चरित्र-गठन है। लड़ाई के बाद जर्मनी किधर जा रहा था? उसके यहूदी शासक, यहूदी पूँजीपति और यहूदी पत्रकार उसे किस गढ़े में ढकेल रहे थे? आइए, अब आपको मैं इन प्रश्नों का उत्तर सुनाऊँ, क्योंकि यहूदियों का निर्वासन करने के कारण ही तो हर हिटलर के विरुद्ध तूफ़ान बदतमीज़ उठा है और निस्सन्देह जर्मनी का यह डिक्टेटर यहूदियों का जानी दुश्मन है। ऐसा क्यों है?

यह बात ध्रुव सत्य है कि पूँजीपति पैसे का ग़ुलाम होता है। पैसा ही उसका ख़ुदा है और पैसा ही उसका पीर—वह उसके लिए सब धर्म-कर्म भूल जाता है। जर्मनी में यहूदियों ने ऐसा ही किया। मुझे सन् १९२३ के वे दिन नहीं भूलेंगे जब मैं बर्लिन की फ़्रेडरिक-स्ट्रास नामक गली में पौंडों के मार्क लेने जाया करता था और मेरी तरह हज़ारों विदेशी अपने डालर और पौंड लेकर यहूदियों की खोज में घूमा करते थे। देश के क़ानून के विरुद्ध, पुलिस की आँख में धूल झोंक कर, ये यहूदी बैंक की दर से सस्ते दाम पर मार्क बेचा करते थे। इन्हीं धूर्तों ने जर्मनी की साख़ को अपने स्वार्थ के लिए मिट्टी में मिला दिया। बहादुर जर्मन सिपाही भूखे घूमते थे और ये पूँजीपति मज़े से अपने भव्य भवनों में बैठकर शराब-क़बाब उड़ाया करते थे। क्या हिटलर इनको क्षमा कर सकता था? क्या कोई भी देशभक्त अपने ऐसे देशवासियों को जो पैसे के लोभ में आकर देश के साथ द्रोह करें, क्षमा कर सकता है? कदापि

नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि अपने पैसे के ज़ोर से इन यहूदी पूँजीपतियों ने जर्मनी का शासन सँभाल लिया और समाचार-पत्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया था। अब वे अपनी इच्छा के अनुकूल जनता को शिक्षा देने लगे। उनकी शिक्षा क्या थी ?

उनकी शिक्षा थी अन्तर्राष्ट्रीयता और लड़ाई के विरुद्ध वातावरण पैदा करना। वे तो अन्तर्राष्ट्रीयता के आश्रित होकर ही पनप सकते थे और जर्मनी में मनमानी कर सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीयता जर्मनी के लिए विष थी. जैसी कि वह भारतवर्ष के लिए सिद्ध हुई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त सुनने में बड़ा मीठा लगता है, किन्तु यह उसके लिए विष है जो अपने घर की रक्षा नहीं कर सकता। शोक है कि मुहम्मद गोरी से पराजित होने के बाद भारतवर्ष में कोई हिटलर नहीं पैदा हुआ, जो इस देश के जयचन्दों को या तो तलवार के घाट उतार देता अथवा निर्वासित कर देता। यही कारण हुआ कि हिन्दुओं में आदर्शवाद ज़ोर पकड़ गया और उसके आचार्य झूठे वैराग्य और 'जगत्मिथ्या' की फ़िलासफ़ी के द्वारा जनता को नपुंसक बना गये। जर्मनी जल्दी चेत गया। ईश्वर ने उस पर दया की। हर हिटलर इटली के डिक्टेटर मुसोलिनी जैसा मस्तिष्क रखनेवाला व्यक्ति नहीं है और न उसके पास नाज़ीवाद की गूढ़ फ़िलासफ़ी ही है, परन्तु उसके पास मुसोलिनी से श्रेष्ठतर सामग्री है। मुसोलिनी के नौजवान इटैलियन सिपाही साम्राज्यवाद का नशा पीकर कोई अद्भुत कार्य नहीं कर सकेंगे, लेकिन हिटलर के जवाँमर्द लोहे के बने हुए हैं; वे जब उठेंगे तब असम्भव को सम्भव कर देंगे।

हिटलर का पहला हमला कम्युनिज़्म (वर्गवाद) पर हुआ, क्योंकि कम्युनिज़्म राष्ट्र-धर्म का दुश्मन है। मैंने बर्लिन की गलियों में कम्युनिज़्म के नशे में चूर नवयुवकों को मज़हबी दीवाने मुसलमानों की तरह दंगा करते हुए देखा है। कम्युनिज़्म एक व्याधि है, वह एक प्रकार का बुख़ार है, वह एक ऐसा नशा है जिसे पीकर व्यक्ति अपनी बुद्धि खो बैठता है और यह समझने लगता है कि संसार की सारी सचाई कम्युनिज़्म के अन्दर ही है। जर्मनी में केवल कम्युनिज़्म ही नहीं था, बल्कि उसका विषैला फल 'वाममार्ग' भी ज़ोर पकड़ रहा था। मादरज़ात नंगे पुरुष और स्त्रियाँ अपने अपने क्लब बनाये खेला करते थे। बहाना तो था फ़िज़िकल कलचर का, परन्तु धीरे धीरे उसमें इंसानी कमज़ोरियों का समावेश होने लग गया था। इन नग्न क्लबों में अधिकतर कम्युनिस्ट ही होते थे—ख़ास कर यहूदी जो जर्मन लड़कियों के साथ विहार करना चाहते थे। इन्द्रिय-संयम के विरुद्ध कम्युनिज़्म प्रचार करता है; बल्कि उसकी दिल्लगी उड़ाता है, इसी कारण नैतिक सिद्धान्तों के ढीला हो जाने पर स्त्री और पुरुष विषय-भोग को बुरा नहीं समझते और उन साधनों की तलाश करते हैं जिनसे वे आसानी से रति-क्रीड़ा कर सकें। जर्मनी की यही दशा हो रही थी। योरप के किसी और शहर में रति-क्रीड़ा की इतनी सहूलियत नहीं थी जैसी कि बर्लिन में। इसने पेरिस को भी मात कर दिया था। नतीजा स्पष्ट है। जाति का वीर्य्य नष्ट हो जाने से उसकी विरोध-शक्ति जाती रहती है। एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीयता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की डुग्गी पिट रही थी और देश-प्रेम की खिल्ली उड़ती थी, दूसरी ओर कम्युनिज़्म गार्हस्थ्य जीवन को मटियामेट कर रहा था और विषय-भोग की लिप्सा बढ़ा रहा था, इससे भी बढ़कर यहूदी लोग अपने धन-बल-द्वारा जर्मनी को अपने क़ाबू में कर उसका अपमान करा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में व्यथित जर्मन जनता उसी नेता के झंडे के नीचे जा सकती थी जो उसके कष्टों का निवारण करे। हिटलर ने यही करने का वादा किया, इसी लिए वह जर्मन-राष्ट्र का सर्वेसर्वा बन गया।

लोग शिकायत करते हैं कि हिटलर ने बड़ी बेरहमी से यहूदियों को देश से बाहर कर दिया। स्मरण रखना चाहिए कि यहूदी हृदय से अन्तर्राष्ट्रीय

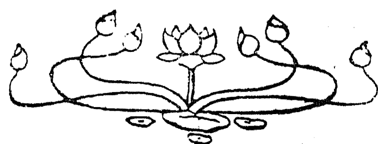
होता है, वह देशभक्त नहीं बन सकता। शान्ति की अवस्था में तो उसकी गुज़र सब जगह हो सकती है, किन्तु जब देश के सिर पर युद्ध की तलवार लटक रही हो और एकता की अत्यावश्यकता हो, ऐसी अवस्था में यहूदी अथवा बनिया मस्तिष्क रखनेवाला व्यक्ति देश-द्रोही बन सकता है। जर्मनी को आज अपने शत्रुओं के विरुद्ध मोर्चा लेना है। उसे सोलहो आने राष्ट्रीय एकता दरकार है। भला वह यहूदियों को कैसे सहन कर सकेगा? व्यावहारिक राजनीति में झूठी दया के लिए कोई स्थान नहीं है।

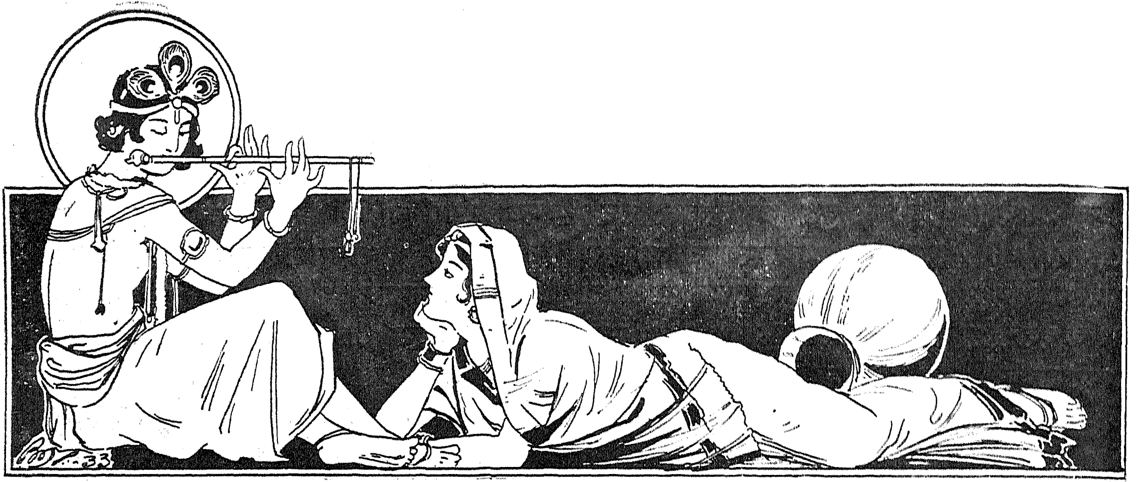
हिटलर ने कम्युनिस्ट लोगों का मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न क्यों किया? वह भी इसी लिए कि जर्मनी में इस समय केवल एक ही पार्टी चाहिए। घर में फूट होने से बाहर के शत्रुओं के साथ लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। दूसरे कम्युनिज़्म जर्मन-संस्कृति का विरोधी है। उसका प्रोग्राम बड़ा लम्बा है और वह जर्मनी के हितों की परवा न कर संसार के मज़दूरों को संगठित करना चाहता है। ऐसे ख़ौफ़नाक विरोधी को हिटलर कैसे बर्दाश्त कर सकता था? यदि जर्मनी को स्वतन्त्र-स्वाधीन होकर जीना है, यदि उसे बराबर का दर्जा पाकर योरपीय राष्ट्रों में सम्मान प्राप्त करना है और यदि उसे शान्ति से विकास-पथ पर आरूढ़ होना है तो उसके लिए वही मार्ग है जिसे हिटलर ने पकड़ा है। इसके बिना जर्मनी का उद्धार नहीं हो सकता।

अच्छा तो फिर हिटलर ने धूम्रपान क्यों बन्द कर दिया और शहरों की रंगरलियाँ क्यों कम कर दीं? इसका उत्तर यह है कि वह सच्चा देशभक्त है। जब घर में आग लगी हुई हो, उस समय क्या बैठकर सिनेमा देखना चाहिए या ताश खेलना चाहिए? ऐसी रंगरलियाँ वही करते हैं जिनके हृदय में व्यथा नहीं होती। वीरशिरोमणि गुरु गोविन्दसिंह जी ने जब मुग़ल-साम्राज्य की रीढ़ की हड्डी तोड़ने का निश्चय किया था तब अपने सिपाहियों को ऐसे ही व्रतों से व्रती किया था। जर्मन-राष्ट्र भयंकर संकट में है, उसके हृदय में आग लगी हुई है, उसका मान नष्ट हो चुका है, क्या उसे नाच-तमाशे देखने चाहिए? कदापि नहीं। यदि जर्मनी के लोग युद्ध के बाद पचास वर्षों तक यहूदी-राज्य में रह जाते तो उनकी दशा भी हिन्दुओं जैसी ही हो जाती।

हिटलर में भले ही दोष हों, शान्ति के प्रेमी उसे भले ही गालियाँ दें, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दुहाई देनेवाले उसको कितना ही कोसें, लेकिन जर्मन-राष्ट्र के लिए हिटलर का आगमन नवयुग का सूचक है, एकता का द्योतक है, आशा का संचारक है और जर्मनी के निवासियों को मान-मर्यादा का जीवन देनेवाला है। हिटलर जैसे लोग अपने समय की आवश्यकता को पूरा करने के लिए आते हैं और चले जाते हैं।

अतएव हमें ठंडे दिल से जर्मनी के इस डिक्टेटर के कार्यों पर विचार करना चाहिए और जर्मनी की वर्तमान परिस्थिति और उसकी आवश्यकताओं को समझकर उसके सम्बन्ध में सम्मति स्थिर करनी उचित है। अच्छा यही होगा कि हम अभी अपनी कुछ सम्मति न बनावें, आनेवाले दस वर्ष योरप के इतिहास में अद्भुत परिवर्तन लावेंगे।

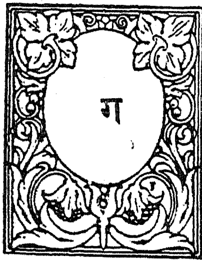




क्या श्रीराधा सामाजिक क्रान्ति की मूर्ति हैं?

पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी

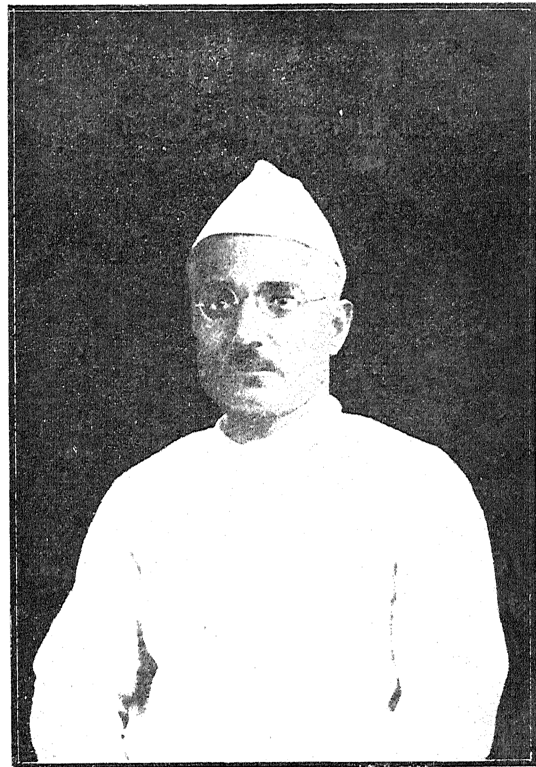
श्री राधारानी स्वकीया थीं या परकीया--इस विषय की विशद साहित्यिक मीमांसा श्रीमान् तिवारी जी तीन स्वतन्त्र लेखों में करेंगे। उनमें यह पहला लेख यहाँ दिया गया है। इस लेख-माला के समाप्त होने पर पाठक समझ सकेंगे कि हमारा भावी साहित्यिक दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए। 'छायावाद या हिजड़ावाद' आदि लेख बाद को छपेंगे।



गत मास की 'सरस्वती' के 'क्या श्री राधारानी स्वकीया थीं या परकीया?' शीर्षक लेख में, मैंने जिन साहित्यिक प्रश्नों की ओर संकेत किया है, उनमें से एक पर, सामाजिक दृष्टिकोण से, विचार करना इस लेख का उद्देश है। साहित्य-जगत् में श्री राधारानी की कल्पना और चन्द सदियों के अन्दर ही उनका श्री सीता जी के समान समादृत होना सामाजिक विचारों में एक व्यापक क्रान्ति का चिरस्थायी स्मारक-स्तम्भ है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण इस बात का अन्यतम प्रमाण है कि श्री राधारानी परकीया थीं। इस पुराण के अनुसार, छोटी उम्र में वे रायण नामक एक वैश्य के साथ ब्याही गईं; और जब वे तीस वर्ष की हुईं तब श्री कृष्णचन्द्र के साथ उनका संयोग हुआ। इन्हीं रायण का बँगला-साहित्य में आयन घोष के नाम से उल्लेख किया गया है। बंगाल के वैष्णव कवियों ने श्री राधा की सास का नाम जटिला, और उनकी ननँद का नाम कुटिला, रक्खा है। कवियों की मन-गढ़न्तों की यदि कोई परवा न करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन सनातन-धर्म्म के अनुयायी ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। जब उसमें श्री राधारानी का परकीया के रूप में वर्णन है तब कौन-सा वह आस्तिक

कहलानेवाला सनातनधर्म्मी होगा, जो इसे ठीक न माने।

सचमुच, इस दृष्टि से सूरदास नास्तिक थे, क्योंकि उन्होंने सूरसागर में श्री राधा को स्वकीया सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस अनधिकार चेष्टा की भी कुछ हद है। सूरदास अंधे थे; इसी लिए, शायद, उन्हें परकीया राधिका का असली स्वरूप न दिखाई दिया हो। पुराण-सिद्ध कथानक को उलटने की यह धृष्टता—'द्रोणाचार्य', से रसिक समालोचकों की दृष्टि में, तीव्र से तीव्र शब्दों में निन्दनीय और तिरस्करणीय जँचेगी। हमें खेद है कि न तो स्वर्गीय श्री भगवानूदीन जी और न 'उद्भट-समालोचक' कहे जानेवाले पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी ने सूरदास की समालोचना करते समय उनकी इस अनौचित्य-पूर्ण उच्छृंखलता की ओर आस्तिक हिन्दू पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता समझी। लेकिन इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं होता है। जिस साहित्य-मंडल में बहिरंग-परीक्षा ही आदर्श समालोचना मानी जाती है, और थिथली आलोचनाओं के लिखनेवाले उद्भट समालोचक समझे जाते हैं, उसमें इस तरह की धाँधली और इस प्रकार की अनधिकार-पूर्ण आलोचना करनेवाले को न तो उपहास ही का डर है, और न अपण्डित कहलाने की आशंका ही उसकी नींद को हराम करती है। अलङ्कार, पिङ्गल या व्रजभाषा के नियमों का ज़िक्र ही काफ़ी है किसी को उद्भट-समालोचक की उपाधि दिलाने के लिए। पूज्य मिश्र-बन्धुओं की इस सम्बन्ध में चर्चा करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके लिए हिन्दी-साहित्य का इतिहास 'मिश्र-बन्धु' (के लिए) विनोद का साधन है। इसी विनोद में उन्होंने नौ-रतन-चटनी तैयार की, जिसे हमारे-से अनपढ़ लोग साहित्यिक समालोचना के अन्तर्गत हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नवरत्नों की खोज की एक रिपोर्ट समझ बैठे। समालोचना और मिश्र-बन्धु! दोनों की आज तक एक बार भी भूल से भेंट नहीं हुई। एक दूसरे को पहचानें तो कैसे? अतएव, यदि उन्होंने इस बेजा हरकत के लिए सूरदास की ख़बर नहीं ली तो कुछ अचम्भे



[पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी]

की बात नहीं है। इतना ही क्या कम है कि उन्होंने यही लिख दिया कि महात्मा सूरदास श्री कृष्णचन्द्र को भी एक-आध बार फटकार बताने से बाज़ नहीं आये हैं। सूरदास तो श्री कृष्ण को फटकार बताने की जुर्रत कर सकते हैं; परन्तु सूरदास को फटकार बताने की हिम्मत करना मिश्र-बन्धुओं के बित बाहर की बात है। फिर, बन्धु-त्रय अनजान में भी अनधिकार चेष्टा नहीं करते। सिर्फ़ एक ही बार इस तरह की भूल उनसे हुई है। वह तब हुई थी जब उन्होंने न केवल मिश्र-बन्धु-विनोद के बड़े बड़े पोथे लिख डाले थे, बल्कि लिखकर उनको प्रकाशित भी करवा दिया था!

इन उद्भट या पूज्यपाद समालोचकों को पाठक भूल जायँ। हमें तो श्री राधिका को, पुराण के प्रमाण

पर, परकीया ही मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में यदि कोई महात्मा सूरदास की दुहाई देकर हमें भटकाना चाहे तो हम कह सकते हैं कि महात्मा सूरदास से भी कहीं बड़े महात्मा श्री चैतन्य महाप्रभु हुए हैं, जो श्री राधा-रानी को परकीया मानते थे। बंगाल का वैष्णव-समाज आज दिन भी उन्हें इसी रूप में पूजता है। विद्यापति और चण्डीदास ने भी उन्हें स्वकीया नहीं क़रार दिया। इसी से मैं कहता हूँ कि जो हिन्दू आस्तिक हैं, वे श्री राधा को परकीया मानेंगे, सूरदास-से नास्तिक भले ही स्वकीया कहकर उन्हें बदनाम करें। रसिक-मंडल के उत्साही और रसिक विद्वानों और रायबहादुर श्याम-सुन्दरदास की नागरी-प्रचारिणी सभा को चाहिए कि वे स्वकीया-विषयक पदों को क्षेपक मानकर सूरसागर का एक संशोधित और परिमार्जित संस्करण शीघ्र निकालें। नहीं तो हिन्दूधर्म को बदनाम करने की कलंक-कालिमा से सभा और मंडल की शुभ्र कीर्ति कलुषित हो जायगी। साथ ही, धर्म्म-प्राण हिन्दू, वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ की अध्यक्षता में, सूरसागर के बहिष्कार का आन्दोलन रचने के लिए विकल हो उठेंगे! कम-से-कम मैं तो श्री राधिका जी को, ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के होते हुए, परकीया ही मानता हूँ। और इसी दृष्टिकोण से इस लेख में श्री राधिका की क्रान्तिकारिणी कल्पना का सरसरी तौर से विवेचन करूँगा।

यदि यह क्रान्ति नहीं है तो है क्या कि सीता जी के बराबर ही आसन राधिका जी को भी दिया जाय। वह स्वकीया थीं, पतिभक्ता थीं, पतिव्रता थीं। यह परकीया थीं, पति-विमुखा थीं। एक के लिए पति भी परमेश्वर था; दूसरे की दृष्टि में पति से अधिक प्यारा जार था। वाल्मीकि ने पतिभक्ति की महिमा गाई। श्री चैतन्य महाप्रभु और ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के रचयिता ने जार-प्रेमिका को सबसे अधिक आदरणीय ठहराया। रामायण के युग में पातिव्रत पर समाज ज़ोर देता था। हज़ारों वर्ष तक यही सिलसिला जारी रहा। परन्तु चौदहवीं सदी से हिन्दूधर्म्म ने पातिव्रत के समान ही उपपति की आराधना को गार्हस्थ-जीवन में महत्त्व प्रदान किया। यह क्रान्ति नहीं है तो फिर किसे हम क्रान्ति कहेंगे? सामाजिक दृष्टिकोण में कितना व्यापक अन्तर होगया होगा जब पातिव्रत के समान ही जार-प्रेम भी श्लाघ्य और अनुसरणीय समझा जाना सम्भव हुआ? सीता एक युग के आदर्शों को व्यक्त करती हैं। राधिका उस युग से एक-दम भिन्न दूसरे युग के विपरीत दृष्टिकोण की सजीव मूर्ति हैं। इनकी कल्पना हिन्दू-समाज के विकास-क्रम में एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना है।

इस सम्बन्ध में पिछले लेख की मुख्य मुख्य बातों को दोहरा देना न तो अनुचित और न अनावश्यक होगा। उनका इस विषय से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि मैं पाठकों से साग्रह अनुरोध करूँगा कि वे उनको स्मरण रखने का अनुग्रह करें। नीचे की बातों पर ध्यान दीजिए—

(१) महाभारत के कृष्ण को रायण की या किसी दूसरे की राधा का कुछ भी पता न था।

(२) विष्णुपुराण के अन्तिम संकलन-कर्ता भी श्री राधा से अपरिचित थे।

(३) भागवतकार ने भी राधा का नाम न सुना था।

ऊपर दिये गये प्रमाणों से यह बात स्पष्टरूप से प्रकट होती है कि महाभारत से लेकर भागवत के अन्तिम रचना-काल तक, अर्थात्, आज से ९०० वर्ष पहले, राधा—श्री कृष्ण की राधा जी—का कुछ भी अस्तित्व न था! महाभारत का रचना-काल, लोकमान्य तिलक के अनुसार, आज से लगभग २३-२४ सौ वर्ष पूर्व है। भागवत का अन्तिम संकलन, कहा जाता है, दशम शतक में हुआ था। अथवा, महाभारत के ज़माने से लेकर १३-१४ सौ साल गुज़र गये, परन्तु श्री कृष्ण के साथ राधा जी का उल्लेख न तो हिन्दूधर्म्माचार्यों और न हिन्दू साहित्यकारों ने कहीं भी किया। बारहवें शतक में निम्बार्काचार्य्य और जयदेव ने पहले-पहल राधा-कृष्ण की उपासना पर ज़ोर दिया। राधा-कृष्ण के संयोग-शृंगार के स्थूल और नग्न अश्लीलता से पूर्ण वर्णन के आदि आचार्य यही जयदेव हैं, जिनका गीतगोविंद अनन्त कवियों को राधाकृष्ण की रसमयी रहःकेलियों—उनके

रास-विलास——की कथा को घृणित से घृणित भाषा में चित्रित करने के लिए प्रेरित और उत्साहित करता आया है। यही गीत-गोविंद इस तरह की भ्रष्ट और दूषित कविता का आदर्श और पथप्रदर्शक पिछले ८०० वर्षों से हो रहा है। कितने अचम्भे की बात है कि हिन्दू-समाज श्री कृष्ण को बदनाम करनेवाले कवि को महात्मा कहकर पूजता है? १५००-१६०० ईसवी के बीच में ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण का अन्तिम संस्करण तैयार हुआ। इसमें श्री राधा उसी तरह से परकीया चित्रित की गई हैं, जिस तरह से चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति और चंडीदास ने उन्हें परकीया बनाकर श्री कृष्ण के साथ नाच नचाया है। कवि की कल्पनाओं को पुराण में स्थान देकर श्री राधिका जी के परकीयत्व पर धर्म्म की छाप लगा दी गई।

ऊपर जो कुछ हमने कहा है, उसकी सार्थकता में द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित सूरदास-सम्बन्धी एक विद्वत्ता-पूर्ण लेख से नीचे का अंश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा। इसके लेखक का नाम है श्री नलिनी-मोहन सान्याल। पहला अवतरण यह है:——

"वृन्दावन की लीला में श्री कृष्ण पुरुष हैं, और गोपियाँ प्रकृति। विष्णुपुराण या श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम नहीं पाया जाता। केवल हरिवंश के एक स्थान में इंगित-मात्र है। इससे अनुमान होता है कि हरिवंश भागवत का परवर्त्ती है। जयदेव द्वादश-शतक में विद्यमान थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की लीला गाई है। दार्शनिकों में निम्बार्काचार्य ने अपने ब्रह्म-सूत्रों की व्याख्या में सबसे पहले राधा-कृष्ण की उपासना की घोषणा की है। निम्बार्क का जन्म विक्रम संवत् १२१६ में हुआ था। अतएव, वे जयदेव के समकालीन थे। इससे अनुमान होता है कि जयदेव और निम्बार्क के कुछ समय पहले ही किंवदंती वा साहित्य-क्षेत्र में 'राधा' का नाम आविर्भाव हुआ था, क्योंकि गाथा-सप्तशती में 'राधा' का नाम मिलता है।

"कृष्ण भगवान् के लीला-विषयक ग्रन्थों में पहले केवल गोपियाँ ही थीं, 'राधा' न थीं। पीछे गोपियों के सार-स्वरूप 'राधा' की कल्पना हुई। गोपियाँ प्रकृति का व्यष्टि-भाव हैं, और 'राधा' समष्टि-भाव।

"विष्णुपुराण, भागवत तथा हरिवंश में श्री कृष्ण की वृन्दावन-लीला का वर्णन है। किन्तु महाभारत में नहीं। महाभारत में वृन्दावन का नाम तक नहीं, न व्रजलीला का उल्लेख! 'कृष्ण' द्वारकाधीश हैं, केवल इतना ही परिचय मिलता है। राजसूय-यज्ञ-कालीन शिशुपाल की निन्दा प्रक्षिप्त मानी जाती है।

"ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण बहुत आधुनिक है। इसमें 'राधा' का वर्णन मिलता है। सूरदास के समय 'राधा' का नाम और राधा-कृष्ण की लीलायें अपरिचित न थीं। उनको अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य से इस विषय का उपदेश भी मिला होगा।"*

'राधा' की अर्वाचीनता के विषय में द्विवेदी-अभि-नंदन-ग्रंथ का उपर्युक्त अवतरण मेरे कथन की प्रामाणिकता का समर्थन पूर्णरूप से करता है। उसी लेख से नीचे जो उद्धरण मैं देता हूँ, उससे 'परकीया' के माहात्म्य के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक के विचारों का पता पाठकों को सहज ही में लग जायगा——

"आजकल योरप से हमारे देश में एक नये मत की अवतारणा हुई है——'पति अपनी पत्नी से प्रेम का दावा नहीं कर सकता, मन जिसकी ओर दौड़ता है उसी को प्रेम अर्पित हो सकता है; क्योंकि 'प्रेम' हृदय की वस्तु है और किसी का हृदय बल के द्वारा अधिकृत नहीं हो सकता।"

'सहजिया'-सम्प्रदाय का मत भी प्रायः यही है।

"जो नारी अपने पति पर अनुरक्त न होकर अन्य पुरुष पर अनुरक्त होती है वह रस-शास्त्र के अनुसार परकीया नायिका और जो अपने पति पर अनुरक्त रहती है वह स्वकीया नायिका कहलाती है। अपने पति के साथ मिलने का जो आग्रह होता है, उससे कहीं अधिक परकीया नारी का उपपति से मिलने का आवेग होता है। इस तीव्र आवेग के द्वारा परिचालित होकर गोपियों ने श्री कृष्ण——अर्थात् भगवान् की आराधना की थी। ऋग्वेद

*देखिए द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ, पेज ६१।

(९।३२।१) में ऐसा ही भाव पाया जाता है—'योषा जारमिव प्रियम् ।' अर्थात्, ईश्वर के प्रति जीवात्मा के प्रेम का आवेग, उपपति के प्रति परकीया नारी के प्रेम के आवेग की भांति ही, तीव्र होना चाहिए। परकीया नायिका के भाव के साथ ही प्रत्येक साधक को साधना-कार्य में प्रवृत्त होना उचित है, नहीं तो भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। कार्डिनल न्यूमन भी प्रायः यही कह गये हैं।*

"कई योरपीय उपन्यासकारों का अनुकरण करते हुए इस देश के कुछ आधुनिक उपन्यास-कार स्वाधीन प्रेम की पोषकता करके निन्दनीय हुए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर इस श्रेणी के औपन्यासिकों का अपराध वैष्णव-कवियों के अपराध से अधिक नहीं! स्थूल भाव से ही श्री कृष्ण के प्रति गोपियों के अनुराग में परकीया नायिका के लक्षण देखे जाते हैं। किन्तु श्री कृष्ण के ईश्वरत्व में गोपियों का यथार्थ विश्वास था। वैष्णवों की हृद्गत वासना ही यह है कि श्री कृष्ण के प्रति अनुराग के द्वारा, अर्थात् प्रेम तथा भक्ति की साधना के द्वारा सायुज्य के अधिकारी हो सकें।......उनके (कृष्ण के) साथ एक ही स्थान में रहकर और उनकी सेवा करके वे धन्य हुई थीं। काम्य-वस्तु को करतलगत पाकर वे उन्हें छोड़ न सकी थीं......

"इस पृथिवी पर ही गोपियों का सालोक्य-लाभ हुआ था। सम्भवतः उनकी नारी-देह-जनित वासनाएँ भी चरितार्थ हुई थीं। अतएव एक प्रकार से उनको सायुज्य भी प्राप्त हुआ था........."†

उपर्युक्त अवतरण में कही गई बातों का निचोड़ यह है कि पति से जार का और पतिव्रता से परकीया का पद ऊँचा है। सान्याल महाशय ने जहाँ इस सिद्धान्त पर प्रकाश डालने का अनुग्रह किया है, वहाँ उन्हें यह भी स्पष्ट कर देना उचित था कि श्री चैतन्य महाप्रभु बारंबार इस बात पर ज़ोर देते थे कि गोपियों ने श्री कृष्ण की उपासना उन्हें ईश्वर मानकर नहीं की। श्री लक्ष्मी वृन्दावन में प्रवेश नहीं कर सकी थीं, क्योंकि वे श्री कृष्ण के ईश्वरत्व को भूल ही नहीं सकती थीं।

इस सम्बन्ध में, हमें यह याद रखना चाहिए कि धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त सामाजिक विचार-शैली के अमूर्त प्रतिबिम्ब होते हैं। इसी लिए प्रत्येक युग का धर्म्म भूत या भविष्य युग के धर्म्म से भिन्न होता है। भारतवर्ष में अनादि काल से धर्म्म के अन्तर्गत ही जीवन की अनन्त समस्याओं की व्याख्या होती चली आई है। अतएव, चौदहवीं सदी से परकीया 'राधा' की उपासना सामाजिक व्यवहार और विचारशैली में व्यापक परिवर्तन का द्योतक है। क्या चंडीदास का अपनी धोबिन-प्रेयसी के प्रति प्रेम श्री राधा-कृष्ण की रास-लीला के वर्णन में रूपान्तर से अभिव्यक्त नहीं हुआ है? क्या विद्यापति की पदावली में एक राज-दरबार की विलास-प्रियता का साकार रूप चित्रित नहीं है? इन्हीं स्थूल घटनाओं को लेकर दार्शनिकों ने उन पर रंगामेज़ी की, और साकार को निराकार का रूप देकर लम्बे-चौड़े भाष्य रचे। हमारे धर्म्माचार्यों ने उन्हीं भावों को अपने सिद्धान्तों के प्रचार का सहायक साधन बनाया। लेकिन धर्म्म की व्याख्या से हमारा कोई सरोकार नहीं। हमें तो साहित्य का दर्पण हाथ में लेकर समाज के हृदयगत भावों के नित्य बदलते हुए चित्रपटों का अध्ययन करना है।

इस दृष्टि से 'राधा' की कल्पना का विशेष महत्त्व है। संस्कृत-साहित्य में पातिव्रत और पतिव्रता नारी ही का आदर्श समाज के सामने चित्रित किया गया है। सावित्री, श्री सीता, दमयन्ती, शकुन्तला, सती और पार्वती जी के आदर्श चरितों की रचना में कवियों की कल्पना और प्रतिभा ने अपना अलौकिक चमत्कार दिखाया है। हिन्दू-समाज की दृष्टि में, परकीया नहीं किन्तु स्वकीया ही आदर-सत्कार के योग्य ठहराई गई है। आश्रम से शकुन्तला को बिदा करते समय कण्व ने उन्हें जो उपदेश दिया है उसमें पातिव्रत का जो अनुपम सौन्दर्य कालिदास ने अपनी प्रतिभा से भर दिया है, वह वर्णनातीत है।

---

* यह ग़लत है। न्यूमैन ने परकीयत्व का समर्थन कहीं नहीं किया है—लेखक

† देखिए द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ, पेज ६५-६६।

पातिव्रत के अखंड माहात्म्य के सामने संसार का सारा बल और देवताओं का समस्त तेज और ऐश्वर्य तुच्छ, अति तुच्छ, दिखाई देते हैं। पति ही सती के लिए एक-मात्र पूज्य है—पति चाहे जितना पतित और दुराचारी क्यों न हो। वही पत्नी के लिए सेव्य है, वही उसकी गति है, वही उसकी मुक्ति और मुक्ति का अकेला साधन है। मनु ने इस आदर्श का जो वर्णन किया है, वही आज दिन भी हमारे समाज के अन्यतम भावों को व्यक्त करता है। उसी भाव को वाल्मीकि ने रामायण में चित्रित किया है। आश्रम से दुष्यन्त के राजभवन को बिदा होती हुई शकुन्तला को भी कालिदास ने कण्व के मुख से जो सीख दी है, वह मनु और वाल्मीकि के भावों की प्रतिध्वनि-मात्र है। पातिव्रत का आदर्श, वास्तव में, समाज के हित की दृष्टि से मानव-जाति को जीवित रखने और उसकी उत्तरोत्तर उन्नति का एक प्रधान साधन रहा है। गार्हस्थ्य जीवन को कलह, अशान्ति और प्रलोभनों से सुरक्षित रखने के लिए यह एक अचूक ओषधि थी। त्याग और आत्म-समर्पण की इससे अधिक पवित्र और उज्ज्वल विभूति संसार में और कहीं मिलना सर्वथा असम्भव है। व्यक्तित्व का समूल नाश और कर्तव्य की नित्य प्रधानता ही इस साधना के मुख्य लक्षण और सनातन लक्ष्य हैं। कामुकता की रेतीली नींव पर नहीं किन्तु अटल धर्म्म और लोक-कल्याण की सुदृढ़ चट्टान पर दाम्पत्य-जीवन के भव्य और मनोरम महल का निर्माण हिन्दू धर्म्माचार्यों ने करना चाहा। इसी उद्देश से सती, सीता और सावित्री की कल्पना हुई; और इसी भाव को नारी के हृदय पर तप्त अक्षरों से अंकित करने में हिन्दू-जाति ने ज़मीन-आसमान के कुलाबे एक कर दिये। पातिव्रत हमारी संस्कृति का एक प्रधान अंग माना गया है। हिन्दू-समाज का अस्तित्व, जैसे सतयुग में वैसे ही आज कलिकाल के ज़माने में, अपने अक्षुण्ण तेज-बल के कारण अमिट और अमर है। ऊपर की पंक्तियों में हमने हिन्दू धारणा को अंकित किया है। इसी लिए, अनादि काल से हमारे साहित्य में ऐसी ही नायिकाओं के चरित अनुसरणीय माने गये हैं, जो स्वकीया थीं और जिन्होंने पति-सेवा में यम को ललकारा और देवता-दुर्लभ विभव और विलास को मिट्टी के बराबर भी नहीं समझा। वाल्मीकि की सीता, महाभारत की सावित्री, दमयन्ती और गांधारी, कालिदास की उमा और शकुंतला; जहाँ वे हिन्दू नारी के लिए आदर्श हैं, वहाँ वे उसी के सच्चे जीवन के—कवि की प्रतिभा के द्वारा कल्पना-रंजित चाहे वह चित्र भले ही हो गया हो—वास्तविक प्रतिबिम्ब अवश्य हैं। यदि किसी को हिन्दू नारी की आत्मा का साक्षात्कार करना हो तो वह सीता और सावित्री की साहित्यिक कल्पनाओं के दर्पण में सुगमता के साथ उसके दर्शन कर सकता है।

जो कुछ हमने ऊपर कहा है, यदि वह ठीक है तो यह भी ठीक है कि आरम्भ-काल से लेकर कालिदास और उनके अनुवर्ती कवियों के समय तक पातिव्रत के साहित्यिक चित्रण में जहाँ वैवाहिक संस्कार की महत्ता पर ज़ोर दिया गया है, वहाँ विवाह के पहले नायिका का नायक के प्रति अनुराग ही उस संस्कार का समर्थ कारण बताया गया है। उमा, सीता, सावित्री, दमयन्ती और शकुन्तला ने पहले प्यार किया, और फिर उनका ब्याह हुआ। पहले मन से बरा, पीछे तन से भाँवरें फिरीं। जिसे मन दिया, उसी को तन भी दिया। पातिव्रत की जड़ में पूर्वानुराग है, न कि वैवाहिक संस्कार। समाज के सामने मंडप के नीचे चाईं-माईं-द्वारा स्त्री आन्तरिक आत्मदान की प्रकट और स्वच्छंद स्वीकृति देती थी। प्रेम संस्कार का परिणाम न था, किन्तु विवाह का कारण अनुराग था। इस दृष्टि से, स्त्री पतिव्रता थी क्योंकि वह पति की प्रेमिका थी; और, बाद में, पत्नी के पद को प्राप्त करने पर भी वह प्रेमिका ही बनी रही। अपने कठोर कर्तव्य को निबाहने के लिए उसे बल मिलता था प्रेम की अनन्त शक्ति-राशि से, न कि इस कोरी भावना से कि उसके तन पर एक अनचाहत का अधिकार हो गया है। उमा के लिए शम्भु को छोड़कर क्या कोई दूसरा वर सम्भव था, या सावित्री, सत्यवान् के अलावा, किसी दूसरे के गले का हार बनना स्वीकार कर सकती थीं? दमयन्ती ने इन्द्र आदिक चार देवताओं को नल के सामने ठुकरा

दिया। शकुन्तला ने दुष्यन्त के साथ गन्धर्व-विवाह किया, क्योंकि हृदय से, न कि गुरुजनों से, उसे ऐसा करने की अनुमति मिली थी। अतएव, वाल्मीकि से लेकर कालिदास, आदिक, ने हिन्दू-जाति को एक ही पाठ पढ़ाया था। वह पाठ केवल-मात्र यही था कि नारी का जन्म तभी सुफल होगा, तभी उसका पूर्ण विकास सम्भव है, उसी समय उसकी आत्मा-रूपी कली शतधा परिस्फुटित होकर अपनी अपूर्व सुरभि से जगत् को लुभाने में समर्थ होगी, जब वह प्रेम को अपनी जीवन-यात्रा का पथ-प्रदर्शक मानकर उसी के आदेश से अपने सहचर और अनुगामी को चुनेगी। लेकिन, साथ ही साथ, प्रणय केवल व्यक्तियों की वासनाओं की परितृप्ति और उनकी स्वेच्छाचारिता की अनवरुद्ध गति का नाम न था। दाम्पत्य-जीवन तो केवल समाज-हित और लोक-कल्याण का एक-मात्र साधन था। इसलिए जिस किसी ने इसकी अवहेलना की, उसी को दुःख और मनस्ताप की धधकती हुई ज्वाला में जलकर अपने-आपको शुद्ध करना पड़ा। वैसे ही कुमार-सम्भव में उमा और शाकुन्तल में शकुन्तला को, जैसे महाभारत में सावित्री और दमयन्ती को, अपनी-अपनी वासनाओं-द्वारा प्रणय-दान में प्रभावित होनेके कारण विरह-व्यथा का दंड भोगना पड़ा, और प्रेमी-द्वारा तिरस्कृत होने पर प्रेम के स्वार्थ-पूरित अंश के लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करना उनके लिए अनिवार्य हो गया। उमा ने शिव को, शकुन्तला ने दुष्यन्त को, और सावित्री ने सत्यवान् को, तभी पूर्णरूप से पाया, जब उनकी आत्मा में स्वार्थमयी वासना का लेश भी न रह गया। इन पूजनीया, प्रातः-स्मरणीया देवियों की कथायें मानव-प्रेम की जो सनातन रीति-नीति बताती हैं, वही मृच्छकटिका की सामान्या नायिका—एक गणिका—वसन्त-सेना के चरित से भी प्रतिपादित होती है। परन्तु गणिका थी, जब उसके हृदय में विशुद्ध प्रेम का उदय हुआ तब उसके लिए भी धन के बदले में किसी पर-पुरुष को तन का दान देना असम्भव हो गया। चारुदत्त ही को वह आत्म-समर्पण और अपने तन पर सहर्ष अधिकार का दान कर सकती थी, क्योंकि उसी को उसने अपने हृदय में आराध्य देव मान लिया था। हमारा संस्कृत साहित्य जहाँ पातिव्रत का माहात्म्य गाता है; वहाँ वह, वास्तव में, प्रेम की अतुलित महिमा के सामने सिर झुकाता है। वह हमें सिखाता है कि नारी तभी सती हो सकती है, जब प्रेमिका अपने प्रेमी को स्वयमेव बरती है, अन्यथा नहीं।

यह सही है कि कवि के काल्पनिक आदर्श और प्रतिदिन के व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर था। तारा और मन्दोदरी ही का नाम लेना काफ़ी है कि समाज में जहाँ एक सीता थीं वहाँ तारा और मन्दोदरियों की संख्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। मानव-जीवन का प्रवाह किसी एक धारा में न कभी बहा है और न बहेगा। वह तो हज़ारों, लाखों धाराओं में बहा करता है। इसी लिए कवियों और धर्म्म-ध्वजियों ने तो इधर पातिव्रत का गीत गाया, उधर जीवन में मदमाती जोड़ी, प्रेम में पगी और रंग-रलियों में इठलाती, धर्म्म-शास्त्रों का उपहास करती फिरती थी। साथ ही साथ, यह भी हुआ कि जो पातिव्रत पहले प्रेम का परिणाम था, वही धीरे-धीरे केवल-मात्र विवाह-संस्कार का पिछलगुआ समझा जाने लगा। स्त्री का पति कोई भी क्यों न हो, कैसा ही क्यों न हो, किसी ने भी उसे उसके गले मढ़ ही क्यों न दिया हो; परन्तु उसे उस पति को, देवादिदेव परमेश्वर के ऊपर प्रभु मान-कर, पूजना चाहिए। रूढ़ि ने पत्नी को प्रेमिका के उच्च आसन से हटाकर क्रीतदासी का पद दिया। विवाह सौदा बन गया, जिसमें रोटी-कपड़े के बदले स्त्री के शरीर और अंतःकरण पर पति को सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्त होने लगा। पति उसे जुए में हार भी सकता था—पत्नी और गाय-बैल के पद गृहस्थ की गृहस्थी में समान माने जाने लगे। समाज के इस कठोर तथा निर्दय शासन ने धीरे-धीरे स्त्रियों की स्वाधीनता को विनष्ट कर दिया। वे पति-भक्ता थीं—स्वेच्छा से नहीं, किन्तु लोक-लाज और सामाजिक ताड़ना के भय से। राजनैतिक क्षेत्र में इसी तरह 'भक्ति' और उसके प्रदर्शन के अनन्त प्रकार आज दिन भी हमें आसानी से दिखाई देते हैं। यह सब था, किन्तु कवि अपने आदर्श की सचाई में विश्वास करता हुआ उसी के संदेश को सौन्दर्य के चित्र-

पट पर अंकित करने में सदियों तक मस्त रहा। जीवन के दूसरे पहलुओं की ओर उसकी नज़र ही न गई; और यदि गई भी, तो उसने उसे तुरन्त ही वहाँ से हटा लिया। बात यहाँ तक बढ़ी कि कवि परिपाटी का पुजारी बन गया, और सत्य के मन्दिर का मार्ग भी उसे याद न रहा। इसी लिए साहित्य में कृत्रिमता व्याप गई, और वह जीवन से इतनी दूर बह गया कि जहाँ कविता पहले समाज की प्रेरक शक्ति थी वहाँ अब वह केवल मनोरंजन और हास-विलास की सामग्री बन गई।

सत्य को साहित्यकारों ने भुला दिया, पर सत्य ने इस पर भी उनका पीछा करना न छोड़ा। संस्कृत-साहित्य से बहिष्कृत होकर, वह देशी भाषाओं के नवसिखिया कवियों पर अपना आधिपत्य जमाने लगा। सब प्रान्तों में उसे इस ओर भी सफलता न मिली। बंगाल और बिहार ही में वह पूर्णरूप से विजयी हुआ। इसके कई कारण थे। पातिव्रत-धर्म्म आर्य्य-संस्कृति का एक प्रधान अंग बन गया था। जहाँ उस सभ्यता और आचार-विचार का ज़ोर था, वहाँ नारी के लिए किसी दूसरे धर्म्म का प्रतिपादन असम्भव था। बंगाल और बिहार में बौद्ध-धर्म्म शुरू ही से फैला और ज़ोरों से फैला, क्योंकि वैदिक धर्म्म उन प्रान्तों में उतना न व्यापा था। वहाँ अनादिकाल से जादू-टोना और ग्राम्य देवी-देवताओं की जितनी महत्ता थी, उतनी उत्तरीय भारत के अन्य प्रदेशों में न थी। कम से कम हमारे यहाँ के संस्कृत-साहित्य में आर्य-संस्कृति ही का सविशेष और सविस्तर चित्रण हुआ है। बौद्ध-धर्म के ह्रास पर जब बंगाल में सामाजिक बन्धन शिथिल होगये, और अनाचार ही सदाचार समझा जाने लगा, तब प्रान्तिक भाषा में लिखे हुए साहित्य में—जिसके रचयिता संस्कृत-साहित्यिक परिपाटी से अनभिज्ञ थे—जीवन की अनेक समस्याओं का स्वतंत्रता के साथ चित्रण होने लगा। नैतिक अराजकता के उस ज़माने में, वैवाहिक संस्कार के प्रचलित परन्तु विकृत रूप का भीषण दर्शन पाकर समाज चकित हुआ। लोगों ने देखा कि महज़ विवाह की रस्म अदा करने से स्त्री पतिव्रता नहीं बन जाती। कर्तव्य-पालन के लिए पूर्वानुराग की आवश्यकता है। स्त्रियों में कुछ ने छिप कर और कुछ ने प्रकट रूप से इस विवाह के ढोंग के ख़िलाफ़ बग़ावत की। बग़ावत कोई नई बात न थी। व्यक्तित्व और लोक-संग्रह में सामञ्जस्य का क़ायम रहना कठिन है। स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ, अपने स्वार्थ और विकास की धुन में, समाज को पद-दलित करने में कभी नहीं हिचकी हैं। एक दृष्टि से, 'समाज का सुधार ऐसे ही बाग़ियों के विद्रोह का फल है। लेकिन पातिव्रत धर्म्म का खुल्लम-खुल्ला विरोध पहले परम अनाचारों में गिना जाता था। लेकिन धीरे-धीरे समाज के विचारों में उथल-पुथल शुरू हुई। 'राधा' की कल्पना होते ही इन विरोधी दल के कवियों ने उसे अपनाया, और उसके गुण-गान-द्वारा अपने वामाचारी बौद्ध तंत्र के सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया। उदाहरण के लिए, सहजिया-सम्प्रदाय को लीजिए। इसका यह एक मुख्य सिद्धान्त था कि परकीया का प्रेम ही भगवद्भक्ति का प्रधान सोपान है। यह एक वैष्णव-सम्प्रदाय है। फिर क्या था? पातिव्रत से अधिक इसी परकीया-भाव का साहित्य में दिन पर दिन मान बढ़ने लगा। कहा जाने लगा कि स्त्री जितना अपने जार का प्यार करती है, उतना अपने पति का प्यार वह कदापि नहीं कर सकती। उप-पति के प्रेम में जो आवेग होगा, वह आवेग पति-भक्ति में होना सर्वथा असम्भव है। वाल्मीकि की श्री सीता के पातिव्रत का मान यद्यपि साहित्यकारों की दृष्टि में अक्षुण्ण बना रहा, परन्तु बंगाल के कवियों और वैष्णव आचार्यों ने सरे-आम यह राग अलापना शुरू किया कि श्री सीता से अधिक पूजनीया श्री राधिका हैं—वे ही श्री राधिका, जो अपने पति रायण को छोड़कर श्री कृष्ण की पुजारिन बनी थीं। पतिव्रता श्री सीता और सावित्री से अधिक महत्त्व परकीया राधिका जी को बंगाल के वैष्णवों ने दिया। पति-भक्ता के ऊपर जार-प्रेमिका को आसन मिला।

इस व्यापक क्रान्ति पर दृष्टि डालिए। सोचिए तो सही कि हिन्दू-समाज में धर्म्म और साहित्य के आचार्य हमें यह सिखाने लगे कि विवाह का बंधन स्त्री

तोड़ सकती है; और उसे तोड़ते हुए पूजनीया भी मानी जायगी, यदि प्रेम की वेदी पर वह आत्म-समर्पण कर दे। बाह्य संस्कारों के ढकोसलों की खिल्ली श्री राधिका के चित्रण में उड़ाई गई, और इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि प्रेम के पीछे स्त्री जब सर्वस्व को ठुकरा देती है तभी उसे आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है। श्री उमा के समान ही श्री राधा पूजनीया हैं। दोनों ही प्रेम की पुजारिन हैं। दोनों ही ने जहाँ मन दिया वहीं तन भी अर्पित किया। दोनों ही के लिए विवाह एक रस्म थी—अटूट संस्कार न था। परन्तु उनमें व्यापक अन्तर भी है। श्री उमा का विवाह उसी वर के साथ हुआ, जिसे उन्होंने मन से बरा था। श्री राधा का ब्याह रायण से हुआ; पर मन उन्होंने उसे नहीं दिया। श्री कृष्ण के मिलते ही श्री राधा ने उन्हें मन और तन से "वरा;" पहले पति रायण के जीते ही उनको "वरा"। श्री कृष्ण के लिए रायण के प्रति उन्होंने 'विश्वासघात' किया, कलंक ओढ़ा, असती कहलाईं। परन्तु अन्त में जीत उन्हीं की हुई। और पातिव्रत का प्रचारक हिन्दू-समाज आज उन्हीं परकीया राधा जी के चरणों में नतमस्तक दिखाई देता है। पातिव्रत में समाज-हित प्रधान है। परकीया-भाव में व्यक्ति का स्वार्थ आगे है। वह समाज जीवित रहेगा, जिसमें व्यक्ति के विकास के समुचित साधन मौजूद हैं। श्री राधिका की विजय से सामूहिक आचरण के समान ही स्त्री के वैयक्तिक हिताहित को साहित्य में स्थान मिला। एक बात और भी हुई। विवाह की प्रचलित पद्धति को परकीया श्री राधिका ने वह गहरा धक्का पहुँचाया कि समाज अब तक हतबुद्धि-सा हो रहा है। सचमुच, श्री राधिका क्रान्ति की मूर्ति हैं, मानव-सम्बन्ध के इतिहास में उनका अपूर्व महत्त्व है, साहित्य के विकास में मानव-हृदय के एक पहलू को वह विशेष रूप से अपने जीवन में प्रकट करती हैं। रस्म-रवाज के ऊपर प्रेम और लगन की जीत का साहित्यिक नाम 'राधा' है।

जीवन-संगीत

श्रीयुत शान्तिप्रिय द्विवेदी

यह लघु-लघु रजकण का मृदु तन
रजकण-सा ही है दुर्बल,
पर, रजकण की ढेरी में ही
है स्वर्णज्योति भी निर्म्मल।

मेरा छोटा-सा जीवन रे,
चिर दुर्बल है चिर निर्म्मल,
है निशा-कालिमा इसमें तो
दिन की आभा भी उज्ज्वल।

सागर के अन्तस्तल में भी
मोती की छवि है निर्म्मल,
सागर के अन्तस्तल में ही
पङ्किलता भी है दुर्बल।

दुर्बलता का निर्म्मलता से
जीवन में है सम्मिलन,
दोनों के सम्मेलन से ही
मानव-जीवन मनमोहन।

उपालम्भ

कुमारी रामेश्वरीदेवी गोयल, एम० ए०
Miss.



(१)

तुम्हारी संजीवन मुस्कान,
जगा देती मद का संसार।
पुलक, भावुक नभ भी अनजान,
लुटा देता अपना शृङ्गार ॥

(२)

लुभा लेता तटस्थ के प्राण,
बिछा मायावी मुक्ता-जाल।
बना देता पागल-सा कौन,
व्यथा की अविकल मदिरा ढाल ?

(३)

श्रमित कलियों का कोमल गात,
ढूँढ़ता व्याकुल हो विश्राम।
सुला लेता सुधांशु निज अङ्क,
बिछा कर शीतलता अभिराम ॥

(४)

छोड़ जाता आँसू कोई—
दुःखद-सा स्वप्न; दीन नैराश्य।
पोंछ लेता चुम्बन में एक,
हँसा जाता प्राची का हास्य ॥

(५)

किन्तु मानस का टूटा तार,
छेदते रहते आकुल प्राण।
स्वप्न-सा खो जाता मतिमान,
सुखद जीवन का सुमधुर गान ॥

(६)

न आने देता पुनः वसन्त,
छेड़ कर अपनी आकुल तान।
ढहा देता आशा के स्वप्न,
बहा देता विवेक नादान !!

ब्राइटन

श्रीयुत धर्मवीर, एम० ए०



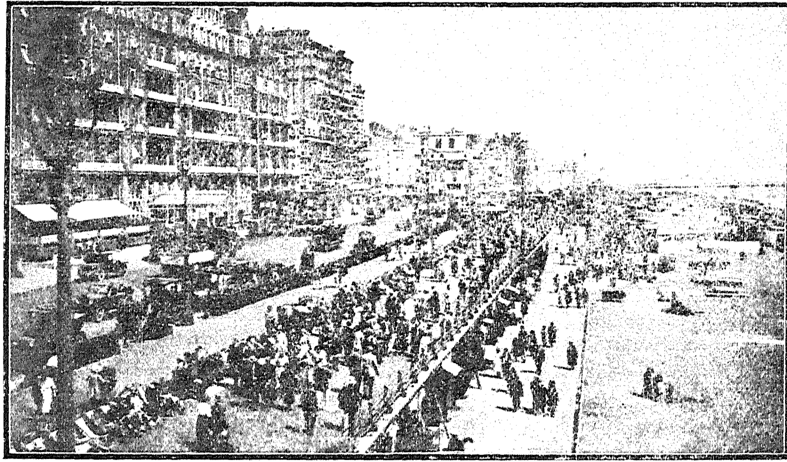
मनुष्य एक सामाजिक पशु है। वह समूह को देखना और उसमें शामिल होना पसन्द करता है। यह उसके लिए स्वाभाविक ही है। समूह को इकट्ठा करने के लिए आकर्षण की कोई न कोई ख़ास बात होनी ही चाहिए। भारत में कई ऐसे स्थान हैं, जहाँ ख़ास मौक़ों पर जाना पुण्य समझा जाता है। हरद्वार का स्थान प्राचीन आर्यों को बहुत पसन्द आया। इसी प्रकार प्रयाग का सङ्गम भी। ऐसे स्थानों में नदियाँ विशेष सौंदर्य और आकर्षण का साधन होती हैं। भारत-वर्ष के लिए आकर्षण के स्थान नदियों के अतिरिक्त पहाड़ भी हैं। लोग पहाड़ों की कम से कम यात्रा तो किया करें, इसलिए पहाड़ों में अमरनाथ, केदारनाथ, बदरीनारायण आदि तीर्थ कहे गये हैं। यहाँ प्रतिवर्ष मेले लगते हैं और बहुत-से यात्री इनके द्वारा अपना जीवन सफल बनाना चाहते हैं।

भारत में जो दर्जा नदियों और पहाड़ों को हासिल है, इँग्लैंड में वह दर्जा समुद्र को हासिल है। इँग्लैंड के किनारे पर कई स्थलों में समुद्र ऐसा सुखप्रद और सुन्दर रूप धारण करता है कि वहाँ ख़ास शहर आबाद हो गये हैं। इन सबको आम तौर पर 'सी-साइड' कहते हैं। यहाँ हर मौसम में आम तौर पर, और गर्मियों में ख़ास तौर पर, लोगों के समूह इकट्ठे हो जाते हैं। ये स्थान बहुत स्वास्थ्य-प्रद समझे जाते हैं। फ्रांस, जर्मनी आदि अन्य देशों के भी अपने-अपने 'सी-साइड' हैं। परन्तु इँग्लैंड की समुद्र में विशेष स्थिति है, इसलिए उसके किनारे बहुत चित्ताकर्षक हैं। इनमें फ़ाक्स्टन, ईस्टबोर्न, मारगेट, पोर्ट बोर्नमथ, वर्दिङ्ग, सौथ एंड आदि बहुत प्रसिद्ध स्थान हैं। लेकिन इन सबमें ज्यादा रौनक़वाला और बहुत दूर तक फैला हुआ ब्राइटन है।

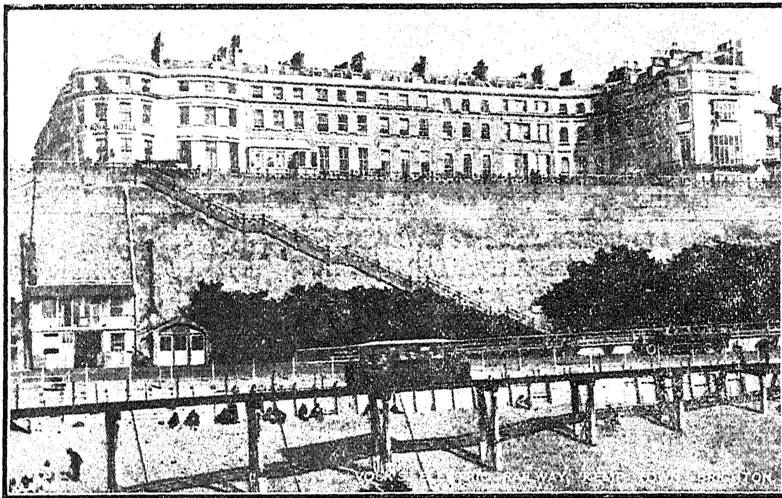
लंदन से ब्राइटन चालीस-पचास मील की दूरी पर स्थित है। रेलगाड़ी से एक घंटे का रास्ता है। इसे "समुद्र का लंदन" कहते हैं। इन समुद्र-तटवर्ती नगरों में विशेष प्रकार की समानता पाई जाती है। समुद्र की ओर शहर का किनारा बड़े शानदार और ख़ूबसूरत मकानों से जिनमें ज्यादातर होटल हैं, ख़ास ढङ्ग पर सजा रहता है। इसके साथ बहती हुई

सड़क होती है। सड़क के साथ साथ समुद्र के किनारे पर कई पुश्ते चले जाते हैं या मंज़िलें बनी रहती हैं।

ऐसे हर एक किनारे पर लोहे के स्तम्भों पर खड़ा हुआ और समुद्र के अन्दर एक-आध मील लम्बा जाने-वाला एक मकान होता है जिसे "पियर" कहते हैं। ब्राइटन में ऐसे दो पियर हैं। एक का नाम "पैलेस पियर" है। दूसरा आध मील के फ़ासले पर "वेस्ट पियर" है। पियर आम तौर पर बहुत रौनक़, ख़ूबसूरत और तमाशों का केंद्र होता है। यहाँ थियेटर और नाच-घर होते हैं। ब्राइटन के पैलेस पियर पर एक और ख़ास मकान है जिसमें विभिन्न प्रकार के खेलों का सामान मौजूद रहता है। इसे "तमाशों का महल" कहते हैं। सड़क के किनारे पर जो पुश्ते बने हुए हैं उन पर बेंचों और कुर्सियों की क़तारें लगी रहती हैं, कुर्सी पर बैठने के लिए एक पेनी किराया देना पड़ता है। जो कुर्सी पर नहीं बैठना चाहता वह बेंचों का इस्तेमाल करता है। इन पुश्तों पर एक से ज़्यादा जगह पर बैंड-स्टैंड बने हुए हैं। हर एक बैंड-स्टैंड के पास कई हज़ार कुर्सियाँ रक्खी रहती हैं ताकि सुनने-वाले को कोई तकलीफ़ न हो।



[ब्राइटन के किनारे पर की सड़क। इसके नीचे उतरने पर समुद्र आ जाता है।]



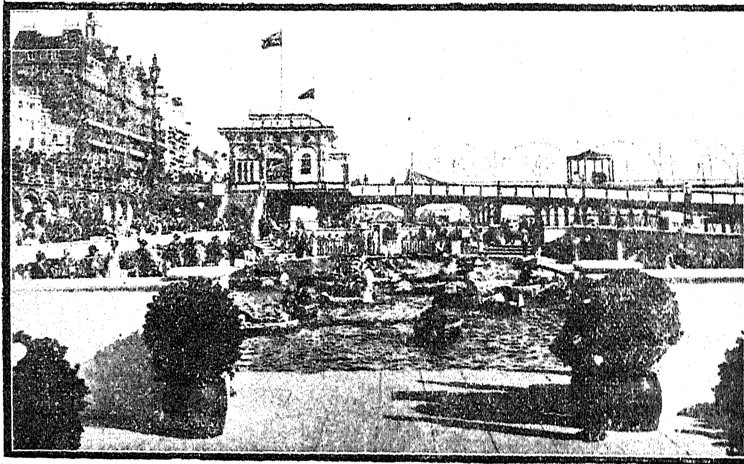
[किनारे पर का पुश्ता। सड़क से परे रायल होटल की इमारत है। बिलकुल इस तरफ़ इलेक्ट्रिक रेलवे की लाइन है।]

किनारे का जो पुश्ता समुद्र की रेत के साथ लगता है उस पर दूकानों की मील आध मील लम्बी एक क़तार होती है। इनमें बच्चों और महिलाओं के लिए ख़रीदने की चीज़ें रहती हैं। रेस्टाराँ या विश्रांति-गृहों में खाने-पीने की सामग्री और तमाशे

के दूसरे सामान पाये जाते हैं। इस लाइन के साथ-साथ समुद्र के पानी तक रेतीली और कङ्करीली ज़मीन होती है, जिस पर मर्द, औरतें और बच्चे खेलते हैं, लेटते और बैठते हैं या आरामकुर्सियाँ ले जाकर आराम करते हैं। इस स्थान को "बीच" कहते हैं। बीच के विभिन्न भागों में लकड़ी की छोटी छोटी झोपड़ियाँ बनी रहती हैं, जिनमें नहाने के कपड़े और तौलिये आदि सामान रक्खे रहते हैं। जो चाहता है, तीन या छः पैसे दे कर यहाँ कपड़े उतार समुद्र में चला जाता है। बहुत कम यात्री इन झोपड़ियों का इस्तेमाल करते हैं। आम तौर पर मर्द, औरतें और बच्चे रेत पर ही कपड़े उतार कर समुद्र में कूद पड़ते हैं। छोटी-छोटी-सी जगह में कपड़ों की सैकड़ों ढेरियाँ लगी रहती हैं, लेकिन क्या मजाल कि किस ढेरी में से कोई चीज़ इधर से उधर हो जाय।



['पैलेस पियर' के पास किनारे पर लोग समुद्र का दृश्य देख रहे हैं। कई एक बच्चे पानी में खेल रहे हैं, कुछ किनारे पर खड़े हैं।]

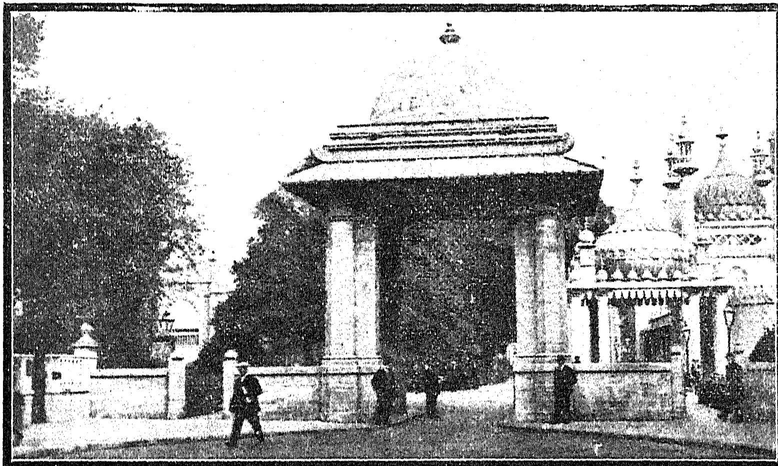


['वेस्ट पियर' से इधर बालक-बालिकाओं के लिए कश्तियां चलाने का तालाब है।]

समद्र में नहाना सेहत के लिए बहुत लाभदायक समझा जाता है। यही कारण है कि सुबह से लेकर शाम के आठ-नौ बजे तक 'बीच' के किसी भी हिस्से पर जाकर देखिए, स्त्रियाँ और पुरुष नहा ही रहे होंगे। इन नहानेवालों के साथ-साथ अपनी-अपनी कश्तियाँ लिये हुए मल्लाह फिरते रहते हैं ताकि अगर कहीं कोई शख़्स पानी के अन्दर घबरा जाय तो वे समय पर पहुँच कर उसे डूबने से बचा लें।

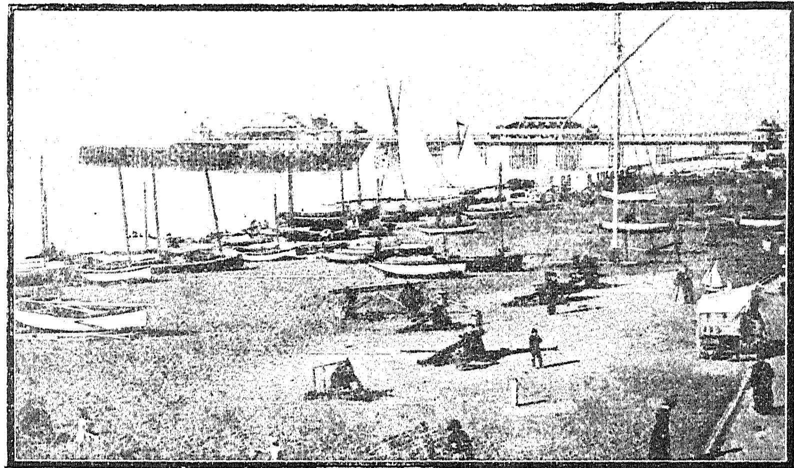
इसी "बीच" पर बच्चों के लिए खेलों के ख़ास इंतज़ाम होते हैं। कई जगह छोटे-छोटे तालाब बने

हुए हैं जिनमें मोटर कश्तियाँ रहती हैं। जो मनुष्य चाहे, चार-छः पैंसे फ़ीस देकर किसी मोटर-बोट पर बैठ उसे तालाब में लिये फिर सकता है। एक और जगह पर एक बड़ा हाल है, जिसमें लकड़ी का फ़र्श बना है और छत बिजली के तारों से सजी है। इसमें कई छोटे छोटे मोटरकार खड़े रहते हैं। वही दो-चार पेंस की फ़ीस देकर बालक (या बालिका) इनमें से किसी मोटर में बैठ जाता है और बहुत देर तक हाल के चक्कर लगाता रहता है। कई जगह चाँदमारी करने के लिए मकान बने हुए हैं। बच्चे वहाँ जाकर गोलियाँ चलाने का अभ्यास करते हैं। इस 'बीच' पर



[ब्राइटन का भारत-स्मारक द्वार]

मनुष्यों की पंक्तियाँ आती-जाती और फिरती रहती हैं। हर वक़्त यहाँ मेला-सा ही लगा रहता है। यहाँ समुद्र के पानी के साथ-साथ एक इलेक्ट्रिक रेलवे लाइन दो मील तक जाती है। हर पाँच मिनट के बाद कई सौ मनुष्य इस पर अपनी सैर

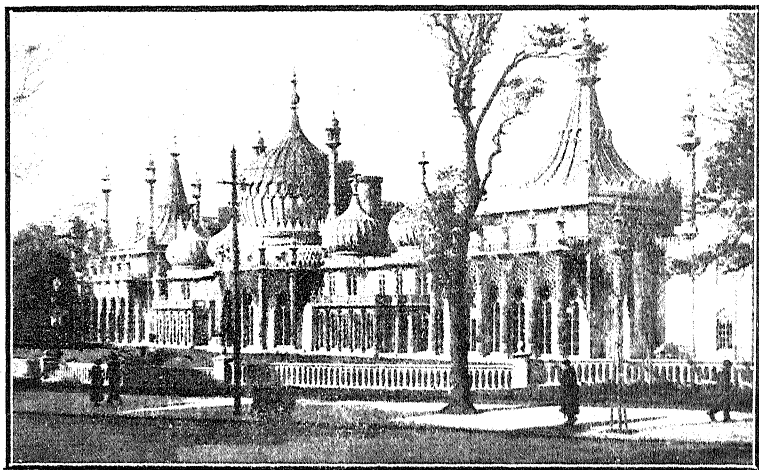


[ब्राइटन का 'बीच'। परे समुद्र में 'पियर' है।]

ख़त्म करके वापस चले आते हैं।

यों तो साल भर में कोई मौसम भी ऐसा नहीं होता जब लोग ब्राइटन में नहीं जाते, लेकिन गर्मियों के दिनों में, जुलाई और अगस्त के महीनों में, समुद्र के किनारे पर बहुत ज़्यादा रौनक़ हो जाती है। लंदन के रेलवे-स्टेशनों से विभिन्न दिशाओं में हर दो घंटे के बाद रेलगाड़ियाँ इन सैर करनेवाले यात्रियों को ले जाती हैं और ले आती हैं। अगस्त के दूसरे सप्ताह को लंदन के लोग ख़ास तौर पर छुट्टी का हफ़्ता समझते हैं। इसमें एक दिन "बैंक-हालिडे" आता है। उस दिन सब कारोबार बन्द रहते हैं। इस सप्ताह में लंदन और दूसरे स्थानों से लाखों मनुष्य

समुद्र के किनारे पर चले जाते हैं। लंदन के एक भाग का नाम पैडिंगटन है। इसके रेलवे-स्टेशन, पैडिंगटन, से अब की इन दिनों एक घंटे में बारह हज़ार और दिन भर में नब्बे हज़ार मनुष्य गाड़ियों से बाहर गये! लंदन में पैडिंगटन के समान कई अन्य रेलवे-स्टेशन हैं। हर स्टेशन से लोग इसी प्रकार बाहर जाते हैं। इस दफ़ा बैंक हालिडे के दिन



[ब्राइटन का 'रायल पेविलियन']

तापमान ९०·५° था। इससे पहले दिन ७१·° था। कहा जाता है कि इस शताब्दी में इँग्लेंड का ताप कभी इस दर्जे तक नहीं पहुँचा था। परिणाम यह हुआ कि लंदन से पहले सालों की बनिस्बत बहुत ही ज़्यादा मनुष्य बाहर चले गये। बैंक हालिडे को दोपहर तक साठ हज़ार मनुष्य सिर्फ़ सौथ-एंड को गये और चालीस हज़ार हेस्टिंग्ज़ को। ब्राइटन के लिए हर दस मिनट के बाद यात्रियों से भरी एक रेलगाड़ी जाती थी। इनके अतिरिक्त हज़ारों मनुष्य मोटरों, बसों और बाइसिकलों पर ऐसे स्थानों को जाते, दिन भर वहाँ रहते और रात फिर लंदन में आ गुज़रते।

ब्राइटन में समुद्र का किनारा कई अहातों में बँटा हुआ है। एक अहाते में स्त्री, पुरुष और बच्चे नहानेवाले जाँघिये पहने बैठे हैं। थोड़ी देर पानी में नहाते हैं, फिर बाहर रेत पर आ जाते हैं। पानी के बाद धूप में सूर्य-स्नान करते हैं। अमीर लोग अपने-अपने होटलों में बैठे-बैठे किनारे पर का दृश्य देखते हैं। (यह मेला अधिकतर मध्यवित्त और निचली श्रेणी के लोगों का होता है)। ब्राइटन का 'बीच' एक मील के लगभग लम्बा है। लाखों मनुष्य इस बीच पर दिन भर नदी की लहर के समान इधर-उधर फिरते रहते हैं। परन्तु 'डिसिप्लिन' इस हद तक पाया जाता है कि न कहीं किसी का दूसरे से झगड़ा होता है, न ग़ुस्से, घृणा या बेतमीज़ी का इज़हार। इस सारे समूह में चलते-फिरते, बातचीत करते हर एक मनुष्य के दिल में दूसरों के लिए विशेष प्रकार के मान का विचार पाया जाता है। कहीं एक का पाँव दूसरे के साथ छूआ नहीं कि उसने वहीं खेद प्रकट किया। जहाँ भी एक मनुष्य दूसरे के लिए रास्ता देता है, वहीं पहला मनुष्य दूसरे को धन्यवाद देता है। दूसरों के लिए विशेष प्रकार से यह मान और कृतज्ञता का भाव पश्चिमी जातियों की एक विशेषता है।

'बीच' पर लगे बाज़ारों की क़तारों में, और ख़ास पियर पर भी, ऐसे सामान मौजूद रहते हैं जो मेले के यात्रियों के लिए मनोरंजन और खेल की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। पियर पर आप चले जाइए। उसके एक हिस्से में मशीनों की पंक्तियाँ खड़ी हैं। ये मशीनें जहाँ उनके मालिकों के लिए आय के साधन हैं, वहाँ बच्चों और लोगों के लिए एक प्रकार के खेल और शिक्षा प्रस्तुत करती हैं। शक्ल और क़द में ये मशीनें क़रीब-क़रीब उसी तरह की होती हैं, जैसी

कि हमारे यहाँ वज़न करनेवाली कलें देखी जाती हैं। इँग्लेंड में इस कल का बहुत अजीब इस्तेमाल होता है। आज-कल कई स्थानों में अख़बार बेचनेवाले हाकरों के बजाय चौक में एक कल रख दी जाती है, जिसमें एक पेनी डालने से जो चाहो सो अख़बार मिल जाता है। रेलवे-स्टेशन पर खड़ी यह कल दो-चार पेंस डालने पर चाकलेट का पैकट या फलों की एक छोटी-सी टोकरी पेश कर देती है। भारत में ये कलें अभी बहुत कम शहरों में पहुँची हैं। पश्चिमी देशों में इनका इस्तेमाल प्रायः रेलवे-स्टेशनवाले करते हैं। आप उसके अन्दर एक आना डाल देते हैं और झट से प्लेटफ़ार्म टिकट निकल आता है। लेकिन ऐसे मेलों में विभिन्न कलें या मशीनें विभिन्न कामों के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। कहीं पेंस डालने से मनुष्य लकड़ी के बने छोटे-छोटे खिलाड़ियों का तमाशा देख सकता है, कहीं घुड़दौड़ हो रही है तो कहीं फ़ुटबाल और क्रिकेट खेला जा रहा है, कहीं आग बुझानेवाला मोटर आग बुझा रहा है तो कहीं निशाना-बाज़ी सिखाई जा रही है। कई जगह ऐसा भी इंतज़ाम है कि जब पेंस डालने वाले का निशाना ठीक बैठता है तब पेंस बाहर निकल आते हैं। इन्हें वह चाहे तो फिर इस्तेमाल कर सकता है।

एक कल वहाँ ऐसी भी लगी थी जिसमें लकड़ी का एक बुत केमरा लिये खड़ा था। उसके नीचे ये शब्द लिखे थे—"आप एक पेनी डालिए। मैं आपकी एक्स-रे फ़ोटो खड़े-खड़े ही खींच कर दूँगा।" इसे देख कर मुझे अचम्भा-सा हुआ और मैंने एक पेनी डाल दी। तुरन्त एक कार्ड नीचे से निकल आया जिस पर हड्डियों के पंजर की एक तसवीर रक्खी थी। तब मुझे भी इस दिल्लगी का रहस्य मालूम हुआ। ऐसी ही कई और मशीनें थीं। एक पर लिखा था कि पेनी डालिए तो आपका अगला-पिछला सब हाल बता दिया जायगा। एक मशीन पर हाथ के पंजे का निशान बना था। इस पर अपना हाथ रख कर पेनी डालनी पड़ती थी। मेरे एक साथी ने उस पर अपना हाथ रख कर पेनी डाली। झट नीचे से एक कार्ड निकल आया जिस पर ये शब्द लिखे थे—"आपके सामने कई ख़तरे हैं। उनके लिए आपको एहतियात से काम लेना चाहिए। ख़ामख़ाह दूसरों पर शक मत करिए, शायद आप ग़लती पर हों। आपका जीवन लम्बा है। इसका अन्तिम भाग बहुत अच्छी तरह से गुज़रेगा। पचास बरस की आयु में आपको एक बीमारी होगी। आपके अन्दर जीवन-शक्ति के अतिरिक्त आकर्षण-शक्ति भी है। आपको एक शादी होगी। परिवार बहुत बड़ा होगा। मङ्गल और इतवार आपके लिए बहुत अच्छे दिन हैं। हर मास की दस, पन्द्रह और उन्नीस तारीखें मंगल और इतवार से भी अच्छी हैं। परन्तु एक दिक्क़त भी है। इसलिए अपने घर के प्रबन्ध में आपको बड़ी होशियारी से काम लेना चाहिए।"

परन्तु इन सभी मशीनों में सबसे ज़्यादा दिलचस्प एक बोलनेवाली मशीन थी जो एक लम्बी और युक्तियुक्त वक्तृता करती रहती थी। इस कल का नाम मालिक ने "मास्टर ब्रेन" रक्खा था। हर मनुष्य के उसके पास जाने पर वह क्या कहती थी, यह भी सुनिए—"मैं आपके चाल-चलन के बारे में हर एक बात बता सकता हूँ। आप सोचते क्या हैं! इससे बढ़कर आपको कोई मौक़ा नहीं मिलेगा। मैं मास्टर ब्रेन हूँ, आपके सम्बन्ध को आपको सब बातें बता दूँगा। ओहो, आप तो यों ही पसोपेश में पड़ गये। अच्छा, अगर आप एक पेनी भी नहीं ख़र्च करना चाहते तो ज़रा यहाँ से तशरीफ़ ले जाइए। दूसरों को आने दीजिए ताकि वे मुझसे लाभ उठा सकें।"

अब की मेरे साथी ने इस मास्टर-ब्रेन से लाभ उठाना उचित न समझा! उन्होंने कहा—"पहले ही एक मास्टर-ब्रेन से धोखा खा चुका हूँ, अब तुम नहीं धोखे में फँसा सकते।"

इस पर मैंने ज़रा गम्भीर-सा मुँह बना कर कहा—"हाँ साहब, आपने धोखा बहुत खाया है। एक पेनी का आपने नाहक़ ख़ून कर दिया।"

वे हँस पड़े। हम आगे चल दिये।

मोतीबाई

श्री भारतीय, एम० ए०

हम लोग पागलखाने से चलनेवाले ही थे कि मेरी दृष्टि आँगन के कोने में खड़े एक लम्बे-पतले व्यक्ति पर पड़ी। वह रह रह कर किसी काल्पनिक कुत्ते को पुकारने की भावभङ्गी कर रहा था। बड़ी मधुर प्रेममयी वाणी में वह कह रहा था—"मोती, मोती आ आ। मेरी मोती। मोती बाई-ई-ई।" और अपने पैरों को इस प्रकार पटकता था मानो वह उस पशु का ध्यान आकर्षित कर रहा हो। मैंने डाक्टर से पूछा—"इसे क्या हुआ है?" उसने उत्तर दिया—"अजी, कोई ख़ास बात नहीं है। यह एक कोचवान था जो कुत्ते के पीछे पागल हो गया है। इसका नाम फेकू है।"

मैंने आग्रह किया—"कृपा कर इसका हाल सुनाइए। रोज़मर्रा की साधारण घटनायें कभी कभी हमारे हृदय पर बड़ा प्रभाव डालती हैं।"

उसके साथी साईस ने उस व्यक्ति की कहानी इस प्रकार सुनाई—

प्रयाग नगर के बाहरी भाग में मध्यम श्रेणी का एक धनी परिवार रहता था। उनके पास गंगा-तट पर एक बाग़ और उसमें एक सुन्दर बँगला था। यह फेकू उन्हीं का कोचवान था। यह देहाती लड़का था। गँवार था, पर दिल का साफ़, सीधा-सादा और बुद्धू।

एक दिन अपने मालिक के घर लौटते समय एक कुत्ता उसके पीछे लगा। पहले उसने कुछ ध्यान न दिया, पर कुत्ते को ठीक अपने पीछे लगे देख वह घूम पड़ा। उसने ग़ौर से देखा। शायद वह कुत्ते को पहचानता हो। पर नहीं, कुत्ता परिचित न था।

वह कुत्ता इतना दुबला था कि उसे देखकर डर लगता था। उसके थन बहुत नीचे लटक रहे थे। वह कुतिया थी। कुतिया उसके पीछे चली आ रही थी। उसकी आँखों से दीनता और विषाद टपक रहा था। वह टाँगों के बीच दुम दबाये, कान सिकोड़े उसके पीछे चली आ रही थी। जब वह रुकता, वह रुक जाती। जब वह चलता, वह पीछे हो लेती।

फेकू ने पहले उसको भगा देना चाहा। "दुत, दुत, दुत, दु...त" उसने कहा। वह दो-चार क़दम लौट पड़ी। फिर बैठकर प्रतीक्षा करने लगी और जब वह कोचवान चलने लगा, कुतिया उसके पीछे हो चली।

उसने झुक कर ढेला उठाने का उपक्रम किया। कुतिया अपने थन लदफदाती हुई थोड़ी दूर भाग गई। परन्तु फिर ज्यों ही कोचवान लौटा, वह भी लौट पड़ी और लगी पीछे पीछे चलने।

अब फेकू को उस पर दया आ गई। उसने उसे पुकारा। डरती हुई वह उसके पास पहुँची। उसकी पीठ झुक कर कमान हो गई थी। उसकी पसलियाँ चमड़े के भीतर गिनी जा सकती थीं। कोचवान ने उसकी ठठरी को थपथपाया और उसकी हीन दशा पर दुखी होकर कहा—"अच्छा, आ, आ, आ" उसने दुम हिलाई। वह समझ गई कि उसका स्वागत हुआ है, वह शरण में ले ली गई है। नये मालिक के पैरों के पास न रुक कर अब वह उसके आगे आगे दौड़ने लगी।

फेकू ने उसे अस्तबल में पुआल पर स्थान दिया और रसोई में उसके लिए रोटी ढूँढ़ने चला। जब

वह भर पेट खा चुकी, जा कर सो गई......गुम-टिया कर।

दूसरे दिन कोचवान ने अपने मालिक से उसका ज़िक्र किया। मालिक ने कुतिया को पड़े रहने की अनुमति दे दी। वह अच्छी कुतिया थी—समझदार और वफ़ादार।

परन्तु शीघ्र ही लोगों ने उसमें एक भयानक दोष देखा। वह साल के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रेम की पीड़ा से पीड़ित रहती। थोड़े ही दिनों में उसने आस-पास के सभी कुत्तों से परिचय प्राप्त कर लिया। सब उसके आवास के चारों ओर रात-दिन चक्कर काटा करते। वेश्याओं की भाँति निर्लिप्त भाव से वह सबकी ख़ातिर करती। सभी से प्रेम जत-लाती। फलतः कुक्कुर-वंश के सभी छोटे-बड़े, दुबले-पतले, भूरे-काले, चितकबरे, बूंचे-दुमवाले, भाँति भाँति के अनेक झुंड के झुंड उसके पीछे लगे रहते। वह उन्हें लेकर सड़क को छोड़कर गलियों की सैर करती। जब वह साये में ठहर कर सुस्ताने लगती तब उसके प्रेमी उसे चारों ओर घेर कर खड़े हो जाते और अपनी अपनी जीभ लटका कर उसकी ओर टकटकी लगाये रहते।

मुहल्ले के लोग इस कुतिया को विचित्र वस्तु सम-झते थे। ऐसी कुतिया उन्होंने कभी देखी-सुनी नहीं थी। पशु-चिकित्सकों के लिए वह एक पहेली थी।

जब वह शाम को अस्तबल को लौटती, कुत्तों का जत्था उसके घर को घेर लेता। उन सबने बग़ीचे की बाड़ के प्रत्येक छेद से अपना रास्ता बनाया, क्यारियों का तहस-नहस कर डाला, गमले गिरा कर तोड़ डाले, फूलों की जड़ में गड्ढे बना डाले, और माली की नाक में दम कर डाला। वे रात भर चिल्लाते, रोते और अपनी प्रियतमा के मकान के चारों ओर चक्कर काटते। कोई उपाय उन्हें भगाने में कारगर न होता।

दिन में तो वे घर में घुस जाते। कुछ पूछिए नहीं... बस आफ़त थी, नाक में दम था, लाइलाज बला थी।

जहाँ देखिए, जब देखिए कोई न कोई कुत्ते के साहबज़ादे सामने हाज़िर हैं। कोई सीढ़ी से उतर रहा है तो उसे आधे रास्ते चढ़ते हुए कोई भैरव का वाहन मिल जाता। बैठक में दो-एक काले-गोरे चौकी के नीचे छिपे रहते। रसोई में प्रवेश करने की घात में कोई ताक लगाये बैठा रहता। सारांश यह कि बस आफ़त थी, आफ़त। औरतें चीख़ पड़तीं। लड़के उनके डर के मारे गिर कर अपना हाथ-पैर तोड़ बैठते।

आस-पास के महल्लों, बस्तियों से और जाने कहाँ कहाँ से ये कुत्ते बराबर आते रहते, दो-एक दिन ठहरते। जाने क्या खाकर रहते और फिर ग़ायब हो जाते।

जो कुछ भी हो, पर फेकू कुतिया को मानता था। वह उसे मोतीबाई कह कर पुकारता वह प्यार करने के योग्य थी। फेकू बार बार उसके बारे में कहता—"कुत्ते भी जीव हैं। वे भी प्राणी हैं। सिर्फ़ बोलते भर नहीं।"

फेकू ने उसके लिए पट्टा बनवा दिया।...लाल चमड़े का—उस पर पीतल का पत्तर जड़ा था। उसने उस पर लिखवाया—"मोतीबाई...मालिक फेकू कोचवान।"

मोती मोटी हो गई। वह उतनी ही मोटी दीख पड़ती थी, जितनी पहले दुबली थी। उसका शरीर फूल गया। उसके थन नीचे लटकते थे। उसे चलने में कठिनाई होने लगी। उसके पंजे उसके शरीर के बोझ के नीचे फैल जाते। यदि वह दौड़ने का प्रयत्न करती तो जल्दी ही थक कर बैठ जाती।

उसमें एक और विचित्र बात देखने में आती थी। साल में चार बार बच्चे देती। ढेर के ढेर और रंग-बिरंग के। फेकू उनमें से एक को चुन कर दूध पीने को रहने देता और शेष को अपने कम्बल में छिपा कर गंगा में फेंक आता। उसे किसी प्रकार का संकोच न होता और न दया ही आती।

माली पहले से ही शिकायत किया करता था। अब रसोइया भी उसका साथ देने लगा। उसकी

रसोई में कुत्ते घुसने लगे। कोई कुछ उठा ले जाता था, कोई कुछ। जो कुछ मिलता, आँख बचा कर उठा कर चलता होता।

फेकू के मालिक अब बरदाश्त न कर सके। उन्होंने आज्ञा दी कि "मोती को तुरन्त देश-निकाला दो।" फेकू बड़ी परेशानी में पड़ा। वह उपाय सोचने लगा। सोचा, किसी को दे आऊँ। पर कोई उसे रखने को तैयार न होता। उसने सोचा, ले जाकर कहीं छोड़ आऊँ। संयोग से एक लारीवाला उसका दोस्त था। उसके कहने पर वह मोती को लारी पर चढ़ा कर शहर के बाहर दूर छोड़ आया। संध्या होते होते मोती अपने मकान पर लौट आई।

अब कुछ और उपाय सोचना पड़ा। फेकू ने पैसे ख़र्च कर उसे एक मित्र के हाथ रेल पर दूर भेजा। उस बेचारे ने ले जाकर उसे फ़तहपुर में छोड़ दिया।

तीन दिन बाद देखा गया तो मोतीबाई अपने अस्तबल में हाज़िर है।

अब मालिक को भी दया आ गई। उसने अधिक आग्रह न किया। मोतीबाई के मित्रवर्ग अब फिर रोज़ आने-जाने लगे। उनकी संख्या भी बढ़ी। उनकी शेख़ी भी बढ़ गई। एक दिन मालिक के यहाँ मित्रों की दावत थी। मोतीबाई के किसी मनचले मित्र ने मुर्ग़ मसल्लम पर छापा मारा और लेकर चम्पत हुए। रसोइये की हिम्मत न पड़ी कि उसका सामना करे।

अब मालिक माफ़ न कर सके। उन्होंने तुरन्त फेकू को बुला कर क्रोध से कहा—"देखो अगर सवेरा होने के पहले तुम इस कुतिया को गंगा में नहीं सेरवा (फेंक) आये तो अपना जवाब समझना। सुना।"

फेकू पर मानो वज्र गिर पड़ा। उसने अपनी नौकरी छोड़ देने का निश्चय किया। वह अपनी कोठरी में पहुँच अपना असबाब समेटने लगा। फिर उसे ध्यान हुआ—"इस कुतिया को लेकर मैं कहाँ रहने पाऊँगा। यहाँ का पुराना नौकर हूँ। वक़्त पर तलब मिलती है। कपड़ा मिलता है। अमीर घराना है। अच्छे लोग हैं। एक कुतिया के लिए सब कुछ त्याग देना उचित नहीं।" उसे अपने स्वार्थ का ध्यान हो उठा। उसने कुतिया से ही पिंड छुड़ाने का निश्चय किया।

उसे रात भर नींद नहीं आई। बड़े तड़के वह उठ बैठा, एक मज़बूत रस्सी ली और कुतिया को ढूँढ़ने चला। वह धीरे से पुआल के बिस्तर से उठी। कान फटफटाये, अँगड़ाई ली और अपने मालिक के पास पहुँची। फेकू की हिम्मत टूट गई। वह उसे प्रेम से थपथपाने लगा। लगा उसके शरीर पर हाथ फेरने। उसका सिर अपनी गोद में लेकर वह उसे प्रेम से पुचकारने लगा। वह अगले पैरों को उठा कर उसका मुँह चाटने का प्रयत्न करने लगी। उसकी दुम मोरछल की भाँति हिल रही थी।

सवेरे का गोला गरज गया। अब वह देर नहीं कर सकता था। उसने द्वार खोला। "मोती मोती" उसने पुकारा। कुतिया दुम हिलाने लगी। उसने समझा मानो बाहर चलना है।

वे दोनों नदी-तट पर पहुँचे। फेकू ने एक स्थान निश्चय किया, जहाँ पानी गहरा था। उसने रस्सी का एक सिरा मोती के सुन्दर पट्टे में बाँधा, दूसरा एक भारी पत्थर के ढोंके से। उसने मोती को गोद में उठा लिया। और उसे ज़ोर से चूमने लगा, मानो वह किसी आत्मीय से बिदाई ले रहा हो। उसका गला उसने ज़ोर से पकड़ लिया और उसे "मोती! मेरी मोती" कह कर दुलारने लगा। मोतीबाई हर्ष से गुर्रा रही थी। उसके आनन्द का अन्त नहीं था।

फेकू ने कई बार उसे पानी में फेंकने का प्रयत्न किया, पर उसका साहस साथ न देता था।

उसने एकाएक निश्चय किया और अपनी सारी शक्ति लगा कर उसे दूर पानी में फेंक दिया। कुतिया ने तैरना चाहा, पर उसका सिर पत्थर के बोझ से रह रह कर पानी में डूब जाता। उसने मालिक की ओर

निराशा भरी कातर दृष्टि से देखा मानो कोई डूबता हुआ व्यक्ति तट पर खड़े हुए किसी व्यक्ति को देख रहा हो। वह प्राणों के लिए लड़ रही थी। उसका अगला भाग पानी के भीतर था, पिछली टाँगें पानी पर फटफटा रही थीं। थोड़ी देर तक वे दिखाई पड़ीं और फिर वे भी डूब गईं।

पाँच मिनट तक पानी के तल पर बुलबुले दिखाई पड़े, मानो नदी उबल रही थी। फेकू घबराया हुआ, हतबुद्धि खड़ा था। उसका दिल ज़ोरों से धड़क रहा था। उसकी आँखों के सामने मानो मोती अभी तक छटपटा रही थी।

उसने गँवारों की भाँति कहा—"वह अपने मन में क्या सोचती होगी? हा! बेचारी मोती।"

कोचवान अपने होशहवास खो बैठा। महीने भर तक चारपाई में लगा रहा। नित्य रात्रि में वह मोती कुतिया का स्वप्न देखता। उसे जान पड़ता मानो मोती उसका हाथ चाट रही है। उसके भूँकने के शब्द मानो उसके कानों में पड़ रहे हों।

लोगों ने डाक्टर बुलाया। कुछ दिनों में वह अच्छा हो गया। उसका मालिक उसे अपने इलाक़े पर ले गया। यह प्रयाग के आगे दूर गंगा-तट पर था।

फेकू वहाँ गंगा नहाने जाता। नित्य सवेरे वह अपने साथी साईस को ले तट पर पहुँचता। नहाता और ख़ूब तैरा करता।

एक दिन वे पानी में अठखेलियाँ कर रहे थे। एकाएक फेकू चिल्ला उठा—"देख बे क्या बहा चला आ रहा है। तेरे खाने भर को है।"

एक भारी फूली हुई, बाल-रहित, लाश बहती चली आ रही थी। उसके पंजे आसमान की ओर उठे हुए थे। फेकू उसके समीप पहुँचा। मज़ाक में उसने कहा—"तेरी क़सम मैकू...बड़ी भारी है। बड़ा शिकार हाथ लगा। ले चल, भर पेट खाना।" वह लाश के चारों ओर तैरने लगा।

एकाएक वह चुप हो गया। आँखें फाड़ कर वह लाश को देखने लगा। अब वह उसके समीप पहुँचा जैसे उसे पकड़ना चाहता हो। उसने ग़ौर से उस लाश के गले के पट्टे को देखा। फिर उसे अपने समीप खींच कर उस पर लिखा हुआ कुछ पढ़ने लगा। पीतल के चद्दर पर लिखा था "मोतीबाई... मालिक फेकू कोचवान।"

मोती मरने के पश्चात् भी अपने मालिक से मिली थी और अपने प्रयागवाले मकान से बीसों कोस की दूरी पर!

फेकू एकाएक ज़ोर से चिल्लाने लगा। उसकी आवाज़ भयातुर थी, वह तट की ओर बड़ी तेज़ी से तैर रहा था, मानो कोई घड़ियाल उसका पीछा कर रहा हो। वह तट पर पहुँचा और पानी से निकल कर बेतहाशा भागा—गीले कपड़े पहने, कीचड़ में लथपथ।

वह पागल हो गया था।

कहानी

श्री मदनमोहन मिहिर

रचते हम नया कथानक,
कह कहकर बात पुरानी।
अपनी अपनी यात्रा में—
तज जाते एक निशानी।

आते फिर रूप बदलकर,
नूतन अभिनय कर जाते।
हम हैं कुछ अजब तमाशा,
दुनिया है एक कहानी।

कर्त्तव्य क्या है ?

पंडित कृष्णकान्त मालवीय



पिछले मास की 'सरस्वती' में पण्डित प्रकाशनारायण सप्रू ने 'भारत की वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था' शीर्षक एक लेख लिखा है। लेख को मैंने एक बार नहीं, दो बार पढ़ा है और हर बार ही मेरे मुँह से बरबस यह शेर निकल पड़ा—

"इधर आओ मैं सदके
इस अदाये चारहसाज़ी के,
पसीना मौत का है औ
हवा देते हैं दामन से।"

अपनी बातों को कहने के पहले मैं श्री प्रकाशनारायण जी के ही लेख से कुछ अंशों को उद्धृत कर देना चाहता हूँ।

१ भारतीय कांग्रेसवालों ने जहाँ तक कर सकते थे, बुरा से बुरा किया, परन्तु उससे गवर्नमेंट का शासनचक्र नहीं रुक सका और कांग्रेस के संगठन के निर्बल पड़ जाने से उनकी वह भावना यहाँ तक बढ़ गई है कि कुछ दृढ़ता भर आवश्यक है और वह दृढ़ता स्थिति को पूर्ववत् बनाये रख सकती है।

२ जो तत्त्वतः प्रभुता नहीं है, ह्वाइटपेपर भारतीय व्यवस्थापक सभा को उन्हीं अधिकारों को हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव करता है। और जो वस्तुतः शासन का अधिकार है वह अँगरेज़ों के हाथों में रहेगा। अतएव ह्वाइटपेपर के शासन-विधान का यह लक्ष्य जान पड़ता है कि वह डोमिनियन स्टेटस नहीं होगा, किन्तु एक प्रकार की साझेदारी या संरक्षा का शासन होगा। नये शासन-विधान का उद्देश जैसा कि स्वयं सर सैमुएल होर ने स्वीकार किया है, यह है कि उन्नत विचार के भारतीयों के विरुद्ध एक शक्ति खड़ी की जाय।

३ नये शासन-विधान के काल में अँगरेज़ी संगीनों की सहायता-प्राप्त प्रगति-विरोधी सत्वों की भारतीय बनाई गई सरकार के द्वारा भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया जायगा, जिसे हमें रोकना चाहिए।

४ अतएव यदि सम्भव हो तो कांग्रेस के भीतर एक उन्नतिशील दल का होना आवश्यक है, जो वास्तविक बातों का सामना करते हुए साम्प्रदायिक और अधिकार-वाले हितों के मेल-द्वारा विनष्ट किये जाने से इस देश के प्रजातन्त्रात्मक आन्दोलन के बचाने का प्रयत्न करेगा।

५ यह स्पष्टतया निश्चित है कि ह्वाइटपेपर के प्रस्तावों के निर्देशानुसार किसी भी तरह के शासन-विधान पर पार्लियामेंट अपनी स्वीकृति देगी। ये प्रस्ताव चाहे कुछ भी करने या न करने में समर्थ हों, राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाने के साधन बनाये जा सकते हैं।

६ परन्तु मैं यह बात ज़रूर कहता हूँ कि सत्याग्रह की पद्धति पर्याप्त दृढ़ नहीं सिद्ध हुई है कि वह तुरन्त या काफ़ी दबाव उन लोगों पर डालती जिनके हाथों में अधिकार है। फलतः उसे विरोध का सामना करना पड़ेगा। और इस देश की स्वाधीनता की स्वीकृति धीरे धीरे और कष्ट के साथ विकसित होगी।

इन उद्धरणों से यह सिद्ध है कि लेखक महोदय उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन के स्थापित होने में कितनी कठिनाइयाँ

हैं इसका अनुभव करते हैं। इसके साथ ही साथ लेखक महोदय की बातों से यह भी सिद्ध है कि वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं और जानते हैं कि नये शासन-विधान में उन बातों का ही आयोजन होगा जिनसे भारत की आभा कभी स्वतन्त्र न हो सके। इन बातों को देखते हुए जब हम देखते हैं कि लेखक ने कौंसिलों और असेम्बली में प्रवेश को देश के लिए महोषधि समझ रक्खा है तो आश्चर्य से यही कहना पड़ता है कि लेखक ने पहाड़ को खोद कर केवल एक चुहिया को उसमें से निकाला है। कौंसिलों में जाना या न जाना इस लेख का तात्पर्य नहीं है और इसलिए इस सम्बन्ध में मैं कुछ कहना उचित नहीं समझता। मैं कौंसिल-प्रवेश के ख़िलाफ़ हूँ, यह भी नहीं है। और न मैं यही कहता हूँ कि कौंसिल में जाना नितान्त आवश्यक है। सप्रू जी के लेख को पढ़ कर यह सवाल ज़रूर सामने खड़ा होता है कि उनके ही कथनानुसार जिस ध्येय की सिद्धि में सत्याग्रह की पद्धति पर्याप्त दृढ़ नहीं सिद्ध हुई क्या उस उद्देश की सिद्धि कौंसिलों में प्रवेश या उनमें अवाञ्छित लोगों को न जाने देने से हो जायगी। लेखक महोदय ख़ुद ही कहते हैं कि अँगरेज़ लोग सङ्गठित और सुव्यवस्थित हैं। वे भारत जैसे विशाल देश पर अपना प्रभुत्व अधिक समय तक बनाये रखने के उपायों के ढूँढ़ने की कला में अति निपुण हैं। लेखक महोदय यह भी कहते हैं कि इस नये शासन-विधान से इस बात का डर है कि न्यस्त स्वार्थवालों और साम्प्रदायिकों की सहायता से राष्ट्रीयतावादी भारतीयों की सम्पत्ति तथा उन्नतमुख राष्ट्रीय विचारधारा के उन्मूलन करने का प्रयत्न किया जायगा।

प्रकाशनारायण जी ने यह भी लिखा है कि सर सेमुअल होर ने यह स्वीकार किया है कि नये शासन-विधान का उद्देश यह है कि उन्नत विचार के भारतीयों के विरुद्ध एक शक्ति खड़ी की जाय। मेरा प्रश्न लेखक महोदय से इतना ही है कि कौंसिलों के प्रवेश से इस शक्ति का खड़ा होना कैसे रोका जा सकता है। हमारे सामने अँगरेज़ सरकार, अँगरेज़ व्यापारी, हमारे राजे-महाराजे, ताल्लुक़ेदार और सभी पैसेवालों का एक सम्मिलित गुट होगा। क्या इस गुट का मुक़ाबला कौंसिल-प्रवेश से हो सकेगा ? लेखक ने लिखा है कि नये-शासन-विधान के काल में अँगरेज़ी सङ्गीनों की सहायता-प्राप्त प्रगति-विरोधी सत्वों की भारतीय बनाई गई सरकार के द्वारा भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया जायगा। मैं पूछता हूँ कि क्या इन सङ्गीनों का मुक़ाबला कौंसिलों के द्वारा प्रकाशनारायण जी करेंगे ? सप्रू जी दाव-पेच की बात के हामी हैं। वे किसी एक विधि के आग्रह के विरोधी हैं। मेरा कहना भी यही है कि दाव-पेच और नये नये पैतरों से काम लेने में ही देश का कल्याण है। सवाल यह है कि न्यस्त स्वार्थवालों की शक्ति का विरोध कैसे किया जाय ? मेरा जवाब छोटा-सा इतना ही है कि निहित स्वार्थवालों का विरोध स्वार्थविहीनों ही से कराया जा सकता है। अमीरों का सहज विरोध ग़रीबों-द्वारा हो सकता है। और भरे पेटवाले ख़ाली पेटवालों से ही परास्त हो सकते हैं। अगर लेखक महोदय का ख़याल यह है और मेरी राय में इनका ख़याल सही है कि भावी शासन सङ्गीनों, निहित स्वार्थवालों, साम्प्रदायिकों और पूँजीपतियों की सहायता से चलाया जायगा और उनके द्वारा उन्नत विचारवाले दबाये जायँगे तो मेरा निवेदन यह है कि दाव-पेच और पैंतरेबाज़ी इस बात की अपेक्षा करती है कि ग़रीबों से, श्रमिकों से, मज़दूरों से और किसानों से यह कहा जाय कि देश उनका है, ईश्वर ने संसार की सभी विशेषतायें और विभूतियाँ उनके लिए ही पैदा की हैं। ईश्वर की नज़रों में उसकी समस्त सन्तान एक समान है। उसने कोई चीज़ ऐसी नहीं पैदा की जिस पर उसके ग़रीब सन्तानों का वैसा ही प्रभुत्व न हो, जैसा कि उसके अमीर बच्चों का। सङ्घ-शक्ति का मुक़ाबला सङ्घ-शक्ति ही के द्वारा किया जा सकता है।

व्यापारियों की सूझें

श्रीयुत भगवानदास अवस्थी



यह आर्थिक संकट का युग है। संसार त्राहि त्राहि पुकार रहा है। ऐसे हाहाकारी काल को भी चुनौती देकर कतिपय कर्मवीर व्यापारी अपने अपने कारबार को न केवल जीवित रखने में ही समर्थ हो रहे हैं, बरन उत्तरोत्तर उन्हें बढ़ाते जा रहे हैं। उन्हीं की समयोचित सूझों के कुछ उदाहरण पाठकों के सामने उपस्थित किये जाते हैं।

१५००० पौंड की अनायास बचत

एक कपड़े की दूकान में कोई दो सौ युवतियाँ काम करती थीं। प्रतिसप्ताह उनको क़रीब ६५० पौंड वेतन देना पड़ता था और दूकान के अन्य कर्मचारियों को २५० पौंड। समय ने अपना रंग दिखाना प्रारम्भ किया। खर्च में बिना कमी किये काम चालू रखना असंभव-सा देख पड़ने लगा। किन्तु न तो गुंजाइश थी कर्मचारियों के वेतन में कमी की जाने की और न उनमें से किसी एक को भी काम से पृथक् करने की ही। बड़ी कठिन समस्या थी। पर कम से कम २० पौंड प्रतिसप्ताह खर्च में कम होना अनिवार्य था।

बहुत सोच-विचार किया गया। पर कोई उपाय न सुझाई दिया। अन्त में काम बन्द करने की बात आई। पर "जिन खोजा तिन पाइयाँ" के अनुसार एक बात निकल ही आई।

सोचा गया, प्रत्येक व्यक्ति का जो निजी व्यय है, यदि उसमें सब या अधिकांश व्यक्ति मिल कर कमी करें तो बहुत कुछ बचत हो सकती है। इसकी परीक्षा की गई। एक बड़ा स्थान किराये पर लिया गया। दूकान में काम करनेवाले अधिकांश व्यक्ति जिनके सामने कोई ख़ास अड़चन न थी, उस मकान में आकर रहने लगे। रोज़ के काम में आनेवाले सभी छोटे-बड़े सामान इकट्ठे थोक भाव पर ख़रीदे जाने लगे। भोजन एक साथ बनने लगा। नौकर-चाकर भी सब सम्मिलित रूप में रक्खे गये। फलतः बहुत गुंजाइश होने लगी। वैसे किसी भी व्यक्ति को अपने निजी तौर पर किसी भी तरह उचित रीति से रहने आदि का पूर्ण अधिकार था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं डाली गई थी। किन्तु एक साथ सब काम होने से क़रीब १०० पौंड प्रतिसप्ताह की बचत अनायास होने लगी। इस प्रकार प्रतिवर्ष यह १५००० पौंड की गुंजाइश निकल आई। दूकान बजाय बन्द होने के उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगी।

क्या भारतीय दूकानवाले भी कभी इस प्रकार पारस्परिक सहयोग-द्वारा अपनी बिगड़ती हुई दशा को सुधारने का प्रयत्न करेंगे?

एक बालक की सूझ से ग्राहकों की वृद्धि

एक व्यापारी का व्यापार ख़ूब चल रहा था। देखते देखते आर्थिक संकट ने उसका भी गला घोंटना शुरू किया। एक एक करके ग्राहक कम होने लगे। व्यापारी बहुत ही घबराया। बहुत युक्तियाँ कीं, पर एक भी काम न आई।

व्यापारी के एक १५-१६ वर्ष का लड़का था। पढ़ने के साथ ही वह दूकान का भी काम देख लिया करता था। अपने पिता को सोच में सूखते हुए देखकर एक दिन उसने कहा—पिता जी, आप चिन्ता न करें। मैं दूकान में ग्राहकों की बाढ़ ला दूँगा।

दूसरे दिन शहर भर में छोटे-छोटे नोटिस सज-धज के साथ बाँटे गये और ख़ूब ज़ोरों से बाँटे गये। उस नोटिस में लिखा था—

अब आपकी चिन्ता दूर हुई ?

आप हमारे पुराने ग्राहक हैं। अब तो हमने आपकी सेवा करने की ठान ली है। हमने आपकी अड़चनों को दूर करने का ज़िम्मा ले लिया है। अस्तु यदि आप—

(१) बाज़ार में घूमते घूमते थक गये हैं तो आकर विश्राम करें।

(२) धूप से व्याकुल हैं तो पंखे के नीचे आकर हवा लें।

(३) प्यास से बेचैन हैं तो आकर ठंडा ताज़ा मीठा पानी पियें।

(४) शीत सता रहा है तो धधकती हुई अँगीठी उपस्थित है।

(५) दूसरी जगहों का भी माल हम ख़ूब सहेज कर अच्छी तरह बाँध देंगे।

(६) यदि सामान ज़्यादा है, बोझ भारी है, तो हमारे छोकरे उसे आपके साथ पहुँचा देंगे।

(७) रेलों के आने-जाने आदि का समय, डाकख़ाना, ख़ज़ाना, बैंक आदि के संबंध की बातें, चीज़ों के भाव आदि सभी तरह की ज़रूरी किन्तु परेशानी पैदा करनेवाली बातों का पूरा पूरा पता आपको यहाँ लग जायगा।

तब फिर आप चिन्तित क्यों हैं!

एक बार हमारे यहाँ आने का कष्ट कीजिए।''

नोटिस ऐसा था कि उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता था। लोगों का ताँता बँध गया।

इधर सब तैयारी कर ली गई थी। जो जिस काम से आया उसका वह काम जहाँ तक हो सका, पूरा किया गया।

फिर जिसका कोई निजी काम दूकान से निकल जाय और वह उस दूकान से कुछ न कुछ काम पड़ने पर न ख़रीदे, यह सम्भव नहीं था। फिर कुशल बेचनेवाले दूकान में ग्राहकों को प्रभावित करने के लिए मौजूद ही थे! दूकान की बिक्री दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी।

एक बात और थी। लोग देर तक आराम से बैठकर दूकान का हर्ज न करें और नये आनेवालों को असुविधा न हो, इसका उपाय पहले से ही सोच लिया गया था। स्थान स्थान पर सुन्दर सजे हुए बड़े बड़े आकर्षक अक्षरों में लिख दिया गया था—

आपकी सुविधा किसमें है? दूसरों की असुविधाओं का ध्यान रखने और उन्हें दूर करते रहने की चेष्टा करने में ही तो।

ये हैं विदेशी व्यापारियों के सफल हथकंडे।

"नाच पड़ौसिन मोरे तो खरधर नाचौं तोरे"।

है तो गँवारू मसला, पर है बावन तोले पाव रत्ती विदेशी व्यापारियों की सहयोग-नीति का पूरी तौर से प्रकट करनेवाला।

तीन दूकानदार थे। एक डबल रोटीवाला, दूसरा मक्खनवाला और तीसरा दूधवाला। बिक्री कम होती देख तीनों को चिन्ता हुई। आपस में बैठकर विचार किया और एक दूसरे की सहायता के लिए तत्पर हो गये।

दूध और मक्खनवाले ने अपने मक्खन और दूध के ख़ूब चित्ताकर्षक विज्ञापन छपा कर रोटीवाले को इसलिए दिये कि वह उन्हीं में रोटी लपेट कर अपने ग्राहकों को दिया करे। इधर रोटीवाले ने दूध की बोतलों, टीनों, बाल्टियों, मक्खन के पैकेटों आदि पर अपनी रोटी के विज्ञापन बढ़िया से बढ़िया तर्ज़ पर लिखकर छपा दिये। फिर क्या था? जहाँ एक की चीज़ जाय, वहाँ दूसरे की चीज़ की माँग शुरू हो जाय। इस प्रकार सहयोग के द्वारा तीनों ने लाभ उठाना प्रारम्भ किया।

इसी सहयोग की नीति ने विदेशी व्यापारियों को संसार के व्यापार का पट्टा दे दिया है।

भारत में तो सहयोग का योग ही नहीं है। फिर व्यापार में वृद्धि हो तो कैसे हो?

बात की बात में दस लाख कैमरों की बिक्री!

जर्मनी की बात है। वहाँ आगफ़ा नाम का कैमरे का एक कारख़ाना है। १९३२ के पहले उसके माल की ख़ासी खपत थी। दिमाग़ आठवे आसमान में आराम कर रहा था। भारी दामों के पेचीदे कैमरों को छोड़कर साधारण कैमरे का ज़िक्र तक नहीं आ सकता था। भला कहीं सरल सस्ता कैमरा भी हो सकता है? उस समय

था 'एक-दम असम्भव।' ऐसी ऐसी चीज़ें उस समय सस्ती और सरल बन ही नहीं सकती थीं।

पर समय ने पलटा खाया। व्यापार का हाल कुछ का कुछ हो गया। कैमरे थे शौक़ की चीज़। पैसा कम हुआ। ख़रीद कम होने लगी। देखते देखते सन् १९३२ आया। भारी रक़म देकर कैमरा ख़रीदना सभी की शक्ति की बात तो थी नहीं। बिक्री बन्द होने लगी, अक़्ल ठिकाने आने लगी। देखते देखते कारख़ाना बन्द किये जाने की नौबत आ गई। पर आगफ़ावाले भारतीय तो थे नहीं! मौत से एक पकड़ हुई। दाव सच्चा बैठा। मौत चारों ख़ाने चित। आगफ़ा चिरंजीवी हो गया। कैसे? सुनिए।

ख़ूब सोच-विचार किया गया। यही निष्कर्ष निकला कि यदि सस्ते से सस्ता कैमरा बने और इतना साधारण हो कि अनजान भी उससे बढ़िया तसवीर ले सके तो संकट टलने की सम्भावना है। उसी के अनुसार सरल सस्ता कैमरा बनाया गया। सस्ता इतना था कि मामूली खिलौने का दाम लगता था। ख़ूब विज्ञापन किया गया। हर स्थान पर उससे तसवीर लेने के प्रयोग करके जनता को दिखलाये गये। बिक्री शुरू हुई।

पर पहले लोगों ने उसे एक मामूली खिलौना समझा। आगफ़ा ने स्वयं ही लोगों को बतलाया था कि सस्ता कैमरा कैमरा ही नहीं हो सकता। वह खिलौना भले ही हो। अब उस धारणा को मेटना कठिन काम था। किन्तु भगीरथ से पूरी पूरी और सच्ची शिक्षा ली है विदेशियों ने। भारतवासियों को इसकी परवा ही क्या! अस्तु आगफ़ा ने भारी भगीरथ प्रयत्न किया। जनता की धारणा पलट चली। उसने देखा, कैमरा खिलौना नहीं है। उससे तो बहुत ही आसानी से बढ़िया से बढ़िया चित्र लिया जा सकता है और सो भी नौसिखियों-द्वारा भी। फिर क्या था? देखते देखते दस लाख कैमरे उसी १९३२ के शेष होते होते बिक गये जिसमें आगफ़ा को अपनी असामयिक मौत के दिन गिनने पड़ रहे थे। "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः" इसी को कहते हैं।

कारख़ाना अमर हो गया। अब उसके सामने एक सवाल आया। वह था मौसम का। इस सस्ते कैमरे में यदि दोष था तो यही कि धुँधली रोशनी में, ख़राब मौसम में तसवीर अच्छी न आ सकती थी। कारख़ाने ने इस दोष को दूर करने की ठान ली। अन्वेषण शुरू हो गये।

एक कैमरा ऐसा निकाला जिसमें किसी भी और कैसे भी मौसम में बढ़िया तसवीर ली जा सकती थी। दाम सस्ते वाले से कोई ६।७ गुने ज़्यादा होते थे, पर चीज़ सौ गुनी अधिक अच्छी थी। ऊपर से एक बड़ी भारी रियायत यह थी कि जो ग्राहक चाहे सस्ता कैमरा लौटा कर यह नया कैमरा ले ले, उसे सस्ते के दाम मुजरा मिल जायँगे। इससे लोगों को बड़ा प्रलोभन मिला। दोनों तरह के कैमरे ख़ूब चालू हो गये। सस्ती चीज़ में पैसे जो कम लगते हैं। इसी से अमीर ग़रीब सभी ज़रूरत के बिना भी ख़रीद लेते हैं। कारण कि सस्ती चीज़ के दाम देना सभी के सामर्थ्य के भीतर की बात होती है। इसी से आज जापान संसार में क्रान्ति किये दे रहा है।

तसवीर लेने के लिए फ़िल्म का होना अनिवार्य है। अस्तु कैमरों की बिक्री तो बढ़ी ही, पर बढ़ी बिक्री फ़िल्मों की। साथ ही जो नौसिखिये और शौक़ीन तसवीर लेते हैं उनमें से अधिकांश उसके धोने-धाने आदि का काम लेते हैं पेशावर फ़ोटोग्राफ़रों से। स्वभावतः ही फ़ोटोग्राफ़रों को काफ़ी काम मिलने लगा। फिर वे क्यों न आगफ़ा के सस्ते कैमरों के प्रचार में जी-जान से प्रयत्न करते। आगफ़ा का प्रचार-कार्य अनायास संसार के कोने कोने में ज़ोरों से होने लगा।

भारतवर्ष में ही कई कई लाख कैमरे तथा अनगिनती फ़िल्मों की प्रतिवर्ष खपत होती है। सस्ते कैमरों का तो कहना ही नहीं है। क्या वह भी दिन आयगा जब कोई भारतीय कर्मवीर माई का लाल सस्ते, सुलभ कैमरे बनाकर अपना भी भला करेगा और देश का भी?

थोड़े हेर-फेर में लाखों का लाभ!

एक कारख़ाना है। नाम है जान नाइट लिमिटेड।

है संसार प्रसिद्ध लंदन में। आर्थिक संकट को विश्वव्यापी होते देख पहले तो वह दहल उठा।

किन्तु चुपचाप बैठने से तो काम चलता नहीं। उसने फ़ौरन ही अपनी नीति बदल दी। अपने सामानों को इतना बढ़िया और भड़कीला बनाया कि एक बार जो देखे वह लिये बिना न रह सके।

उदाहरणार्थ उसने अपने साबुन की बट्टी को पहले से कुछ बड़ी कर दिया। किन्तु इस ढँग से कि लागत तो नाम-मात्र को ज़्यादा लगे, पर लगे लोगों को वह बट्टी पहले से डेढ़ गुना बड़ी। इतना ही नहीं। बट्टी के ऊपर जो काग़ज़ लपेटा उसे ख़ूब ही भड़कीला और आकर्षक तथा सुगन्धित कर दिया। डिब्बे की पैकिंग भी जितनी ज़्यादा आकर्षक हो सकी बनाई और दाम कुछ घटा दिये।

साथ ही विज्ञापन ख़ूब धूम-धाम और ज़ोरों से किया। इधर काम करनेवालों की तनख़्वाहें बढ़ा दीं, कमीशनों में काफ़ी वृद्धि की। काम करनेवालों को विशेष अवस्था में पेंशिन देने की व्यवस्था की गई और रक्खे गये बिक्री और प्रचार पर ख़ासे इनाम। काम करने, बनाने और बिक्री करनेवालों ने जी-तोड़ परिश्रम करना शुरू किया। घर घर जान नाइट की वस्तुओं की पहुँच हो गई। बिक्री कई गुनी बढ़ गई। कारख़ाने को बजाय काम बन्द करने के उसे और बढ़ाना पड़ा। पहले से कई लाख ज़्यादा फ़ायदा होने लगा।

शेफ़ील्ड की गैस कम्पनी ने भी अपना कारबार इसी संकट-काल में बढ़ाया है। पहले दूसरी गैस कम्पनियों की तरह इस कम्पनी के गैस की भी बिक्री कम होने लगी थी। प्रबन्धकों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने एक राय होकर अपनी गैस के दाम कम कर दिये। साथ ही यह प्रबन्ध कर दिया कि उनके कर्मचारी घर घर कारख़ाने कारख़ाने जाकर जनता के सामने यह प्रदर्शन करें कि उनकी गैस से कितनी सरलता से और कितने कम ख़र्च में प्रकाश और ताप प्राप्त किया जा सकता है और लोगों को उनकी कम्पनी कितने अधिक सुभीते देने को तैयार है। इस उपाय से बहुत-से नये ग्राहक बनने लगे। इधर कारख़ाने में होनेवाली फ़िज़ूलख़र्ची और क्षय को रोकने का कड़ा प्रबन्ध किया गया। पहले बहुत-सी गैस नलियों के छेदों-द्वारा निकल जाया करती थी। इससे कम्पनी को काफ़ी हानि देनी पड़ती थी। इस क्षय को रोकने का प्रबन्ध किया गया। साथ ही अन्य प्रकार के ऐसे ख़र्च उड़ा दिये गये जो भार-स्वरूप थे। गैस भी ज़्यादा मात्रा में उन्नत उपायों-द्वारा तैयार की जाने लगी। इधर जनता के सुभीते के जो भी उपाय हो सकते थे किये-गये और जनता को ज़्यादा से ज़्यादा सहूलियतें दी गईं। फल यह हुआ कि बजाय घाटे के कई गुना ज़्यादा लाभ होने लगा।

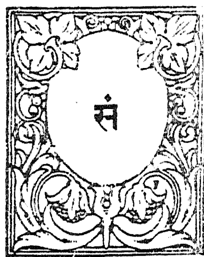
ऐसे ऐसे अनगिनती उदाहरण मौजूद हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विदेशी कारबारी किस प्रकार अपनी उन्नति कर रहे हैं। जापान ने तो कमाल ही कर दिया। जापान के जागते जादू से संसार चकित है। इसका कारण केवल कर्मण्यता ही है।

अन्य देशों में प्रायः प्रत्येक व्यवसाय के व्यापार संघ, चेम्बर्स आफ़ कामर्स आदि हैं जो अपने अपने व्यवसायियों को आशा से कहीं अधिक सहायता करने और लाभ पहुँचाने में दत्तचित्त रहते हैं। वे संसार के कोने कोने के बाज़ारों की माँग, खपत-दर, चुंगी, कर, व्यापारिक जनता आदि का पूरा पूरा पता लगाकर अपने देशवासियों को उनकी सूचना देते हैं, उचित उपाय बतलाते हैं। कहाँ से कब कौन वस्तु किससे और कैसे मँगवानी चाहिए; कब, कहाँ, किसके ज़रिये, किस प्रकार, किन शर्तों पर कौन वस्तु कितने परिमाण में भेजनी चाहिए, आदि बातें समझाते हैं। स्थायी प्रदर्शनों-द्वारा इस बात की मौलिक शिक्षा देते हैं कि किस प्रकार बिक्री की वस्तुएँ दूकानों में सजाई जानी चाहिए और किस प्रकार ग्राहकों से व्यवहार करना चाहिए।

जब हमारे देश में भी ये बातें होने लगेंगी तब हमारे व्यापार की भी दशा कुछ की कुछ हो जायगी।

आदर्श और समाज-सेवा

श्रीयुत रामनिवास शर्मा



संसार में आदर्श-पूजा की भावना चिरकाल से है। अनेक प्रातःस्मरणीय महानुभावों ने इस आदर्श को जनता के सामने रक्खा है, अनेक ने इसकी गुण-गरिमा का बखान किया है। चार्वाक और बृहस्पति जैसे प्रत्यक्ष-वादियों ने भी इसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। प्रबल से प्रबल नराधमों का भी इसकी पूजा में विश्वास है। शायद ही जगत् में कोई ऐसा हो जो इस पर पत्र-पुष्पाञ्जलि चढ़ाने से कतराता हो। आप किसी भी श्रेणी के व्यक्ति को लीजिए, वह अवश्य ही किसी न किसी आदर्श का पुजारी होगा। चोर, लुटेरों और उचक्कों तक का कोई न कोई आदर्श सदैव होता ही है, बड़े से बड़े पापी भी किसी के अनन्यभक्त होते हैं। अभाव-वादियों का अभाव में विश्वास है, भाव-वादियों का भाव में। जो दिखावे के लिए किसी को नहीं मानता वह भी हृदय में किसी न किसी तत्त्व का उपासक होता है। सारांश यह है कि इस मानने की सद्भावनारूपी आदर्श-पूजा से कदाचित् ही कोई अभागा वंचित होगा। देव, गुरु, सत्य, तीर्थ, धर्म आदि संसार में अनेक आदर्श हैं। ये भी सात्विक, राजस, तामस भेदों के से तीन प्रकार के हैं। मनुष्य इन्हीं में से किसी न किसी का पुजारी होता है।

अब यहाँ यदि हम इस आदर्श-पूजा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क जिन तत्त्वों के योग से बना है उनमें स्वभावतः कृतज्ञता, विश्वास आदि तत्त्वों की मात्रा होती है और इसके साथ ही चमत्कारों और भव्य बातों से चमत्कृत होने का माद्दा भी। यही कारण है कि वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विभूतियों का सहज में वशंवद हो जाता है। इस विभूति-त्रय का पारस्परिक सम्बन्ध भी पर्याप्त है, तथापि हमारा अन्य विभूतियों की अपेक्षा आध्यात्मिक विभूति अर्थात् आत्मा-सम्बन्धी विषय तथा मानव-समाज के साथ समधिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है, तादात्म्यभाव है। समाज अंशी और हम उसके अंश हैं, समाज अंगी और हम उसके अंग हैं। अधिक क्या, अनेक के मत में तो हमारा आत्म-तत्त्व भी उसी के सत्त्व का निर्माण है। उसका हम पर ऋण है। असल में हमारा जो कुछ है और हमें जो कुछ प्राप्त है वह सब समाज का ही है। वेद, धर्म, ज्ञान आदि बहुमूल्य पदार्थ हमें उसी से मिले हैं। हमारा वर्तमान परम्परागत इतिवृत्त समाज की ही सम्पत्ति है। समष्टि समाज को जीवित रखने के लिए, उसके ऋणों से उऋण होने के लिए हमारा कर्तव्य है कि हम उसके लिए अपने सर्वस्व को स्वाहा कर दें, समय आने पर स्वयं भी बलिदान की वेदी पर चढ़ने को तैयार रहें, और इस तरह उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न करें कि भविष्य में वह (मानव-समाज) अधिकाधिक उन्नति कर सके। विशेषतः हम उसके पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण से तो उऋण होने का अवश्य यत्न करें। हम समाज को योग्य सन्तान प्रदान करें, उसके बाल-बच्चों को शिक्षित, समुन्नत और सु-संस्कृत बनावें, उसके लिए महायज्ञों का सम्पादन करें। उसके ज्ञान और धन को बढ़ावें, उसकी स्वतन्त्रता को निर्दोष बनावें, उसके अनावश्यक बन्धनों को काटें, उसमें प्राण और बल फूँकें, उसके हृदय के स्पन्दन को ठीक करें, उसे

स्फूर्ति प्रदान करें और उसकी बुराइयों और निर्बलताओं को दूर करें। वेदान्त हमें ब्रह्म-मय जगत् बताकर इसी बात की शिक्षा देता है। आधुनिक विज्ञान-वेत्ता भी यही बतलाते हैं कि "समाज के तुम पर लाखों उपकार हैं, मरते दम तक तुम उसकी सेवा करते रहो, प्राणों की आहुति देने का अवसर आने पर भी उससे मुँह न मोड़ो।" भगवान् वेद भी समाज के अस्तित्व को सुरक्षित और समुन्नत करने के लिए उसके अंगों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए यही आदेश करते हैं।

धर्म-शास्त्र भी हमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" के द्वारा इसी समाज-सेवा की ओर प्रेरित करते हैं। योगी लोग विश्वात्मा बनने का पाठ पढ़ाते हैं। विश्व-मय बन जाने की शिक्षा देते हैं। महात्मा गान्धी मारते हुए शत्रु की भी हिंसा करना समाज के नाते पाप समझते हैं। स्वामी दयानन्द उपदेश करते हैं कि "सब के भले में अपना भला समझो।" भगवान् कृष्ण गीता में यही आज्ञा देते हैं।

मौर्य-सम्राट् अशोक ने समाज की भलाई के लिए अपनी साम्राज्य-वृद्धि की राजसिक विधि तक को त्याग दिया था। हमारे अनेक क्षत्रिय-पुंगव समाज की पीड़ा और उसके दुख-दर्द को दूर करना ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे। वे ईश्वर से नित्य यही प्रार्थना करते थे कि उनकी प्रजा सब तरह के सुखों को प्राप्त करे। भगवान् राम की यह गर्वोक्ति कि स्नेह, दया, सौख्य और यहाँ तक कि यदि जानकी जी तक को भी लोक-सेवा के लिए छोड़ना पड़े तो भी मुझे दुःख न होगा, क्या कभी भुलाई जा सकती है।

भगवान् बुद्ध ने इसी सत्य को क्रियात्मक बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु आज जगत् में ऐसी भावना दिखाई नहीं देती। आज-कल की जातियाँ इस सचाई से बहुत दूर चली गई हैं। अनेक जातियाँ तो इस भावना, इस आदर्श के नाश करने में ही अपना गौरव समझती हैं। वे दूसरी जातियों के साथ न्यायोचित बर्ताव करने को तैयार नहीं। इसके सिवा कुछ जातियाँ जो अच्छी हैं उनमें भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जिनका दैनिक कृत्य ही पिण्ड-पूजा है। अपना और अपने समाज का सर्वनाश करके भी वे अपने इस कृत्य को पूरा करना चाहते हैं। जिस जाति और समाज के शतशः प्रदानों और विशेषताओं से वे लाभान्वित हैं उसी के नाश करने में उनका अधिक समय व्यतीत होता है। वस्तुतः बात यह है कि जिस डाल पर वे बैठे हैं उसी के काटने की चिन्ता में निमग्न हैं, जिस नौका पर सवार हैं उसी को नष्ट करना चाहते हैं। असल में जगत् में ऐसे पढ़े-लिखे और नामधारी साधुओं की कमी नहीं है जिनका जन्म ही मानव-समाज को नष्ट करने के लिए हुआ है। इसमें तो नाम-मात्र भी सन्देह नहीं कि आज संसार में करोड़ों कुलीन, विद्वान् और धनी समाज-सेवा में पीछे पड़े हुए हैं। फिर भी ईश्वरकृपा से संसार में इस समय अन्तर्जातीयता का जन्म हो चुका है। चारों ओर सार्वदेशिक भावों की जाग्रति होने लगी है। लोगों को उसकी विशेषता का अनुभव हो रहा है। आज-कल सैकड़ों विज्ञान-वेत्ता और सुधारक इसी धुन में लगे हुए हैं। महात्मा गान्धी की विचार-धारा भी विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ा रही है। और और भी अनेक जातियाँ मानव-समाज के मंगल के लिए कुछ न कुछ काम कर रही हैं। राष्ट्र-संघ ऐसी ही आत्माओं की कृति का फल है। अब आवश्यकता है पक्षपात-हीन ऐसी ही महान् आत्माओं के बलिदान की, और इसके साथ ही जातियों और देशों के विशेष त्याग और सहन-शीलता की। तभी हम समाज-सेवा के उच्चतम आदर्श के पुजारी बनने का दावा कर सकते हैं।



[रूस में वहाँ के समस्त निवासियों के लिये एक-से मकान बनाये जा रहे हैं, और प्राचीन राजमहलों और गिरजों आदि में तरह तरह के संग्रहालय स्थापित किये गये हैं। इस लेख में नेहरू जी ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से वहाँ की ऐसी ही बातों का वर्णन किया है।]



पण्डित ब्रजलाल नेहरू

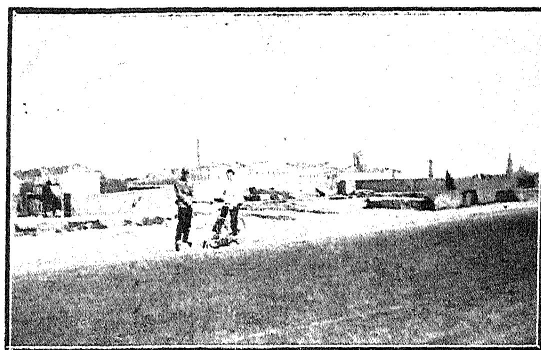


ब हम उस रूसी स्कूल को देखकर बाहर निकले तब हमारी गाइड शेरीकीना ने प्रस्ताव किया कि यदि आप लोग मज़दूरों का निवासगृह देखना चाहें तो मैं पड़ोस के एक ऐसे मकान में ले चल सकती हूँ। शेरीकीना को यह निश्चय नहीं था कि उन मकानों में रहनेवाले हम लोगों का इस प्रकार भ्रमण करना पसन्द करेंगे, पर उसने प्रयत्न करने की इच्छा प्रकट की। हमारी पार्टी के अधिकांश लोगों ने वहाँ न जाना ही पसन्द किया, परन्तु मेरी पत्नी ने और मैंने झिड़की का सामना करने का निश्चय किया। मज़दूरों के ये निवास बड़ी बड़ी इमारतों में आवश्यकता की सब वस्तुओं से युक्त विविध आकार-प्रकार के कमरों में विभक्त होते हैं। इस प्रकार की बहुत-सी इमारतें देश में सर्वत्र तैयार हो रही हैं। कदाचित् कुछ समय बीतने पर रूस में इनके अतिरिक्त मनुष्यों के रहने के लिए और कोई इमारतें ही न रह जायँगी। अलग अलग घरों में रहने के दिन यहाँ से सदा के लिए चले-से गये हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक परिवार के लिए उसकी आवश्यकता के कुछ ऐसे कमरों का प्रबन्ध किया जाय जो स्वच्छ और सुखप्रद हों और जीवन की समस्त आवश्यकताओं से युक्त हों।

उस पड़ोस में ऐसी दो या तीन इमारतें थीं। हमने

कुछ हिचकिचाहट के साथ एक इमारत में प्रवेश किया। शेरीकीना ने दरवाज़ा खटखटाया। सौभाग्य से गृह-वासी उस समय भीतर उपस्थित था। उसने बड़े विनय के साथ हमारा स्वागत किया और हमें अपने कमरों के निरीक्षण करने की आज्ञा दे दी। इस परिवार में वह, उसकी स्त्री और दो बच्चे थे। इन सबके लिए तीन कमरे—एक स्नान-गृह, एक रसोई-घर और एक शयन इत्यादि के लिए था। कमरों में सामान कम था और सजावट साधारण थी, पर जो कुछ था, साफ़-सुथरा था। स्नान-गृह में एक बड़ा टब था जिसमें दो नल लगे थे—एक गर्म पानी का और दूसरा ठंडे पानी का। रसोई-घर में बिजली का चूल्हा था और पायख़ाना 'फ़्लश सिस्टम' के अनुसार बना था। सम्पूर्ण इमारत में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था थी और बीच से वह गर्म थी। इस प्रकार शीतकाल में प्रत्येक कमरे में अलग से आग का प्रबन्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। इमारत की केन्द्रीय उष्णता से भारतवर्ष में हम परिचित नहीं हैं, यद्यपि बड़े बड़े नगरों में इसका प्रचार हो रहा है। परन्तु हममें से जिन लोगों ने पाश्चात्य देशों में इसकी कार्य्य-पद्धति देखी है वे जानते हैं कि यह कितना सुखकर है। इस पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण इमारत और उसके कमरे गर्म किये जा सकते हैं और बाहर चाहे जितनी ठंड हो, भीतर कोई भी आदमी बड़े मज़े में अपना काम कर सकता है।

इसके पश्चात् हमने क्रमशः दो और निवास देखे, उनमें एक स्वयं शेरीकीना का निवास-गृह था। मुझ पर और लार्ड मार्ले पर शेरीकीना का यह विशेष कृपा-भाव था। सिद्धान्तरूप से वह यात्रियों को अपना निजी घर दिखलाने के पक्ष में नहीं थी। उसका यह सिद्धान्त ठीक था। क्योंकि यदि वह ऐसा करने लगती तो उसके निवास-गृह में नये नये यात्रियों की सदा ही भीड़ लगी रहती और इस पर उसका पति अवश्य आपत्ति करता। उसने अपने पति के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं बताया था। पर जब उसने अपने पति से हमारा परिचय कराया तब हमने जाना कि उसके पति भी है। उसके कोई सन्तान नहीं थी और उसका पति



[लेनिनग्रेड यूनिवर्सिटी (पीछे का एक दृश्य)]

किसी कारख़ाने में कार्य्य करता था। मेरा अनुमान है कि शेरीकीना ने जो पेशा ग्रहण किया था वह उसके पति को पसन्द नहीं था, क्योंकि वह आठ बजे प्रातःकाल घर से निकल जाती थी और आधी रात से पहले कदाचित् ही लौट पाती थी। सरकार के यात्री-विभाग के गाइडों के लिए ७ घंटे के दिन की व्यवस्था नहीं है। परन्तु इसके बदले में अन्य विभागों में काम करनेवालों की अपेक्षा उन्हें लम्बी छुट्टियाँ मिलती हैं।

शेरीकीना का निवास भी क़रीब क़रीब वैसा ही था जैसा कि हम देख चुके थे। पर वह कुछ छोटा था और अत्यन्त साफ़-सुथरा था। वह दिन बड़ा गौरव-पूर्ण होगा जब वे सम्पूर्ण निवासियों के रहने की ऐसी ही व्यवस्था करने में सफल हो जायँगे। यह कार्य्य बहुत भारी है और इसके पूर्ण होने में एक पीढ़ी या इससे अधिक समय लग सकता है। परन्तु लक्ष्य महान् है और इस तक पहुँचने का जो कार्य्य हो रहा है वह बहुत बड़े पैमाने पर है और उसमें सचाई का पूर्णांश है। ऐसा कोई ज़ाहिरा कारण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इसमें उन्हें सफलता न प्राप्त होगी।

मज़दूरों का निवास-स्थान देखने के पश्चात् हम लोग एक अस्पताल में ले जाये गये। यह अस्पताल एक फ़्रांसीसी महिला डाक्टर के चार्ज में था जो मास्को में बस गई थी। हमारी पार्टी ने इस महिला पर प्रश्नों की झड़ी लगा दी, परन्तु उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ सबका उत्तर

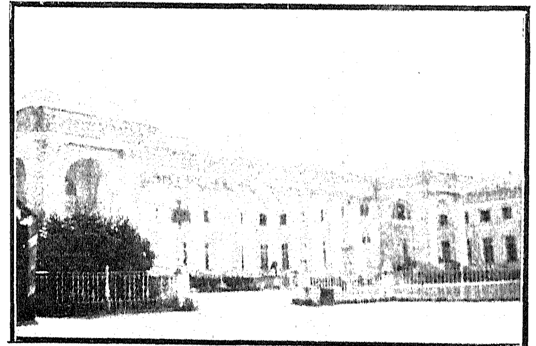


[एक स्टेशन का दृश्य—गाड़ी आने पर]

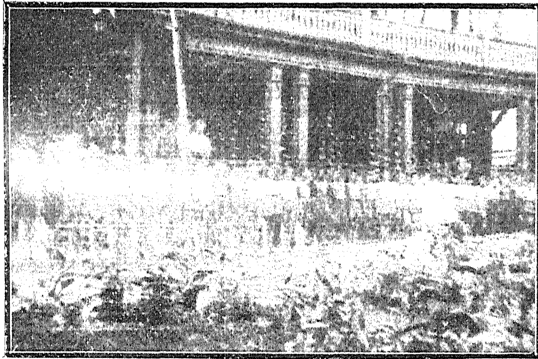
दिया। इस महिला से हमें ज्ञात हुआ कि जब से सरकार ने सर्वसाधारण की चिकित्सा का कार्य्य अपने हाथ में लिया है तब से गर्मी और सूज़ाक आदि रोग यथेष्ट मात्रा में घट गये हैं और अब ये रोग केवल ६ प्रतिशत लोगों को होते हैं। कदाचित् इन रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की इतनी अल्प संख्या संसार के किसी अन्य भाग में न होगी। उसने यह आशा प्रकट की कि जब चिकित्सा-पद्धति ज़रा और अच्छी हो जायगी तब रूस में इन रोगों का कोई नाम भी न सुनेगा। इसका कारण केवल यह नहीं है कि अब शहरों में इस प्रकार के रोगियों की समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध हो गया है, बल्कि यह भी है कि इस रोग के फैलने के जितने कारण हो सकते हैं वे सब दूर कर दिये गये हैं। वेश्यावृत्ति सम्पूर्ण देश से मिटा दी गई है। इस प्रकार की स्त्रियों की उत्पत्ति का कारण केवल भूख हुआ करती थी। अब सब स्त्रियों और सब पुरुषों को काम मिल जाने से किसी के लिए यह आवश्यकता ही नहीं रही कि वह ऐसे अनीतिमूलक और अरुचिकर व्यापार की ओर झुके। हमारे गाइड ने यह स्वीकार किया कि इस प्रकार की कुछ स्त्रियाँ अब भी हैं, परन्तु वे प्राचीन समाज की हैं। इस दिशा में नई भर्ती सर्वथा बन्द हो गई है। अपनी यात्रा के सम्पूर्ण काल में हमें ऐसी स्त्रियों का कहीं कोई चिह्न न मिला, यद्यपि हमने रूस के विभिन्न नगर देखे। योरप के अन्य भागों के बड़े नगरों में किसी भी मध्यवर्ती मार्ग में संध्या-समय ये दुर्जनों की संख्या में देखी जा सकती हैं। उनमें और रूस के नगरों में यह बड़ा भारी भेद है और बहुत ही आनन्ददायक।

दूसरी दिलचस्प बात जो इस महिला डाक्टर ने हमसे बताई यह थी कि सोवियट रूस में गर्भ गिराना क़ानून से जायज़ है। गर्भपात कराना माता की इच्छा पर निर्भर है, इस मामले में पिता की कोई बात नहीं सुनी जाती। इसके लिए स्त्रियों को इससे अधिक कि वे अपने अस्पताल में एक दरख़्वास्त दे दें और कुछ नहीं करना पड़ता। परन्तु डाक्टर को बिना एक कमेटी की अनुमति प्राप्त किये गर्भपात करने की आज्ञा नहीं है। कमेटी मामले की जाँच करने के बाद अपनी स्वीकृति देती है। यदि स्त्री का निश्चय दृढ़ हो तो कमेटी को आज्ञा देनी ही पड़ती है। उस महिला डाक्टर ने हमसे इस सम्बन्ध में और भी बातें बताते हुए कहा कि इस स्वाधीनता के होते हुए भी बहुत कम स्त्रियाँ गर्भपात के लिए प्रार्थना-पत्र भेजती हैं। अधिकांश अवस्थाओं में मातृ-स्नेह अपना बल दिखाता है और इस प्रकार रूस की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है।

मास्को में अपने प्रथम दिन हमने जो दूसरा स्थान देखा वह १६ वीं शताब्दी का एक विशाल मठ था। इसकी दीवारें बाइबिल की कहानियों के सुन्दर चित्रों से यथेष्ट रूप से चित्रित हैं। यह इमारत अब एक संग्रहालय



[क्रांति-सम्बन्धी संग्रहालय (मास्को)]



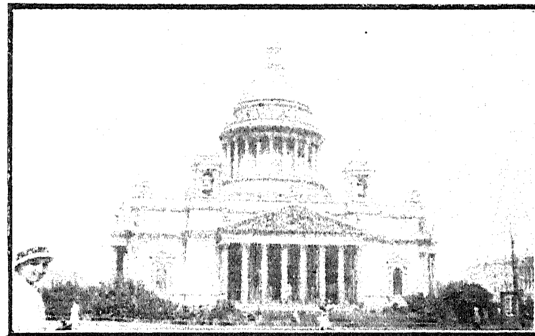
[स्कूल के विद्यार्थी (सरकार के अतिथि के रूप में) छुट्टी के दिनों में प्रातःकाल का व्यायाम कर रहे हैं।]

में परिणत हो गई है, जिसमें उन स्त्रियों की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ें रक्खी हैं जो इसकी चहारदीवारी के अन्दर क़ैद थीं। इस इमारत को देखने के बाद हम लोग बहुत थक गये थे, इसलिए यहाँ से हम लोग सीधे होटल चले गये। उस दिन मेरी पत्नी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, इसलिए रात को हम बाहर नहीं गये। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रथम मई का महान् उत्सव होनेवाला था, इसलिए हमें अपनी शक्ति को उसके लिए रक्षित रखना पड़ा।

एक बात का उल्लेख मैं यहाँ कर देना चाहता हूँ। वह यह कि बाद को हमने मास्को और लेनिनग्रेड में कई संग्रहालय देखे। साधारण ढङ्ग के संग्रहालयों के अतिरिक्त वहाँ ऐसे भी संग्रहालय हैं जो संसार में अन्यत्र नहीं देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वहाँ क्रान्तिकारी संग्रहालय और धर्म-विरोधी संग्रहालय हैं। और एक का ज़िक्र हम ऊपर कर ही चुके हैं। ये संग्रहालय अपने नाम से सम्बन्धित आन्दोलनों का क्रम-विकास प्रदर्शित करते हैं। क्रान्तिकारी संग्रहालय में रूस की क्रान्ति के आरम्भ से लेकर अब तक का इतिहास बतलानेवाली वस्तुएँ एकत्र की गई हैं। क्रान्ति के उत्थान-पतन की मंज़िलें, ज़ार और केरेन्सकी की सरकारों की दमन-कथायें, १९१७ में क्रान्ति की अन्तिम सफलता, लेनिन की घोषणायें और सोवियट कांग्रेस की प्राचीन पद्धति को मिटाकर नवीन पद्धति के स्थापित करने की डिग्रियों का इतिहास आदि यहाँ मिलेगा।

धर्म-विरोधी संग्रहालय में यह दिखलाया गया है कि पादरी लोग किस प्रकार लोगों को ठगते थे और गन्दा जीवन व्यतीत करते थे और किस प्रकार लोगों को मूर्ख और ज़ार के अधीन बने रहने में उसकी सहायता करते थे।

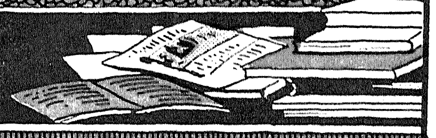
इसी प्रकार स्त्रियों की स्वाधीनता-सम्बन्धी संग्रहालय में यह दिखाया गया है कि स्त्रियों को समान अधिकार दिलानेवाला आन्दोलन किस प्रकार आरम्भ हुआ और वह क्रान्ति के साथ कैसे सफल हुआ।



[ईश्वर-विरोधी संग्रहालय (लेनिनग्रेड) २०० से ऊपर स्तम्भों का यह संग्रहालय ४० वर्ष में इस रूप में आया है।]

ये सब और इसी प्रकार की अन्य संस्थायें ज़ार के प्राचीन महलों या उस समय के सुन्दर गिर्जाघरों और मठों में स्थापित की गई हैं। ये भव्य भवन जो प्राचीन आदर्शों के अनुसार काम में नहीं लाये जा सकते अब इसी प्रकार नष्ट होने से बचाये जा रहे हैं और किसी न किसी ऐसे लोकोपयोगी कार्य में आ रहे हैं जिसे आधुनिक शासन-पद्धति अनुकूल दृष्टि से देखती है।







श्री पूरनचन्द जी नाहर एम० ए०, बी० एल० ने "कुएँ भाँग" शीर्षक एक लेख विशाल भारत में लिख डाला है। एक मनुष्य की भूल से कितना अंधेर हो सकता है उसका नमूना पाठक देखें।

एक पद्य-ग्रन्थ जटमल नाहर ने कदाचित् संवत् १६८० में लिखा था। राय बहादुर श्यामसुन्दरदास जी ने १९०१ की प्राचीन ग्रन्थों की खोज की रिपोर्ट में लिख दिया कि गोरा-बादल की कथा गद्य और पद्य में एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल, कलकत्ता, में है। मालूम पड़ता है, बाबू साहब ने ग्रंथ को ध्यानपूर्वक एक खोज करनेवाले की दृष्टि से नहीं देखा था। यह भी संभव है, देखा किसी दूसरे ने हो और बाबू साहब ने उसी के भरोसे लिख डाला हो। इसी रिपोर्ट की बातों को वेदवाक्य मानकर मिश्रबन्धुओं ने, बाबू श्यामसुन्दरदास ने, पंडित बदरीनाथ जी भट्ट और पंडित रमाशंकर जी 'रसाल' ने अपने अपने हिन्दी के इतिहासों में लिख दिया कि गोरा-बादल की कथा 'गद्य' में है। किसी ने इसे खड़ी बोली का गर्भ बतलाया, किसी ने जटमल को गद्य-काव्य का आदि-प्रचारक लिख डाला और किसी ने कुछ। किन्तु किसी भी माई के लाल ने ग्रन्थ को देखने का श्रम नहीं उठाया। पर नाहर जी ने एशियाटिक सोसाइटी के ग्रन्थ को भी देखा और उन्होंने बड़े परिश्रम से खोज कर चारों ओर से ग्रन्थ की प्राचीन प्रतियाँ जमा कीं। सब ही पद्य में हैं, गद्य में कोई ऐसा ग्रन्थ कहीं है ही नहीं।

"गोरा-बादल की कथा" का एक सुन्दर सुसम्पादित संस्करण अध्यापक नरोत्तमदास जी प्रकाशित कर रहे हैं। बीकानेर-राज्य के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर और पिलानी के बिड़ला कालेज के वाइस-प्रिंसपल भी इस उद्योग में सहायक हैं। ये सब ही खोज में लीन हैं, इनके पास पद्य की ही प्रतियाँ हैं। राय बहादुर जी ने गद्य की प्रति का अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया था, इससे ये लोग परेशान थे।

बात नाहर जी तक पहुँची, उनके पास की प्रतियाँ पद्य में ही थीं। रिपोर्ट की बात पढ़कर वे एशियाटिक सोसाइटी में पहुँचे, खोज कर ग्रन्थ को निकाला। पता यह चला कि हस्तलिखित ग्रंथ फ़ोर्ट विलियम के सरकारी संग्रह की हिन्दी प्रतियों में है। इसके प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ है कि इस प्रति को इन्दौर के रेज़िडेंट वेल्सली साहब ने अपने मित्र एट-किंसन साहब को भेजा था। मूल हिन्दी एक कालम में है, दूसरे कालम में साधारण हिन्दी में अनुवाद है। मूल को समझने के लिए अनुवाद साहबों ने कराया था

और मूल आँख की ओट कर अनुवाद के सहारे पद्य का ग्रन्थ गद्य का कह दिया गया। फल यह हुआ कि जितने इधर हिन्दी के इतिहास लिखे गये, सबमें यह ग़लत बात लिख दी गई। इतिहास सब ग़लत हो गये। फलतः उनके पढ़नेवालों को भी ग़लत ही सबक़ मिला। एक भूल का क्या परिणाम हो सकता है, इसका यह एक नमूना है।

× × × ×

दरबारी ढंग की कविता के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना ज़रूरी प्रतीत होता है। 'दरबारी' शब्द पर भले ही कोई आपत्ति कर ले, भले ही कोई कह ले कि प्राचीन काल और आधुनिक काल की हिन्दी-कविता में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है, किन्तु इतना कह देने से ही हम मंज़िल नहीं मार लेते। हिन्दी के सौभाग्य से आज हिन्दी में कितने ही अच्छे कवि और कवियित्रियाँ मौजूद हैं, किन्तु क्या इनसे हिन्दी-कविता गौरव के शिखर पर पहुँच गई है? जवाहरलाल जी से लोग बहस कर लें, किन्तु दाई से पेट नहीं छिपाया जा सकता। हिन्दी ने पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में बहुत उन्नति की है, गद्य और पद्य दोनों में ही हम आगे बढ़े हैं, अनुवादों और नक़ल से हम अपना भांडार ज़ोरों से भरते चले जा रहे हैं, समय के अनुसार हमारी भाव-भङ्गी में फ़र्क़ हो गया है, हम बातों को मनमोहक और सजीव ढंग से कहना सीख गये हैं, नूतन फ़ैशन और सादगी दोनों में हम अपना श्रृङ्गार कर लेते हैं, हम हृदय-तंत्रियों को गुंजारित कर देते हैं, कभी कभी उनकी पीड़ा के चीत्कार से हम दूसरों को रुला और हिला भी देते हैं। किन्तु अगर इतने ही को हमने सब-कुछ समझ लिया है तो अपने और हिन्दी दोनों ही के लिए, मुझे दुख है, "कवि" के जन्म के लिए हिन्दीवालों को अभी कुछ दिनों अपेक्षा करनी होगी।

× × × ×

"कर्मवीर" में श्री परिपूर्णानन्द जी का एक लेख सम्मेलन के सभापति के चुनाव के संबंध में छपा है। वर्मा जी की राय है कि "इस समय हिन्दी के लिए स्वतन्त्र विचारवाला, सम्मेलन के मंच से हिन्दी-हिन्दुस्तान का नारा बुलन्द करनेवाला सभापति चाहिए।" हरे! हरे! वर्मा जी को यह शायद नहीं मालूम कि हिन्दी के धुरन्धर लेखकों का कहना है कि राजनीतिवाले इस पद से दूर रक्खे जायँ, मान पाने के लिए उनके पास विस्तृत क्षेत्र है, इस मान के पद को तो साहित्य-सेवियों के लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए और वे भी जो हिन्दू न हों और हिन्दू से दूर रहते हों, क्योंकि जीवन में मान प्राप्त करने का अवसर इन लोगों को बहुत ही कम मिलता है।

× × × ×

"जागरण" की एक कहानी है, शीर्षक है—"आहुति"। आरंभ इस प्रकार है—"अपनी अप्रति आशित सफलता पर कौन फूला नहीं समाता। किन्तु जैसे गोधूलि का प्रकाश निशा के आगमन के साथ ही म्लान होकर विलीन हो जाता है, ठीक उसी तरह प्रकाश का स्वप्न-संसार भी सन्ध्या के साथ ही साथ आभ्यन्तरिक उत्पीड़न से आन्दोलित हो उठा। उसका हर्षोन्माद, यौवन का ताप, असीम आह्लाद, साम्राज्य-विजय का गर्व, और समस्त महत्त्वाकांक्षायें सब कुछ अन्धकार में आवृत हो गया"।

मैंने इतना पढ़ने के बाद कहानी को पढ़ने का साहस नहीं किया, जब यही समझ में नहीं आता तब आगे व्यर्थ प्रयत्न क्यों करता। लेखक के लिए उचित है कि वह संस्कृत या बँगला में लिखा करे, इस प्रकार की हिन्दी लिखकर वह हिन्दी का अहित करेगा, हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकेगी। हाँ, बनारसी उसे ज़रूर अपना लेंगे, संस्कृत के विद्वानों की काशी एक गढ़ी है ही।

—श्रीयुत 'नर-नारायण'



जाग्रत महिलायें

मुस्लिम महिलायें

श्रीयुत देवकीनन्दन विमल

महिलाओं के सम्बन्ध में मुस्लिम धार्मिक दृष्टिकोण बहुत ही संकुचित रहा है। पर्दे की प्रथा का उग्र रूप जितना मुसलमानों में है, उतना अन्य किसी भी जाति में नहीं है। परन्तु मुस्लिम महिलाओं में जाग्रति न हुई हो, ऐसी बात नहीं है। सोवियट रूस की मुस्लिम महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होना मुस्लिम रूढ़ियों पर पहला आघात था। तुर्की में मुस्तफ़ा कमालपाशा ने अपने सबल हाथों से महिलाओं को सामाजिक ग़ुलामी के बन्धनों से मुक्त करके उनको नवीन क्षेत्र में प्रवेश कर दूसरा आघात किया। संसार की सर्वश्रेष्ठ तुर्की सुन्दरियाँ बुर्का फेंककर सूर्य की खुली किरणों और वायु के बे रोक झोंकों में खेलने लगीं। विवाह-विच्छेद-तलाक़ के कानूनों में सुधार किया गया। अब तक मुस्लिम व्यवस्था के अनुसार तुर्की में भी पुरुष तो अपनी स्त्री को सहज ही तलाक़ दे सकता था, परन्तु यह अधिकार भयङ्कर होने पर भी स्त्रियों को नहीं प्राप्त था। सन् १९२९ में मिस्र में भी इस सम्बन्ध का एक बिल पास हुआ, जिसके अनुसार एक ओर जहाँ पुरुषों-द्वारा अपनी स्त्रियों को तलाक़ देना उतना सहज नहीं रहा, वहाँ दूसरी ओर स्त्रियों को भी कुछ आवश्यक परिस्थितियों में तलाक़ देने का अधिकार प्राप्त हो गया।

मिस्री महिलाओं का पहला पत्र 'ऐल फनल' सन् १८९२ में निकला। इसकी सम्पादिका एक सीरियन ईसाई महिला श्रीमती 'हिन्द विन्त नोधल' थीं। परन्तु इस समय मिस्र की महिलाओं में न तो अधिक शिक्षा का ही प्रचार था और न सार्वजनिक दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन ही हुआ था। सन् १९०५ में पहली मुस्लिम महिला मिस्र से लन्दन शिक्षा के लिए भेजी गई। इस पर धार्मिक संस्थाओं की ओर से बड़ा विरोध किया गया। यह महिला जब शिक्षित होकर आई तब ट्रेनिंग कालेज की मुख्य अध्यापिका नियुक्त की गई। सन् १९०६ में मिस्र की पहली मुस्लिम लड़की ने मिस्र में सेकेंडरी स्कूल कोर्स खत्म किया और उसे शिक्षा-सम्बन्धी अच्छी जगह दी गई। सन् १९२१ में जगलुल ने अपनी पत्नी को पर्दे से बाहर निकाल कर काम करने के लिए प्रेरित किया। सन् १९२८ में मिस्री शिक्षा-मंत्री के अधीन २२४ लड़कियों के स्कूल थे, जिनमें ३६, ६०० लड़कियाँ पढ़ती थीं। इसके अलावा कितने ही प्राइवेट स्कूल और थे। नई मिस्री स्टेट युनीवर्सिटी ने डाक्टरी, विज्ञान और अन्य श्रेणियों को भी स्त्रियों के लिए खोल दिया और पहले साल सन् १९२८-२९ में सात महिलाओं ने डाक्टरी परीक्षा दी।

मिस्र के १९१९ के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से महिलाओं को जागृति के बहुत प्रगति

मिलो। आज़ादी के लिए मिस्र को जब अपनी सब शक्तियों को केन्द्रित करने की आवश्यकता थी उस समय मिस्र की महिलायें भी पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। उन्होंने अपने देश के अधिकारों का समर्थन करने के लिए सभायें कीं, प्रदर्शन किये और कष्ट भी सहे। मिस्र के नेता जगलुल की धर्मपत्नी सोफ़िया सदैव अपने पति के साथ देश को आज़ाद करने के कार्य में सहयोग देती रही। जगलुल जब मिस्र से निर्वासित कर दिये गये तब सोफ़िया ने उनके स्थान को ग्रहण किया और जगलुल के राजनैतिक विचारों का समर्थन करने के लिए शिक्षित महिलाओं को संगठित किया। मिस्र की जनता उन्हें 'मिस्र की माता' कहकर सम्बोधित करती थी।

मिस्र की महिलाओं की जाग्रति का श्रेय एक और महिला को भी प्राप्त है; इनका नाम है श्रीमती होदाशरवी। सन् १९१८ में जगलुल पाशा इँग्लेंड की सरकार के सामने हाई कमिश्नर-द्वारा मिस्र की माँगें पेश करने विलायत गये। उस समय श्रीमती शरवी भी उनके साथ थीं। सन् १९२३ में मिस्र में उनकी अध्यक्षता में एक महिलासंघ खुला और उसी वर्ष रोम में होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय महिला-परिषद् में श्रीमती शरवी मिस्री महिलाओं की प्रतिनिधि होकर गईं। वहाँ आपने मुस्लिम महिलाओं में शिक्षा के प्रचार और विवाह-सम्बन्धी व्यवस्था के सुधार की आवश्यकता पर बहुत ज़ोर दिया। जिस तलाक़-सम्बन्धी बिल का ज़िक्र हमने ऊपर किया है वह मिस्र की व्यवस्थापिका सभा में मिस्री महिलाओं के उद्योग से ही उपस्थित किया गया था।

केरो की महिलायें सीरिया या ईराक़ से अधिक प्रगतिशील हैं। मिस्री महिलाओं के आन्दोलन का कार्यक्रम अधिकतर सामाजिक है, जैसे स्त्रियों के लिए स्कूल और अन्य शिक्षा-केन्द्र स्थापित करना, निम्न श्रेणी की लड़कियों को गृह-कार्य की शिक्षा देना और बालकों, बच्चों और निर्बलों की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए परिचारिकायें तैयार करना। मिस्र या सीरिया में पर्दे के सम्बन्ध में भी कुछ विचार-परिवर्तन हुआ है जो इस एक घटना से प्रकट होता है। बेरुत में जहाँ ईसाइयों की काफ़ी बस्ती है, बिना पर्दे के सार्वजनिक स्थानों में जाने का रवाज बढ़ रहा था। इस पर इसके विरोध में एक आन्दोलन खड़ा किया गया और एक इश्तहार बाँटा गया, परन्तु दूसरे ही दिन वहाँ की मस्जिद में मुफ़्ती साहब ने इस इश्तहार का विरोध किया और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर करने का आदेश दिया।

सीरिया, इराक़ और पैलेस्टाइन में भी महिलाओं का एक संगठित आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है। अप्रेल सन् १९२८ में सीरियन महिलाओं की पहली सभा हुई, जिसमें लड़कियों की शिक्षा, व्यवसाय, विवाह-सम्बन्धी रसूम और क़ानून पर विचार हुआ। सीरिया के स्त्री-संघ ने यह प्रस्ताव किया है कि अरब महिलाओं के वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष क्रमशः मिस्र, सीरिया, पैलेस्टाइन और ईराक़ में हुआ करें। पैलेस्टाइन में महिला-आन्दोलन का संगठन पहली बार सन् १९२९ में हुआ, परन्तु अभी इसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय अर्थात् अरब-जाति की स्वतन्त्रता के लिए लड़ना है। ईराक़ की महिलाओं ने भी अपने संगठन के लिए बग़दाद में एक सभा स्थापित की है।

अरबी और महिलाओं की पहली कांग्रेस दमिश्क में जुलाई सन् १९३० में हुई। हेजाज, ईराक, तुर्की, फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान और भारतवर्ष की मुस्लिम महिलाओं की तरफ़ से प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित हुए और शुभ कामनायें भी भेजी गईं। अन्तर्राष्ट्रीय महिला-परिषद् ने भी अपना एक प्रतिनिधि भेजा और पहली बार अरबी मुस्लिम महिलाओं और संसार के महिला-आन्दोलन में आपस में सम्बन्ध स्थापित हुआ। कांग्रेस में श्रीमती नूर हमदाह ने अपने भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया कि उनकी शक्तियाँ अभी स्त्रियों की सामाजिक और नैतिक उन्नति

में ही लगनी चाहिए, अभी उन्हें राजनैतिक अधिकारों के लिए पुरुषों से नहीं लड़ना चाहिए, क्योंकि शिक्षा आदि समस्याओं के लिए पुरुषों की सहानुभूति और सहयोग की बहुत आवश्यकता है। आपने पर्दे का सार्वजनिक विरोध न करने की सलाह दी, क्योंकि आप समझती हैं कि शिक्षा और प्रचार के साथ पर्दा स्वयं ही उड़ जायगा। मुस्लिम महिलाओं में जिस तरह पर्दे का प्रयोग है, आपका मत है कि वह प्रकृति के विरुद्ध है और न मज़हब के लिए वह ज़रूरी है। शिक्षा के अतिरिक्त कांग्रेस में मिस्र की तरह वैवाहिक सुधारों और मज़दूर स्त्रियों के लिए सुविधाओं के सम्बन्ध में विचार हुआ और विवाह-सम्बन्धी रसूमों में परिवर्तन और सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव पास हुआ। विवाह से पहले वर और वधू एक दूसरे से परिचित होने चाहिए और मुसलमानों में कन्या-विक्रय और ईसाइयों में दहेज की प्रथा के रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। एक अन्य प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस ने अरबी सभ्यता की रक्षा करने और अरब की बनी हुई चीज़ों का व्यवहार करने पर अधिक ज़ोर दिया। साथ ही इस बात की घोषणा की गई कि अरब की मुस्लिम और ईसाई महिलाओं के पारस्परिक घनिष्ठ सहयोग से इन देशों के महिला-आन्दोलन और सभ्यता के विकास में बहुत सहायता मिलेगी।

पैलेस्टाइन की यहूदी महिलायें अरबी महिलाओं से बहुत आगे बढ़ी हुई हैं। इधर जो यहूदी महिलायें योरप से यहाँ आकर बसी हैं वे अपने साथ योरप की महिलाओं के सामाजिक, आचार-सम्बन्धी और राजनैतिक सभी आदर्शों को अपने साथ लेती आई हैं। सब यहूदी लड़कियाँ लड़कों की तरह स्कूल जाती हैं। महिला-सभायें सार्वजनिक स्वास्थ्य और रक्षा के कार्य में अधिक भाग लेती हैं, वे स्त्रियों को उपयुक्त व्यवसाय की शिक्षा देने में भी अपनी शक्तियाँ व्यय कर रही हैं और बाल-विवाह और प्राचीन यहूदिनों के अज्ञान को दूर करने में काफ़ी प्रयत्न कर रही हैं। उन्होंने अपने शक्ति-पूर्ण आन्दोलन से पैलेस्टाइन की सरकार को बराबर के राजनैतिक अधिकार और वकालत करने के अधिकार को स्वीकार करने के लिए विवश किया है। खेद है कि राष्ट्रीय और जातीय मतभेद के कारण अरबी और यहूदी स्त्रियों में अधिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है।

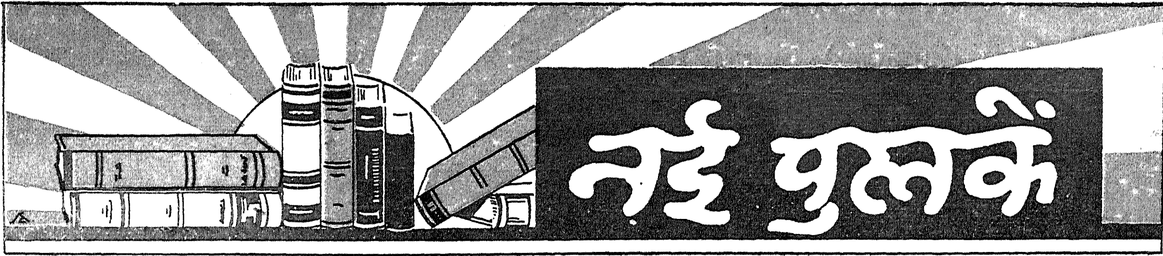
गीत

श्री गिरीशचन्द्र पन्त

[राग मालकोस, ३ ताल]

अलि, पुलकित लतिका हिलती !
तप वियोग में तन्मय अहरह
प्रिय पिय-नाम सुमिरती;
वे फल आज मिले सुन आगम,
रह-रह त्रपित सिहरती !
नव स्नेह-कुसुममय खिलती !
अलि, पुष्पित लतिका हिलती !

कठिन-कर्म-झञ्झा-प्रतिहत, अत्र
सुख-समीर सँग झुलती;
मृदु-मृदु दे कर-पत्र-ताल
नव-हर्ष प्रकट निज करती !
नव जीवित लतिका हिलती !
अलि सुन, यह लतिका हिलती !



[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। इनका परिचय यथासमय प्रकाशित होगा]

१—मज्झिम निकाय—अनुवादक, त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक, महाबोधिसभा, सारनाथ (बनारस) हैं। मूल्य ६) है। पुस्तक सजिल्द है।

२—क्षयरोग (प्रथम भाग)—लेखक, श्री शङ्कर-लाल गुप्त, एम०, बी० बी० एस०, सुपरिंटेंडेंट, यू० पी० जेल सैनेटोरियम, सुलतानपुर (अवध), प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग हैं। मूल्य ६) है। पुस्तक सजिल्द है!

३—ब्रजमाधुरीसार (सटिप्पण)—संपादक, श्री वियोगी हरि, प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग हैं। मूल्य ३) है। पुस्तक सजिल्द है।

४—अमर अभिलाषा (मौलिक उपन्यास)—लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, प्रकाशक, साहित्य-मण्डल, दिल्ली हैं। मूल्य ३) है। पुस्तक सजिल्द है।

५—दाहर अथवा सिन्ध-पतन (मौलिक नाटक)—लेखक, श्री उदयशङ्कर भट्ट, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसी-दास, सैदमिट्ठा, लाहौर हैं। मूल्य १) है।

६—वारेन हेस्टिंग्ज़—लेखक, चतुर्वेदी पंडित द्वारका-प्रसाद शर्म्मा, एम० आर० ए० एस०, प्रकाशक, भारत-वासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग हैं। मूल्य २) है।

७—काया-पलट—अनुवादक, श्री रामसिंह वर्मा, प्रकाशक, श्री किशोर पुस्तक-भण्डार, ६ बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता हैं। मूल्य १॥) हैं।

८—फलित स्वप्न (काव्य)—लेखक श्री शूर हैं। मूल्य ≡) है।

९—निरुद्देश्य (उपन्यास)—लेखक, श्री दीनानाथ मिश्र, प्रकाशक, श्री डी० एन० शर्मा, १३७ एफ़, बलराम दे स्ट्रीट, कलकत्ता हैं। मूल्य ।≈) है।

१०—अद्वैततत्त्वबोधिनी (प्रथमो भागः)—साधु शान्तिनाथेन संकलितः। अमलनेरस्थ तत्त्वज्ञानमन्दिरात् प्रकाशितः।

११-१२—श्री भगवद्पूजन-पद्धति—मूल्य ।–) और श्री रामपटलः—मूल्य ॥)—बड़ोदा राजधानीस्थ श्री रामानन्द साहित्य प्रचारक मण्डलेन प्रकाशिता।

१३—नवीन दाम्पत्य-जीवन में स्त्रियों के अधि-कार—लेखक, श्री केशवकुमार ठाकुर, प्रकाशक, चाँद प्रेस लिमिटेड, प्रयाग हैं। मूल्य २।) है, पृष्ठ-संख्या २७६ है।

पुस्तक के सम्बन्ध में "नाम बड़ा और दर्शन थोड़े" की कहावत चरितार्थ होती है। व्यर्थ में उन्हीं बातों को बारबार दुहरा कर पुस्तक का कलेवर बढ़ाया गया है। दुनिया भर के नवीन विचार अजीब तरह से इसमें भर दिये गये हैं। लेखक ने किसी के सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है, ऐसा प्रकट नहीं होता। विचारों में परिपक्वता भी नहीं मालूम होती। लेखक की राय में शायद स्त्री-पुरुष का संसर्ग बिना किसी रोक-टोक या बन्धन के, बिना किसी मर्यादा, क़ानून या पाधापुरोहितों की आज्ञा के, केवल स्त्री और पुरुष की इच्छामात्र के अधीन होना चाहिए, किन्तु यह होते हुए भी लेखक ने

मुस्लिम मुता-प्रथा (मुतआ-प्रथा) को बुरा बतलाया है। मुतआ-प्रथा का कदाचित् लेखक को ठीक ज्ञान भी नहीं है। मुतआ तमद्दुन से बना है, जिसका अर्थ है फ़ायदा उठाना। मुतआ प्रथा का अर्थ लेखक की राय में यह है कि "स्त्री और पुरुष जब जितनी अवधि के लिए चाहते, साथ साथ पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे और जब चाहते अलग हो जाते"। लेखक को तो इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए, ख़ुशी से दो व्यक्ति अपने इच्छानुसार मिले, जब तक इच्छा हुई साथ रहे, जब तबीयत भर गई या पसन्द न हुआ, अलग हो गये। यह तो एक-दम आधुनिक है। बोहीमियन तो यही चाहते हैं। इसमें कोई बन्धन भी नहीं; साथ ही पूरी स्वतन्त्रता भी है, फिर मुतआ बुरा क्यों है? लेखक का ख़याल है कि मुहम्मद साहब ने और इस्लाम ने इस प्रथा को उठा दिया है। लेखक को शिया मुसलमानों से इस सम्बन्ध में बातचीत करना चाहिए, यह प्रथा अब भी प्रचलित है, और मेरी राय में बहुत अच्छी है। गर्भपात करने का अधिकार सबको स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिए, यह भी लेखक चाहता है। संसार में इस सम्बन्ध में चर्चा चल रही है और रूस ने एक तरह से यह अधिकार दे भी दिया है। "तिलाक़" के भी लेखक महोदय पूरे तौर से हामी हैं, विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में भी वे पूर्ण स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। मतलब यह है कि नूतन से नूतन विचार इस पुस्तक में हैं, अगर कमी किसी बात की है तो विचार की। लेखक का ज्ञान भी छिछला ही नज़र आता है।

लेखक ने स्वयम् प्राचीन भारत के प्राचीन इतिहास से तलाक़, स्वतन्त्र प्रेम करने, नियोग, कुमारी अवस्था में ही सन्तान पैदा करने; एक स्त्री के अनेक पति होने की बातें उद्धृत की हैं। यह सब इस बात का सबूत है कि भारत में यह सब हो चुका है, किन्तु भारत ने इन सबको करके त्यागा है। मैं भी तलाक़, वग़ैरह की किसी अंश में उपयोगिता स्वीकार करता हूँ, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं लेखक से सहमत हूँ। अन्त में इतना ही कहना है कि स्त्रियों और बच्चों के सम्बन्ध में लिखने वालों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और इसका इन लोगों को सदा ख़याल रखना चाहिए। बहुत ही अध्ययन और मनन करने के बाद डरते डरते क़लम चलाना अधिक लाभप्रद होगा।

१४—हमारे बच्चे—लेखक, श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय, "आयुर्वेद विशारद", प्रकाशक, तरुण भारत-ग्रन्थावली, दारागंज, प्रयाग है। मूल्य १), पृष्ठ-संख्या १५० है।

पुस्तक साधारण रूप से अच्छी और उपयोगी है, किन्तु लेखक महोदय ने संसार के आधुनिक अनुभव और ज्ञान से लाभ नहीं उठाया है। गर्भाधान का ज़िक्र करते हुए उन्होंने लिखा है—"रजस्राव से लेकर सोलह दिन तक गर्भाशय का मुख खुला रहता है, उसमें गर्भ धारण करने की शक्ति रहती है......" सोलहवें दिन के बाद भी गर्भ की स्थिति हो सकती है, विशेषकर अट्ठाइसवें दिन तो पुत्र की गर्भस्थिति होना एक प्रकार से निश्चित ही है, ऐसा कुछ आज-कल के विद्वानों का मत है। एक दूसरी जगह पर लिखा गया है—"अभिमन्यु को व्यूह-भेदन की शिक्षा गर्भ में ही मिली थी, यह कार्य्य माता के मानसिक बल-द्वारा ही संभव है। अब पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करने लगे हैं।" यह बात ग़लत है। प्राचीन काल में विश्वास ऐसा ही था, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि गर्भ-पिंड और माता के रक्त से सीधा सम्बन्ध स्थापित ही नहीं होता, साथ ही माता की कोई भी रग जिससे विचार आगे जा सकता है, गर्भपिंड से नहीं मिलता।

पृष्ठ ११६ पर एक बहुत ही अनुचित बात लिखी हुई है। लेखक ने लिखा है—"छोटे बच्चों को दिन को तो भूख लगती ही है, वे रात को भी भूखे होते हैं। अतः उन्हें रात को भी दूध देना चाहिए। आगे चल कर यह शिक्षा दी गई है कि एक बजे और चार बजे रात को या इससे कुछ पहले ही दूध पिलाना चाहिए और यदि एक बार ही पिलाना हो तो दो बजे रात को पिलाना चाहिए। अपने बच्चे को सुखी और स्वस्थ रखने की इच्छा रखनेवाली माताओं को भूलकर भी वैद्य जी की यह सीख नहीं माननी चाहिए। प्राचीन काल

में स्त्रियाँ रात्रि में बच्चों को दूध पिलाया करती थीं, अब भी मातायें ऐसा करती हैं, कुछ डाक्टर भी ऐसी राय दे देते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भी यदि रात्रि में इस तरह से भोजन करने लगे तो कुछ ही दिनों के बाद अपना स्वास्थ्य खो बैठेगा। बड़े बड़े डाक्टरों की एक कान्फ़रेंस ने यह तय किया है कि शाम के बाद दूध पिलाने और सुबह दूध पिलाने में सात-आठ घंटे का अन्तर होना चाहिए। २४ घंटे में ६ बार ही दूध पिलाना बच्चे के लिए श्रेयस्कर है। हिन्दी के लेखक यदि इतना भी ध्यान में रक्खा करें कि उनकी क़लम से कोई ग़लत सीख न लिखी जाय, विशेषकर स्त्रियों और बच्चों के सम्बन्ध में, तो देश सदा उनका कृतज्ञ रहेगा।

१५—आशीर्वाद (कहानी-संग्रह)—लेखक, श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी० हैं। मिलने का पता—गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।

पुस्तक में पाँच कहानियाँ हैं। भाषा साधारणतया अच्छी है। चरित्र-चित्रण कहीं कहीं सदोष और अस्वाभाविक है। शेष-संबल की कथा का अन्तिम भाग एकदम अस्वाभाविक है। लेखक को कदाचित् स्त्री-चरित्र का आभास कुछ कम है। रमाशंकर और सुन्दरी की बातें ऐसी हैं जिनको कोई कामान्ध सुन्दरी भी सहसा नहीं कह सकती। 'लालसा' शीर्षक कथा अगर न लिखी जाती तो कोई हर्ज न था। सुहासिनी संसार में हो सकती हैं, किन्तु इतनी बुरी नहीं। सुहासिनियों के भी हृदय होता है और उनका आचरण दूसरा ही होता है। प्रेमनाथ का चरित्र लेखक ने अपनी समझ में अच्छा चित्रित किया होगा, किन्तु प्रेमनाथ ऐसे मनुष्य को वर्तमान सभ्य समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देख सकता। सुहासिनी की अपेक्षा प्रेमनाथ अधिक पतित जीव है। "मीठी मुस्कान" की कथा अच्छी है, किन्तु शिवनाथ नायक इतना मूर्ख क्यों है जो एक वेश्या को रानी और उसके भवन को रानी जी का भवन समझ बैठा। शिवनाथ की मूर्खता उसकी सुगृहिणी का अपमान है, सुगृहिणी के बुद्धि-चातुर्य और चपलता का कलंक है। कथा इसी तरह से लिखी जा सकती थी बिना शिवनाथ को इतना मूर्ख बनाये हुए।

मैंने लिखा है, भाषा साधारणतया अच्छी है किन्तु जहाँ तहाँ इस तरह के प्रयोग खटकते हैं—

(१) "यह वही सर्प था। अपनी लाल लाल जिह्वा निकालकर बड़ी जोर से फुफकार मारी और मुँह बढ़ाकर काट लिया।" पृ० १२७

(२) "उसके (अपनी सोती हुई पत्नी के) पास आकर बैठ गया। मैंने उसके पुट्ठे (?) पर हाथ रखते हुए कहा, जागती हो या सोगई, सुनो।" (पुट्ठे का प्रयोग रसीला नहीं) पृ० १२७

(३) फिर मैं चुप रहा, कोई उत्तर न दिया। पृ० १२३

(४) ऊधो, प्रेम की का याही रीत। एक गान है, यदि किसी पुराने कवि का है तो कहा ही क्या जा सकता है, नहीं तो 'की का' कोई भाषा नहीं है। पुराने कवि का यदि गान है तो इनवर्टेड् कामाज़ " " में होता तो अच्छा था।

(५) सुहासिनी मुझे पागल न किए दो। पृ० १२८
"किए दो" बुरा नहीं तो अच्छा भी नहीं है।

१६—आदर्श कथा-मञ्जरी—लेखक, श्री हंसराज जी एम० ए० हैं। मिलने का पता—संस्कृत पुस्तकालय, सैद-मिट्ठा बाज़ार, लाहौर। मूल्य २॥) सजिल्द। पृष्ठ-संख्या २४४ है।

पुस्तक के मैंने १५० पृष्ठ पढ़े हैं। इतने पृष्ठों में दस कथायें समाप्त हुई हैं। पुस्तक पर लिखा है कि "भारतविख्यात उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द जी द्वारा रिवाइज़्ड" किन्तु फिर भी भाषा में सुधार की आवश्यकता है। "महर्षि वाल्मीकि ने लव, कुश को जन्म से ही ऐसी उचित शिक्षा देनी प्रारंभ की थी कि जिसकी उपमा नहीं मिल सकती" पृ० १२०। सुदामा कृष्ण के द्वार पर आये हैं, द्वारपाल भगवान् कृष्ण से कह रहा है "महाराजाधिराज!...परिचय पूछने पर अपने आपको श्रीमान महाराज कृष्णचन्द्र का मित्र बताता है।" पृष्ठ० १३५। "जासूस भी इनके साथ कलकत्ता पहुँचा और पुलीस द्वारा इनको गिरफ़्तार कर लिया।" पृ० १४६।

कथा के नाम से इन कहानियों को पुकारने में कोई बहुत हर्ज नहीं, कथावाचकों के समान कहे हुए क़िस्सों के ही समान ये सब हैं। आज-कल की गल्पों का मज़ा इनमें नहीं और कथानक तथा घटना-वैचित्र्य से ये कोसों दूर हैं। —'पुस्तक-प्रेमी'

१७—**रूपराशि**—रचयिता श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०, प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी हैं। मूल्य ।॥) है।

वर्मा जी हिन्दी के एक उदीयमान कवि हैं। आप प्रयाग-विश्व-विद्यालय में शिक्षक हैं। कला क्या है और कला का अध्ययन करके किस प्रकार उसका सदुपयोग किया जा सकता है, 'रूपराशि' इसका एक उदाहरण है।

कुमार जी ने रहस्यवाद का अध्ययन किया है और कबीर पर एक ग्रंथ भी लिखा है, इसलिए उनकी कविताओं में रहस्यवाद यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। रहस्यात्मक रचना लिखने में उन्होंने जो सफलता प्राप्त की है वह प्रशंसनीय है। ऐसी रचना के कुछ मनोरंजक उदाहरण ये हैं—

प्रेयसि, बनो दूधवाली तुम, मैं बन जाऊँ श्याम।
मैं छेड़ूँ, रोकूँ पथ करने दूँ न तुम्हें कुछ काम॥
इस ग्वालिन के पय में पानी नहीं...ब्रह्म में माया।
दिव्य दूध में सकल विश्व का गूढ़ रहस्य समाया॥

अथवा—

बन के उर में चुभा हुआ है यह टेढ़ा पथ तीर।
तरु मर्मर से यही वेदना व्यंजित है गंभीर॥

अथवा—

काले बादल की बूँद पर—
काले तन के उज्ज्वल मन
कलुष रहित हो तुम फिर भी
क्यों इतना प्रिय है अधःपतन

अथवा—

ओस के प्रति—
मेरा भी जीवन उज्ज्वल है
मेरा भी जीवन लघु कण।
प्रतिबिम्बित कर लो इस तन में
नभ से लेकर निर्बल तृण॥

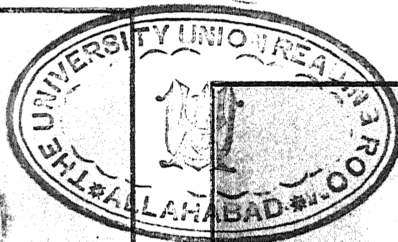
पहले कुमार जी की गणना काव्य-स्कूल में की जाती थी, क्योंकि उन्होंने 'चित्तौड़ की चिता' और 'चितवन' जैसी कविता-पुस्तकें लिखकर प्रबन्धकाव्य लिखने का प्रयास किया था। परन्तु इधर नई शैली में विचार प्रकट करने की जो क्षमता उन्होंने प्रदर्शित की है इसके लिए उनकी प्रशंसा हुई है।

हर्ष की बात है कि कुमार जी ने अपनी 'रूपराशि' में अपने काव्य का मुख्यांश संकलित कर दिया है। 'अंजलि', 'अभिशाप' और 'निशीथ' इन तीनों की पठनीय सामग्री इस पुस्तक में आ गई है। आशा है, नई कविता के प्रेमी कुमार जी की इस पुस्तक से लाभ उठायेंगे। —ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

१८—**स्वास्थ्य-विज्ञान**—इसे श्रीमती चन्द्रकान्तादेवी ने लिखा है। वास्तव में यह एक ऐसी पुस्तक है जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की एक आवश्यक माँग की पूर्ति होती है। इस विषय में हिन्दी में वैसे भी पुस्तकें बहुत कम हैं और जो हैं भी उनमें विषय को इतने सरल ढङ्ग से समझाने का प्रयत्न नहीं किया गया है जितना कि इस पुस्तक में किया गया है। भोजन, जल, वायु, प्रकाश, पास-पड़ोस की प्रकृति और शरीर की आन्तरिक और बाह्य शुद्धि, पोशाक और मानसिक स्थिति आदि जितनी भी बातें मनुष्य के स्वास्थ्य को बनाती या बिगाड़ती हैं उन सबके सुन्दर शास्त्रीय विवेचन के साथ साथ विविध रोगों की होमियोपैथिक पद्धति के अनुसार चिकित्सा-विधि इसमें लिखी गई है। हमारा ख़याल है कि सर्व-साधारण को इससे बिना लाभ हुए नहीं रह सकता और हम बिना यह कहे नहीं रह सकते कि लेखिका को अपने प्रयत्न में यथेष्ट सफलता मिली है। पुस्तक ४४२ पृष्ठों में समाप्त हुई है और सजिल्द है। मूल्य ३) अजिल्द का है। स्वास्थ्य-प्रेमियों को इसका संग्रह करना चाहिए। पता—होमियोपैथिक कालेज, कटरा, इलाहाबाद।



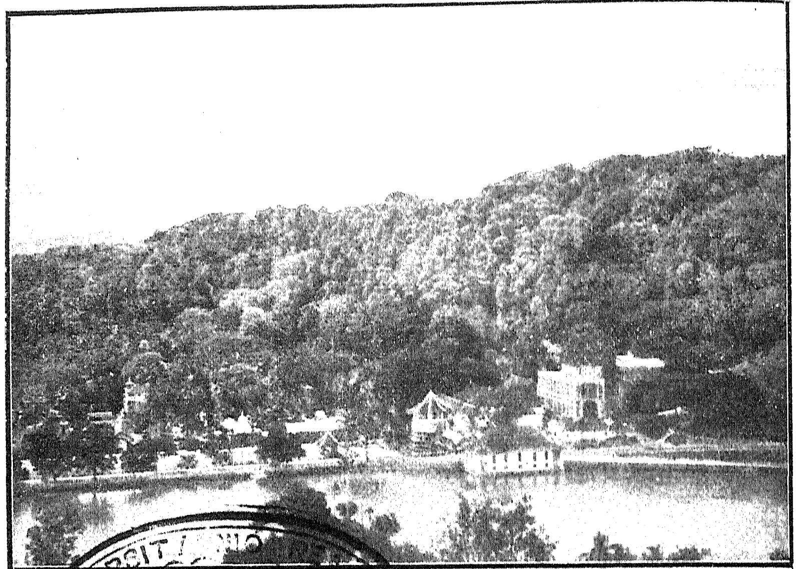






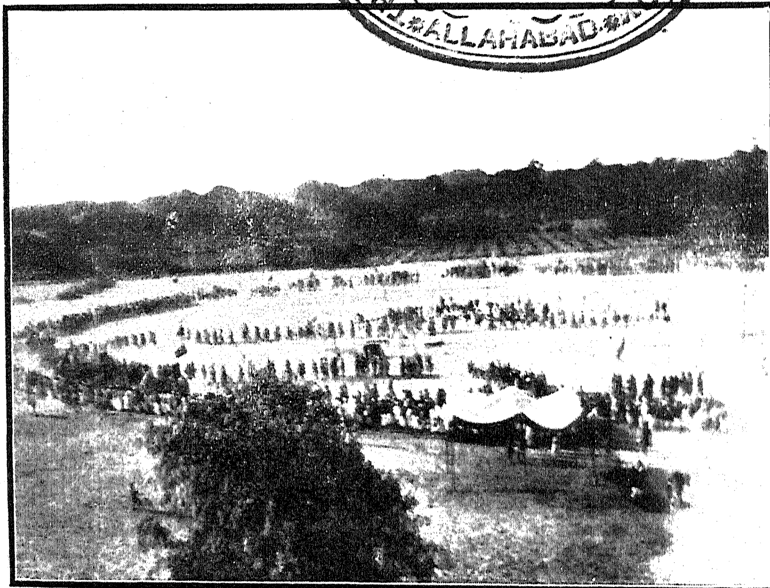
दीवान बहादुर वी० पी० माधवराव—ये ट्रावन-कोर, मैसूर और बड़ौदा के दीवान रह चुके हैं और इस वृद्धावस्था में भी सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेते रहते हैं।

कर्णाटक-हिन्दी-प्रचार-परिषद् और नागरी-प्रचारिणी समिति के जन्मदाता **स्वर्गीय आचार्य्य एम० वेंकटकृष्णय्या जी**—आप कर्णाटक के वृद्ध पितामह कहलाते थे। अभी हाल में आप स्वर्गवासी हुए हैं।

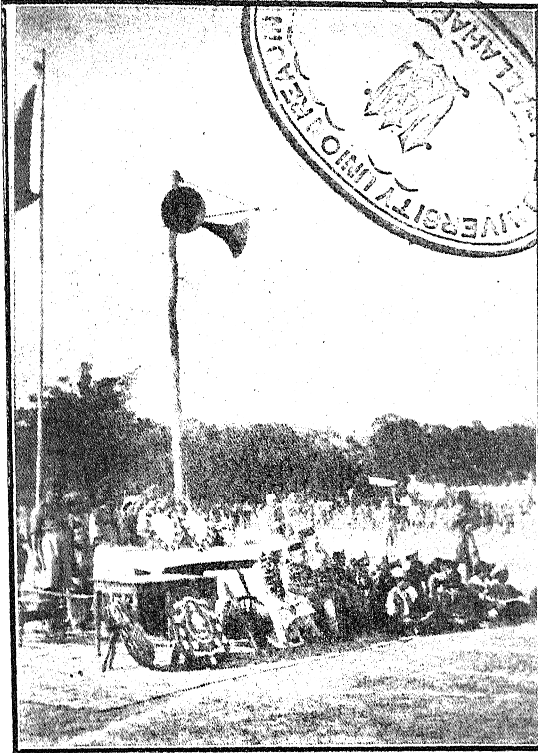


कैंडी (सीलोन) का एक बौद्धमंदिर जिसमें गौतम बुद्ध का दाँत रक्खा है। यह मंदिर एक सुन्दर झील के किनारे है। प्रतिवर्ष हज़ारों बौद्ध इस मंदिर में बुद्ध के दाँत का दर्शन करने आते हैं।

यह चित्र और दीवान-बहादुर श्री माधवराव का चित्र हमें श्री सेंट निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ है।



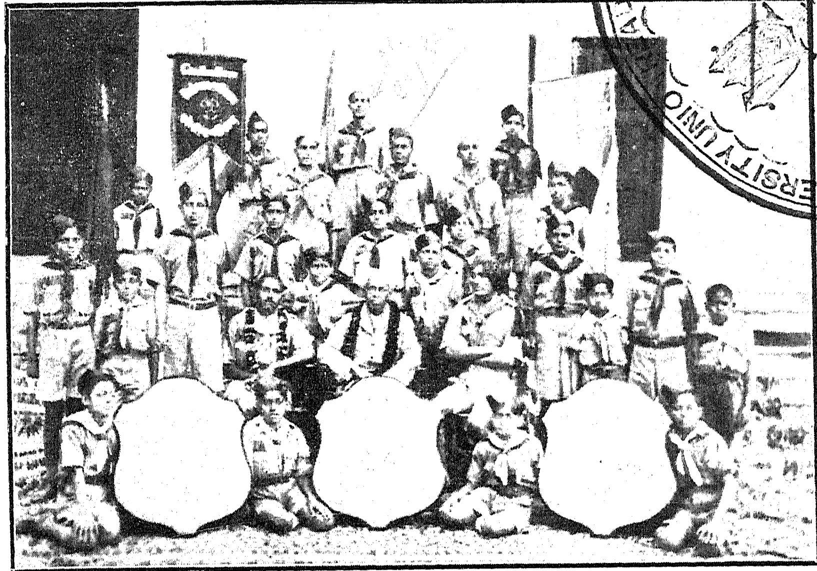
स्काउट मेला— कायस्थ-पाठशाला इंटर-मीडियट कालेज, इलाहाबाद, के खेल का मैदान, जिसमें स्काउट मेले के अवसर पर प्रतिदिन ३,००० से अधिक स्काउट वृत्ताकार में एकत्र होते थे। मैदान आठ भागों में बँटा था और सारी स्काउट-सेना के भी आठ टुकड़े थे। प्रत्येक टुकड़ा अपने निर्दिष्ट भाग में प्रधानाध्यक्ष पंडित श्रीराम वाजपेयी-द्वारा नियुक्त सहायकाध्यक्ष के साथ खड़ा होता था।



मेले का समापन सर सीताराम, सभापति, यू० पी० व्यवस्थापक सभा (लेजिसलेटिव कांउसिल), की अध्यक्षता में हुआ। उस दिन सेवा-समिति ब्वाय स्काउट असोसिएशन के जन्मदाता और चीफ़ (प्रधान) स्काउट महामना पंडित मदनमोहन मालवीय भी मेले में पधारे थे।

इस चित्र में पंडित मदनमोहन मालवीय, सर सीताराम और पंडित इक़बाल नारायण गुर्टू ढाल (शील्ड) और पदक आदि पारितोषिक-सामग्री के पास बैठे हुए स्काउटों के खेल देख रहे हैं।

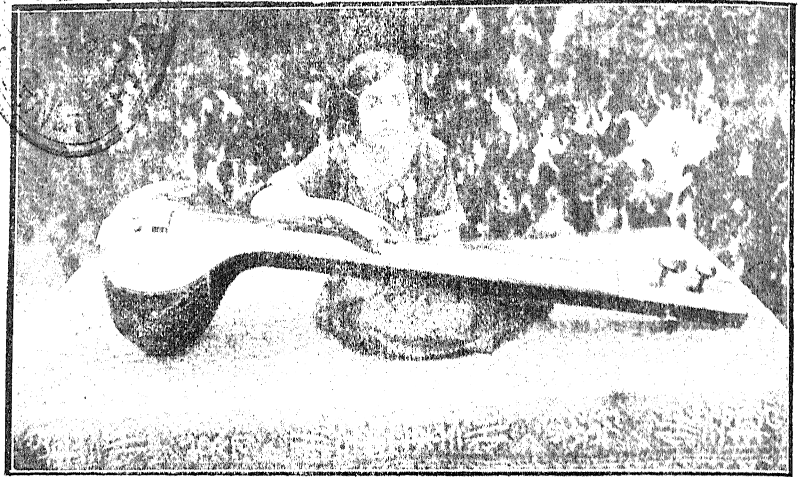
सर सीताराम ने अपने अन्तिम भाषण में यह कहा कि ऐसे मेलों में ४०,००० स्काउटों को इकट्ठा होना चाहिए। मालवीय जी ने सेवा-समिति ब्वाय स्काउट असोसिएशन के प्रत्येक सदस्य को यह आदेश दिया कि सन् १९३४ में वह एक एक स्काउट बनावे जिससे असोसिएशन के ३०,००० स्काउटों की संख्या बढ़कर १९३४ के अन्त तक ६०,००० हो जाय।

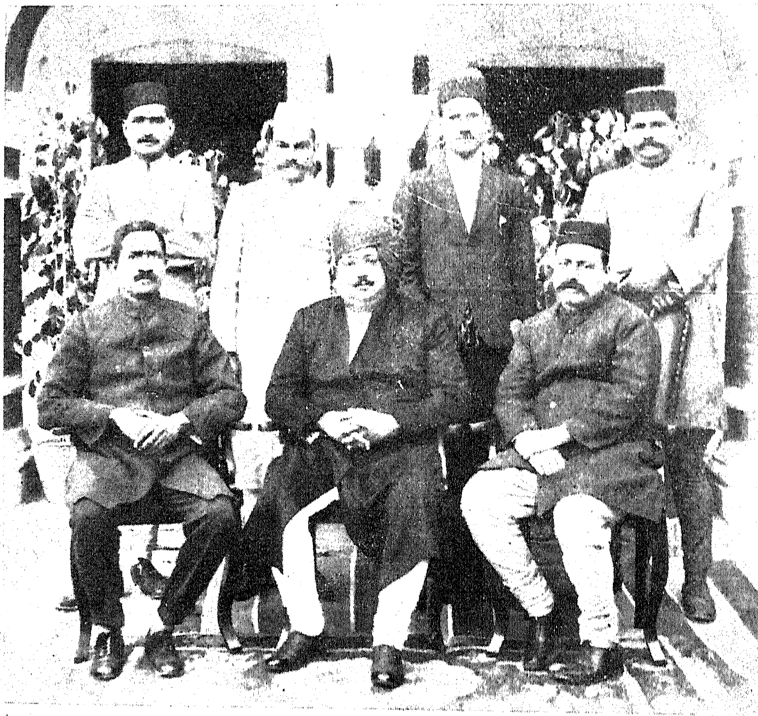


स्काउट मेले में नेशनल हेडक्वार्टर्स (अखिल भारतीय प्रधान-केन्द्र) के रोवर स्काउटों और शेर बच्चों ने सर्वाङ्ग योग्यता की रोवर, स्काउट और कब शील्डें पाईं।

स्काउट-सम्बन्धी ये चित्र हमें श्रीयुत जानकीशरण वर्मा (सेवा-सम्पादक) से प्राप्त हुए हैं।

राजदुलारी माथुर—हाल में ही प्रयाग विश्व-विद्यालय में जो संगीत-सम्मेलन हुआ था उसमें इन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। ये कानपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के चीफ़ इंजीनियर श्रीयुत श्रीनारायण की पुत्री हैं। इनकी अवस्था अभी केवल सात वर्ष की है।





हाल में गोंडा में जो बृहत् कवि-सम्मेलन हुआ था उसके कुछ कार्यकर्ता

दाहनी ओर से बैठे हुए—(१) पं० द्वारिकाप्रसाद शुक्ल 'शङ्कर' सब-जज गोंडा। (२) भैया जगदीशदत्त राम पाँड़े तालुक़दार सिंगहाचन्दा राज्य गोंडा। (३) रायसाहब लाला गोपाललालशाह आ० मजिस्ट्रेट गवर्नमेंट ट्रेज़रर व बैङ्कर, गोंडा।

दाहनी ओर से खड़े हुए—(१) पं० राजकिशोर उपाध्याय, मैनेजर सिंगहाचन्दा राज्य। (२) पं० शिवदत्त मिश्र आ० से० रानीसाहबा, गोंडा। (३) पं० शान्तिप्रसाद शुक्ल एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील गोंडा। (४) पं० रामयज्ञ तिवारी आफ़िस सुपरिंटेंडेंट सिंगहाचन्दा राज्य गोंडा।

विचार-संकलन

सनातनियों से महात्मा गांधी की अपील



महात्मा गांधी सनातनधर्म को अन्दर से शुद्ध और पुष्ट करने में जी-जान से लगे हुए हैं। उनकी धारणा है कि वर्तमान अस्पृश्यता जीवित रहेगी तो हिन्दुत्व का नाश हो जायगा। अपने मलाबार के दौरे में उन्होंने सनातनियों से जो अपील की है वह इस दृष्टि से अत्यन्त विचारणीय है। इस सम्बन्ध में उनके भाषण का एक अंश नीचे दिया जाता है—

सनातनधर्म का ठेकेदार कोई ख़ास दल नहीं है। जिस प्रकार दूसरे, उसी तरह मैं भी अपने को सनातनधर्म का प्रतिनिधि मानता हूँ। जिन शास्त्रों की वे दुहाई देते हैं, उन्हीं के आधार पर मैं भी अस्पृश्यता का विरोध करता हूँ। हरिजनों को भी अन्य सवर्णों की भांति देवपूजा और मन्दिर-प्रवेश का समान अधिकार है। इसलिए मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं जान पड़ता, कि हिन्दू जब तक गुरुवायूर और अन्य प्राचीन मन्दिरों को हरिजनों के लिए समान रूप से न खोल देंगे, तब तक हरिजनों से वे सेवा-कार्य न करायेंगे।

× × × ×

आज सबेरे मैंने सुना, कि कुछ लोगों का ख़याल है, कि मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन करके हम लोग इन मन्दिरों पर अधिकार कर लेना चाहते हैं, किन्तु मैं इस धारणा को भ्रममूलक समझता हूँ। मेरी ऐसी धारणा न कभी हुई और न है। जहां तक मैं जानता हूँ, किसी सहकर्मी की भी ऐसी धारणा नहीं है। मन्दिर का अधिकार तब भी उन्हीं के हाथों रहेगा, जिनके हाथ में अभी है। हम लोगों पर यह भी सन्देह किया जाता है, कि हम ब्राह्मणत्व का विनाश करना चाहते हैं, किन्तु मेरे ऊपर ऐसा सन्देह व्यर्थ है, क्योंकि मेरे विचारों से ब्राह्मणत्व का नाश करना हिन्दुत्व का नाश करना है।

जन्म से किसी को ब्राह्मण न माना जायगा। शास्त्रों में लिखा है, कि जन्म का ब्राह्मण यदि ब्राह्मणत्व के अनुसार कार्य न करेगा, तो उसे ब्राह्मण न माना जायगा।

आप लोगों को "ब्रह्म" शब्द का अर्थ समझना चाहिए। जिसने "ब्रह्म" को पहचान लिया है वही सच्चा ब्राह्मण है। ऐसे ब्राह्मण को मेरा प्रतिप्रातःकाल सहस्र साष्टांग प्रणाम है।

मलाबार में पदार्पण करते ही मुझे उन व्यक्तियों से पाला पड़ा जो अपने को सनातनी कहते हैं। मलाबार कहने का तात्पर्य असमानता प्रदेश से है। दिन के ११ या १२ बजे अस्पृश्यता के संबंध में मैं बातचीत कर रहा था। इतने ही में सीटी की-सी आवाज़ सुनाई दी। जो लोग मुझसे बातें कर रहे थे उन्होंने मुझसे कहा—"हम आपको एक सजीव नायडू दिखा सकते हैं।" उसे सड़क पर चलना मना था। बिना जूते के वह खेत के भीतर से जा रहा था। मैंने अत्यन्त नम्रता से उसे समीप बुलाया। बेचारा डर रहा था। पता न था कि कब उस पर प्रहार हो जाय। भय से कांपते हुए उसने मुझसे बातें कीं। मैंने उससे कहा कि सड़क मेरी ही तरह तुम्हारे चलने के लिए भी है। उसने कहा,—'ऐसा हो नहीं सकता। मुझे सड़क पर चलने का हक़ नहीं है।' मैं अब इस कारुणिक चित्र का पटाक्षेप करते हुए सनातनियों से पूछता हूँ कि वे इस अमानुषिक आचरण

के समर्थन में प्रमाण दिखलायें। आप मुझे मुस्कराते, हँसते और मखौल करते देखते होंगे किन्तु आपको जान लेना चाहिए कि मेरी मलाबार-यात्रा में, बनावटी मखौल, मुस्कुराहट और हँसी की ओट में उस नायडू का दयनीय रूप चक्कर काटता रहेगा।

जब मैं यहाँ आ रहा था, तो काले झण्डों से मेरा स्वागत किया गया। मैं आपसे बता देना चाहता हूँ कि मैंने राष्ट्रीय झण्डों की अपेक्षा काले झण्डे का प्रदर्शन अधिक पसन्द किया। क्योंकि मुझे इस विरोध के नग्नरूप में असत्यता का दृश्य दिखाई दिया। त्रिपुण्ड धारण करके काला या लाल झण्डा लेकर चलने से ही ब्राह्मणत्व न समझा जायगा। जिन धर्म-शास्त्रों की मैं शपथ लेता हूँ, जिनके लिए मैं मरने को भी तैयार हूँ, वे मुझे यही बतलाते हैं कि सच्चा ब्राह्मण वह है, जिसने 'ब्रह्म' को पहचान लिया है। ऐसा ही ब्राह्मण शास्त्रों का सजीव कोष है, किन्तु वह नहीं जो काले झण्डों को लेकर असत्यता का प्रदर्शन करता है।

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र और पंडित जवाहरलाल नेहरू

हमारे देश में स्त्रियों की शिक्षा की ओर पहले तो किसी का ध्यान ही नहीं था। और जब इधर ध्यान भी आकर्षित हुआ तब यह विचार ज़ोर पकड़ गया कि स्त्रियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वे अपना गृह-कार्य्य भली भाँति कर सकें। इस समय स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी देश में जितनी संस्थायें हैं, सबका दृष्टिकोण प्रायः यही है। परन्तु पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में पढ़े गये अपने दीक्षान्त भाषण में इसके विपरीत मत प्रकट किया है। वे कहते हैं—

यह प्रायः कहा जाता है और मेरा विश्वास है कि महिला-विद्यापीठ भी इस पर ज़ोर देता है कि स्त्रियों की शिक्षा-प्रणाली पुरुषों की प्रणाली से कुछ भिन्न होनी चाहिए। गृहस्थी के कर्तव्यों और विवाहरूपी प्रचलित पेशे के लिए उन्हें योग्य बनाना चाहिए। स्त्री-शिक्षा के इस संकुचित दृष्टिकोण से मैं कदापि सहमत नहीं हो सकता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्त्रियों को मानवी कार्यक्षेत्र के प्रत्येक अंग की उत्तम से उत्तम शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें उस योग्य बनाना चाहिए कि वे सभी पेशों और क्षेत्रों में सफल कार्य कर सकें। सच बात तो यह है कि स्त्रियों को तब तक कोई स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती, जब तक कि विवाह एक पेशा समझा जाता है और स्त्रियों की आर्थिक रक्षा का एक मुख्य साधन। राजनीति से भी अधिक आर्थिक प्रश्नों पर स्वतन्त्रता निर्भर है। यदि स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है और वह स्वयं पैसा पैदा नहीं करती तो उसे अपने पति के या अन्य व्यक्ति पर आश्रित रहना ही पड़ेगा और सही बात यह है कि आश्रित रहना कभी स्वतन्त्रता नहीं है। पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण सहकारिता के भावों के साथ होना चाहिए, जिसमें कोई एक दूसरे पर निर्भर न रहे।

देवियो! क्या आप पुरानी लकीर पर चलकर सब बातें वैसी ही स्वीकार कर लेंगी जैसी वे हैं, चाहे वे कैसी ही बुरी हों? उचित और न्यायानुकूल बातों का अनुमोदन केवल सहानुभूति के लिए भले ही हो किन्तु निरर्थक शब्दों से ही सहानुभूति करके क्या आपको सन्तोष हो जायगा और क्या आप इससे अधिक कुछ न करेंगी? आपको जो बुराइयाँ घेरे हुए हैं, उनकी घृणा के साथ अवहेलना करते हुए क्या आप अपनी शिक्षा की वास्तविकता और अपनी योग्यता का यथार्थ परिचय न देंगी? पर्दा, जो कि असभ्य युग का एक बुरा स्मृति-चिह्न है और जो हमारी कितनी ही बहिनों के मन और शरीर को क़ैद किये हुए है, क्या आप टुकड़े टुकड़े फाड़कर भस्म न कर देंगी? अस्पृश्यता और जातिभेद, मनुष्यत्व को गिरा कर एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी के लूटने में सहायक बनाते हैं—क्या आप उनसे लड़कर उन्हें नष्ट न कर देंगी और इस प्रकार इस देश में समानता की वृद्धि में

सहायक न बनेंगी? हमारे विवाह के क़ानून और पुराने असामयिक रीति-रिवाज हमारी उन्नति में बाधक हैं और विशेषतः नारी-जाति को कुचले हुए हैं,—क्या आप लोहा लेकर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल उन्हें न बना देंगी? क्या आप अपनी, लगन और दृढ़ निश्चय के साथ इस बात के लिए लड़ाई न लड़ेंगी कि हमारी देवियाँ खुली हवा के खेलों-द्वारा शारीरिक उन्नति करें और बुद्धिमानी के साथ रह सकें, जिसमें सुदृढ़, स्वस्थ और सुन्दर नारियाँ तथा सुखी बच्चों से हिन्दुस्तान आबाद हो जाय? सबसे पहले, राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतन्त्रता का युद्ध मुल्क के सामने आता है; क्या उसमें आप बहादुरी के साथ भाग न लेंगी?

मैने ये बहुत-से प्रश्न आप से किये हैं, किन्तु इनके जवाब वे सहस्रों वीर लड़कियाँ और स्त्रियाँ दे चुकी हैं, जिन्होंने गत चार वर्षों से हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई में प्रमुख भाग लिया है।

भारत की नारियों ने उत्तर दे दिया है इसलिए महिला-विद्यापीठ की लड़कियो और नव युवतियो, मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ और मैं आपके ऊपर यह भार सौंपता हूँ कि आप स्वतन्त्रता की दीपशिखा सदैव ज़ोरों से जलाती रहें ताकि उसकी चमक हमारी इस प्राचीन और अत्यन्त प्यारी मातृभूमि के चारों ओर फैल जाय।

नवयुवकों को श्रीमती सरोजिनी नायडू का उपदेश

हाल ही में कलकत्ते की रेडिकल सोसाइटी की ओर से कई एक सभाओं में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने भाषण देते हुए विद्यार्थियों और नवयुवकों के कर्त्तव्यों की बड़े सुन्दर ढङ्ग से विवेचना की है। उन्होंने कहा है—

"मैं रेडिकल सोसाइटी से कुछ नहीं कहना चाहती, उन्हें तो अपनी पार्टी के नाम को सार्थक करने के लिए, मौलिकता की खोज करनी ही चाहिए। मैं इस अवसर पर न केवल बङ्गाल के बल्कि भूमण्डल पर के सब नवयुवकों को आशीर्वाद देना चाहती हूँ। मैं नवयुवकों से कहती हूँ कि उन्हें न केवल लड़ाई के समय पर ही अपनी वीरता का परिचय देना चाहिए बल्कि प्रतिदिन अपने जीवन की अँधेरी गुफा को प्रकाशित करने के लिए यत्न करते रहना चाहिए। इसलिए इस नव-वर्ष के प्रारम्भ में मैं आपसे युद्ध में कूद पड़ने के लिए नहीं कहती; परन्तु मैं चाहती हूँ कि आपमें युद्ध का उत्साह, और त्याग के भाव हों जिससे आवश्यकता होने पर आप रणाङ्गण में कूद सकें। यह ठीक है कि हम थक गये हैं और उसके लिए हमें शर्मिन्दा नहीं होना चाहिए। परन्तु हमारी थकावट हमारे आलस्य का चिह्न नहीं होना चाहिए। तजुर्बा हमें बतलाता है कि किसी प्रकार काम करना ही थकावट का इलाज है। थकित उत्साह के लिए, काम के तरीक़ों और उपायों के परिवर्तन से ताज़गी मिलती है, हाँ आदर्श में कभी परिवर्तन नहीं करना चाहिए। मेरी इतनी अवस्था होते हुए भी मैं यह मालूम करने के लिए कभी नहीं बैठती कि क्या मैं थक गई हूँ कि नहीं। अब मैं फिर आपसे—आप भविष्य के शासकों से कहना चाहती हूँ कि आप क्या चाहते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि आप भारत की स्वतन्त्रता चाहते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता केवल उत्साह से नहीं मिला करती। उत्साह वैसे तो एक आवश्यक चीज़ है परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए बृहत् त्याग और महती तपस्या की आवश्यकता है।

फाँसी की सज़ा हटाओ

क्या किसी को फाँसी पर लटकाना आवश्यक है? क्या प्राणदण्ड जंगलीपन और प्रतिहिंसा और बदले का प्रमाण नहीं है? क्या जुर्म को रोकने के लिए फाँसी उपयोगी साधन है? ये प्रश्न हैं जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से लोग इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि अब समय आ गया है जब फाँसी की सज़ा उठ जानी चाहिए। श्रीमती एम०

ई० कज़िंस ने, जो एक विचारशील अँगरेज़ महिला हैं, हाल में ही एक लेख लिखा है जिसका हिन्दी अनुवाद दैनिक 'नवयुग' में प्रकाशित हुआ है। उस लेख का एक महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार है—

एक समाचार-पत्र में यह पढ़कर मुझे बहुत ख़ुशी हुई कि श्रीयुत गयाप्रसादसिंह ने प्राण-दण्ड को हटाने के लिए एसेम्बली में एक बिल पेश किया है। बिल बहस के लिए बैलट की प्रतीक्षा कर रहा है। यह हमारा फ़र्ज़ है कि बिल के लिए एसेम्बली के अन्दर और बाहर समर्थन हासिल करें।

हालेंड, बेल्जियम, डेन्मार्क, नारवे, स्वीडन, पुर्तगाल, आस्ट्रेलिया और कुछ अमरीकन स्टेट्स ने मृत्युदण्ड को अपने देशों के विधान से हटा दिया है। इसके परिणाम-स्वरूप उन देशों में अपराधों की वृद्धि नहीं हुई है। पिछले साल नैपाल के महाराजा ने परीक्षण के रूप में घोषणा प्रकाशित की थी कि अगले पांच साल तक इस राज्य में किसी को प्राणदण्ड न दिया जायगा। इस प्रकार भारत में इस दिशा में सुधार आरम्भ हो चुका है।

लार्ड बक मास्टर भूतपूर्व चान्सलर आफ़ एक्सचेकर, प्राण-दण्ड का कट्टर विरोधी था। इस दफ़ा द्वारा दूसरे लोग उस काम में प्रवृत्त नहीं होते, अन्यों को यह जुर्म करने से रोकनेवाला है, इसका उन्हें कभी भी विश्वास नहीं हुआ। इस प्रकार के उच्च कोटि के क़ानूनदार की अनुभव-पूर्ण सम्मति की उसके योग्य क़दर की जानी चाहिए।

फांसी देने का सारा तरीक़ा फांसी देनेवाले, जेल-सुपरिंटेंडेंट, जेलर, जेल के स्त्रियों और पुरुषों, डाक्टरों, और जेल के कर्मचारियों, वार्डरों, स्त्री-वार्डरों को नीति-शून्य बनानेवाला और गिरानेवाला है। जिसको फांसी लगाई जाती है उसे अपने आपको सुधारने के अवसर से वंचित कर दिया जाता है। किसी भी स्त्री व पुरुष को इस संसार में भलाई करने का अवसर दिये बग़ैर नहीं मारना चाहिए। अधिकांश हत्याएँ, पागलपन के क्षण में, प्रहार का क्या फल होगा इसका परिणाम जाने बिना व ऐसी परिस्थितियों के दबाव के कारण जिन पर कि आदमी का वश नहीं होता, की जाती हैं। ऐसी थोड़ी ही होती हैं जो सर्वथा बुरी दोषपूर्ण प्रवृत्तियों के कारण की जाती हैं।

आम तौर पर प्राण-दण्ड की कठोरता जनता के हृदय को कड़ा बना देती है। श्रीयुत गयाप्रसादसिंह के बिल ने यह उत्तम अवसर दिया है कि भारतीय जनता हर एक तरीक़े से प्राण-दण्ड के विरुद्ध अपनी सम्मति का प्रकाश करे। सब सामाजिक कान्फ़रेंसों; और महिला-सम्मेलनों, और सार्वजनिक सभाओं में इस दण्ड को उठा देने के लिए प्रस्ताव पास होना चाहिए। एसेम्बली के मेम्बरों से अनुरोध करना चाहिए, कि वे इस बिल के पक्ष में भाषण दें और पार्ट लें और जिनको इस भयंकर दृश्य का प्रत्यक्ष अनुभव है, वे इस आन्दोलन के आगे आएँ और प्राण-दण्ड को उठा देने के लिए सिरतोड़ कोशिश करें।

महाराज बड़ौदा का भाषण

बड़ौदा की ओरेंटियल कान्फ़रेंस में वहाँ के महाराज श्रीमान् सयाजी राव गायकवाड़ महोदय ने भाषण देते हुए एक बड़े महत्त्व की बात कही है, जिसका तात्पर्य यह है कि भारत में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के संगम से कुछ गंभीर प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं जिनका हल होना तभी सम्भव हो सकता है जब विद्वान् लोग इन संस्कृतियों के प्राचीन साहित्य का मनन करके जनता के सम्मुख उनका वह रूप उपस्थित करें जहाँ वे परस्पर मिलती हैं। वे कहते हैं—

पूर्वीय और पश्चिमीय संस्कृतियों की रचना भिन्न भले रहे, परन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि भविष्य के लिए, ये दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिए, दोनों ही दिशाओं के निवासियों को एक दूसरे की संस्कृति का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। इसी तरह एशिया भूमि-खण्ड के देशों को भी, एक दूसरे के साथ परिचय और व्यवहार बढ़ाना चाहिए। विश्व

विद्यालयों का काम है कि इस बात की ओर लक्ष्य कर वे अपने पाठ्य-क्रमों में सुधार करें। उनका काम है कि अपने पाठ्य-क्रम में इतिहास, कला और राजनीति की त्रिवेणी संभव करें, और अपने पाठ्यक्रमों में वे चीन और जापान की संस्कृतियों को भी स्थान दें।

पहले हिन्दुस्तानी फिर और कुछ

उपर्युक्त शीर्षक में मौलाना आरिफ़ हसवी का 'वर्तमान' में एक लेख प्रकाशित हुआ है जो जितना मनोरञ्जक है उतना ही विचारणीय भी है। लेख का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"पहले हिन्दुस्तानी फिर मुसलमान" यह वाक्य आज-कल ही नहीं, बल्कि अपने जन्म-दिन ही से मुसलमानों को खटकता आया है। मुसलमान इसको सुनते ही जामे से बाहर हो जाते हैं। उनकी समझ में इसका यह आशय है, गोया उन्हें इस्लाम से निकल जाने को कहा जाता है। अगर "पहले मुसलमान फिर और कुछ" कहिए, तो हिन्दू इसका यह अर्थ निकालते हैं, कि मुसलमानों को देश और जाति से कोई प्रेम नहीं। वे देश के हित को मुसलमानों के हित पर क़ुर्बान कर देना चाहते हैं, लेकिन वास्तव में न 'पहले हिन्दुस्तानी फिर मुसलमान' का वह अर्थ है, जिससे मुसलमान चिढ़ते हैं और न "पहले मुसलमान फिर हिन्दुस्तानी" का वह अर्थ है, जो हिन्दू समझते हैं।

स्वार्थी मुसलमानों ने इस वाक्य को इतना बदनाम कर दिया है, कि अगर कोई मुसलमान अपने आपको "पहले हिन्दुस्तानी फिर मुसलमान" कह देता है, तो लोग कहने लगते हैं, कि वह हिन्दुओं का दास हो गया और मुसलमानों का शत्रु। ऐसे ही स्वार्थी लोग इसके जवाब में अपने आपको "पहले मुसलमान फिर कुछ और" कहकर सस्ती ख्याति प्राप्त कर लेते हैं। मानों वे केवल मुसलमानों के लिए जीते और उन्हीं के लिए मरते हैं। मगर उनका मतलब केवल यह है कि यह स्वाँग भरकर अपना मतलब निकालें। ऐसे लोगों की कृतियों से यह सिद्ध होता है कि उन्हें मुसलमानों की हानि-लाभ की इतनी फ़िक्र नहीं, जितनी अपने हित-साधन की। इस दूषित नीति का यह नतीजा निकल रहा है, कि मुसलमानों के दिल से स्वदेश-प्रेम का भाव निकलता जाता है और यह प्रवृत्ति पैदा हो रही है कि मुसलमानों को राजनैतिक संग्राम से अलग हो जाना चाहिए। मालूम नहीं, मुसलमान जनता कब यह समझने लगेगी, कि "पहले मुसलमान फिर कुछ और" की हाँक लगानेवाले नेता मुसलमानों के दोस्त नहीं बल्कि अपने दोस्त हैं।

गोपालन-सम्बन्धी एक आवश्यक समस्या

गोवंश की वृद्धि न होने से भारतवासियों का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। लोगों की शिकायत है कि दूध महँगा मिलता है और अच्छा नहीं मिलता। आधुनिक ढङ्ग से गायों का पालन करने से ये दोनों शिकायतें दूर हो सकती हैं और जब गाय की उपयोगिता भारतवासियों की समझ में आ जायगी तब गो-वध अपने आप रुक जायगा। देहरादून के माडल डेयरी फ़ार्म के श्रीयुत केदार ने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखकर इन प्रश्नों पर अच्छा प्रकाश डाला है, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

मुझे दुःख से कहना पड़ता है कि हम लोग केवल नाममात्र ही के गो-रक्षक रह गये हैं। हमारे यहाँ के गोधन की जो दुर्दशा है, उसका दृश्य आपको गौशालाओं और पिंजरा-पोलों में और भी नग्नरूप में देखने को मिलता है। कई एक गौशालाओं की तो ऐसी अवस्था है कि क़साईख़ानों और उनमें परिणाम की दृष्टि से कोई भेद नहीं रह जाता। अमेरिका की एक आदर्श गौशाला का कुछ समय हुआ होर्डस डेरीमैन अख़बार में विवरण निकला था। उसमें बीस बीस और तीस तीस सेर प्रतिदिन दूध देनेवाली १५०० गायें हैं। उनके दूध निकालने के लिए मेरी गो रौंड की तरह का 'रोटो लेक्टार तैयार

हुआ है। उस चक्कर में एक समय में पचास गौएं आती हैं। वह बिजली की शक्ति से घूमता रहता है और गायें उसमें एक एक करके एक ओर से आकर दूसरी ओर से निकल जाती हैं। इस बीच में वह साफ़ होकर उनका दूध मशीन-द्वारा दुहा जाकर दूध के कमरे में चला जाता है। यह चक्कर दिन-रात के चौबीस घंटे चलता रहता है और इस समय में वहाँ की १५०० गाय दिन रात में तीन बार दुही जाती हैं।

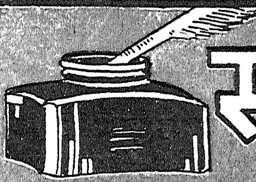
अमेरिका के वेबरली नगर में हाल में ही एक दुग्ध-शाला बनी है, जिसकी बिल्डिंग पर ही केवल तीन लाख डालर (लगभग बारह लाख रुपया) व्यय हुआ है। और उसमें प्रतिदिन डेढ़ लाख पौंड दूध की सप्लाई का प्रबन्ध किया गया है।

जिस कार्य की आधार-शिला हमारे पूर्वजों ने उस समय रक्खी जब संसार के अन्य देशों को अपने शरीर ढकने तक का भी ज्ञान न था और जिस कार्य को वह चिर काल तक परम पराकाष्ठा पर पहुँचाये रखने में सफली-भूत रहे, हम उनकी सन्तान आज उस ओर से बिलकुल बेगाना से होगये हैं। गो-महिमा का यथार्थ स्वरूप हमारी आँखों से बिलकुल ओझल ही हो गया है। परन्तु दूसरों के, हमारी भाषा से अपरिचित, मस्तिष्कों ने उसके मर्म को समझ लिया और तुरन्त कार्यरूप में अग्रसर भी हो गये। गोवंश के साथ ही गोपतियों ने भी अन्य देशों में डेरे जमा लिये।

इस सारी प्रस्तावना के पश्चात् स्वाभाविकतया प्रश्न होगा कि आख़िर क्या किया जाय। इस सम्बन्ध में सबसे पहला काम तो हमारे हृदयों का पट-परिवर्तन है। गाय की रक्षामात्र से अब कुछ विशेष बनने का नहीं, न वर्तमान ढंग के गो-पूजन और गो-पालन से कुछ सुधरने की ही आशा की जा सकती है।

महात्मा गांधी के यंग इंडिया अख़बार में एक बार प्रकाशित हुआ था कि प्रतिवर्ष इस निर्धन देश में एक अरब छप्पन करोड़ चालीस लाख रुपया फालतू गाय-बैलों पर ख़र्च होता है। परन्तु तब भी तो गोधन का दिन प्रतिदिन ह्रास ही हो रहा है। वस्तुतः गोरक्षा से ऊपर उठ कर हमारा दृष्टिकोण अब गवोन्नति होना चाहिए। यह प्रकृति का नियम है और अटल नियम है कि अनुप-योगी और हीन-दीन वस्तुओं का स्वयमेव नाश होता रहता है। जब तक गौओं की दशा सुधर कर उनका रखना आर्थिक तौर पर लाभदायक नहीं हो जाता तब तक गोवध भी बन्द नहीं हो सकता। कोई भी ऐसे पशु को स्थायी तौर पर रखने के लिए तैयार नहीं होगा जिस पर व्यय आय से अधिक उठता हो। अतएव मेरी आज आर्य्य जनों से गोवंश की उपयोगिता को बढ़ाने के लिए ही ज़बरदस्त अपील है और इस कार्य की आधार-शिला हमारे अपने घरों में ही सर्वप्रथम रक्खी जानी चाहिए।

नवयुवक-वर्ग के लिए इस सम्बन्ध में कितने ही आकर्षणीय कार्य हैं। वह ग्रामों में रह कर अशिक्षित कृषकों और गो-पालकों की सहायता कर सकते हैं। तथा, वहाँ के दूध, मक्खन, घी इत्यादि को नगरों तक शुद्ध अवस्था में पहुँचाने का ज़िम्मा ले सकते हैं। गो-पालन और कृषिकार्य स्वयं करने के लिए आगे बढ़ सकते हैं। नगरों में रह कर वे ग्रामों से आनेवाले दूध-मक्खन को उत्तम रीति से नगर-निवासियों के घरों तक पहुँचाने का धंधा कर सकते हैं। और गाय के दूध से बननेवाली अनेक वस्तुओं, बटन, कंघियाँ, फ़ौंटेन-पेन, खिलौने, चाकू, छुरियों वा छातों के हैंडल और दवा-इयाँ इत्यादि तैयार करने का प्रबन्ध सोच सकते हैं। इस कार्य में साधारण दृष्टि से भले ही कोई लाभ होता न दीखता हो, परन्तु इसकी नींव सब व्यवसायों से गहरी और पक्की है। यदि डेनमार्क, हालेंड, आस्ट्रेलिया और अमेरिका कुछ वर्षों में इतनी उन्नति कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि भारतवर्ष पहले से ही इस कार्य की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति रखते हुए पूरा प्रयत्न करने पर भी सफलमनोरथ न हो।



सम्पादकीय नोट

बिहार का प्रलयकाण्ड



त १५ वीं जनवरी को २॥ बजे के क़रीब बिहार में भयानक भूकम्प आया, जिसकी लहर का अनुभव उत्तरी भारत में क़रीब क़रीब सर्वत्र हुआ। यह एक ऐसी घटना है जो भारतवर्ष के लिए सर्वथा नई कही जायगी। इस भूकम्प का दौरा साढ़े तीन मिनट तक रहा, परन्तु इतने ही समय में सम्पूर्ण उत्तरी बिहार एक हरे-भरे उपवन से बदल कर बिलकुल उजाड़ हो गया। मुंगेर जैसा प्राचीन शहर मिट्टी में मिल गया और उसके फिर से आबाद होने की आशा नहीं है। समाचारपत्रों से मालूम हुआ कि मुंगेर में केवल चार या पाँच मकान बचे हैं, शेष सब ढह गये। इसी प्रकार मुज़फ़्फ़रपुर की हालत ख़राब है। मुजफ़्फ़रपुर में भी जान-माल की भीषण हानि हुई है। अनुमान है कि २५००० मनुष्य मुंगेर में मरे हैं और क़रीब इतने ही मुज़फ़्फ़रपुर में। घायलों और बेघरबार हुए लोगों की संख्या लाखों तक पहुँची है। जमालपुर, मोतीहारी, चम्पारन, दरभंगा की भी ऐसी ही हालत बताई जाती है। नेपाल की स्थिति और भी शोचनीय है। काठमांडू और उसके साथ नेपाल के कितने ही ऐतिहासिक स्मारक नष्ट हो गये।

जो लोग दूसरे लोक में पहुँच चुके हैं, उनका तो कुछ कहना नहीं है, परन्तु इस प्रलयकाण्ड के पश्चात् जो लोग शेष बचे हैं, उनकी वेदना और कठिनाइयों का वर्णन नहीं हो सकता। भूचाल के बाद की सर्दी ने उनके कष्टों को और भी बढ़ा दिया है। ये लोग आसमान के नीचे दिन में सूर्य के ताप और रात में अग्नि के सहारे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनका कपड़ा-लत्ता और खाने-पीने का सामान पृथ्वी के नीचे दबा हुआ है। जो लखपती थे वे और जो सड़क पर भीख माँगते फिरते थे वे, आज एक चुल्लू पानी के लिए छीना-झपटी कर रहे हैं। भोजन-वस्त्र और पानी तीनों बातों का इन लोगों को अत्यन्त कष्ट है। मुज़फ़्फ़रपुर शहर की तो यह हालत है कि वहाँ का वाटरवर्क्स नष्ट हो गया है। इससे नल-द्वारा पानी का प्रबन्ध होने में महीनों लगेंगे और कुओं में बालू नीचे से मुँह तक उमड़ आई है। इस लिए पानी के लिए भी ये दूसरों के आश्रित हैं। इसी मुसीबत में रेल के मार्ग भी टूट-फूट गये थे, पर अब खुल गये हैं और पानी और अन्य सामान रेल-द्वारा पहुँचाया जा रहा है। यह शहर इस प्रकार दिखाई पड़ता है मानो उस पर महीनों बम-वर्षा हुई हो। जहाँ घनी बस्तियाँ थीं वहाँ से मकानों के नीचे दबी लाशें अभी तक नहीं हटाई जा सकी हैं। उनसे दुर्गन्धि निकल रही है और ऊपर चील और गिद्ध मँडरा रहे हैं। शहर के बाहर जहाँ हरे-भरे खेत दिखाई पड़ते थे, अब बालू दिखाई पड़ती है। स्थान स्थान पर ज़मीन फट गई है और उसके भीतर से बालू, पानी और कीचड़ निकल कर पृथ्वी पर फैल गया है। जिधर भी जाइए, इस प्रलय के शिकार हुए लोगों का आर्तनाद सुनकर हृदय दहल उठेगा। इस प्रकार शहरों की स्थिति अत्यन्त रोमाञ्च-कारी है, गाँवों में रहनेवालों पर क्या बीती है, यह तो धीरे धीरे मालूम होगा।

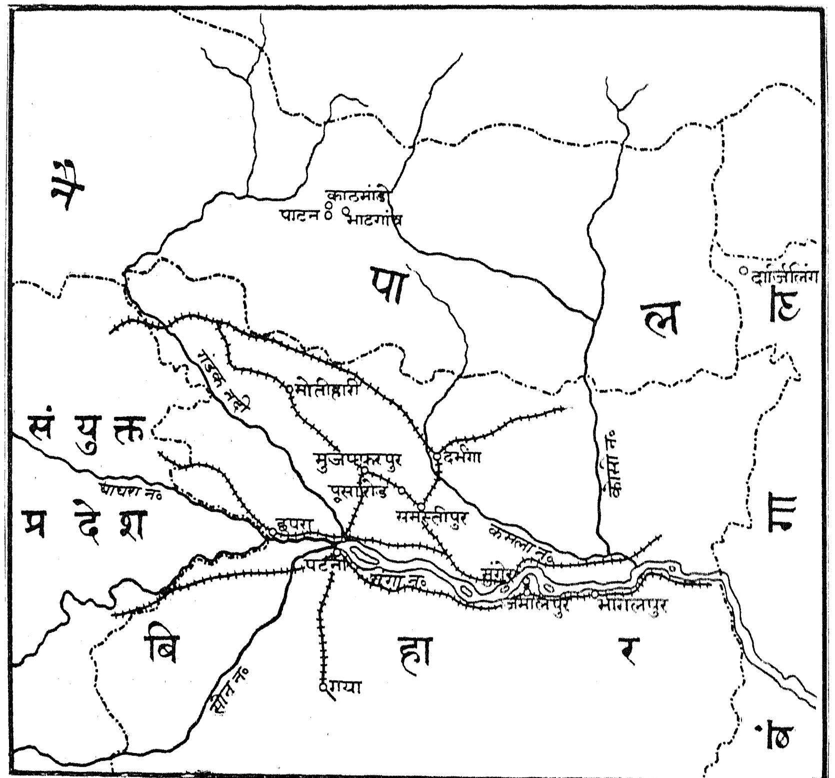
यह सन्तोष की बात है कि भूकम्प के शिकार हुए इन बिहारनिवासियों का आर्तनाद सारे भारतवर्ष के लोगों ने सहानुभूति के साथ सुना है। वायसराय ने एक सहायक फ़ंड खोला था, जिसमें एक लाख से ऊपर जमा हो चुका है, कलकत्ता और बम्बई में तीसरे ही दिन बीस बीस हज़ार के क़रीब जमा हो चुका था। अन्य शहरों में भी चन्दा हुआ है और हो रहा है। बिहार

के नेता बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने अपील निकाली है कि सहायता शीघ्र पहुँचनी चाहिए नहीं तो वह व्यर्थ जायगी। भारतीयों की जागृति का यह भी एक चिह्न है कि सहायता उसी तेज़ी से पहुँच रही है जितनी से कि उसे पहुँचना चाहिए। ताता-कम्पनी ने पहले ही कई गाड़ी खाद्य-सामग्री और वस्त्र भिजवा दिया था, कलकत्ते से एक मारवाड़ी सज्जन ने भी एक लाख कम्बल भिजवाये थे। बिहार की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना तो असम्भव है, पर सहायता पहुँचाने में हम सबका उत्साह ऐसा ही बना रहा तो यह आशा की जा सकती है कि जो लोग जीवित हैं वे भूख के शिकार न होंगे।

वास्तविक स्थिति क्या है, यह वही जान सकता है जो स्वयं जाकर यह प्रलयकाण्ड अपनी आँखों देखे। यहाँ लिखकर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुज़फ़्फ़रपुर से लौटने पर समाचार-पत्रों में जो वक्तव्य प्रकाशित कराया था उससे स्थिति की भीषणता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। 'सरस्वती' के पाठकों की जानकारी के लिए उनके वक्तव्य का कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"मुज़फ़्फ़रपुर बरबाद हो गया है। हज़ारों मकान गिर गये हैं। जो बच गये हैं वे फट गये हैं और ऐसे ख़तरनाक हो गये हैं कि उनके पास जाने में भी भय होता है। सड़कें और गलियाँ मलबे और ईंटों से भर गई हैं। छोटी छोटी गलियों में मलबे का पहाड़ लगा है। किसी किसी जगह लोगों को दस बारह फ़ुट ऊँचे मलबे पर चढ़कर गलियों में जाना पड़ता है। सड़कों पर जगह जगह बड़ी बड़ी दरारें हो गई हैं जिनसे बहुत बालू और पानी निकला था। अब भी बालू के ढेर लगे हैं। एक जगह सड़क पर बहुत बड़ी खाई हो गई है।

"जो लोग बचे हैं वे बड़े कष्ट से दिन बिता रहे हैं। लोग चादर तान तान कर उसी के नीचे पड़े हैं। वहाँ कोई घेरा परदा भी नहीं। लोगों के पास बहुत ज़रूरी सामान भी नहीं। करारी सर्दी से लोग ठिठुर रहे हैं। जहाँ लोग इस तरह चंदोवा तान तान कर पड़े हैं उनमें से कुछ स्थान ऐसे हैं जो मलबे से चारों ओर से घिरे हैं और मलबे के ढेरों को लाँघकर वहाँ पहुँचना भी कठिन है। ऐसी जगहों में बड़ी गन्दगी फैली है। महामारी फैलने की विशेष आशंका है।

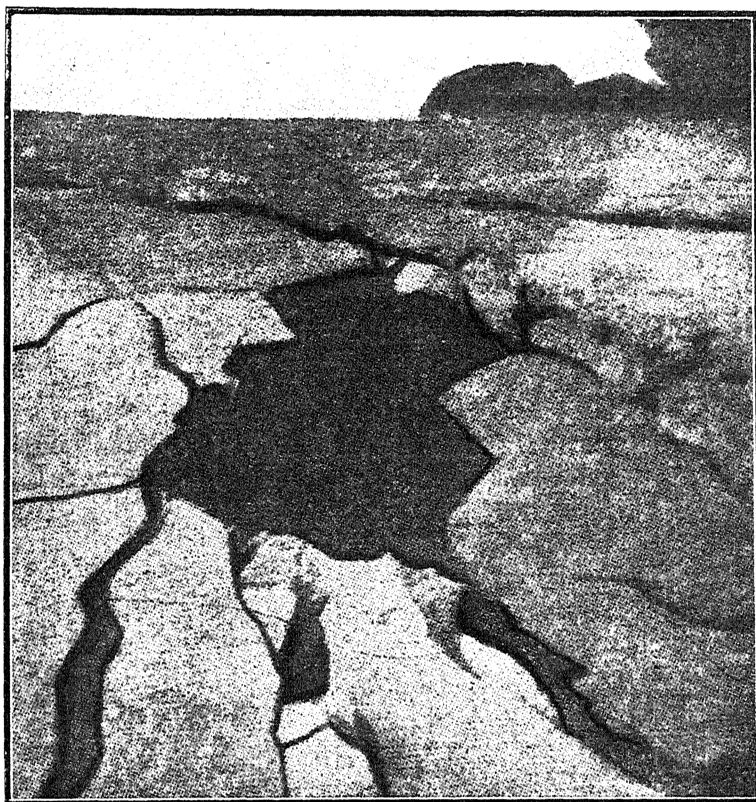


"लोगों को पीने का पानी मिलने में बड़ी मुश्किल पड़ रही है। मलबे के नीचे बहुत-सी लाशें अब भी दबी पड़ी हैं। मैंने देखा कि एक जगह मलबा हटाने से एक नौजवान की लाश निकली, बेचारे के हाथ ऊपर को उठे थे। शायद गिरती दीवार से अपने को बचाने को हाथ उठाये थे। जो लोग घने बसे महल्लों में थे उनके और ख़ास कर औरतों के बचने का कोई उपाय नहीं था। लोग घर से निकल कर सड़कों पर और गलियों में आते थे तो दोनों ओर के मकानों के गिरने से वहीं दब जाते थे। बहुत-से लोग मलबे के नीचे दबकर भी जीवित थे पर समय पर सहायता न पहुँचने से तड़प तड़प कर मर गये! कई दिनों तक कोई सहायता पहुँच ही नहीं सकी। कुछ आदमी तो तीन दिन बाद मलबे के नीचे से निकाले गये और जीवित रह गये! सहायता-कार्य में विलम्ब होना बहुत ही बुरा हुआ।

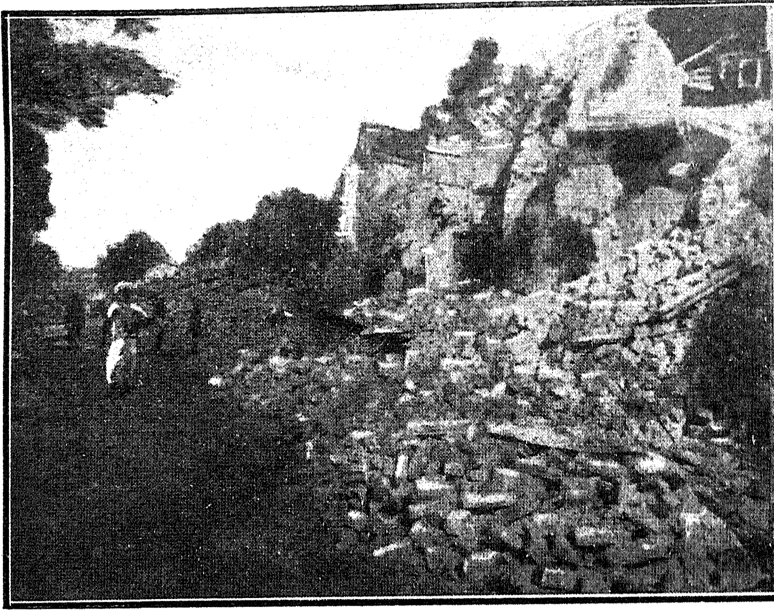
"मुज़फ़्फ़रपुर के लोगों को सबसे बड़ी आवश्यकता है अन्न, वस्त्र, कम्बल, अच्छे आश्रय और दवादारू की। कम से कम एक बड़ा सा अस्पताल खोला जाना चाहिए और जगह जगह डाक्टरी सहायता पहुँचाने का प्रबन्ध होना चाहिए। घायलों के लिए प्रथमोपचार की सामग्री की बड़ी आवश्यकता है। स्त्रियों को प्रसव हो जाने पर भी ऐसी ही खुली जगह में रहना पड़ता है और दवादारू का कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता।

"महामारी न फैलने पावे इसलिए मलबा हटाकर जगहों का साफ़ किया जाना बहुत ज़रूरी है। पीने का पानी न मिलने के कारण भी लोग बड़े कष्ट में हैं। कल में पानी आता नहीं और कुएँ पट या धँस गये हैं। सरकार की ओर से पानी का पम्प बैठाने का प्रबन्ध जगह जगह हो रहा है।

"शहरवालों को सहायता करने का तो सरकारी और ग़ैरसरकारी दोनों तरह का प्रबन्ध हो रहा है पर देहातों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। देहातों का हाल भी बुरा है। पीने को पानी नहीं मिलता। खेतों में ज़मीन के अन्दर से निकले बालू कीचड़ भरे हैं। विपत्ति भीषण है पर अफ़वाहों के कारण और भी सनसनी फैलती है। 'पायोनियर' में जो यह समाचार छपा था कि पटने के पास कुछ देर के लिए एक जगह गंगा सूख गई उसके



[मुज़फ़्फ़रपुर में पोलो-ग्राउंड के निकट फटी हुई भूमि।]



[काग़ज़ के महल की तरह टुकड़ा टुकड़ा होकर मकान गिर गये हैं—मुज़फ़्फ़ुर]

सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी C/o बिहार बैंक लिमिटेड, पटना।

यह भूकम्प कैसे आया? इसका लोग तरह तरह के अनुमान लगा रहे हैं। कतिपय भूगर्भविद्या-विशारदों का अनुमान है कि हिमालय की स्थिति में कुछ परिवर्तन हो रहा है, वह और ऊँचा उठेगा और जब जब वह उभड़ेगा तब तब उसके निकट के देशों में भूकम्प आयेगा। कुछ ज्योतिषी इस भूकम्प का कारण कई ग्रहों का सम्मेलन बता रहे हैं और कुछ यह अनुमान लगाते हैं कि इसका कारण वह ग्रह है जो पृथ्वी के इतना निकट आ गया था कि मिर्ज़ापुर में दिखाई पड़ा था और भूकम्प उसी के तीक्ष्ण आकर्षण का फल था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस भूकम्प का कारण एक ज्वालामुखी है जो रोसड़ा (दरभंगा) के निकट खुल गया था और आग उगलने लगा था। यह ग़नीमत हुई कि यह ज्वालामुखी शीघ्र ही सुप्तावस्था को प्राप्त हो गया। अनुमान किया जाता है कि यह फिर प्रज्वलित हो सकता है। यदि यह सत्य है तो बिहार के जिन स्थानों में यह भीषण भूकम्प आया है, वहाँ इसकी आशंका सदैव ही बनी रहेगी।

बारे में मुझे पटने में कुछ सुनने में नहीं आया। मृत्यु संख्या के बारे में भी निश्चय नहीं हो सकता। इधर सरकारी अधिकारी दस्तूर के मुताबिक़ कम तादाद बताते हैं और उधर अफ़वाह बहुत ज़्यादा तादाद बताती है। सच्ची तादाद शायद इन दोनों के बीच में होगी। इसमें सन्देह नहीं कि भूकम्प से बहुत ज़्यादा आदमी मरे और अब भी मलबे के नीचे बहुत-सी लाशें दबी पड़ी हैं।"

'सरस्वती' के पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि इस अवसर पर वे जो सहायता बिहार के पीड़ित भाइयों की कर सकते हों, अवश्य करें। सहायता में नये पुराने वस्त्र और अन्न आदि सभी वस्तुएँ भेजी जा सकती हैं। इन वस्तुओं के भेजने में जो असुविधा का अनुभव करें वे नक़द रुपया भेज सकते हैं। सहायता करनेवाली जितनी संस्थायें हैं सब पारस्परिक सहयोग से काम कर रही हैं और किसी भी संस्था की मार्फ़त सहायता भेजी जा सकती है। जो सीधा भेजना चाहें वे इस पते पर भेजें—श्रीयुत आर० सी० पंडित, कोषाध्यक्ष, बिहार

योरप की अवस्था

योरप का संसार के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इधर सौ वर्ष के भीतर जो प्राधान्य दृढ़ता को प्राप्त हुआ था उसको भी महायुद्ध से काफ़ी क्षति पहुँची है। अपनी आर्थिक

स्थिति सँभालने के लिए उसे संयुक्त-राज्यों का मुँह ताकना पड़ता है और प्रबलता तथा व्यवसाय के क्षेत्र में भी जापान का लोहा मानना पड़ता है। ऐसी दशा में योरप का राष्ट्र-संघ जितना कर सकता था, करता रहा। परन्तु संयुक्त-राज्यों के असहयोग से तथा इधर जापान के सम्बन्ध भंग कर लेने से वह विश्वशान्ति की व्यवस्था करने में असफल हुआ है। इससे प्रकट होता है कि योरप का पूर्व-गौरव अब नहीं रहा। और यह उसके लिए सौभाग्य की बात है कि अगला महायुद्ध योरप की भूमि में नहीं छिड़ेगा। क्योंकि जापान के वैदेशिक मंत्री ने वहाँ की पार्लियामेंट में जो भाषण हाल में किया है उससे प्रकट होता है कि सङ्कट का क्षेत्र मंचूरिया है और उससे रूस और संयुक्त-राज्यों का ही सम्बन्ध है। उक्त मंत्री महोदय ने यह भी कहा है कि जापान का अन्य सभी राष्ट्रों से पहले से भी अधिक प्रीतिभाव बढ़ गया है और रूस, संयुक्त-राज्य तथा चीन से वह समझौता करने को तैयार है।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि संसार की जोखिम का स्थान कहाँ है।

इधर योरप समष्टिभाव को भी छोड़ता-सा जा रहा है। राष्ट्र-संघ को प्रबल बनाने की अपेक्षा वहाँ के भिन्न भिन्न राष्ट्र अपना अपना मित्रमण्डल बनाने में संलग्न हैं। फ़्रांस के साथ ज़ेचो-स्लोवेकिया, पोलेंड, रूमानिया और जुगोस्लाविया तथा बेलजियम आदि देश हैं। ब्रिटेन और इटली इस संघटन के प्रतीकार के लिए जर्मनी का साथ दे रहे हैं। इटली की महत्त्वाकांक्षा से ब्रिटेन और फ़्रांस अलग शंकित हैं। वह भूमध्य-सागर में रोमन युग की तरह फिर अपना प्राधान्य क़ायम करना चाहता है। और है प्राधान्य वहाँ ब्रिटेन का। इस प्रकार योरप में आपस में फूट-सी हो गई है और सभी अपनी अपनी रक्षा और इच्छा की पूर्ति की व्यवस्था करना चाहते हैं।

इस अवस्था से उपयुक्त लाभ रूस ने उठाया है। जापान का हौवा खड़ा करके उसने संयुक्तराज्यों से बात की बात में राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। और जिस राष्ट्र से वहाँ वाले अभी तक किसी तरह का सम्बन्ध रखना पाप समझते थे उसी से वे अब गले मिल रहे हैं। यही नहीं, जापान के बहाने वह अपना सैन्य-बल भी बढ़ाता जा रहा है। इस प्रकार योरप के सभी राष्ट्र सामरिक सज्जा से दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक सज्जित होते जा रहे हैं।

जर्मनी की प्रबलता

हाँ, जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी यह सब कुछ नहीं कर सकते। सन्धिपत्रों से उनके हाथ बँधे हुए हैं। परन्तु इनमें जर्मनी अब अड़ गया है और वह अपनी मर्यादा के उपयुक्त सामरिक शक्ति से सम्पन्न होना चाहता है। फ़्रांस इसका विरोध कर रहा है। परन्तु ब्रिटेन और इटली जर्मनी का साथ दे रहे हैं। वह माँग उपस्थित करके चुप नहीं हो गया है, किन्तु उस दिशा में क्रियाशील भी हो रहा है। यदि वह फ़्रांस की उपेक्षा कर सेना बढ़ा कर खुल्लम-खुल्ला सन्धि-भंग करेगा तो इसका परिणाम निस्सन्देह भयंकर होगा। योरप के उक्त राष्ट्रों के सूत्रधार इस समय इसी प्रश्न की मीमांसा में संलग्न हैं।

ग्रेट-ब्रिटेन

इस परिस्थिति में ब्रिटेन की अवस्था दयनीय हो गई है। विश्वशान्ति की उसको सबसे अधिक आवश्यकता है और उसके सूत्रधारों ने उसके लिए पूरी ईमानदारी से काम किया। परन्तु जान पड़ता है, वे अपने प्रयत्न में विफल ही नहीं हुए हैं, किन्तु धोखा भी खा गये हैं। जहाँ दूसरे राष्ट्रों ने अपने युद्धोपकरण बढ़ाये हैं तथा उन्हें अप-टु-डेट किया है, वहाँ ब्रिटेन ने उन्हें दूसरों के लिए आदर्श बनने के लिए घटाया है। परन्तु इधर कुछ समय से उसे अपनी परिस्थिति का बोध हो गया है और सबसे पहले उसने अपने व्यवसाय को सँभाला है। उसने साम्राज्य के भीतर अपने व्यवसाय को परस्पर के समझौतों से स्थिर किया है और अब उसने अपनी सामरिक अवस्था की ओर भी ध्यान दिया है।

और जब जापान और संयुक्तराज्यों के युद्धोपकरणों से पृथ्वी बोझिल हो रही है और जब योरपीय राष्ट्र भी अन्य बातों की अपेक्षा युद्ध की ओर विशेषरूप से ध्यान देने

लगे हैं तब विश्वशान्ति के भंग हो जाने की सम्भावना क्यों न होगी।

संसार की ऐसी परिस्थिति में ध्यान देने योग्य अन्य देशों की भी समस्यायें हैं। इनमें चीन और भारत मुख्य हैं।

चीन की दुरवस्था

चीन की अवस्था तो और भी दुरवस्था को प्राप्त है। तिब्बत पहले से ही स्वतन्त्र था। मंगोलिया अर्द्ध स्वाधीन है। मंचूरिया को जापान ने हड़प लिया है। मध्य-एशिया में विद्रोह मचा हुआ है। रहे मुख्य चीन के अठारह प्रान्त, सो इनमें से दक्षिणी प्रान्तों पर फ्रांस की निगाह लगी हुई है। उधर चीन की राष्ट्रीय सरकार मध्यचीन के विद्रोही वर्गवादी प्रान्तीय शासकों के दमन के काम में अपने अस्तित्व का जो परिचय दे रही है उसके वश की बात नहीं है। यदि चीन की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार अपने विशाल साम्राज्य के इस बचे हुए अंश को सुव्यवस्थित कर ले जाय तो इतने से ही चीन एक महान् राष्ट्र में परिगणित हो जायगा। और अब तो उसका सुव्यवस्थित हो जाना उसके जीवन-मरण का प्रश्न हो गया है, क्योंकि उसके सिर पर मंचूरिया में उसके भूतपूर्व पदच्युत सम्राट् पूयी को जापान ने सम्राट् के पद पर अधिष्ठित कर दिया है। इधर तिब्बत में दलाई लामा के स्वर्गवासी हो जाने से एक और नई समस्या उसके सामने आ गई है। इस अवसर पर अपनी हितरक्षा के लिए चीन का आगे आना सर्वथा स्वाभाविक है। परन्तु न तो उसमें इतना बल है और न वह इच्छा करने पर आगे आने ही पावेगा।

भारत की राजनीति

भारत में इस समय कांग्रेस का आन्दोलन बन्द है। महात्मा जी दक्षिण-भारत में सफलता के साथ दौरा कर रहे हैं, इधर भाई परमानन्द जी हिन्दू-महासभा के नाम से अपनी खिचड़ी अलग पका रहे हैं। साम्प्रदायिकता का उनका यह विरोध तब ठीक था जब वे स्वयं साम्प्रदायिक न होते। यह देखना है कि वे अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल होते हैं।

इसी प्रकार अन्य संस्थायें चुप नहीं बैठी हुई हैं, और इनमें ह्वाइटपेपर का नरम दल ने खुलकर विरोध किया है। इसके लिए वह एक सर्वदल-सम्मेलन बम्बई में कर रहा है जो एक सम्मिलित माँग का विधानपत्र तैयार कर ब्रिटिश-सरकार के समक्ष उपस्थित करेगा।

वास्तव में भारत की इस समय बड़ी दयनीय दशा है। उस दिन विलायत से लौटकर जिन्ना साहब ने विद्यार्थियों के समक्ष भाषण करके स्पष्ट ही कह दिया है कि एकता के न होने से हम अपने प्रयत्न में असफल हुए हैं। परन्तु इस अवस्था की ओर विद्यार्थियों या अन्य लोगों की अपेक्षा स्वयं उनका तथा उनके जैसे दूसरे नेताओं का ही ध्यान जाना अधिक समुचित है, क्योंकि इस अवस्था के अस्तित्व में आ जाने की सारी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर है।

जापान के साथ भारत-सरकार ने जो समझौता किया है उससे भी देश की एक बड़े संकट से मुक्ति हुई है। लखनऊ-विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र के प्रोफ़ेसर श्री मुकर्जी का कहना है—

इसका महत्त्वपूर्ण असर भारतीय खेतिहरों पर पड़ेगा जिनको जापानद्वारा भारतीय रुई-बहिष्कार से करारी चोट पहुँची थी। इससे हमारे किसानों की हालत सुधर जायगी और कृषि-व्यवसाय को स्थिरता प्राप्त होगी। इससे भारतीय मिलों को कोई नुक़सान न पहुँचेगा। भविष्य में अत्यधिक जापानी कपड़े की आयात का भय न रहेगा।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

सरस्वती की गत जनवरी की संख्या में उषा और सन्ध्या, प्रकृति पुरुष, तन्मयता और महान् वीर बाजीप्रभु नामक जो चार सुन्दर रंगीन चित्र प्रकाशित हुए थे उनके लिए हम काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कृतज्ञ हैं। वे चित्र हमें उसी संस्था की कृपा से प्राप्त हुए थे। वर्तमान संख्या में कवि निज़ामी का जो चित्र छपा है वह भी हमें उक्त संस्था से ही प्राप्त हुआ है। अतएव इसके लिए भी हम उसके कृतज्ञ हैं।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

नादिर शाह



सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

मार्च, १९३४ | भाग ३५, खंड १ | चैत्र, १९९०
सं० ३, पूर्ण संख्या ४११

गीत

श्रीयुत सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सकल गुणों की खान, प्राण, तुम।
सुख की स्मृति दुख की व्याकुल कृति,
जग-तम की धृति, ज्ञान, ध्यान तुम।

बङ्क भौंह शङ्कित दृग, नव मुख,
मिला रही निज उर अग-जग दुख,
पी ली ज्वाल, बदल नीली, रुख
विभा, प्रभा की खान, आन तुम।

सोई घेर गगन का मन-फन
कुण्डली-लगन-लीन विश्व-जन,
देखी मणि, जागे, परिवर्तन,
गया सकल अज्ञान, यान तुम।

कमलासन पर बैठ प्रभा-तन
वीणा-कर करती स्वर साधन,
कोमल घात गुँजा मृदु गुञ्जन—
भरती शत-शत गान-तान तुम।

संसार की उत्पत्ति और प्रलय

श्री भाई परमानन्द, एम० ए०, एम० एल० ए०



निश्चे की फ़िलासफ़ी की दूसरी आधार-शिला उसकी संसार-सम्बन्धी कल्पना है। इस कल्पना से उसकी फ़िलासफ़ी का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कल्पना उसकी ज्ञान-सम्बन्धी कल्पना का स्वाभाविक परिणाम है। ज्ञान-सम्बन्धी कल्पना में हमने देखा है कि निश्चे इस संसार को केवल माया मानता है, ठीक वैसे ही जैसे हमारे वेदान्ती रस्सी और सांप या रेत और मृग-तृष्णा का दृष्टान्त देते हैं। निश्चे कहता है कि जो वस्तु हम इस क्षण देखते हैं वह अगले क्षण तबदील हो जाती है और फिर हम उसका पहला रूप कभी नहीं देख सकते। इस समय हमें एक मनुष्य का शरीर दिखाई देता है। अगले क्षण उस शरीर के परमाणु बदल जाते हैं और वह पहला शरीर नहीं रहता। यही बात अन्य हर एक वस्तु के बारे में सच है। बौद्ध-दर्शन में यह सिद्धान्त क्षणिक-वाद कहा गया है। इसका दृष्टान्त नदी दिया गया है। इस समय हम एक जगह खड़े नदी को देखते हैं। अगले क्षण में वह पानी आगे चला जाता है और उस पहले पानी को हम देख नहीं सकते। परन्तु हमारी दृष्टि के सामने नदी ज्यों की त्यों होती है। इसी प्रकार संसार सिर्फ़ परिवर्तन का नाम है। निश्चे भी इस परिवर्तन के सिलसिले को ही संसार बतलाता है। दूसरे शब्दों में संसार कोई 'अस्तित्व' नहीं है, बल्कि 'बनना' है।

इससे अगली बात यह है कि इस फिसलनेवाले संसार में जहां कोई वस्तु निश्चित नहीं मालूम होती, वहां एक बात निश्चित है; और वह मनुष्य की अपनी नैसर्गिक बुद्धि और उसके साथ मिला हुआ आवेग है। श्री शंकराचार्य ने भी तो यही कहा है—शेष सबके बारे में सन्देह करता हुआ मैं उससे इनकार कर सकता हूँ। केवल एक बात से इनकार नहीं किया जा सकता; और वह मैं सन्देह करनेवाला हूँ। निश्चे कहता है कि यह नैसर्गिक बुद्धि हर एक जानदार और बेजान में पाई जाती है। चट्टान, पहाड़, बादल, जंगल, चाँदनी और अन्य प्राकृतिक दृश्यों में यह ऐसे ही पाई जाती है जैसे मनुष्य में। अन्तर केवल इतना है कि कुछ स्थानों में यह चेतन-शक्ति नहीं है और कुछ में चेतन-शक्ति बन जाती है। इस प्रकार इस नैसर्गिक बुद्धि के अनन्त केन्द्र इस संसार में हैं। हर एक केन्द्र न सिर्फ़ जीवित रहना चाहता है, बल्कि दूसरों को परे हटा कर अपने आपको आगे बढ़ाना चाहता है। ये अनन्त केन्द्र वे असंख्य आत्मायें हैं जो जैन फ़िलासफ़ी में सर्वसम्मत मानी

गई हैं। हम इस केन्द्र को आत्मा का नाम दे सकते हैं। इन आत्माओं में, जर्मनदर्शनवेत्ता शापनहावर की सम्मति के अनुसार, केवल 'जीने की इच्छा' पाई जाती है। निश्चे कहता है—नहीं, जीने की इस इच्छा के साथ उनके अन्दर 'शक्ति की इच्छा' भी पाई जाती है, क्योंकि ये आत्मायें दूसरों के साथ कशमकश करके उन्हें परे हटाना चाहती हैं। इस कशमकश में कई दूसरों के साथ उनका मेल हो जाता है और उनके साथ एकता करके वे अपना आन्दोलन जारी रखती हैं। मानव-अवस्था में आकर भी मनुष्य शक्ति की इच्छा रखता है। उसे शेष सब कुछ दे दो, परन्तु इससे उसे सन्तोष न होगा। उसे शक्ति दे दो, तब वह सन्तुष्ट हो जाता है। नैसर्गिक बुद्धि का उन्नत नाम 'इच्छा' है। उपनिषदों में उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है—ब्रह्म अज्ञात अवस्था में था। उसके अन्दर इच्छा हुई कि मैं बाहुल्य में प्रकट होऊँ। इस इच्छा से गति उत्पन्न हुई। इस गति से संसार प्रकट हुआ। इस संसार के अन्तस्तल में वह इच्छा और गति ही काम करते हैं। इसी को ब्रह्म कह सकते हैं।

ये असंख्य केन्द्र—आत्मायें—यद्यपि पृथक् पृथक् काम करते हैं, तथापि एक दूसरे से अलग नहीं हैं। निश्चे इस संसार की चलनेवाली सारी गति को समुद्र से उपमा देता है। समुद्र में लहरें उठती हैं और हवा, आँधी, तूफ़ान आदि आते हैं जो उसके अन्दर अनन्त विभिन्न रूप उत्पन्न करते हैं, परन्तु स्वयं वह एक ही रहता है। क्योंकि परिवर्तन-क्रिया विभिन्न रूप उत्पन्न करती है, इसलिए यह परिवर्तन ही उत्पत्ति और प्रलय लानेवाली शक्ति है। उत्पत्ति और प्रलय, दोनों, एक-सी ही क्रियायें हैं। जिस प्रकार बच्चा रेत के घर बनाता है, उनको तोड़ देता है और फिर उससे दूसरे घर बनाता है—उसके बनाने और तोड़ने में कोई फ़र्क़ नहीं; एक क्रिया के साथ दूसरी क्रिया सम्बद्ध है—उसी प्रकार संसार के बनने में परिवर्तन बीज-रूप है। यही उत्पन्न करनेवाली शक्ति और कला है।

उत्पत्ति और प्रलय का सिलसिला अनादि-काल से चला आता है। इसका न आदि है, न अन्त। निश्चे इस सिलसिले को 'शाश्वत पुनरावृत्ति' कहता है। योरप के लोगों के लिए उत्पत्ति और प्रलय का सिद्धान्त एक विचित्र-सी नई कल्पना होगी, परन्तु भारतवर्ष में तो हर एक हिन्दू बच्चा इससे साधारणतया परिचित होता है। निश्चे की विशेष कल्पना यह है कि यह सिलसिला अनादि-काल से है। अर्थात् काल तो अपरिमित है, लेकिन देश जिसमें यह गति होती है, परिमित है और इसलिए यह गति भी परिमित है। इस प्रकार अनन्त काल के अन्दर 'गति का अटूट भाव' जारी रहता है। इससे एक प्रकार की 'चक्राकार क्रिया' उत्पन्न हो जाती है। यह संसार न किसी ख़ास तसवीर पर बनाया गया है और न किसी ख़ास क़ानून के मातहत चलता है। क़ानून, निश्चे के मतानुसार, ऐसी पाबन्दी है जो बाहर से किसी अन्य शक्ति की ओर से बनाई या लगाई गई हो। परन्तु संसार बिना नियम के नहीं है। उसके अन्दर विशेष नियमों के अनुसार परिवर्तन होते हैं। ये नियम उसके अन्दर से ख़ुद-बख़ुद निकलते आते हैं। चूँकि इस संसार को किसी शक्ति ने पहले से सोच कर बनाया नहीं है, इसलिए इसका कोई विशेष उद्देश भी नहीं है। अगर कोई विशेष उद्देश होता तो, क्योंकि यह संसार अनन्त काल से चला आ रहा है, अब तक वह पूरा हो गया होता।

हमारी इस पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति केवल एक आकस्मिक घटना है और इस मनुष्य के अन्दर चेतनता का होना भी आकस्मिक बात है। इन दोनों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

विभिन्न मज़हबों के इतिहासों में एक समस्या बहुत विवादग्रस्त रही है। वह यह कि आया तक़दीर दुरुस्त है या तदबीर—दैव या कर्म? दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने कर्मों में स्वतन्त्र है या परतन्त्र? क्योंकि दैव पहले से है और यह बात निश्चित है कि हम अमुक मार्ग ग्रहण करेंगे, अमुक कार्य करेंगे, इसलिए मनुष्य अपने कार्य में पहले से ही पाबंद है और उसकी स्वतन्त्रता बराय-नाम भी नहीं रहती।

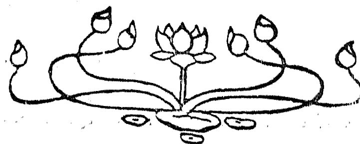
इसके साथ ही, और बिलकुल ऐसी ही, दूसरी समस्या ईश्वर की सर्वज्ञता है। प्रश्न यह होता है कि

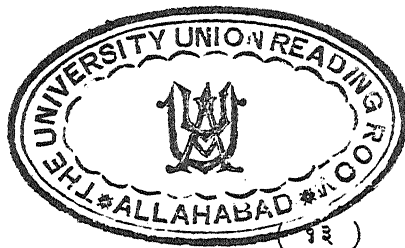
यदि ईश्वर भूत और भविष्य की सभी घटनाओं का एक जैसा ज्ञान रखता है तो उसे यह भी मालूम है कि अमुक मनुष्य अमुक स्थान में उत्पन्न होगा और वह अपने जीवन में अमुक कार्य करने का उत्तरदायी होगा। चूँकि ईश्वर के ज्ञान में परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए जैसा उसका ज्ञान है वैसी ही घटनायें होंगी। इस पर न मनुष्य की स्वतन्त्रता रहती है, न उस पर अच्छे-बुरे काम की ज़िम्मेवारी डाली जा सकती है।

निश्चे यह नहीं मानता कि संसार किसी दैव के अधीन चल रहा है। न वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान् निर्माता समझता है, जो अपनी इच्छा के अनुसार इस संसार-भवन का निर्माण कर रहा है, न वह ईश्वर को ऐसा इंजिनियर समझता है जिसने अपनी बुद्धि और कला की सहायता से इस संसार को ख़ास तजवीज़ के अनुसार चलाने का प्रबन्ध कर रक्खा है। अगर ऐसा होता तो उसकी पोज़ीशन पुतलियों का तमाशा करनेवाले की-सी होती जो अपना ही जी ख़ुश करने के लिए जैसा उसके मन में आता है कठपुतलियों को नचाता है। या फिर उसकी स्थिति नाटक करानेवाले स्टेज-मैनेजर की होती जो एक तरफ़ खड़ा हुआ संसार के नाटक को रचा रहा है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य का अस्तित्व बुलबुले से बुरा और उसका सारा श्रम तथा पुरुषार्थ व्यर्थ ही समझना चाहिए। निश्चे ईश्वर को इस स्थिति में रख कर सन्तोष नहीं पाता। वह उस ब्रह्म को वैसा ही मानता है जैसे वेदान्त में उसकी कल्पना की गई है। वह ब्रह्म सर्वव्यापक है। कोई ऐसा परमाणु नहीं जिसमें वह मौजूद नहीं। इस परमाणु का कोई भाग नहीं जिसमें वह नहीं है। इसलिए जो कुछ है वह ख़ुद ही है और जो कुछ प्रकट है वह उसी का प्रदर्शन है या प्रदर्शन भी वह स्वयं ही है। मनुष्य भी इस प्रदर्शन का एक भाग है। मनुष्य की बुद्धि और शक्ति भी उसी प्रदर्शन का भाग है। जिस मनुष्य में जितनी ही ज़्यादा शक्ति है वह उतना ही ज़्यादा 'ईश्वरीय' है।

निश्चे उस ईश्वर का सहन नहीं कर सकता, बरन उसके अस्तित्व को घृणा की दृष्टि से देखता है जो कहीं आसमान में बैठा हुआ इस संसार को अपनी मर्ज़ी से चलाता है। वह तो एक अधिराज या कुल अधिकार रखनेवाला मैजिस्ट्रेट है, जो दूसरों को डरा-धमका कर अपना दिल ख़ुश करता है। न ऐसे ईश्वर पर विश्वास करने की ज़रूरत है और न उससे डर कर निराश होने की। वह ईश्वर न प्रेम है, न दया। वह तो भय का एक कारण-सा बन जाता है, जो मनुष्य को अपने ही बनाये संसार और सांसारिक जीवन से डराता है। मनुष्य को वह संसार से घृणा करवाता है और उसे कुछ करने नहीं देता। वह चाहता है कि सब लोग उसकी पूजा किया करें। इससे बढ़कर उसकी ईर्ष्या का क्या उदाहरण हो सकता है कि उसने उन अर्ब-खर्ब मनुष्यों को दुःख देने के लिए जो उस पर या उसके किसी मेहरबान पर ईमान नहीं लाते, दोज़ख़ बना रक्खे हैं! निश्चे कहता है कि जो लोग हर समय उसका नाम पुकारते हैं और उसकी तारीफ़ या ख़ुशामद के गीत गाते हैं वे ईश्वर का भजन नहीं करते बल्कि किसी ऐसे जानवर का जिसके बड़े लम्बे-लम्बे कान हैं। निश्चे का ईश्वर ब्रह्म-शक्ति है जो सूर्य के समान प्रकट होती है और अपनी पूर्णता पर पहुँच कर ब्रह्म में लीन हो जाती है। यह प्रक्रिया अनादि-काल से इसी प्रकार चल रही है। हिन्दू दर्शनवेत्ता इसे, उत्पत्ति और प्रलय, ये नाम देते हैं। निश्चे कहता है—देवता और अ-देवता बनाने की अनन्त प्रक्रिया की अन्तिम गति ईश्वर है।

[क्रमशः





भारत में हरिजनों की दशा

प्रोफ़ेसर दयाशङ्कर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०



इस समय हरिजनों का प्रश्न देश का सबसे बड़ा प्रश्न है। ऐसी दशा में यह जानना आवश्यक है कि हरिजनों की कहाँ कितनी संख्या है और उनकी कैसी दशा है। इस लेख में इन प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

(१३)

कोरी

सन् १९३१ में इस जाति के व्यक्तियों की संख्या ९ लाख ६४ हजार थी। भिन्न प्रांतों में इनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त या राज्य	कोरियों की संख्या
युक्तप्रान्त	९,२३,०००
मध्यप्रान्त	३०,०००
राजपूताना	११,०००
मीज़ान	९,६४,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि कोरियों की सबसे अधिक संख्या युक्तप्रान्त में ही है। ये इस प्रान्त के प्रायः सभी बड़े ज़िलों में पाये जाते हैं। इनका जातीय व्यवसाय कपड़ा बुनना है, परन्तु अब बहुत कम लोग इस काम को करते हैं। विदेशी सस्ते कपड़ों के अधिक परिमाण में भारत में आने से और देश में बड़ी बड़ी मिलों में सस्ता कपड़ा तैयार होने से इन लोगों को अपना प्राचीन व्यवसाय छोड़कर खेती की शरण लेनी पड़ी तथा मजदूरी करके अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ा। चमारों की तरह इस जाति के व्यक्ति भी कहीं कहीं जूता बनाते हैं। धोबी और चमारों के अतिरिक्त हिन्दुओं की कोई जाति इन लोगों का स्पर्श किया हुआ अन्नजल नहीं ग्रहण करती। इस जाति में चमारों के समान बहुत-से लोग भक्त रैदास के अनुयायी हैं। कुछ लोग कबीरपन्थी भी हैं और शेष लोग हिन्दू-देवी-देवताओं की पूजा करते हैं।

इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या सन् १९३१ में ८,९११ थी। इनमें से केवल २९९ स्त्रियां थीं। इस जाति में ९७·९ प्रतिशत मनुष्य और ९९·४ प्रतिशत स्त्रियाँ अविद्यारूपी अन्धकार में गोते लगा रही हैं। इस जाति में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार करने की बहुत आवश्यकता है। सन् १९३१ में इस जाति में अँगरेज़ी जाननेवालों

की संख्या ६६८ थी। इनमें से २३ स्त्रियों ने थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी सीख ली थी।

(१४)

डोम

सन् १९३१ में डोम जाति के व्यक्तियों की संख्या ८ लाख ८४ हज़ार थी। मुसलमानी काल में गोरखपुर के आस-पास इन लोगों का राज्य था। गोरखपुर-ज़िले में डोमडिहा और डोमिनगढ़ के खँडहर आज भी इनके प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाते हैं। इनकी आर्थिक और सामाजिक दशा बहुत ख़राब है।

डोम-जाति दो भागों में विभक्त है—बँसफोर और मगहिया डोम। इन दोनों भागों में परस्पर विवाह नहीं होते। बँसफोर लोग टोकरी, मेज़, कुर्सियाँ, सूप तथा बास और बेंत की अन्य चीज़ें बनाते हैं। मगहिया डोमों की कोई निश्चित बस्तियाँ नहीं हैं। ये लोग भारत भर में इधर-उधर भटकते फिरते हैं। ये लोग चोरी बहुत करते हैं। मगहिया डोमों की निम्नलिखित उपजातियाँ हैं—चौधरी, चौहान, बिहारी, हजारी, सावंत और बलगई।

सन् १९३१ में भिन्न भिन्न प्रान्तों में इनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त और राज्य	डोमों की संख्या
बिहार और उड़ीसा	२,६६,०००
बंगाल	१,४०,०००
युक्तप्रान्त	१,१६,०००
मदरास	७६,०००
मध्यप्रदेश	६१,०००
मध्यभारत	५८,०००
राजपूताना	३७,०००
पंजाब	३७,०००
हैदराबाद	३५,०००
कश्मीर	३४,०००
ग्वालियर	१८,०००
मीज़ान	८,८४,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि डोम-जाति के व्यक्ति भारत भर में फैले हुए हैं। उनकी सबसे अधिक संख्या बिहारप्रान्त में है। डोम-जाति के व्यक्ति हिन्दू हैं और हिन्दू-देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। दुसाधों के समान इनमें राहु की पूजा विशेषरूप से की जाती है। ये लोग काली जी को बकरे, भेंड़ इत्यादि जानवरों की बलि चढ़ाते हैं।

इस जाति में बालविवाह बहुत प्रचलित है। सन् १९३१ में मनुष्य-गणना के दिन इस जाति के विवाहित बालकों और बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	१,१४२	३.५	२,११८	६.३
७ से १३ "	५,४५८	१८.२	१२,१२०	४८.०
१४ से १६ "	६,०५३	४४.०	१०,२११	८०.०

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि इस जाति में ६ वर्ष से कम उम्र के विवाहित बच्चों की संख्या ३,२६० थी। यह संख्या बहुत अधिक है। ७ से १३ वर्ष के क़रीब आधी लड़कियाँ मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाई गई। इस जाति में बाल-विवाह रोकने का प्रयत्न दत्तचित्त होकर किया जाना चाहिए। बाल-विवाह की अधिकता के कारण इस जाति में बाल-विधवाओं की संख्या भी अधिक है। सन् १९३१ में १३ वर्ष से कम उम्र की विधवाओं की संख्या ३५१ थी। इनमें से ४६ की उम्र ६ वर्ष से भी कम थी। इनमें विधवा-विवाह प्रचलित है। एक स्त्री के जीवित रहते पति बिना पंचों की आज्ञा के दूसरा विवाह नहीं कर सकता।

डोमों में शिक्षा-प्रचार भी बहुत कम है। सन् १९३१ में केवल ४,८६७ व्यक्ति साक्षर थे। इनमें से साक्षर स्त्रियों की संख्या ५८८ थी। यह संख्या बहुत

कम है। हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि इस जाति में ९८·२ पुरुष और ९९·२ स्त्रियाँ अपढ़ थीं। इस जाति के २७० व्यक्तियों ने थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी की शिक्षा भी प्राप्त कर ली थी।

(१५)

भंगी

सन् १९३१ में भंगियों की संख्या ८ लाख ६ हज़ार थी। सन् १९२१ में इनकी संख्या ६ लाख १ हज़ार थी। इस प्रकार दस वर्षों में इनकी संख्या में २ लाख ६४ हज़ार अर्थात् क़रीब ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस संख्या में लालबेगी, मेहतर और हलालख़ोर भी सम्मिलित हैं। भिन्न भिन्न प्रान्तों और राज्यों में सन् १९३१ में इनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त व राज्य	भंगियों की संख्या
युक्तप्रान्त	४,८३,०००
बम्बईप्रान्त	१,१२,०००
राजपूताना	९२,०००
मध्यप्रान्त	३१,०००
बड़ोदाराज्य	३१,०००
मध्यभारत	२८,०००
बंगाल	२८,०००
ग्वालियरराज्य	२७,०००
बिहार और उड़ीसा	२१,०००
अन्य	१२,०००
मीज़ान	८,६५,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि भंगियों की सबसे अधिक संख्या युक्तप्रांत में है और वे पंजाब तथा मदरास-प्रान्तों को छोड़ कर भारत के अन्य सब भागों में बसे हुए हैं। पंजाब में इन लोगों को चूड़ा कहते हैं। इन चूड़ों की दशा का वर्णन आगे किया जायगा। इस जाति के क़रीब ९३ प्रतिसैकड़ा व्यक्ति हिन्दू हैं और वे हिन्दू-देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इनमें विद्या-प्रचार भी चमारों के समान ही बहुत कम है। सन् १९३१ में इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या ५,८४० थी। सन् १९२१ में यह संख्या १,७६३ थी। दस वर्षों में साक्षर व्यक्तियों की संख्या में केवल ४,०७७ व्यक्तियों की वृद्धि हुई। अब भी ९८ प्रतिसैकड़ा भंगी-जाति के पुरुष और ९९·८ प्रतिसैकड़ा स्त्रियाँ अपढ़ हैं। इस जाति के लड़के कई प्रारम्भिक पाठशालाओं में भर्ती नहीं किये जाते। कहीं कहीं अन्य जाति के लड़के इनके साथ पढ़ना स्वीकार नहीं करते। इनकी शिक्षा की ओर म्युनिसिपल्टियों, ज़िला-बोर्डों और सरकार को विशेषरूप से प्रयत्न करना चाहिए। इस जाति में अँगरेज़ी जानने-वालों की संख्या सन् १९३१ में २०१ थी, इनमें से स्त्रियों की संख्या ४१ थी।

भंगियों में बाल-विवाह बहुत प्रचलित है। सन् १९३१ के इस जाति के विवाहित बालक-बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियाँ	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	१,२३०	१·७	१,७७५	२·२
७ से १३ ,,	८,०३४	१३·०	१४,३०८	२८·०
१४ से १६ ,,	१०,४४३	४०·०	१७,५६७	८०·०

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि इस जाति के १,२३० लड़के और १,७७५ लड़कियों का विवाह उस समय हो गया था जब कि उनकी उम्र ६ वर्ष से भी कम थी। ७ से १३ वर्ष की एक चौथाई से अधिक लड़कियाँ मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाई गईं। इस जाति में बाल-विवाह की प्रथा शीघ्र बन्द होनी चाहिए। बाल-विवाह की अधिकता के कारण इस जाति में बाल-विधवाओं की संख्या सन् १९३१ में ३१२ थी। इनमें ६३ विधवाओं की उम्र ६ वर्ष से कम थी।

इस जाति के व्यक्तियों का मुख्य पेशा पाख़ाना, गन्दी नालियाँ और सड़क साफ़ करना है। कुछ लोग खेती और मज़दूरी भी करते हैं। शहरों में इन लोगों के रहने के स्थान बहुत ख़राब दशा में पाये जाते हैं। इनकी सामाजिक

और आर्थिक दशा ख़राब है। इनकी दशा सुधारने का पूरा प्रयत्न होना चाहिए।

(१६)

चूड़ा

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि भारत के अन्य भागों में जो काम भंगी और मेहतर करते हैं, वही काम पंजाब में चूड़ा करते हैं। सन् १९३१ में इस जाति के व्यक्तियों की संख्या ७ लाख २२ हज़ार थी। ये तीन भागों में विभक्त हैं हिन्दू चूड़ा, मज़हबी और मुसल्ली। मज़हबी उन चूड़ों को कहते हैं जिन्होंने सिक्खधर्म ग्रहण कर लिया है। इनकी सामाजिक दशा हिन्दू चूड़ों से अच्छी है, तो भी ये सिक्ख-समाज में उतना आदर नहीं पाते जितना मिलना चाहिए। मुसल्ली उन चूड़ों को कहते हैं जिन्होंने अपना जातीय व्यवसाय क़ायम रखते हुए इस्लामधर्म ग्रहण कर लिया है। मुसल्ली चूड़ों को कोई सामाजिक असुविधा नहीं है। अछूत तो केवल हिन्दू चूड़ा ही हैं। सन् १९३१ में हिन्दू चूड़ों की संख्या ४ लाख ८४ हज़ार थी। तिरस्कृत होने के कारण प्रतिवर्ष सैकड़ों हिन्दू चूड़ा मुसलमान और ईसाई होते जा रहे हैं। हिन्दू नेताओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए। सन् १९३१ में इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या केवल ५,०५६ थी। इसमें से स्त्रियों की संख्या केवल ७२५ थी। इस जाति में ९८.६ प्रतिशत मनुष्य और ९९.७ स्त्रियां अपढ़ हैं। अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या ५५२ है। इस जाति में बाल-विवाह का उतना प्रचार नहीं है जितना भंगियों में है। सन् १९३१ में ६ वर्ष से कम उम्र के १७६ लड़के और ४२२ लड़कियां विवाहित थीं। ६ वर्ष से कम उम्र की विधवाओं की संख्या केवल ६ थी।

(१७)

बवरी

सन् १९३१ में इस जाति के व्यक्तियों की संख्या ७ लाख २१ हज़ार थी। भिन्न भिन्न प्रान्तों में इनकी संख्या आगे लिखे अनुसार थी—

प्रान्त	संख्या
बंगाल	३,३१,०००
बिहार और उड़ीसा	३,१४,०००
मदरास	४३,०००
पंजाब और युक्तप्रान्त	३३,०००
मीज़ान	७,२१,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि इस जाति के व्यक्ति बंगाल और बिहार में ही अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इनका मुख्य काम नगाड़ा बजाना, मज़दूरी और खेती करना है। इनकी सामाजिक दशा उतनी ख़राब नहीं है जितनी अन्य हरिजन जातियों की दक्षिण-भारत में है।

सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के समय इस जाति के विवाहित बालक और बालिकाओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

उम्र	विवाहित लड़के		विवाहित लड़कियां	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
० से ६ वर्ष	३०५	१.०	६७६	२.०
७ से १३ „	१,८५५	५.५	१०,३८६	३३.२
१४ से १६ „	३,२९५	२७.१	१०,७६४	८०.०

उपर्युक्त कोष्ठक से मालूम होता है कि इस जाति में लड़कों के बाल-विवाह की अपेक्षा लड़कियों का बाल-विवाह बहुत अधिक होता है। ७ से १३ वर्ष की उम्र की इस जाति की क़रीब एक तिहाई लड़कियां मनुष्य-गणना के दिन विवाहित पाई गईं। उनका विवाह तो पहले ही हो चुका होगा। १४ से १६ वर्ष की उम्र के क़रीब एक चौथाई लड़के विवाहित थे। इस जाति में बाल-विधवाओं की संख्या ३०१ थी। इनमें से ३४ विधवाओं की उम्र ६ वर्ष से कम थी। इस जाति में बाल-विवाह, ख़ास कर लड़कियों के बाल-विवाह रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

सन् १९३१ में इस जाति में साक्षर व्यक्तियों की संख्या केवल ५,४१२ थी, इनमें से ७६६ स्त्रियाँ थी। इस जाति के ९८·५ प्रतिशत पुरुष और ९९·८ प्रतिशत स्त्रियाँ अपढ़ हैं। अँगरेज़ी जाननेवाले व्यक्तियों की संख्या १८४ थी। ४ स्त्रियों ने भी थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी सीख ली थी। इस जाति में प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार करने के लिए बंगाल और बिहार की सरकारों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

(१८)

बलाई

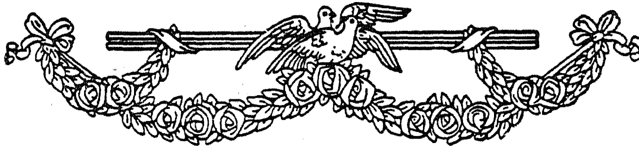
सन् १९३१ में भारत में बलाई-जाति के व्यक्तियों की संख्या ५ लाख ६२ हज़ार थी। भिन्न भिन्न प्रान्तों और राज्यों में उसी वर्ष उनकी संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रांत या राज्य	बलाइयों की संख्या
राजपूताना	२,१९,०००
मध्यभारत	१,९१,०००
ग्वालियर	९८,०००
मध्यप्रांत	३४,०००
अजमेर	२०,०००
मीज़ान	५,६२,०००

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि बलाइयों की सबसे अधिक संख्या राजपूताना, मध्यभारत और ग्वालियर-राज्यों में है। मध्यप्रान्त के निमाड़ और होशंगाबाद ज़िलों में भी ये लोग पाये जाते हैं। मध्यप्रान्त में इनकी संख्या बराबर कम हो रही है। सन् १९११ में इनकी संख्या मध्यप्रान्त में ५२ हज़ार थी। १९२१ में वह ४३ हज़ार तक कम हो गई और १९३१ में वह केवल ३४ हज़ार ही रह गई। इस कमी के कारणों की जाँच की जानी आवश्यक है। इन्हें कहीं कहीं बलाही भी कहते हैं। इनका प्रधान व्यवसाय कपड़ा बुनना है। बरहानपुर में इनको बुनकर भी कहते हैं। निमाड़ के बलाई मरी गाय का मांस खाते हैं। अन्य ज़िलों के बलाई शायद इस प्रकार का मांस नहीं खाते, इसलिए वे निमाड़ के बलाइयों को नीचा समझते हैं। बलाई लोग कुत्ते को नहीं मारते।

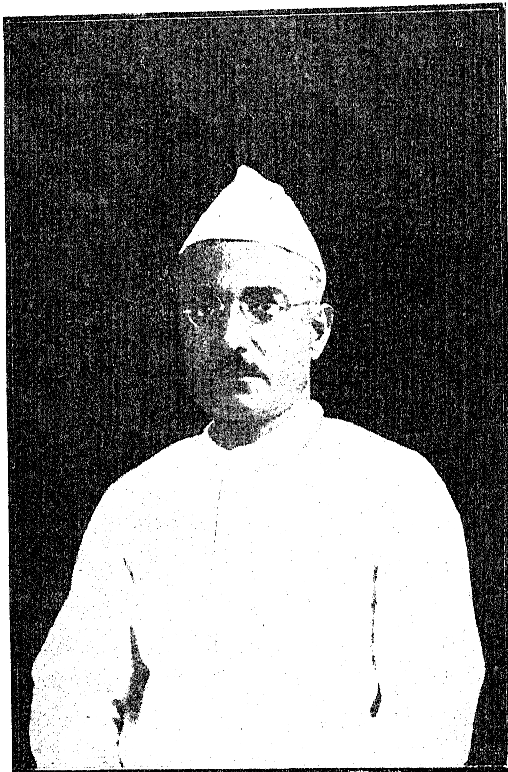
इस जाति में कुछ नीची जाति के हिन्दुओं के अतिरिक्त हिन्दू-जाति के अन्य सभी व्यक्ति सम्मिलित कर लिये जाते हैं। जो मनुष्य बलाई होना चाहता है उसका पहले मुंडन-संस्कार होता है। उसके बाद वह एक चारपाई के नीचे लेटता है और चारपाई के ऊपर कई बलाई स्नान करते हैं। स्नान किया हुआ जल चारपाई के नीचे लेटे हुए व्यक्ति पर गिरता है और जब वह इस जल से पूरी तरह से भीग जाता है तब वह बलाई जाति में सम्मिलित कर लिया जाता है और उसको जाति के लोगों को भोज देना पड़ता है।

इस जाति में शिक्षा-प्रचार की बहुत कमी है। सन् १९३१ में इस जाति के केवल २,०६६ व्यक्ति साक्षर थे, इनमें से स्त्रियों की संख्या केवल ३७ थी। हिसाब लगाने से पता लगता है कि इस जाति में ९८·६ प्रतिसैकड़ा मनुष्य और ९९·९ प्रतिसैकड़ा स्त्रियाँ अविद्यारूपी अंधकार में ग़ोते लगा रही हैं। इनमें कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा का शीघ्र प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस जाति में अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या केवल ४३ थी। इस जाति की ३ स्त्रियों ने भी अँगरेज़ी का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनकी आर्थिक और सामाजिक दशा बहुत ख़राब है।



'हरिऔध' जी का बुढ़भस

पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी



'प्रियप्रवास' लिखकर 'हरिऔध' जी ने साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया था। बाद की रचनाओं में वे क्रमशः उस स्थान से गिरते गये और अपनी हालकी रचना—रसकलस—में तो वे कहीं के न रह गये। इस लेख में तिवारी जी ने 'हरिऔध' के इसी उत्थान और पतन का बड़े सुन्दर ढङ्ग से विवेचन किया है।



श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध, हिन्दी-जगत् के एक सम्मानित साहित्यकार हैं, जिनकी विद्वत्ता, वार्द्धक्य और हिन्दी के प्रति दीर्घकालीन सेवायें हम सबको चिर काल तक उनका ऋणी बनाये रहेंगी। 'प्रियप्रवास' को रचकर उन्होंने साहित्यिक संसार में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है, जिसे काल भी उनसे छीन लेने में समर्थ न होगा। एक यशस्वी कवि की किसी भी नई रचना के आविर्भाव का समाचार—यह स्वाभाविक है—पठित समाज में उत्कंठा और उत्साह फैला देगा। ऐसी दशा में, कोई आश्चर्य नहीं यदि मैं भी उसकी टोह में उसी समय से हूँ जब से, कई महीने हुए, मैंने एक मित्र से यह सुना कि उनकी एक नवीन रचना—'रसकलस'—छपने वाली है। बड़ी प्रशंसा सुनाई देती थी। लोगों ने उसकी तारीफ़ों के पुल बांध दिये थे। बाज़ साहित्यिक मंडलियों में, खड़ी बोली के एक प्रमुख कवि-द्वारा व्रज-भाषा के अपनाये जाने के कारण, आनंद की बधाइयाँ बजने लगीं; काफ़ी उछल-कूद मच गई। कारण स्पष्ट था। उजड़े हुए अखाड़े में जब एक नया पहलवान, अपने पुराने और जमे हुए अखाड़े को छोड़कर, मुरीद बनने के लिए 'रसकलस' लेकर कर-बद्ध प्रार्थी के रूप में जाता है, तब मुरझाई हुई सूरतों पर फिर से रौनक़ का दौड़ जाना कोई अचम्भे की बात नहीं है। व्रजभाषा की ओर से दिनोंदिन लोगों की अभिरुचि हटती जा रही है। इने-गिने धुन के धनी अभी तक उसी का अलख जगाने में यद्यपि जुटे पड़े हैं, परन्तु जन-साधारण अब किसी दूसरे ही मंदिर में अपनी श्रद्धा की अंजलि चढ़ाने जाता है। यद्यपि अभी तक हरिऔध जी बाग़ी दल में गिने जाते थे, परन्तु उनका बुढ़ापे में व्रज-गोरी की ओर झुकाव देखकर उसके पुराने प्रेमी फूले न समाये। उन्होंने समझा कि एक मार्के की फ़तह हुई,

जो भावी विजय की घोषणा करती है। फिर क्या था? 'रसकलस' और उसके निर्माता कवि के गुण-गान में ज़ोर-शोर से आन्दोलन जारी हो गया। मैं मानता हूँ कि मेरे ऊपर भी इस प्रोपेगैंडा का ख़ासा असर हुआ, और आन्दोलन करनेवालों का मुझ पर जादू चल गया। इसी लिए, मैंने ऊपर कहा है कि 'रसकलस' की बाट मैं महीनों से, बड़ी उत्कंठा के साथ, जोह रहा था। क्या खड़ी बोली और क्या व्रज-भाषा, क्या बुन्देलखंडी और क्या गोरखपुरी, चाहे जिस भाषा में कोई अच्छी चीज़ निकले, मैं उसका समान भाव से आदर करने के लिए तैयार हूँ। बँगला के चंडीदास तथा माइकेल मधुसूदन दत्त और मैथिल-भाषा के विद्यापति की कवितायें, भाषा की भिन्नता के होते हुए भी, यदि मुझे विमुग्ध कर सकती हैं, तो अपने ही प्रान्त की प्रचलित बोलियों में लिखी गई किताबों का मैं क्यों न आदर-सत्कार करूँ, और उनके रचयिताओं के प्रति कृतज्ञता के भाव क्यों न प्रकट करूँ? हाँ, ऐसा होना तभी सम्भव है, जब ग्रन्थ, वास्तव में, इसका पात्र हो। सूरदास का मैं भक्त हूँ वैसे ही, जैसे मैं तुलसीदास का उपासक कहने में अपना गौरव समझता हूँ, यद्यपि सूर ने व्रज की बोली में और तुलसी ने अवधी में अपना-अपना महाकाव्य रचा है। इसी तरह, जिस सम्मान के साथ मैंने हरिऔध जी के खड़ी बोलीवाले 'प्रियप्रवास' का स्वागत किया था, उसी आदर के साथ मैं उनके व्रज-भाषा में विरचित 'रसकलस' के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहा था। मैं किसी दल का हिमायती नहीं। साहित्यिक क्षेत्र में व्रज-भाषियों को अपने जौहर दिखाने का उतना ही अधिकार है, जितना खड़ी बोली के हामियों को—चाहे वे रहस्यवादी हों या महज़ कवि-कर्म्म-कुशल कोविद। समालोचक की दृष्टि में, दोनों ही निष्पक्ष सहानुभूति और उदार, यद्यपि निर्मम तथा निर्लिप्त, न्याय के समान अधिकारी हैं। फिर, क्यों न मैं 'रसकलस' की प्रतीक्षा अधीर उत्सुकता के साथ करता?

किताब आई; और मैंने उसे पढ़ा। पढ़कर मुझे खेद हुआ; इतना खेद हुआ, जितना पिछले दस वर्षों में



हरिऔध
(कवि-सम्राट्)

शायद ही कभी किसी किताब को पढ़कर हुआ हो। जिस प्रतिभा का प्रसाद 'प्रियप्रवास' है, 'रसकलस' के देखने से मालूम होता है, उसका अब वहाँ वास नहीं रहा जहाँ पहले था—ढलती हुई उम्र ने, मानो, उसे प्रवास का उद्दंड दंड देकर कहीं दूसरे लोक को भगा दिया हो। 'रसकलस' में न तो कलस ही कनक का है, और न उसका रस ही अमृत के समान मधुर और स्वादिष्ठ है। कलस यदि कंचन का भी होता पर होता हलाहल के रस से परिपूर्ण, तो भी वह त्याज्य ही था। परन्तु यहाँ तो रस भी नीरस और घट भी काँसे का है—यद्यपि उसके भेंट करनेवाले हैं हमारे साहित्य-जगत् के 'कवि-सम्राट्' हरिऔध जी! क्या ही अच्छा होता यदि 'प्रियप्रवास' की विजय के बाद कवि की लेखनी विश्राम ले लेती! तब न हमें मनहूस चौपायों के चौपदों की धमा-चौकड़ी का दुःखदायी दृश्य देखना पड़ता, और न एक कलवरिया के कलस के रस को चखने

के लिए विवश ही होना पड़ता। 'प्रियप्रवास' के प्रकाशन के साथ-साथ यदि कवि की कान्तमयी कल्पना अनन्त के अन्तरिक्ष में विलीन हो जाती तो हरिऔध जी की कीर्ति अक्षुण्ण आभा के साथ सदैव चमका करती। परन्तु इस संसार में 'नर सोची नहिं होत है, प्रभु सोची बलवान'। एक विजय से संतोष नहीं होता; उलटा, उसके कारण पुरुष और भी अधिक आगे बढ़ने और ऊँचे उठने के लिए लालायित हो जाता है। जल्दी हो या देर में, पर होता है ऐसी दशा में वही जो बलि को भुगतना पड़ा—

'बलि चाह्यो आकाश को,
प्रभु पठयो पाताल।'

अपनी शक्ति का सही अन्दाज़ा विरले ही किसी भाग्यवान् को होता है; और इसी कारण दुनिया असफलों के कारुणिक क्रन्दन का लीला-क्षेत्र बन रही है। 'रसकलस' 'प्रियप्रवास' के कवि के लिए, आकाश नहीं, पाताल को ले जाने वाला सिद्ध हुआ। वह उनकी प्रतिभा की ज्योति को बढ़ानेवाला नहीं किन्तु उसे धुँधली करनेवाला निकला। वयोवृद्ध कवि की परिपक्व अनुभूति का सार-तत्त्व उसमें नहीं भरा है; वह तो सूचक है कवि के प्रयास की पूर्ण असफलता का। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की तुलना तो कीजिए हरिऔध जी के साथ। तराज़ू के एक पल्ले में रखिए 'साकेत' को और दूसरे में 'रसकलस' को; और आप ही निर्णय कर लीजिए कि दोनों में कितना अन्तर है। या 'उद्धवशतक' का मुक़ाबिला 'रसकलस' से कीजिए; तब आपको हरिऔध जी की प्रतिभा के अधःपतन का पूरा पूरा अन्दाज़ा आसानी से लग जायगा।

मुझे याद है कि जिस वर्ष 'भारत-भारती' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई थी, उसी के आस-पास 'प्रियप्रवास' का भी जन्म हुआ था। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त 'भारत-भारती' के ज़माने से अब कितने आगे बढ़ गये हैं। उनकी प्रतिभा में तब से अब कितनी अधिक प्रौढ़ता और परिपक्वता आ गई है कि 'भारत-भारती' का रचयिता आज दिन 'साकेत' के कवि के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, उपनाम हरिऔध, हिन्दी-काव्य-जगत् में 'प्रियप्रवास' को लेकर अवतरित हुए; और इतने वर्षों के बाद अब भेंट लाये हैं किस अनमोल ग्रन्थ की?—इस 'रसकलस' की! इधर गुप्त जी की निरन्तर श्री-वृद्धि होती गई और समय की गति के साथ उनकी कविता-कामिनी का रूप-लावण्य अधिकाधिक निखरता गया; उधर हरिऔध जी समय के साथ बढ़े नहीं, पीछे हटते गये। गुप्त जी यदि शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा निकले तो 'हरिऔध' जी कृष्ण पक्ष के राकेश हैं। उनकी आज दिन पूर्णिमा है, तो इनकी—इन पंक्तियों के लिखने में मुझे कितनी मर्मवेधिनी वेदना हो रही है—आज अमावस्या की रात है। 'प्रियप्रवास' से जो आशायें बँधी थीं; उन पर आज पानी फिर गया। 'रसकलस' हरिऔध जी के बुढ़ापे की भूल है—उनके बुढ़भस का ठोस प्रमाण है।

रसकलस है क्या? यह है एक रीति-ग्रन्थ, जिसमें नव-रसों की व्याख्या की गई है। इसके अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के भेदों का निरूपण भी है। हरिऔध जी की पुस्तक तीन स्वाभाविक भागों में विभाजित की जा सकती है। प्रथम भाग में तो है एक १६ पेजों का प्राक्कथन। आइए, पहले इसी को ले लें। रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' के बाद, यह अनिवार्य था कि इस पुस्तक के प्राक्कथन के लिखने का भार भी मेरे आदरणीय मित्र, श्रीयुत रमाशंकर जी रसाल, को सौंपा जाय। इस तरह के कार्यों को सुचारु रूप से सम्पादित करने की रसाल जी में जो अपनी विशेषतायें हैं, उनको देखकर एक ख़ास तरह के लेखकों को अपनी-अपनी कृतियों के प्राक्कथन के लिए उनकी शरण में जाना आसानी से समझ में आ सकता है। एक तो वह एम० ए० हैं; दूसरे मध्यकालीन युग—विशेषकर उसके उत्तरार्द्ध—के हिन्दी-कवियों के वह अनवरत पुजारी ठहरे; तीसरे, उनमें शील-संकोच की मात्रा आवश्यकता से भी कहीं अधिक है। फिर, व्रजभाषा के वह इतने प्रबल और प्रकाण्ड प्रेमी हैं कि उसमें जो कुछ भला-बुरा किसने किसी समय पर लिखा था और आज-दिन लिख दे, आँख बन्द कर उसकी प्रशंसा करना उनके सहज स्वभाव और सरल एवम् 'काव्य-शास्त्र-सुधा-

रसाम्बुधि-सिद्धान्त-तरंगस्नात'—यह भारी भरकम वाक्यांश मैंने रसाल जी के इसी प्राक्कथन से लिया है—हृदय का एक नैसर्गिक गुण है। जहाँ उनमें ये विभूतियाँ हैं, वहाँ उनमें उन दोषों का सर्वथा अभाव भी है, जो प्रशंसा-लोलुप लेखकों की आँखों में काँटे की तरह चुभते हैं। उदाहरण के लिए, रसाल जी की लेखन-शैली में न तो विवेक और संयम की दुर्गन्धि ही किसी को मिलेगी, और न नीर-क्षीर को परखने की शक्ति ही उसमें दिखाई देगी। उनकी आँखों में गज़ब की मुरौवत है, और व्रजभाषा को इन आये दिनों अपनानेवालों के प्रति उन्हें वह हमदर्दी है कि देखते ही बनता है। इसी लिए, मैंने ऊपर कहा है कि इस पुस्तक के प्राक्कथन का लेखक रसाल जी के अलावा और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता था। ख़ैर, मुझे ख़ुशी है कि रसाल जी ने 'रसकलस' की प्रस्तावना लिखकर हरिऔध जी के सम्मान और गौरव को बढ़ाया। वयोवृद्ध उपाध्याय जी की विनम्रता भी कुछ कम सराहनीय नहीं है कि उन्होंने अपनी कृति-रूपसी का पठित समाज से परिचय करने का काम अपने एक नववयस्क मित्र को सौंपा। नहीं तो सम्भव था कि कवि-सम्राट्, हरिऔध जी, के समान अज्ञात और अप्रसिद्ध लेखक की किताब की ओर भला कोई क्यों आँख उठाने का कष्ट करने की कृपा दिखलाता? सम्भव है कि, हरिऔध जी की सम्मति में, इस समय, श्री० रत्नाकर जी के निधन के बाद, सिर्फ़ दो ही नायिका-भेद के सूक्ष्मदर्शी पारंगत पण्डित हिन्दी-जगत् में रह गये हों—एक वह जिन्होंने पुस्तक लिखी, और दूसरे हमारे प्रियवर मित्र श्रीयुत रसाल जी। यह ठीक है कि रसों के ऊपर, हमारी सम्मति में, पूज्यास्पद डा० भगवानदास से बढ़कर साधिकार लिखनेवाला कोई दूसरा लेखक इस प्रान्त में मुश्किल ही से मिलेगा। द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में रस-निरूपण के ऊपर उनका जो निबन्ध छपा है, उसकी उदात्त और सात्विक शैली पर श्रद्धेय विद्वान् लेखक के अपूर्व पाण्डित्य और गम्भीर गवेषणा की पद-पद पर प्रत्यक्ष छाप है। यदि प्रस्तावना लिखने के लिए हरिऔध जी ने उनसे प्रार्थना की होती तो पुस्तक और उसके प्रणेता, दोनों वास्तव में गौरवान्वित होते। लेकिन, साथ ही, वह इस रसकलस की नीरस कविता की भी खरी आलोचना करते; और लेखक महोदय की अवैज्ञानिक रस-मीमांसा की भी धज्जी धज्जी उड़ा देते। इसी लिए, रसाल जी के समान गुण-गायक प्रस्तावना-लेखक के होते हुए, डा० भगवानदास के पास जाने की क्या ज़रूरत थी? एक और भी प्रस्तावनाओं के पेशेवर लेखक—मेरा इशारा पं० रामचन्द्र शुक्ल की ओर है—हरिऔध जी के पड़ोस ही में रहते हैं। दोनों ही का हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग से सम्बन्ध भी है। परन्तु उनसे भी प्राक्कथन नहीं लिखवाया गया। क्यों? शायद इसलिए कि पं० रामचन्द्र जी के इस विषय में जो निश्चित विचार हैं, उनके कारण 'रसकलस' की बड़ाई का ढोल रसाल जी की तरह शुक्ल जी न पीट सकते। इसी लिए बनारसी सिनरसीदा शुक्ल जी को छोड़कर प्रयागस्थ नववयस्क शुक्ल जी के कर-कमलों से अपनी नई मुग्धा 'कविता' का परिचय-संस्कार कराना आपने समुचित और समीचीन समझा हो। प्राक्कथन के द्वारा यदि प्रशंसा के पुल न बाँधे गये तो उसके लिखवाने का प्रयोजन ही क्या रह जाता? 'उद्धव-शतक' के प्राक्कथन को पढ़कर हरिऔध जी भाँप गये कि इस काम को निबाहने की जितनी पटुता और योग्यता रसाल जी में मिलेगी उतनी न तो डा० भगवानदास जी में हो सकती है, और न पं० रामचन्द्र शुक्ल ही में। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्राक्कथन को उसके लेखक महोदय ने अत्युक्ति के अलंकारों से इस बेरहमी के साथ लाद दिया है कि अतिशयोक्ति भी उसे देखकर लजाने लगी है। नमूने के तौर पर, इस अनमोल प्राक्कथन के एक-दो अंशों को मैं पाठकों के मनोरंजन के लिए नीचे उद्धृत किये देता हूँ; उन पर टीका-टिप्पणी करना उनकी अनुपम अनुपयुक्तता का पर्दाफ़ाश करना होगा:—

(१) "इस ग्रन्थरत्न से उपाध्याय जी कवि-काव्याचार्य-श्रेणी में उच्च स्थान प्राप्त कर अमर यश के भव्य भाजन होते हुए शाश्वत स्मरणीय हो गये हैं।" (पेज २)

(२) "कहना न होगा कि श्री उपाध्याय जी...... उच्च कोटि के 'कवि-सम्राट्' भी हैं और प्रशस्त काव्याचार्य भी हैं, इसी लिए आप काव्य-कला के सभी प्रकार मान्य मर्मज्ञ, और काव्य-कला-तत्त्वज्ञ हैं। हो सकता है कि कुछ लोग हमारे इस कथन पर किसी कारण हुए नाक-भौं सिकोड़ें, किन्तु न्याय के लिए हम उसकी सर्वथा उपेक्षा करते हैं।"

(३) "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" पर विश्वास रखकर हम स्पष्टवादिता तथा सत्यप्रियता को ही महत्त्व देते हुए उपाध्याय जी को वर्तमान समय का एक मान्य महाकवि तथा प्रशस्त आचार्य कहने में रंचक भी नहीं हिचकिचाते।"*

(४) "यदि सत्य और न्याय को हृदय में रखकर देखा और कहा जाय तो उपाध्याय जी का स्थान इस समय हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्ध होता है।... हम कह सकते हैं कि न केवल इस वर्तमान समय में उपाध्याय जी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में सर्वोच्च कवि-कीर्ति की कल-कमनीय कान्ति-कौमुदी के कलित कलाधर हो रहे हैं, वरन् इसी प्रकार चिर काल तक बने रहेंगे।—(पृष्ठ ४।)

(५) "सारांश यह है कि भाषा, भाव, कला-कौशल आदि सभी दृष्टियों से उपाध्याय जी का यह ग्रंथ-रत्न वस्तुतः अपने रंग-ढंग का अप्रतिम और परम प्रशंसनीय ठहरता है। सम्भव है कि किसी को इसके मयंक-अंक में कहीं कुछ कालिमा भी दिखलाई पड़े, किन्तु वह इसकी कमनीय कौमुदी-कान्ति के समक्ष निष्पक्ष रूप से देखने पर क्या होगी? कुछ नहीं, केवल दृष्टि-भ्रान्ति। हाँ, जलौकाप्रवृत्तिवाले भले ही व्यर्थ के लिए छिद्रान्वेषण कर सकते हैं और नीरस जन स्वार्थ आदि किसी विशेष कारण से निन्दा तक कर सकते हैं, इसके लिए स्वयं उपाध्याय जी ही ने कह दिया है:—

'हरिऔध' कैसे 'रसकलस' रुचैगो ताहि,
जाको उर रुचिर रसन तैं न सोहैगो।"—(पृष्ठ १४)

पाठक ऊपर दिये गये अवतरणों को पढ़कर रसाल जी की निष्पक्ष आलोचना-शैली का रसास्वादन स्वयं कर सकते हैं। उन्होंने न्याय और सत्य की बारम्बार दुहाई दी है—उसी तरह, जिस तरह वह गवाह अदालत में बार-बार सच बोलने की क़समें खाता है, जिसको अपने कथन में दूसरों के यक़ीन न करने की आशंका होती है। उन्होंने भी इसी तरह से क़समें खाकर दूसरों को भटिलाने की व्यर्थ चेष्टा की है। रसाल जी ने उपाध्याय जी की प्रशंसा तो की, परन्तु इस प्रशंसा की बाढ़ में बहते हुए भी वह हरिऔध जी को 'कवि-सम्राट्' मानने को तैयार नहीं मालूम होते हैं, जैसा अवतरण (२) में 'कवि-सम्राट्' को इनवर्टेड कामा के अन्दर बन्द करने से प्रकट होता है। शायद, इसी लिए 'हरिऔध' जी ने 'रसकलस' में जो अपना चित्र छपवाया है, (और जिसकी प्रतिलिपि हम इस लेख के साथ दे रहे हैं,) उसके नीचे उन्होंने खुद ही अपने आप को कवि-सम्राट् की उपाधि से विभूषित कर अपनी सादगी और विनम्रता का परिचय दिया है।

इस पुस्तक के प्राक्कथन के निर्द्वन्द्व स्थितप्रज्ञ लेखक ने 'रसकलस' के गुण-दोषों के विवेचन में मत-भिन्नता के कारणों को गिनाते हुए यह कहने की कृपा की है कि "जलौकाप्रवृत्तिवाले भले ही (इसमें) व्यर्थ के लिए छिद्रान्वेषण कर सकते हैं और नीरस-जन स्वार्थ आदि किसी विशेष कारण से निन्दा तक कर सकते हैं।" इस उदार और मत-भेद के प्रति सहिष्णुता-पूर्ण सम्मति से रसाल जी की निष्पक्षता न सिर्फ़ टपकती है, किन्तु मूसलाधार बरसती है। हरिऔध जी के प्रति श्रद्धा और सम्मान के होते हुए भी यदि कोई लेखक 'रसकलस' की

* राय बहादुर श्यामसुन्दरदास और पंडित रामचन्द्र शुक्ल की 'आचार्य' की पदवियाँ अब खटाई में पड़ गईं। उनको 'आचार्य' कहनेवाले लेखकों को तुरन्त ही मैदान में उतर आना चाहिए। अन्यथा, 'कवि-सम्राट' ही "एक-मात्र" हिन्दी के "प्रशस्त आचार्य" रह जायँगे। पूज्यपाद द्विवेदी जी के आचार्यत्व पर भी रसाल जी ने ठीक ही हमला किया है, क्योंकि उन्होंने नायिका-भेद पर एक छोटी-सी पुस्तिका भी कभी नहीं लिखी। लिखते कैसे? इसकी योग्यता भी उनमें होती!

प्रशंसा में रसाल जी का साथ नहीं दे सकता, तो 'सत्य और न्याय' के इन एकमात्र ठेकेदार महोदय को यह समझ लेना चाहिए कि जैसे वे सम्मति प्रकट करने के लिए स्वतंत्र हैं वैसे ही दूसरे भी हैं; और प्राक्कथन के लिखनेवाले के अलावा, दूसरे समालोचक भी कम से कम, यदि अधिक नहीं, उन्हीं की तरह अपने विचारों को प्रकट करने में राग-द्वेष और स्वार्थ से निर्लिप्त हो सकते हैं। मेरी सम्मति में नायक-नायिकाओं के विषय में ग्रन्थ रचने की हरिऔध जी को उतना ही अधिकार है, जितना रसाल जी को अलंकारों की विवेचना का। विश्व में कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिस पर आज़ादी से एक लेखक ग्रन्थ न रच सकता हो। इस स्वतंत्रता के उपभोग में किसी प्रकार की रोक-टोक सर्वथा अनुचित है। विचारस्वातंत्र्य ही सभ्यता और प्रगति का मूल कारण है। अतएव, किसी भी विषय पर लिखने के लिए हममें से प्रत्येक को न तो क्षमा याचना की ज़रूरत है, और न किसी से आज्ञा माँगने की आवश्यकता। केवल लेखक की अभिरुचि विषय के चयन में अन्यतम प्रमाण है। परन्तु उसके पुस्तक-रूपी परिणाम के गुण-दोषों को परखने का अधिकार भी प्रत्येक पाठक को प्राप्त है। और इस अधिकार को छीनने की चेष्टा करना और प्रतिकूल सम्मति की आशंका से समालोचक को गालियाँ देकर धमकाना अपने पक्ष की निर्बलता का ढिंढोरा पीटना है। रसाल जी तो पंडित हैं—व्रजभाषा की रसभरी कविता-कामिनी के 'रसामृताम्बुधि-तरंगस्नात' पंडित हैं। इसी लिए आश्चर्य होता है कि वह इतने असहिष्णु क्यों हैं? इस पर तुलसीदास की रामायण की एक चौपाई मुझे याद आती है, परन्तु उसे उद्धृत करने के लोभ को मैं संवरण करूँगा। मन को समझाने के लिए इतना ही काफ़ी है कि रसाल जी से हमें वही तो मिल सकता है, जो उनके पास है—अधिक की उनसे आशा करना व्यर्थ है!

रसाल जी के प्राक्कथन की उस तिरस्कार के साथ उपेक्षा कीजिए, जिसका वह सर्वांश में पात्र है; और आइए, हरिऔध जी के मूल ग्रन्थ के असली मोल को आँकने के लिए आगे बढ़ चलें। 'रसकलस' में, प्राक्कथन के अतिरिक्त, दो और भाग हैं—एक का नाम है भूमिका, और दूसरे का रस-निरूपण। पहला २२९ पृष्ठों में समाप्त हुआ है; और दूसरा ३६८ सफ़ों में। २२९ पेज की भूमिका लिखने के बाद भी हरिऔध जी को संतोष न हुआ; अतएव, उन्होंने पहले और दूसरे खंड के बीच में एक 'विशेष वक्तव्य' भी जोड़ दिया है। एक नहीं, दो लम्बे-चौड़े सूची-पत्र यदि पुस्तक के आदि में हैं, तो उसके अन्त में दो अशुद्धि-पत्र भी पाठक को मिलेंगे, जो इस बात के प्रमाण हैं कि लेखक और प्रकाशक ने पुस्तक को सोधने में कोई कोर कसर नहीं उठा रक्खी है। सब मिला कर 'रसकलस' में ६२३, और यदि प्राक्कथन को भी जोड़ लें तो ६३१, पृष्ठ हैं। ऐसे ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना एक छोटे-से लेख में सर्वथा असम्भव है। लेकिन हाँड़ी के एक-दो दानों को देखने से उसके सब दानों की दशा का आसानी से बोध हो जाता है। इसी न्याय से, मैं भी इस पुस्तक की जांच यहाँ पर करूँगा।

इस पुस्तक का उद्देश क्या है? इसका जो उत्तर हरिऔध जी ने अपने 'विशेष वक्तव्य' में स्वयमेव दिया है, उसी को, पाठकों की जानकारी के लिए, मैं उद्धृत किये देता हूँ:—

"मैं स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुकरण ही आज-कल अधिकांश वर्तमान व्रजभाषा के कवि कर रहे हैं, निस्सन्देह यह बहुत बड़ी त्रुटि है।......... आज तक जितने 'रस-ग्रन्थ' बने हैं उनमें शृंगार रस के ही उदाहरण दिये गये हैं, ऐसा न करके अन्य विषयों का उदाहरण भी उनमें होना चाहिए था। रसकलस में इन सब बातों का आदर्श उपस्थित किया गया है।"

अब, 'रसकलस' के आदर्श पर भी एक नज़र डाल लीजिए:—

"रसकलस में ...... बतलाया गया है कि किस प्रकार अन्य रसों के वर्णन का विस्तार किया जा सकता है, और कैसे जाति, देश और समाज संशोधन विषयों को उनमें और संचारी भावों में स्थान दिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में देशप्रेमिका, जातिप्रेमिका, और समाज-प्रेमिका नायिकाओं की भी कल्पना की गई है।"

'रसकलस' के आदर्श और उद्देश आपको मालूम हो गये। सामयिकता के पुजारी, आपको मानना पड़ेगा, हरिऔध जी हैं। इस विषय में उनका कथन ही अन्यतम प्रमाण है। इसी सामयिकता का समादर कराने के उद्देश से आपने 'रसकलस' को गढ़ा है। इतना जानने के बाद, पाठक को स्वभावतः यह जानने की उतावली होगी कि शृङ्गार-रस और उसके व्यक्तीकरण की परिपाटी को समयानुकूल बनाने के सम्बन्ध में कविवर जी की क्या राय है? वह भी उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए। आप फ़रमाते हैं कि 'शृङ्गार ही साहित्य का शृङ्गार' है। परन्तु—आप की सम्मति में—केवल नायिकाभेद की रचनायें ही शृङ्गाररस नहीं हैं, क्योंकि 'जिन निरूपणों में प्रेम का आभास है, जिन कविताओं में प्रकृति की छटाओं का वर्णन है, जहाँ मधुरता, सरलता, हृदय-ग्राहिता, और सौंदर्य है, वहीं शृङ्गाररस विराजमान है!' कितनी सच्ची और सुन्दर व्याख्या आपने शृङ्गाररस की दी है! परन्तु आपने शृङ्गाररस पर 'रस-निरूपण' नामक खंड में नायिका-भेद आदि के उदाहरणों के रूप में जो स्वरचित कवितायें रक्खी हैं, उनमें शृङ्गार का वही पुराना आदर्श पाठक को मिलता है। मालूम होता है कि उपाध्याय जी को भी अपनी यह दोमुही पालिसी उसी तरह से खटकी, जैसे मुझे वह संशय के सागर में डुबाती है। इसी लिए आपने अपनी सफ़ाई में यह लिखा है:—"कुछ अत्यंत अश्लील विषयों को छोड़ कर शृङ्गार-रस-सम्बन्धी सब विषय मैंने ले लिये हैं और सबका वर्णन यथास्थान किया है......।" इतना कहने पर भी संतोष न हुआ; आगे यह वाक्य मिलता है कि "संभव है कि ग्रन्थ में कुछ ऐसा स्थान या अंश पाया जावे, जो...अश्लील ज्ञात हो"। परन्तु अश्लीलता है क्या वस्तु? किसे अश्लील कहना चाहिए और किसे नहीं? फिर, देश-काल के भेद से अश्लीलता की परिभाषा भी तो बदलती रहती है? इन प्रश्नों पर आपने अपनी अनमोल भूमिका में पूरा प्रकाश डाला है। 'हरिऔध' जी का तो इस सम्बन्ध में जो निवेदन है उसे भी ध्यान से सुन लीजिए। आप फ़रमाते हैं कि "शरीर में ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जो उससे अलग होकर अश्लीलतम बन जाते हैं परन्तु अपने स्थान पर उनकी उपयोगिता असन्दिग्ध है"। ऐसी दशा में यदि कोई यह शंका करे कि फिर हरिऔध जी व्रजभाषा के पुराने कवियों को 'अश्लीलता' के नाम पर पथ-भ्रष्ट क्यों कहते हैं, तो कोई अचरज की बात न होगी? देव, बिहारी, मतिराम ने वही काम किया जिसे आप कर रहे हैं। भेद केवल इतना ही है कि वे सामयिकता, देश-भक्ति, समाज-सेवा, आदि, शब्दों के प्रयोग में उपाध्याय जी की तरह पटु न थे। न उन्हें आदर्शवादी बनने की इनकी तरह हबस थी। वे जो कुछ थे, उसी का उन्हें नाज़ था। रसिया कवि थे; और, मर्दों की तरह, रसभरी कविता करने का समर्थन वे खुल कर करते थे। परन्तु हरिऔध जी कविता तो प्रकाशित करते हैं पुराने ढंग की, और बोलते हैं बोल बढ़ बढ़कर कि उनकी कविता का आदर्श भिन्न है। ३६८ पेज की पुस्तक में आपने नायिकाओं के पदपद्मों पर अपनी कविता के २७८ पृष्ठों को श्रद्धांजलि समर्पित की है। इसी तरह से, २२६ पेज की भूमिका में भी शृङ्गाररस की व्याख्या ११६ पेजों में, और यदि वात्सल्य को भी उसी के अन्तर्गत मान लें तो १६८ पृष्ठों में, की गई है। अन्य रसों का विवेचन बहुत ही सरसरी तौर से किया गया है।...नहीं, नहीं, यह मैं न कहूँगा; लेखक के प्रति मेरे हृदय में जो प्रगाढ़ सम्मान है, वह मुझे ऐसा कदापि न करने देगा। शृङ्गाररस ही पर यदि आपकी कविता में कुछ भी कवित्व का आभास-मात्र भी मिलता तो ग़नीमत थी। मैं उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता। विद्यापति की अलौकिक कविता का चमत्कार कौन न मानेगा, यद्यपि बहुत अंशों में वह, बक़ौल हरिऔध जी के, पद-भ्रष्ट थे? इसी तरह, सूर-सागर का संयोग-शृङ्गार बड़े ही ऊँचे दर्जे का है, यद्यपि, हरिऔध जी के शब्दों में, वह "अभव्य और अमनोरम"* है। लेकिन उसमें तुकबन्दी नहीं है।

*तुलसी-ग्रन्थावली के तीसरे भाग में हरिऔध जी ने सूरदास की ख़ासी ख़बर ली है। परन्तु जब से आप व्रजभाषा के कविसम्राट् बने तब से अब दूसरा ही राग अलापने लगे हैं।

'रसकलस' तो अधिकांश में इतना साधारण और नीरस है, कि आश्चर्य होता है। 'प्रियप्रवास' को जिस लेखनी ने लिखा, उसी से ऐसी निकम्मी चीज़ें कैसे निकलीं। यह ठीक है कि कवि कभी एक-सी उत्तम कविता नहीं कर सकता है। उसकी रचनाओं में कूड़ा-करकट भी काफ़ी अंश में मिलता है। लेकिन समझदार लोग अपनी मामूली कविताओं को प्रायः दबा देते हैं। हरिऔध जी ऐसा न कर सके, यही दुःख है। दुःख इसका भी है कि वह अपनी ओछी रचनाओं के ओछेपन को, ममता के कारण, देखने में असमर्थ हैं। शायद, इसमें उनका इतना दोष नहीं है, जितना दोष है उनकी उम्र का। वार्द्धक्य के जोम में उन्होंने 'रसकलस' में उन रचनाओं को प्रकाशित किया है, जिनमें से अधिकांश जवानी के ज़माने में लिखी गई थीं, लेकिन जिन्हें उस समय उन्होंने इस योग्य न समझा था कि वे प्रकाशित की जायँ। वास्तव में, 'रसकलस' उनके बुढ़भस का प्रसाद है। [अपूर्ण

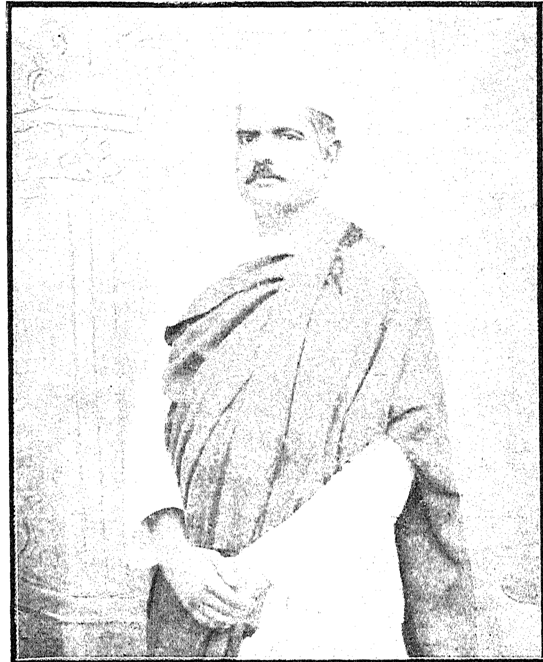
मार के मदारी जग कबलौं नचैहो तुम

सरदार नर्मदाप्रसादसिंह

'हरिऔध' जी का रसकलस अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ। उसकी समालोचना इस अंक में अन्यत्र प्रकाशित है। 'हरिऔध' जी और उनके अनुयायी 'कवि-कर्म-कुशल' कवियों से सरदार नर्मदाप्रसादसिंह ने जो प्रश्न किये हैं, उनको उन पर भी विचार करना चाहिए।

लटकनि नागनि मैं दौरि द्युति दामिनि मैं,
  खिंचित कमाननि मैं, कब लौं भ्रमौगे तुम।
खंजनि मैं मीननि मैं कीरनि कपोलनि मैं,
  मुक्तनि प्रदर्शनि मैं कब लौं रमौगे तुम।
रम्य केदली पै पुनि केहरि अदीह देखि,
  पूजि शम्भु कब लौं निरापद रहौगे तुम।
कब लौं सहौगे पवि-पात पानि-पानिप सों,
  सुमन सरों के लक्ष कब लौं बनौगे तुम।

कब लौं बलाहक की विरद बिगारिबे को,
  बिरही बियोग वारि वसुधा बहैहो तुम।
शंकर भयंकर की प्रभुता मिटाइबै को,
  कब लौं वियोग दाह वारिध सुखैहो तुम।
कब लौं कृतान्त कीर्ति कीच में मिलाइबै को,
  कुसुम अँगार अंग अंगना जरैहो तुम।
इन्दीवर इन्दु इन्दिरा के इन्द्रजाल बीच,
  मार के मदारी जग कब लौं नचैहो तुम।



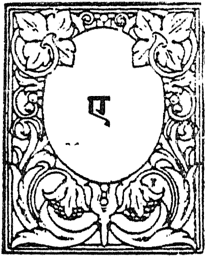
एकाङ्की नाटक

वह फिर आई थी

श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०

पात्र

सिद्धिनाथ कविरत्न—एक ख्यातनामा आधुनिक कवि।
मनोरमा—इनकी पूर्वकाल की प्रेयसी।
एक साहित्यिक मित्र—एक नौकर।





एक सजा-सजाया कमरा जिसे ड्राइंगरूम और ड्रेसिंगरूम दोनों ही कह सकते हैं। कमरे की सजावट में पूर्वीय और पाश्चात्य दोनों ही रीतियों का एक विचित्र सम्मिश्रण-सा दीख पड़ता है। किनारे की ओर स्प्रिंगदार लो आराम कुर्सियाँ लगी हुई हैं। बीचो-बीच सहारनपुरी एक अठपहला छोटा-सा टेबिल है। इस पर बेलबूटे का बढ़िया काम किया हुआ है। ऊपर एक साफ़ टेबिल-क्लाथ रक्खा हुआ है। इसके चारों ओर बढ़िया रेशमी काम किया हुआ है और एक कोने में बहुत सुरुचिपूर्ण अक्षरों में कुछ लिखा हुआ-सा जान पड़ता है। ऊपर ताज़े फूलों का एक गुलदस्ता रक्खा हुआ है। दीवारों पर कुछ बड़े बड़े कलापूर्ण चित्र भी टँगे हुए हैं। एक ओर एक तख्त भी रक्खा हुआ है जिस पर गहरे लाल रंग की एक चमकीली रेशमी-सी चादर बिछी हुई है। तख्त के पाये चौकोर और एक नये ही ढंग के बने हुए हैं। तख्त के सामने दीवार के एक गोटे पर ताण्डवनृत्य में लीन शिव की एक प्रतिमा है। आस-पास कुछ खिलौने रक्खे हुए हैं। हैं तो वे खिलौने, पर सब कला के विविध नमूनों-से जान पड़ते हैं। एक ओर ध्यानमग्न पद्मासनासीन महात्मा बुद्ध की सौम्य मूर्ति भी शोभा पा रही है। कमरे के एक दूसरे कोने में एक छोटी-सी किन्तु बड़ी सुन्दर एक अठपहलू चौकी रक्खी हुई है जिस पर सफ़ेद और पीले रंग के क़रीब आठ दस शंख या घोंघे रक्खे हुए हैं। स्टेज की बाईं ओर दीवार से लगा हुआ एक ड्रेसिंग टेबिल है, जिस पर एक बड़ा ओवल (अंडाकार) शीशा लगा हुआ है। इसके आस-पास प्रसाधन सामग्री सेंट, तेल, सोप पाउडर, फ़ेसक्रीम, हेयर क्रीम, पोमेड आदि आदि के सुन्दर बर्तनों और शीशियों की ख़ासी बहार है। इसी शीशे के सामने एक युवक खड़ा हुआ बालों को ब्रश कर रहा है। युवक की अवस्था ३० से ३५ के बीच में रही होगी। इसका क़द कुछ लम्बा और शरीर इकहरा है। आँखों में सुनहरे रिम का चश्मा है। बाल बहुत बड़े घने कुछ भूरे रंग के और घुँघरदार हैं। वस्त्रों में

केवल एक नफ़ीस चुनी हुई ज़रीदार नाखूनी किनारे की धोती और एक बहुत हलके पीले रंग का रेशमी कुर्ता पहने हुए है। ऊपर से बहुत झक धुली हुई सुनहरी धारियों की किनारीदार एक सफ़ेद चादर भी ओढ़े है। मालूम होता है, अभी अभी कपड़े पहने हैं और कहीं जाने की तैयारी में है। जूता सलीमशाही गहरे लाल रंग के मख़मल का कामदार पहने है। शरीर कुछ कृश है, और आँखें धँसी हुई, पर बड़ी बड़ी और गंभीर हैं। वे आधी मुँदी हुई-सी कुछ कुछ स्वप्न-राज्य में विचरण करती हुई-सी जान पड़ती हैं। रंग काफ़ी गोरा है। चेहरे से एक आकर्षक नैराश्य-पूर्ण गंभीरता का भाव टपकता है। शाम होने में अभी कुछ देर है। वह ब्रश कर रहा है, इसी समय साधारण परन्तु ख़ूब साफ़ धुली हुई खद्दर की धोती और कुर्ता पहने हुए एक दूसरा युवक दाहनी ओर से सिद्धिनाथ के पीछे से प्रवेश करता है। इस युवक का शरीर सुदृढ़, रंग साँवला और क़द मझोला है। आगंतुक सिद्धिनाथ का मित्र है।

सिद्धिनाथ—(शीशे में मित्र की छाया देख, पलट कर सादर स्वागत करते हुए) आओ, कहो मित्र अच्छे तो हो। तुम भी चल रहे हो न?

मित्र—चल रहे हैं! अजी वहाँ सब लोग पहुँच भी गये और जिसका सम्मान करने के लिए इतना बड़ा आयोजन किया गया उसका पता भी नहीं! मैंने इस भय से कि कहीं तुम्हारा हार्ट तो नहीं फ़ेल हो गया, भागा भागा आ रहा हूँ।

सिद्धिनाथ—भाई, मुझे कुछ अजीब झेंप-सी लग रही है। मैंने साहित्य की कौन-सी ऐसी सेवा की है जो लोगों ने मुझे इस प्रकार सम्मानित करने का निश्चय कर डाला।

मित्र—अच्छा ख़ैर, आपने कुछ नहीं किया, और मेरी निजी राय तो यह है कि तुमने और कुछ नहीं सिर्फ़ भोले-भाले हिन्दी-भाषा-भाषी सम्प्रदाय की रुचि दूषित कर दी है और इसी के पुरस्कार-स्वरूप तुम्हारे 'आनर' में आज यह बृहद् कवि-सम्मेलन होने जा रहा है।

सिद्धिनाथ—बिलकुल ठीक कहते हो। नवीन युग में यदि कोई कलाकार यश-लाभ करना चाहे तो उसे सर्व-साधारण की रुचि को दूषित कर देने में ही अपनी सारी शक्तियाँ निछावर कर देनी चाहिए।

मित्र—ठीक, अच्छा यह बताओ, अभी तुम्हें 'ड्रेस' और 'टायलेट' करने में कितने घंटे और लगेंगे। 'फ़िनि-शिंग टचेज़' अकेले में देना चाहो तो मैं ज़रा अन्तर्धान हो जाऊँ।

सिद्धिनाथ—ज़रा नहीं, बिलकुल हो जाओ। मैं शर्मा जी के मोटर के इन्तज़ार में हूँ।

मित्र—(मुसकुराते हुए, कुछ व्यंग्य से) अच्छा तो जनाब मोटर में चलेंगे (उठते हुए) तब मैं चला, नमस्कार।

सिद्धिनाथ—और क्या? 'कविरत्न' हूँ या मज़ाक़! तुम चलो, कह देना मैं दस मिनट में पहुँचता हूँ।

(मित्र हँसता हुआ बाहर चला जाता है। सिद्धिनाथ भी हँसता हुआ कुछ उत्तेजित-सा हो एक बार फिर कंघी और ब्रश लेकर शीशे के सामने खड़ा होता है। परन्तु शीशे के सामने होते ही सहसा ठिठक कर रुक जाता है और बालों तक पहुँचा हुआ उसका कंघी-वाला हाथ वहीं ज्यों का त्यों रुक जाता है। उसे शीशे में पीछे की ओर से आई हुई एक युवती की छाया दिखाई पड़ती है। उस युवती की अवस्था २२ साल से अधिक नहीं कही जा सकती, पर चेहरे के पीलेपन और मुर्दनी से साफ़ जान पड़ता है कि अभी किसी लंबी बीमारी से उठी है। उसका शरीर बहुत कृश और केश कुछ रूक्ष और निर्जीव-से जान पड़ते हैं। पर उसके नेत्रों में विचित्र तेज़ तथा असाधारण ज्योति की एक लोकोत्तर आभा-सी फूट कर निकलती हुई जान पड़ती है। उसका क़द साधारण से कुछ अधिक लंबा तो है ही, पर इस अत्यधिक कृशता के कारण उसकी लंबाई कुछ बेडौल-सी भी मालूम होती है। सिद्धिनाथ बहुत धीरे धीरे सिर पर से कंघीवाला हाथ उतार कर उसे एक ओर रखता है और कुछ अवाक् और हतबुद्धि-सा घूम कर आगन्तुक की ओर होता है। इतने से ही काम में उसे मानो सालों लग जाते हैं।)

सिद्धिनाथ—(मानो ज़बान खोलने में उसे काफ़ी तकलीफ़ हो रही है) तुम ? फिर कुछ प्रकृतिस्थ होकर और अपेक्षाकृत स्वाभाविक रीति से) एकाएक तुम किधर से ?

आगंतुक—(अत्यंत क्षीण स्वर से मानो बहुत दूर से आवाज़ आ रही है) चली आई।

सिद्धिनाथ—(मानो उसकी कमज़ोरी का ख़याल करके पास की कमानीदार कुर्सी की ओर बैठने का इशारा करते हुए) अच्छा बैठ तो जाओ !

आगंतुक—नहीं, बैठूँगी नहीं, अब मैं जा रही हूँ।

सिद्धिनाथ—यह क्या ? कैसे आई और कैस चल दीं ?

आगंतुक—बस, तुम्हें एक बार देखना था। देख चुकी, अब चली।

सिद्धिनाथ—इतने दिनों के बाद सिर्फ़ इसी लिए आई थीं ! छः बरस से कम न हुए होंगे।

आगंतुक—जो हो, पर आई थी सिर्फ़ तुम्हें एक बार देखने के लिए ही।

सिद्धिनाथ—अच्छा देखने ही आई थी तो थोड़ा बैठा भी। कुछ देर देखो। क्या पल भर निगाह मिलाने से ही देखना ख़त्म हो जाता है ?

आगंतुक—तुम कहीं बाहर जाने को तैयार मालूम हो रहे हो। तुम्हें देर हो जायगी।

सिद्धिनाथ—होने दो। आज इतने दिनों के बाद तो तुम्हारी सूरत देखने को मिली, तिस पर भी इतनी उतावली।

आगंतुक—तुम्हारे काम का हर्ज तो न होगा हमारे बैठने से।

सिद्धिनाथ—आज इतने दिनों के बाद आकर भी ये सब कैसी बातें कर रही हो मनोरमा ?

मनोरमा—(मानो क्षण भर के लिए उसके चेहरे पर सुख की एक लहर दौड़ जाती है) फिर।

सिद्धिनाथ—क्या फिर ?

मनोरमा—फिर बुलाओ मेरा नाम लेकर।

सिद्धिनाथ—अच्छा मैं तुम्हारे नाम पर एक बहुत अच्छी कविता लिखूँगा, बैठो।

मनोरमा—नहीं, कविता अभी रहने दो। तुम सिर्फ़ हमारा नाम लेकर पुकारो।

सिद्धिनाथ—(सकौतुक कुछ क्षण उसकी ओर एकटक देखते हुए) अच्छा लो—मनोरमा—रमा रमा—

(मनोरमा के रक्तशून्य कपोलों पर मानो क्षण भर के लिए एक हलकी गुलाबी रंगत दौड़ जाती है। किसी लोकोत्तर के आनंद से पल भर के लिए उसके नेत्र अधरों पर मुस्कुराहट की एक क्षीण रेखा के साथ मुँद जाते हैं। फिर वह धीरे धीरे पास की कुशनदार कुर्सी पर बैठ जाती है। सिद्धिनाथ भी एक कुर्सी उसके पास खींच कर बैठ जाता है और एकटक मनोरमा के चेहरे को देखता रह जाता है। कुछ देर तक दोनों निस्तब्ध रहते हैं। मनोरमा धीरे धीरे आँख खोलती है और सिद्धिनाथ को इस प्रकार निर्निमेष नेत्रों से अपनी ओर देखता पाकर कहती है)

मनोरमा—(कुछ दिलचस्पी के साथ) तुम क्यों मुझे इस तरह घूर रहे हो ?

सिद्धिनाथ—(दूसरी ओर दृष्टि कर कुछ सोचने लगता है, फिर एकाएक) तुम ठहरी कहाँ हो ?

मनोरमा—(मानो प्रश्न का अर्थ न समझकर) ठहरी कहाँ हूँ, और फिर ठहरूँगी ही कहाँ ?

सिद्धिनाथ—(कुछ हतप्रभ-सा होकर) अच्छा तो तुम शायद अभी सीधे यहीं चली आ रही हो।

मनोरमा—यहाँ अर्थात् ?

सिद्धिनाथ—(कुछ रुक रुक कर) यहाँ, यानी इलाहाबाद में।

मनोरमा—हाँ, यहीं आ रही हूँ सीधे।

सिद्धिनाथ—सामान वग़ैरह कहाँ छोड़ा ?

मनोरमा—सामान मेरा कुछ नहीं है।

सिद्धिनाथ—बिलकुल कुछ नहीं ?

मनोरमा—नहीं, बिलकुल कुछ नहीं।

सिद्धिनाथ—(आश्चर्य से कुछ देर चुप रहने के बाद धीरे धीरे नीचे सिर किये हुए मानो अपने से ही कह रहा हो) आज छः छः बरस होने को आये, मगर इस बीच में कहीं कुछ ख़बर नहीं, एक चिट्ठी तक नहीं। यह

वही मनोरमा है, जिससे परिचित हो मैं सारे संसार को भूल गया था, रात रात भर, दिन दिन भर जिसकी एक एक बात सोचता रह जाता था। वही मनोरमा एकाएक आज मेरे सामने बैठी हुई है। साथ में एक धोती तक नहीं! आख़िर इसका मतलब क्या (धीरे धीरे सिर उठा कर मनोरमा की ओर देखता हुआ) किसी को साथ भी लाई हो या ऐसी ही ?

मनोरमा—ऐसी ही।

सिद्धिनाथ—इतना लम्बा सफ़र अकेले करने में तुम्हें कोई डर नहीं मालूम हुआ ?

मनोरमा—कुछ भी नहीं।

सिद्धिनाथ—तुम्हारा यहाँ का आना तुम्हारे घर के लोगों को मालूम है ?

मनोरमा—हाँ, सब जानते हैं।

सिद्धिनाथ—(कुछ सोचने के बाद) अच्छा, मगर तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारे पतिदेव को कुछ असुविधायें तो होंगी ही।

मनोरमा—(अनमनी-सी) उहूँ, होंगी शुरू में कुछ दिनों तक फिर धीरे धीरे आप ही सब भूल जायँगे।

सिद्धिनाथ—(फिर कुछ देर तक दोनों हाथों पर सिर रख कर गम्भीर चिंता में मग्न होने के बाद) अच्छा एक बात पूछूँ, बताओगी मनोरमा ?

मनोरमा—(ईषत् हास्य से) पूछो।

सिद्धिनाथ—क्या तुम हमारे साथ रहने की इच्छा से ही यहाँ आई हो ?

मनोरमा—(ईषत् हास्य) आई तो मैं थी सिर्फ़ एक बार तुम्हें देख लेने भर के लिए, पर तुम चाहो तो रह भी जा सकती हूँ तुम्हारे साथ।

(सिद्धिनाथ कुछ क्षणों के लिए एक-दम सन्नाटे में आ जाता है। मनोरमा अर्थपूर्ण मुसकुराहट के साथ कुछ देर तक उसकी ओर देखती रह जाती है और फिर धीरे धीरे कहती है)

मनोरमा—(एकाएक गंभीर होकर) सिद्धिनाथ !

सिद्धिनाथ—(मानो नींद से चौंक कर) क्या कहती हो मनोरमा ?

मनोरमा—तुम्हें उस दिन की बात याद है ?

सिद्धिनाथ—कब की बात कह रही हो ?

मनोरमा—वही उस रात की।

सिद्धिनाथ—(मुखमंडल एकाएक आरक्त हो जाता है, नीचे देखने लगता है और फिर कुछ रुककर) अब उसकी याद क्यों दिला रही हो ?

मनोरमा—उसका प्रयोजन है। तुमने उस रात को मुझे अपने पास रोक रखने का प्रबल आग्रह किया था। तुमने बड़ी विनती की थी। मैं अपना हाथ छुड़ाकर चली आई थी। चलते चलते मैं वादा कर गई थी, 'फिर आऊँगी'। उस वक़्त मैं अपना वादा पूरा नहीं कर सकी थी। आज फिर आई हूँ।

(सिद्धिनाथ दोनों हथेलियों पर ठुड्डी का भार रक्खे हुए एकटक इस प्रकार मनोरमा की ओर देख रहा है, मानो उसके सामने साक्षात् महादेवी उतर आई हों। धीरे धीरे उसकी (सिद्धिनाथ की) आँखें आँसुओं से भर आती हैं। वह एकाएक उठकर पीछे की तरफ़ की खुली खिड़की के पास चला जाता है और मनोरमा की ओर पीठ करके चादर से आँसुओं को ख़ूब पोंछ डालता है। फिर धीरे धीरे आकर अपनी जगह बैठता है और बात का रुख़ बदलने के अभिप्राय से कहता है)

सिद्धिनाथ—तुम बहुत थक गई होगी मनोरमा, चलो कुछ पानी-वानी पी लो।

मनोरमा—नहीं, मुझे अब किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

सिद्धिनाथ—इतने लम्बे सफ़र से आई, और किसी चीज़ की ज़रूरत भी नहीं है। अच्छा यहीं लाता हूँ (उठने को होता है, मनोरमा हाथ से रोककर कहती है)

मनोरमा—बैठो, जल्दी क्या है ? होता रहेगा।

सिद्धिनाथ—(बैठकर) तुमने आने से पहले एक कार्ड भी नहीं डाल दिया, नहीं तो—

मनोरमा—(एकाएक मानो कुछ स्मरण कर) लिखा तो था मैंने ! क्या तुम्हें मिला नहीं ?

सिद्धिनाथ—नहीं तो, शायद किसी वजह से रुक गया हो, ख़ैर, अब कार्ड क्या होगा ? अब तो तुम्हीं आ गई हो।

पर मनोरमा अब तुम्हें जाने न दूँगा। कई बार तुम आ आकर चली गई हो और तुम्हारे चले जाने पर मुझे मृत्यु से भी अधिक कष्ट सहना पड़ा है, पर अब नहीं।

मनोरमा—मृत्यु का कष्ट तुम्हें क्या मालूम? सुनोगे वह कष्ट कैसा होता है?

सिद्धिनाथ—ज़रूरत नहीं है, मुझे उसका काफ़ी अनुभव हुआ है······कई बार हुआ है।

मनोरमा—नहीं, तुम नहीं समझ सकते। मृत्यु-यंत्रणा क्या चीज़ है, मैं बतलाती हूँ, सुनो।

सिद्धिनाथ—अच्छा कहो—

मनोरमा—मैं बहुत बीमार थी, यह तो तुम्हें मालूम ही है।

सिद्धिनाथ—यह तो तुम्हारी आकृति से ही स्पष्ट है। जान पड़ता है कि किसी असाध्य बीमारी से उठी हो।

मनोरमा—सुनो भी। जब मेरी बीमारी बहुत बढ़ गई तब डाक्टरों ने परामर्श से यह स्थिर किया कि लिवर का आपरेशन करना होगा। मुझे क्लोरोफ़ार्म सुँघा-कर बेहोश किया। इसके बाद क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ ख़बर नहीं। होश आने पर मालूम हुआ, अब मैं अच्छी हूँ। पर इसके थोड़ी ही देर बाद एक अजीब तमाशा शुरू हुआ। धीरे-धीरे ऐसा मालूम हुआ मानो पैरों में एक अजब तरह की ठंड-सी लग रही है। थोड़ी हिलने-डुलने की कोशिश की तब जान पड़ा पैर अब हिल नहीं सकते। और फिर धीरे-धीरे वह ठंड ऊपर की ओर बढ़ती आ रही थी। अब घुटनों तक पहुँची और फिर कमर। मेरा आधा शरीर मानो लकड़ी का हो गया। इस बात को कई बार चिल्ला-चिल्लाकर कहा—कमरा लोगों से भरा हुआ था—पर मानो किसी ने सुना ही नहीं। हाथ से इशारा करने की इच्छा की, पर मालूम हुआ कि हाथ अब नहीं उठ सकते, उँगलियाँ भी नहीं हिल सकतीं। फिर वही ठंड गले में लगी। फिर कैसा मालूम हुआ, जानते हो—मरण-यातना किसे कहते हैं, वह तुम क्या समझोगे सिद्धिनाथ? वह मैं समझती हूँ।

(धीरे-धीरे स्टेज पर की रोशनी कम होती जा रही है; सिद्धिनाथ मनोरमा की ओर शांत भाव से एकटक देखता हुआ कहता है)

सिद्धिनाथ—यह तो तुम्हारे शरीर पर दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि तुम मौत के मुँह से निकल कर आ रही हो। तुम्हारे शरीर में ख़ून तो रही नहीं गया है। (उस गद्दीदार कुर्सी की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए) ऐसा जान पड़ता है मानो तुम्हारा वज़न अब छटाँक भर भी नहीं रह गया। जिस कुर्सी पर तुम बैठी हो उसकी गद्दी ज़रा भी नीचे की ओर दबी हुई नहीं है, मानो तुम काठ की बेंच पर बैठी हो (कुछ रुक कर और फिर एकाएक उठते हुए) ख़ैर, अब अँधेरा हो चला। ज़रा उससे बत्ती रख देने के लिए कह आऊँ।

मनोरमा—(उठती हुई) अब मैं भी चली, तुम्हारा काफ़ी समय नष्ट हुआ, तुम्हें बहुत देर हो गई। हो सका तो फिर मिलेंगे।

(खुले दरवाज़े की ओर मुड़कर दो एक पग आगे बढ़ती है। सिद्धिनाथ दृढ़ता से आगे बढ़कर उसका रास्ता रोक कर खड़ा हो जाता है और कहता है)

सिद्धिनाथ—(निर्निमेषरूप उसकी दृष्टि में अपनी दृष्टि गड़ाये हुए) अब मैं तुम्हें पल भर के लिए अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दूँगा मनोरमा! देखूँ, तुम अब कैसे जाती हो।

मनोरमा—(तेज़ी से सिद्धिनाथ के बग़ल से होकर दर-वाज़े पर पहुँच कर) तुम मुझे रोक कर क्या करोगे सिद्धिनाथ? मैं तुम्हें एक बार सिर्फ़ देख चली।

(यह कहती हुई वह मानो एक स्वर्गीय दृष्टि से जिसमें आनन्द और करुणा के सिवा और कुछ नहीं है—सिद्धिनाथ को देखती हुई पीछे हटती है। सिद्धिनाथ लपक कर मानो अपनी दोनों भुजाओं के बीच उसे आबद्ध कर लेना चाहता है। पर उसकी भुजायें मानो

शून्य को आलिंगन करती हैं और वह अपना बोझा न सँभाल कर वहीं धड़ाम से गिर पड़ता है)।

सिद्धिनाथ—(गिरते ही मानो मार्मिक यंत्रणा से संतप्त हो चिल्ला पड़ता है) मनोरमा—रमा—रमा—

(ठीक इसी समय उसका वही साहित्यिक मित्र और उसके पीछे पीछे सिद्धिनाथ का नौकर हाथ में एक पोस्ट-कार्ड लिये हुए कमरे में दाखिल होता है। नौकर एक १६ वर्ष का लड़का-सा है और साफ़ कपड़े पहने है। दोनों सिद्धिनाथ को इस अवस्था में पाकर घबरा-से जाते हैं और कुछ देर तक किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से खड़े रह जाते हैं। फिर वह मित्र हाथ का सहारा देकर सिद्धिनाथ को उठाता है। सिद्धिनाथ मानो स्वप्नावस्था में उठकर मित्र के सहारे चलकर सबसे पास की कुर्सी पर गिर-सा पड़ता है और दोनों हाथों से सिर ढँक कर किसी गहरी चिंता में डूब जाता है।)

मित्र—कहो भई, हुआ क्या? अभी तो अच्छे थे। किसका नाम लेकर चिल्ला रहे थे? यह मनोरमा कौन है?

(सिद्धिनाथ धीरे धीरे सिर उठाकर एक बार शून्य दृष्टि से मित्र की ओर देखता है, पर तुरन्त ही फिर पूर्ववत् हो जाता है)

मित्र—वहाँ पहुँचते ही लोगों ने फिर दौड़ाया, कहा, साथ लेकर आओ, बड़ी देर हो रही है।

नौकर—साहब अभी अभी डाकिया यह ख़त डाल गया है।

सिद्धिनाथ—रख दो उधर (फिर मानो आप ही आप) मैं जानता हूँ वह चिट्ठी। (फिर मित्र से) ज़रा पढ़ कर सुनाओ तो।

मित्र—(चिट्ठी लेकर कुछ देर तक निश्शब्द पढ़ने की कोशिश कर) अजीब ख़त है। सिर्फ़ एक लाइन है—"मैं बहुत बीमार हूँ—तुम्हें एक बार देखने की इच्छा होती है। अगर हो सके तो आओ—मनोरमा"—बस

सिद्धिनाथ—(शून्य दृष्टि से ऊपर की ओर देखते हुए) मैं कहाँ आ सका मनोरमा? इसके पहले तो तुम्हीं एक बार फिर आई थीं।

मित्र—भाई, आख़िर यह मामला क्या है? मैं कुछ समझ नहीं रहा हूँ।

सिद्धिनाथ—फिर कभी समझना।

मित्र—अच्छा तो चलो।

सिद्धिनाथ—चलो।

(दोनों धीरे धीरे उठते हैं, सिद्धिनाथ चित्र-लिखित-सा मित्र के साथ साथ उठकर उसके कंधे का मानो सहारा लिये हुए दरवाज़े की ओर बढ़ता है। पर्दा गिरता है।)

प्रियतम!



श्रीयुत नर्मदाप्रसाद खरे

तुम हो असीम रत्नाकर, छोटी-सी एक लहर मैं।
तुम जग के स्वर्णिम युग हो, नश्वर हूँ एक प्रहर मैं॥
मैं एक बूँद पावस की, अम्बर के तुम श्यामल घन।
सन्ध्या की एक किरण मैं, तुम ज्योतिर्मय के जीवन॥

तुम वसुधा के वैभव हो, मैं हूँ छोटा-सा रज-कण।
तुम मधु की मादकता हो, मैं हूँ सूखा-सा मधुकण॥
मैं लघुता की शोभा हूँ, तुम हो अनन्त सुन्दरतम।
अपनी असीमता में तुम, मुझको लय कर लो प्रियतम॥



गीत

श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०



(१)

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या !
तारक में छवि प्राणों में स्मृति;
पलकों में नीरव पद की गति;
लघु उर में पुलकों की संसृति;
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या !

(२)

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
परछाईं रजनी विषादमय;
वह जागृति यह नींद स्वप्नमय;
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !

(३)

तेरा अधर-विचुम्बित प्याला;
तेरी ही स्मित-मिश्रित हाला;
तेरा ही मानस मधुशाला;
फिर पूछूँ क्यों मेरे साक़ी
देते हो मधुमय विषमय क्या !

(४)

रोम रोम में नन्दन पुलकित;
साँस साँस में जीवन शत शत;
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित;
मुझ में नित बनते-मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या !

(५)

हारूँ तो खोऊँ अपनापन;
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन;
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन;
भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार-विजय क्या !

(६)

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम;
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम;
तू असीम मैं सीमा का भ्रम;
काया-छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय

अहिंसा

पंडित मोहनलाल नेहरू



अहिंसा के सम्बन्ध में ऐसा विचार-पूर्ण लेख आज तक किसी पत्र में प्रकाशित नहीं हुआ। अहिंसा क्या है? केवल एक भ्रम। अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अलग अलग लोगों ने इसका अलग अलग अर्थ लगाया है। महात्मा गाँधी अहिंसा का जो अर्थ लगाते हैं वही ठीक है, यह भी नहीं कहा जा सकता। तब अहिंसा क्या है? इस लेख को पढ़िए और स्वयं विचार कीजिए।



हिन्दुओं के वास्ते अहिंसा परमधर्म बताया गया है। हमारे ऋषि-मुनि सदा ही इसकी दुहाई देते रहे हैं। महात्मा गांधी तो रोज़मर्रा के जीवन में इसी धर्म पर चलने का आदेश करते हैं और स्वयं तो सारी उम्र इसे बर्त्तते ही रहे हैं। उनके पहले भी शायद कुछ लोगों ने अहिंसा का धर्म बर्त्ता हो, किन्तु कहते तो सभी आये हैं कि 'अहिंसा परमो धर्मः'।

अहिंसा है क्या? हिन्दी-शब्दसागर में इस तरह लिखा है—"मन, वाणी और कर्म से किसी प्रकार, किसी काल में, किसी प्राणी को दुःख व पीड़ा न पहुँचाना"। 'जीवों का वध करना या मारना या सताना या हानि पहुँचाना' हिंसा कहा गया है।

चाहे जो भी माने इसके ऋषि लोग लगाते रहे हों, चाहे जो भी मतलब गाँधी जी समझते हों और चाहे जो भी व्याख्या 'हिन्दी-शब्दसागर' में की गई हो, हिन्दू-समाज हिंसा से केवल जीव-हत्या का ही मतलब लगाता है, और किसी को इस बात का ध्यान भी नहीं आता कि किसी और तरह प्राणी को दुख देना भी हिंसा है।

हमें इस लेख में यही विचार करना है कि अहिंसा परमधर्म है भी या नहीं। इसके समझने के वास्ते यह ज़रूरी है कि हम यह जानें कि धर्म क्या चीज़ है। 'शब्दसागर' में इस तरह लिखा है—'किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उसमें सदा रहे'। यों तो स्थान-स्थान पर धर्म के अलग अलग मतलब बताये गये हैं, किन्तु 'शब्दसागर' में लिखा है कि ऋग्वेद में जो अर्थ है और सबसे प्राचीन है, इस तरह है—'किसी मान्य ग्रंथ, आचार्य व ऋषि-द्वारा निर्दिष्ट वह कर्म जो पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है'।

जो धर्म आदमी का बनाया है वह आवश्यकता-नुसार बदलता भी जाता है। जो कल धर्म था सो आज नहीं, जो आज है वह कल नहीं होगा। अहिंसा भी किसी आचार्य व ऋषि-द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ ही

धर्म है। सम्भव है, वह कल परमधर्म न रहे। और अब भी कहने ही भर को वह परमधर्म है। कितने आदमी हैं जो उस धर्म का ख़याल भी करते हैं, अधिकतर जो अपने को उसका उपासक बताते हैं वे भी केवल बड़े जानवरों की हत्या तक ही उसे सीमित रखते हैं।

अगर यह माना जाय कि धर्म किसी व्यक्ति की वह वृत्ति है जो उसमें सदा रहे तो भी जो एक के वास्ते परमधर्म है वह दूसरे के वास्ते नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की एक ही वृत्ति नहीं हो सकती। सिंह और बकरे का धर्म एक नहीं हो सकता और उसी तरह कायर और वीर के धर्म भी भिन्न भिन्न हैं।

अहिंसा की दोहाई भगवान् बुद्ध और ईसामसीह देते रहे और आज के दिन उनका मत माननेवालों से अधिक शायद ही कोई हिंसक हो। एक दूसरे को दुख देना तो मामूली बात है, उन्हीं महात्माओं के धर्म के नाम पर एक दूसरे का गला काटना भी कोई बड़ी बात नहीं मानी जाती। निशस्त्रीकरण कान्फ़रेंस को ही लीजिए। यद्यपि सभी यही कहते हैं कि हिंसा बुरी चीज़ है, मगर जिसे भी देखो वही शस्त्रों के पीछे दीवाना है।

योरप, अमरीका और जापान का कुछ परिचय लीजिए। टारपीडो बोट इँग्लेंड में सन् १९१४ में १,३९,००० टन थे और अब जब निशस्त्रीकरण कान्फ़रेंस की दोहाई सभी देशों के योधा दे रहे हैं तब ब्रिटेन में वे १,६७,००० टन हैं। फ़्रांस में सन् १९१४ में ३५,००० टन टारपीडो बोट थे और अब १,९८,००० हैं। अमरीका के पास सन् १९१४ में ४०,००० टन टारपीडो बोट थे और अब २,५९,००० टन हो गये हैं। जापान ने ४,४७० टन से बढ़ाते बढ़ाते १,२५,००० टन कर लिया है। पानी के भीतर चलनेवाले जहाज़ों या सबमरीनों की भी यही दशा है। इँग्लेंड ने ४७,००० टन से बढ़ाकर ६१,००० टन तक पहुँचा दिया है; फ़्रांस ने ३३,००० टन से ९७,००० टन; अमरीका ने १६,००० टन से ७७,००० टन और जापान ने ३,२६४, टन से ७७,००० टन तक पहुँचा दिया है। फिर भी ये सब शस्त्रों के उपासक सन् १९१४ से सन् १९२० तक यही पुकारा किये कि यह सब भविष्य में महायुद्ध के रोकने के वास्ते किया गया है। जर्मनी और इटली भी प्रत्येक स्त्री-पुरुष को सशस्त्र बनाने के पीछे पड़ा हुआ है। ग़रीब भारत में भी जहाँ सेना-विभाग में सन् १९१४ में ३ का ख़र्च था वहाँ वह पाँच का हो गया है।

शस्त्र तो फिर भी वीरता के चिह्न हैं। परन्तु दीवाने देश ऐसे शस्त्रों, गैसों, बमों इत्यादि के पीछे पड़े हुए हैं जिनसे दूसरों को तो वे छिपकर काफ़ी हानि पहुँचा सकें, किन्तु स्वयं बच जायँ। मगर बचें कैसे ? दूसरे भी तो उसी फेर में हैं। अगर एक ने एक चीज़ बनाई तो दूसरे ने दूसरी उससे बढ़कर और तीसरे ने उसके भी कान काटे। ग़रज़ दौड़ है; जो ही जीते। हाँ, अहिंसा को मजबूरी दर्जे पर परमधर्म माननेवाली परतंत्र या ग़ुलाम जातियों को अवश्य अपनी हिमाक़तों का नतीजा भोगना होता है। इन सब बमों, गैसों इत्यादि की आज़मायश भी तो उन पर सुभीते से हो सकती है। और सभी बलवान् देशों ने ग़ुलामों की खेती तैयार कर रक्खी है।

हमारे हिन्दूराम भी गला फाड़ फाड़कर अहिंसा को परमधर्म पुकारा करते हैं; क्या करें किसी क़ाबिल तो हैं नहीं। किन्तु क्या वे उस पर अमल भी करते हैं ? विवाह के अवसरों पर लड़कीवालों को दबाना और उनको ज़लील करना या ख़र्च और दहेज़ के बोझ से ज़ेरबार करना क्या हिंसा नहीं है ? जिस स्त्री को अर्धाङ्गिनी कह कर घर में लाये उसे क़ैदी बनाकर रखना, पैसे पैसे को तरसाना क्या अहिंसा में दाख़िल है ? विधवाओं के साथ बुरे व्यवहार करने से बढ़कर कौन-सी हिंसा हो सकती है ? अपने स्वजातियों को अछूत या नीच कहकर अपमानित करना और झूठा अभिमान दिखाना क्या अहिंसा है ? महाजनराम भी तो ऊँची जाति के हिन्दू हैं। चाहे मांसभक्षी आदमियों को वे कितना बड़ा पापी और हिंसक समझें, किन्तु रुपये के पीछे एक या दो आने माहवारी सूद लेना और न दे सकने पर घर-बार बिकवा लेना और क़र्ज़दार के बालबच्चों को भूखों मारना क्या हिंसा नहीं ? मांस खानेवाले तो जानवरों को एक ही दफ़े मारते हैं, किन्तु सूद से इतना ज़ेरबार करना तो मानो

ज़िन्दा आदमी का ख़ून ही चूसना है और शायद गला काटने से बढ़कर हिंसा है।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा की दोहाई इस वास्ते देता है कि दूसरे लोग तो उस धर्म पर चलें, किन्तु वह स्वयं उस पर चलने से मुक्त कर दिया जाय। कोई साहब कहते हैं कि हवाई जहाज़ों से बम के गोले उन पर न बरसाये जा सकें, किन्तु वे स्वयं दूसरों पर गोला-बारी कर सकें। दूसरे साहब चाहते हैं कि वे अपने समय में तो लड़कीवालों का ख़ून तक चूस लें, किन्तु अपनी लड़की के समय उन्हें कोई पैसा माँगकर तंग न करे, तीसरे साहब निहत्थों पर लाठियाँ बरसाने को अहिंसा कहते हुए दूसरों के धरना देने को ही हिंसा बताने लगते हैं। अपनी अपनी भावना और अपनी अपनी रुचि है। लोग अपनी अपनी ज़रूरत के अनुसार अहिंसा के मतलब गढ़ लेते हैं।

दुनिया का अजब ढंग है। लोग अपने तईं धोखा देकर ही मन से समझौता कर लेते हैं। अहिंसा की दुहाई देते हुए लड़ाई की तैयारी, स्वतन्त्रता की दुहाई देते हुए दूसरों को परतन्त्र करना या उन पर कड़ी चढ्ढी गाँठने का बन्दोबस्त करना अपने तईं धोखा देना नहीं तो क्या है? वास्तव में जिस वीर पुरुष ने कहा था कि 'माईट इज़ राइट' (शक्ति ही स्वत्व है) वही शायद ज़्यादा ईमानदार था, और ईमानदार ही क्यों, शायद वह ज़्यादा ठीक भी था।

यहाँ यदि हम यह विचार करें कि 'माइट' (शक्ति) 'राइट' (स्वत्व) है या नहीं तो अनुचित न होगा। इस विचार के वास्ते हमें यह देखना होगा कि प्रकृति ने जानवरों को जिनमें मैं आदमियों को भी सम्मिलित करता हूँ, कैसा बनाया है। देखने में आया है कि बड़े जानवर सदा छोटे जानवरों को मारते-खाते या सताते चले आये हैं। शेर अगर हिंसा न करे तो शायद भूखा ही मर जाय। वह दबे पैर जाकर अपने शिकार को धर दबोचता है और उसके दुख या सुख का ख़याल नहीं करता। भेड़िया, लोमड़ी या सियार इत्यादि छोटे जानवरों पर वार करते हैं, मुर्ग़ी, बत्तख़ इत्यादि को जहाँ कहीं पाया, पकड़ा और मार गिराया। मुर्ग़ी, बत्तख़ इत्यादि भी अपना मौक़ा नहीं छोड़तीं। वे छिपकली, गिरगिट, कीड़े-मकोड़ों पर अपना दाँव नहीं छोड़तीं। छिपकली या गिरगिट इत्यादि अपने समय में पतिङ्गों, तितलियों या चींटों पर आक्रमण करते हैं। पानी के जानवरों का भी यही हाल है। बड़ी मछली छोटी को खाती है और अपने समय में अपनी से बड़ी का शिकार हो जाती है। पक्षियों को देखिए तो वही दशा दिखती है। गौरैया छोटे छोटे कीड़ों को खाती है तो बाज़ उसे हड़प कर जाता है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि क़ुदरत ने या कहिए परमेश्वर ने ही 'माईट' को 'राइट' की पदवी दी है या दूसरे शब्दों में हिंसा को पाप का दर्जा नहीं दिया है। और बच्चे भी जिनमें पूरी सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ, ज़रा ज़रा सी बात पर मारने-पीटने को तैयार हो जाते हैं। छोटों से छीन लेना और बड़ों से पिट जाना नित्य देखने में आता है। पशु-पक्षी की दुनिया ईमानदार है। वह अहिंसा को धर्म नहीं बताती। अगर उसे वैसी ज़बान होती जो हम समझते तो वह कहती कि हम भूखों नहीं मर सकते और इसी से अपने से कमज़ोर पर वार करते हैं, क्योंकि अधिक ज़ोरदार पर हमारा वार चल नहीं सकता।

मगर हमारे आदमीराम! वाह उनका क्या कहना! धर्ममूर्ति तो वही हैं; परमेश्वर ने उन्हीं को अपनी सूरत दी है। हम अहिंसा की दुहाई देनेवाले किसी भी अड़चन को अपने सामने नहीं आने दे सकते। हिंसा को परमधर्म कहते हुए और उसी का जप करते हुए हम अपने से छोटे जानवरों को अपनी ताक़त के बल पर और अपने से बड़े जानवरों को अपनी बुद्धि या छल के बल पर सताते, मारते या वध करते हैं, बहाने हर एक के हमारे पास मौजूद हैं। चूहे ने हमारे चावल का बोरा काट डाला और चार दाने खा डाले, वह वध करने योग्य है; साँप आदमी को काट सकता है चाहे वह हमारे डर से भागा ही जा रहा हो, जहाँ देखा उसका मारना ही उचित है; न्योला चाय का प्याला तोड़े डालता था, न मारते तो क्या तोड़ने देते। शेर देहातियों का दम सुखाये रहता

है इत्यादि। ये सब फांसी पाने योग्य हैं। इन विचारों पर तो ये इल्ज़ाम लग गये। मगर चिड़ियों को छर्रों से मारने के बहाने भी तो हैं। निशाने की ख़ूबी इसी में है कि चिड़ियों को उड़ा कर मारे। जानवर बेचारा तो पेट भरने को ही दूसरों पर वार करता है, किन्तु हम केवल पेट भरने को न अपनी जान बचाने को बरन ख़ाली अपने मनोरंजन के वास्ते दूसरों को मारते या सताते हैं और हमारा परमधर्म अहिंसा है, जिसके प्रचार के वास्ते निश्शस्त्रीकरण की बड़ी बड़ी कान्फ़रेंसें रची जाती हैं। वाह रे धोखे! वाह रे फ़रेब!

मगर धोखा देना भी तो हमें प्रकृति ही सिखाती है। छिपकली जब अपना शिकार पकड़ने जाती है तब छिपकर और एक-दम झपट कर वार करती है। शेर या चीता भी लुक-छिपकर ही दबे पाँव शिकार के पास तक पहुँचता है तब फिर हमने ही कौन-सा पाप किया जो छिपकर दूसरे जानवर को गोली मार दी? शायद कुदरत ने ताक़त इसी वास्ते दी है कि कमज़ोर पर आज़-माई जाय। 'कमज़ोर मार खाने की निशानी' की मसल बहुत पुरानी है, धोखा, छल या फ़रेब भी तो एक प्रकार का बल ही है।

यदि जानवर एक दूसरे को केवल पेट भरने को मारा करते तो भी शायद यह कहा जा सकता कि पेट भरने को मारना हिंसा नहीं। किन्तु प्रकृति ने ही एक को दूसरे का शत्रु बनाया है। न्योला यदि साँप को देख पावे तो वार किये बग़ैर नहीं छोड़ता; सिंह और हाथी का वैर स्वाभाविक है; कुत्ता और बिल्ली की दुश्मनी कुदरती है। यह सब या और भी कितने ही जानवर एक दूसरे को मार भले ही डालें, किन्तु खाते नहीं। केवल एक दूसरे पर विजय पाकर उसे मार या ज़ख़्मी कर चले जाते हैं। न उसके दुःख, न दर्द की परवा होती है, न मरहम-पट्टी की। किन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है, आदमी की शत्रुता सारे ही जानवरों से स्वाभाविक-सी होगई है, क्योंकि उसका वही मनोरंजन है।

वास्तव में आदमी कहे चाहे जो भी, कितनी ही अहिंसा की दोहाई क्यों न दे, वह सबसे बड़ा हिंसक जानवर है, यहाँ तक कि आपस में भी वह हिंसा का प्रयोग करता है। उसके दिल में हिंसा का भाव कूट कूट कर भरा है। उसने जत्थे बना रक्खे हैं, जिनके द्वारा उस दूसरे को काफ़ी दुःख या पीड़ा पहुँचा सके जिसे अकेले में वह नहीं पहुँचा सकता। उसने हद-बन्दी कर रक्खी है कि एक हद के कुल जत्थे मिलकर दूसरे हद के कुल जत्थों को मार या दबा सकें और एक ही हद के जत्थों के वास्ते क़ानून-द्वारा रोकथाम कर रक्खी है कि ज़्यादा ज़ोरदार जत्थे ही शासन कर सकें और कमज़ोर जत्थों को दबाये रह सकें। उन कमज़ोरों को कुछ बल और कुछ छल से दबाने के काफ़ी बन्दोबस्त भी वह कर लेता है। किन्तु जिस किसी भी जत्थे के विरोधी खड़े हो जाते हैं और उसे या उसके किसी भी व्यक्ति को दुःख या पीड़ा पहुँचने की सम्भावना होती है वही जत्था और उसकी ठकुरसोहाती करनेवाले अहिंसा की दोहाई देने लगते हैं और अहिंसा की तारीफ़ों के पुल बाँधकर उस व्यक्ति या उस जत्थे की हिंसा कर डालते हैं। अगर बलवान् जत्थे के एक व्यक्ति को दुःख या पीड़ा पहुँचती है तो निर्बल जत्थे के जत्थे की अहिंसा की वेदी पर बलि चढ़ाई जाती है और अहिंसा परमो धर्मः का राग उसके साथ अलापा जाता है।

शायद जब आदमी भी जानवरों की तरह 'असभ्य' था और जंगलों में अकेला घूमता फिरता था तब प्रत्येक व्यक्ति ख़ाली पेट भरने को हिंसक हो जाता हो। किन्तु जब से वह समाज में रहता है तभी से समाज के बन्धनों और अत्याचारों को उसने हिंसा समझना ही छोड़ रक्खा है और एक समाज का दूसरे समाज पर अत्याचार ही धर्म समझा जाने लगा है। उसी धर्म के नाम पर एक दूसरे को घृणा से देखा जाना, एक दूसरे को छुरी भोंकना, एक दूसरे को अछूत और चाण्डाल बनाना, एक दूसरे को भूखा मारना या फाँसी पर चढ़ाना उसके वास्ते अहिंसा ही होगई है।

कुछ लोग कहते हैं कि दुष्ट को मारना या दबाना या नीचा दिखाना ज़रूरी है, जिससे वह अधिक लोगों को पीड़ा न पहुँचा सके। यह मानना ही अहिंसा की दीवार

को ढहा देना है। दुष्ट के साथ दुष्टता करना अगर अहिंसा मान ली जाय तो फिर प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि जिसे चाहे दुष्ट क़रार देकर उसके साथ दुष्टता करे और उसके बदले में वह दूसरा उसके साथ वैसा ही बर्ताव करे, फिर इस चक्र का अन्त नहीं होगा। अगर अहिंसा धर्म है तो चाहे दूसरा कैसा ही व्यक्ति क्यों न हो, उसके साथ भी वही बर्त्तना चाहिए। परन्तु देखने में तो यही आया है कि अपने या अपने जत्थे के लाभ के वास्ते आदमी दूसरे जत्थे को हानि या पीड़ा पहुँचाना हिंसा नहीं समझता, यहाँ तक कि महात्मा गांधी तक ने विदेशी कपड़ों के बेचनेवालों की दूकानों पर धरना देने का आदेश दिया था। क्या उससे उन लोगों को और उनके द्वारा विदेशी पूँजीपतियों को दुःख और पीड़ा नहीं पहुँची?

आज-कल बहुधा समाचार-पत्रों में इस बात पर रोना रहता है कि दुनिया भर की बड़ी ताक़तें एक दूसरे को नष्ट करने के फेर में पड़ी हुई हैं। योरप को वे किसी बड़ी लड़ाई की तैयारी करते देख रहे हैं और इस बात से डर रहे हैं कि सारे योरप की सभ्यता नष्ट हो जायगी।

वह सभ्यता क्या है? कमज़ोर जातियों को दबाना, ऐसे ऐसे यंत्र निकालना जो दूसरों का पैसा तेज़ी से खींचने में उनकी मदद करें, दूसरों को लूटते हुए उन्हें यक़ीन दिलाना कि उसी में उनकी भलाई है इत्यादि। दबी हुई जातियों को इससे क्या लाभ पहुँचा है या पहुँच सकता है? क्या उस सभ्यता का जो दूसरे देशों को सदा असभ्य बनाये रखने की ही फ़िक्र में रहे या जो दुनिया भर की दौलत खींच कर अपने पास जमा करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझे, नष्ट हो जाना ही अच्छा नहीं? कमज़ोर या दबी हुई जातियाँ जो इन शस्त्रों और गैसों के भय से दबी हुई हैं, आख़िर उनका कैसे उद्धार हो? शायर ने कहा है—"ज़र्रे का भी चमकेगा सितारा, क़ायम जो ज़मीन व आसमाँ है।" परतन्त्र कमज़ोर जातियों का सितारा तो तभी चमकेगा जब बलवान् जातियों का सूर्य अस्त होगा और उसके तरफ़ बलवान् जातियाँ बड़े ज़ोरों से जा रही हैं। हमें इस पर दुःख क्यों हो? अगर रोमन-साम्राज्य के बलवान् शत्रु पैदा न हो गये होते तो इँग्लेंड, फ्रांस इत्यादि उनकी दासता में आज भी होते और शायद यही कहते होते कि रोमन-साम्राज्य का बोल बाला बना रहे। आज तक रोमन-सभ्यता के लोप हो जाने पर किसी ने अफ़सोस नहीं किया। उस समय उसके लोप होने से कितने ही देश स्वतन्त्र हो गये। यही चक्र फिर चले तो क्या हानि? और शायद आदमियों के दुनिया में ज़्यादा हो जाने पर उनको परिमित रखने का यही इलाज परमेश्वर ने कर रक्खा है। इसी तरह शायद कृष्ण भगवान् धर्म को फिर से स्थापित करने आते होंगे।

बुनकर-सहकारी समितियाँ

श्रीयुत शङ्करसहाय सक्सेना, एम० ए० (इकान), एम० ए० (काम)

श्री सक्सेना जी बरेली-कालेज में अर्थशास्त्र के अध्यापक हैं। आपने इस लेख में बुनकरों के सम्बन्ध की जो व्यावहारिक योजना निरूपित की है उसके कार्य में परिणत होने पर बुनकरों की बहुत कुछ सहायता हो सकती है।



रत में प्राचीन समय से कपड़ा बुना जाता रहा है। यही नहीं, किसी समय यह धन्धा इतनी उन्नत अवस्था में था कि वह विदेशों को अपने यहाँ का बना बहुमूल्य रेशमी तथा सूती कपड़ा भेजा करता था। योरप के समस्त देशों में भारतीय कपड़े की अत्यधिक माँग रहती थी। किन्तु योरप की औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त स्थिति पलटी और भारत के इस धन्धे का एकाधिकार नष्ट हो गया।

हाथ-बुनाई का धन्धा यद्यपि उक्त कारण से शक्तिहीन अवश्य हो गया था, तो भी वह तनिक भी प्रोत्साहन न मिलने पर आज भी देशी तथा विदेशी मिलों की प्रतिद्वन्द्विता में टिका हुआ है। इस गिरी हुई दशा में भी इस देश की कुल वार्षिक खपत का २५ फ़ी सदी कपड़ा हाथ से तैयार होता है। और भारत में कुल जितना कपड़ा बनता है उसका ४० प्रतिशत हाथ से ही तैयार होता है। इन आँकड़ों से प्रमाणित होता है कि हाथ से कपड़ा तैयार करने का धन्धा अभी मिट नहीं गया है, वरन जीवित है। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पहले से क्षीण अवश्य हो गया है।

अनुमान किया जाता है कि देश में लगभग ५० लाख बुनकर हैं जो इस कार्य को करते हैं। यदि इस संख्या में वे लोग भी सम्मिलित कर लिये जायँ जो दरी, ऊनी कपड़ा तथा रेशमी कपड़ा तैयार करते हैं तो यह संख्या इससे और भी अधिक हो जायगी। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे बुनकर भी हैं जो लगातार कर्घे पर वर्ष भर काम नहीं करते। बुनकर बिखरे हुए नहीं हैं। वे समूह-रूप में विशेष गाँवों तथा क़स्बों में बसे हुए हैं। अब देखना यह है कि इन बुनकरों का धन्धा किस प्रकार चलता है।

बुनकरों का सम्बन्ध महाजनों से होता है जो कपड़े का व्यवसाय भी करते हैं। निर्धन बुनकरों के पास इतनी पूँजी नहीं होती कि वे ऊन, रेशम अथवा सूत मोल ले सकें, इस कारण वे लोग महाजन के पास जाते हैं और महाजन उनको सूत उधार दे देता है, किन्तु नियम यह होता है कि बुनकर तैयार किये हुए माल को महाजन के अतिरिक्त और किसी के हाथ नहीं बेंच सकता। महाजन कुछ समय तक उस ऋण पर सूद नहीं लेता; परन्तु बुनकर के उस समय के अन्तर्गत माल न लाने पर सूद लिया जाता है। जब बुनकर तैयार माल लाता है तब महाजन मनचाही क़ीमत सूत की काटकर बाक़ी रुपया बुनकर को दे देता है। इसमें बुनकर को दोनों ओर से घाटा होता है—एक तो महाजन कच्चे माल (सूत) का मूल्य बाज़ार-भाव से अधिक लेता है, दूसरे तैयार माल का मूल्य बाज़ार-भाव से कम देता है। कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि महाजन बुनकरों को कच्चा माल अथवा सूत दे देता है और

प्रतिगज़ के हिसाब से उनकी बुनवाई दे देता है और तैयार माल ले लेता है। इस प्रकार बुनकर स्वतन्त्र कारीगर न रहकर महाजन का मज़दूर हो जाता है। महाजन बुनकर को कम से कम मज़दूरी देता है। फल यह होता है कि कठिन परिश्रम करने पर भी बुनकर की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय रहती है और साहूकार इस व्यापार से लाभ उठाता है। इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो बुनकरों के पास पूँजी का न होना, दूसरे तैयार माल को न बेंच सकने के कारण उन्हें महाजन की शरण में जाना। यदि बुनकरों को उचित सूद पर पूँजी मिल सके और उनके लिए कच्चे माल अर्थात् ऊन, रेशम और सूत के सस्ते दामों पर ख़रीदने का प्रबन्ध हो सके तथा तैयार माल के बिकवाने की सुविधा हो सके तो बुनकर महाजनों के इस भयङ्कर जाल से बच सकते हैं और उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सकती है। ये तीनों ही कार्य बुनकर-सहकारी समितियाँ कर सकती हैं।

विशेषज्ञों की राय है कि यदि बुनकर सहकारी समितियों को स्थापित करके अपने को संगठित कर लें तो उनका धन्धा अनायास ही चमक उठेगा और उनकी स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है। पंजाब के सहकारी औद्योगिक विभाग ने बुनकरों की आर्थिक स्थिति की जाँच की थी। उसकी भी यही सम्मति है कि यदि बुनकर संगठित हो सकें तो यह धन्धा सफल हो सकता है। किन्तु बुनकर अशिक्षित और निर्धन हैं तथा मिलकर कार्य करने की भावना या सूझ उनमें नहीं है। उनमें सहकारिता की भावना जाग्रत करने की आवश्यकता है, जिससे वे 'बुनकर-सहकारी समितियों' की स्थापना करके अपनी स्थिति को सुधार सकें।

बुनकर-सहकारी समितियों के उद्देश ये होने चाहिए—

(१) बुनकर-सदस्यों के लिए पूँजी का प्रबन्ध करना, (२) सदस्यों के लिए कच्चा माल—अर्थात् सूत, रेशम अथवा ऊन इकट्ठा मोल लेना, अच्छे करघे तथा यन्त्रों का प्रचार करना, और सदस्यों के तैयार माल को बेंचना, (३) सदस्यों को बुनने की शिक्षा देना।

बुनकर-समितियाँ उन स्थानों पर स्थापित की जायँ, जहाँ बुनकरों की बस्ती हो। बुनकरों को सहकारिता के सिद्धान्त समझाये जायँ और सहकारी समितियों-द्वारा होनेवाले लाभ उन्हें बताये जायँ। इस प्रकार बुनकर-समिति के सदस्य बनाये जायँ। प्रत्येक सदस्य समिति में एक हिस्सा ख़रीदे। हिस्से का मूल्य सुविधानुसार रक्खा जाय, किन्तु वह इतना अधिक न हो कि निर्धन बुनकर-समिति के सदस्य न बन सकें। हिस्से का मूल्य क़िश्तों में भी चुकाने की व्यवस्था रहे। 'बुनकर-सहकारी समिति' के सब सदस्य साधारण सभा में इकट्ठे होकर एक प्रबन्धकारिणी समिति का चुनाव करें। सब महत्त्वपूर्ण प्रश्न साधारण सभा में तय हुआ करें। प्रबन्धकारिणी समिति साधारण सभा की आज्ञा को कार्य-रूप में परिणत करे। समिति का सम्बन्ध सहकारी सेन्ट्रल बैंक से हो। ये सहकारी सेन्ट्रल बैंक प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक जिले में होते हैं और कहीं कहीं प्रत्येक तहसील में भी। सहकारी सेन्ट्रल बैंक बुनकर-समिति को उचित सूद पर ऋण दें। इसके अतिरिक्त समिति अपने सदस्यों में मितव्ययिता का भाव जाग्रत करे और जब उनके तैयार माल को बेंच कर उन्हें रुपया दे उस समय सदस्य को कुछ रुपया समिति में जमा करने के लिए उत्साहित करे। इस रुपये पर सदस्य को सूद मिले।

इस प्रकार हिस्सों की पूँजी से जमा किये हुए रुपये से तथा सेन्ट्रल बैंकों से उधार लेकर समिति बुनकरों को ९ या १० प्रतिसैकड़ा वार्षिक सूद पर पूँजी उधार दे। सूद की जो आमदनी हो वह समिति का लाभ हो। समिति कम सूद पर रुपया सेन्ट्रल बैंक से ले तथा सदस्यों के जमा किये हुए रुपये पर भी कम सूद दे और सदस्यों को कुछ अधिक सूद पर ऋण दे। इससे समिति को प्रतिवर्ष

लाभ होगा। लाभ सदस्यों में बाँटा न जाय. बरन वह रक्षित कोष में जमा किया जाय। धीरे धीरे रक्षित कोष में इतना रुपया हो जायगा कि समिति को सेन्ट्रल बैंक पर निर्भर रहने की कम आवश्यकता होगी।

समिति सदस्यों के लिए कच्चा माल थोक ख़रीदे, जिससे कच्चा माल सस्ते दामों में सदस्यों को मिल सके। प्रत्येक बुनकर साहूकार को कच्चे माल का अत्यधिक मूल्य देता है। समिति सस्ते दामों पर बाज़ार से कच्चा माल लेकर सदस्यों को दे। जो सदस्य नक़द मूल्य न दे सके उसको कच्चा माल उधार दिया जाय और उस पर नियमित सूद लिया जाय।

समिति अच्छे कर्घे बनवाये अथवा बने हुए कर्घे मोल लेकर उन सदस्यों को उचित मूल्य पर दे जिनको अच्छे कर्घों की आवश्यकता हो। यदि सदस्य मूल्य उस समय न दे सके तो उसको उधार दे। इस प्रकार समिति बुनकरों की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे।

जब माल तैयार हो जाय बुनकर उस माल को सहकारी समिति के दफ़्तर में दे जाय। सहकारी समिति बुनकर को कुछ रुपया उसी समय दे दे और तैयार माल के बेंचने का प्रबन्ध करे। तैयार माल के बेंचने का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा कठिन है, साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यदि यह कार्य सफलतापूर्वक न हो सका तो समिति को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

तैयार माल के बेंचने के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होगी—(१) बाज़ार में किस प्रकार के कपड़े की खपत है, इसका ज्ञान प्राप्त करना और उसी प्रकार का कपड़ा तैयार करवाना। कौन से रङ्ग तथा डिज़ाइन जनता को अधिक रुचिकर हैं, उनका पता लगाना तथा सदस्य बुनकरों को उस प्रकार के रङ्ग का उपयोग करने तथा डिज़ाइन तैयार करने को प्रोत्साहित करना। विज्ञापन-द्वारा तथा स्टोर्स खोल कर कपड़े बेंचने का प्रबन्ध करना।

किन्तु यह सब होते हुए मिलों की सफलतापूर्वक प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए समितियाँ बुनकरों को वस्त्र-कला की शिक्षा दें। यद्यपि बुनकर अपने कार्य में यथेष्ट प्रवीण होता है, तथापि इस उन्नति के युग में वह पुराने डिज़ाइन के वस्त्रों को तैयार करके मिलों की प्रतिद्वन्द्विता में सफलतापूर्वक खड़ा नहीं रह सकता। अभी हाथ-कर्घों तथा मिलों की प्रतिस्पर्धा ने भयङ्कर रूप धारण नहीं किया है, क्योंकि हाथ-कर्घों से मोटा कपड़ा अथवा बहुत बढ़िया कपड़ा अथवा विशेष प्रकार का कपड़ा तैयार किया जाता है, जिसको भारतीय मिलें तैयार नहीं करतीं। परन्तु भविष्य में इसकी सम्भावना है।

माल बेंचने का कार्य बुनकर-सहकारी समितियाँ तभी सफलतापूर्वक कर सकेंगी जब वे अपने को सहकारी यूनियन में संगठित कर लें। किसी एक या दो ज़िले की या अधिक ज़िलों की बुनकर-समितियाँ मिलकर सहकारी बुनकर यूनियन का संगठन करें। बुनकर-सहकारी समिति के प्रतिनिधि यूनियन की साधारण सभा में जायँ और एक प्रबन्धकारिणी सभा का चुनाव करें। यूनियन का यह कर्तव्य होगा कि वह दो विशेषज्ञों को रक्खे। वे लोग वेतनभोगी कर्मचारी होंगे। एक ऐसा कर्मचारी नियत किया जाय जो बुनाई के कार्य का विशेषज्ञ हो। दूसरा ऐसा हो जो बेंचने की कला में प्रवीण हो और बाज़ार के रुख़ का ज्ञान प्राप्त कर सके। बुनाई की कला का विशेषज्ञ इस अनुसन्धान में लगा रहे कि कौन-सा कर्घा अधिक अच्छा होगा तथा जो डिज़ाइन बाज़ार में प्रचलित हैं उनको सफलतापूर्वक तैयार करने का ढङ्ग वह सदस्य बुनकरों को सिखाये। विशेषज्ञ को प्रत्येक समिति के सदस्यों के कार्य को देखने के लिए दौरा करते रहना चाहिए और उनको वस्त्र-कला की शिक्षा देते रहना चाहिए। दूसरा विशेषज्ञ समितियों के माल की खपत बढ़ाने की योजना करे। यूनियन बड़े बड़े स्थानों पर स्टोर्स खोल कर औद्योगिक प्रदर्शिनियों में समितियों के माल को भेज कर तथा

क़स्बों के बाज़ारों में समिति के माल का विज्ञापन करके समितियों के माल के लिए उस प्रदेश में माँग उत्पन्न करे।

यह तो प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक बुनकर सदस्य साधारण सभा में जाकर समिति के सञ्चालन में भाग ले। सहकारी समितियों में पूँजी को महत्त्व नहीं दिया जाता। वहाँ तो व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है। अस्तु प्रत्येक सदस्य को, उसने समिति के चाहे कितने ही हिस्से क्यों न ख़रीदे हों, केवल एक वोट देने का अधिकार रहे। साधारण सभा सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय करे। उदाहरणार्थ प्रत्येक सदस्य की अधिक से अधिक साख, (अर्थात् प्रबन्धकारिणी समिति उससे अधिक ऋण सदस्य को नहीं दे सकती), सूद की दर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न इत्यादि। यह ध्यान में रखने की बात है कि आधुनिक औद्योगिक उन्नति के युग में जो धनवान् है, जो बड़ी मात्रा में माल तैयार करता है, उसको भी उचित सूद पर व्यापारिक बैंक रुपया ऋण दे देते हैं। वह कच्चा माल अधिक राशि में ख़रीदता है, इस कारण वह उसको कम मूल्य में मिलता है। वह अधिक राशि में पक्का माल तैयार करता है, इस कारण उसको बेंचने में भी सुविधा रहती है। इसके विपरीत एक कारीगर को सब प्रकार की असुविधायें होती हैं। ये सब सुविधायें उसको केवल अपने को सहकारी समितियों में संगठित करने से ही मिल सकती हैं। सदस्यों में यह भाव जाग्रत होना चाहिए कि यह समिति हमारी संस्था है। हम अपने पैरों पर खड़े होने जा रहे हैं और हम स्वावलम्बी बनेंगे। जब तक हमारी सहकारी समितियों में यह भावना कार्य नहीं करती तब तक यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

यदि भारतवर्ष में ऐसे लगन के मनुष्य हों जो सहकारिता-आन्दोलन का अध्ययन करके ऐसे स्थानों पर जहाँ बुनकरों की यथेष्ट बस्ती हो, बुनकर-सहकारी समितियों की स्थापना करें तो यह धन्धा इस देश में पनप सकता है।

बङ्गाल, मदरास तथा पंजाब में बुनकर-सहकारी समितियों का संगठन हुआ है, किन्तु अभी तक तैयार माल के बेंचने का जैसा प्रबन्ध होना चाहिए वैसा नहीं हो सका है। इस कारण आशातीत सफलता नहीं मिली है। परन्तु भविष्य में आशा है कि बुनकर-समितियाँ अधिक सफल होंगी। केवल पंजाब में ही लगभग १९२ बुनकर-समितियाँ स्थापित हो गई हैं।

इस सम्बन्ध में यह न भूल जाना चाहिए कि प्रान्तीय सरकारी औद्योगिक विभागों को इन समितियों की सहायता करनी चाहिए। रङ्गों के विषय में वैज्ञानिक अनुसंधान करके औद्योगिक विभाग को इन समितियों की सहायता करनी चाहिए और कर्घे तथा यन्त्र-सम्बन्धी परामर्श देकर इन समितियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। दुःख की बात है कि जहाँ भारतीय सरकार मिलों के सहायतार्थ बहुत कुछ करती है वहाँ इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गृह-उद्योग के लिए सरकार ने अभी तक वैसा कुछ नहीं किया। यदि सहकारिता आन्दोलन का उपयोग किया जाय तथा सरकार भी इस धन्धे को प्रोत्साहन दे तो लगभग एक करोड़ बुनकरों का भविष्य उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

मोपासा की एक सुन्दर सामाजिक कहानी

साइमन का पिता

श्रीयुत मार्कण्डेय वाजपेयी, एम० ए०, एल-एल० बी०

दोपहर के बारह बजे का घड़ियाल अभी बज चुका था। स्कूल का फाटक खुला, और लड़के बाहर निकलने की जल्दी में एक दूसरे पर गिरते-पड़ते बाहर आये। पर रोज़ की तरह एक दूसरे से अलग होकर तुरन्त ही अपने अपने घर भोजन के लिए जाने के बदले, वे आज कुछ ही पग आगे बढ़कर रुक गये; और दो-दो चार-चार के छोटे-छोटे गुट बनाकर कानाफूसी करने लगे।

बात यह थी कि आज ही सवेरे कुमारी ला ब्लान्शाट के लड़के साइमन ने स्कूल में पहली बार पदार्पण किया था।

लड़कों ने अपने अपने परिवारों में कुमारी ला ब्लान्शाट की चर्चा सुनी थी; और यद्यपि सर्वसम्मुख उस लड़की की आवभगत पर्याप्त रूप से हो जाती थी, गृहलक्ष्मियाँ आपस में उसकी चर्चा कुछ तिरस्कार दिखाते ही करती थीं। लड़कों ने कुमारी ला ब्लान्शाट के प्रति अपनी माताओं के इस व्यवहार को बिना उसका कारण जाने ही सीख लिया था।

रहा साइमन स्वयम्, उसे वे जानते नहीं थे; क्योंकि वह कभी बाहर नहीं निकलता था और न कभी उनके साथ गाँव की सड़कों या नदी के किनारों पर खेलता था। इससे वे उसे अधिक नहीं चाहते थे और आज सवेरे कुछ आश्चर्ययुक्त आनन्द के साथ गुटों में विभाजित परस्पर एक चौदह या पन्द्रह वर्ष के लड़के के एक वाक्य को बार-बार दुहरा रहे थे। उस लड़के ने इतनी बुद्धिमत्ता से आँख का कोना दबाकर कहा था—"तुम साइमन को जानते हो—हाँ, तो उसके कोई बाप नहीं है" जैसे वह इस विषय में सब कुछ जानता हो।

कुमारी ला ब्लान्शाट का लड़का अपनी बारी से स्कूल के फाटक पर निकल कर आया। उसकी आयु सात या आठ वर्ष की थी। और रंग कुछ कुछ पीलापन लिये हुए था। वह अत्यन्त साफ़-सुथरा और लगभग बेढंगे आचारोंवाला शर्मीला था।

वह अपनी मा के घर की ओर चला। उसकी लगातार कानाफूसी करते और शरारत पर उतारू नटखट और हृदयहीन सहपाठियों ने धीरे-धीरे घेरना आरम्भ किया और अन्त में उन्होंने उसे चारों ओर से अपने बीच में कर लिया। उनके बीच में वह बेचारा आश्चर्ययुक्त और घबराहट से भर कर चुपचाप खड़ा होगया। लड़कों ने अपनी मिली हुई सफलता से फूलकर उससे पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

उसने ज़वाब दिया—"साइमन"।

दूसरे ने प्रत्युत्तर में कहा—"साइमन क्या?"

लड़के ने घबराकर फिर दुहराया—"साइमन"।

बड़े लड़के ने चिल्लाकर कहा—"तुम्हारे नाम साइमन के कुछ और आगे भी तो होगा! यह तो नाम नहीं है ऊँह! साइमन!"

उसने छलछलाते हुए आँसुओं से आँखें भरकर फिर तीसरी बार उत्तर दिया—"साइमन"।

लड़कों ने हँसना आरम्भ किया। बड़े लड़के ने उल्लासभरी ऊँची वाणी से कहा—"देखा तुमने। इससे बिलकुल साफ़ है कि इसके कोई बाप नहीं है।"

गहरा सन्नाटा छागया। लड़के इस असाधारण बात को सुनकर स्तम्भित हो गये। उन्होंने साइमन को एक अप्राकृतिक प्राणी समझकर घूरना आरम्भ किया

और अपने हृदयों में ला ब्लान्शाट के प्रति अपनी माताओं की दया के संचार का अनुभव किया। रहा साइमन सो उसने अपने को पेड़ के सहारे टिका दिया कि गिर न पड़े और वह वहाँ ऐसा खड़ा हो गया, जैसे किसी भारी दुख से पीड़ित हो। उसने समझाने का प्रयत्न किया। पर उसे उनके लिए कोई प्रत्युत्तर न सूझ पड़ा। इसके कोई पिता नहीं है, न होने के भीषण अभियोग से इनकार करने का उसे कोई उपाय भी न सूझ पड़ा। अन्त में बिना सोचे-समझे उसने चिल्लाकर उन लड़कों से कहा—"हाँ! मेरे हैं!"

बड़े लड़के ने तुरन्त ही पूछा—"वह कहाँ है?"

साइमन फिर चुप था, उसे नहीं मालूम था। लड़के अत्यन्त प्रोत्साहित होकर आनन्द की किलकारियाँ भरने लगे। साइमन ने सहसा अपने पड़ोस के एक लड़के को देखा जो एक विधवा का पुत्र था। उसे साइमन सदैव अपनी ही भाँति केवल मा के साथ ही देखता था। साइमन ने उससे कहा—"और तुम्हारे भी तो नहीं है। तुम्हारे भी कोई पिता नहीं है।"

उसने उत्तर दिया—"हाँ! मेरे है।"

साइमन ने पूछा—"वह कहाँ है?"

लड़के ने अत्यन्त गर्व के साथ कहा—"वह मर गया है। मेरा पिता क़ब्रस्तान में है।"

लड़कों में "हाँ हाँ" की एक हलकी ध्वनि का संचालन हुआ, जैसे क़ब्रस्तान में मृतक पिता के होने ने उनके साथी को इतना बड़ा बना दिया हो कि वह दूसरे को जिसके कोई भी पिता न था दबा सके। और उन दुष्टों ने जिनके बाप अधिकतर पापी, शराबी, चोर और अपनी पत्नियों से कर्कश व्यवहार करते थे, साइमन को चारों ओर से दबाते दबाते एक दूसरे को ढकेलना शुरू किया, जैसे नीति के पद में जन्मे हुए वे अपने बीच अनीति में जन्मे हुए को दबा डालकर ही दम लेनेवाले हों।

साइमन के बग़लवाला लड़का सहसा उसके सामने जीभ बिचका कर चिल्लाया—"बे-बाप का बे-बाप का"!

साइमन ने दोनों हाथों से उसके बाल पकड़ लिये और लातें चलाते हुए उसके गाल को बहुत ज़ोर से काट खाया। थोड़ी देर तक ख़ूब लड़ाई हुई। दोनों लड़के एक दूसरे से छुड़ाये गये और साइमन उन दुष्टों के व्यूह में मारा, नोचा-खसोटा और घिसलाया गया। जब वह अपने धूल भरे कपड़ों को झाड़ता हुआ उठा तब किसी ने उससे चिल्लाकर कहा—"जाओ और अपने बाप से जाकर कहो।"

तब उसका हृदय भर आया। वे सब उससे तगड़े थे, उसको पीटा था और उसके पास कोई उत्तर भी न था। वह जानता था कि उसके कोई पिता नहीं है। गर्व से भरकर उसने कुछ क्षणों तक गला घोंटनेवाले आँसुओं को रोकने का प्रयत्न किया। उसका दम घुटने लगा और फिर बिना शब्द किये हुए वह गहरी हिचकियाँ ले ले कर रोने लगा। तब उसके बैरी और भी प्रसन्न होकर जङ्गली लोगों के भयंकर नाच की भाँति एक दूसरे के हाथ पकड़ कर उसके चारों ओर गोला बाँधकर नाचने लगे। वे यह गाते जाते थे कि "बे-बाप का! बे-बाप का।"

सहसा साइमन की हिचकियाँ थमीं और उसका क्रोध अपनी सीमा को पहुँच गया। उसके पैरों के पास पत्थर पड़े हुए थे। उन्हें उठा उठाकर अपनी सारी शक्ति से उसने अपने सतानेवालों पर फेंकना प्रारम्भ किया। उनमें से कुछ दो या तीन के लगे और वे चिल्लाते हुए भागे। वह इतना भयानक प्रतीत होता था कि शेष के हृदयों में भी भय समा गया। एक क्रोधित पुरुष के सम्मुख चिढ़ाती हुई भीड़ के समान वे कायर जानें लेकर भागे। अकेले रह जाने पर पिता-रहित अभागा खेतों की ओर दौड़ा। उसकी स्मृति जाग उठी थी और उसकी आत्मा को एक बड़े प्रश्न पर दृढ़ कर रही थी। उसने तय कर लिया था कि नदी में कूद कर प्राण दे देगा।

उसे स्मरण हो आया था कि आठ दिन हुए एक निर्धन अभागे भिखमंगे ने निर्धनता की सीमा पर पहुँच जाने पर पानी में कूदकर धन की वेदी पर प्राणों की बलि दे दी थी। जब लोगों ने उसका शरीर खींच कर निकाला था तब साइमन वहीं था और उसकी अभागी और कुरूप आकृति ने उसके कोमल हृदय में स्थान कर लिया था।

उसके गाल पीले पीले थे लम्बी दाढ़ी भीगी थी और खुली आँखें शान्तिभरी थीं। आस-पास खड़े हुए लोगों ने कहा था—"यह मर गया।" और किसी ने उसके आगे यह भी कहा था कि "यह अब बिलकुल शान्ति से है।"

साइमन अब स्वयं भी डूबना चाहता था, क्योंकि उसके कोई बाप न था जैसे उस अभागे के पास कोई सम्पत्ति न थी।

वह पानी तक पहुँचा और उसका प्रवाह देखने लगा। निर्मल धार में भी वेग से मछलियाँ उठ रही थीं और कभी कभी उछल कर पानी पर की मक्खियों पर झपट रही थीं। वह रोना भूलकर उन्हें देखने लगा, क्योंकि उनको खाते देखने में उसका जी बहुत लग रहा था। पर बीच-बीच में, जैसे आँधी में जब भीषण झोंके पेड़ों को उखाड़ फेंकते हैं, सन्नाटा छा जाता है, बड़े दर्द से यह विचार लौट लौट कर आ जाता था कि मैं डूबकर मर जानेवाला हूँ, क्योंकि मेरे कोई बाप नहीं है।

ऋतु सुहावनी और गर्म थी। सुहावनी धूप घास को गर्म कर रही थी, पानी शीशे की नाईं चमक रहा था। साइमन उस सुखद तन्द्रा में था जो रोने के अनन्तर आती है। उसकी इच्छा दोपहर की गर्मी में घास पर सो जाने की थी। एक छोटा-सा हरा मेंढक उसके पैर के पास से कूदा। उसने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया, पर वह निकल भागा। साइमन पीछे दौड़ा और तीन दफ़े वह उसके हाथ से निकल भागा। अन्त में उसने उसे एक पिछली टाँग से पकड़ लिया और उस प्राणी के निकल भागने के प्रयत्नों को देख देख कर वह हँसने लगा। वह अपनी लम्बी टाँगों पर उठा और बड़े ज़ोर से फुदक कर उन्हें दो डण्डों की भाँति कड़ा कर लिया। उसकी आँखें अपने सुनहरे गोलों में फाड़ फाड़ कर देखने लगीं और उसकी आगे की इन्द्रियाँ ऐसी फटफटाने लगीं जैसे कि हाथ हों। इससे साइमन को उस खिलौने की स्मृति हो आई जो लकड़ी के आड़े कीलों से जुड़े हुए लट्ठों (चिपड़ी ?) द्वारा ऐसी ही गति करके उस पर लगे छोटे छोटे सिपाहियों का व्यायाम कराता है। तब उसे घर की और मा की स्मृति हो आई और घोर दुःख से पीड़ित होकर वह फिर रोने लगा। उसके होंठ काँपने लगे और घुटनों के बल बैठकर उसने अपनी प्रार्थनायें कीं, जैसे वह सोते समय किया करता था। पर वह उन्हें पूरी नहीं कह पाया, क्योंकि ऐसी शीघ्रगामी और गहरी हिचकियाँ उसे आने लगीं कि वह बिलकुल किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसने सोचना ही बन्द कर दिया, आस-पास का ध्यान ही छोड़ दिया और रोने में लग गया।

सहसा उसे जान पड़ा कि कोई अपना भारी हाथ उसके कन्धे पर रखकर एक अमधुर-वाणी उससे पूछ रहा है—"मेरे छोटे आदमी! ऐसी क्या बात है जो तुम्हें इतना सन्ताप दिला रही है ?"

साइमन ने घूमकर देखा कि एक लम्बा काली दाढ़ी और घुँघराले बालोंवाला आदमी उसे भलमनसाहत से घूरकर देख रहा है। उसने आँसू भरी आँखों और रुँधे गले से उत्तर दिया—"उन्होंने मुझे मारा है क्योंकि मेरे—मेरे—कोई पिता नहीं है—कोई पिता नहीं है।"

उस मनुष्य ने हँसते हुए कहा—"क्या? वाह! प्रत्येक के होता है।"

लड़के ने अपने दुख में भरे हुए दुखित स्वर में कहा—"परन्तु मेरे—मेरे—मेरे कोई नहीं है।"

तब वह मनुष्य गम्भीर हो गया। उसने ला ब्लान्शाट के लड़के को पहचान लिया था और यद्यपि वह उस पड़ोस में नया ही आया था उसके इतिहास का कुछ अनिश्चित आभास उसे था। उसने कहा—"लड़के! शान्त हो और अपनी मा के पास मेरे साथ घर चलो। तुम्हारे पिता हो जायगा।"

वे वहाँ चले। बड़ा छोटे का हाथ पकड़े हुए चला। वह मनुष्य फिर मुस्कराया, क्योंकि लाब्लान्शाट से मिलने में उसे खेद नहीं था। सर्वसम्मति से वह उस देहात में सबसे सुन्दरी लड़कियों में से थी और कदाचित् उसने अपने हृदय में कहा कि जो लड़की एक बार गिर चुकी हो उसके दूसरी बार गिरने की आशा क्यों की जाय।

वे दोनों एक बड़े साफ़ सफ़ेद घर के सामने पहुँचे। लड़के ने कहा—"हाँ, यही है"। और वह चिल्लाया—"मा।"

एक स्त्री आई और उस मनुष्य की मुस्कराहट बन्द हो गई, क्योंकि उसने देखते ही जान लिया कि उस लम्बी पीली लड़की से कोरी हँसी नहीं की जा सकती। वह अपने द्वार पर इस कड़ेपन से खड़ी थी, जैसे वह उस द्वार को एक आदमी से बचाने को खड़ी हो जहाँ दूसरे ने उसे धोखा दिया हो। डर कर, अपनी टोपी हाथ में लिये हुए उस मनुष्य ने हिचकते हुए कहा—"देखो श्रीमती जी! मैं तुम्हारे छोटे लड़के को जो नदी के किनारे भटक रहा था, लौटा लाया हूँ।"

पर साइमन अपनी मा से चिमट कर रोते हुए कहने लगा—"नहीं मा! मैं डूबकर मर जाना चाहता था, क्योंकि औरों ने मुझे मारा था—मारा था—क्योंकि मेरे पिता नहीं है।"

उस जवान लड़की के गालों पर एक दुखभरी लाली छा गई और हृदय में आघात लगने से व्यथित होकर अपने लड़के को ज़ोर से चिमटा कर वह रोने लगी। वह मनुष्य बहुत व्याकुल होकर और यह न जान कर कि वह वहाँ से कैसे हट जाय, वहीं खड़ा रहा। पर साइमन सहसा उसके पास दौड़ कर पहुँच गया और कहने लगा—"क्या तुम मेरे पिता होगे?"

एक गहरा सन्नाटा छा गया। ला ब्लान्शाट गूँगी और लज्जा से व्यथित होकर अपने हाथों को हृदय पर रखकर दीवार के सहारे झुक गई। बच्चे ने यह देखकर कि कोई उत्तर नहीं मिला है, फिर कहा—"यदि तुम यह नहीं चाहते तो मैं डूबकर मरने को लौट जाऊँगा।"

उस आदमी ने हँसी समझकर हँसते हुए कहा—"मैं अवश्य चाहता हूँ।"

लड़के ने फिर पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है, जिससे जब वे लोग फिर तुम्हारा नाम जानना चाहें तो बता सकूँ।"

"फ़िलिप।" उस मनुष्य ने उत्तर दिया।

साइमन अपनी स्मृति में वह नाम भली भाँति बैठा लेने के लिए एक क्षण चुप रहा। फिर दोनों हाथ फैला कर, बहुत शान्त होकर उसने कहा—"अच्छा तो फ़िलिप, तुम मेरे पिता हो।"

उस मनुष्य ने उसे धरती से उठाकर शीघ्रता से उसके दोनों गालों को चूमा और फिर तीव्र गति से वहाँ से चला गया।

जब दूसरे दिन लड़का स्कूल लौटा तब उसकी आवभगत एक उपहास-पूर्ण हँसी-द्वारा की गई। और स्कूल के उपरान्त जब वह बड़ा लड़का फिर छेड़-छाड़ आरम्भ करने को हुआ, साइमन ने उसके समक्ष कहा—"मेरे पिता का नाम फ़िलिप है।"

उल्लास-भरी किलकारियाँ हर ओर से सुनाई दीं। "फ़िलिप कौन? फ़िलिप क्या? यह फ़िलिप क्या बला है? यह फ़िलिप तुम कहाँ से सीख आये हो?"

साइमन ने कुछ उत्तर नहीं दिया और विश्वास पर अटल वह अपनी आँख से उनको चुनौती देता हुआ भागने के स्थान पर बलि हो जाने को डटा खड़ा रहा। स्कूल-मास्टर ने आकर उसे बचाया और वह अपनी मा के पास लौट कर घर गया।

लम्बा फ़िलिप ला ब्लान्शाट के घर की ओर से तीन-चार महीने तक बहुधा निकला किया और कभी कभी उसको खिड़की के पास बैठी सीती हुई देखकर उससे बोल भी बैठता था। वह सदैव सभ्यता से उत्तर दे देती, पर गम्भीरता से, कभी उससे हँसी न करती और न अपने घर में घुसने की कभी आज्ञा ही देती। तिस पर भी, सब मनुष्यों की भाँति थोड़ा-सा छैला होने के कारण वह यह समझता कि बहुधा उससे बात करते समय साधारण से अधिक गुलाबी उसके चेहरे पर दौड़ जाती थी।

परन्तु चरित्र का एक बार पतन के अनन्तर उत्थान इतना कठिन है और सदा ऐसा छुईमुई की भाँति रहता है कि ला ब्लान्शाट का इतना लज्जायुत व्यवहार होने पर भी पास-पड़ोस में बातें लगाई जाने लगीं।

और साइमन। वह अपने नये पिता को बहुत प्यार करता था और दिन भर के काम का अन्त हो जाने पर प्रायः प्रत्येक सन्ध्या को उसके साथ घूमने जाया करता था। वह नियम से स्कूल जाता और सहपाठियों में आदर से मिलता-बैठता पर कभी प्रत्युत्तर न देता था।

फिर भी एक दिन जिस लड़के ने उस पर आक्रमण किया था उसने कहा—"तुम झूठे हो। तुम्हारे फ़िलिप नाम का कोई बाप नहीं है।"

साइमन ने बहुत घबरा कर पूछा—"तुम ऐसा क्यों कहते हो ?"

इस लड़के ने अपने दोनों हाथ मलकर उत्तर दिया—"यदि तुम्हारे कोई बाप होता तो वह तुम्हारी मा का पति होता।"

साइमन इस कारण की सत्यता से चकरा गया। फिर भी उसने कहा—"सब कुछ होते हुए भी वह मेरा पिता है।"

उस लड़के ने मुँह बिचकाकर कहा—"होगा, पर इससे वह तुम्हारा पूरा पूरा बाप नहीं है।"

ला ब्लान्शाट के छोटे से लड़के ने सिर झुका लिया और सपने देखते हुए बुड्ढे त्वाज़न के लोहारी के कारख़ाने की ओर चल दिया, जहाँ फ़िलिप काम करता था।

लोहार का कारख़ाना पेड़ों से आच्छादित था। वहाँ बड़ा अँधेरा था और केवल भट्ठी की ही लाल रोशनी पाँचों लोहारों को तड़प तड़प कर घनों को ज़ोर की आवाज़ से चलाते हुए दिखाती थी। ज्वालाओं से घिरे खड़े हुए वे दैत्यों की भाँति काम करते थे। उनकी आँखें इस तपे हुए लोहे पर जिस पर वे घन चला रहे थे, लगी रहती थीं और उनके तुच्छ विचार उनके घनों के साथ साथ उठते और गिरते थे।

साइमन बिना देखे-जाने भीतर गया और अपने मित्र का चुपचाप हाथ हिलाया। फ़िलिप घूमा। तुरन्त ही सब काम थम गया और लोग बड़े ध्यान से देखने लगे। फिर उस असाधारण शान्ति में साइमन की पतली आवाज़ ने कहा—"फ़िलिप! ला मिशाड के लड़के ने मुझसे अभी कहा है कि तुम मेरे पूरे पूरे पिता नहीं हो, यह बात मुझे समझाओ।"

लोहार ने पूछा—"उसने ऐसा क्यों कहा ?"

लड़के ने बड़ी सरलता से कहा—"क्योंकि तुम मेरी मा के पति नहीं हो।"

कोई भी नहीं हँसा। फ़िलिप अपने घन को पकड़े हुए हाथों पर अपना सिर रक्खे खड़ा रहा। वह सोच रहा था। उसके चारों साथी उसे देख रहे थे और दानवों के बीच एक छोटे-से कीड़े की भाँति साइमन आतुरतापूर्वक उत्तर की राह देख रहा था। सहसा लोहारों में से एक ने सबकी सम्मति जताते हुए फ़िलिप से कहा—"सब कुछ होते हुए ला ब्लान्शाट एक भली और सच्ची लड़की है, अपने दुर्भाग्य में भी शान्त और सीधी है और किसी भी सच्चे मनुष्य की योग्य पत्नी होने के योग्य है।

और तीनों ने कहा—"यह सच है।"

लोहार ने फिर कहा—"क्या यह लड़की का अपराध है कि वह पतित है ? उसे विवाह का वचन दिया गया था और मैं एक से अधिक ऐसियों को जानता हूँ जो आज बहुत आदरणीय हैं और जिन्होंने इतना ही पाप किया है।"

और उन तीनों ने एक साथ ही फिर कहा—"यह सच है।"

लोहार ने आगे कहा—"उस बिचारी ने अकेले ही अपने लड़के को पढ़ाने के लिए कितना अधिक परिश्रम किया है और वह कितना अधिक रोई है, क्योंकि परमात्मा जाने क्यों वह गिरजाघर को छोड़कर कहीं जाती भी नहीं है।

औरों ने कहा—"यह भी सच है।"

फिर भट्ठी का शब्द छोड़ कर और कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता था। फ़िलिप जल्दी से साइमन की ओर झुका और उससे कहने लगा—जाओ और अपनी मा से कहो कि मैं उससे मिलने आऊँगा।

फिर उसने लड़के को कन्धा पकड़ कर बाहर कर दिया और अपने काम में जुट गया। पाँचों घन फिर चलने लगे। इसी भाँति रात तक वे लोहा सुधारते रहे—बलवान्, शक्तिमय, सुखी। परन्तु जैसे गिरजाघर का घण्टा पर्व के दिवसों पर और घण्टों से अधिक घन-घनाता सुनाई देता है, वैसे ही फ़िलिप का घन और घनों के शब्द को दबा कर प्रत्येक पल कान फाड़नेवाली गरज

से सुनाई देता रहा। आग पर आँखें लगाये, चिनगारियों के बीच सीधे खड़े वह अपना कर्तव्य करता रहा।

जब उसने ला ब्लान्शाट का द्वार खटखटाया तब आकाश तारों से भरा हुआ था। वह अपने अच्छे कपड़े पहने हुए था, साफ़ कमीज़ थी और ठीक कटी हुई दाढ़ी। नवबाला द्वार पर आई और क्रुद्ध कण्ठ से कहा—"फ़िलिप साहब, इस भाँति रात हो जाने पर आना उचित नहीं है।"

वह उत्तर देना चाहता था, पर शब्द मुँह में ही अटक रहे और वह घबड़ाया हुआ उसके सम्मुख खड़ा रहा।

उसने फिर कहा—"तुम भली भाँति जानते हो कि यह उचित नहीं है कि मेरे विषय में फिर बातें कही जायँ।"

फिर उसने सहसा कहा—"बातें लगाने से क्या होगा यदि तुम मेरी पत्नी हो जाओगी।"

किसी वाणी ने उसे उत्तर नहीं दिया, पर उसे प्रतीत हुआ कि कमरे के अँधेरे में कोई गिर पड़ा है। वह बहुत शीघ्र भीतर गया और साइमन को अपने सोने के कमरे में से चूमने का शब्द और कुछ शब्द जो उसकी मा ने बहुत धीरे से कहे सुनाई दिये। फिर सहसा उसने अपने को अपने मित्र के भीमकाय हाथों में ऊँचा उठा पाया और उसे कहते सुना कि "तुम अपने सहपाठियों से कहना कि तुम्हारा पिता लोहार फ़िलिप रेमी है और वह जो भी तुम्हें सतायेगा उसके कान खींचेगा।"

दूसरे दिन जब स्कूल भरा हुआ था और पाठ आरम्भ होनेवाला था, साइमन ने काँपते हुए होठों से ऊँची वाणी में कहा—"मेरा पिता फ़िलिप रेमी लोहार है और उसने वचन दिया है कि वह उसके कान खींचेगा जो मुझे सतायेगा।"

इस बार कोई नहीं हँसा, क्योंकि फ़िलिप रेमी लोहार को सब भली भाँति जानते थे और वह ऐसा पिता था जिसका लड़के होने का प्रत्येक को अभिमान होता।



जिज्ञासा

श्रीमती रत्नकुमारी देवी काव्यतीर्थ

छल छल करता सरिता में क्यों
　　छल का करुण-प्रवाह ?
निर्झर क्यों झरझर बिखराता
　　नयन नीर का वाह ?
लतिका के नत आनन से क्यों
　　झलका अन्तर्दाह ?
तरु क्यों पत्र-अधर-कम्पन से
　　भरते नीरव आह ?

हृदय धूम से तम में क्यों है
　　आवृत अवनी अङ्ग ?
व्यथाभार से होता क्यों यह
　　पवन गमन में भङ्ग ?
सान्ध्य गगन की मलिनाकृति से
　　क्यों प्रकटित अवसाद ?
श्यामल भूधर झींगुररवमिष
　　क्यों करते दुखनाद ?

कविता में शृंगार-रस

श्रीयुत इक़बाल वर्मा 'सेहर'

सेहर जी उर्दू और हिन्दी के सुलेखक हैं। इस लेख में आपने शृंगार-रस के पक्ष मे जो विचार व्यक्त किया है उससे पाठकों का मतभेद हो सकता है, पर वह विचार-योग्य है।



प्राचीन काव्य-मर्मज्ञों ने कविता के सम्बन्ध में जिन नौ रसों का वर्णन किया है उनमें एक शृङ्गार-रस भी है। बल्कि उन्होंने तो इसी एक रस को सब रसों में प्रमुखता तक दे डाली है। उनका ऐसा कहना सिर्फ़ ज़बानी ही नहीं, बल्कि उन्होंने अपने रचना-बाहुल्य-द्वारा यह प्रमाणित भी कर दिया है कि उनकी बात में कुछ वज़न है। चाहे संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों को लें, चाहे हिन्दी के, हमें कुछ इने-गिने कवियों को छोड़ कर शेष सभी की कृतियों में शृङ्गार-रस की ही प्रमुखता नज़र आती है। प्रसंगवश फ़ारसी-उर्दू महाकवियों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। वे सभी बड़े लोग थे—बड़े दिल और दिमाग़वाले, प्रायः अनुयायी नहीं बल्कि आविष्कर्ता, बनी हुई भाषा को अपनानेवाले नहीं बल्कि भाषा को बना कर अपनानेवाले। हम उन सबों के बारे में इतना ही कहकर तो छुट्टी नहीं पा सकते कि उनके दिमाग़ में ख़लल और उनकी अक़्ल में फ़ितूर था। फिर आख़िर बात क्या है?

यह ठीक है कि उस समय देश में ख़ुशहाली थी। लोगों को भोजन-छादन के निमित्त कोई विशेष चिन्ता न थी। ऐसी दशा में बेकाम का काम सूझना—यदि शृङ्गार-रस का प्रतिपादन जैसा समझा जाय तो—कोई अनहोनी बात नहीं। देश का वातावरण विलासिता से कुछ-न-कुछ दूषित रहा ही होगा, जिसने तत्कालीन कवियों को भी प्रभावित कर उन्हें वैसे कामों के निमित्त कुछ न कुछ उत्तेजना भी अवश्य दी होगी। राजदरबारों से भी प्रोत्साहन मिला ही होगा। यह सब मानते हुए भी हम शृङ्गारी कविताओं की रचना का दोष केवल इन्हीं तीनों के माथे मढ़ने को तैयार नहीं। कवि को उनकी साधारण परवा भले ही हो, पर विशेष परवा भी तो नहीं होती। उसका अपना संसार अलग ही होता है, जो अधिक सुखकर, अधिक हितकर और अधिक श्रेयस्कर है। वे तीनों बातें तो सदैव ही रहती हैं—कभी कम, कभी ज़्यादा। देखिए न, अब वैसी ख़ुशहाली नहीं, राजदरबारों का रंग-ढंग भी कुछ बदला ही हुआ है, पर विलासिता तो दिनों-दिन ज़ोर ही पकड़ती जा रही है। स्त्री-पुरुष दोनों तरह-तरह की वेष-भूषा-द्वारा वासनाओं को बलवती बनाने में व्यस्त हैं। जो शृङ्गार-रस कभी कवि की कल्पना तक सीमित था वह अब प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है—उस पुराने रङ्ग में नहीं बल्कि नये और चटकीले रंग में। कोरी बातों से उतर कर आचार एवं स्वास्थ्य पर नौबत आ रही है। फिर भी अब नवीन कविता का रुख़ बदल चला है। शायद इसलिए कि पतन की पराकाष्ठा प्रायः उत्थान की ओर प्रेरित करती है। ऐसी दशा में हम प्राचीन शृङ्गारी कवियों के बारे में अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि उन्होंने किसी प्रकार हमारे इस पतन में कुछ प्रारम्भिक योग अवश्य दिया। परन्तु अपने कथन को लांछन में परिणत करने के पूर्व हमें यह सोच लेना होगा कि उनका वह योग जान में हुआ या अनजान में—उनकी

नीयत और दिली मंशा क्या थी, उनका उद्देश और उद्देश का कारण क्या था तथा उस उद्देश की पूर्ति किस प्रकार हुई थी ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के हेतु हमें कुछ और बातों को भी कह देना ज़रूरी है। प्रकृति का विस्तीर्ण प्राङ्गण स्वयं ही शृङ्गार का रंगस्थल है। उसका अणु-अणु शृंगार-रस से ओत-प्रोत है। वह शृंगार भी इतना मनोमोहक है कि हम मामूली दुनियादारों की तो हस्ती ही क्या, बड़े-बड़े त्यागी-विरागी तक उस पर सौ जान से फ़िदा हो रहे हैं। यों तो द्रष्टा के लिए वह शृंगार अपने सजीव रूप में सदैव ही विद्यमान है, परन्तु समृद्धि एवं सुख की दशा में उसकी दृष्टि का उतना ही अधिक तीव्र हो जाना स्वाभाविक है जितना अधिक शृङ्गार की शोभा का प्रस्फुटन। शृङ्गार पर्याय है सौन्दर्य का, और सौन्दर्य का सम्बन्ध है प्रेम से। अतः सौन्दर्य का जितना ही अधिक अनुभव होगा, उतना ही प्रेम में दृढ़ता एवं विस्तीर्णता का आ जाना अनिवार्य है। इसी विस्तीर्णता की बदौलत हमें उस आदर्श की प्राप्ति होगी जो मानवीय जीवन की पूर्ण सफलता का चिह्न है। इसी प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न करना अनुभवी एवं मननशील मनुष्यों का कर्तव्य है। कवि की गणना भी साधारणतः ऐसे ही मनुष्यों में है, और हमें यह देखकर सन्तोष होता है कि प्रेम में पूर्णता लाने के लिए जो काम पुराने कवियों ने किया वही अब के नये कवि भी कर रहे हैं—वर्णन-शैली भले ही भिन्न हो।

कवि की दृष्टि अन्य द्रष्टाओं की अपेक्षा अधिक पैनी होती है। वह भावुकता के साथ सूक्ष्मदर्शिता लेकर संसार में आता है। वह वस्तुओं को बाहर से भी देखता है और भीतर से भी। उसकी दृष्टि में सौन्दर्य होता है। वस्तुओं में भी सौन्दर्य होता है। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो प्रेम की अविरल धारा बहाते हैं। कवि की प्रतिभा वस्तुओं के बहिरङ्ग एवं अंतरंग, दोनों रूपों को व्यक्त करती और दोनों को चित्रित करती है। कवि अपने इस व्यक्तीकरण और चित्रण के लिए चाहे जिस काव्यरस को पसन्द करे, परन्तु उसे प्रत्येक रस में प्रेम और आपेक्षिक शृङ्गार की आर्द्रता का अनुभव होता है। यही आर्द्रता उसकी लेखनी से निःसृत हो विश्व-सौन्दर्य में निखार पैदा करती और तदनुरूप ही शुष्क मानवीय हृदयों में विश्वप्रेम का संचार करती है। ऐसा होते हुए यदि प्राचीन कवियों ने नौ काव्यरसों में शृङ्गार-रस को ही प्रधान माना तो बेजा ही क्या किया ? वे अपने अनुभव से वैसा करने के लिए बिलकुल लाचार थे। उनके लिए प्रकृति का वही आदेश था जिसकी अवहेलना वे न कर सकते थे और जिसका पालन उन्होंने उसी रीति पर किया था जिसे हम चाहे पारम्परिक कह लें, चाहे प्रारम्भिक। उन्हें सर्वथा मान का ख़याल था, अपमान का नहीं। बिना सौन्दर्य और प्रेम के तो विश्व के अस्तित्व का अनुमान ही नहीं हो सकता। प्रकृति में वैभिन्य है। रसों में भी वैभिन्य है। पर जिस प्रकार प्रकृति के अन्तस्तल में एक ही व्यापक सत्ता की विद्यमानता रहती है, उसी प्रकार नौ काव्यरसों का भी सौन्दर्य एवं प्रेम के समन्वय—शृङ्गार-रस पर एकीकरण हो जाता है। प्रमाण रसों का अपना अपना आकर्षण है।

शृंगारी कविताओं के लिए प्राचीन कवियों को श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं में अच्छी सामग्री मिली है। उस सामग्री का उपयोग भी अच्छा ही हुआ है। कितना मनोमुग्धकारी जीवन और कितना मनोमुग्धकारी वर्णन है! हम तो यदि श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष कहेंगे तो इसलिए भी कि वे पहले कितना बिगड़ कर भी कितना बन गये—रसिकराज कृष्ण से योगिराज कृष्ण हो गये! अवतार में चमत्कार होना ही चाहिए। और उनकी गोपियों का भी क्या कहना। मान-अपमान की बात तो होशोहवासवाले के लिए है। प्रेम में पागलपन होता है और पागलपन में मनुष्य जो न कर गुज़रे वह थोड़ा। फिर उसका उल्लेख 'रसिकराज' के निमित्त होना ही चाहिए था। हाँ, कवि का काम तो प्रत्येक दशा में असुन्दर को भी सुन्दर बना कर शृङ्गारादर्श की रक्षा करना है।

आज का छायावादी कवि भी कहने को कुछ कहे, पर वस्तुतः करता वही है जो कल के कवियों ने किया है।

अन्तर भी है। पहले का कवि वस्तु को उसके ठोस-रूप में ही ग्रहण करेगा, चाहे वह वस्तु का बहिरंग दिखलावे वा अंतरंग। वह सार को गौण या साररूप में ही रक्खेगा। इसी लिए उसका वर्णन संसार और उसकी वस्तुओं से बहुत कुछ संबंध रखता हुआ चलेगा। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पुष्प, वन, नगर, पर्वत, सरिता, पृथिवी, आकाश इत्यादि सभी जड़ एवं चैतन्य सृष्टि और उनमें होनेवाली घटनायें—ये सब उसके प्रिय विषय बनेंगे, जिन्हें वह खुली रीति पर रखकर अपने काव्य-कौशल के साथ ही स्रष्टा का रचना-कौशल प्रकट करेगा। उपमाओं और अलङ्कारों के द्वारा रंगामेज़ी कर असुन्दर को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बनाते हुए वह ऐसा विशद एवं विमोहक चित्र खींचेगा जो हमारे हृदय-पटल पर पूर्णतः अंकित हो जाय। साथ ही अनुप्रासों और शब्द-विन्यासों के द्वारा अपने उस चित्र को बोलता हुआ बनाकर उसके बोल-बोल से ऐसे संगीत का सृजन करेगा जिसको सुन कर हृत्तन्त्री के तार बज उठें। दर्शन और श्रवण दोनों ही मनुष्य को आनंद-विभोर बना कर उसे निमग्नता की दशा में पहुँचा देंगे, जहाँ वह एक क्षण के लिए अपने को भूल कर विश्व में विलीन-सा होता हुआ प्रतीत करेगा। यही कवि का कमाल है और इसी कमाल से कविता का मूल्य आँका जाता है। पर कवि भी मनुष्य है और मानवीय निर्बलताओं के अधीन है। उद्देश की उच्चता उसे कभी कभी क्षणिक पतन से बाज़ नहीं रख सकती। ऐसा पतन मनुष्यत्व के नाते ज्ञातव्य है और इससे कविता के सर्वाङ्गीण मूल्य में कोई फ़र्क़ नहीं आ सकता। हाँ, यदि हमें कविता में कमाल की बात ही न दिखे तो फिर हम उसे श्रृङ्गारी न कह-कर अश्रृङ्गारी ही कहना उचित समझेंगे—चाहे उसके लिए किसी दसवें रस का आविष्कार करना पड़े, जिसे हम 'रस' न कह कर 'अरस' ही कहेंगे।

अब का कवि भी उन्हीं वस्तुओं का आश्रय लेगा, पर वह वस्तुओं की अपेक्षा उनके सार से अधिक सम्पर्क रक्खेगा। सार के अनुरूप ही वह अपनी बात भी संक्षेप में कहेगा। वह दिल के भावों को दिमाग़ की उड़ान देगा। उसका चित्र, उसका संगीत काव्यादर्श के अधिक निकट होगा। उनमें वही सूक्ष्मता होगी जो उन तीनों में विहित है। वह देखने की चीज़ कम होगी और समझने की ज़ियादह। कविता-कामिनी हमारे सामने आवेगी अवश्य, पर खेलती और हँसती हुई नहीं बल्कि लजाती और मुसकुराती हुई। उसका सौन्दर्य आवरण-हीन न होगा जो हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दे, पर आवरण से वह इतना फूट-फूट कर निकलेगा ज़रूर, जो हमारी दृष्टि में उसे देखने की उत्सुकता उत्पन्न कर दे। यह स्मरण रहे कि हम यहाँ जो कुछ कह रहे हैं वह बानगी देखकर ही। नवीन काव्य-साहित्य में अभी इतनी सामग्री नहीं है जिसे हम पूरा सौदा कह सकें और जो बाज़ार में पहुँच कर ग्राहक को पूर्णतः संतुष्ट कर सके। अभी तो प्राचीन साहित्य की ही प्रचुरता है। उसका बाज़ार सौदे से पटा पड़ा है—इतना कि स्वयं सौदा ही बानगी का काम दे रहा है। इस बाज़ार का ग्राहक अपनी रुचि के अनुसार सौदा कर सकता है। सौदे में उच्च से उच्च और नीच से नीच वृत्तियों की संतुष्टि का सामान है—यह और बात है कि हम अन्तिम प्रकार की संतुष्टि को वास्तविक संतुष्टि न समझें और न उसका समर्थन ही करें।

हमने उपरिलिखित पंक्तियों-द्वारा संक्षेप में यह दिखला दिया कि प्राचीन श्रृंगारी कवियों की नीयत पर अँगुली नहीं उठाई जा सकती। उन्होंने सौन्दर्य एवं प्रेम को सहज ही सर्वोपरि समझा और उनके गुप्त रहस्यों के खोलने का भरसक प्रयत्न किया है। उनका उद्देश इसके सिवा और कुछ न था कि सौन्दर्य एवं प्रेम के प्रभाव से मनुष्यों में ऐसा सौन्दर्य एवं प्रेम उत्पन्न हो जाय कि सृष्टि को क्या, स्वयं स्रष्टा तक उनके प्रति आकृष्ट हो। उद्देश का कारण भी सृष्टि और स्रष्टा के सौन्दर्य और प्रेम का वह सुव्यवस्थित समुच्चय है जो श्रृंगार का रूप धारण कर कवि के श्रृंगारप्रिय हृदय में अनन्त प्रतिबिम्ब डालता है और उसे इस बात पर मजबूर करता है कि वह इस समूचे प्रतिबिम्ब को देखे और समझे जाने योग्य चित्र में परिणत करके सर्वसाधारण

के सामने रख दे। इस उद्देश की पूर्त्ति उन्होंने किस प्रकार की—इसके साक्ष्य में प्रायः सारा का सारा प्राचीन साहित्य पेश किया जा सकता है। उनके खींचे हुए चित्र आज भी संसार के चित्रागार में बेजोड़ हैं और उन चित्रों से आज भी मौलिकता का स्फुरण होता है। उन्होंने एक ऐसे युग का निर्माण किया जो सभी साहित्यिक युगों में अपना एक विशेष और प्रमुख स्थान रक्खेगा। हम यहाँ तक कहेंगे कि आज का यह नवीन युग भी उसी प्राचीन युग का विकास-मात्र है—ऐसा विकास जिसके परिपक्व तथा परिपूर्ण होने के लिए अभी एक युग की ही आवश्यकता है, और वह भी प्राचीन युग से इतना संबंध रखने पर ही जितना पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों में अनिवार्य है। ऐसी दशा में निरी कृतघ्नता होगी यदि हम अपने महान् उत्तरदायित्व को तनिक भी न जानकर बिना समझे-बूझे ही उस सम्पूर्ण साहित्य को ख़ामख़्वाह बदनाम करना शुरू कर दें जिसके ऋण-भार से हमारा वर्तमान साहित्य दबा हुआ है और दबा रहेगा, और जिसकी सुदृढ़ नींव पर ही इस साहित्य-संबंधी भवन के निर्माण का आयोजन हो रहा है और हो सकेगा। स्मरण रहे कि एक की बदनामी का असर दूसरे की नेकनामी पर पड़े बिना न रहेगा, चाहे वह प्रतिक्रिया के रूप में ही हो।

अतः हमें पग पग पर सावधान रहने की ज़रूरत है। उसका सबसे सरल उपाय यह है कि हम विषय की ओर अधिक ध्यान न देकर यह देखने की कोशिश करें कि कवि ने उस विषय को किस काव्योपम रीति पर व्यक्त किया है और उसे लक्ष्य के स्पष्टीकरण में कितनी सफलता मिली है। किसी भी कविता के निर्णय में यही ख़याल रखना चाहिए। पर यहाँ हमारा अभिप्राय शृङ्गारी कविताओं से ही है—उन कविताओं से जिन्हें हम, शृङ्गार के वास्तविक सौन्दर्य को न देखते हुए, एकदम निंद्य ठहरा देने के आदी हो गये हैं। वस्तुतः न सभी वैसी कवितायें निंद्य हैं, न सभी वैसे कवि। यों भूलचूक तो मानवीय स्वभाव में दाख़िल है ही, जो पहले भी हुई, अब भी होती है और आगे भी होगी। इस समय भी बहुत-से कवि ऐसे हैं जो उसी पुराने रंग में लिखना पसन्द कर रहे हैं—भाव और भाषा दोनों को लेते हुए। उनके ख़याल से न आज-कल की कविता में वह सरसता है जो कविता की जान है और न आज-कल की भाषा में वह लोच है जो कविता, विशेषतः शृङ्गारी कविता के लिए उपयुक्त है। हम इस प्रयत्न को भी अभिनन्दनीय समझते हैं, यदि उस काव्यादर्श की सम्यक् पूर्ति हो रही है जिसका हमने उल्लेख किया है। सम्यक् पूर्ति का सीधा और बेहतर तरीक़ा क्या होगा? इसे हमें नवयुग के बढ़ते हुए प्रभाव पर ही छोड़ देना चाहिए।

एक बात और। आज-कल खुली शृङ्गारी कविताओं में तो कुछ कमी हो रही है, पर तत्संबंधी गद्य-पुस्तकें उस कमी को सिर्फ़ पूरा नहीं कर रहीं, बल्कि उससे भी कुछ अधिक कर रही हैं। उन पुस्तकों को हमारा युवक समुदाय बड़े शौक़ से पढ़ता है। लेखक और पाठक दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि उस विषय की जानकारी नवयुवक और नवयुवतियों के लिए बहुत ज़रूरी है। जहाँ तक संयत भाषा में लिखी हुई वैसी पुस्तकों का संबंध है, वहाँ तक तो हमें इसी लिए कुछ आक्षेप हो सकता है कि शृङ्गारी कविताओं के नाम से तो हम उस हद तक भी जाने को तैयार नहीं, पर असल बात यह है कि उस जानकारी के मिस देश में अत्यन्त घृणित साहित्य का प्रचार हो रहा है। घृणित चित्रों का प्रचार भी कम नहीं है। ये दोनों बातें इस रूप और मात्रा में पहले के उस युग तक में नहीं मिलतीं जिसे अश्लील शृङ्गार का युग कहने का दुःसाहस किया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि हम शृङ्गारी कविताओं के नाम पर तो बेतरह मुँह चिढ़ाते हैं, पर वस्तुतः शृंगार-रस से बुरी तरह शराबोर हो रहे हैं। यह मक्कारी नहीं तो और क्या है? बात तो तब है जब हमारा हृदय ही शृंगार-शून्य हो जाय, पर यह नितान्त असम्भव है। हाँ, यह हो सकता है कि हम अनुचित पक्षपात से बच कर शृङ्गार को उसके यथार्थ रूप में देखना सीखें और उसी प्रकार देखते हुए उसकी क़द्र करें। इसी में हमारा और हमारे साहित्य का कल्याण है।

विनष्ट वैभव

श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा बी० ए०, एल-एल० बी०



प्रतिपल नीचे नीचे फिर भी इतने से संतोष नहीं,
सच कहता हूँ, कसक नहीं है और किसी पर रोष नहीं।

एक मूर्ति थी खिंची हृदय पर, उसे मिटाना चाहा था,
किन्तु हृदय ही हाय मिट गया, उसमें मेरा दोष नहीं।

उसे भुलाने चला, स्वयं ही भूल गया मैं अपने को,
निज अस्तित्व बना रक्खा था उस पल भर के सपने को॥

× × ×

बसी हुई दुनिया की तह में है दीवानों की बस्ती,
जहाँ निराशा मिलकर प्राणों में बन जाती है मस्ती।

होठों पर मुसकान नहीं है, चमक नहीं है आँखों में,
छलक पड़ा करती है केवल कभी कभी मेरी हस्ती।

आज हँसाना सीख गया हूँ रक्त पिला कर रोने को,
मिट कर पाना सीख गया हूँ मैं अपने ही खोने को॥

× × ×

लुटा चुका हूँ अपना सब कुछ, बना आज लेनेवाला,
शेष हलाहल रहा, बह गई आँखों से मेरी हाला।

जीवन का अभिशाप लिये हूँ, पाप लिये हूँ यौवन का,
और पहन रक्खी है मैंने असफलता की जयमाला।

अभिलाषा की राख उड़ाता चलता हूँ मस्ताना मैं,
ज्ञानी जन से खेल रहा हूँ अज्ञानी दीवाना मैं॥

× × ×

लेना होगा, अरे व्यर्थ है सुख-दुख की पहचान मुझे,
करना होगा, अरे व्यर्थ है भले-बुरे का ज्ञान मुझे।

मुक्त हो चुका सब कुछ खोकर—कैसा भय? चिन्ता कैसी?
अपने इस विनष्ट वैभव पर है कितना अभिमान मुझे।

उत्तर-बिहार में भूकम्प

श्री   टकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

भूकम्प से बिहार की कितनी गहरी हानि हुई है, इसका कुछ अनुमान पाठक श्री राहुल सांकृत्यायन के इस लेख से कर सकते हैं। आप इस समय भूकम्प-त्रसित बिहारियों के बीच में हैं और सेन्ट्रल रिलीफ़ कमेटी की ओर से उन्हें सहायता पहुँचा रहे हैं।



दोपहर के २ बजे के बाद सीतामढ़ी में अपने दवाखाने में बैठा एक पत्र लिख रहा था। उसी समय एक प्रकार की घरघराहट की आवाज़ और साथ-साथ दीवार में कुछ थरथराहट मालूम पड़ी। मुझे ख़याल हुआ, शायद सड़क पर से, कोई बड़ी लारी निकल रही है। पत्र लिखने से मेरा मन हटना नहीं चाहता था, लेकिन अब दीवारें ज़्यादा हिलने लगी थीं। हठात् मैं घर से बाहर निकल आया। जिस समय मैं सड़क पर पहुँचा तब तक डेढ़ मिनट ज़रूर हो गया होगा, लेकिन इसी समय गर्द से मेरे चारों ओर अँधेरा हो गया था और कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। यह गर्द और उसके साथ की आवाज़ गिरते मकानों तथा धरती के फटने से आ रही थी। अभी मैं यह देखकर कुछ सोचने भी नहीं पाया था कि देखता हूँ, सड़क में जगह जगह धरती से पाँच-पाँच, छः-छः हाथ ऊँचे पानी के मोटे मोटे फ़व्वारे छूट रहे हैं। ज़रा आगे खिसकते ही सड़क में बहुत चौड़ी और दूर तक फैली दरार काल की तरह मुँह बाये पड़ी दिखाई दी। ये घटनायें इतनी शीघ्रता से हो रही थीं कि मन सोचने के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। सड़क पर खड़े हुए मैंने जब मकानों को गिरा देखा तब ख़याल आया कि इतने संकीर्ण स्थान में पक्के मकानों के बीच में रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। अब मैं कचहरी की ओर चला। वहाँ देखता हूँ, जेल की बाहरी दीवारें लेट गई हैं, क़ैदियों के पास कुछ सिपाही खड़े थे। लोग जगह जगह घरों से निकल कर खड़े हैं। मकानों की छतें कहीं सोई हुई थीं, दीवारें कहीं आधी खड़ी और आधी लेटी थीं। बीच बीच में पानी की मोटी-मोटी गरम धारायें, जो पीछे बालू-मिश्रित आने लगीं, छूट रही थीं। लोग इस सारे दृश्य को देखकर सोच रहे थे कि प्रलय होने जा रहा है, क़यामत आ गई है। पानी और बालू के फ़व्वारे घंटे डेढ़ घंटे तक चलते रहे। उसके बाद जब हममें से लोग इधर-उधर जाकर देखने लगे तब मालूम हुआ कि लखनदेव नदी का पुल टूट गया है; और आदमी स्टेशन की ओर नहीं जा सकते। रेल का



श्री राहुल सांकृत्यायन

पुल लछमन-झूला बन रहा था। सारी अवस्था को देखकर मैं तो सोच रहा था कि इस बचने से भी क्या फ़ायदा जब सारी दुनिया में इस प्रलय के कारण आना-जाना ही नहीं हो सकता और कुछ ही दिनों में हमें भूखों मरना पड़ेगा। वस्तुतः लोग खाने-पीने की चीज़ों का खर्च बड़े संयम से करने लगे। शाम के वक़्त मैं भीतर बाज़ार की ओर गया वहाँ देखा कि एक मसजिद की दीवार से दबकर मरे सात आदमी बाहर निकाल कर सुलाये हुए हैं।"

भूकम्प की उक्त घटना सीतामढ़ी के एक प्रतिष्ठित डाक्टर ने बयान की है।

"मैं महुअरिया गाँव में (सीतामढ़ी से १६ मील पश्चिम) अपने मामा के घर में अपनी एक भाभी के साथ किताब देख रहा था। उसी समय कुछ आवाज़-सी और ज़मीन में गति मालूम हुई। सामने खूँटी पर टँगा कोट अब विशेष तौर से हिलने लगा। ज़रा-सा और धक्का लगते ही मुझे मालूम हुआ कि यह तो भूकम्प है और हम दोनों तुरन्त घर से बाहर चले आये। मेरी भाभी ने शिक्षिता होने से बाहर आने में संकोच नहीं किया। द्वार पर आकर धक्का ज़ोर का मालूम हुआ और हमारे पैर लड़खड़ाने लगे। हम लोग तुरन्त ही ज़मीन पकड़कर बैठ गये। उसी समय घर का एक बच्चा जो बाहर खेल रहा था, रोता हुआ दौड़ आया और हमारे पास बैठ गया। ज़मीन को पकड़ कर बैठे हुए भी हम मेंढक की तरह उछाल कर इधर से उधर फेंक दिये जाते थे। तब हम ज़मीन से चिपट कर लेट गये। दो मिनट के बाद भूकम्प के अन्तिम धक्के के साथ भूमि में दरारें फट गईं, जिनके फटने की आवाज़ डाकगाड़ी की घड़घड़ाहट-सी मालूम हुई। इसके साथ ही गर्द उठकर आस-पास छा गई। इसके खतम होते ही या साथ ही साथ पानी की धार पाँत बाँधकर डेढ़ दो हाथ ऊँची निकलने लगी। हम लोग इतने से ही संत्रस्त हो रहे थे कि अब आस-पास की कुछ जगहों से जहाँ की धरती नहीं फटी थी, पानी के मोटे फ़व्वारे छूटने लगे, जिनका पानी सात-सात आठ-आठ हाथ ऊँचा उठता था। पहले थोड़ी देर पानी कुछ साफ़-सा था, पीछे बालू मिला हुआ आने लगा। एक तरफ़ की जलमुखी से बचने के लिए जब हम दूसरी ओर जाने लगे तब उधर से एक दूसरा फ़व्वारा निकल पड़ा। उधर से जब तीसरी ओर भागे तब उधर भी एक निकल पड़ा। चारों ओर से इस प्रकार जगह जगह फ़व्वारे (जल-मुखियाँ) छूट रहे थे और दरारों से अलग पानी निकल रहा था। प्रलय-सा दृश्य था। हम लोग एक ओर से निकल कर घरों से बाहर की ओर निकल पड़े। मेरे साथ दो स्त्रियाँ और एक बच्चा था। जान बचाने के ख़याल से या यों कहिए, बिना सोचे-विचारे ही गाँव छोड़ बाहर की ओर भागे जा रहे थे। हमने समझा था कि प्रलय सिर्फ़ महुअरिया के लिए आया है; लेकिन जब कुछ आगे जाकर हमने दूसरे गाँव के लोगों को भागकर अपनी ओर आते देखा तब समझा कि यह तो चारों ओर है। लौटकर हम एक तालाब के ऊँचे भीटे पर गये। देखा कि उससे भी फ़व्वारे निकल रहे हैं। इसी समय किसी ने कहा कि हमारे पास के एक कुएँ से भी एक मोटी धार निकल रही है। जाकर देखा तो कुएँ से मोटी और छः-सात हाथ ऊँची बालू-मिश्रित पानी की धार उठ रही है। ये सभी बातें एक के बाद एक ऐसे आती गईं कि हममें से अधिकांश सोचने की ताक़त खो बैठे थे। वह दृश्य बड़ा ही करुणापूर्ण था जब स्त्रियाँ (और पुरुष भी) देवताओं से अपने अपराधों की क्षमा माँग रही थीं—"दोहाई महावीर बाबा के, कसूर भेल, माफ करू।"

भूकम्प का उपर्युक्त वर्णन एक १७ वर्षीय नवयुवक ठाकुर नागेश्वरप्रसादसिंह ने किया।

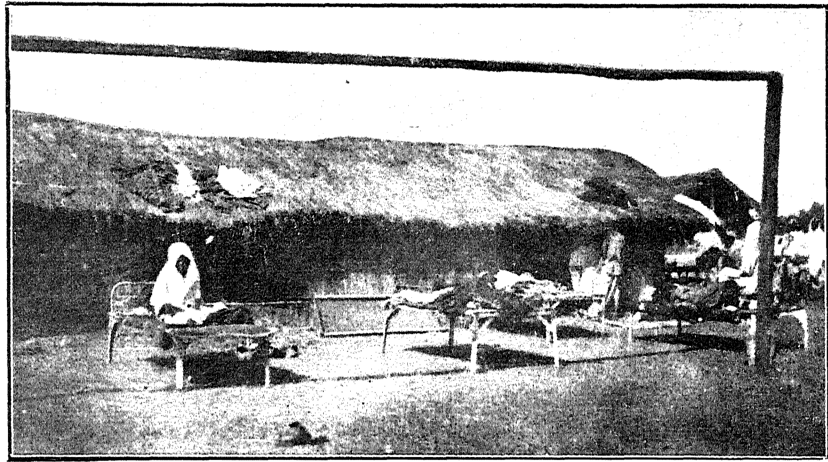
१५ जनवरी के दो बजे दिन को मैं प्रयाग में ही था। इसलिए ज़मीन का हिलना-डोलना कुछ दिखाई तो पड़ा, किन्तु उसकी तुलना बिहार के इन ज़िलों के खण्ड-प्रलय से नहीं की जा सकती। १६ के समाचार-पत्रों में तो हमें सिर्फ़ यही मालूम हुआ कि मिर्ज़ापुर में भूकम्प का असर कुछ अधिक मालूम हुआ है। और शायद उसी दिन यह भी ख़बर मिली कि जमालपुर में धन-जन की कुछ हानि हुई है। मैं १७ को जब बनारस

के लिए रवाना हुआ तब उस समय तक भी कुछ साधारण-सी ही ख़बर मिली थी। यदि सारी ख़बरें या कम से कम मुँगेर की ही भयंकरता, जिसकी ख़बर दूसरे दिन सवेरे ज़रूर मिल गई होगी, लोगों तक और विदेशों में भी पहुँचाई जाती तो सहायता बहुत ही प्रचुर परिमाण में मिलती। जापान ने १९२३ में अपने प्रलयकारी भूकम्प की ख़बर तुरन्त भेजी थी, जिसका फल यह हुआ कि बाहर के देशों ने प्रायः ३० करोड़ रुपये की सहायता की थी। स्वयं भारत ने ४ लाख से ऊपर की सहायता की थी। बाहरी दुनिया की सहायता से बिहार के लिए वंचित रहना सिर्फ़ यथा समय इस भीषण संहार की ख़बर का न मिलने के कारण हुआ। यदि रूटर के तारों से १७ जनवरी के सवेरे एशिया, योरप, अमेरिका के पाठक एक बार ही प्रकृति की इस भीषण ध्वंसलीला को सुन पाते तो अभागी पीड़ित जनता की सेवा के लिए वे कुछ कसर न रख छोड़ते।



[टूटे मकानों का एक दृश्य—सीतामढ़ी]

१७ जनवरी को मैं मुग़लसराय होते हुए बनारस जा रहा था। राजघाट के रेलवे पुल को देखकर तो मुझे ख़याल भी नहीं हुआ कि कुछ ही सौ मील पूर्व ओर बड़े बड़े पुल कच्ची मूली की तरह तोड़-मरोड़ दिये गये हैं। वास्तविक स्थिति तो मुझे १८ तारीख़ को मिली जब मैं गाड़ी से सारनाथ जा रहा था। लेकिन अब भी मुज़फ़्फ़र-पुर, दरभंगा, चम्पारन की भीषणता का बहुत कम पता



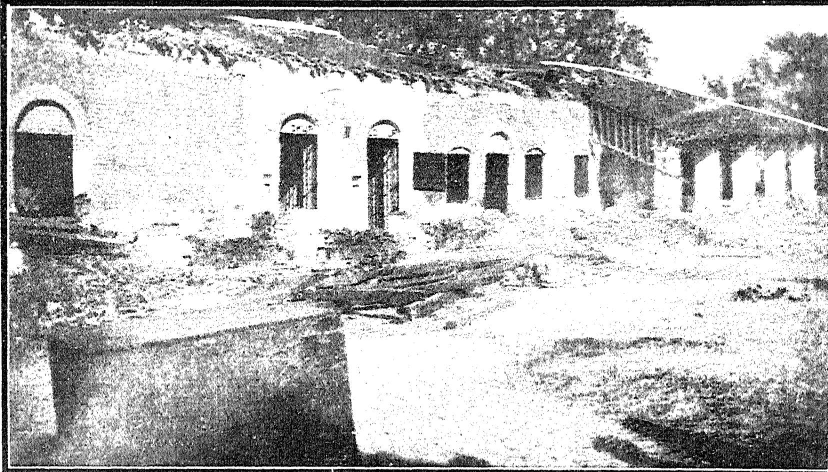
[अस्पताल की झोपड़ियां—सीतामढ़ी]

था। उसी दिन शाम को मैं बनारस लौट आया। हिन्दू विश्वविद्यालय में कुछ विशेष बातें मालूम हुईं। मुज़फ़्फ़रपुर से होकर लौटे एक सज्जन के कथन से चित विचलित हो उठा। लौटकर आने पर जिस सवेरे की गाड़ी को मित्रों ने पसन्द किया उससे मुग़लसराय से चला।

वैसे तो मार्ग में पक्के मकानों में भूकम्प के प्रहार के चिह्न दिखलाई पड़ रहे थे, लेकिन उनकी प्रखरता आरा के पास पहुँचते पहुँचते अधिक मालूम होने लगी। वहाँ एक जगह स्वर्गीय सर ज्वालाप्रसाद के बँगले को ढेर हुआ देखा। गाड़ी में लोग भूकम्प-सम्बन्धी ही बातचीत करते थे। एक ने कहा—सात ग्रह इकट्ठे हो गये थे उन्हीं के कारण यह सब हुआ। दूसरे ने कहा—अभी क्या, अभी तो पूर्णमासी के भीतर कई बार होगा। बीच में एक मुसलमान सज्जन बोल उठे—उसकी (खुदा की) बात को कौन जानता है सिवा कुछ सच्चे नजूमियों (ज्योतिषियों) के? तीसरे ने कहा—अरे! लोगों ने जात छोड़ दी। अरिया-समाज ने धरम-करम को भी छुड़वा दिया। देखते नहीं, महात्मा कहे जानेवाले गाँधी ने भी ब्राह्मण की कन्या से बेटे को ब्याह दिया। अछूत लोगों को मन्दिर में घुसाने से देवता क्यों न कुपित होंगे? चौथे सज्जन बोल उठे—अरे भाई, क़यामत आनेवाली है। किताब की बात कहीं झूठी होती है? रास्ते भर यही चर्चा थी। शाम को गाड़ी पटना पहुँची। श्रद्धेय काशीप्रसाद जायसवाल गले से लिपट कर मिले। मुझे यह नहीं पता था कि वे भूकम्प के दिन दरभंगा में थे, जो सर्वनाश में तीसरे नम्बर का शहर है। बल्कि जायसवाल जी की दो-तीन दिन तक कोई ख़बर न आने से लोग बहुत ही व्याकुल हो उठे थे। अज्ञान भी शोक के हटाने में सहायक होता है, नहीं तो मैं भी उस चिन्ता का शिकार होता। उन्होंने बतलाया, कैसे उस दिन जब वे कचहरी में थे, भूकम्प आया, किस तरह लोग भयभीत हो बाहर मैदान में भागे। किस प्रकार दरभंगा-महाराज के विशाल प्रासाद धराशायी हो गये, कैसे हज़ारों मनुष्य गिरते मकानों की बलि चढ़े। सारा बाहर का आना-जाना रुक गया था, फिर लोग क्यों न अपने दूरस्थ सम्बन्धियों के विषय में चिन्तित हों? रात में ही मैं 'सर्चलाईट' के कार्यालय में गया। वहाँ मुज़फ़्फ़रपुर के बाबू देवेन्द्र गुप्त मिले। उन्होंने मुज़फ़्फ़रपुर और मोतीहारी की रोमांचकारी अवस्था कह सुनाई। अब तक सर्चलाईट ने भूकम्प के सम्बन्ध की जो जो बातें प्रकाशित की थीं, सभी को पढ़कर देखा। मुँगेर की घटना को तो जायसवाल जी के कनिष्ठ पुत्र दीपसिंह ने ही अपनी स्फुट वाणी से कह सुनाया। दीप के कहने से तो यह मालूम होता था कि वह घटना के वर्णन करने में भी किसी का भय अनुभव कर रहा है। ये लोग तो भाग्य से ही बचे थे। विशेषकर दीप के बहन-बहनोई तो घर के आँगन में ही रह गये थे और जब सारा मकान गिर गया तब भूकम्प के बाद उसी के ऊपर से होकर बाहर निकले। 'सर्चलाइट' से अस्पताल में श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसाद के पास गया, जिनकी रोगशय्या ही सहायक-समिति का कार्यालय बन रही थी। आज तीन बरस बाद मिलने पर शिष्टाचार के लिए ही हम स्वागत-वचन कह सके। राजेन्द्र बाबू से पूछने पर उन्होंने मुज़फ़्फ़रपुर जाने की सम्मति दी। यह भी मालूम हुआ कि मुँगेर में बहुत-से लोग सहायता के लिए पहुँच गये हैं, लेकिन मुज़फ़्फ़रपुर में सहायता का काम अभी संगठित नहीं हो सका है।

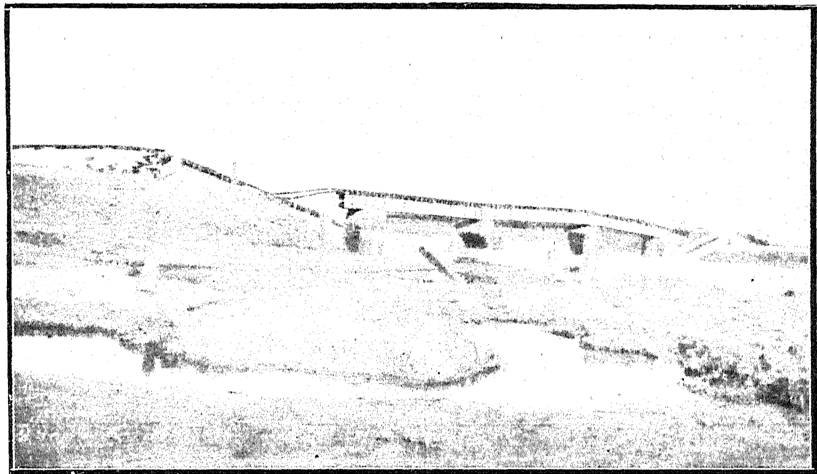
मेरा इरादा दूसरे दिन सवेरे ही चल देने का था, किन्तु बाबू देवेन्द्र गुप्त ने सहायता के लिए कुछ सामान लेकर दूसरे दिन (२१ जनवरी) आधी रात को चलने के लिए कहा। २१ को पंडित जवाहरलाल नेहरू भी पटने पहुँचे। उसी दिन आधी रात के स्टीमर से हम लोग मुज़फ़्फ़रपुर के लिए रवाना हुए। घंटे भर के नाव के रास्ते को हमने ६ घंटे में हाजीपुर पहुँच कर तय किया। पंडित जवाहरलाल जी को उसी दिन मुज़फ़्फ़रपुर होकर लौट जाना था और इसी लिए एक सज्जन आगे भेज दिये गये थे। किन्तु एक दूसरे आदमी की बात पर विश्वास कर, मालूम हुआ, उन्होंने मोटर नहीं तैयार कर रक्खा था। यद्यपि उस दिन हाजीपुर से तीन स्टेशन और आगे गोरोल तक रेल चली जाती थी, तथापि आगे तेज़ सवारी का इन्तज़ाम न

होने से हमने निश्चय किया था कि मोटर से ही चलेंगे। पहले तो सभी मोटरों के निकल जाने से हम लोग निराश हो गये कि आज मुज़फ़्फ़ुर न पहुँचेंगे। पण्डित जी



[पुलिस का थाना—सीतामढ़ी]

को अधिक क्षोभ हुआ, क्योंकि उनका सारा प्रोग्राम ही उलट-पुलट हो रहा था। सौभाग्य से उसी समय एक सड़ी सी टैक्सी आ गई और हम ३२ मील के लिए १६) देकर चल पड़े। उस जीर्णशीर्ण टैक्सी पर चलते समय समय समय पर मेरे मन में सन्देह उठता था कि कहीं रास्ते में ही न रह जायँ। सड़क से मकानों को देखने पर पता लगा कि भूकम्प का जिन पर सबसे कम प्रभाव पड़ा वे थे छप्पर के छाजन और टट्टी के दीवारवाले



[रेल का पुल—सीतामढ़ी]

मकान। ईंट और पक्के मकानों की तो दुर्दशा थी। जितना ही हम आगे बढ़ते जाते थे, ज़मीन के भीतर से निकली बालू के ढेर उतना ही अधिक दिखलाई पड़ रहे थे। कहीं बांगर (रबी की फ़सलवाले) खेत दब-कर धान के खेत बन गये थे और कितनी ही जगहों में धान के खेत उभड़ आये थे। बहुत स्थानों पर धरती के भीतर से निकला पानी आज एक हफ़्ता बाद भी झील-सा दिखाई पड़ता था। शहर के पास पहुँचने पर दुरवस्था और अधिक थी। कांग्रेस के कार्यकर्ताओं से मिलकर हम लोग शीघ्र शहर की अवस्था देखने निकल पड़े।

कचहरी में पहुँचे। उतनी दृढ़ दीवार और छतें भूकम्प

के सामने मानो सड़ा काग़ज़ थीं। उसी मैदान में बे-घर के हो गये कितने ही परिवार छप्पर और टाट तानकर पड़े हुए थे। एक ओर पुलिस का डेरा था। लोगों ने आकर यह शिकायत की कि अफ़सर लोग कह रहे हैं—इन्तिज़ाम के लिए और पुलिस आ रही है। उनका डेरा यहीं पड़ेगा। तुम लोग अपना डंडा-कुण्डा उठाकर दूसरी जगह चले जाओ। इसके लिए लोगों का दुःखी होना उचित था। एक बार बड़ी मुश्किल से वे अपना बचा-खुचा सामान लेकर यहाँ पहुँचे थे और अब उसके ढोने तथा अपने छप्परों को हटाने के लिए बड़े तरद्दुद और मदद की आवश्यकता थी। पण्डितजी ने एक सरकारी अफ़सर से लोगों की कठिनाई को कहा और उन्होंने भी उसे स्वीकार किया। हम लोग अब अस्पताल के छप्परों की ओर गये। अस्पताल का छप्पर तो पहले ही नष्ट हो गया था। घायलों के रहने के लिए वहाँ छप्पर भी काफ़ी न थे। कुछ रोगी तो बाहर ही पड़े हुए थे। घाव को धोते वक़्त उसकी भयंकरता को देखकर दिल हिल जाता था। किसी की टाँग चकनाचूर हो गई थी, किसी का हाथ दो टूक हो गया था, किसी का पीलापन लिये हुए लाल मांस खोलकर रबर की नली से धोया जा रहा था। एक तीन-चार वर्ष के लड़के की खोपड़ी की हड्डी एक चौथाई निकल गई थी और पीली मज्जा साफ़ दिखलाई पड़ रही थी। धोने के लिए कपड़ा हटाते वक़्त लड़के के मुख के ऊपर उसके भीतर होती दुस्सह वेदना को आँख भरकर देखने का साहस कोई वज्र जैसा कड़े हृदयवाला आदमी ही कर सकता था। अस्पताल क्या था, मानो संसार के दिल को हिला देनेवाले दुःखों के नमूने चुन चुनकर वहाँ जमा कर दिये गये थे।

यहाँ से इस्लामपुर महल्ले में गये। चारों ओर ध्वंस ही ध्वंस दिखाई पड़ता था। बीच बीच में लोगों की झोपड़ियों और डेरों को देखते हम 'पुराना बाज़ार' पहुँचे। भूकम्प देवता तो घनी बस्ती और ऊँचे पक्के मकानों से ख़ास तौर से वैर रखते थे। इसलिए यहाँ उनके कोप की पराकाष्ठा दिखाई पड़ी। एक गली से होकर हम विहार के प्रसिद्ध खादी-कार्यकर्त्ता बाबू लक्ष्मीनारायण के मकान पर पहुँचे। मकान नहीं, ईंटों का ढेर था, जिसके एक तरफ़ खड़ी ऊँची दीवारें और उनके भीतर का अवकाश घोर रूप धारण किये खड़ा था। इसी मकान में लक्ष्मी बाबू के घर के ६ आदमी दबकर मर गये। उनके एक भाई की स्त्री की लाश अभी तक न मिली थी और उसके लिए ईंटें हटाई जा रही थीं। लक्ष्मी बाबू के बड़े भाई हमारी ओर आये। परिवार के इतने प्रिय व्यक्तियों की इस अकाल मृत्यु का भीषण वज्रपात जिसके हृदय पर पड़ा हो उसकी सूरत जैसी होनी चाहिए वैसी ही उनकी थी। उनके सिर पर भी ईंटों के कुछ घाव थे। करुणापूर्ण मुखाकृति पर आँसुओं का अभाव बतला रहा था कि बहते बहते यह स्रोत सूख चुका है। उस दृश्य को देखकर अपने आँसुओं को रोक रखना बड़े ही संयम का काम था और इस प्रकार का परिवार मुज़फ़्फ़रपुर में सिर्फ़ एक ही न था।

सड़कों और गलियों में दोनों ओर के गिरे मकानों की ईंटें जमा होकर बाँध की तरह बँध गई थीं, जिनसे चलने में अब भी डर मालूम होता था। गिरे-पड़े मकानों से खड़े मकान तो और भी भयावह थे। कहीं कहीं सड़क पर वे डिनामाइट से उड़ा कर गिराये जा रहे थे।

आगे हम चन्दवारा महल्ला में गये। लोग भाग कर दरभंगाराज की तीन कोठियों के हाते में पड़े हुए थे। हमारे पहुँचते ही कोई अपने फटे कपड़ों को दिखाता था, कोई अपने भूखे बच्चों को सामने ला रखता था, कोई अपने फटे टाट की छाँह दिखलाकर एक छोटी झोपड़ी बनवा देने की प्रार्थना करता था। खा-पीकर हम काली कोठी के हाते में गये। इसी कोठी में कभी तिरहुत के कमिश्नर रहा करते थे। नदी-तट पर अवस्थित यह नगर की सबसे पुरानी, सुन्दर और सुसज्जित कोठी थी। लेकिन अब यहाँ पण्डित जवाहरलाल ने आये हुए कार्यकर्त्ताओं से सहायता के काम के बारे में कुछ कहा। मुज़फ़्फ़रपुर के अभिमानशून्य अति सरल स्वभाव प्रधान नेता बाबू रामदयालसिंह उपस्थित थे। पण्डित जी सहायता के सम्बन्ध में कमिश्नर और कलक्टर

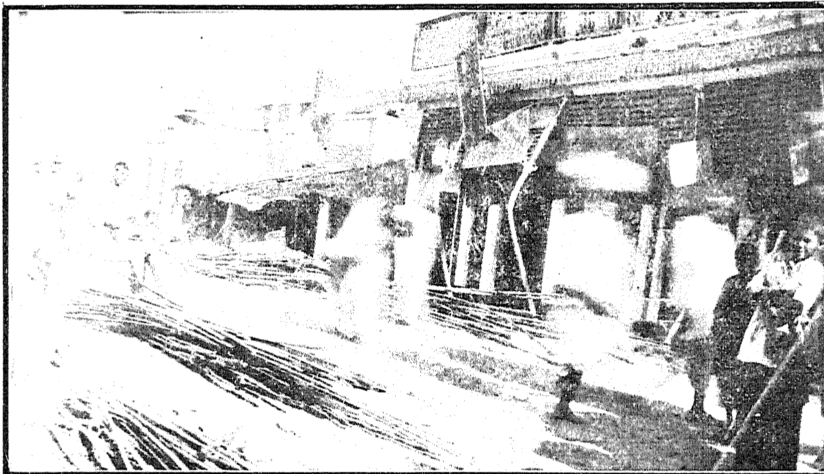
से देर तक बात-चीत कर हाजीपुर लौट गये। रामदयाल बाबू ने काम करने के लिए कार्यकर्ताओं का संगठन किया। मुझे उन्होंने सीतामढ़ी सब डिवीज़न में सहायता के काम के लिए जाने को कहा।

उस वक्त तक शहर में मारवाड़ी रिलीफ़ कमिटी ने अपना काम शुरू कर दिया था। उसने कितने ही लोगों के लिए छप्पर बनवाये थे और कितनों को अन्न-वस्त्र भी वितरित किया था। इसके अतिरिक्त सरकार की ओर से भी कुछ सहायता बाँटी गई थी, लेकिन शहर से बाहर अभी कुछ नहीं हुआ था।



[जेल—सीतामढ़ी]

× ×



[सड़क का एक दृश्य—सीतामढ़ी]

२३ जनवरी को ९ बजे मुज़फ़्फ़रपुर से हम सीतामढ़ी के लिए इक्के पर रवाना हो गये। हमने समझा था, भूकम्प का जितना प्रहार मुज़फ़्फ़रपुर पर हुआ, उतना आगे नहीं हुआ होगा, लेकिन हम अब देख रहे थे कि जहाँ तक भूमि की उलट-पुलट, दरारों की भयंकरता और बालू की अपार राशि से सम्बन्ध था, उसके यहाँ के दृश्य तो अत्यन्त भयंकर थे। नदीपार हो सड़क के दोनों किनारों पर सैकड़ों जलमुखियों के गोल गोल मुँह स्तूपीकृत बालुकाराशि पर दिखाई पड़ते थे। लोग कहते थे कि जब भूमि से सिर्फ़ पानी ही निकल रहा था तब लोग डर गये थे कि कहीं सारी धरती पानी में बह न जाय। बालू जब आने लगी तब लोगों को कुछ ढाढ़स बँधा। चार मील पर रूपहा का चीनी का कारख़ाना

मिला। सारी फ़ैक्टरी ढंड-मंड थी। यद्यपि दीवारों के गिराने, मशीनों को उठाने आदि का काम हो रहा है, तो भी काम चलाने के लिए अभी बहुत धन और समय की आवश्यकता होगी। ऊख की खड़ी फ़सल तो उसमें पेरी जा ही नहीं सकती। मिल के आस-पास के खेत बालू के नीचे दब गये हैं। रास्ते में चारों ओर बालू और जल ही दिखलाई पड़ता था। हम जिस सड़क पर चल रहे थे वह मुज़फ़्फ़रपुर-ज़िले की सबसे अच्छी पक्की सड़क समझी जाती थी। इसके ऊपर बहुत दूर तक कोलटार डाला गया था। लेकिन आज उसकी अवस्था कच्ची सड़क से भी बदतर है। कहीं कहीं तो पीठ के बल सोई सड़क ने करवट-सी बदल ली है। जैसे-तैसे हम आठ मील चल कर धर्मपुर गये।

यहाँ कई जगह सड़क के पुल टूट गये हैं। चार जगह हमने धान काटने की नावों से पानी को पार किया। पहली नाव से पार होते ही सीतामढ़ी से आनेवाले कुछ व्यक्तियों ने बतलाया कि रामपुर हरि में एक लारी आई हुई है, और किराया २) आदमी लेती है। मैंने साइकिल से रामेश्वर बाबू को आगे भेजा कि वे रुपया देकर कम से कम दो सीटें रिज़र्व कर लें। बाक़ी तीन भी नावों से उतरते और साइकलें दौड़ाते हुए लारी के पास पहुँचे। कहने पर ड्राइवर ने कहा कि लारी डिस्ट्रिक्टबोर्ड के चेयरमैन और उनके साथियों के लिए रिज़र्व है। थोड़ी देर में वे लोग भी पहुँच गये। उनमें चेयरमैन के अतिरिक्त डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर, कृषिविभाग के डाइरेक्टर, एक और अफ़सर तथा दो नौकर—कुल ६ आदमी थे। लारी में अभी आठ-दस आदमी और बैठ सकते थे। रामेश्वर बाबू ने चेयरमैन साहब से कहा कि हम लोग सेन्ट्रल रिलीफ़ कमिटी के काम के लिए सीतामढ़ी जा रहे हैं। अभी २६ मील जाना है। एक्का या कोई दूसरी सवारी नहीं है। पैदल जाने में हम लोग आज नहीं पहुँच सकते, हमारा शीघ्र से शीघ्र वहाँ पहुँचना ज़रूरी है और लारी में बहुत जगह ख़ाली है। यदि आप आज्ञा दें तो कम से कम हम दो आदमी (अपना और मेरा नाम लेकर कहा) इसमें चले चलें। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे और बहुत-से आदमी आ रहे हैं। थोड़ी देर में मज़दूर असबाब रखकर चले गये और लारी में सिर्फ़ ६ आदमी ही रह गये। रामेश्वर बाबू ने फिर चेयरमैन से कहा। किन्तु चेयरमैन साहब ने कहा—नहीं, हम लोगों को तकलीफ़ होगी। हम लारी को भारी करना नहीं चाहते। आप लोग साइकिल से चले आवें। ख़ैर! लारी में जगह नहीं मिली। जब हम लोग उस स्थान पर पहुँचे तब सब बातें मालूम हुईं।

रामपुर में अपने एक साथी को छोड़कर हम तीन आदमी पैदल ही आगे बढ़े। कोरलहिया गाँव के सामने दूर से ही प्रचण्ड बदबू आने लगी। नज़दीक जाने पर देखा कि भूकम्प के कारण बालू और पानी के नीचे दबे हुए खलिहान से लोग धान-सहित पुआल निकाल रहे हैं और वह दुर्गन्ध उसी सड़े हुए धान की थी। इसी प्रकार लाखों मन धान इस इलाक़े में बह और सड़ गया। सात मील चल लेने पर हमें एक लारी मिली। पूछने पर मालूम हुआ कि वह रामपुर से लौट आयेगी। हम लोग और दो ढाई मील चले और फिर लारी से चार बजे सीतामढ़ी पहुँच गये।

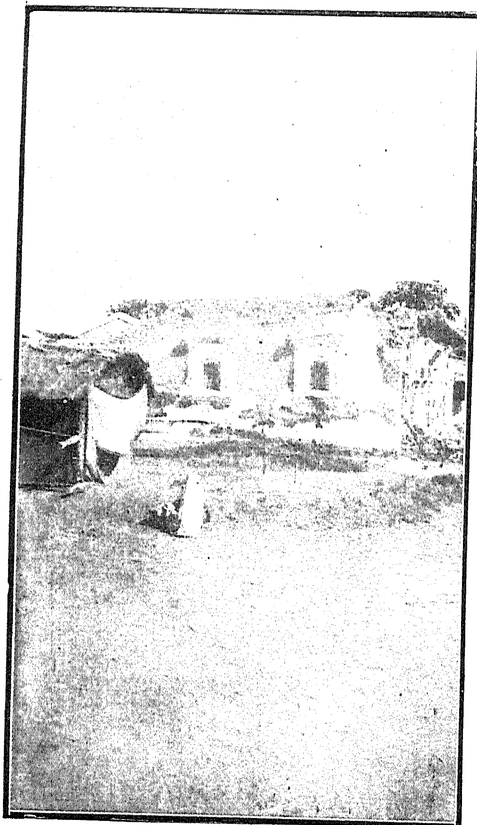
वैसे तो हर जगह ही भयंकर संहार दिखाई पड़ता था, किन्तु सीतामढ़ी के दो मील पहले से ही अवस्था अकथनीय थी। इधर जलमुखियाँ बहुत अधिक थीं। दरारें भी क़दम क़दम पर और बहुत विकराल थीं। खेत बालू से ढँक गये थे। बस्ती और मकान पामाल हो गये थे। बहुत-सी झोंपड़ियाँ भी टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थीं। वस्तुतः यह दृश्य लेखनी-द्वारा चित्रित नहीं किया जा सकता। कलकत्ता-बम्बई तक के आये हुए लोग भी कहते हैं कि 'जो दृश्य हमने यहाँ देखा उसे समाचार-पत्रों के कथन-द्वारा अनुमान भी नहीं किया जा सकता। इधर तो भूमि का रंग-ढंग ही बदल गया है। मुज़फ़्फ़रपुर और मुँगेर में बहुत भारी प्राणहानि हुई है, मकान बहुत नष्ट हो गये हैं। किन्तु वहाँ भूमि पर विश्वास किया जा सकता है।'

सीतामढ़ी में अभी तक बाहर से कोई सहायता करने के लिए नहीं आया था। यहाँ के सब डिवीज़नल आफ़ि-

सीतामढ़ी सबडिवीज़न में भूकम्प के कारण हानि।

सं० विषय	सीतामढ़ी शहर	सीतामढ़ी थाना	वेलसन्ड	शिवहर	पुपुरी	सुरसन्ड	बेला	सोनबरसा	मेजरगंज	बैरगिनिया	सारे सब-डिवीज़न की हानि
१ क्षेत्रफल	५'	२०६'२६	१९०'९४	११३'१२	१९७'६६	५४'	८१'९१	६७'१६	५८'६	२९'२८	९०३'९३
२ जन-संख्या	११०००	२२१५९९	२२९२९३	१२२०१३	२१६२८६	६४६१६	१०२५३७	७००००	५४४८०	४२५७४	११६७३६८
३ गिरे हुए मकान	९०%	८०%	८५%	७०%	७०%	५५%	४०%	१०%	४५%	८०%	६२½%
४ बाहरी मदद बिना न बननेवाले मकान	२०%	२०%	१५%	२५%	१५%	१०%	५%	५%	२१%	१४%	१५%
५ भोजन देने लायक़ घर	१०%	१०%	१२%	१०%	१५%	१०%	१०%	१%	१२%	१०%	११%
६ कम्बल और कपड़ा देने लायक़ घर	१५%	२०%	२५%	१५%	२०%	१५%	१२%	२%	११%	९%	१४%
७ मरे आदमी	१०५	१४९	१६०	८५	२७४	६६	२९	२९	२९	१९	९४२
८ दवा करने लायक़ घायल	७०	१००	१२५	५०	१५०	५०	२५	२०	३०	४५	६६५
९ गिरे कुएँ	९९%	९९%	९८%	९९%	९९%	९०%	९०%	२५%	९०%	८५%	८७%
१० चलता करने लायक़ कुएँ	२०%	२५%	२५%	२५%	१०%	१५%	२०%	८५%	२०%	३०%	२७½%
११ बालू से ख़राब हो गये खेत	०	७०%	८०%	८०%	७०%	६५%	३५%	५%	६१%	६२%	५३%
१२ नष्ट हो गई फ़सल	०	९०%	९०%	९०%	९०%	८०%	७०%	१०%	८०%	८०%	६०%
१३ ख़राब हो गई सड़कें	२०%	९९%	९०%	९९%	९९%	९०%	९०%	९९%	९०%	९९%	८७½%

सर श्रीयुत सी० के० रमन की निर्भीकता और उत्साह की सभी तारीफ़ कर रहे थे। उन्होंने ख़तरनाक मकानों की परवा न कर किसी के भीतर न जाने पर स्वयं दूकान के भीतर जा दवाई का सामान बाहर निकाला। रात-दिन ये इसी सहायता के काम में लगे रहे। दूसरे व्यक्ति जिन्होंने सीतामढ़ी में सबसे अधिक सेवा का काम



[एक टूटा घर—पुपरी, सीतामढ़ी]

किया वे बाबा नरसिंहदास परिव्राजक हैं। भूकम्प के दिन वे १६ मील दूर महुअरिया में थे, लेकिन दूसरे ही दिन पानी, दलदल, नदी-नाले की कुछ परवा न कर वे सीतामढ़ी पहुँच गये थे और तभी से घायलों की मलहम-पट्टी कराने, दबे मुर्दों को निकालने और सर्वस्व लुट गयों को अन्न-वस्त्र दिलाने के काम में संलग्न रहे। यही नहीं, उन्होंने कुदाल से मलवा खोदने में न आनाकानी की और न अपने कन्धे पर घायलों को ढोने में हिचकिचाहट दिखाई। उस दिन कचहरी, स्कूल तथा दूसरी इमारतों की दुर्गति को देखा, दूसरे दिन से सहायता का कार्य आरम्भ कर दिया गया। दो दिन बाद ठाकुर रामनन्दनसिंह अपने थाने से चले आये, और फिर उन्होंने सारे सब डिवीज़न का काम उठा लिया।

बिहार में मुज़फ्फ़रपुर-ज़िला १५ जनवरी के २ बजे दिन तक एक बहुत ही अन्न-धन-सम्पन्न ज़िला था। और इस ज़िले में भी सीतामढ़ी सबडिवीज़न के बारह सौ गाँव बड़े ही सुखी थे। भूमि के बहुत उपजाऊ होने से यहाँ की आबादी बहुत घनी है। लेकिन उस दिन के भूकम्प ने सिर्फ़ दो मिनट में इसकी सारी श्रीसम्पत्ति को बरबाद कर दिया। मुँगेर शहर में जनहानि भयंकर हुई, इसमें कोई शक नहीं। मुँगेर के बाद सबसे अधिक आदमी मुज़फ़्फ़रपुर में मरे हैं, लेकिन जहाँ गाँवों तक में सबसे अधिक खेतों और जीविका के साधनों की हानि हुई है वह सीतामढ़ी सबडिवीज़न (यह अन्यत्र दिये हुए नक़शे से मालूम होगा) है। बिहार का यह उद्यान बरबाद हो गया। बालू, पानी और पाले ने ९९ फ़ी सदी खड़ी फ़सल को नष्ट कर दिया। भूडोल के समय खलिहान में रक्खा धान वहीं सड़-बह गया। घरों में रक्खा अन्न कितनी ही जगह दरारों और जलमुखियों के भेंट हो गया। कितनी ही जगह तो सन्दूक़ के भीतर रक्खा रुपया तक चला गया। किन्हीं किन्हीं की तिजोरियाँ दस दस हाथ नीचे खोदने पर मिली हैं। अभी से लोगों को खाने-कपड़े की तकलीफ़ हो रही है। लोगों के पास अभी कुछ अन्न बचा हुआ है। झोंपड़ों के बनाने और गिरे-मकानों को खोदने-खादने के लिए मज़दूरों को कुछ काम मिल रहा है। लेकिन डेढ़-दो महीनों में यहाँ की अवस्था बिलकुल बदल जायगी और सारे प्रदेश में अन्न का भयंकर अकाल पड़ जायगा। सरकार और सहायक-समितियों को पहले से ही इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

अपनी डायरी में से कुछ

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

महात्मा गान्धी की यह इच्छा थी कि उनका कोई एक लड़का बाल-ब्रह्मचारी रह कर देश-सेवा करे। परन्तु उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। क्यों पूरी नहीं हुई, स्वामी सत्यदेव जी ने अपनी स्मृति की डायरी से इस सम्बन्ध में अति सुरुचिपूर्ण ढंग से अपने इस लेख में प्रकाश डाला है।



उस दिन समाचार-पत्र में जब मैंने यह पढ़ा कि श्रीयुत देवीदास गान्धी का विवाह पूने में पण्डित राजगोपालाचार्य्य जी की कन्या श्रीमती लक्ष्मीदेवी से होने लगा है तब मेरी नाड़ियों में रुधिर की धारा बड़े वेग से बहने लगी। मैंने अपने दाहने हाथ की कलाई पकड़कर नब्ज़ देखी—सचमुच ख़ून तेज़ी से चल रहा था। ऐसा क्यों? विवाह की उस ख़बर ने पिछले पन्द्रह वर्षों की मधुर स्मृतियों को ताज़ा कर दिया। मैं सोचने लगा—

"सन् १९१८-१९ के वे सुखद दिवस कहाँ चले गये—काल-प्रवाह में विलीन हो गये। वे कभी लौटेंगे? कभी नहीं। गया सो गया। दूर! दूर!!"

मैं फिर सोचने लगा—"कैसी थी वह शुभ घड़ी जब महात्मा गान्धी जी से बेतिया (चम्पारन) में मेरी भेंट हुई। वह मारवाड़ी सेठ की धर्मशाला, वह सीढ़ियों का खुर्चन-स्थान, जहाँ बापू जी दरी बिछाकर बैठा करते थे, मानो धर्मशाला में उनके लिए बैठने को कोई जगह थी ही नहीं। पर उनका स्वभाव ही ऐसा है। वहीं, हाँ वहीं, पहली बार बालक देवीदास को देखा था। तेजस्वी बालक, गुलाब-सा चेहरा, ज्योतिपूर्ण आँखें और इकहरा बदन—श्वेत खादी में वह बालक कैसा सुन्दर लगता था।

वे चम्पारन के ऐतिहासिक दिन दूर चले गये। वह निलहे गोरों के पतन का नाटक इतिहास के गहरे गर्त में छिप गया। और वे नाटककार! बिहारी जनता की वे भीड़ें, अहो! चला गया वह सब कुछ दूर—बड़ी दूर—पानी की धारा की भाँति न जाने कहाँ चला गया।"

चम्पारन की वे घटनायें एक एक करके मेरे सामने नाचने लगीं। पुलिस का वह अत्याचार, मेरे सामान की चोरी, गान्धी-आश्रम की रातें, प्रोफ़ेसर कृपलानी के मज़ेदार चुटकुले और वह १४४ धारा की अवज्ञा, उन सबकी स्मृति आज कैसी ताज़ी बनी हुई है।

१४४ धारा भंग करने का वह कार्य्य ही महात्मा गान्धी जी से मेरी घनिष्ठता का मुख्य कारण बना। गान्धी जी ने किस उदारता से मेरी बाँह पकड़ी, सर ग्रेट को मेरे सम्बन्ध में उनका पत्र, जिसकी प्रतिलिपि अभी तक मेरे पास है, तथा बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी के पुरुषार्थ से मेरी जेल-मुक्ति आदि घटनायें फिर स्मरण हो आईं।

सचमुच मनुष्य एक विचित्र प्राणी है। छोटे-से मस्तिष्क में क्या कुछ धर लेता है। कैसे कैसे फ़िल्म उसके दिमाग़ के घरों में छिपे रहते हैं जिन्हें वह समय समय पर निकालकर दिल बहलाता है। आज ज़रा-से समाचार ने मेरे मस्तिष्क को गरम कर दिया—फ़िल्मों का चक्र चला दिया—देवीदास गान्धी नामक फ़िल्म बड़ी तेज़ी से घूमने लगा। इस फ़िल्म के सजीव संस्कार मेरे चित्रपट पर अंकित हैं—ऐसे संस्कार जो कभी भूल नहीं सकते।

हाँ देखिए, वह फ़िल्म खुलता है। गान्धी जी का तार पाकर मैं नडियाद (गुजरात) जा रहा हूँ। वहाँ मदरास-हिन्दी-प्रचार का प्रोग्राम बनता है। महात्मा जी

ने अपने लाड़ले बेटे देवीदास गान्धी को पहले से ही मद्रास भेज दिया है। मैं भी उनके आदेशानुसार मद्रास रवाना होता हूँ। यह फ़िल्म सन् १९१८ के जुलाई मास से आरम्भ होता है।

मद्रास दक्षिण-भारत का सबसे बड़ा नगर है। प्रान्त की राजधानी होने के कारण भी इसको विशेष गौरव प्राप्त है। समुद्र के तट पर बसा होने के कारण यहाँ अधिक गर्मी नहीं पड़ती। समुद्र का शीतल समीर नगर-निवासियों को नवजीवन देता रहता है। इसी सिन्धु के अनुग्रह से यह व्यापार की भी बड़ी मण्डी है। सामुद्रिक व्यापार इसका ख़ूब बढ़ सकता है, यदि भारतीयों को तिजारती सुविधायें प्राप्त हों।

इसी नगर में पहले-पहल गान्धी-पुत्र मातृभाषा हिन्दी की पताका लेकर पहुँचे थे। जैसे महाराजा अशोक ने अपनी सन्तान को बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ द्वीप-द्वीपान्तरों में भेजा था, इसी प्रकार महात्मा गान्धी जी का यह चिरंजीवी हिन्दीप्रचारार्थ मदरास आया था। श्रीयुत देवीदास गान्धी की सहायतार्थ मैं यहाँ भेजा गया था।

इस होनहार लड़के ने बहुत जल्द लोक-प्रियता प्राप्त कर ली और हिन्दी के वर्ग खोल दिये। जब मैं पहुँचा तब काम आरम्भ हो चुका था। यहीं मेरा परिचय श्रीयुत राजगोपालाचार्य्य जी से हुआ। मदरासी ब्राह्मण जैसे तीक्ष्णबुद्धि होते हैं, ऐसा ही मैंने इस श्यामवर्ण ब्राह्मण को पाया। आप हमारे हिन्दी-प्रचारकार्य्य में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। ख़ास तौर से वे देवीदास गान्धी से स्नेह रखते थे और सलेम से बराबर मिलने आया करते थे। उस समय कौन जानता था कि यह जात-पाँत के बन्धनों से जकड़ा हुआ ब्राह्मण एक दिन मोढ़ वैश्य युवक को अपना दामाद बना लेगा। श्री राज गोपालाचार्य्य, एक कुशल राजनीतिज्ञ व्यक्ति हैं। उनमें एक बड़ी रियासत का प्रबन्ध चलाने की योग्यता है। महात्मा गान्धी और श्री राजगोपालाचार्य्य दोनों में ऊँचे दर्जे के आदर्शवाद के साथ साथ व्यावहारिक बुद्धि की मात्रा भी काफ़ी है।



[बायीं ओर से—श्री प्रयाग जी भाई देसाई, उनके भागीदार और श्रीयुत देवीदास गांधी। बीच में बैठे ध्यानावस्थित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक।]

ऐसे ही लोगों की सहायता श्री देवीदास को अनायास ही प्राप्त होगई। जब मैं देवीदास जी के घनिष्ठ सम्पर्क में आया तब मुझे भी इस कुशाग्र-बुद्धि 'ब्राह्मण' का पूर्ण परिचय मिला और मैंने समझ लिया कि यह लम्बी चुटियावाला ब्राह्मण देवता कांग्रेस का बड़ा भारी नेता होगा। महात्मा गान्धी जी के 'सत्याग्रह-आन्दोलन' से इन्हें बड़ी दिलचस्पी थी और हम लोगों में बराबर सत्याग्रह-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होता रहता था। कच्छी सेठ के उस मदरासी गली के मकान में कैसे कैसे वादविवाद हुए। वे ग्रीष्म-ऋतु की रातें क्या कभी भूल सकती हैं!

महात्मा गान्धी जी के चार पुत्र हैं, किन्तु कोई कन्या नहीं। गान्धी जी की यह हार्दिक अभिलाषा

थी कि कम से कम उनका एक लड़का तो अवश्य ही बाल-ब्रह्मचारी रहकर जीवनपर्य्यन्त देश-सेवा करे। उन्होंने अपनी इस इच्छा को अपने सभी लड़कों पर प्रकट किया था, किन्तु भावी के खेल विचित्र हैं—चारों पुत्रों में से किसी ने भी उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

ऐसा क्यों हुआ? यह भी एक मनोविज्ञान का गम्भीर रहस्य है। संयम और स्वतन्त्रता दोनों साथ साथ नहीं चल सकते! महात्मा गान्धी जी ने दोनों को साथ साथ चलाने का प्रयोग किया। इसलिए उनके संयम की अभिलाषा स्वच्छन्दता का रूप धारण कर गई। पूर्व और पश्चिम की दो आदर्श धाराओं का संगम करने की मनोकामना महात्मा जी के हृदय में बड़ी तीव्र है, परन्तु अनुभव ने यह बात सिद्ध कर दी है कि संयम के जिस आदर्श को भारत के ऋषिपुत्रों ने अपने सामने रक्खा था उसमें दण्डपाणि भैरव के अनुशासन की अत्यन्त आवश्यकता है। जब आप अपनी सन्तान को बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ देते हैं—उनका प्राकृतिक विकास देखने के इच्छुक हैं और साथ ही आप उनकी शुतुर बे मुहार आदतों को कटा हुआ भी देखना चाहते हैं—ये दोनों बातें अभी तक सम्भव नहीं हो सकीं। जो माता-पिता पूर्व के आदर्श को पश्चिम की भित्ति पर रखकर उसे सफल बनाना चाहते हैं उन्हें महात्मा गान्धी जी के इस असफल प्रयोग से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

हाँ, मैं क्या कह रहा था—वही देवीदास गान्धी की बात। हम लोग इकट्ठे एक ही साथ मकान में रहते थे। जब देवीदास गान्धी हिन्दी के वर्ग पढ़ाने के लिए अथवा किसी और कार्यवश बाहर जाते थे तब मैं उनकी वापसी का रास्ता कैसी अधीरता से देखा करता था। निःसन्देह महात्मा गान्धी जी के इस सुपुत्र ने अपने पिता से कुछ विभूति पाई है, जिसके कारण वह दूसरों को वश में करने की विद्या जानता है। हमारे वर्गों के सभी विद्यार्थी बूढ़े और जवान—उनसे बड़ा स्नेह करते थे और उसी आकर्षण के कारण वर्गों का प्रचार करने में बड़ी भारी सफलता मिल गई। उसी ज़माने में महात्मा गान्धी जी के पुराने भक्त, दक्षिण-अफ़्रीका के उनके पुराने प्रशंसक और सहायक—श्री प्रयाग जी भाई देसाई—भी यहाँ पर व्यवसायार्थ आये हुए थे। वे अपने हिस्सेदार के साथ हम लोगों से बराबर मिलने आते थे और हम चारों जन समुद्र के सुखद समीर का आनन्द लेने के लिए सिन्धु-तट पर जाते थे। समुद्र में स्नान के वे मज़े, वह कूद-फाँद और वह स्नेह-पूर्ण हँसी-मज़ाक—आहा, क्या कभी भूल सकता है।

सचमुच मदरास में हिन्दी-प्रचार का वह फ़िल्म मेरे जीवन की एक ख़ास घटना है। आज हिन्दी-प्रचार का वह पौधा वृक्ष का रूप धारण कर गया है और उसके नीचे हज़ारों परीक्षार्थी विश्राम लेते हैं और राष्ट्र-भाषा हिन्दी के गीत गाते हैं। लेकिन उस समय हम लोगों को स्वप्न में भी ऐसे सुन्दर परिणाम का ध्यान नहीं था। हम लोग तो काल की उस प्रबल धारा में बहे जा रहे थे जो क्रियाशील मनुष्यों को आप ही आप बहाये लिये जाती है।

हाँ, गान्धी-पुत्र के विवाह की बात। उस समय देवीदास गान्धी के हृदय में विवाह-सम्बन्धी कोई तरंग न थी। यह सच है कि स्नेह से पूर्ण इस बालक के हृदय में उस वस्तु का बीज-वपन हो चुका था जो भविष्य में विवाह का रूप धारण करता है। मैंने उसे उसी समय देख लिया था, परन्तु मुझे यह कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि श्री राजगोपालाचार्य की विदुषी दुहिता के साथ इस सुन्दर गुजराती नवयुवक का पाणि-ग्रहण हो जायगा। लेकिन समय क्या नहीं करा सकता। आज उन स्मृतियों को घटे १९ वर्ष हो गये और देवीदास गान्धी भी अपने पूर्ण यौवन में आ गया है। उसके पिता की उस पर कैसी आशायें थीं और वे किस दिव्य स्वप्न का दर्शन इस बालक के जीवन में देखना चाहते थे, उसे महात्मा जी के हृदय के बिना कौन जान सकता है? माता कस्तूरी बाई गान्धी का यह दुलारा पुत्र अपने यशस्वी पिता और प्रातःस्मरणीया माता के आदर्शों को भविष्य में किस रूप में पूरा करेगा, इसे मैं जानने का अत्यन्त उत्सुक हूँ। क्योंकि मुझे

उसके जीवन में, उसके उत्थान में और उसके कल्याण में ऐसा ही रस, ऐसी ही रुचि और ऐसा ही ध्यान है, जैसा कि किसी परम हितैषी मित्र को होना चाहिए।

यह सच है कि देवीदास गान्धी के राजनैतिक विचार अपने तपस्वी पिता से बहुत भिन्न हैं और दोनों के जीवनादर्शों में भी बड़ा अन्तर है, तो भी अपने पिता का सर्वश्रेष्ठ पुत्र होने के नाते यह नवयुवक अवश्य ही अपने पिता के नाम को उज्ज्वल करेगा और भारत-माता की सेवा में जीवन लगायेगा। मेरा उसे यही आशीर्वाद है।



मेरा संसार

श्रीयुत पद्मकान्त मालवीय

(सोहनी)

कैसे लोग यहाँ के हैं, यह कैसा अच्छा है संसार ?
क्यों कर बहा यहाँ करती है, पावन गंगा जी की धार ?
यही जगत है, यही लोग हैं, यही कहाता है क्या प्यार ?
इसको ही जीवन कहते हैं, नाम इसी का है व्यवहार ?

पड़ी हुई हो कोने में तुम, पड़ा हुआ हूँ मैं इस ओर।
तुम्हें न छू भी सकता हूँ मैं, कैसे मेरे पातक घोर ?
हुआ वही, था जिसे न होना, नहीं हुई केवल यह बात।
लाश पड़ी होती कोने में, बस मैं रोता, रोती रात॥

मिलते नहीं उठानेवाले, पैसा एक न होता पास।
कफ़न बिना नंगी रह जाती, किसी बड़े प्यारे की लाश॥
ऐसे जग के भी विरुद्ध मैं, कभी न कुछ भी कहता हूँ।
अपनी दुनिया निर्मित कर मैं, बस उसमें ही रहता हूँ॥

नहीं मुझे है प्रेम किसी से, नहीं किसी को मुझसे प्यार।
मैं हूँ एक अकेला, उनकी स्मृति है मेरा कुल संसार॥
मुझको रहने दो मुझमें ही, मुझे शांति से सोने दो।
लिपट लिपट कर स्मृतियों से अब, मुझको केवल रोने दो॥

है आनन्द यहाँ का केवल, रोते रहने में चुपचाप।
कोई हो न मनानेवाला, रोये, चुप हो अपने आप॥



पुस्तकों का महत्त्व

श्रीयुत गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०



पुस्तकें ज्ञान का भाण्डार हैं। और ज्ञान व्यक्ति और समष्टि के अनुभवों का सार है।

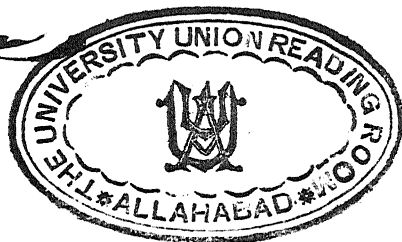
जिसे सुभीते से, थोड़े समय में, थोड़े परिश्रम से ज्ञान चाहिए वह इन्हीं पुस्तकों की शरण जाय। निज अनुभव का ज्ञान परिणामकारक तो होता है, पर बड़ा महँगा पड़ता है। समय और श्रम का उसमें बहुत अधिक ख़र्च होता है, एक व्यक्ति का अनुभव हमारे कार्य के लिए यथेष्ट नहीं है। कभी कभी उस अनुभव का प्रसङ्ग जीवन में एक ही बार आता है और कभी कभी उस अनुभव से हम लाभ उठाने के पहले ही चल बसते हैं। इसलिए दूसरों के अनुभवों से हमें लाभ उठाना पड़ता है और सब काल में, जहाँ पुस्तकों की कल्पना भी नहीं है वहाँ भी, दूसरों के अनुभवों से हम लाभ उठाते आये हैं। जितने अधिक लोगों के और जितने अधिक काम के अनुभवों से हमें लाभ हो सकता है उतना ही भला है। क्योंकि अधिक लोगों के और अधिक काल के अनुभव सार्वकालिक और सार्वदेशिक सत्य होते हैं। पुस्तकों में लिखे हुए अनुभव बहुधा इसी प्रकार के होते हैं, इसलिए उनका महत्त्व बहुत अधिक है। कहा है कि "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"।

अब प्रश्न हो सकता है कि पुस्तकें किस प्रकार की पढ़ी जायँ। इसका सरल उत्तर तो यही हो सकता है कि जिस प्रकार के ज्ञान की हमें आवश्यकता हो, उस प्रकार का ज्ञान देनेवाली पुस्तकें पढ़ी जायँ। परन्तु इतना कह देने से काम न चलेगा—इसका कुछ सविस्तर विवेचन करना होगा। मनुष्य को इस संसार में भौतिक वस्तुओं और मनुष्यों के बीच रहना होता है और अपने शरीर-पोषण के लिए कोई न कोई काम करके द्रव्यार्जन करना पड़ता है। जिन भौतिक वस्तुओं से उसका अधिक सम्बन्ध पड़ता है उनका ज्ञान न होना यानी अपने को उनके अधीन कर देना है। मनुष्य की वास्तविक शक्ति उसका ज्ञान ही है—जो अज्ञानी है वह सृष्टि के अधीन होता है। सृष्टि पर यदि अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं तो इस सृष्टि का थोड़ा-बहुत ज्ञान हमें प्राप्त करना ही चाहिए। परन्तु सामान्य लोगों को इससे कहीं अधिक मनुष्य से काम पड़ता है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अपने को ही भली भाँति समझ लें। मनुष्य के दो अङ्ग होते हैं, उसका शरीर और उसका मन। इन दोनों की क्रियाओं को जान लेना आवश्यक है। मानव-शरीर का पोषण और रक्षण यदि हमें करना है तो मनुष्य-शरीर की रचना और उसकी क्रियाओं को संक्षेप में भली भाँति समझ लेना चाहिए। परन्तु इससे अधिक आवश्यक है मनुष्य के मन को समझ लेना। मानवीय मन ऐसा कुछ गूढ़ है कि उसे जान लेना सरल नहीं है। तथापि उसकी भी कुछ बातें ऐसी हैं जो बहुत छान-बीन के बाद हमें अब भलीभाँति ज्ञात हो चुकी हैं और उनका सङ्ग्रह मनोवैज्ञानिक पुस्तकों में हो चुका है। मनुष्य-मन की सामान्य बातों के विषय में अब मतभेद बहुत नहीं रह गया। जिसे जिसे मनुष्य से वास्ता है, और ऐसा कोई नहीं जिसे मनुष्य से वास्ता नहीं है, उसे मनुष्य-मन की सामान्य बातों को, मानवीय मनोविज्ञान को, समझ लेना आवश्यक है। परन्तु इन सामान्य बातों को ही जान लेने से अपने व्यवहार नहीं चलते। जिन जिन

विशिष्ट व्यक्तियों से हमें वास्ता पड़ता है उन उन व्यक्तियों की विशिष्ट प्रवृत्तियों को भी समझ लेना पड़ता है। यह तो केवल प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञात हो सकता है। मनुष्य के मन के चित्र उपन्यासों, नाटकों और काव्यों तथा इतिहासों में भी मिलते हैं। जहाँ कहीं उसके चरित्र का ऐतिहासिक या कल्पनात्मक चित्र है, वहाँ उसके मन का भी चित्र न्यूनाधिक परिमाण में अवश्य देख पड़ता है। परन्तु कठिनाई यह है कि मनुष्य के इन चित्रों को समझ लेना सबका काम नहीं है। बहुत-से लोग हीन प्रवृत्तियों के असम्बद्ध, अवास्तविक यानी इस संसार में कभी न देखे जानेवाले चित्रों को देखकर ही विशेष मोहित हो जाते हैं। अथवा चित्र समझने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उन चित्रों में ही लोग अपने को भूल जाते हैं। यही कारण है कि हीन दर्जे के उपन्यास, नाटक, काव्य आदि तथा मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों को दिखलानेवाली ऐतिहासिक घटनायें ही सामान्य लोग विशेष पढ़ते हैं, पर ऊँचे दर्जे के उपन्यास, नाटक, काव्य आदि और मानवीय विकास की ऐतिहासिक घटनायें लोगों को उतनी रुचिकर नहीं प्रतीत होतीं, फिर गम्भीर विषयों के ग्रन्थों की बात ही कहाँ? जिस किसी लायब्रेरी का रजिस्टर उठाकर देखोगे वहाँ उपरिलिखित बात ही विशेष देख पड़ेगी। यदि उपन्यास, नाटक, काव्य आदि हीन प्रवृत्तियों को ही रँगने में समाप्त न होते, यदि वे मनुष्य की भिन्न भिन्न सब प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते, यदि वे मानव-चरित्र का वास्तविक रहस्य हमें खोलकर दिखलाते, यदि हम हीन दर्जे की मानवीय प्रवृत्तियों को पढ़ते समय उनमें इतने तन्मय न हो जाते कि हमीं स्वयं उन प्रवृत्तियों के काल्पनिक अनुभव करने लगें तो खेद न होता। पर बहुत-से उपन्यास, नाटक, काव्य आदि हीन प्रवृत्तियों को रँगने में, मनुष्य-चरित्र को अस्वाभाविक, अवास्तविक, स्वरूप में दिखलाने में, बिना सम्बन्ध की और इस संसार में कभी न देखी जानेवाली ऊटपटांग बातें गढ़ने में ही समाप्त हो जाते हैं। हिन्दी के साहित्य की दशा बहुत-कुछ इसी प्रकार की है। हमारे उपन्यास, नाटक, काव्य आदि मनुष्य-मन के अन्तस्तल तक न भी पहुँच सकें तो कम-से-कम स्वाभाविक, वास्तविक और सम्बद्ध तो हो सकते हैं। इनसे विशेष हानि न होगी! पर हिन्दी का अधिकांश साहित्य हीन दर्जे का है। उससे लाभ होने की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना है। इसलिए उचित य है कि हम अपने अज्ञ लोगों को यह बताते रहें कि कौन-से उपन्यास, नाटक, काव्य पढ़ने लायक़ हैं और कौन-से पढ़ने लायक़ नहीं हैं। यह उपदेश देते समय हमें प्रत्येक पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ना होगा, फिर ज्ञानेच्छु लोगों की व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ भी जाननी होंगी, उनके वय-अनुभव आदि का विचार करना होगा और उस प्रकार पुस्तकें पढ़ने में उनका मार्ग-दर्शक बनना होगा। यह काम प्रत्येक स्थान के ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध लोगों को लगन से करना चाहिए। पठन-कार्य करने में जिस प्रकार शिक्षक लोग पाठ-शालाओं में मार्ग-दर्शक होते हैं, उसी प्रकार का कार्य समाज के ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्धों को समाज में करना चाहिए। पुस्तकों के समालोचकों का भी यही कर्त्तव्य है। यदि समालोचक यह नहीं दिखलाता कि इस पुस्तक से किसको लाभ होगा, किसको हानि होगी तो वह अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करता। उस पर जो ज़िम्मेदारी है वह बड़े महत्त्व की है और उसे समझ कर उसको अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। तभी हमारे अज्ञ लोग अपने पठन-कार्य से, पुस्तक-वाचन से, भलीभाँति लाभ उठा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

इसी सिलसिले में मुझे एक और बात सुझानी है। मैं यह दिखला चुका हूँ कि मनुष्य प्राणी ही ऐसा है जो दूसरों के अनुभवों से विशेष लाभ उठा सकता है। इसी के अन्तर्गत दूसरों के श्रमों से लाभ उठाने की बात आती है। हमारा समय परिमित है, हम परिमित श्रम भी कर सकते हैं। इसलिए

उचित यह है कि हम इस ढङ्ग से परस्पर सहायता करें कि परस्पर के श्रम और समय का उपयोग परस्पर को हो सके। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने पठन-कार्य का उपयोग दूसरों के लिए करें। यदि हममें से विज्ञ-सुज्ञ या विशेष अवकाश के लोग पुस्तकें पढ़ने के बाद उनकी चर्चा संक्षेप में ज्ञानेच्छु लोगों में समय समय पर करें तो थोड़े समय और श्रम से हम अधिक ज्ञान पा सकते हैं। प्रत्येक लेखक और व्याख्याता यही काम समाज में करता है। लेखक और व्याख्याता अपने बहुत-से अनुभव और ज्ञान को विशिष्ट ढङ्ग से सार रूप में लोगों के सामने रखता है। यह उसकी बड़ी भारी समाज-सेवा है। सभी से यह कार्य नहीं हो सकता, सभी विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, सभी को लेखन और व्याख्यान की कला सिद्धहस्त नहीं होती और इसलिए सभी शिक्षित पुरुष लेखक और व्याख्याता के काम नहीं कर सकते। तथापि जो पुस्तकें पढ़ते हैं वे इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि पढ़ी पुस्तक का सार लोगों के सामने रक्खें, हो सके तो उस पर अपनी टीका-टिप्पणी करें और दूसरों से भी यही करवावें। इस कार्य के लिए इस प्रकार के लोगों का समाज सङ्गठित करना होगा और तब हम पुस्तकों के महत्त्व का अनुभव कर सकेंगे।



गीत

श्रीगोपालसिंह नेपाली

चल सखि, चल होता है विलम्ब, पथ कौन, कहाँ, कैसा दुर्गम ?
श्रृंखला तोड़ बह रहा सलिल,
पर तू पथ में हो पड़ी शिथिल;
बावली, जानती नहीं, यही तो पथ जाता सीधे संगम !
बनती क्यों पथ का विघ्न अटल,
उठ, इठला, इतरा, मचल-मचल;
चेतनता की चंचल पुतली, इतनी जड़ क्यों, तू तो जंगम !
यह तन नश्वर, पर अमर चाह,
फिर हम-ऐसों की खुली राह;
जीवन में हम भी तो देखें, होता है कैसा उदधि अगम !

भूकम्प

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त



हमारी याददाश्त के भीतर ही भारत में तीन बार भयंकर भूडोल हो चुका है। पहला सन् १८९७ में हुआ था जब आसाम का एक बड़ा भाग, उत्तरी बङ्गाल और कलकत्ता भूकम्प के भयंकर धक्के से उलट-पलट गये थे। सौभाग्य से भूडोल उठने के केन्द्र-स्थान से कलकत्ता बहुत दूर स्थित था और यद्यपि नगर की सम्पत्ति को बहुत बड़ी हानि हुई थी, तथापि प्राणहानि नहीं हुई थी। आसाम और उत्तरी बङ्गाल की बहुत अधिक क्षति हुई थी। चौड़ी चौड़ी जलमुखियाँ भूमि में खुल गई थीं, उनसे पानी की धारा नीचे से फूट निकली थी। अनेक स्थानों का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया था और अनेक स्थानों में धनजन दोनों की हानि हुई थी।

भारत में दूसरा भूडोल सन् १९०५ में पंजाब में काँगड़ा की घाटी में हुआ था। यह भीषण नाश का दृश्य था। यह भूडोल चार बजे रात में हुआ था जब अधिकांश लोग सो रहे थे और एक या दो मिनट के भीतर सैकड़ों घर अदृश्य हो गये और उनके निवासी उन्हीं के ध्वंसावशेष के नीचे दब गये। इस भूडोल के भीषण धक्के लाहौर तक मालूम हुए थे, जहाँ सम्पत्ति की तो बहुत अधिक हानि हुई थी, पर काँगड़ा जैसी प्राणहानि नहीं हुई थी।

परन्तु ये भयङ्कर घटनायें इस भयंकर भूडोल के आगे नगण्य हैं, जिसने १९३४ की १५वीं जनवरी को नैपाल और उत्तरी बिहार को ध्वस्त कर दिया है। इस सर्वग्रासी विपत्ति के पूर्ण रूप का ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। इसका इतना अधिक व्यापक रूप है कि इसका ब्योरेवार ज्ञान कभी नहीं प्राप्त हो सकेगा, क्योंकि इसका शिकार होनेवाले अधिकांश लोग मर गये हैं। मृतकों और आहतों की संख्या के सम्बन्ध में सरकारी और ग़ैर सरकारी अंकों में बहुत अधिक अन्तर है। कदाचित् सरकारी अंक स्थानीय अधिकारियों के दिये हुए अंकों पर आश्रित हैं और ग़ैर सरकारी अंकों में कुछ कल्पित अंक भी हो सकते हैं। अतएव दो में से कोई विश्वसनीय नहीं है, लाशों की एक बड़ी संख्या प्राप्त ही नहीं हुई है। इस आपदा का दायित्व किसी को नहीं दिया जा सकता और इस भीषण सत्य को

घटाकर बताने का प्रयत्न करने से कोई लाभ न होगा।

मैं अभी हाल में पटना गया था और मैंने सारे नगर को घूमकर देखा था। वहाँ की क़रीब क़रीब प्रत्येक पक्की इमारत को हानि पहुँची है, परन्तु प्राणि-हानि नहीं हुई है। मुझे बिहार-सरकार के एक मन्त्री महोदय से भी भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ था। आप कुछ ही पहले भूकम्प से ध्वस्त ज़िलों का भ्रमण करके लौटे थे। इस अभूतपूर्व दुर्भाग्य की भयंकर बातों से समाचार-पत्रों के पढ़नेवाले परिचित ही हैं। भूडोल के धक्के मानो पर्याप्त आपदा नहीं थे, अतएव इसके बाद ही कड़ाके की सर्दी का तूफ़ान-सा आया, जिससे वहाँ के अनेक गृहहीन, भोजन-वस्त्र-रहित लोग ठण्ड में बुरी तरह मर गये।

इसके सिवा मुँगेर, जमालपुर, दरभंगा, मुज़फ़्फ़रपुर तो ध्वंसप्राय हैं। सबसे अधिक हानि दरभंगा के महाराज की हुई है और वह करोड़ों की हुई है। यह अभी आम तौर से नहीं ज्ञात है कि अत्यन्त ही भयंकर हानि मोतीहारी में हुई है। वहाँ की बस्ती की भूमि कोई तीन फुट नीचे धँस गई है और उसी पुराने स्थान पर नगर का फिर बसाना जोखिम का काम होगा।

अर्द्ध सरकारी तख़मीने के अनुसार उत्तर-बिहार के फिर बसाने में कोई पाँच करोड़ रुपये ख़र्च होंगे। निस्सन्देह यह एक मोटा हिसाब है। खेती की भूमि की भी अपार हानि हुई है। ज्यों ज्यों समय बीतेगा, भूकम्प का प्रभाव मालूम होगा। सम्पत्ति और प्राणियों की हानि की तो गिनती ही नहीं है। सारे व्यापार और कारबार की भी बहुत अधिक हानि होगी। महीनों तक सरकारी कचहरियों में मुश्किल से कोई काम हो सकेगा। सारा व्यापार जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा। हज़ारों और कदाचित् लाखों मनुष्य तबाह होगये हैं। सहायता के लिए जो चन्दा वसूल किया जा रहा है उससे कुछ ही मदद हो सकेगी। लोगों की सहायता करने का असली भार सरकार पर ही पड़ेगा। नेपाल से जो विवरण प्राप्त हुआ है वह अपर्याप्त है। उस राज्य की दशा भी उतनी ख़राब हुई होगी, जितनी उत्तरी बिहार की हुई है।

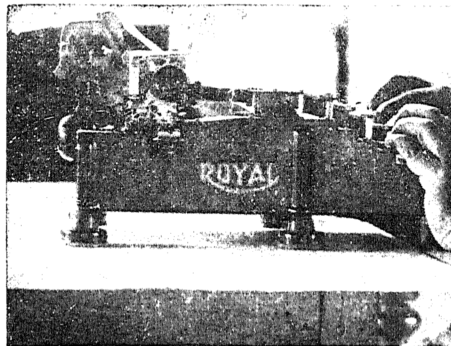
इस भूकम्प के प्रादुर्भाव का असली स्थान का रहस्य अन्धकार में है। निश्चित रूप से जो कुछ कहा जा सकता है, यही है कि वह नेपाल के समीप हिमालय के नीचे की गिरिमाला में कहीं होगा। इसके आगे कल्पनायें दौड़ाना व्यर्थ है। काश्मीर के समीप जैसा वहाँ भी कोई नया भूकम्प-स्थल बन रहा होगा। ज्वालामुखी के फूट निकलने के अभी वहाँ कोई चिह्न नहीं हैं। हमें आशा करनी चाहिए कि पृथिवी की खोल की यह भारी हलचल एक ऐसी विपत्ति के रूप में हुई जो अब दूसरी घटित नहीं होगी।



प्रसिद्ध भारतीयों से मेरी भेंट

एक दक्षिण-भारतीय ब्राह्मण साबुन-निर्माता

श्रीयुत सेंट निहालसिंह



मैसूर की सरकार की आर्थिक सहायता तथा प्रोत्साहन से वहाँ के एक ब्राह्मण नवयुवक ने कितनी कठिनाई उठाने के बाद साबुन बनाने की कला को सीखा, इसका रोचक वर्णन श्रीयुत सेंट निहालसिंह ने इस लेख में विस्तार के साथ किया है।



जब मैं लंदन में रहता था, उस समय जो भारतीय विद्यार्थी मेरे घर पर आया करते थे उनमें एक दक्षिण-भारतीय ब्राह्मण नवयुवक भी थे। उनका जन्म मैसूर-राज्य के सुशिक्षित शासक हिज़ हाइनेस श्रीकृष्ण राजा वोडिआर बहादुर की राजधानी के पास ही सोसेले नामक नगर में हुआ था।

उनकी इस जन्मभूमि के निकट ही एक मन्दिर स्थित है, जो अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। सैकड़ों मील के यात्री इस स्थान पर देव-दर्शन के लिए आते हैं। यात्रियों से प्राप्त धन और उदार महाराज के दान से वहाँ के धार्मिक प्रवृत्ति रखनेवाले शिक्षित ब्राह्मण निश्चिन्त होकर अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति करते हैं और उन्हें अर्थचिन्ता नहीं व्यापती।

सोसेले गरलपुरी शास्त्री जिनके सम्बन्ध में मैं यह लेख लिख रहा हूँ, विशेष रूप से सौभाग्यवान् थे। उनके पिता पंडित अय्या शास्त्री संस्कृत और भारत के उस भाग की भाषा कनारी के बड़े विद्वान् थे। हिज़ हाइनेस बड़े शास्त्री का जो उनके महल के ख़ास पुरोहितों में एक थे, बड़ा ख़याल रखते थे और धन-धान्य से उनकी बड़ी सहायता किया करते थे।

[२]

नवयुवक शास्त्री ने बाल्यकाल में ही असाधारण प्रतिभा दिखलाई। उन्हें अपने साथियों में सबसे आगे बढ़ने में और कक्षा में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करने में कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। समय बीतने पर

जब उन्होंने अँगरेज़ी पढ़नी आरम्भ की तब विदेशी शब्दों के रटने और व्याकरण के अनुसार उनका प्रयोग करने में प्रशंसनीय प्रतिभा दिखलाई। उनके अध्यापक इससे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने इस विद्यार्थी से बड़ी बड़ी आशायें कीं।

ज्यों ज्यों वे बड़े हुए, त्यों त्यों यह बात प्रत्यक्ष होती गई कि उनके जीवन का कार्य्यक्षेत्र उनके पिता के कार्यों से सर्वथा भिन्न होगा। भाषाओं के रहस्यों के जानने की अपेक्षा उनका झुकाव विज्ञान में योग्यता प्राप्त करने की ओर अधिक था।

आख़िरकार उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए वैज्ञानिक कार्य्यक्षेत्र के चुनने की स्पष्ट इच्छा प्रकट की। अपने पिता पंडित अय्या शास्त्री की भांति राजपंडित बनने की अपेक्षा उन्हें यही अधिक पसन्द आया। उनके पिता की अच्छी स्थिति ने उन्हें इस इच्छा के पूर्ण करने में सहायता दी। विज्ञान की उच्च कोटि की शिक्षा के लिए जिस धन की आवश्यकता थी वह उन्हें महाराज की उदारता से प्राप्त होगया।

बँगलोर में राज्य की ओर से जो कालेज स्थापित है वह सब प्रकार के वैज्ञानिक यंत्रों से सुसज्जित है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को पढ़ाने के लिए उस कालेज में जो अध्यापक नियुक्त थे वे अपने इच्छित विषय से बड़ी दिलचस्पी रखते थे और वास्तविक रूप से वैज्ञानिक मनोभाव बनाने में विद्यार्थियों की बड़ी सहायता करते थे।

[३]

सोसेले गरलपुरी शास्त्री विज्ञान में इतना तन्मय हो गये कि इस कालेज में वे जो कुछ सीख सकते थे उसको सीखने के पश्चात् उन्होंने और आगे अध्ययन करने का अवसर व्याकुलता के साथ खोजना आरम्भ किया। भाग्य उनके अनुकूल था।

हमारे प्रसिद्ध देशभक्त जमशेदजी नसरवानजी ताता की दानशीलता ने उन्हें अपनी वैज्ञानिक प्यास बुझाने का अवसर दिया। इस पारसी व्यवसायी के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य्यों के लिए अलग किये हुए लाखों रुपयों और मैसूर-



[श्री एस० जी० शास्त्री, एम० एस-सी०]

राज्य तथा भारत-सरकार के सहयोग से उसी समय बँगलोर में एक संस्था स्थापित की गई थी, जिसका उद्देश विज्ञान के भारतीय ग्रेज्युएटों को आगे अध्ययन करने का सुअवसर देना था।

[४]

नवयुवक ब्राह्मण ने राज्य से छात्र-वृत्ति प्राप्त करके ताता की इस वैज्ञानिक संस्था में कार्य्य करना आरम्भ किया। यहाँ भी उनकी बुद्धि, उनकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति और उनके परिश्रम ने ज़ोर मारा। जिन अध्यापकों की देख-रेख में उन्हें काम करना था, उन पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा।

परन्तु ताता इन्स्टीट्यूट में उन्हें अधिक समय तक रहना नहीं बदा था। उनके वहाँ जाने से कुछ समय पूर्व महाराज ने एक प्रसिद्ध भारतीय इंजीनियर सर एम० विश्वेश्वराया को जो अपने पेशे और शासन-सम्बन्धी

बातों में अत्यन्त अनुभवी थे, राज्य का दीवान नियुक्त किया था।

नये दीवान मैसूरी थे। दो वर्ष तक वे राज्य के प्रधान इंजीनियर भी रह चुके थे। मैसूर की आर्थिक उन्नति करने की उनकी इच्छा भी थी और किस दिशा में उन्नति की जा सकती है इस सम्बन्ध में उनके कुछ ठोस विचार भी थे। इस कार्य्य में योग देने के लिए उन्होंने ऐसे नवयुवकों की खोज की जिनमें योग्यता हो, चरित्र हो और जो उत्साही हों। इन चुने हुए व्यक्तियों में ये हमारे एस० जी० शास्त्री भी एक थे।

सर एम० विश्वेश्वराया ने रासायनिक और अन्य औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना करने का निश्चय किया था। वे जानते थे कि राज्य में ऐसे द्रव्यों की अधिकता है जिनसे विभिन्न प्रकार के तैल बनाये जा सकते हैं। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि राज्य में साबुन, मोमबत्ती और ऐसी ही वस्तुएँ बनाने के लिए यथेष्ट साधन मौजूद हैं।

किसी व्यक्ति ने या व्यक्तियों के किसी समूह ने इन साधनों से वैज्ञानिक रूप से व्यापार करने का अभी तक प्रयत्न नहीं किया था। व्यक्तियों में ऐसे साहस के अभाव के कारण उन्होंने अनुभव किया कि सरकार को इस दिशा में मार्ग दिखलाने की अनिवार्य्य रूप से आवश्यकता है।

[५]

विश्वेश्वराया ने शास्त्री को टाटा इन्स्टीट्यूट से पृथक् करा लिया। यह संस्था जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, हाल में ही खुली थी और परिस्थिति को देखते हुए निकट भविष्य तक इसके सफलता के साथ चलने की सम्भावना नहीं थी। उन्होंने तत्काल राज्य की ओर से छात्र-वृत्ति दिलाकर शास्त्री का सामान जहाज़ पर लदवा दिया और उन्हें योरप के लिए रवाना कर दिया। सौभाग्य से शास्त्री जी के सम्बन्धी दूरदर्शी थे, वे जानते थे कि विदेश में शिक्षा प्राप्त करके लौटने से उन्हें कितनी सहायता मिलेगी। इसलिए उन्होंने इस यात्रा में कोई बाधा नहीं उपस्थित की।

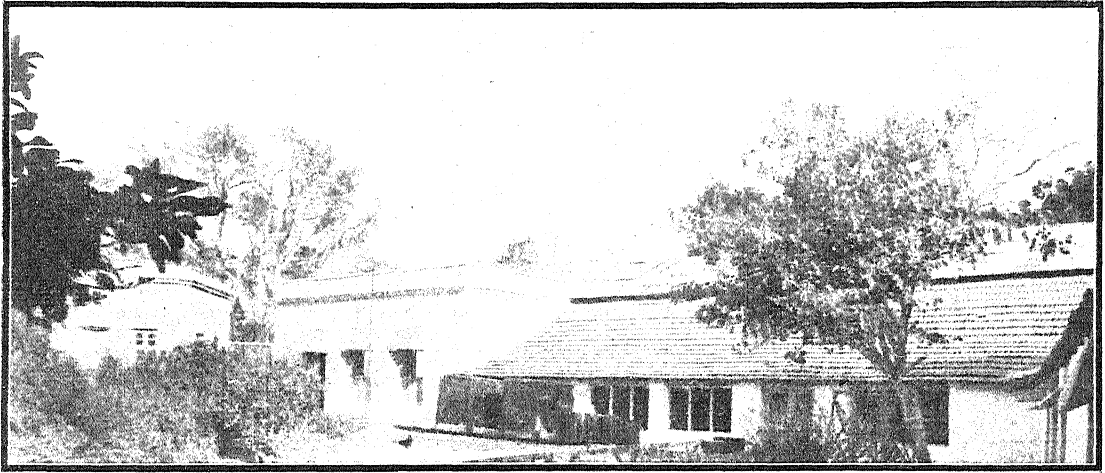
शास्त्री जी को दीवान साहब से जो हिदायतें मिली थीं वे उनके स्वभाव का पूर्ण परिचायक थीं। शास्त्री जी से कहा गया था कि वे शुद्ध विज्ञान के प्रदेश में न भटक कर विज्ञान को मैसूर की व्यापारिक उन्नति का साधन बनायें। लंदन-विश्वविद्यालय में उन्हें विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कहा गया था और उसके बाद उन्हें किसी ऐसे कारख़ाने में भर्ती होने के लिए कहा गया था जिसमें साबुन, मोमबत्ती, इत्र और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ बनती हों। उन्हें कारख़ाने के मालिकों का विश्वास-पात्र बनकर वस्तु-निर्माण के प्रत्येक विभाग के कार्य्य का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया था।

सर विश्वेश्वराया इतने बुद्धिमान् थे कि उन्होंने नवयुवक शास्त्री को इतने ही से सन्तोष न करने के लिए सावधान कर दिया था। उन्होंने शास्त्री जी से साबुन के कारबार का अधिक से अधिक व्यापारिक ज्ञान भी प्राप्त करने के लिए कहा था। कच्चा माल ख़रीदने, उसके कम से कम व्यय में कारख़ाने में लाने, कहाँ कहाँ से वह लाया जा सकता है आदि बातों से भी परिचय प्राप्त कर लेने के लिए उनसे कह दिया गया था। इतना ही नहीं, वस्तुओं को बाज़ार के लिए सुन्दर बनाने, उनका आकर्षक रूप से विज्ञापन बनाने और आफ़िस के कामों से भी जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्हें कह दिया गया था। पाश्चात्य देशों में लोग किस प्रकार जीवन-निर्वाह करते हैं, इस पर भी दृष्टि रखने की उन्हें हिदायत की गई थी।

[६]

जी० एम० शास्त्री इँग्लेंड में पहुँचने के कुछ ही समय बाद धवले* नामक एक महाराष्ट्र विद्यार्थी-द्वारा हमारे घर पर लाये गये। वे क़द के छोटे और दुबले-पतले आदमी थे। परन्तु उनका शरीर पुष्ट था और उनमें चरित्र-बल की भी कमी नहीं थी। क़द के अनुसार

*बिहार के सीनियर सिविल सर्वेंट मिस्टर धवले के भाई और स्वर्गीय पण्डित गोपाल कृष्ण गोखले के दामाद। इँग्लेंड में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये कलकत्ता-विश्वविद्यालय में चमड़ा कमाने की कला के अध्यापक नियुक्त हुए थे। इसी विषय में इन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त की थी।



[मैसूर-गवर्नमेंट सोप फ़ैक्टरी, बँगलोर]

उनकी मुखाकृति भी छोटी ही थी, परन्तु उनका मस्तक चौड़ा और विकसित था और उनके नेत्रों में ज्ञान की चमक थी। वे बड़े उत्साही थे और जल्दी जल्दी घबराये से पर ख़ूब जमकर बातें करते थे।

पहले वे मुझे कुछ अहंमन्य से जान पड़े, परन्तु मेल-मिलाप बढ़ने पर मुझे यह राय बदलनी पड़ी। परिचय के साथ मेरा उनसे प्रेम भी बढ़ता गया। इसका कारण कदाचित् यह था कि मित्रों का सहारा लेने के बजाय वे अपने पैरों पर खड़े होना अधिक पसन्द करते थे। मैं उनका इतना अधिक प्रेमी बन गया कि वे मेरे घर पर प्रायः आने लगे।

लंदन में उन्हें बहुत नहीं रुकना पड़ा। एक या दो वर्ष के भीतर ही वहाँ के विश्वविद्यालय से उन्होंने मास्टर की डिग्री प्राप्त कर ली। उनके अध्यापक उनके दत्तचित्त होकर कार्य्य में लगने के ढङ्ग को देखकर दङ्ग रह गये।

[७]

इसके पश्चात् शास्त्री महोदय किसी ब्रिटिश फ़ैक्टरी में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के अवसर की खोज में निकले। परन्तु उन्होंने देखा कि सामने एक कोरी दीवार खड़ी है। अपने कार्य में पूर्ण निपुण होने के कारण वे एक सार्वजनिक पुस्तकालय में गये और व्यापारिक डाइरेक्टरियाँ लेकर उनमें से इँग्लेंड, स्काटलेंड और वेल्स के साबुन के कारख़ाने नोट किये और एक एक करके सबों में गये। लंदन के पास के और प्रान्त के बड़े नगरों के कारख़ानों में उन्होंने स्वयं जाकर दरख़्वास्त पेश की और दूसरे कारख़ानों को उन्होंने आग्रहपूर्ण पत्र लिखे।

परन्तु कुछ नतीजा न निकला। विलायत के साबुन के कारख़ानों में से किसी ने भी उन्हें भर्ती करना स्वीकार न किया। इस व्यापार से भारत से उन्हें लाखों की आय होती थी। किसी ऐसे भारतीय को जो उनकी प्रतिद्वन्द्विता में काम खड़ा करके उनकी आय का कुछ हिस्सा झटक ले, वे यह काम क्यों सिखाने लगे?

मैसूर-सरकार ने इंडिया आफ़िस के भारतीय विद्यार्थी-विभाग को उनकी सहायता करने के लिए लिखा। इस संस्था ने भी बहुत प्रयत्न किये, पर सब व्यर्थ गये।

तब यह प्रस्ताव किया गया कि यदि स्टोर्सडिपार्टमेंट जिसकी मारफ़त भारत के करोड़ों रुपये सरकारी दफ़्तरों और म्युनिसिपैल्टियों में व्यवहृत होनेवाली वस्तुओं के लिए प्रतिवर्ष अँगरेज़ कारीगरों को मिलते हैं, किसी ऐसे फ़र्म

पर दबाव डाले जिससे उसका सम्बन्ध हो तो कदाचित् काम बन सकता है। उस विभाग ने भी अपनी ताक़त आज़माई, परन्तु इसको भी सफलता न मिली।

सर एम० विश्वेश्वराया बड़े साहसी और विचारशील व्यक्ति थे। हारना तो वे जानते ही न थे। शास्त्री की कठिनाइयों को समझने पर उन्होंने उनके पास एक तार भेजा और उनको यह अधिकार दिया कि वे किसी भी केमिकल इंजीनियर को जो उनको व्यावहारिक शिक्षा देना स्वीकार करे, एक हज़ार गिन्नी* तक देने का वादा कर सकते हैं। दीवान साहब ने सोचा था कि इतनी बड़ी रक़म ज़रूर किसी न किसी के मुँह में पानी ला देगी। साबुन बनानेवाले अँगरेज़ व्यवसायी इस व्यापार से भारत में अपना एकाधिपत्य बनाये रखने के लिए इतना दृढ़ थे कि इस बड़े इनाम ने भी किसी को आकर्षित न किया।

[८]

एक दिन शास्त्री जी लंदन के एक विश्रामगृह में भोजन करने बैठे। भविष्य उन्हें अन्धकारमय दिखाई पड़ रहा था। वे बहुत दुःखी थे। उन्होंने भोजन करना आरम्भ किया ही था कि उनके बग़ल में एक अँगरेज़ सज्जन आ विराजे। ये महाशय एक पादरी से प्रतीत हुए। शीघ्र ही उन्होंने वार्तालाप भी आरम्भ कर दिया। ये भारत की यात्रा कर चुके थे और बँगलोर से परिचित थे। इनकी बातों से शास्त्री जी ने पता लगाया कि ये एक उच्च वंश से सम्बन्ध रखते हैं, आक्सफ़ोर्ड या कैम्ब्रिज में शिक्षा-लाभ कर चुके हैं और सम्भवतः ऐंग-लिकन सम्प्रदाय के पादरी हैं।

पादरी साहब को इस प्रकार सहानुभूति-पूर्ण बातें करते देखकर नवयुवक ब्राह्मण ने उनसे अपनी दुख-कथा कह सुनाई। इस अँगरेज़ ने विनम्र भाव से ध्यानपूर्वक उनकी सब बातें सुनीं। अन्त में पादरी साहब ने कुछ ऐसे वाक्य कहे जो दुःख में फँसे इस नवयुवक को निरर्थक प्रतीत हुए।

ख़ैर, इससे शास्त्री जी हताश नहीं हुए। और कुछ सुनने की उन्हें आशा भी नहीं थी। उन दिनों मनुष्यता में उनका किञ्चिन्मात्र भी विश्वास न रह गया था। सफलता की आशा अन्दर ही अन्दर मर चुकी थी।

इधर शास्त्री जी इस प्रकार चिन्ता-निमग्न हो रहे थे, उधर पादरी साहब ने सेविका से बिल लिया और अपना असबाब सँभाला। उठते हुए उन्होंने कुछ हिचकिचाहट के साथ निम्नलिखित वाक्य कहा—

"इँग्लेंड में साबुन बनाने के जितने कारख़ाने हैं उनमें सभी अपना साबुन बिक्री के लिए भारतवर्ष नहीं भेजते।"

[९]

इस वाक्य ने शास्त्री जी पर बिजली का सा प्रभाव डाला। वे तुरन्त क्रिया-शील हो उठे। इसने उनकी समस्या हल कर दी। बिना विलम्ब किये उन्होंने ऐसे फ़र्मों के नाम और पते खोजे जो साबुन बनाकर भारत में नहीं भेजते थे, किन्तु अन्यत्र भेजते थे। उन्होंने पत्रों द्वारा उन पर हमला आरम्भ कर दिया।

इस बार उन्हें बहुत नहीं भटकना पड़ा और न बहुत प्रतीक्षा ही करनी पड़ी। नाटिंघम के एक फ़र्म—मेसर्स जेरार्ड ब्रदर्स—ने जो मुख्यतः विलायत के लिए साबुन तैयार करता था और जिसकी भारतवर्ष के बाज़ारों से कोई दिलचस्पी नहीं थी, उन्हें उसी प्रकार काम सिखाना स्वीकार कर लिया, जैसा उनकी स्थिति के किसी अँगरेज़ के सम्बन्ध में किया जा सकता था। ऐसा न करने के लिए उन्हें कोई कारण नहीं मिला।

इस फ़र्म के एक सदस्य ने उन्हें भेंट करने के लिए बुलाया! उनकी योग्यता और तीव्र इच्छा से प्रभावित होकर उसने उन्हें उसी क्षण वह व्यावहारिक शिक्षा देना स्वीकार कर लिया जिसके लिए वे तरस रहे थे। इनाम की उसे बहुत परवा नहीं थी। मेरा ख़याल है यह रक़म—१०० गिन्नी प्रतिवर्ष—नाम-मात्र को शिष्टा-चार के भाव से तय हुई थी।

*गिन्नी का मोल १४) से कुछ अधिक होता है। अब यह सिक्का नहीं बनता, पर वकीलों को फ़ीस देने में इस शब्द का व्यवहार किया जाता है।

[१०]

जिस अवसर की वे प्रतीक्षा में थे उसके प्राप्त कर लेने पर शास्त्री महोदय ने कार्य्य आरम्भ कर दिया और अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'पेंदी से ऊपर' कार्य्य आरम्भ किया। एक बार जब वे हर्न हिल (लंदन) में मेरे घर पर आये हुए थे, मैंने उनसे पूछा—"शास्त्री 'पेंदी से ऊपर' का क्या अर्थ है ?"

उन्होंने मुसकराते हुए कहा—"धोना, बटोरना इत्यादि।"

ब्राह्मण होने पर भी वे वह काम करने से ज़रा भी न झिझके जो भारतवर्ष में मेहतर के सिपुर्द किया जाता। उन्हें इतनी लगन थी कि अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे।

कारख़ानेवालों को उनका मूल्य शीघ्र ही मालूम हो गया। रसायन में उनकी अच्छी पहुँच थी। इस लिए रसायन पर अवलम्बित व्यवसाय में उनकी यह योग्यता बहुमूल्य समझी गई। उनसे उन्हें लाभ ही पहुँचने की सम्भावना हुई।

[११]

उस समय योरप में जो युद्ध चल रहा था उससे भी उन्हें सहायता मिली। ब्रिटेन का एक भयानक डाँवाडोल स्थिति से सामना था। उसकी शक्तियाँ जर्मनों को जो फ़्रांस की ओर से चढ़े आ रहे थे, पीछे हटाने में लगी थीं। वे सब लोग जो युद्ध के लायक़ थे, कारख़ानों और दफ़्तरों से हटाकर युद्धक्षेत्र को भेजे जा रहे थे।

ऐसे समय में रसायन-सम्बन्धी व्यवसाय बिना एक रसायन-विशेषज्ञ के नहीं चल सकता था। मेसर्स जेरार्ड ब्रादर्स अपने उस मनुष्य के स्थान पर जो युद्ध-क्षेत्र को चला गया था, दूसरा मनुष्य कहाँ से लाते ?

परीक्षा की उस पट्टी में उस फ़र्म ने अनुभव किया कि मैसूर के इस ब्राह्मण को काम सीखने का अवसर देकर उसने अपने कारख़ाने का उपकार ही किया है। शास्त्री ने इस रसायनज्ञ के रिक्त स्थान की पूर्ति करके प्रबन्धकों की सारी चिन्ता दूर कर दी।

उत्तरदायित्व का भार अपने ऊपर लेना उनके हक़ में अच्छा ही हुआ। इससे उनमें आत्म-विश्वास का भाव जाग्रत हुआ। कारख़ाने के मालिकों के इस प्रकार विश्वासपात्र बन जाने से उन्हें कार्य्य को अन्दर से देखने और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का जैसा अवसर मिला, वैसा अधिक से अधिक प्रीमियम देने-वालों और अँगरेज़ों को भी नहीं मिलता।

उन्हें वह वेतन नहीं मिला जो उनके स्थान पर काम करनेवाले अँगरेज़ को मिलता था। पर उन्होंने इसकी न आशा की थी, न इसकी उन्हें परवा ही थी। तब भी इससे उन्हें इतनी आय हो गई थी कि जो प्रीमियम उन्होंने दिया था उसका दो-तिहाई उनकी जेब में वापस आ गया था।

शास्त्री जी जब तक सब काम सीख नहीं चुके तब तक जेरार्ड ब्रादर्स के यहाँ बने रहे। अब उन्होंने आदि से अन्त तक साबुन बनाने और उसको बेचने का कार्य्य सीख लिया था।

[१२]

काम सीख लेने पर मैसूर-सरकार ने उन्हें उत्तरी अमरीका और सुदूर पूर्व से होकर वापस लौटने की सुविधा करा दी। इस प्रकार उन्हें और भी बहुमूल्य अवसर मिले।

उन्होंने संयुक्तराज्य (अमरीका), कनाडा और जापान के साबुन के बड़े बड़े कारख़ानों को देखा। इन निरीक्षणों के समय वे अपना मुँह बन्द पर कान और आँखों को ख़ूब खुला रखते थे। उन्होंने अमरीका, कनाडा और जापान के साबुन बनाने, उसे पैक करने और बेचने के तरीक़ों की तुलना की और उन तरीक़ों पर भी इन नये तरीक़ों के प्रकाश में विचार किया जो वे इँग्लैंड से सीखकर निकले थे। मूल्य कम रखने की जापानियों की पद्धति से वे बहुत प्रभावित हुए। ब्रिटेन के वे व्यापारी जो भारत में साबुन का व्यापार करते थे और अपने तरीक़ों को छिपा कर रखते थे, शास्त्री से सब रहस्य छिपा न सके। उनका भी भेद उन्होंने जान लिया।

सन् १९१८ में शास्त्री जी बँगलोर लौट आये। युद्ध अभी जारी था और मशीनों का दाम बहुत चढ़ा था। परन्तु मैसूर-सरकार में तब भी वैसी ही दूरदर्शिता थी जैसी उसमें आज-कल है। दाम कम होने की प्रतीक्षा करते करते सम्भव है उसे उन फ़र्मों से प्रतिद्वन्द्विता करने का समय आ जाय जो पहले से काम कर रही हैं।

पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट को हिदायत की गई कि वह सरकारी दफ़्तरों के क़रीब एक इमारत में आवश्यक परिवर्तन करके उसे साबुन के कारख़ाने के रूप में बदल दे। मशीन के लिए भी आर्डर दे दिया गया।

इधर शास्त्री जी बँगलोर के 'इन्स्टीट्यूट आफ़ साइंस' में साबुन बनाने के लिए प्राप्त सामग्री की परीक्षा करने में लग गये। उन्होंने देशी और विदेशी चिकने द्रव्यों की परीक्षा की और अपना एक कार्य्यक्रम तैयार किया।

मैसूर में चन्दन ख़ूब होता है। इसके वृक्ष का छिलका तो सुगन्धित नहीं होता, परन्तु भीतर की लकड़ी अत्यन्त सुगन्धित होती है और इसमें तेल भी ख़ूब रहता है। साबुन बनाने की दृष्टि से यह मूल्यवान् और सुलभ-साध्य सामग्री थी।

चन्दन का तेल निकालने के लिए बँगलोर शहर के बाहर एक कारख़ाना पहले ही खुल चुका था। और जो तेल निकाला जा चुका था उसका साबुन बनाना अब आसान था। इस प्रकार इस चन्दन का तेल निकालने-वाले कारख़ाने को अपने द्वार पर ही जितना तेल निकलेगा उसकी बिक्री का विश्वास होगया।

भारतवर्ष में हिन्दुओं की करोड़ों की जन-संख्या जो चन्दन को बहुत पवित्र मानती है, चन्दन से बने साबुन का आश्चर्य्य-जनक रूप से स्वागत कर सकती है, इसमें तो सन्देह ही नहीं था। हमारे देश के लोग जिन वस्तुओं को अस्पृश्य समझते हैं उनसे इस साबुन के सर्वथा मुक्त होने की गारंटी दी जा सकती थी। केवल इसी सुविधा को लिया जाय तो, बहुत थी।

हमारे मुसलमान भाई भी उस साबुन को जो वे इस तेल से बनाना चाहते थे इस विश्वास के साथ काम में ला सकते थे कि इसमें कोई ऐसी चर्बी नहीं है जिसका प्रयोग करने से उन्हें परहेज़ हो। इस प्रकार के विश्वास से वे अन्य साबुनों की ख़रीद नहीं कर सकते थे।

रसायनज्ञ की दृष्टि से विचार करने पर भी शास्त्री जी इसी निश्चय पर पहुँचे कि चन्दन में गुण ही ऐसे हैं कि इसके साबुन को हिन्दू और ग़ैर-हिन्दू सभी शौक़ से इस्तेमाल करेंगे, क्योंकि वे इसे मुलायम, आनन्दवर्द्धक और मीठी गंध से युक्त पायेंगे। उन्होंने यह भी देखा कि इस साबुन की भारतवर्ष में ही अच्छी खपत हो जायगी और इसके लिए बाहर बाज़ार नहीं खोजना पड़ेगा।

[१४]

यह प्रसन्नता की बात है कि उनकी यह धारणा सत्य निकली। यह साबुन जैसे ही बाज़ार में पहुँचा, वैसे ही विवेक-पूर्ण जनता ने इसका स्वागत किया।

'विवेक-पूर्ण जनता' का प्रयोग मैंने जान बूझकर किया है। जब मैसूर-सरकार की फ़ैक्टरी का साबुन बाज़ार में पहुँचा तब पता लगा कि बहुत-से हमारे देश-वासी जो अपने आपको शिक्षित समझते हैं और समझे भी जाते हैं, वास्तव में ग़ुलाम मनोवृत्ति रखते हैं। स्वाधीनतापूर्वक किसी बात पर मानो वे विचार ही नहीं कर सकते।

बाहर से आये साबुन की वे केवल इसलिए क़द्र करते थे कि वह बाहर बना था। भारतवर्ष का बना साबुन भी वैसा ही अच्छा हो सकता है और फिर भी उससे सस्ता, परन्तु उन्होंने इस पर भौंह सिकोड़ना ही उचित समझा, क्योंकि यह भारतवर्ष में एक भारतवासी-द्वारा बनाया गया था।

इस ग़ुलाम-मनोवृत्ति के प्रदर्शन से शास्त्री घबराने-वाले व्यक्ति नहीं थे। वे सौभाग्यशाली भी थे। मैसूर के महाराज नव-शिक्षित थे। वे अपने राज्य का विकास करने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो ख़र्च हो, वे ऐसे कारख़ाने खोलेंगे जिनमें उनके राज्य का कच्चा माल व्यवहृत हो और जिनसे उनके राज्य के शिक्षित युवकों को काम मिले।

[१५]

समय बीतने पर विरोधी भाव अपने आप दब गया और शास्त्री के बनाये हुए मैसूर के चन्दन के साबुन की माँग बढ़ी। साबुन बनाने के लिए जो मशीन खड़ी की गई थी वह छोटी थी और बढ़ती हुई मांग की पूर्ति उससे नहीं हो सकती थी।

स्वदेशी-आन्दोलन इस कारख़ाने के लिए वरदान सिद्ध हुआ। भारत में बनी वस्तुओं के प्रति अश्रद्धा का भाव हवा हो गया। विदेशी वस्तुओं के मुक़ाबिले में स्वदेशी चीज़ें पसन्द की जाने लगीं।

ज्यों ज्यों बिक्री बढ़ी, कारख़ाने की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी और मुनाफ़ा भी होने लगा। समालोचकों ने या तो मुँह बन्द कर लिया या मुक्तकण्ठ से इस कारख़ाने की प्रशंसा की।

मैसूर-सरकार ने कारख़ाने को विस्तृत करने और नई मशीनें मँगाने के लिए धन देना स्वीकार किया। इन कामों में शास्त्री जी को बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि उन्होंने योरप में रसायन की शिक्षा के साथ साथ इस शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली इंजीनियरिंग का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मशीनों के आने पर वे उनको खड़ा करने की भी योग्यता रखते थे।

[१६]

शास्त्री जी को इस दिशा में महान् सफलता मिली है, तो भी वे चिन्ताओं से मुक्त नहीं हैं। जैसे ही उन्होंने कारख़ाने को इस योग्य बनाया कि कुछ लाभ हो, वैसे ही उन्हें जापान से प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी।

जापान में साबुन बनाने का कार्य्य पहले से हो रहा है और अच्छी हालत में है। वहाँ इस कार्य्य में लगे लोगों का अनुभव भी ख़ूब परिपक्व है। इसके अतिरिक्त उनके कार्य्य के पीछे पूँजी भी ख़ूब लगी है। येन—जापानी सिक्का—का मूल्य घट जाने से जापानी कारख़ानेवालों और जहाज़ियों को अच्छी सुविधा मिल गई है, क्योंकि इससे वे अपनी वस्तुओं का मूल्य घटाने में समर्थ हो गये हैं। भारतवर्ष में बने साबुन की अपेक्षा यहाँ जापानी साबुन इतना सस्ता बिकने लगा है कि यहाँ के साबुन के व्यवसायियों के कान खड़े हो गये हैं।

पुरुषार्थी होने के कारण शास्त्री जी ने भारतवर्ष के समस्त साबुन के व्यवसायियों का एक संघ बनाने का प्रयत्न किया ताकि सब लोग मिलकर जापान का मुक़ाबला कर सकें। मैसूर के दीवान सर मिर्ज़ा मुहम्मद इस्माइल बँगलोर में इनका एक सम्मेलन कराने के लिए तुरन्त राज़ी हो गये।

इसी समय कलकत्ते में एक सभा का आयोजन हुआ। मान-अपमान का विचार छोड़कर शास्त्री जी ने बँगलोर की सभा स्थगित कर दी और इसी में आकर सम्मिलित हुए।

इस सभा में बङ्गाली व्यवसाय-वादी मिस्टर सरकार की देख-रेख में एक संघ की स्थापना की गई, जो भारत के इस शिशु-व्यवसाय की रक्षा का प्रयत्न करेगा। मुझे विश्वास है कि भारत-सरकार का कामर्स डिपार्टमेंट जिसके सभापति सर जोज़फ़ भोरे जैसे योग्य और देशभक्त व्यक्ति हैं, भारत के इस व्यवसाय की जापानी और अन्य समस्त आक्रमणों से रक्षा करने में कुछ उठा नहीं रक्खेगा।

भविष्य में चाहे जो हो, पर इस समय तो शास्त्री जी ने बँगलोर में यह करके दिखा दिया है कि यदि पूँजी का सहयोग मिले तो विदेशों से लौटे शिक्षित भारतीय युवक सफलता के साथ नये नये व्यवसायों की स्थापना करके अपने देश का बहुत उपकार कर सकते हैं।



कृष्णभूमि काठियावाड़

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित, पण्डित जवाहर-लाल नेहरू की बहन हैं। आपको हिन्दी से विशेष अनुराग है। हाल में आप काठियावाड़ गई थीं। इस लेख में आपने वहीं का सचित्र परिचय दिया है।



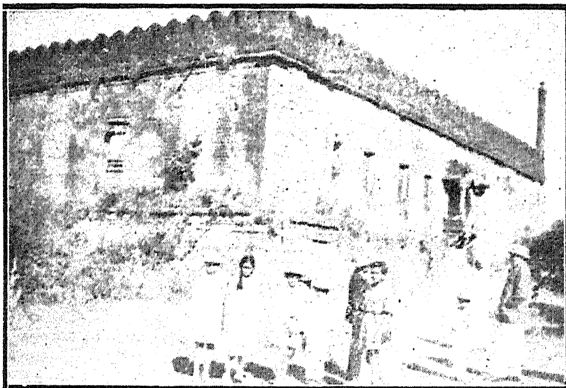


काठियावाड़ जो पहले सौराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध था, पश्चिमी भारत का एक प्रान्त है। काठियावाड़ के स्वयं चार प्रान्त हैं—हालार, झालावाड़, गोहिलवाड़ और सोरठ। सोरठ असल में सौराष्ट्र का ही अपभ्रंश है। काठी-जाति से मरहठों ने यह देश जीता था। काठियावाड़ नाम उन्हीं का रक्खा हुआ है। इन्हीं काठियों के प्रसिद्ध घोड़े होते हैं।

इनका प्रजासत्तात्मक राज्य था। गोहिलवाड़ के गोहिल राजपूत, झालावाड़ के झाला राजपूत, हालार के जाड़ेजा राजपूत कहलाते हैं। इनके प्रधान नवानगर के जामसाहब हैं। सोरठ चूड़ासमा राजपूतों का देश है और इनसे १८ वीं सदी में एक मुसलमान आक्रमणकारी ने जीत लिया था। आज तक उसी के वंशज वहाँ के शासक हैं। उसी राज्य में जूनागढ़ के इलाक़े में गिरनार का पहाड़ है, जिसका वर्णन संस्कृत-काव्य में बहुत पाया जाता है और जो रैवतक पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। इस पहाड़ की ऊँचाई लगभग साढ़े चार हज़ार फ़ुट की है। इसके ऊपर बहुत पुराने जैन-मन्दिर हैं और कुछ मन्दिर हिन्दुओं के भी हैं। अम्बाजी, गोरखनाथ और गुरु दत्तात्रय, ये तीन हिन्दू-मन्दिर हैं। गिरनार के शिखर के ऊपर सबसे ऊँचा मन्दिर गुरु दत्तात्रय का है, जहाँ उनकी पादुका बनी हुई है—कोई मूर्ति इस मन्दिर में नहीं है।

जूनागढ़ के शहर के ऊपर एक गढ़ है, जो ऊपरकोट कहलाता है। वहाँ राजा रायखंगार और उनकी रानी रानकदेवी का महल है, जो बारह सौ साल पहले की इमारत है। ऊपरकोट की दीवारें, दरवाज़े और गोपुर भी उसी समय के हैं और बहुत ही सुन्दर हैं।

गिरनार की चढ़ाई के लिए लोगों ने चन्दा जमाकर के पत्थर के ज़ीने बनवाये हैं। गुरु दत्तात्रय के शिखर तक ६,६०० ज़ीने चढ़ने पड़ते हैं। नरसी मेहता जो पश्चिमी भारत के बड़े संत हो गये हैं, जूनागढ़ के ही रहने-वाले थे। गिरनार पहाड़ के रास्ते पर एक दामोदर-कुण्ड है—वहाँ की गिरी, झाड़ी और पानी का दृश्य बहुत ही चित्ताकर्षक है। इसी कुण्ड में मेहता जी स्नान करते थे। उनकी जीवनी की एक सरस कहानी यह है कि



[ऊपरकोट का क़िला]

जहाँ सुदामा जी का एक बहुत पुराना मंदिर है। पुराने मंदिर और भी कई हैं, जिनमें से एक वेरावल में है, जो ६ठी सदी से अरबों के और इतर जहाज़ों के लिए दीपस्तम्भ का काम दे रहा है।

गोहिलवाड़-प्रान्त में शत्रुञ्जय का प्रसिद्ध पहाड़ है, जिसके ऊपर जैनों के बहुत सुन्दर मंदिर हैं। यह जैन-यात्रियों का बहुत बड़ा तीर्थ है और हर साल सैकड़ों लोग वहाँ जाते हैं।

काठियावाड़ अपने अच्छे घोड़ों के सिवा बहुत उत्तम गायों और भैंसों के लिए भी मशहूर हैं। सारे एशिया भर में काठियावाड़ ही एक देश है, जहाँ सिंह जंगल में पाया जाता है। योरपीय लोगों का पहले यह ख़याल था कि अफ़्रीका का सिंह काठियावाड़ में ले जाकर छोड़ दिया गया है। परन्तु हिन्दुस्तान में पुराने ज़माने में कई जगहों पर सिंह थे और मुग़लों के समय में जहाँगीर बादशाह ने

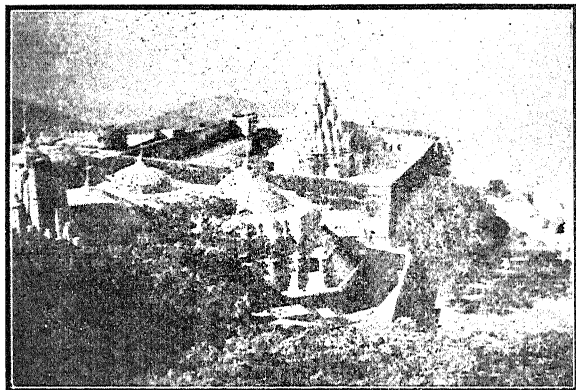


[गिरनार के शिखर से मंदिरों का दृश्य]

नागर ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने अन्त्यजों के घर में जाकर हरिकीर्तन का उत्सव मनाया था।

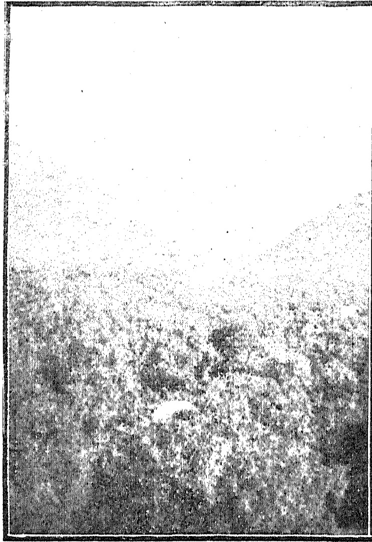
कठियावाड़ कृष्णभूमि कहलाता है। श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारका और सोमतीर्थ जहाँ सोमनाथ जी का मन्दिर है और जहाँ भगवान् कृष्ण ने देह-त्याग किया था—ये सब स्थान काठियावाड़ में ही हैं। काठियावाड़ नृत्य और गायन का देश है और यहाँ की स्त्रियाँ अनेक प्रकार के सुन्दर नृत्य करती हैं। यहाँ का 'गरबा' और 'रास' प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके अलावा और बहुत प्रकार के नृत्य हैं। जैसे पुरुषों का नृत्य जो वहाँ के काश्तकार बहुत ख़ूबी के साथ नाचते हैं। काठियावाड़ की स्त्रियाँ बहुत रूपवती मानी जाती हैं और इनका पहरावा जो लहँगा और ओढ़नी है, बहुत सुन्दर होता है।

काठियावाड़ में कई तीर्थस्थान हैं। इनमें से दो स्थान बड़े माने जाते हैं—एक प्राची, दूसरा सुदामा-पुरी जिसका आधुनिक नाम पोर बन्दर है और



[गिरनार के कुछ मंदिर]

अपनी तवारीख़ में लिखा है कि दिल्ली से लाहौर जाते हुए वे सिंह का शिकार खेलते थे और उस



[दामोदर कुंड]

समय के चित्रों में शेर और सिंह दोनों का शिकार दिखाया गया है। काठियावाड़ का सिंह जंगल में रहता है और अफ़्रीका का सिंह उजाड़ में रहता है—पेड़ों के जंगल में नहीं। दोनों जानवर बिलकुल निराले हैं, जैसे हिन्दुस्तान का हाथी अफ़्रीका के हाथी से भिन्न है—आश्चर्य की बात यह है कि संस्कृत शब्द सिंह और अफ़्रीकन शब्द सिंहबा कुछ एक-से मालूम देते हैं।

काठियावाड़ के लोग प्राचीन काल से मशहूर व्यापारी हैं। अफ़्रीका का देश इन्होंने सदियों से आबाद किया है और जावाद्वीप तक व्यापार करते रहे हैं। पहले योरपीय यात्री—वास्को डि गामा की काठियावाड़ के लोगों से आशा-अन्तरीप के पास भेंट हुई थी और उनके दिखाये हुए रास्ते से चल कर वह सूरत की ओर आ रहा था जब तूफ़ान की वजह से उसके जहाज़ दक्षिण को बह गये और वह कालीकट पहुँच गया।

काठियावाड़ में कई मशहूर व्यक्तियों का जन्म हुआ है। आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी वहीं पैदा हुए। स्वामी दयानन्द जी ने मोरवी-रियासत (हालार-प्रान्त) के एक छोटे-से गांव टंकारा में जन्म लिया था। महात्मा जी का जन्मस्थान सुदामापुरी है, परन्तु उनकी बाल्यावस्था और यौवनावस्था राजकोट में व्यतीत हुई, जिस नगर के राजा के उनके पिता प्रधान मंत्री थे।

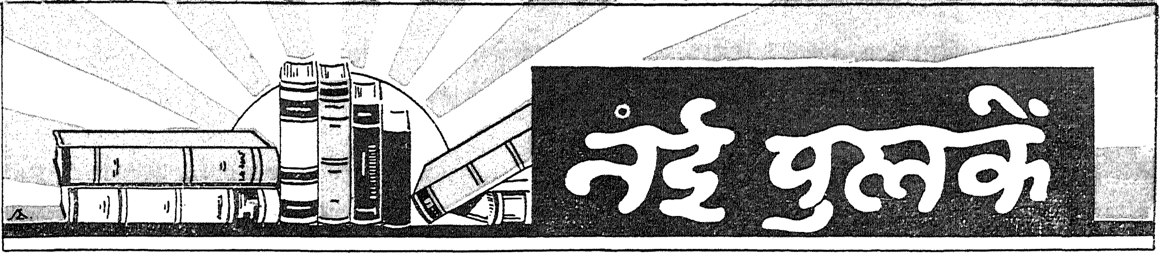
ऊषा-गान

श्रीमती सुन्दरकुमारी

अयि ऊषे! सुखमयि! सुहावनी।
अयि मधुमयि! नूतन छवि आवे।
तम-वितान निश का हट जावे॥
विरह-व्यथित चकवी हर्षावे।
सजनि! नवल स्वर्णिम लाली में—
गावें विहंग प्रभात-रागिनी॥
शीतल विजन समीर डुलावे।
प्राची स्वर्ण-सुधा बरसावे॥
जीवन-ज्योति मेदिनी पावे।
मृदु मधु भरे बाल-रवि-तन से—
खिलें कमल-कलियाँ लुभावनी॥

सखि! उपवन, लोनी लतिकायें।
खग, मृग, जल-थलचर, सरितायें॥
नव प्रकाश नूतन सुख पायें॥
बिखर पड़ें परिमल सुमनों से—
कूक उठे अलि हृत्सुरागिनी॥

जाग उठें सोती इच्छायें।
उर-अन्तर की मिटें व्यथायें॥
फूलें-फलें नवल आशायें।
सखि! नवयुग के नाट्यकार पर—
बलि जावे कवि-कला-कामिनी॥



[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। इनका परिचय यथासमय प्रकाशित होगा]

१—**ऋग्वेदसंहिता (तृतीय अष्टक)**—टीकाकार, पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्त-शास्त्री आदि, प्रकाशक, वैदिक पुस्तकमाला, कृष्णगढ़, सुल्तानगंज। मूल्य २)

२—**एलोपैथिक मेटीरिया मेडिका**—अनुवादक, डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, प्रकाशक, सुखसंचारक कम्पनी, मथुरा। मूल्य ६)

३—**डाक्टरी चिकित्सा**—लेखक, डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, प्रकाशक, सुखसंचारक कम्पनी, मथुरा। मूल्य ६)

४—**आहार-शास्त्र**—लेखक, पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प्रकाशक, तरुण भारत-ग्रन्थावली, कार्यालय, दारागंज, प्रयाग। मूल्य २)

५—**विक्रमादित्य (नाटक)**—लेखक, पंडित उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक, हिन्दी-भवन, अनारकली, लाहौर। मूल्य ॥=)

६—**राजसिंह (नाटक)**—लेखक, श्रीयुत चन्द्र शर्मा, प्रकाशक, इंटरनेशनल पब्लिशिङ्ग कम्पनी, मोहनलाल रोड, लाहौर। मूल्य ॥=)

७—**ब्रजेश-विनोद (काव्य)**—लेखक, श्री राघवेन्द्र शर्मा त्रिपाठी 'ब्रजेश', प्रकाशक, श्री जोगेन्द्र शर्मा त्रिपाठी, गोनी, अतरौली, हरदोई। मूल्य ।=)

८—**दलितोद्धार**—लेखक, कुँवर चांदकरण शारदा बी० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट, प्रकाशक, शारदा-भवन, अजमेर।

९—**सरल बँगला शिक्षा**--लेखक, श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री, स्वयं भाति पुस्तकालय, ३८ नं० सदानन्द बाज़ार, बनारस सिटी। मूल्य १)

१०—**भृगुसंहिता (कुंडलीखंड)** अर्थात् विश्व जन्माङ्क भास्कर—लेखक, पंडित अयोध्याप्रसाद मिश्र झाँसी। मूल्य २॥)

११—**जयन्त (नाटक)**—लेखक पंडित रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक, हिन्दी-मंदिर-प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य ॥।)

१२—**बलभद्र**—लेखक, श्रीआनन्दकुमार, प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर-प्रेस। मूल्य ≡)

१३—**इतिहासों की कहानियाँ (प्रथम भाग)**—लेखक, श्री आनन्दकुमार, प्रकाशक, हिन्दी-मन्दिर-प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य ।)

१४—**वैराग्यशतक (गुजराती)**—अनुवादक मावजी दानजी। मूल्य =)

१—**हमारे राष्ट्र-निर्माता**—लेखक, श्री रामनाथ जी सुमन, प्रकाशक, सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर हैं। पृष्ठ-संख्या ६६४ हैं। मूल्य २॥)

सुमन जी ऐसी सुन्दर रचना के लिए बधाई के पात्र हैं। पुस्तक में भारतीय राष्ट्र के प्रमुख दस नेताओं के जीवन का अध्ययन है, साथ ही उनकी झाँकियाँ भी। 'सुमन' जी की क़लम में ज़ोर है, भाषा मँजी हुई है और अध्ययन तथा संग्रह करने की शक्ति भी इनकी अच्छी है। अपने भावों के लिए इनके पास शब्दों की कमी नहीं और उनको प्रकट करने का क्रम भी इनका अच्छा है। मैंने देशबन्धु, त्यागमूर्ति, मालवीय जी, जवाहरलाल जी, लाला जी और मोहम्मदअली आदि के सम्बन्ध के अंश ही पढ़े हैं। लेखक ने अपनी धारणा के

अनुसार चित्रों को रँगने और सजाने में कोई कमी नहीं की। लेखक ने जेल की चहारदिवारी के भीतर कैद रहते समय इस पुस्तक की रचना की है। मालूम पड़ता है, इसी कारण अपने नायकों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी वे नहीं प्राप्त कर सके। ऐसी झाँकियों के लेखक को अधिक से अधिक जानकारी नितान्त आवश्यक है। नायक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी न होने से उसके जीवन की अनेक घटनायें जिनका वर्णन ज़रूरी होता है, रह जाती हैं, साथ ही कभी कभी उसके साथ अन्याय हो जाने का भी डर रहता है। त्यागमूर्ति पण्डित मोतीलाल नेहरू के जीवन की अनेक घटनायें हैं जिनसे उनका चित्र-चित्रण और भी सुन्दर हो सकता था, साथ ही उनसे जीवन की विशेषताओं पर अधिक प्रकाश पड़ सकता था। त्याग-मूर्ति की एक विशेषता यह भी थी कि वे बड़े ज़बर्दस्त भाग्यशाली थे। किसी अभाव को वे जानते ही नहीं थे। सुना है, पिछली बार जब वे विलायत में थे, अपने रुपये सब ख़र्च कर चुके थे, बैंक से भी जमा से अधिक जितना ले सकते थे ले चुके थे, श्री जवाहरलाल, श्रीमती कमला जी स्विट्ज़र्लैंड में थीं, उनकी रुपयों की माँग सामने थी, साथ ही अपने होटल का बिल देना था, और पैसा पास नहीं था। इसी समय भारत से एक अनजान मुअक्किल का केबिल पहुँचा, प्रिवी कौंसिल में मुकद्दमा है, पैरवी का प्रबन्ध कर दीजिए, आपकी फ़ीस केबिल-द्वारा ही भेज रहा हूँ। कुछ ही दिनों के बाद पचास हज़ार पहुँच गये। जवाहर-लाल जी की जीवनी में होमरूल लीग के ज़माने की चर्चा करते हुए सुमन जी ने लिखा है—"होमरूल लीग के शायद यह कोई पदाधिकारी भी थे और सुन्दरलाल जी के साथ मिल कर काम करते थे।" यह ऐसी साधा-रण बात थी कि लेखक बिना अधिक प्रयास के जान सकता था और 'शायद' के प्रयोग की उसे ज़रूरत न पड़ती। 'होमरूल लीग' के ज़माने में सुन्दरलाल जी शायद प्रयाग में भी थे या नहीं, यह भी लेखक को जानना चाहिए था। फिर "मिल कर काम करने की बात" का अर्थ और उद्देश क्या है, यह लेखक ही बतला सकता है। क्या अन्य साथियों से वे दूर रह कर काम करते थे? पृष्ठ ९९४ में एक घटना का ज़िक्र है। त्यागमूर्ति व्याख्यान दे रहे थे, सत्याग्रह के प्रतिज्ञापत्र भराये जा रहे थे, उन्होंने 'उपवास' की शर्त को अनाव-श्यक बतलाया और उसी समय एक चिरपरिचित आवाज़ "शर्म" सभा-स्थल में गूँज उठी। लेखक की राय में यह आवाज़ जवाहरलाल जी की थी। इन पंक्तियों के लेखक को इसमें बहुत-कुछ सन्देह है और इस बात को लिखने के पहले इसका स्पष्टीकरण लेखक को जवाहरलाल जी से कर लेना चाहिए था। जवाहरलाल जी स्वयं उपवासों के पैरोकार नहीं हैं। मालूम पड़ता है, त्यागमूर्ति और जवाहरलाल जी के सम्बन्ध में लेखक ने "नेहरू-द्वय" पर अधिक निर्भर किया है। इसी तरह मालवीय जी के सम्बन्ध में लिखा है कि ये तीन भाई थे और ये सबसे छोटे हैं। यह एक-दम ग़लत है। यह भी लिखा हुआ है कि इनके पूर्वज झाँसी (बुँदेलखंड) से आये थे, यह भी ठीक नहीं है। मालवीय जी के साथ एक घोर अन्याय भी किया गया है। लेखक ने लिखा है कि उनके मूल में ब्राह्मणवाद है। झलक कहीं-कहीं लेखक ने ऐसी दे दी है जिससे यह प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मणों के पक्षपाती हैं और अन्य जातियों के लिए उनके हृदय में उतना आदर और मान नहीं। 'ब्राह्मण-वाद' तो यहाँ तक बढ़ा हुआ लेखक ने दिखाया है कि एक घटना का ही उल्लेख किया गया है। विश्वविद्यालय में प्राच्य-विद्या-विभाग के लिए प्रिंसपल की आवश्यकता थी। "एक संस्कृत की योग्यता के लिए प्रसिद्ध, साथ ही अँगरेज़ी के भी एम० ए० विद्वान् से बातचीत चली। तय सी हो गई। उपर्युक्त सज्जन की वेश-भूषा इतनी दिव्य और रहन-सहन इतना सात्विक है कि कोई आदमी भूल कर भी उनको सिवा ब्राह्मण के दूसरी कल्पना नहीं कर सकता। उनको देखकर ही एक पवित्र एवं सात्विक ब्राह्मण की याद आती है, जिनका नाम भी कुछ वैसा ही है। आज भी बहुत थोड़े आदमी जानते हैं कि वह किस जाति के हैं। पर वह ब्राह्मण नहीं कायस्थ थे। जब मालवीय जी को यह पता चला तब उन्होंने साफ़ साफ़ तो नहीं कहा,

पर किसी बहाने से उन्हें जवाब दे दिया।" मैं यही कह सकता हूँ कि लेखक को सत्य की रक्षा के लिए इन बातों को प्रकाशित करने के पहले मालवीय जी से इस सम्बन्ध में पूछ-ताछ कर लेना चाहिए था, कम से कम वे मुंशी ईश्वर-शरण या श्री सच्चिदानन्दसिंह से ही पूछ लेते तो भी अच्छा था। ये कायस्थ ही हैं और ईश्वरशरण जी तो मालवीय जी को तब से घनिष्ठता से जानते हैं जब मुंशी जी बी० ए० या एल-एल० बी० में पढ़ते थे और मालवीय जी वकालत करते थे। इसी घटना के साथ ही लेखक ने लिखा है—"क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि किसी विजातीय या हरिजन से छूजाने के बाद भोजन के पूर्व उन्हें शुद्ध होने की आवश्यकता प्रतीत होती है।" मालवीय जी भोजन कपड़े उतार कर केवल रेशम का सोला पहन कर करते हैं, इसका अर्थ अगर शुद्ध होना है तो ठीक है।

देशबन्धु और त्यागमूर्ति के जीवन-चित्र की भाँति मालवीय जी के चित्र-चित्रण में भी लेखक ने अनेक महत्त्व-पूर्ण बातें छोड़ दी हैं। जैसे मालवीय जी का प्रेस-एक्ट का विरोध। बात यह थी कि मालवीय जी के सब ही मित्र और देश के नेता जिसमें गोखले भी सम्मिलित थे, इस बात का दबाव डाल रहे थे कि वे प्रेस-एक्ट का विरोध न करें। मित्रों की बातों पर ध्यान न दे उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया। दूसरी बात युद्ध के ज़माने की है। देश के प्रधान नेता युद्ध में सहायता दे रहे थे। महात्मा जी, मोतीलाल नेहरू जी सब ही लोग युद्ध में सरकार के सहायक बन गये थे। वाइसराय की व्यव-स्थापिका सभा में प्रस्ताव पास किया जा रहा था कि भारत ग्रेट ब्रिटेन को युद्ध में सहायतार्थ कदाचित् सौ करोड़ रुपया दे। प्रस्ताव का विरोध एक मालवीय जी ने ज़ोरों से किया, ऐसी धुँआधार वक्तृता हुई कि उसकी करोड़ों प्रतियाँ जर्मनी और आस्ट्रिया में बाँटी गईं। यह दिखलाने के लिए कि भारत इँग्लेंड के पक्ष में नहीं है। अन्य नेता जब भ्रम में पड़ गये थे, मालवीय जी मार्ग से विचलित नहीं हुए। मालवीय जी का चित्र-चित्रण इन बातों के बिना ठीक नहीं कहा जा सकता। लेखक ने लाला जी के साथ और भी अधिक अन्याय किया है। मालूम पड़ता है, लेखक महोदय लाला जी को तनिक भी नहीं समझ पाये। लेखक की राय में लाला जी हवा के साथ बहते थे, जैसा समय होता वैसा ही आचरण करते थे, उनके निज के विचार न थे, जनता की अभिरुचि ही उनके लिए सब कुछ थी।

लाला जी एजीटेटर थे, विधायक राजनीतिज्ञ नहीं। ऐसा लेखक का ख़याल है और उसका कहना है—"इस दृष्टि से हमारे तिलक और लाला जी गोखले और सप्रू से कहीं बड़े ठहरते हैं"। कैसी तुलना है, कैसा श्रेय है; और क्या कहूँ? फिर भी इस तरह की अनेक त्रुटियों के होते हुए भी लेखक पुस्तक के लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं। अपने ढङ्ग की यह पहली ही पुस्तक है, भविष्य में इसी काम को अन्य लेखक जब उठायेंगे तब आशा है, उनको अधिक सफलता प्राप्त होगी।

२—अछूत—लेखक, श्री आनन्दिप्रसाद जी श्रीवास्तव, प्रकाशक, विश्वग्रन्थावली कार्यालय, ४०६ दारागंज, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या ६०; मूल्य ।) है।

श्री आनन्दिप्रसाद जी अच्छे कवि और लेखक हैं। इस पुस्तक को लिखकर वे हिन्दी में एक नाटककार की हैसियत से उपस्थित हुए हैं। नाटक लिखने में श्रीवास्तव जी का यह प्रथम ही प्रयत्न प्रतीत होता है। नाटक सामाजिक है और अछूतोद्धार इसका विषय है। नाटक कहीं कहीं अस्वाभाविक सा है। उदाहरणार्थ आरंभ में ही दूसरे दृश्य में बुढ़िया और अछूत की बातों को ले लीजिए। बुढ़िया की जगह कोई कट्टर पोंगापंथी पंडित होता तो अच्छा था। स्त्रियाँ साधारण रूप में इतनी हृदयहीन नहीं होतीं, विशेषकर भारत की बुढ़ियाँ कि किसी के प्यास से तड़फते हुए बच्चे को एक चुल्लू पानी पीने को न दें। 'अछूत' भी भारत का अछूत नहीं प्रतीत होता। बुढ़ियों को खरी-खोटी सुनाने का इन बेचारों में साहस कहाँ? भारतीय अछूतों की मौत यह नहीं है कि 'छूत' उनसे बुरा व्यवहार करते हैं, इन ग़रीबों की मौत तो यह है कि ये ख़ुद भी अपने को अछूत समझते हैं और अपने प्रति किये गये व्यवहार को उचित और न्याय्य समझते हैं। अछूत के तर्क को देखकर

यह भी मालूम होता है कि वह ग़रीब अपढ़ नहीं है, बरन तर्कशास्त्र का पंडित है और अपनी बातों को कहना खूब जानता है। तीसरे दृश्य का चित्र भी ऐसा ही है। अछूत ख़ुद ही जानते हैं, वे मंदिर में जाने के लिए कब इस तरह हठ करते हैं? फिर भी नाटक अच्छा है और उपदेशप्रद।

पण्डित कृष्णकान्त मालवीय

३—हत्यारे का विवाह—लेखक मुंशी कन्हैयालाल, पृष्ठ-संख्या २२६, मूल्य १।।) है।

४—भ्रम—लेखिका, श्रीमती यशोदादेवी, धर्म-पत्नी मुंशी कन्हैयालाल, पृष्ठ-संख्या २३५ और मूल्य १।।) है।

लीडर प्रेस ने ये दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इनकी कहानियाँ मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

हत्यारे का विवाह—की कहानियाँ पँचमेल हैं। अगर कहीं पुलिस के डर से भागा हुआ व्यक्ति प्रेम के जाल में फँस जाता है तो कहीं दंपति में कपड़ों को रख कर भूल जाने पर कहा-सुनी हो जाती है। अगर कहीं एक विधवा स्त्री सेवा-भाव के कारण अपने कठोर हृदय प्रेमी को खो देती है तो कहीं गाँव का ज़मींदार अपने साईस की प्रेमिका को खोज लाता है। असल में वेश्या-वृत्ति से शायद वेश्यायें स्वयं भी असंतुष्ट हैं—पेट पालने को उन्हें चाहे जो कुकर्म करने पड़ें, किन्तु मुंशी जी की 'तारा' केवल कामवश होकर अपना गला फँसा देती है और उस पर पछताती नहीं। मुंशी जी उन वकीलों में मालूम होते हैं जो क़ानून-क़ायदों के ज़बर्दस्त भक्त हैं। वह स्त्री जो शेर के सामने निडर जा पहुँचती है, अपने उस प्रेमी को जिस पर वह जान देने को तैयार रहती है और जो "उसकी आँखों में आँखें डाल" सकता है और जिसे वह स्वयं निर्दोष समझती है, सिर्फ़ इस वास्ते पुलिस के हवाले कर देती है कि "प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य और धर्म है कि न्याय होने में मदद करे।"

भ्रम—की २३ कहानियाँ भी पँचमेल हैं। लेखिका ने मुंशी जी की तरह "रोना स्त्री-जाति का स्वाभाविक लक्ष" होना कहीं स्वीकार नहीं किया है। हमने "पहले ही सूरत देखकर" प्रेम होते सुना था, सूरत-शक्ल की प्रशंसा सुनकर भी प्रेम-मग्न हो जाने की कहानियाँ पढ़ी हैं, किन्तु दोनों पक्ष एक दूसरे से परिचित हो जाते थे। परन्तु ऐसा विचित्र प्रेम कि पत्र-व्यवहार-द्वारा हो जाय और एक दूसरे की चिन्ता में स्त्री और पुरुष दोनों घुलने लगें और आख़िर दम तक एक दूसरे का परिचय न जानें हमने पहले ही दफ़े सुना है। इश्तहारों-द्वारा विवाह-सम्बन्ध भी होना नई बात है। जिस ज़माने में स्त्री और पुरुष, ठग अथवा मुख़बिर सैकड़ों की संख्या में घूम रहे हैं, कालेज का कोई प्रोफ़ेसर एक अनजान स्त्री को सड़क पर से उठा लावे और अपनी गृहस्थी उस पर छोड़ दे, यह भी ज़रा मुश्किल बात प्रतीत होती है। आज-कल जब 'बर्थ कंट्रोल' का इतना ज़ोर है, कोई पढ़ी-लिखी पत्नी पढ़े-लिखे पति से इस बात पर ज़ोर दे कि वह संतान उत्पत्ति के वास्ते दूसरा विवाह करे और फिर उस विवाह का इन्तज़ाम करे या घर से निकाली जाने के बाद वेश्या के दरवाज़े पर ही पति-दर्शन को खड़ी रहे, अस्वाभाविक जान पड़ता है।

जो कुछ भी हो, कहानियों में कोई कोई अच्छी भी हैं, किन्तु पुस्तक का मूल्य कम होता तो ठीक था।

५—हृदय की ज्वाला—लेखक श्रीयुत व्यथित हृदय, प्रकाशक, गौड़-पुस्तक-भंडार, कटरा, प्रयाग हैं। पृष्ठ-संख्या ११७ और मूल्य १) है।

यह छोटा-सा उपन्यास रोज़मर्रा की घटनाओं के आधार पर लिखा गया है। लड़की को छल-द्वारा हर लेने और पीछे से उसकी दुर्दशा का इसमें चित्रण किया गया है। सच्चे और झूठे प्रेम की भी झलक इसमें दिखाई गई है। इसका मूल्य ज़्यादा है।

६—घरेलू विज्ञान—लेखिका श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर हैं। पृष्ठ-संख्या ११२ और मूल्य १॥) है।

"जीवन में प्रकृति से जो तत्त्व हमें प्राप्त हुए हैं उनमें स्वास्थ्य और सुख भी है।" सुखी तो सभी रहना चाहते हैं, किन्तु स्वास्थ्य-रक्षा के वास्ते कष्ट उठाना नहीं चाहते। कम से कम हमारे देश का यही दस्तूर है। स्वास्थ्य नष्ट होने के क्या कारण हैं, उसकी रक्षा क्यों कर हो सकती है, शुद्ध हवा, पानी, भोजन और व्यायाम का उस पर क्या असर पड़ता है, ठाकुर साहब ने यही सब इस पुस्तक में दिखाया है। इस पुस्तक में एक परिच्छेद कूड़ा न फैलाने और किसी स्थान को गन्दा न करने पर भी होना चाहिए था। हमें बचपन से ही किसी स्थान को गन्दा न करने के गुण जानना ज़रूरी है। समुद्र-तट पर या खेतों में शुद्ध हवा कहाँ मिलेगी, यदि हज़ारों आदमी उसे बमपुलिस की तरह काम में लावेंगे।

अगर किसी तरह स्वास्थ्य बिगड़ जाय तो श्रीमती जी की पुस्तक में उसके सँभालने के वास्ते कितने ही नुसखे हैं। वे कहती हैं कि कितने ही उनके अनुभव किये हुए हैं। भारतवर्ष में घर की बड़ी बूढ़ियाँ सदा घर का वैद्य भी रही हैं और अच्छे से अच्छे नुसखे उनसे हमें प्राप्त हुए हैं। इनके अलावा श्रीमती जी ने वर्तमान अवस्था का विचार करते हुए सुन्दरता बढ़ाने के भी नुसखे बताये हैं। और घर में सैकड़ों छोटी-मोटी बातों की ज़रूरत होती ही है। वे भी आपकी पुस्तक में मिलती हैं।

७—परी रानी—लेखक, पं० पुरुषोत्तमदास गौड़ 'कोमल', गौड़-पुस्तकालय, कटरा, इलाहाबाद हैं। पृष्ठ-संख्या, ४८ और मूल्य ।-) है।

यह छोटी-सी कहानी छोटे बच्चों के वास्ते रची गई है। लेखक महोदय पति-भक्ति के इतने क़ायल हैं कि छोटी-सी अवस्था से ही बच्चों को उसकी महिमा सिखाना चाहते हैं। छः दिन के पति को पत्नी पाल-पोस कर बड़ा करती है। इससे राजा इंद्र इतने प्रसन्न होते हैं कि उसके वास्ते विमान भेज कर उसे बुला लेते हैं। पति-भक्ति की शिक्षा तो अब पुरानी हो गई है। वह कितनी ही अच्छी चीज़ क्यों न हो, बच्चों का दिमाग़ छोटी ही अवस्था से ख़राब करना मेरी समझ में ठीक नहीं है।

पण्डित मोहनलाल नेहरू

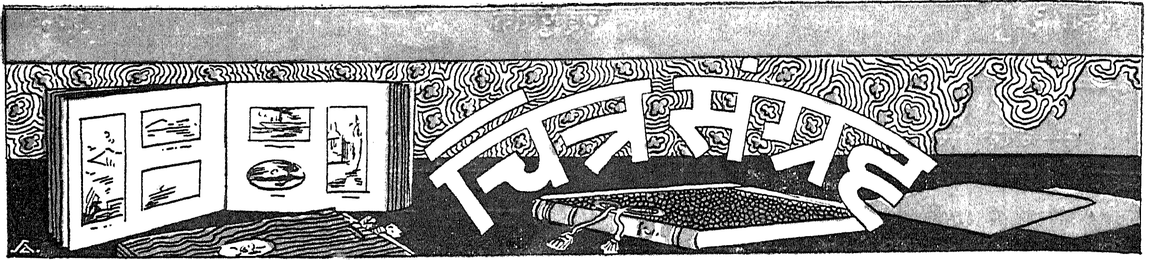
८-९—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की दो जीवनियाँ
(१) पण्डित मदनमोहन मालवीय—मूल्य =)
(२) सरदार वल्लभभाई पटेल—मूल्य =)

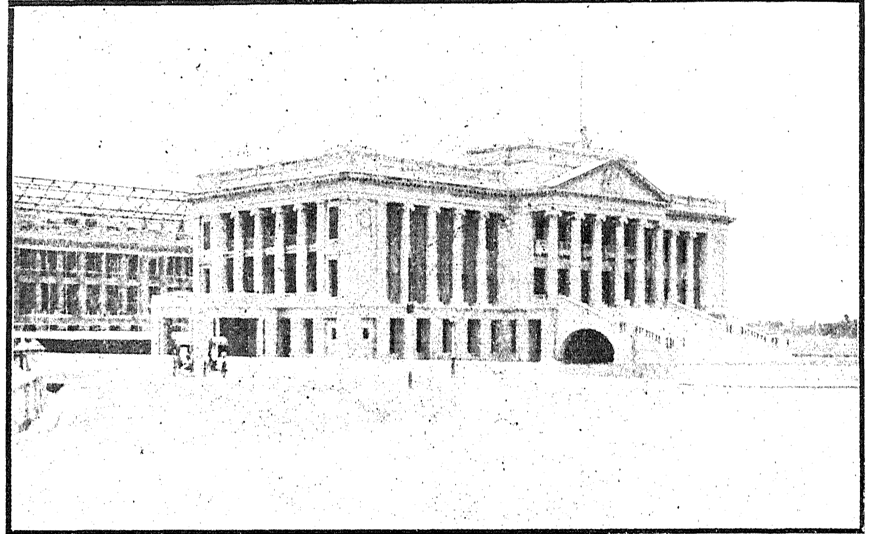
इन दोनों पुस्तकों में इन नेताओं के जीवन का थोड़े में पूरा परिचय दिया गया है। इनमें सरदार पटेल की जीवनी श्री गोविन्द हयारण की लिखी हुई है। दोनों पुस्तकें उपयोगी हैं।

१०—स्वास्थ्य का सुगम मार्ग—इसे एक अनुभवी चिकित्सक ने लिखा है, पर इसमें उनके अनुभव का हमें अनुभव नहीं हुआ। तथापि स्वास्थ्य के सम्बन्ध में थोड़े में उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन किया है। यह बालकोपयोगी है। पुस्तक सुन्दर छपी है। मूल्य ।), पृष्ठ-संख्या २६ है। मूल्य अधिक है। पता—आदर्श ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग।

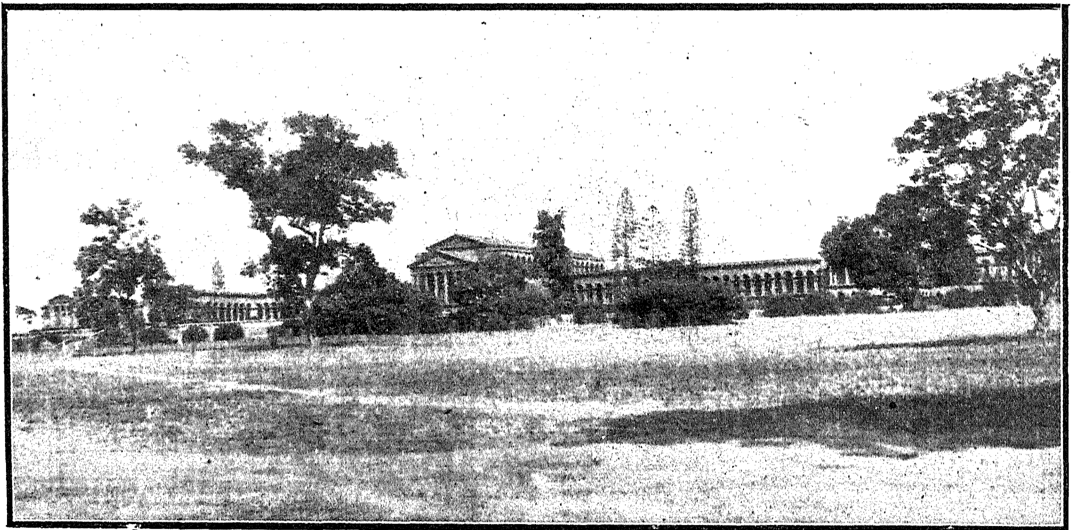
११—प्रसूत-काल—लाहौर के पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य ने इसे लिखा है। इसमें प्रसूति-समय की कार्यवाही का वर्णन किया गया है तथा तत्सम्बन्धी कुछ आवश्यक ओषधियाँ भी लिखी हैं। इसका मूल्य ॥=) है, जो बहुत अधिक है। पुस्तक के अन्त में अपनी ओषधियों का २४ पृष्ठ का विज्ञापन लगाया है। ऐसी दशा में तो यह पुस्तक मुफ़्त ही बँटनी चाहिए थी।

१२—वचनामृत-सागर—इस 'सागर' में श्रीयुत कृष्णगोपाल माथुर ने ५३ विषयों के सम्बन्ध के पाश्चात्य देशों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों तथा महात्माओं के 'वचनों' का संग्रह किया है। इधर-उधर दस-पांच वचन भारतीय महात्माओं के भी आ गये हैं। पुस्तक का संग्रह अच्छा है। मूल्य १) अधिक है। पता—श्री जगदीशप्रसाद माथुर, कृष्णकुंज, झालरापाटन सिटी (राजपूताना)।





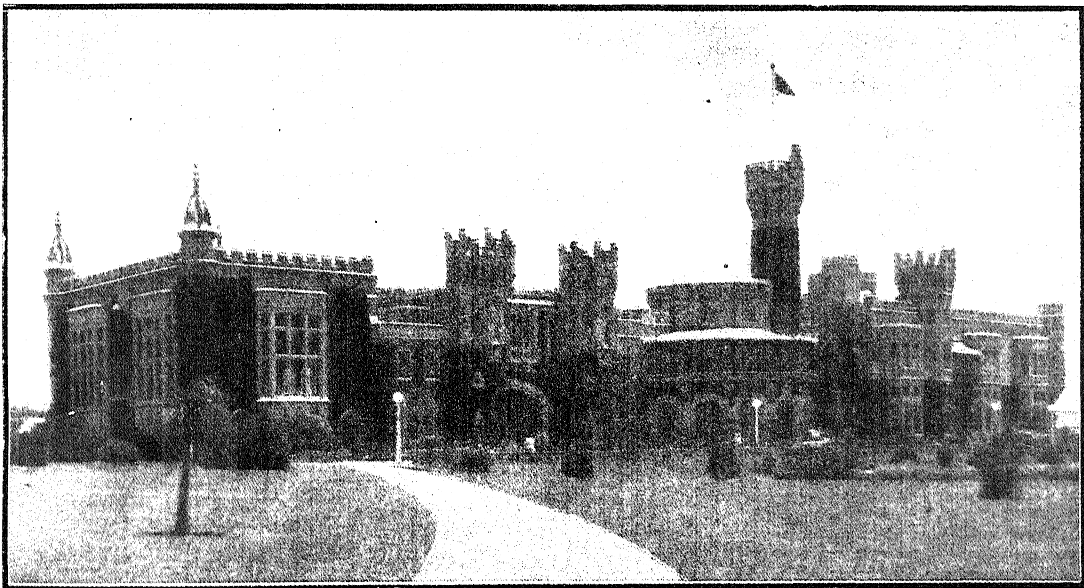
कोलम्बो की व्यवस्थापक सभा का भव्य भवन—यह भवन समुद्र-तट पर स्थित है और इसी में सीलोन के लोक-प्रतिनिधि बैठकर अपने द्वीप की शासन-व्यवस्था के सञ्चालन में भाग लेते हैं। अभी हाल में इस भवन में वहां के लोक-प्रतिनिधियों ने सीलोन के वर्तमान शासन-विधान को अपर्याप्त बताकर उसमें परिवर्तन करने के लिए विशेष वाद-विवाद किया था।



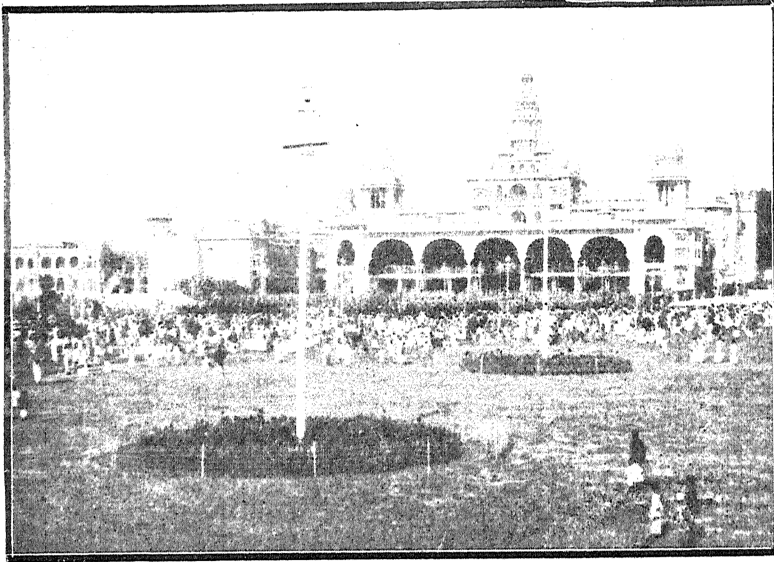
मैसूर-सरकार के दीवान तथा दूसरे उच्च अधिकारी बँगलोर की इसी इमारत में बैठकर राज्य का प्रबन्ध करते हैं।

एक जर्मन बौद्ध साधु—योरप और अमरीका के पादड़ी जहाँ भारतीयों को ईसाई बनाने के प्रयत्न में संलग्न हैं, वहाँ उन देशों के अनेक विद्वान् स्त्री-पुरुष अपनी आध्यात्मिक पिपासा शान्त करने के लिए भारत की शरण ले रहे हैं। ये साधु महोदय एक उच्च कोटि के विद्वान् जर्मन हैं। महायुद्ध के पहले सीलोन आकर इन्होंने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली थी। तब से ये वहाँ एक छोटे-से द्वीप में अपना त्यागमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।



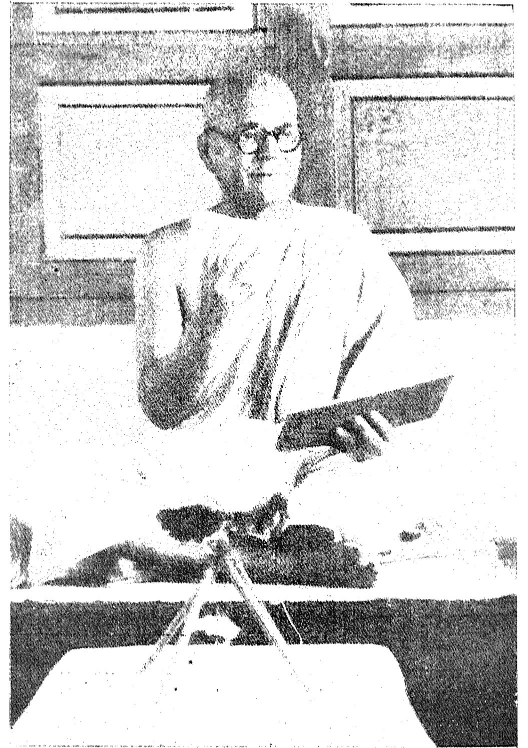


मैसूर-नरेश का बँगलोर का राजमहल—इस राजमहल में प्रतिवर्ष कुछ समय तक महाराज निवास करते हैं और अपने राज्य-प्रबन्ध की देख-भाल करते हैं, क्योंकि उनकी सबसे बड़ी कचहरी यहीं है। (इस कचहरी का चित्र अन्यत्र दिया जाता है) लन्दन के विंडसर कैसल के नमूने पर ही इस महल का निर्माण हुआ है।

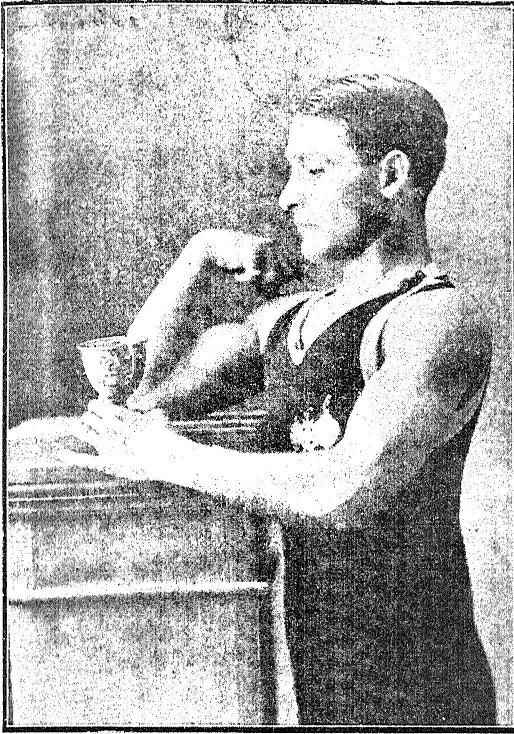


भारत की उन्नत देशी रियासतों में मैसूर-राज्य की भी गणना है। यहाँ के महाराज अपने प्रजा-रञ्जन के कार्य में जिस तत्परता से निरत रहते हैं वह अन्य देशी नरेशों के लिए आदर्श-रूप है। आपके जिस राजमहल का चित्र यहाँ दिया गया है, यह भव्य महल उनकी राजधानी मैसूर-नगर में स्थित है और यह महल का प्रधान राजभवन है। इस राजभवन से बँगलोर के सरकारी दफ़्तरों तक टेलीफोन लगा हुआ है। अतएव यहाँ से भी महाराज साहब अपनी राजकाज-सम्बन्धी देख-रेख बराबर रखते हैं। महाराज साहब के जन्मोत्सव आदि के समारोह इसी राजभवन में किये जाते हैं।





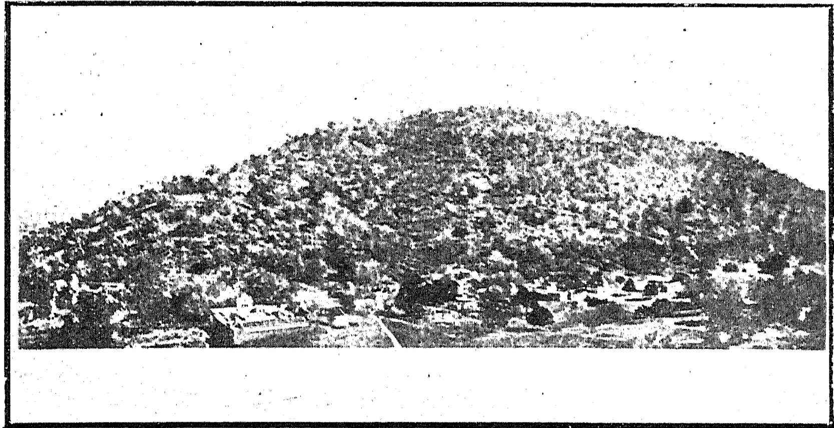
आचार्य्य विजयेन्द्र सूरि—कई एक जैन-साधु अपने तपोबल तथा विद्याबल दोनों के लिए प्रसिद्ध हैं। आचार्य विजयेन्द्र सूरि ऐसे विशिष्ट महात्माओं में एक हैं। जैन-आचार्य्यों में आपका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। आप ऊँचे दर्जे के महात्मा हैं और बड़े विद्वान् हैं।



श्रीयुत प्रेमचन्द्र बली—डंड-कसरत करने में इन्होंने संसार में सबसे बाज़ी मार ली है। ये लगातार ४ घंटे तक डंड कर सकते हैं। एक समय में ये ५१३१ डंडें करते हैं। ये बी० ए० एल-एल० बी० भी पास हैं और लाहौर के एक प्रसिद्ध एडवोकेट हैं।



[मिसेज़ एन० के० सुन्दरम् आनरेरी मजिस्ट्रेट विरुध-नगर]



[चित्रकूट का एक सुन्दर दृश्य]

चिट्ठी-पत्री

(१)

शिवराजपुर, कानपुर, से प्रोफ़ेसर लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, एम० ए० लिखते हैं—

अभी कुछ दिन हुए, मुझे हिन्दी के आधुनिक लेखकों की जीवनियों के सम्बन्ध में कुछ छान-बीन करनी पड़ी थी। मुझे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि अनेक लेखकों की जीवन-घटनाओं तथा उनकी कृतियों के सम्बन्ध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। न तो किसी पत्र या पत्रिका में ही उनके सम्बन्ध में कोई लेख निकले हैं, न कोई पुस्तक ही प्रकाशित हुई है, जिसमें इस प्रकार की सामग्री मिल सके। कई वर्ष हुए रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास ने "हिन्दी-कोविद-रत्नमाला" के दो भागों में उस समय तक के मुख्य मुख्य आधुनिक लेखकों की संक्षिप्त जीवनियां प्रकाशित की थीं, साथ ही कुछ लेखकों के चित्र भी दिये गये थे। तब से अब तक हिन्दी में बहुत कुछ उन्नति हो चुकी है। अनेक छोटे-बड़े लेखक इस समय में हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी की सेवा की। मुख्य मुख्य कवियों के सम्बन्ध में तो "कविता-कौमुदी" के दूसरे भाग के अन्तिम संस्करण से कुछ सामग्री मिल भी जाती है, परन्तु गद्य-लेखकों के सम्बन्ध में ऐसी कोई पुस्तक नहीं है।

इसलिए मैं हिन्दी के लेखकों व हितैषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूँ। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास के "हिन्दी-कोविद-रत्नमाला" के २-३ भाग और प्रकाशित होने चाहिए, जिससे उनमें आज तक के प्रायः सभी मुख्य मुख्य कवियों, गद्य-लेखकों एवं अन्य हिन्दी-सेवियों के चरितों का समावेश हो जाय। हिन्दी के अन्य लेखक भी अपने परिचित कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में थोड़ा-सा परिश्रम करके सामग्री एकत्र कर प्रकाशित कर सकते हैं। मैं स्वयं अपने परिचित ३-४ मित्रों की संक्षिप्त जीवनियों के लिखने का उद्योग कर रहा हूँ।

(२)

लहरपुर, सीतापुर, से श्री सोहनलाल वर्मा लिखते हैं—

जनवरी की 'सरस्वती' में श्रीराम शर्मा जी की "जी० एन० सिंह और लिप्सी" नामक एक मनोरञ्जक कहानी छपी है। शर्मा के हिन्दी-भाषा के लेख में अँगरेज़ी-भाषा के ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनसे केवल देशी भाषा के ज्ञाता भिज्ञ नहीं हैं, कोई औचित्य नहीं रखता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग जैसे कमीज़, टाई, कालर आदि तो उचित है, परन्तु ऐसे शब्द जैसे रिमार्क, यूनियन, लायन्स, रेस्ट्राँ, सरकंफ़्रेंस, वेट्रेस, "फ़्राइड पोटेटोज़, पीज़, कार्न फ़्लावर," म्यूज़िक, इवोल्यूशन आफ़ स्पेसीज़, डिसेंट आफ़ मैन, हिस्टारिकल मेटेरियलिज़्म, क्यूरियासिटी और क्राइसिस इत्यादि का प्रयुक्त होना सर्वथा त्याज्य होना चाहिए। इन शब्दों के प्रयोग से केवल उन लोगों को आनन्द आ सकता है जो इनके अर्थ भले प्रकार समझते हैं।

(३)

बनारस से श्री शान्तिप्रिय जी लिखते हैं—

फ़रवरी के अंक में प्रकाशित मेरी 'जीवन-संगीत' कविता में अंतिम चार लाइनों की दूसरी पंक्ति में 'सम्मिलन' की जगह 'सम्मेलन' होना चाहिए।

जाग्रत महिलायें



हिन्दुस्तान में स्त्री-शिक्षा

श्रीमती गिरजा निगम, विदुषी



हिन्दुस्तान जैसे देश में पुरुष-शिक्षा की अपेक्षा स्त्री-शिक्षा का अभाव है। इस लेख से पाठकों को यह मालूम होगा कि भारतवर्ष में आज-कल स्त्री-शिक्षा की स्थिति क्या है। स्त्री-जाति के शिक्षित या अपढ़ होने पर ही देश का भविष्य निर्भर है। देश के भविष्य के हित में स्त्रियों का शिक्षित होना उतना ही ज़रूरी है जितना कि पुरुषों का शिक्षित होना है। ब्रिटिश हिन्दुस्तान की जन-संख्या १९२९ में २४,७३,२७,९४६ थी, जिसमें से लगभग आधी संख्या स्त्रियों की थी।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के स्कूल और कालेज बहुत कम हैं। नीचेवाले नक़शे से यह पता लग जायगा कि पिछले छः-सात सालों में (१९२३-२४ से १९२८-२९ तक) लड़कियों के कितने स्कूल या कालेज सारे हिन्दुस्तान में थे।

	१९२३-२४	१९२४-२५	१९२५-२६	१९२६-२७	१९२७-२८	१९२८-२९
कालेज ...	१४	१६	१९	१९	१९	१९
हाई स्कूल ...	२३७	२३६	२३८	२११	२६६	२७८
अँगरेज़ी मिडिल स्कूल ...	२५७	२५२	२७५	२९०	२९५	३१४
हिन्दी मिडिल स्कूल ...	३९१	४४६	४५७	४३२	४१७	४२९
प्राइमरी स्कूल ...	२३,५८३	२४,६७७	२५८१४	२६६८२	२८६५१	३०३०२

ऊपर के नक़शे से यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि कालेज बहुत धीरे धीरे खुले हैं। हर १५ हाई स्कूल के बीच में एक कालेज है। हाई स्कूल अँगरेज़ी मिडिल स्कूलों की संख्या के ८८ प्रतिसैकड़ा हैं। अँगरेज़ी मिडिल

स्कूलों की संख्या हिन्दी मिडिल स्कूलों की संख्या की तीन चौथाई है। हर ७० प्राइमरी स्कूलों के बीच में एक हिन्दी मिडिल स्कूल है।

नीचेवाले नक़शे से यह मालूम होगा कि इन स्कूलों और कालेजों में कितनी लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करती हैं।

	१९२३-२४	१९२४-२५	१९२५-२६	१९२६-२७	१९२७-२८	१९२८-२९
कालेज ...	१६२२	१८०७	१८८१	१९३३	२०९९	२२८०
हाई स्कूल ...	४४१७०	४७२९०	५१५६०	५४८२६	६२७७६	६९५४९
अँगरेज़ी मिडिल स्कूल...	३१०११	३१६३०	३४,८००	३६६०५	३६८६७	४०५६५
हिन्दी मिडिल स्कूल ...	७०७३४	६९१५३	८७४२४	९३४१६	९९३६५	१०१५०९
प्राइमरी स्कूल ...	६२६४८१४	१३२४००२	१४३४६३९	१५४९२८१	१६८१४१४	१८०००७३

इससे यह पता चलेगा कि १९२७-२८ में प्राइमरी स्कूलों में १६,८१,४१४ लड़कियाँ थीं, जिनमें से १,०१,५०९ लड़कियाँ हिन्दी मिडिल तक १९२८-२९ में पहुँचीं। केवल ६ प्रतिसैकड़ा आगे बढ़ सकीं। १५,७९,९०५ लड़कियाँ या तो फ़ेल हो गईं या पढ़ना छोड़ दिया। १९२७-२८ में हिन्दी मिडिल स्कूलों में ९९,३६५ लड़कियाँ थीं, जिनमें से अगले साल ४०,५६५ लड़कियाँ अँगरेज़ी मिडिल स्कूलों में पहुँचीं। शेष ४८,८०० लड़कियाँ पीछे रह गईं। इस प्रकार केवल ४० प्रतिसैकड़ा लड़कियाँ हिन्दी मिडिल स्कूल से अँगरेज़ी मिडिल स्कूल तक पहुँचती हैं। अँगरेज़ी मिडिल स्कूलों की अपेक्षा हाई स्कूलों में अधिक लड़कियाँ हैं। १९२७-२८ में हाई स्कूलों में ६२,७७६ लड़कियाँ थीं, जिनमें से ६२,७७६ कालेज में शिक्षा प्राप्त करने गईं। इस प्रकार केवल ३·८ प्रति सैकड़ा लड़कियाँ कालेजों में जाकर शिक्षा प्राप्त करती हैं।

नीचे दिये हुए नक़शे से यह पता लगेगा कि एक स्कूल तथा कालेज में १९२८-२९ में कितनी लड़कियाँ थीं।

कालेज	१२०
हाई स्कूल	२५०
अँगरेज़ी मिडिल स्कूल	१३०
हिन्दी मिडिल स्कूल	२३६
प्राइमरी स्कूल	६०

यह बहुत संभव है कि लोग समझते हों कि हिन्दुस्तान में बहुत-सी लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करती हैं। परन्तु यदि स्त्री-संख्या पर ध्यान दिया जाय तो साफ़ मालूम हो जायगा कि स्त्री-शिक्षा बहुत कम प्रचलित है। यह बात नीचे लिखे हुए नक़शे से मालूम हो जायगी।

	स्त्री-संख्या का अंश जो शिक्षा प्राप्त करती हैं
१९२३-२४	१·१९
१९२४-२५	१·२४
१९२५-२६	१·३५
१९२६-२७	१·४६
१९२७-२८	१·५८
१९२८-२९	१·६९

हिन्दुस्तान में स्त्री-शिक्षा का कितना अभाव है, यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से साफ़ प्रकट हो जाता है। अतएव इस ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि स्त्री-शिक्षा पर ही राष्ट्र का भविष्य निर्भर है।



प्राचीन भारतीय संस्कारों की एक झलक

प्राचीन भारत की संस्कृति की बातें अब अख़बारों की बातें होती जाती हैं। अभी हाल में उदयपुर के महाराणा साहब दिल्ली गये थे। संयोगवश उनकी जन्मतिथि इस प्रवास-काल में पड़ गई, अतएव उसकी सारी प्रक्रिया उन्हें दिल्ली में ही सम्पन्न करनी पड़ी। उसका रोचक वर्णन दिल्ली के 'नवयुग' में श्री राधाकृष्ण भिषगाचार्य ने किया है—

प्राचीन हिन्दू राजा किस प्रकार वैदिक रीत्यनुसार अपने धार्मिक और राजकीय कृत्यों को सम्पन्न करते थे, उसका मूर्तिमान् दृश्य वर्तमान महाराणा साहब का जन्मोत्सव था। आज तक ऐसा वैदिक कर्मकाण्ड और राजकीय ठाठबाट-सहित बृहत् धार्मिक कार्य किसी हिन्दू नृपति-द्वारा दिल्ली में नहीं हुआ। दिल्ली-निवासियों के लिए वास्तव में वह दृश्य अभूतपूर्व ही था।

ज्योतिषशास्त्र और वास्तुशास्त्र-द्वारा दिक् साधन किया जाकर महाराणा साहब के निज हस्त-प्रमाण से बारह हाथ की वर्गात्मक यज्ञशाला बनवाई गई, उसमें नियमानुसार छः वर्गात्मक मृत्तिका-निर्मित वेदियाँ बनीं। यज्ञशाला के मध्य वेदी पर अग्निस्थापन की गई, ईशान-कोण में नवग्रह-सहित रुद्रकलश की स्थापना, पूर्व-दिशा में मार्कण्डेय-स्थापना तथा ताजिक-शास्त्रानुसार निर्मित वर्षफल-पूजन, अग्निकोण में मात्रिका-स्थापन, दक्षिण में ब्रह्मदेव की स्थापना एवं दान-सामग्री नैॠत्य-कोण में वास्तु के अधिदेव विश्वकर्मा की स्थापना और वायुकोण में षोडश योगिनी की स्थापना की गई। इस सुन्दर मण्डप में राजकीय ज्योतिषी, पंडित, कर्मात्री, वेदिये और कुशांडी-सहित पुरोहित जी द्वारा प्रारम्भिक यज्ञ कार्य हुआ, पश्चात् ठीक १० बज कर २७ मिनट पर श्रीमान् महाराणा साहब यज्ञशाला में पधारे, अग्निपूजन, द्रोण-दान, मार्कण्डेय-पूजन आदि करके रक्षिका धारण की। पश्चात् श्रीफल-द्वारा पूर्णाहुति दी गई। पुरोहित जी द्वारा ग्रह-पूजन होकर नित्य ग्रह-दान हुआ। इसके अनन्तर सात विशेष दान दिये गये।

यह दान-प्रणाली भी दर्शनीय थी। दानपात्रों को उन उन ग्रहों के अनुसार रंजित वस्त्र पहनाकर उन्हें ग्रह-रूप समझकर श्रद्धासहित गजदान, अश्वदान, गोदान, नीलदान, रक्त वृषभ-दान, महीषिदान, और छागदान दिये। यह सहस्रों रुपयों का दान भिन्न भिन्न सुयोग्य विद्वान् पण्डितों और निर्धन विद्यार्थियों को दिया गया।

क्या भूकम्प हमारे पापों का फल है?

इस सम्बन्ध में नव प्रकाशित 'अभ्युदय' अपने प्रथम अंक में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी जी के मतों को इस प्रकार स्पष्ट करता है—

कुछ दिन हुए महात्मा जी ने दक्षिण भारत में अपने एक व्याख्यान में कहा था कि बिहार का भूकम्प छुआ-छूत के पाप का फल है। इस कथन का विरोध करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक वक्तव्य के सिलसिले में जो कुछ कहा उसका सार नीचे हम 'आज' से देते हैं—

'महात्मा जी को ऐसा कहते देख मुझे आश्चर्य हुआ।......इस भयानक ईश्वरीय कोप के लिए बिहार के कुछ हिस्से क्यों चुने गये?......यदि यह माना जाय कि भारत के अन्य सब भागों में किये गये अस्पृश्यता-सम्बन्धी पापों के कारण बिहार के कुछ हिस्से ईश्वर ने

ध्वंस कर दिये तो यह स्वीकार करना होगा कि ईश्वरीय न्याय से मनुष्य ही का न्याय अच्छा है ।...... यह भी प्रत्यक्ष है कि इतिहास में बराबर घोर से घोर पाप होते रहे हैं ।......इन पापों से और पृथ्वी की स्थिति और संहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे पापों का इतना महत्त्व नहीं हो सकता कि उससे सृष्टि नष्ट हो जाय। इस प्रकार के असङ्गत तर्क तो महात्मा जी के विरोधी कट्टर लोग कर सकते हैं कि यह ईश्वरीय कोप उनके प्रचार के कारण ही इस समय हुआ।'

इसका उत्तर महात्मा जी ने 'हरिजन' में एक लेख-द्वारा दिया है। उसका शीर्षक है—अन्ध विश्वास बनाम विश्वास। उसके अन्तर्गत महात्मा जी ने जो कहा है उसका एक उद्धरण हम नीचे देते हैं—

मेरे गुरुदेव का कहना है कि हमारे पापों के कारण यह सृष्टि नष्ट नहीं हो सकती, किन्तु इसके विपरीत मेरा यह विश्वास है कि हमारे पापों में इस सृष्टि को मिटाने की प्राकृतिक नियमों से कहीं अधिक शक्ति है। मेरे लिए प्राकृतिक घटना और मानवीय व्यवहार का सम्बन्ध एक जीता-जागता विश्वास है जो कि मुझे मेरे भगवान् के अधिक निकट पहुँचाता है, मुझे विनम्र बनाता है और मुझे उसके मुक़ाबिले के लिए अधिक तैयार करता है। अगर अज्ञानवश मैंने अपने विरोधियों को सज़ा देने के लिए ऐसा कुछ किया तो यह विश्वास मेरा पतनकारी एक अन्धविश्वास समझा जायगा।

रेलवे के अन्नदाता

बहुत दिन हुए महात्मा गान्धी ने रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे के यात्रियों की कठिनाइयों के सम्बन्ध में आवाज़ उठाई थी। परन्तु रोग को असाध्य समझकर कदाचित् महात्मा जी भी चुप हो गये। अभी हाल में असेम्बली में रेलवे-बजट पर बहस होते समय कुछ सदस्यों ने तीसरे दर्जे के यात्रियों की भी याद की थी। उसी सम्बन्ध में 'अर्जुन' इस तरह लिखता है—

यदि न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो तीसरे दर्जे के मुसाफ़िर ही रेलवे-विभाग के अन्नदाता हैं, रेलवे-विभाग की आय का अधिकांश तीसरे दर्जे के टिकटों से ही प्राप्त होता है। इसे संसार की कृतघ्नता का ही एक प्रमाण समझना चाहिए कि रेलवे-विभाग अपने अन्नदाताओं के आराम की ओर बहुत ही कम ध्यान देता है।

तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों की शिकायतों की कोई सीमा नहीं। वर्षों से उन शिकायतों को दुहराया जा रहा है, परन्तु कोई सुनवाई नहीं होती। तीसरे दर्जे के दरवाज़े में घुसते ही मुसीबतों का सामना हो जाता है। वही लोग टिकट ख़रीद सकते हैं जो या तो दूसरों को धक्का देकर आगे जा सकें या बाबू की भेंट-पूजा कर सकें।

तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के लिए स्टेशन का गेट तब खुलता है, जब गाड़ी का समय हो गया है। बेचारे बुरी तरह भागते हैं, गिरते-पड़ते गाड़ी पर चढ़ते हैं।

गाड़ी में चढ़ कर भी उन्हें आराम कहाँ। डिब्बे में ८ का स्थान है, पर १५ आदमी चढ़ जायँगे। रेलवे-वाले इतनी भीड़ को देखते हुए भी कभी यह आवश्यक नहीं समझते कि अधिक डिब्बे लगा कर भीड़ को छाँट दें। गाड़ी के अन्दर तीसरे दर्जे के यात्रियों को कुछ कम कष्ट नहीं है। बैठने की जगह इतनी कम चौड़ी है कि आदमी लेट कर करवट नहीं पलट सकता। प्रायः देखा गया है कि तीसरे दर्जे के कमरे के साथ की टट्टियों में पानी का अभाव रहता है। शिकायत करने पर गार्ड लोग ध्यान नहीं देते। इतनी बेआरामी होने पर भी किराये कुछ कम नहीं हैं। और सब वस्तुएँ सस्ती हो गईं, परन्तु दो-एक कम्पनियों को छोड़कर, रेलवे की शेष कम्पनियों ने टिकटों के किराये नहीं घटाये।

आश्चर्य यह है कि जहाँ रेलवेवाले पहले और दूसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के आराम के लिए कुछ न कुछ करते रहते हैं, वहाँ वे तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों की ओर कभी ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि प्रायः सभी प्रान्तों

में लारी ने रेल को परास्त कर दिया है। गरीब आदमी रेल की अपेक्षा मोटर में जाना अधिक पसन्द करने लगे हैं।

जापान क्यों चमक रहा है ?

जापान की गिनती संसार की सात प्रधान महा-शक्तियों में है। रूस और संयुक्त राज्य जैसे प्रबल राष्ट्र उससे शंकित रहते हैं। व्यापार में भी वह सभी उद्योग-धन्धेवाले राष्ट्रों में बढ़ गया है। 'वर्तमान' में संसार-यात्री लाला रामरतन जी गुप्त लिखते हैं—

किसी देश की उन्नति के लिए शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है। जापान में शिक्षा का अभाव नहीं। प्रत्येक बालक अथवा बालिका को शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है।

जापान में स्त्रियां तथा लड़के-लड़कियां भी कारख़ानों में दिल लगाकर काम करती हैं। यहाँ पर मज़दूरों को कार्य करने की शिक्षा अलग दी जाती है। उनके गुण-दोष उनके सामने रखे जाते हैं, दोष दूर करने के उपाय बतलाये जाते हैं। यहाँ के बैंक कारख़ानों के मालिकों को हर प्रकार की सुविधायें देते हैं। सरकार भी मुनाफ़े पर कर बहुत कम लगाती है। मुनाफ़े पर ३ प्रतिशत से लेकर ५ प्रतिशत तक कर लगाया जाता है। रेलवे ने भी हर प्रकार की सुविधायें दी हैं। ३७५ मील तक एक मन सामान ले जाने के लिए केवल ५० सेंट हैं। (दो सेंट एक पैसे के बराबर होता है) यही हालत जहाज़ों की भी है। जापान से १ टन सामान का महसूल भारतवर्ष तक के लिए केवल १३ पेन है। (१ पेन = १३ आने) यही हिसाब तार, मोटर इत्यादि का है। बिजली क़रीब क़रीब कारख़ानों को मुफ़्त मिल जाती है। कोयला ८ पेन का १ टन मिलता है। इसी तरह से सब चीज़ें सस्ती हैं। यहाँ के कारख़ानों में प्रायः लड़कियाँ काम करती हैं। शहरों में मज़दूरों को कारख़ानों की तरफ़ से कपड़ा, खाना तथा रहने के लिए मकान मुफ़्त मिलते हैं। एक लड़की ३० से ३६ लूम (करघा) तक की देख-भाल करती है। एक लूम ७० गज़ माल तैयार करता है। मज़दूर लोग १० तथा १२ घण्टे काम करते हैं।

स्पिनिंग मिल में एक लड़की ४०० से ५०० स्पिंडिल तक की देखभाल करती है। रोज़ नये नये आविष्कार होते रहते हैं। बोनस भी काम करनेवालों को काफ़ी मिलता है। कच्चे माल के ऊपर किसी तरह का महसूल नहीं लगता है।

भारतीयों के प्रति अन्याय

पूर्वी अफ़्रीका में ब्रिटिश-सरकार के केनिया, टागानीका और उगन्डा नामक तीन उपनिवेश हैं। इन तीनों उपनिवेशों में भी भारतीय प्रवासी निवास करते हैं। अन्य उपनिवेशों की तरह यहाँ भी प्रवासी भारतीयों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में 'भारत' लिखता है—

यहाँ के आदिम निवासी अपने खेतों की पैदावार प्रायः भारतीय दूकानदारों ही के हाथ बेचते रहे हैं, अतः देश की फुटकर दूकानदारी प्रायः भारतीयों ही के हाथों में है। परन्तु, मालूम होता है, अब गोरे अधिकारियों को यह बात भी असह्य होने लगी है।

सन् १९३२ से टागानीका की सरकार ने एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया है। इसके अनुसार सरकार किसी विशेष भाग के आदिम निवासियों की पैदावार के ख़रीदने का एक-मात्र अधिकार किसी एक व्यक्ति या कम्पनी को दे सकती है। इस आर्डिनेन्स का क्या परिणाम होगा, यह तो स्पष्ट ही है। पहली बात तो यह है कि जब अनेक ख़रीदारों के बजाय केवल एक लाइसन्सदार ख़रीदार रह जायगा, तो बेचारे आदिम निवासियों को अपनी वस्तु का उचित मूल्य नहीं मिलेगा। दूसरी बात यह है कि अब तक यह व्यापार भारतीयों के हाथों में था, परन्तु सरकार लाइसन्स गोरों को देकर यह व्यापार भी भारत-वासियों से छीन कर गोरों के हाथों में दे सकती है। इस तरह बेचारे भारतवासियों का रोटी कमाने का एक मुख्य साधन उनसे छिन जायगा। केवल भारतवासियों ही

को यह भय नहीं है, उपनिवेशों की अवस्था के सबसे बड़े विशेषज्ञ, दीनबन्धु एंड्रूज़ ने भी यही आशंका प्रकट की है।

यह स्वाभाविक ही है कि आर्डिनेन्स जारी होने पर भारतवासियों ने उसका विरोध किया। परन्तु न तो गवर्नर ही के यहाँ उनकी सुनाई हुई और न ब्रिटेन के उपनिवेश-मंत्री ही के यहाँ। आर्डिनन्स केवल जारी ही नहीं रहा, बल्कि कुछ समय पश्चात् उगन्डा की सरकार ने भी, टागानीका की देखा-देखी, वैसा ही आर्डिनेन्स जारी कर दिया। अब सुनते हैं कि केनिया में भी ऐसा ही आर्डिनेन्स जारी होनेवाला है। मालूम नहीं हमारी भारत-सरकार का ध्यान अभी इस ओर आकृष्ट हुआ है या नहीं।

नमक और सरकारी व्यवस्था

भारत को नमक भी बाहर का ही खाना पड़ता है। वह अब अपना काम भर चलाने के लिए नमक भी नहीं बना सकता। बंगाल, आसाम तथा बिहार और उड़ीसा को छोड़ कर भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में नमक बनता रहा है। परन्तु सन् १८३५ से ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने से यहाँ बाहर का नमक आने लगा। यद्यपि सरकार भी चाहती है कि भारत को बाहर से नमक न मँगाना पड़े, तथापि वह अभी तक भारत को इस सम्बन्ध में समर्थ नहीं बना सकी है। अतएव लोक-प्रतिनिधि यह चाहते हैं कि भारत के नमक के धन्धे को संरक्षण प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में 'मरहठा' में बम्बई के श्री पी० आर० लेले महोदय ने एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने इस धन्धे को संरक्षण दिये जाने के प्रश्न पर समुचित प्रमाण देकर विचार किया है। उनका कहना है—

केवल कलकत्ता और चटगांव के बन्दरगाहों से ही विदेशी नमक भारत में अधिक परिमाण में आता है। विदेशी नमक की सबसे ज़्यादा खपत भी बङ्गाल और बिहार में ही होती है जैसा कि नीचे के अंकों से प्रकट होता है—

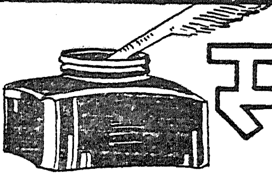
किस प्रान्त में	अप्रेल १९३२ से मार्च १९३३ तक
बंगाल	४,६२,२०२ टन
बम्बई	१६० ,,
सिन्ध	६३ ,,
मदरास	८० ,,
	४,६२,५०५ टन

यदि भारत के नमक के धन्धे को सरकारी संरक्षण प्राप्त हो जाय तो वह इस माँग की पूर्ति आसानी से कर सकता है। और ऐसा होना बंगाल और बिहार को भी अरुचिकर न होगा। असेम्बली में वहाँ के प्रतिनिधियों ने भी इस प्रस्ताव का स्पष्ट शब्दों में अनुमोदन किया है। परन्तु सरकार के ध्यान में यह बात नहीं आई। यही नहीं, सन् १९३१ में उसने विदेशी नमक पर साढ़े चार आने फ़ी मन के हिसाब से जो चुंगी लगाई थी उसमें भी अब उसने कमी कर दी है साथ ही देशी नमक का मूल्य भी बढ़ा दिया है जैसा कि निम्न अंकों से प्रकट होता है—

सरकारी कारख़ानों में प्रतिमन का मूल्य

स्थान	१९२७	१९२८	१९२९	१९३०	१९३१
साँभर	०-४-३	०-४-३	०-४-८	०-५-०	०-५-०
डिडवाना	०-२-०	०-२-६	०-२-१०	०-३-३	०-३-३
पंचभद्रा	०-३-३	०-३-३	०-३-८	०-४-०	०-४-०
खेवरा	०-३-६	०-३-६	०-४-०	०-६-६	०-४-६
कालाबाग़	०-३-६	०-३-६	०-४-०	०-४-६	०-४-६
वरेहा	०-३-६	०-३-६	०-४-०	०-४-६	०-४-६

यदि सरकार देशी नमक के व्यवसाय को समुचित संरक्षण प्रदान कर उसके व्यवसाय के समुन्नत होने की पूर्ण सुविधा कर दे तो भारत को बाहर से नमक न मँगाना पड़े। परन्तु इसकी आशा करना समय सापेक्ष्य ही है।



सम्पादकीय नोट

संसार की गति



ज्यों गत महायुद्ध की भयङ्करता विस्मृति की ओट होती जाती है, संसार अपनी पूर्व-स्थिति को प्राप्त होता जाता है। विश्वशान्ति और निःशस्त्रीकरण की बातें कोरी की कोरी बातों का ही रूप धारण करती जाती हैं। अब सभी शक्तिशाली राष्ट्र अपने हितों को पहले देखते हैं, उसके बाद संसार के हित की ओर दृष्टि डालते हैं। यह स्वाभाविक भी है। ऐसी दशा में राष्ट्र-संघ और निःशस्त्रीकरण जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का महत्त्व कैसे स्थिर रह सकता है?

बात यह हुई है कि फ्रांस ने अपनी राजनैतिक पटुता से राष्ट्र-संघ में प्रभुता प्राप्त कर ली है। योरप के प्रायः सभी नये राष्ट्र उसके गुट में हो गये हैं और यह दलबन्दी अन्य राष्ट्रों के लिए कैसे हितकर सिद्ध हो सकती थी। वही परिणाम हुआ जो होना चाहिए। निःशस्त्रीकरण की कान्फ़रेंस बुरी तरह से फ़ेल हुई, साथ ही राष्ट्र-संघ की भी प्रतिपत्ति जाती रही। यद्यपि ग्रेट-ब्रिटेन और इटली अब भी इस बात के प्रयत्न में हैं कि निःशस्त्रीकरण अवश्य होना चाहिए और राष्ट्र-संघ का भी महत्त्व बना रहे। इटली के मुसोलिनी ने इसी विचार से राष्ट्र-संघ में सुधार करने का प्रस्ताव किया है। और ग्रेट-ब्रिटेन ने भी निःशस्त्रीकरण के लिए हाल में एक नई योजना उपस्थित की है। कुछ लोगों को आशंका है कि ऐसे उपयोगी प्रस्ताव कई बार पहले भी आ चुके हैं और ऐसे सब प्रयत्न व्यर्थ हुए हैं। अतएव इनका भी वही हाल होगा।

वास्तव में बात यह है कि कुछ राष्ट्र युद्धसमाप्त होने के बाद से जैसे के तैसे ही युद्ध-सज्जा से सज्जित ही भर नहीं हैं, किन्तु दिन दिन अधिक प्रबल भी होते जा रहे हैं। फ्रांस, रूस, पोलेंड, बेलजियम, ज़ेचोस्लोवेकिया, जुगोस्लेविया, रूमानिया, तुर्की आदि सेना और युद्ध-सामग्री से सब प्रकार पूर्ण हैं और इधर निःशस्त्रीकरण की समस्या सुलझ नहीं रही है। तब यह अवस्था उनके हित का विघातक होगी जो अभी तक सन्धि हो जाने के बाद से अपने सामरिक बल को प्रबल बनाये रखने से विरक्त थे। अतएव उन्होंने भी लाचार होकर इस अवस्था की ओर ध्यान दिया है और अब वे अपना सामरिक बल बढ़ाने को यत्नवान् हुए हैं। जैसे महायुद्ध के पहले सभी योरपीय राष्ट्र अपने जल, स्थल तथा आकाश-सम्बन्धी सामरिक बल बढ़ाने में संलग्न हुए थे, उसका सूत्रपात फिर वैसे ही वेग और उत्साह से शुरू हो गया है। और इस मार्ग के पथिक ब्रिटेन और अमरीका के संयुक्त-राज्य भी हुए हैं। यही नहीं, पूर्ववत् राजनैतिक दावँ-पेंच भी चलने लगे हैं और नये नये गुटों के बनने का भी सूत्रपात हो गया है। ऐसी दशा में राष्ट्र-संघ तथा निःशस्त्रीकरण कान्फ़रेंस अपना महत्त्व कैसे प्रकट कर सकते हैं? इस अवस्था ने तो इन दोनों संस्थाओं को निस्सत्व कर दिया है। और यह योरप ही नहीं, सारे संसार के लिए बुरा हुआ है। योरप की क्या, संसार की यह नई अवस्था भीषण नरसंहार का कारण होगी। जब सभी राष्ट्र अपने अस्त्र-शस्त्र सँभालेंगे और गुटबन्दी के कुचक्र रचेंगे तब युद्ध भी होगा। इसी लिए रोम के पोप महोदय ने राष्ट्रों को सावधान किया है। उन्होंने साफ़ कह दिया है कि यदि लड़ेंगे तो इस बार के युद्ध में योरपीय सभ्यता का विनाश हो जायगा।

परन्तु योरप अपने इस प्रधान धर्माध्यक्ष के सत्परामर्श की ओर अब कैसे ध्यान दे सकता है जब वह परिस्थितियों के वशीभूत होकर सशस्त्र रहने को बाध्य है ?

मिस्र की दशा

मिस्र की अवस्था में सुधार होने के स्थान में और भी अव्यवस्था आ गई है। अतएव परिस्थिति को क़ाबू में रखने के लिए, जान पड़ता है, अँगरेज़-सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। इसी जनवरी में सर माइल्स लैम्पसन ने मिस्र के हाई कमिश्नर का पदभार ग्रहण किया है। अभी तक आप चीन में थे। आशा है, आप मिस्र की अवस्था के सँभाल लेने में समर्थ होंगे।

सन् १९३० में वफ़दद्लवाले अँगरेज़-सरकार से सन्धि नहीं कर सके। साथ ही उन्होंने अपने बादशाह के कतिपय अधिकारों का भी विरोध किया। फलतः बादशाह फ़ुआद ने इस्माइल सिदकी पाशा को मन्त्री बनाया। इन्होंने आकर १९२३ के शासन-विधान को स्थगित कर दिया। कुछ महीनों के बाद इन्होंने एक नया विधान उपस्थित किया। इसके द्वारा सरकार को पार्लियामेंट पर अधिक अधिकार प्राप्त हो गया। इस नये विधान के अनुसार नया चुनाव हुआ और सरकार के पक्षपाती अधिक संख्या में चुने गये। शासन-व्यवस्था चल निकली। परन्तु सिदकी पाशा का शासन एक व्यक्ति का शासन हो गया। पार्लियामेंट के दोनों भवन उनकी सरकार-द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था पर सही भर कर देते थे। ऐसी अवस्था में अनेक बुराइयों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। यद्यपि दूर से यही जान पड़ता है कि शासन-चक्र यथाविधि चल रहा है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। सिदकी पाशा को तीन वर्ष के बाद अस्वस्थ हो जाने से अलग हो जाना पड़ा है और अब शासन-व्यवस्था बादशाह-द्वारा नियुक्त मन्त्रिमंडल के हाथ में है। बादशाह की यह नई व्यवस्था यद्यपि नियम-विरुद्ध है, तथापि इसका किसी ने विरोध नहीं किया है। इस नई व्यवस्था से मिस्र का १९२३ वाला शासन-विधान हवा हो गया है और वहाँ एक प्रकार से फिर सुल्तानशाही क़ायम हो गई है और उसके साथ ही उसके सारे गुण-दोष भी अस्तित्व में आ गये हैं। परन्तु इस अवस्था को न तो वहाँ का राष्ट्रीय दल सहन कर सकेगा और न ब्रिटिश-सरकार ही। कम से कम ब्रिटिश-सरकार को तो शान्ति और व्यवस्था की रक्षा की दृष्टि से अवश्य ही हस्तक्षेप करना पड़ेगा। देखें, नये हाई कमिश्नर मिस्र की समस्याओं को किस तरह निपटाते हैं।

बिहार का भूकम्प

अकाल और महामारी जैसी भीषण दैवी आपदाओं से भारत का पहले से ही गठबन्धन था, पर अब जान पड़ता है कि वह भूकम्प से भी नाता जोड़ना चाहता है। उन दोनों महाव्याधियों से भारत पहले से ही खोखला हो चुका था, अब बिहार के इस भूकम्प से वह अपने एक श्रेष्ठ अंग से रहित-सा हो गया है। इस आकस्मिक विपत्ति ने दो मिनट में जो विनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया है उसकी इस देश में स्वप्न में भी कल्पना नहीं हो सकती थी।

ख़ैर, बिहार के इस भीषण विनाश ने यह बात और भी स्पष्ट कर दी है कि भारतीय दैवी आपदाओं के संकटों का सामना करने में कितना असमर्थ हैं! अकाल और महामारी के प्रकोप के समय वे जितना विपन्न हो जाते हैं उससे कहीं अधिक वे इस प्रलयकाल में हो गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है और न इसी में उतना आश्चर्य है कि हमें पूरे एक हफ़्ते बाद ही वहाँ की वास्तविक अवस्था का ज्ञान हो सका। निस्सन्देह अब बिहार की सहायता के लिए सारा देश टूट पड़ा है, यहाँ तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे लोकनेता तक ने फावड़ा उठा लिया है।

भारतीय अपने को बीसवीं सदी का एक जीवित राष्ट्र होने का स्वाभिमान व्यक्त करते रहते हैं। बिहार की तत्क्षण सहायता न करके हमने यही व्यक्त किया है कि वह स्वाभिमान कोरा स्वाभिमान ही साबित हुआ।

हमारी यह कमी हमें इस बार की भूल से सावधान कर रही है कि देशवासियों को ऐसे अवसरों पर कितनी तत्परता और शीघ्रता से लोकसेवा के काम पर आ डटना चाहिए। ऐसे संगठन की देश में सबसे अधिक ज़रूरत है जिससे अकाल, महामारी, भूकम्प जैसी दैवी दुर्घटनाओं के समय जल्दी से जल्दी और ज़्यादा से ज़्यादा सहायता पहुँचाई जा सके। यह सन्तोष की बात है कि भारतीय और भारत-सरकार दोनों इस समय और सब काम छोड़-छाड़ कर एक-मात्र बिहार के पीड़ितों, आहतों आदि की उपयुक्त सेवा करने में लगे हुए हैं।

ओड़छा-नरेश का हिन्दी-प्रेम

ओड़छा-नरेश सवाई महेन्द्र महाराज श्रीमान् वीरसिंहदेव जी का हिन्दी से विशेष अनुराग है। उनके राज्य का सारा काम-काज प्रजा की मातृभाषा हिन्दी में ही होता है। परन्तु महाराज साहब का हिन्दी की कविता से विशेष अनुराग है। वहाँ की 'वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद्' श्रीमान् के ऐसे ही अनुराग का परिणाम है। इस संस्था की ओर से वसन्त-पञ्चमी के अवसर पर वहाँ एक कवि-सम्मेलन होता है, जिसमें बाहर के भी कवि बुलाये जाते हैं। उस कार्यवाही में महाराज साहब बड़े उत्साह से भाग लेते हैं और आये हुए कवियों का समुचित रूप से आदर-सम्मान करते हैं। द्विवेदी-अभिनन्दन के अवसर पर गत वर्ष महाराज साहब ने दो हज़ार रुपये के 'देव-पुरस्कार' के देने की घोषणा की थी। इस बार उसके नियमों की घोषणा की गई है। यह पुरस्कार प्रतिवर्ष बारी बारी से ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली की उत्कृष्ट कविता-पुस्तक पर दिया जाया करेगा। यद्यपि यह पुरस्कार 'कविता' पर ही दिया गया है, तथापि इससे हिन्दी का कम महत्त्व नहीं बढ़ेगा। महाराज साहब के इस सत्कार्य का प्रभाव दूसरे नरेशों तथा रईसों पर भी पड़ेगा और कुछ ही दिनों में अन्य विषयों पर भी ऐसे ही पुरस्कार दिये जाने का आयोजन होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि ओड़छा-नरेश का यह सत्कार्य हिन्दी के उत्कर्ष का कारण



[हिज़ हाइनेस श्रीमत्सवाई महेन्द्र महाराज वीरसिंह जू देव ओड़छा सरामद राजहाय बुन्देलखण्ड।]

होगा, और इस कार्य के लिए श्रीमान् का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके पूर्वजों की ही भाँति प्रशंसा के साथ याद किया जायगा।

सनातन-धर्म के नाम पर

पिछली 'दयानन्द-अर्द्ध-शताब्दी' के अवसर पर 'आर्य-समाज' के सम्बन्ध में 'सरस्वती' में एक लेख

निकला था। उसमें कहा गया था कि आर्य-समाज मुसलमान-संस्कृति की देन है, जिससे उसमें कट्टरता तथा महन्तगीरी ने जड़ जमा ली है। उस लेख के प्रकाशित होने पर 'समाज' के एक पत्र ने लेखक के साथ ही सम्पादक को भी खूब डाँट बताई थी। परन्तु बाद को जब वही आक्षेप 'अर्जुन' आदि पत्रों ने 'समाज' पर किये तब किसी ने कुछ नहीं कहा। अन्त में शताब्दी-उत्सव ने उक्त स्थिति को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि 'समाज' में भी एक ऐसा नवयुवकों का दल है जो उसकी 'गुरुडम' लीला से आकुल हो उठा है। कहने का मतलब यह है कि इस समय सारे भूमण्डल में विचार-क्रान्ति मची हुई है और भारत उससे बाहर नहीं है। परन्तु यहाँ के दकियानूसी सम्प्रदाय इस ओर दृष्टिपात तक नहीं करते और अपने नँगनच से अपने को ही उपहास्य बना रहे हैं। इस समय इस मार्ग में 'सनातन-धर्मी' सबसे आगे हैं—वे सनातन-धर्मी, जिनका 'सनातन-धर्म' उनकी रुचि-व्यञ्जक कल्पना की अतिशयता के सिवा कुछ नहीं है अथवा जो अनेक विचारों का खिचड़ी धर्म है। ऐसे धर्म के कुछ धर्मी बीस करोड़ सनातनियों के नाम पर इस समय जो बावेला मचाये हुए हैं वह जघन्य और घृणित कुछ मुट्ठी भर दकियानूसियों को यह अधिकार कदापि नहीं प्राप्त हो सकता कि वे कुछ धनिकों के प्रलोभन देने पर हरिजन-आन्दोलन जैसे महान् सुधार के कार्य का बीस करोड़ सनातनियों के नाम से विरोध करें। यह सब पर प्रकट है कि ये आन्दोलन-कारी स्वयं 'सनातनधर्मी मण्डलों' में कितने नगण्य हैं तथा उनका सङ्गठन कितना अनीति-मूलक है। यदि सनातन-धर्म कोई एक धर्म होता तो क्या मजाल थी कि उसके नाम का इस तरह दुरुपयोग होता। पर जब यहाँ भीतर ही पोल है तब क्या कहा जाय?

परन्तु आश्चर्य की बात है कि सनातनधर्मी अब कुछ चेते हैं। सनातन-धर्म के नाम से होनेवाले हुरदङ्ग से घबरा कर उनके एक वयोवृद्ध नेता ने हाल में घोषित किया है कि सनातन-धर्म की रूपरेखा शीघ्र ही निर्दिष्ट कर दी जायगी। परन्तु इन नेता महोदय को समझ लेना चाहिए कि उनके उस 'टकसाली सनातन-धर्म' की वही दशा होगी जो उनके एक भाई नेता के चलाये हुए नये सनातन-धर्म की की गई है। उनका भी प्रयत्न निष्फल होगा, यह बात निश्चित है। वास्तव में सनातन-धर्म हिन्दू-जाति की महाव्याधि है, और सनातन-धर्मियों के नामधारी नेता अपनी झूठी पुराण-प्रियता की अधार्मिक करतूतों से इस अवस्था का परिचय और भी अधिक तत्परता से दिये जा रहे हैं। उसके इस तरह प्रकट किये गये भीषण रूप को देखकर कौन नहीं कहेगा कि हिन्दुओं का रक्षक भगवान् है?

हिन्दी के दो अन्य जलसे

गत वसन्त पञ्चमी के अवसर पर ओड़छा के उक्त जलसे के सिवा दो और साहित्यिक जलसे हुए हैं। उनमें एक जलसा आगरे में हुआ है। गत वर्ष जैसा कवि-दरबार जबलपुर में हुआ था, वैसा ही इस बार आगरे में भी हुआ है और अच्छा हुआ है। दूसरा जलसा राजापुर में हुआ है जो अपने ढङ्ग का नया जलसा था। यह जलसा तुलसी-स्मारक के लिए हुआ था। इस जलसे के सभापति डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी ने तुलसी-स्मारक के लिए अपने ओजस्वी भाषण-द्वारा लोगों से धन की अपील की। विश्वास है कि राजापुर के साहित्यप्रेमी केवल तुलसी-स्थान की रक्षा के लिए यमुना जी का घाट ही बनवा कर न रह जाएँगे, किन्तु तुलसी के उपयुक्त वहाँ एक स्मारक-मन्दिर भी बनवाने के लिए यत्नवान् होंगे। क्या ही अच्छा होता यदि इस तुलसी-स्मारक जैसी सभायें अन्य कवियों की भी स्मृति-रक्षा के लिए क़ायम की जातीं। और न सही, इनसे हिन्दी-साहित्य का एक संगठित आन्दोलन ही उठ खड़ा होता जो किसी भी प्रकार कम लाभप्रद न होता।

सम्पादकीय शिष्टाचार

कुछ दिन हुए बम्बई के 'स्वाधीन भारत' ने 'सरस्वती' से एक लेख उद्धृत किया था, पर उसने इसका संकेत तक

नहीं किया था कि वह लेख 'सरस्वती' से उद्धृत किया गया है। लेख के लेखक महोदय ने भी इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था, पर इतने पर भी हमने उक्त दैनिक के सम्पादक महोदय को कुछ नहीं लिखा, समझा कि भूल हो गई होगी, साथ ही हमने यह प्रबन्ध करने का विचार किया कि 'सरस्वती' के किसी एक उपयोगी लेख के कुछ अधिक फ़र्मे छपवाकर अपनी ओर से पत्रों में प्रकाशनार्थ सम्पादक महोदयों की सेवा में भेज दिया करें। फलतः इधर हमने दो-एक लेखों के छपे फ़र्मे कई एक दैनिकों तथा साप्ताहिकों को भेजे और वे लेख उन पत्रों में छपे और 'सरस्वती' का यथास्थान उल्लेख भी किया गया। पहले हमने छपे फ़र्मे 'सरस्वती' के प्रकाशित होने के बाद भेजे थे, पर पिछली बार हमने 'देहरादून जेल से अन्तिम पत्र' नामक लेख के छपे फ़र्मे सरस्वती के प्रकाशित होने के पहले ही भेज दिये। 'अर्जुन' और 'राष्ट्रबन्धु' में सरस्वती का वह लेख ज्यों का त्यों छपा, पर आश्चर्य्य है कि 'सरस्वती' का उल्लेख नहीं किया गया। 'राष्ट्र-बन्धु' ने तो ऐसी शिष्टता दिखलाई कि अनुवादक का नाम तक नहीं दिया और लेख के साथ के परिचयात्मक टिप्पणी से 'सरस्वती' का भी नाम निकाल दिया। 'राष्ट्र-बन्धु' हिन्दी का नया दैनिक है और हिन्दी के दैनिकों में अच्छा प्रकाशित हो रहा है। परन्तु हमें अब सन्देह हो रहा है कि कहीं उसकी यह सुघरता ऐसी ही हाथ की सफ़ाई का फल न हो। चाहे जो हो, यह प्रवृत्ति प्रतिष्ठावर्द्धक नहीं। 'राष्ट्र-बन्धु' हो, चाहे और ही कोई हो, जो दूसरे की चीज़ को अपनी बताने की ढिठाई करता है उसका वह काम अनीति का है और वह अकीर्तिकर है। आशा है, 'राष्ट्र-बन्धु' तथा उसके साथी दूसरे पत्र भी अपनी भूल को स्वीकार कर हिन्दी के पत्रकारों के लिए उपयुक्त आदर्श बनेंगे।

श्री रंगास्वामी आयंगर का स्वर्गवास

गत चार फ़रवरी को श्री ए० रङ्गास्वामी आयंगर का ५७ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास हो गया। स्वर्गीय आयंगर का जीवन-चरित बहुत ही आलोकपूर्ण और अनुकरणीय रहा है। आपका जन्म सन् १८७७ ईसवी में हुआ था। मदरास प्रेसीडेन्सी कालेज से सन् १८९७ में बी० ए० तथा सन् १९०१ में बी० एल० पास किया। कुछ दिनों तक आपने तंजोर में वकालत की। थोड़े समय तक आप मदरास-सरकार के चीफ़ सेक्रेटरियट में क्लर्क भी रहे। उस समय कौन जानता था कि वही श्री रंगास्वामी आयंगर एक दिन असेम्बली-भवन और देश के प्रांगण में बहुत ऊँचा स्थान ग्रहण करेंगे। इसके बाद धीरे धीरे आप अपने बुद्धि-चातुर्य, सराहनीय कार्यशैली और सच्ची सेवाभावना के कारण लोकप्रिय होते गये। आप लगातार ६ साल तक असेम्बली के सदस्य रहे। उस समय आप स्व० पण्डित मोतीलाल नेहरू के दाहने हाथ थे। स्वराज्यपार्टी की स्थापना में स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू और स्वर्गीय देशबन्धु चितरञ्जनदास को आपसे बहुत सहायता मिली थी। सन् १९२५ में स्वराज्यपार्टी के प्रधान मन्त्री चुने गये थे। १९२६ से १९२७ तक आप अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रधान मन्त्री रहे। आपने 'स्वदेशमित्रम्' नामक पत्र को ख़रीद लिया था और उसका सम्पादन भी करते रहे। सन् १९२८ से आपने 'हिन्दू' का सम्पादन आरम्भ किया। आप बड़े ही योग्य पत्रकार थे। ये दोनों ही पत्र आपकी संरक्षकता में बड़ी शान से निकलते रहे हैं। राजनीति तथा शासन-विधान में तो आप बहुत ही योग्य पंडित थे। यही कारण था कि आप गोलमेज़-सम्मेलन में भी निमन्त्रित किये गये थे। आपने शासन-विधान-सम्बन्धी 'इंडियन कान्स्टीट्यूशन' नाम की एक भावपूर्ण पुस्तक भी लिखी है। आपके निधन से भारतवर्ष का एक और अमूल्य रत्न खो गया।

—'प्रताप' से

सब हिन्दू ब्राह्मण समझे जायँ

बम्बई के प्रतिनिधि श्री बी० बी० जाधव ने असेम्बली में एक बहुत ही उपयोगी बिल के पेश करने

की सूचना दी है। इस बिल के द्वारा वे हिन्दू-जाति को बड़े संकट से मुक्त करने का प्रयत्न करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है जो इस प्रकार है—

प्रारम्भ में हिन्दुओं का दर्जा एक था। उनमें वर्ण-विभाग नहीं था। उस समय वे हंस कहलाते थे। इस समय हिन्दू चार जातियों में बाँट दिये गये हैं-- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। कुछ दिनों के बाद अछूतों के साथ दुर्व्यवहार होने लगा। देश के कुछ भागों में इन्हें शूद्र और कहीं पंचम नाम दे दिया गया।

भारत-सरकार के क़ानूनी सदस्य का कहना है कि अगर अछूत-जाति मिटा दी जाय तो उसे हिन्दू-समाज में कोई स्थान अवश्य निश्चित कर देना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि अछूतों को शूद्रों में गिनना चाहिए, पर शूद्र तो उन्हें अपनी पंक्ति में लेने को शायद ही तैयार होंगे, फिर आज-कल का वर्णाश्रम बहुत अस्त-व्यस्त है। बहुत-सी उपजातियों के भेद ने उसकी श्रृङ्खला ही नष्ट कर डाली है, इसलिए जाति-भेद का छकड़ा अब चल नहीं सकता।

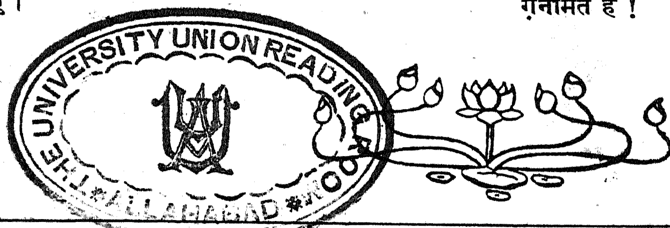
फिर हिन्दू-धर्म के मुताबिक़ राजा का यह धर्म है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण निश्चित कर दे। इस स्थिति में लेजिस्लेटिव असेम्बली को राजा की तरफ़ से यह कार्य करना चाहिए और सरकारी मामलों में जातिभेद मानना कतई बन्द कर देना चाहिए।

प्राचीन काल में सब हिन्दू हंस कहलाते थे। हंस का पर्यायवाची शब्द ब्राह्मण है। इसलिए इस बिल के पास होने के बाद सब हिन्दू ब्राह्मण कहलाने चाहिए और उन्हें ब्राह्मणों के नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए।

यदि उक्त बिल को क़ानून का रूप प्राप्त हो जायगा तो निस्सन्देह उससे हिन्दू-जाति का बहुत बड़ा हित होगा।

हिन्दी और शिक्षा का माध्यम

हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी में शिक्षा का माध्यम उर्दू है। इसी प्रकार गुजरात-विद्यापीठ और दिल्ली की जामिया मिलिया यूनिवर्सिटी आदि राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थायें भी देशी भाषा-द्वारा ही शिक्षा प्रदान करती हैं। पंजाब में भी वहाँ के विश्वविद्यालय की सीनेट सभा ने हाल में एक प्रस्ताव पास किया है, जिससे प्रकट होता है कि वहाँ भी देशी भाषा ही निकटभविष्य में शिक्षा के माध्यम का पद ग्रहण करेगी। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि बनारस की हिन्दू-यूनिवर्सिटी अभी तक इस ओर अपना पग बढ़ाने में हिचकिचा ही रही है। वह हिचकिचाये क्यों न? उसे अन्तर्देशीय रूप जो प्राप्त हो गया है। हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना देने से अन्य प्रान्तीय लोग कुड़मुड़ाने लगें तो क्या होगा? जान पड़ता है, उसके कर्णधारों को इस बात का भी विश्वास नहीं है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा मान ली गई है। ख़ैर, यह थोड़ा-बहुत संतोष की ही बात है कि अब इस विश्वविद्यालय में भी हिन्दी को अपना स्वाभाविक स्थान प्राप्त होनेवाला है। पर इसके लिए उस संस्था के कार्यकर्ता प्रशंसार्ह नहीं हो सकते, क्योंकि इस सम्बन्ध में उन्होंने मौलिकता ज़रा भी नहीं दिखाई है, दूसरों के अनुकरण पर ही वह इस ओर बढ़ने का इरादा कर रही है। यह भी ग़नीमत है!



Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.



सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल   श्रीनाथसिंह

अप्रेल, १९३४ | भाग ३५, खंड १ | सं० ४, पूर्ण संख्या ४१२ | वैशाख, १९९१

गीत

श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

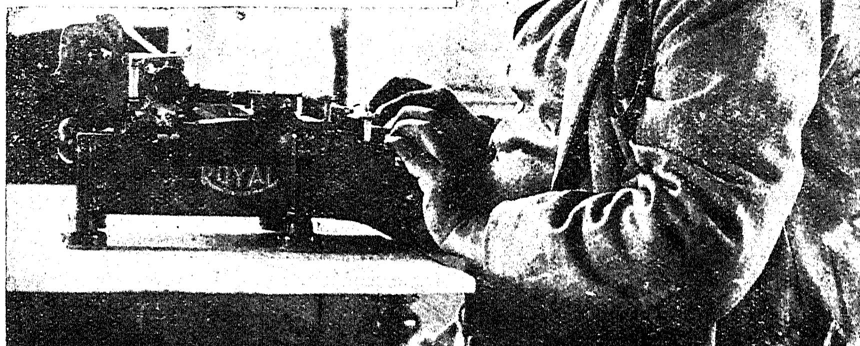
कमलदल में किरण अङ्कित चित्र हूँ क्या मैं चितेरे ?
बादलों की प्यालियाँ धो चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु तुमने रँगा उर प्यार से,
काल के लघु अश्रु से धुल जायँगे क्या रङ्ग मेरे ?
तड़ित सुधि में, वेदना में, करुण पावस रात भी,
आँक स्वप्नों में दिया तुमने वसन्त-प्रभात भी,
क्या शिरीषप्रसून-से कुम्हलायँगे यह साज मेरे ?
है युगों का मूक परिचय देश से इस राह से,
होगई सुरभित यहाँ की रेणु मेरी चाह से,
नाश के निश्वास से मिट पायँगे क्या चिह्न मेरे ?
नाच उठते हैं निमिष क्षण क्षणिक पद की चाप से,
नाप ली निःसीमिता मैंने हृदय के माप से,
मृत्यु के उर में समा क्या पायँगे यह प्राण मेरे ?
आँक दो जग के दृगों में अमित मेरी प्यास क्यों ?
अश्रुमय अवसाद क्यों यह पुलक कम्पन-लास क्यों ?
मैं मिटूँगी पर अमर हो जायँगे उपहार मेरे।

प्रसिद्ध भारतीयों से मेरी भेंट

ए० रंगास्वामी आयङ्गर

श्रीयुत संट निहालसिंह

[अनुवाद और उद्धरण का अधिकार लेखक के अधीन है]



[श्रीयुत रंगास्वामी आयङ्गर भारत के सपूतों में से एक थे। हाल में ही उनके स्वर्गवासी हो जाने से जो स्थान रिक्त हो गया है उसकी पूर्ति मुश्किल से होगी। अभाग्य से भारत इतना बड़ा देश है और हममें प्रान्तीयता का भाव इतना अधिक है कि एक दक्षिण-भारतीय कितना ही प्रसिद्ध क्यों न हो, उत्तर-भारतवालों को यथेष्ट रूप से आकृष्ट नहीं कर पाता। यही हाल उत्तर-भारतीयों का दक्षिण में है। इस दृष्टि से यह लेख और भी उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण है]

[१]



सन् १६१६ ईसवी के पतझड़-काल में एक दिन तीसरे पहर सेक्रेटरियों में से एक—मिस एमी राबर्ट्स—ने उस ड्राइंग रूम में प्रवेश किया जिसमें मैं कुछ मित्रों के साथ चाय पी रहा था। वह वेल्श-वंश की एक विचार-शील युवती महिला थी, इसलिए उसने मुझसे एकान्त में एक बात सुनने के लिए कहा। जैसे ही मैं बाहर के बरामदे में पहुँचा, उसने मेरे हाथ में एक कार्ड देते हुए कहा—"मैंने इन महाशय से कहा कि आप अपने कार्य्य में अत्यन्त संलग्न हैं और विघ्न उपस्थित करना ठीक न होगा, पर ये नहीं मानते, इसलिए आपके पास आई हूँ कि उनसे मैं क्या कहूँ।"

मैंने उससे कहा कि कोई चिन्ता मत करो, और कार्ड लेकर देखा कि कौन आया है। नाम पढ़ने पर मुझे प्रसन्नता हुई कि जो सज्जन मुझसे मिलने आये थे वे लौटा नहीं दिये गये।

[२]

कार्ड के बीच में लिखा था—"एस० कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर"। ये महोदय कुछ वर्ष हुए स्वर्गवासी हो चुके हैं और इन्होंने कार्य्य भी अधिकतर दक्षिण में ही किया है, इसलिए यहाँ इनका परिचय दे देना आवश्यक है।

श्रीयुत कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर अपने जीवन के आरम्भ काल में ही क़ानून के क्षेत्र में चले गये थे और इस क्षेत्र

में उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। बालकपन से ही उनका झुकाव कुछ कुछ साहित्य की ओर भी था और देश-सेवा की भी उन्हें लगन थी। इसलिए अवसर आने पर मदरास से प्रकाशित होनेवाले अँगरेज़ी दैनिक पत्र 'हिन्दू' को उन्होंने ख़रीद लिया। वे नेशनल कांग्रेस के बड़े भक्त थे और इस प्रकार उसके सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे।

इस पत्र की स्थिति उस समय अत्यन्त साधारण थी। ग्राहक-संख्या थोड़ी थी। कार्य्यकर्ताओं को यथेष्ट वेतन न मिलता था। छपाई अच्छी न थी और समाचार-संग्रह का कार्य्य असन्तोषजनक और त्रुटि-पूर्ण था। विज्ञापन प्राप्त करनेवाली एजेंसियाँ भी अयोग्य थीं।

श्रीयुत एस० कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर जी-जान से पत्र की उन्नति करने में लग गये। वे साहित्य के ही ज्ञाता नहीं थे, व्यापार की भी बात समझते थे और जिस काम में उनका जी लगता था उसे अपने आप करने की क्षमता भी रखते थे। थोड़े ही समय में उन्होंने पत्र के सब विभागों में अच्छी उन्नति कर ली और ग्राहक-संख्या भी भारतीयों-द्वारा प्रकाशित और सम्पादित पत्रों की अपेक्षा बहुत बढ़ गई।

१६१८ में उन्होंने योरप की यात्रा की और हर्न हिल में मेरे घर पर वे इस उद्देश से मिलने आये कि मैं उनके पत्र में बराबर लिखा करूँ। शीघ्र ही मेरी उनसे घनिष्ठता हो गई और उनके मृत्यु-पर्यन्त हमारी उनकी मित्रता बनी रही।

[३]

जब मैं उस कमरे में पहुँचा जो हमारे घर में मिलने-जुलनेवालों के लिए अलग कर दिया गया था तब मुझे सामने कुर्सी पर कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर की अपेक्षा कहीं कम आयु के युवक को बैठा हुआ देखकर आश्चर्य्य हुआ। क्षण भर को मैं चकित रह गया और मैंने सोचा कि कोई भूल अवश्य हुई है।

इसी उलझन में मैंने कार्ड की ओर फिर देखा। उस पर मेरे मित्र का ही नाम छपा था। परन्तु मैंने यह न देखा था कि उसी कार्ड की पीठ पर उन्होंने यह लिख



[स्वर्गीय श्रीरङ्गास्वामी आयङ्गर]

दिया था—"ए० रङ्गास्वामी आयङ्गर से परिचय कराने के लिए।"

मैंने मिस्टर रङ्गास्वामी से सप्रेम हाथ मिलाया और पूछा कि उनका लंदन में कैसे आना हुआ और कब तक ठहरने का इरादा है।

उन्होंने मुझसे बताया कि मान्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-शासन सुधार के सिलसिले में पार्लियामेंट के दोनों भवनों की ओर से बनी ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी के सामने गवर्नमेंट आफ़ इंडिया बिल पर गवाही देने के लिए इंडियन नेशनल कांग्रेस का जो डेपुटेशन आया है, उसी की मैं भी यथा-शक्ति सहायता करने आया हूँ। किसी कारण से वे दीवान बहादुर वी० पी० माधवराव और कांग्रेस-डेपुटेशन के अन्य सदस्यों के साथ नहीं आ सके थे। मुझे याद नहीं रहा कि कारण उन्होंने क्या बतलाया था।

उन्होंने मुझसे बतलाया कि उनका देर से पहुँचना देश के हक़ में अच्छा ही हुआ है। क्योंकि लंदन में उपस्थित कांग्रेस के प्रतिनिधियों के लिए वे देश से नये समाचार भी लाये हैं। ये समाचार उनके काम के हो सकते हैं।

मैंने उनसे पूछा—ये बहुमूल्य समाचार क्या हैं?

उन्होंने उत्तर दिया—यहाँ लंदन में मिस्टर मांटेग्यू भले ही मुग़लशाही का ढंग दिखायें, परन्तु भारतवर्ष में तो वही पुराना राग अलापा जा रहा है।

"क्या आप इस बात का विश्वास करेंगे कि भारत-मंत्री के कतिपय वक्तव्य रोक लिये गये हैं और भारतवर्ष में उनके प्रकाशन की आज्ञा नहीं दी गई है। उनके सम्बन्ध में मुझे तब तक नहीं मालूम हुआ जब तक मैं इँग्लैंड में पहुँच नहीं गया।"

उन्होंने विस्तार के साथ मुझसे सब बातें बताईं। उनका यहाँ दोहराना व्यर्थ होगा, क्योंकि वे इतनी पुरानी पड़ गई हैं कि उनमें किसी को दिलचस्पी नहीं रही।

शीघ्र ही मेरे मन में यह विचार आया कि मेरे मित्र श्रीयुत एस० कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर ने जिस व्यक्ति का मुझसे परिचय कराया है वह भेंट करने के सर्वथा योग्य है। मैंने उन्हें दूसरे दिन अपने यहाँ भोजन करने के लिए निमंत्रित किया, जिससे खूब निर्विघ्न रूप से बातें हो सकें। उन्होंने दूसरे दिन आने और ऐसी बातें बताने का वादा किया जो अफ़सरों की गृद्ध-दृष्टि और क़ानून की कड़ाई के कारण भारतीय पत्रों में नहीं प्रकाशित हुईं।

[४]

जब मैं अपने मेहमानों के पास वापस गया तब मैंने उनसे इतनी देर तक अलग रहने के लिए क्षमा-प्रार्थना की। कौन आया था, मिसेज़ सिंह को यह बताने के उद्देश से मैंने सबको सुना कर कहा—हिन्दू के सम्पादक और सञ्चालक का कार्ड लेकर ए० रङ्गास्वामी आयङ्गर नाम के एक सज्जन पधारे थे?

उन्होंने पूछा—वे कैसे थे?

मैंने उत्तर दिया—"अवस्था लगभग ४० वर्ष, क़द मझोला, शरीर दुबला। वे चश्मा लगाये हुए थे जो दूर से ही मोटे शीशे का जान पड़ता था। अमरीका के संयुक्तराज्य में तुम उन्हें अब्राहम लिङ्कन से मिलता-जुलता मनुष्य कह सकते हो। मुझे उनका व्यवहार सुखद जान पड़ा। अँगरेज़ी वे बिना परिश्रम के बोल सकते थे, यद्यपि उन्हीं के कथनानुसार उन्होंने अँगरेज़ी लिखनी छोड़ दी है और तामिल में वे लिखते हैं और 'स्वदेशमित्रम्' के सम्पादक हैं।

"उनको परखने का मुझे बहुत कम अवसर मिला, परन्तु वे कुशाग्रबुद्धि और देशभक्त प्रतीत हुए। मैंने उन्हें कल निमंत्रित किया है। इससे उनके सम्बन्ध में अपनी राय क़ायम करने को तुम्हें स्वयं अवसर मिलेगा।"

मेरे यहाँ आगन्तुकों में से एक सज्जन श्रीयुत सी० पी० रामास्वामी ऐयर बोले—क्या उन्होंने आपसे श्रीयुत कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर से अपना कोई रिश्ता बताया था?

इन महाशय को उस समय तक सम्राट् से नाइट-हुड का सम्मान नहीं प्राप्त हुआ था और कोई सार्वजनिक पद भी उन्हें नहीं मिला था, तो भी ये मदरास के सफल वकीलों में से एक थे। इनका परिचय मुझसे श्रीमती एनी बीसेंट ने जिनके सम्बन्ध में मैं इसी लेख-माला में लिख चुका हूँ, कराया था। इस परिचय की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वे श्रीमती सरोजनी नायडू के साथ जिन्हें मैं वर्षों से जानता था, आये थे। उस समय मेरी टी पार्टी में ये भी सम्मिलित थीं।

मैंने उत्तर दिया—श्रीयुत रङ्गास्वामी ने अपने सम्बन्धियों के विषय में मुझसे कुछ नहीं बताया।

उन्होंने कहा—अच्छा, तब आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वे कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर के भानजे हैं।

इस विषय पर रङ्गास्वामी का मौनभाव मुझे पसन्द आया। अपने सम्बन्धी के नाम पर व्यापार करने की अपेक्षा उन्होंने मुझसे अपनी योग्यता के बल पर ही मिलना अधिक पसन्द किया था। इस प्रकार के अनुभवों का हमारे पास अभाव था, विशेष कर उस परिस्थिति में जब मिलनेवाले भारत से ताज़े हमारे लंदनवाले घर में आते थे।

[५]

जब रङ्गास्वामी दूसरे दिन हमारे घर पर आये तब खूब दिल खोलकर बातें हुईं। उन्होंने मुझसे कहा कि जब वे कालेज में पढ़ते थे तभी से सार्वजनिक मामलों में उनकी अभिरुचि थी। शासनविधान और आर्थिक प्रश्नों का उन्होंने शुरू से ही अध्ययन किया था। यह कहते हुए उन्होंने मुझे अपनी 'भारतीय शासनविधान' नामक पुस्तक की एक प्रति भेंट की। यह पुस्तक गार्जियन प्रेस, मदरास, से प्रकाशित हुई थी और यह प्रति वे विशेषरूप से मेरे लिए लाये थे। उन्होंने सविनय यह भी निवेदन किया कि यह पुस्तक उस महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन की भूमिका-मात्र है।

पृष्ठों के उलटते समय मेरी दृष्टि 'समर्पण'वाले पृष्ठ पर पड़ी। उसमें लिखा था—"स्वर्गीय दीवान बहादुर एस० श्रीनिवास राघव आयङ्गर सी० आई० ई० की स्मृति में।"

मैंने पूछा—श्रीयुत श्रीनिवास राघव आयङ्गर आपके मामा थे! क्यों?

"हाँ।"

मैंने कहा—मैं उनसे कभी नहीं मिला। परन्तु उनके सम्बन्ध में मैंने महाराज गायकवाड़ से सुना था। जब मैं बड़ौदा में था तब हिज़ हाइनेस ने मुझे बताया था कि बहुत समय हुए एक बार जब मैं एक योग्य दीवान की खोज में था, एक मित्र ने मुझसे श्रीनिवास राघव आयङ्गर का ज़िक्र किया। उन मित्र महोदय की बात का महाराज पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने श्रीनिवास राघव आयङ्गर को अपनी शासन-सम्बन्धी योग्यता दिखाने का अवसर देने का निश्चय किया।

मदरास की अपेक्षा जहाँ का श्रीयुत श्रीनिवास राघव को अनुभव अधिक था, बड़ौदा की स्थिति भिन्न थी। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने अभावों पर विजय प्राप्त कर ली और अपने स्वामी को पूर्णरूप से सन्तुष्ट कर दिया। बड़ौदा के शासन में उन्नति करने के उन्होंने बहुत-से उपाय बताये और हिज़ हाइनेस के इच्छानुसार उन्होंने बहुत से सुधार भी किये।

इस वर्णन से श्रीयुत रङ्गास्वामी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मेरे मामा एक महान् पुरुष थे। मैं उनका और अपने दूसरे मामा श्रीयुत कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर का ऋणी हूँ।

[६]

इसी सिलसिले में मिस्टर रङ्गास्वामी ने संक्षेप में मुझसे अपना जीवन-वृत्तान्त कह सुनाया। उनका जन्म १८७७ के ग्रीष्म-काल में मदरासप्रान्त के तंजौर ज़िले में एक छोटे गाँव में हुआ था। उनके पिता के पास थोड़ी-सी ज़मीन थी और उसी पर उन्हें एक बड़े परिवार का पालन करना पड़ता था।

सौभाग्य से उनके मामा सम्पन्न थे और उन्होंने उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी वे समस्त सुविधायें प्रदान कीं जो अन्य परिस्थिति में दुर्लभ होतीं। अपने मामाओं की उदारता से उन्होंने मदरास के एक कालेज से बी० ए० की परीक्षा पास की। जब वे वकालत पढ़ते थे तब सेक्रेटरियट में कुछ समय के लिए क्लर्की भी करते थे। परन्तु यह बीच का काम था। क़ानून पास करने के पश्चात् उन्होंने तंजौर में वकालत करनी शुरू की। उनकी ख्याति शीघ्रता से बढ़ने लगी, परन्तु उसी समय मिस्टर कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर ने 'हिन्दू' खरीद लिया और उनका सहयोग माँगा।

उस समय (सन् १९०५) रङ्गा स्वामी लगभग २८ वर्ष के थे। उन्होंने पत्र को कामयाब बनाने में अपने मामा की जी-जान से सहायता की। उन्होंने कुछ समय तक मैनेजर के आफ़िस में काम किया और बाद को सम्पादकीय विभाग में चले गये। दोनों स्थानों में अपनी योग्यता का उन्होंने अच्छा परिचय दिया।

१० वर्ष के बाद उन्हें स्वाधीनतापूर्वक पत्र-सम्पादन का अवसर मिला। अपने समय के एक श्रेष्ठ सम्पादक श्रीयुत जी० सुब्रह्मण्य ऐयर ने अधिक आयु हो जाने के कारण 'स्वदेशमित्रम्' के सम्पादनकार्य्य से अवकाश ग्रहण करने की इच्छा की। वह उस समय तामिल में एक अत्यन्त लोकप्रिय पत्र समझा जाता था।

यदि रङ्गास्वामी यूनिवर्सिटी से निकले हुए अन्य साधारण भारतीयों की भाँति होते तो इस प्रस्ताव को वे

अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते। क्योंकि वे एक अँगरेज़ी दैनिकपत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। ऐसे स्थान पर रहकर वे देशी भाषा के पत्र का सम्पादन करने में अपना अनादर ही समझते।

यद्यपि वे बहुत सुन्दर अँगरेज़ी बोलते और लिखते थे तथापि पाश्चात्य-सभ्यता के दास नहीं थे। अपने बाल्यकाल में उन्होंने तामिल सीखी थी। बाद को उन्होंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया और ज्यों ज्यों उन्होंने अपने पूर्वजों के ग्रन्थ पढ़े, त्यों त्यों उनके दिल पर उनकी प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण और उनके क्रम-निर्धारण करने की शक्ति का प्रभाव पड़ा और उनके आध्यात्मिक विकास का उन्हें परिचय मिला।

यही कारण था कि अपने सहपाठियों और सहयोगियों की भाँति वे पश्चिम के प्रभाव से बचे रहे। इसलिए उन्होंने श्रीयुत जी० सुब्रह्मण्य-द्वारा मिले अवसर का स्वागत किया और तामिल दैनिक का सम्पादन कार्य्य स्वीकार कर लिया और उसे अँगरेज़ी के समान एक सुन्दर दैनिक बनाने में लग गये।

'हिन्दू' में दस वर्ष कार्य्य करने के कारण रङ्गास्वामी को तामिल-पत्र के निकालने में बड़ी सुविधा हुई। परन्तु 'स्वदेशमित्रम्' को जैसा उन्होंने सोचा था वैसा बनाने और उसकी ग्राहकसंख्या बढ़ाने का काम आसान नहीं था। अनेक प्रयत्न करने पर भी उन्हें आवश्यकता के अनुरूप सहायक न मिले। ऐसे व्यक्तियों की जो ज़ोर के साथ तामिल लिख सकें और क्या समाचार है तथा क्या नहीं है, इसका भेद जान सकें, बड़ी कमी थी। फिर ऐसे लोगों का भी अभाव था जो तामिल-भाषा-भाषियों की रुचि के अनुकूल आकर्षक ढङ्ग से शिक्षाप्रद और उपयोगी लेख और टिप्पणियाँ लिखते।

भारतीय भाषाओं में निकलनेवाले पत्रों के महत्त्व को समझते हुए मैंने पूछा—उन कठिनाइयों को आपने कैसे जीता?

उन्होंने उत्तर दिया—"इसमें मुझे सिरतोड़ परिश्रम करना पड़ा। योग्य आदमी न मिलने के कारण जो मुझे मिल सके उनमें से अत्यन्त उन्नत-शील व्यक्तियों को मुझे सिखाना पड़ा।

"मैं चार वर्ष से यह कार्य्य कर रहा हूँ (यह १९१९ की बात है)। समाचार-पत्र-प्रकाशन के इतिहास में यह कोई लम्बा समय नहीं है, तथापि मैं यह कह सकता हूँ कि सन् १९१५ से जब मैंने 'स्वदेशमित्रम्' का सम्पादन आरम्भ किया था, अब तक में इस पत्र की जितनी उन्नति हुई है उससे अधिक की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु अब भी बहुत कुछ करना है। इसमें उन्नति करने की मैंने बहुत-सी बातें सोची हैं जिन्हें मैं भारत लौटने पर यथा अवसर कार्य्यरूप में परिणत करूँगा।"

अपने समाचार-पत्र-सम्बन्धी कार्य्य का उनमें ऐसा भाव देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। इस सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे बहुत-सी बातें पूछीं और ब्रिटेन में समाचार-पत्रों की कार्य्य-प्रणाली जानने के लिए मुझसे सहायता माँगी जो मैंने यथाशक्ति उसी समय प्रदान की। बाद को मुझे मालूम हुआ कि इस प्रकार उन्हें जो सुविधायें प्राप्त हुईं उनका उन्होंने अच्छा उपयोग किया।

[७]

दैनिक पत्र के सञ्चालन का कार्य्य कठिन होता है, तथापि रङ्गास्वामी को समय और शक्ति की इतनी बचत हो जाती थी कि वे राजनीति में भाग ले सकते थे। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, उनके मामा कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर को कांग्रेस के कामों से दिलचस्पी थी। इसलिए भानजे के लिए भी जो उनके निकटतम सहयोगी थे, ऐसे कामों में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही था। परन्तु राजनीति के मैदान में वे १९१५ तक नहीं उतरे थे। इस मैदान में उन्हें श्रीमती एनी बीसेंट ने उतारा। इन महिला ने अनुभव किया कि इंडियन नेशनल कांग्रेस भारत को स्वराज्य की ओर उतनी शीघ्रता से नहीं ले जा रही है, जितनी शीघ्रता से उसे ले जाना चाहिए। वे इस आन्दोलन में नया जीवन भरना चाहती थीं। इस उद्देश की पूर्ति के लिए उन्होंने होमरूल लीग*

*लगभग उसी समय लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने एक दूसरी होमरूल लीग की स्थापना की, जिसका ज़िक्र मैं उनके सम्बन्ध में लिखते समय करूँगा।

की स्थापना की, जिसका प्रधान कार्य्यालय मदरास में खोला। रङ्गास्वामी के रूप में उन्हें साधन-सम्पन्न और सबल मंत्री भी मिल गया।

उन दिनों मेरा एनी बीसेंट से घनिष्ठ परिचय था। मेरा उनका पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था। विविध प्रश्नों पर वे मेरी सम्मति माँगा करती थीं, विशेषकर क्षण क्षण पर बदलनेवाली भारतीय परिस्थिति पर एवं ब्रिटेन और विदेश में भारतीय आन्दोलन पर। मेरे उत्तर पूर्ण और लम्बे हुआ करते थे।

सन् १९१९ में जब मैं रङ्गास्वामी से मिला तब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे ये पत्र उन्हें और उनके सहयोगियों को पढ़ने और विचार करने के लिए दे दिये जाते थे। उन्होंने मुसकराते हुए कहा—हम सब उनके बड़े विश्वासपात्र थे, इसलिए आपके ये व्यक्तिगत पत्र भी हमें पढ़ने को मिलते थे और इसी लिए उन पर आपके साथ विश्वासघात करने का दोष भी नहीं लगाया जा सकता।

इस स्पष्टीकरण से मुझे हँसी आगई। मैंने कहा—"आप दक्षिणी ब्राह्मण लोग वाक्-छल में बड़े निपुण होते हैं।"

श्रीयुत सी० पी० रामास्वामी ऐयर ने जो श्रीमती बीसेंट के होमरूल लीग के एक स्तम्भ थे, इस घटना के कुछ दिन बाद बातचीत के सिलसिले में कहा था कि प्रधान-मन्त्री के रूप में रङ्गा स्वामी ने लीग की बहुमूल्य सेवायें की हैं। अपने कालेज के दिनों में उन्होंने विधानात्मक और आर्थिक प्रश्नों का जो अध्ययन किया था वह उन्हें इस कार्य में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। वे जैसे धुनी थे, वैसे ही अथक परिश्रम करनेवाले भी थे।

अन्य मित्रों ने भी जिन्होंने रङ्गा स्वामी को श्रीमती बीसेंट के राजनैतिक सहयोगी के रूप में कार्य करते देखा था, मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। इन वक्तव्यों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि भारत की निद्रा भङ्ग करने में और उसे स्वराज्य के मार्ग पर खड़ा करने में उनका भी हाथ था।

[८]

इस बात को बहुत दिन नहीं हुए कि मुझे रङ्गास्वामी की योग्यता का अनुमान लगाने का एक और अवसर मिला। यह अवसर मुझे एक छोटे-से प्रीतिभोज में मिला था जो दीवान बहादुर बी० पी० माधवराव के सम्मान में दिया गया था। उस प्रीतिभोज में कुल ५ या ६ व्यक्ति सम्मिलित थे।

मैंने रङ्गास्वामी और मिस्टर एस० सत्यमूर्ति के बोलने के ढङ्ग की तुलना की। मिस्टर सत्यमूर्ति का जन्म मदरासप्रान्त के पदूकोटा नामक राज्य में हुआ था और वे ऐयर ब्राह्मण थे। ये दोनों व्यक्ति समान राजनैतिक विचार रखते-से प्रतीत होते थे और उन दिनों साथ साथ रहते भी थे। सत्यमूर्ति के होंठों से इस प्रकार शब्द निकलते थे, जैसे किसी चट्टान से पानी की धारा निकलती हो। रङ्गास्वामी के भाषण में इतना प्रवाह नहीं होता था, तो भी तत्त्व अधिक होता था। हृदय पर उनका प्रभाव इतना अधिक नहीं पड़ता था, परन्तु मस्तिष्क पर उनका इससे भी अधिक प्रभाव पड़ता था।

मैंने सोचा कि देश की सेवा के लिए दोनों बड़े काम के हैं। सत्यमूर्ति श्रोताओं के हृदय में उष्णता उत्पन्न कर सकते हैं तो रङ्गास्वामी उनके मस्तिष्क को चैतन्य कर सकते हैं।

[९]

इसके बाद रङ्गास्वामी से मेरी भेंट जनवरी सन् १९२२ में हुई। इससे पहले आक्टोबर में मैं योरप से कोलम्बो गया था। वहीं से समुद्र पार करके मैं उनसे मिलने गया।

श्रीयुत कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर ने मिसेज़ सेंट निहालसिंह को और मुझको माउन्ट रोड पर स्थित 'हिन्दू'-कार्यालय में निमन्त्रित किया था। हमने सोचा था कि वे हमें प्रेस और छपाई के काम को शीघ्रता और सुन्दरता से करने के लिए नई लाई गई मशीनें दिखावेंगे। पर इसके स्थान पर हमने देखा कि हमारे सम्मान में उन्होंने एक टी-पार्टी का प्रबन्ध किया है। वे हमारे साथ बैठे थे और अपने हाथ से हमारे प्यालों में चाय उँड़ेल रहे थे। परन्तु

मैंने देखा कि उन्होंने स्वयं न तो कुछ पिया है और न कुछ खाया है। इस सम्बन्ध में न उन्होंने कुछ कहा और न हम लोगों ने कुछ पूछा ही।

हमने अनुमान किया कि योरप से लौटने पर उन्होंने अवश्य प्रायश्चित्त किया होगा और अब हमारे साथ खाकर वे दूसरा शुद्धि-यज्ञ न करना चाहते होंगे। अब से १२ वर्ष पूर्व भी मदरास रूढ़िवाद का क़िला ही था। इसलिए इस व्यवहार के लिए मैंने अपने मित्र से कुछ नहीं कहा-सुना।

परन्तु हमें यह जानने की उत्सुकता थी कि उनके भानजे का व्यवहार कैसा होता है। रङ्गास्वामी ने उसी दिन शाम को हमें भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया था। वे ठीक समय पर आये और मोटर में बिठाकर हमें उस स्थान पर ले गये जहाँ भोजन का प्रबन्ध किया गया था।

हमने देखा कि सत्यमूर्ति वहाँ पहले से ही पहुँच गये थे। मेज़ लगा दी गई थी। हमारे बैठते ही तश्तरियाँ आने लगीं।

रङ्गास्वामी और सत्यमूर्ति दोनों ने मदरास में भी हमारे साथ बैठकर खाया जैसा कि वे लंदन में हमारे घर पर खा चुके थे। कोई भेद-भाव लक्षित नहीं हुआ। जान पड़ता था, उन्होंने इस समय तक प्रायश्चित्त नहीं किया था।

परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि कस्तूरी रङ्गा ऐयर और उनके भानजे रङ्गास्वामी में एक पीढ़ी का अन्तर था। कट्टरता के उस गढ़ में भी जान पड़ता था, समय ने सुधारवादियों का साथ देना शुरू कर दिया है और वह अपरिवर्तनवादियों का सहायक नहीं है।

[१०]

हम खाते भी जाते थे और राजनीति पर वाद-विवाद भी करते जाते थे। हिज़ रायल हाइनेस प्रिंस आफ़ वेल्स उन दिनों मदरास में थे और उनका बायकाट किया जा रहा था। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने कुछ समय के पूर्व असहयोग की नीति ग्रहण करने का व्रत लिया था।

रङ्गास्वामी और सत्यमूर्ति दोनों विशुद्ध खद्दर धारण किये हुए थे। लंदन में मेरे घर पर वे योरपीय सर्ज और स्वीड की पोशाक पहन कर आया करते थे। परन्तु उस पोशाक की अपेक्षा यहाँ खद्दर में वे मुझे अधिक अच्छे प्रतीत हुए।

उनके भाषण आरम्भ करने से पहले ही मैंने यह जान लिया कि यदि वे अपनी रुचि के अनुसार कार्य्य करने पाते तो वे अपने प्रान्त की कौंसिल में या बड़ी व्यवस्थापिका सभा में जाते। उनका झुकाव और उनकी महत्त्वकांक्षायें कुछ इसी दिशा की ओर थीं।

उन्होंने मुझसे कई प्रकार से कहा कि कौंसिलों को माडरेटों के अधिकार में छोड़ देना बड़ी भूल का काम हुआ है। यदि उनमें राष्ट्रवादी लोग जाते तो अधिकारीगण इस तरह मौज न कर सकते थे। परन्तु जब कांग्रेस ने असहयोग की नीति ग्रहण की तब उनके पास उसकी आज्ञा के पालन करने के सिवा और कोई मार्ग ही न रह गया था, यद्यपि यह तो वे सोचते ही थे कि यह मार्ग सही नहीं है।

[११]

पण्डित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरञ्जन दास के प्रयत्न से जब कांग्रेस ने यह प्रतिबन्ध उठा लिया तब रङ्गास्वामी के लेजिस्लेटिव असेम्बली में प्रविष्ट होने में कोई कठिनाई न हुई। इससे उनके लिए एक नया कार्यक्षेत्र खुला।

असेम्बली में कांग्रेसी मेम्बरों ने पण्डित मोतीलाल नेहरू के महत्त्वपूर्ण नेतृत्व में अपना एक दल बनाया। यद्यपि वे जन्मजात राजनीतिज्ञ थे और भारत के लिए बड़े बड़े बलिदान किये थे, तथापि उनके दल में कुछ ऐसे लोग भी थे जो पूर्णरूप से उनका नेतृत्व नहीं स्वीकार करना चाहते थे।

भारतवर्ष में राजनीतिज्ञों में संगठन का अभाव है, इसलिए यहाँ व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की लगामढीली रहती है और किसी दीर्घकाल तक सम्मिलित रूप से कार्य नहीं होता।

पण्डित मोतीलाल नेहरू ने रङ्गास्वामी को एक महत्त्व का पद दिया था, जिसको उन्होंने विशेष योग्यता

के साथ निबाहा। दल के मन्त्री की हैसियत से सदस्यों को एक सूत्र में बाँध रखने के लिए—ताकि कम से कम वे जनता के सामने सम्मिलित विरोध उपस्थित कर सकें—उन्हें बड़ा प्रयत्न करना पड़ता था।

यद्यपि संगठन के कार्य में उनका बहुत अधिक समय लग जाता था, तथापि उन्होंने शीघ्र ही यह दिखा दिया कि वे बड़े उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे। सरकारी सदस्यों के पक्ष की कमज़ोरी दूसरे लोग जब नहीं जानते थे तभी वे ताड़ जाते थे। अपने विधान-शास्त्र और आर्थिक प्रश्नों के ज्ञान के कारण वे इन त्रुटियों पर चोट करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी इस पटु सहायता का ज़ोर न होता तो पण्डित मोतीलाल को स्वराज्यदल का नेतृत्व करने में और असेम्बली के भीतर युद्ध करने में कठिनाई का अनुभव करना पड़ता।

[१२]

दिसम्बर १९२७ में मैं रङ्गास्वामी आयङ्गर से मिला। क्योंकि उन्होंने मुझे पण्डित जवाहरलाल नेहरू के साथ कांग्रेस के ज्वाइंट जेनरल सेक्रेटरी की हैसियत से मदरास-कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया था। परन्तु अपने सीलोन के कार्य्यों के कारण, जहाँ मैं उस समय रह रहा था मैं यह निमन्त्रण स्वीकार न कर सका।

हम इसके एक वर्ष बाद मिले। उस समय रङ्गास्वामी की स्थिति में बड़ा अन्तर पड़ गया था। उनके मामा राघव आयङ्गर के पुत्र श्रीयुत रामास्वामी भी जो श्रीयुत कस्तूरी रङ्गा आयङ्गर की मृत्यु हो जाने से हिन्दू के सम्पादक हुए थे, एक क्षणिक बीमारी के बाद स्वर्गवासी हो गये थे। श्रीयुत कस्तूरी के पुत्रों में श्रीयुत श्री निवासन और गोपालन ने जिन्हें पत्र का उत्तराधिकार मिला था—रङ्गास्वामी से पत्र में आने का आग्रह किया। इस बार उन्हें स्वाधीन रूप से सम्पादकीय चार्ज मिला।

प्रत्येक व्यक्ति जो उन्हें जानता था, इससे प्रसन्न हुआ। उस समय उन्हें समाचारपत्र के कार्य का पचीस वर्ष का अनुभव भी हो चुका था। होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी और इंडियन नेशनल कांग्रेस के संयुक्त जनरल सेक्रेटरी की हैसियत से कार्य करके उन्होंने देश की राजनीति में अपना स्थान बना लिया था और देश के प्रत्येक प्रसिद्ध नेता से परिचय प्राप्त कर चुके थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत-से अँगरेज़ों से भी परिचय प्राप्त किया था जो देश के शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे या जो मदरास और अन्य बड़े नगरों में व्यवसाय आदि करते थे।

[१३]

उनके पत्र का कार्य-भार ग्रहण करने के पश्चात् ही देश की राजनैतिक स्थिति ख़राब हो गई। उस समय के भारत-मन्त्री अर्ल आफ़ बर्कनहेड के उस कमीशन में जो मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-सुधार की कार्यप्रणाली की परीक्षा के लिए बना था, कुछ प्रसिद्ध भारतीयों का रखना अस्वीकार कर देने से भारत में तीव्र विरोध की लहर उठी, जिसमें माडरेट भी सम्मिलित थे। प्रत्यक्षतः उन्होंने बङ्ग-भङ्ग के कार्य से शिक्षा नहीं ली थी और इसी लिए अपने निश्चय पर डटे थे। जो सर जान सायमन मिस्टर रामज़े मैकडानल्ड की सरकार में लंदन में आज-कल वैदेशिक मंत्री हैं, उनके नेतृत्व में यह कमीशन भारत भेजा गया और यहाँ उसका भीषण बायकाट हुआ।

राजनीतिज्ञता का अभाव पाया गया। सायमन कमीशन के विरोध ने ज़ोर पकड़ा। शीघ्र ही इंडियन नेशनल कांग्रेस और सरकार में, दस वर्ष के पूर्व जलियाँ-वाला बाग़-काण्ड के पश्चात् के असहयोग-आन्दोलन की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े पैमाने पर, और भीषण रूप से संघर्ष आरम्भ हो गया।

इस विकट काल में रङ्गास्वामी ने बँगलोर की यात्रा की। उन दिनों मैं वहीं था। लवेंडर होटल में मेरे कमरे में जब देश की इस परिस्थिति पर वे मुझसे बातें कर रहे थे तब वे मुझे बहुत ही निराश-से प्रतीत हुए।

उन्होंने मुझसे कहा—कभी कभी जी में आता है कि जेल चला जाऊँ। कुछ महीने विश्राम करने का यही एक मार्ग प्रतीत होता है।

परन्तु इसके स्थान पर उन्होंने अपने पत्र को इस तूफ़ान के बीच से सावधानी से निकाला। देश में चारों

और पत्रों पर मुक़द्दमे चले, परन्तु हिन्दू इस परीक्षा से बेदाग़ निकल गया।

कुछ मास पश्चात् कार्य्यवश मुझे मदरास जाना पड़ा और वहाँ मैं कई सप्ताह रहा।

उनके कार्य्यालय में जाने पर मैं यह देखता था कि उन दिनों निकाले गये आर्डिनेंसों के कारण पत्र-सम्पादन का कार्य्य कैसा उलझनदार हो गया था। रङ्गास्वामी बराबर प्रूफ़ों पर दृष्टि रखते थे ताकि कोई ऐसी बात न निकले जिससे उनका पत्र पकड़ में आ जाय। उनका कार्य्य था, कहीं से एक वाक्य निकाल देना, कहीं से आधा। कभी कभी उन्हें पूरा पैराग्राफ या लेख रोकना पड़ता था। इस प्रकार के सम्पादकीय कार्य्य से किसी सम्पादक की आत्मा को तुष्टि नहीं मिल सकती।

अभाग्य से उन्हीं दिनों उनकी धर्मपत्नी भी एक भीषण रोग से पीड़ित थीं। व्यक्तिगत और सार्वजनिक चिन्ता ने उनके स्वास्थ्य को चौपट कर दिया।

[१४]

सरकार और कांग्रेस का सम्बन्ध जब अच्छा हुआ तब उनके लिए दूसरी राउंड टेबुल कान्फ़रेंस में भाग लेने के लिए लंदन जाना सम्भव हो गया। उनके विलायत से लौटने के बाद जब मैं जनवरी सन् १९३२ में उनसे मिला तब उन्होंने मुझसे ब्रिटेन में की भारतीय स्थिति का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि जो अधिकार रखते हैं उनमें से किसी को भारत की विकट स्थिति का अनुभव कराना कठिन है और उसको सुधरवाना तो और भी कठिन है। उन्होंने मुझसे बताया कि राउंड टेबुल कान्फ़रेंस में जाने से अगर उन्हें किसी बात के लिए प्रसन्नता थी तो वह बात यह थी कि महात्मा गाँधी ने उन्हें अपना राजनैतिक सलाहकार बनाया था।

तीसरी राउंड टेबुल कान्फ़रेंस में भाग लेना उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

इससे कुछ ही समय बाद जब पार्लियामेंट ने 'ह्वाइट पेपर' पर विचार करने के लिए दोनों भवनों की कमेटी बनाई तब उन्होंने अपना राजनैतिक मार्ग सर्वथा बदल डाला। इससे उनके बहुत-से मित्रों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उस कमेटी में योग देने के लिए उनके सरकार का निमंत्रण स्वीकार कर लेने पर उनके राजनैतिक विरोधियों ने उन पर बुरी तरह आक्रमण किया। हममें से जो उन्हें वर्षों से जानते थे, अनुभव किया कि इसका कारण कोई व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं बरन देश के शासन-विधान में सुधार करवाने की अन्तिम बार प्रयत्न कर लेने की उनकी इच्छा है।

इसमें मुझे सन्देह नहीं कि जो भयानक परीक्षा हमारी मातृ-भूमि दे रही है वही बहुत अंशों में रङ्गास्वामी के जीवन को छोटा करनेवाली थी। अपनी मृत्यु के समय वे केवल ५७ वर्ष के थे। यदि उनका सार्वजनिक जीवन इतनी कठिनाइयों से पूर्ण न होता, विशेषकर उस समय के पश्चात् से जब वे हिन्दू के सम्पादक की कुर्सी पर बैठे थे, तो वे कदाचित् अब भी हमारे बीच में होते।

यह सर्वथा मान्य हो सकता है कि रङ्गास्वामी ने अपने कतिपय राजनैतिक निर्णयों में भूल की हो। परन्तु मेरा विश्वास तो यह है कि वे एक सच्चे देशभक्त थे और अपनी अच्छी से अच्छी योग्यता से देश की सेवा करने का प्रयत्न करते थे। अध्ययन से अपनी स्वाभाविक प्रतिभा उन्होंने और भी बढ़ा ली थी और उसे उन्होंने भारतमाता के चरणों में अर्पण कर दिया था।

हाल में स्वर्गगत हुए प्रसिद्ध भारतीयों की सूची में उनके नाम का जोड़ा जाना एक दुःखद घटना है। वास्तव में हम राष्ट्रीय दुर्भाग्य के एक भयानक काल से गुज़र रहे हैं।

निश्चे ओर उसकी फ़िलासफ़ो—३

अच्छाई और बुराई की वास्तविक नींव

श्रीभाई परमानन्द जी, एम० ए०, एम० एल० ए०



अभी निश्चे तेरह बरस का था कि बुराई के आरम्भ का विचार उसके दिमाग़ में चक्कर लगाने लगा। निश्चे में बड़ी ख़ूबी यह है कि वह किसी बात को काल्पनिक आधार पर नहीं मानता। प्राचीन ग्रीस के प्रजातंत्र-राज्य मेगारा के दार्शनिक थियागन्स की उसने पुस्तक पढ़ी। जिसमें थियागन्स ने अमीरपार्टी की हर एक बात को अच्छा कहा है और ग़रीबों की हर एक बात को बुरा। मेगरा राज्य में अमीरों और ग़रीबों के दो बड़े दल थे। उसके विचार को पढ़ कर निश्चे ने समझा कि अच्छाई और बुराई भी विचित्र हैं। ये दोनों सर्वथा सापेक्ष शब्द हैं। हर एक मनुष्य अपने मतलब की बात को अच्छाई समझता है और विरोधी की बात को बुराई। निश्चे इस खोज में लगा रहा। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हमारी सब क्रियायें न अच्छी हैं, न बुरी। ये सब अनैतिक हैं। हमारे अन्दर विभिन्न प्रकार की नैसर्गिक बुद्धियाँ अर्थात् स्वाभाविक झुकाव या अन्तःप्रवृत्तियाँ हैं, जो हमसे विभिन्न प्रकार की क्रियायें करवाती हैं। हर एक अन्तःप्रवृत्ति के लिए हमारे शरीर के अन्दर एक केंद्र है। वह अन्तःप्रवृत्ति इस केंद्र से न सिर्फ़ बाहर के प्रभावों का मुक़ाबला करती है, बल्कि अन्य अन्तःप्रवृत्तियों पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती है। इस प्रकार प्रत्येक केंद्र एक तरह की शक्ति की इच्छा है। इसलिए मनुष्य भी शेष ब्रह्मांड के समान शक्ति की इच्छा से बना है जिसे आत्मा कहते हैं। आत्मा एक बड़ा ज़बर्दस्त केंद्र है। बाक़ी सब केंद्र उसके अधीन हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे सब मिलकर एक प्रकार से केंद्रों का शासक-दल हैं, जिसके हाथ में सारी शक्ति है और जो हमारे विचारों तथा चेतना की नींव है।

निश्चे की यह धारणा जिस पर यहाँ विचार किया जाता है, नवीन है। हम मोटे तौर पर मनुष्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं। एक बड़ा भाग उन लोगों का है जो मज़हब को मानते हैं। दूसरा भाग थोड़ी-सी संख्यावाले उन लोगों का है जो दर्शनशास्त्र या तर्कशास्त्र का सहारा लेकर चलते हैं। पहली श्रेणी के लोगों को तो यह सवाल कुछ कष्ट ही नहीं देता। उनका विश्वास उस ख़ुदा पर है जो संसार का अधिराज है, जो अपने नियम या इच्छा से संसार पर शासन करता है और जिसने अपने मित्रों या पैग़ंबरों के द्वारा अपने आदेश जारी कर रक्खे हैं। इन आदेशों के अनुकूल चलना अच्छाई है, इनके प्रतिकूल चलना बुराई। इस श्रेणी के लिए न तो कोई अगला क़दम है, न वे किसी ऐसे क़दम को उठाने के लिए तैयार हैं।

अब रही दूसरी दार्शनिकों की श्रेणी। इनके लिए विभिन्न कल्पनायें हैं। पहले आते हैं योगी और तपस्वी, जिनके ख़याल के मुताबिक़ बुद्धिमान् और अच्छा, अर्थात् ज्ञानी मनुष्य वह है जो अपनी इंद्रियों की इच्छाओं को मार देता है। दूसरी कल्पना भगवद्गीता की, बौद्धों की और प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट की है, जिसके अनुसार अच्छा और बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो तृष्णा को मिटा कर उससे ऊपर हो जाय। तीसरा मत उन लोगों का है जो अन्तरात्मा या ज़मीर को ही अपना पथप्रदर्शक मानते हैं। यह नैतिक प्रत्यक्ष ज्ञान की कल्पना कही जाती है।

एक और ज़बर्दस्त मत है जिसे उपयोगितावाद कहते हैं। इसके चलानेवाले अँगरेज़ दार्शनिक हैं, जो यह मानते हैं कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का उद्देश सिर्फ़ सुखलाभ करना है। दूसरे शब्दों में हर एक क्रिया का उद्देश सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने की इच्छा है। बेंथम कहता है कि हर क्रिया करते हुए मनुष्य वह तरीक़ा ग्रहण करता है जो उसके खयाल में उसे उस समय सबसे ज़्यादा सुख देगा। मिल इस मत का इन शब्दों में समर्थन करता है—किसी ऐसी इच्छा को रखना जिसका विचार सुख देनेवाला न हो, असम्भव बात है। ग्रीन 'सुख' के स्थान में 'भलाई' शब्द का प्रयोग करता है। वह कहता है—हर एक मनुष्य अपनी क्रिया की चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उस समय ऐसी तसवीर बना लेता है जिसमें उसे अपना सबसे बड़ा लाभ नज़र आता है।

यह कल्पना या मत ऐसा ही भ्रममूलक है जैसा प्रारंभिक अर्थशास्त्रियों का मत जो यह मानते थे कि मनुष्य हर एक क्रिया को, उसमें अपना लाभ समझ कर ही, करता है और उसका लाभ वही है जिसमें उसे सुख प्राप्त होता है। अर्थात् उनके खयाल में सुख और लाभ एक ही बात है। इस आधार पर वे यह खयाल पेश करते थे कि व्यापार की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इसका यह परिणाम होगा कि सभी वस्तुएँ सस्ती मिलेंगी। परन्तु वे यह बात भूल जाते थे कि मनुष्य हर समय सोच-विचार कर ही काम नहीं करता है। यही कारण है कि सैकड़ों इश्तिहारबाज़ कौड़ियों की चीज़ें देकर हज़ारों रुपया कमा लेते हैं।

डार्विन की खोज और जीवशास्त्र ने आचार-नीति के संसार में भी एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इसने न केवल यह सिद्ध किया है कि मनुष्य जानवर या पशु की हालत से उन्नति करते करते बना है, बल्कि यह भी कि शारीरिक विकास के साथ समस्त पशु-मस्तिष्क में भी वैसा ही विकास हुआ है और पशु और मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क एक ही क्रम की विभिन्न सीढ़ियाँ हैं। इस मत को सामने रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि ये मन की शक्तियाँ हैं जो मनुष्य की सारी क्रियायें उत्पन्न करती तथा चलाती हैं और हमारे दिमाग़ी विचार सिर्फ़ साधन या औज़ार के तौर पर काम करते हैं। मनोविज्ञान का बड़ा काम मनुष्य की क्रियाओं के उद्भव स्थानों के लिए उन अन्तःप्रवृत्तियों और कारणों को देखना है जो हमारे शरीर तथा मन को प्रेरित करते हैं और हमारे आचार को विशेष ढंग पर ढालते हैं।

मनुष्य के अन्दर कई विशेष स्वाभाविक या वंशानुगत अन्तःप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इनसे उसके विचार और क्रियायें बनती हैं। यही अन्तःप्रवृत्तियाँ मनुष्य के दिल और दिमाग़ की आधार-शिलायें हैं। इन अन्तःप्रवृत्तियों के बीज ऊँचे दर्जे के पशुओं में पाये जाते हैं। पशुओं की यही नैसर्गिक बुद्धि या स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्ति मनुष्य में आकर बुद्धि या विवेक बन जाते हैं। इन अन्तःप्रवृत्तियों के पीछे चलते हुए हमारी आदतें बनती हैं तथा इन आदतों से विचार और क्रियायें। सुख और दुःख हमारी क्रियाओं के उद्गम-स्थान नहीं हैं। हाँ, इतना ज़रूर है कि सुख और दुःख हमारी क्रियाओं की संस्थिति पर अपना प्रभाव डालते हैं—सुख उसे बढ़ा कर लम्बा करता है, दुःख उसे घटा कर छोटा करता है।

ये स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियाँ विभिन्न मनुष्यों और नस्लों में श्रेणी या दर्जे का अन्तर रखती हैं। लेकिन हर काल और हर स्थान में मनुष्य का स्वभाव या प्रकृति एक-सी

पाई गई है इसलिए मनुष्य की सभी क्रियायें मन की अन्तःप्रवृत्तियों से पैदा होती हैं और ये अन्तःप्रवृत्तियाँ ही मनुष्य और समाज के जीवन को बनाती हैं। इन्हीं में बुद्धि और इच्छा का केंद्रीय रहस्य छिपा हुआ पाया जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि मन की वास्तविक नींव क्या है? इसके साथ कौन कौन-सी स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियाँ मिली हुई हैं? किस प्रकार परस्पर मिल-जुल कर ये हमारी क्रियाओं का निर्णय करती हैं, यद्यपि सामाजिक परिस्थिति के अन्दर आकर ये पेचीदा तथा संगठित हो जाती हैं? और, किस प्रकार ये मनुष्य की इच्छाओं और आचारों में प्रकट होती हैं? इनका सामाजिक जीवन पर कैसे प्रभाव पड़ता है और अन्त में किस प्रकार इनसे हमारी नैतिक ख़ूबियाँ और बुराइयाँ पैदा होती हैं?

इन स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियों के विषय में डाक्टर रिशीडल कहते हैं—अच्छाई और बुराई का कच्चा मसाला एक ही है। इससे उत्पन्न हुई क्रियायें न अच्छी आचार-नीतिवाली हैं और न बुरी आचार-नीतिवाली, बल्कि वे अ-नैतिक हैं। दार्शनिक डिकार्टीज़ ने पाँच प्रारम्भिक भावों को स्वीकार किया है। वह उनके नाम ये रखता है—आश्चर्य, राग, द्वेष, इच्छा तथा शोक। हिन्दू-शास्त्र आत्मा का वर्णन करते हुए उसके छह लक्षण बताते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे किसी हद तक उपरिलिखित भावों से मिलते हैं। वे लक्षण ये हैं—इच्छा, राग, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न।

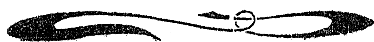
आधुनिक मनोविज्ञान इन क्रियाओं का वर्णन बिलकुल दूसरे ढंग से करता है। उसके अनुसार पशु और मनुष्य में कई ऐसी क्रियायें हैं जो आपसे आप होती रहती हैं। उदाहरणार्थ साँस लेना, ख़ून का चलना, दिल का धड़कना आदि। अन्य कई ऐसी क्रियायें हैं जो पशु और मनुष्य में नैसर्गिक क्रियायें कहलाती हैं। आम तौर पर ये क्रियायें ऐसे तीन तरह के तरीक़ों पर आश्रित होती हैं जिनका सम्बन्ध हमारे नाड़ी-संस्थान की विभिन्न नाड़ियों से है। एक वे नाड़ियाँ हैं जो बाहर के संस्कारों या प्रभावों को अन्दर ले जाती हैं। इस तरीक़े को ज्ञानात्मक कहते हैं। दूसरा तरीक़ा है भावात्मक, अर्थात् वह जो किसी वस्तु की अनुभूति को उत्पन्न करता है। तीसरा है चिचिकीर्षात्मक या व्यवसायात्मक अर्थात् वह जो उस वस्तु को अपनी ओर या अपने से परे ले जाता है। छोटे और बड़े जानवरों में किसी चीज़ के लिए जो ईहा होती है वह मनुष्य में इच्छा बन जाती है। लगातार रोकने की अनुभूति दुःख पैदा करती है, बढ़ने की अनुभूति सुख पैदा करती है। भूख विशेष शारीरिक अवस्था में प्रकट होती है। निचले दर्जे के पशु उसे अनुभव करते हैं और उसके लिए विशेष क्रियायें करते हैं। ऊँचे दर्जे के पशु परिस्थिति से प्रभावित होकर अपनी क्रियाओं को तबदील करते हैं।

स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियों के कई उदाहरण हैं। कीड़े अपने अंडे वहाँ जाकर देते हैं जहाँ किसी चीज़ से लग-कर वे ख़ूराक हासिल कर सकें। मक्खी सड़े हुए मांस पर अंडे देती है या खास फूलों पर जहाँ फूलों के अंड-स्थान उनकी ख़ूराक होती है। काबुली भिड़ मिट्टी से अपना घर बनाता है और खास क़िस्म के कीड़ों को अपने डंक से बेहोश करके वहाँ भर देता है, ताकि उसके बच्चे उन्हें खा सकें। मुर्ग़ी का बच्चा अपनी मा की आवाज़ पहचान कर उसके पास दौड़ा जाता है। गिलहरी का बच्चा पैदा होने के बाद ही सुपारी-जैसे फलों को तोड़ने लगता है। बिल्ली का बच्चा कुत्ते या चूहे को देखते ही विशेष प्रकार की क्रियायें करने लगता है, जिनसे डर, ग़ुस्सा या प्यार प्रकट होता है। भय, घृणा, क्रोध, आश्चर्य, दिखावे का शौक़, मातृ-प्रेम, काम, हम-जिंस के साथ रहने की इच्छा, ईर्ष्या आदि ऐसी स्वाभाविक अन्तः-प्रवृत्तियाँ हैं जो पशुओं और मनुष्यों में एक-सी पाई जाती हैं। जंगल के पक्षी खास आवाज़ से डरते हैं। आवाज़ के आदी हो जाने पर उनका डर चला जाता है। आदमी को देखकर वे डरते नहीं, लेकिन जब आदमी अपने साथ बन्दूक़ ले जाता है तब उससे ख़ौफ़ खाकर वे धीरे-धीरे उड़ जाते हैं। मनुष्य का बच्चा खास शकलवाले आदमी से डरता है। बाद में वह उसके जैसे कोटवाले से डरने लग जाता है। विशेष प्रकार की गंध और स्वाद से उसे

घृणा हो जाती है। ख़ास क़िस्म की आवाज़ होने पर भेड़ें इकट्ठी हो जाती हैं और आश्चर्य के साथ देखने लगती हैं। अगर कुत्ता हड्डी चबा रहा हो तो हड्डी हटा देने से उसका ग़ुस्सा भड़क उठता है। बच्चे को खाने से रोको तो वह ग़ुस्से में आ जाता है। पशु हो या मनुष्य, उसकी कामेच्छा रोकने से वह जल उठता है। मोर और कबूतर अपनी अपनी दुम फैला कर दूसरों को दिखाते हैं। अपनी नस्ल को बढ़ाने की इच्छा स्वाभाविक है। एक प्रकार की मछली दस लाख अंडे देती है, परन्तु बचते उनमें से दो ही हैं। कई मछलियाँ घोंसलों में अंडे देती हैं और उनकी निगहबानी करती हैं। बँदरिया अपना बच्चा, मर जाने पर भी, छाती से लगाये रखती है—तब तक जब तक उसकी हड्डियाँ सूख कर आपसे आप गिर नहीं जातीं। जिस समाज में मातृ-प्रेम नहीं रहता वह पतित होकर नष्ट हो जाता है। पक्षी, कुत्ता और बिल्ली—इनके बच्चों को दुःख देने से वे ग़ुस्से से भर जाते हैं। यह ग़ुस्सा वह बीज है जिससे न्याय और क़ानून का ख़याल पैदा होता है। बच्चे के गिर्द बाँह डालकर मिलना उसकी रक्षा के ख़याल से जारी हुआ मालूम देता है। रोम के इतिहास में सुल्ला-नामक शासक की ओर से कराई गई गिरफ़्तारियों के समय देखा गया कि यद्यपि कई बेटों ने अपने पिताओं के विरुद्ध बयान दिये तथापि किसी एक पिता ने अपने बेटे को नहीं पकड़वाया। कामेच्छा का मातृ-प्रेम से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका लाभ स्पष्ट है। उससे प्रकृति नर और मादा—पशु और मनुष्य दोनों में—के बीच सदा के लिए सहयोग और पारस्परिक प्रेम का रास्ता बनाती है, ताकि उनकी नस्ल सुरक्षित रह कर उन्नति कर सके। इसी प्रकार मनुष्य एकत्र हुए लोगों को देख कर ख़ास ख़ुशी हासिल करता है। मेले और खेल-तमाशे साधारणतया इसलिए रौनक़वाले होते हैं कि उनमें बहुत भीड़ होती है। बैल, घोड़ा आदि जानवर भी अपने साथियों के अन्दर रहकर विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार हमारा प्रेम, घृणा और सहानुभूति स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियों से एक क़दम आगे जाते हैं। ये कई अन्तःप्रवृत्तियों के सम्मिश्रण से बने होते हैं और विशेष व्यक्तियों में केंद्रीभूत होते हैं। अँगरेज़ी-भाषा में इनका 'सेंटीमेंट्स' नाम है। जब एक मनुष्य किसी से प्रेम करता है तब उससे कई भाव उत्पन्न होते हैं। प्रेम-पात्र की उपस्थिति में सहानुभूति, उसके संकट से भय, उसके धमकाने से क्रोध, उसके शोकातुर होने पर शोक, उसके सुख से सुख और घृणा से ठीक उसका उल्टा। किसी मनुष्य का स्वभाव उन सभी स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्तियों का जमाव होता है जो उसके अन्दर पाई जाती हैं। इस स्वभाव के ही आधार पर परिश्रम और प्रयत्न से ग्रहण की हुई ख़ास आदतों की इमारत ही उस मनुष्य का चरित्र कहा जाता है। इसके साथ ही मनुष्य के अन्दर 'स्व' या ख़ुदी का ख़याल उन्नति करता चला आता है। इस ख़याल के मज़बूत हो जाने पर संकल्प-शक्ति उत्पन्न होती है। स्व या आत्मा के ख़याल के बग़ैर समाज नहीं बन सकता और, जैसा कि कहा गया है, हमारा आचार बिलकुल सामाजिक मामला है। समाज की उन्नत अवस्था में मनुष्य के लिए अपने आप पर क़ाबू पाने अर्थात् संयम की ज़रूरत होती है और संकल्प-शक्ति के बिना यह संयम प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ पहुँच कर हम इस समस्या की दूसरी मंज़िल में आ जाते हैं।

[क्रमशः



एक सामाजिक कहानी

तोता

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त





(१)

अवध के बरेली शहर से कुछ दूर राजापुर नामक एक गांव है। उस गांव में एक गृहस्थ का घर था। वह जाति का क्षत्रिय था। नाम था सुचेतसिंह। उसके घर में उसकी विधवा माता, उसकी पत्नी और विधवा बहन थी। सुचेतसिंह की उम्र छब्बीस और उसकी बहन की तेईस वर्ष की थी। बहन का नाम पार्वती था। पार्वती सुन्दरी थी, सन्तान आदि न होने के कारण उसकी उम्र और भी कम जान पड़ती थी।

सुचेतसिंह के पास कुछ ज़मीन थी, वह खेती-बारी करता था। उसके पास कुछ आम और महुए के पेड़ भी थे। उसके घर के लोग गर्मियों में महुए सुखा लेते थे, और स्त्रियाँ आटे के साथ मिलाकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाती थीं। गांव में कई कुएँ और एक तालाब था। गांव के लोग इन्हीं कुओं से पानी भरते थे और तालाब में नहाते थे। गांव के एक किनारे राम, सीता और हनूमान् का एक मन्दिर था। गांव के स्त्री-पुरुष वहाँ जाकर पूजा करते थे।

गांव के ज़मींदार का नाम बाबू बांकेविहारी था। वे युवक थे। सत्ताईस बरस के लगभग उनकी उम्र होगी। वे आलसी स्वभाव के विलासप्रिय व्यक्ति थे, अपनी प्रजा को बहुत तंग करते रहते थे। वे बहुधा गांव में नहीं रहते थे। बरेली में उनके दो मकान थे, परन्तु वे लखनऊ में किराये का मकान लेकर रहते थे और वहीं आमोद-विनोद में अपना समय व्यतीत किया करते थे। मालगुज़ारी वसूल करने के समय अथवा किसी पर्व में गांव आते-जाते थे। उनके साथ हमेशा कई गुंडे बने रहते थे। आदेश पाते ही वे गाँववालों पर अत्याचार करने लगते थे। गांव में एक अखाड़ा था। सुचेतसिंह उसमें जाकर कुश्ती लड़ता था और लाठी चलाना सीखता था। सुचेतसिंह बलवान् था, अतएव बांकेविहारी के गुंडे उससे नहीं बोलते थे। वह किसी से डरता नहीं था, न किसी से झगड़ा ही कभी मोल लेता था।

बांकेविहारी यद्यपि दुश्चरित्र व्यक्ति था, तो भी अब तक गांव की किसी स्त्री पर अत्याचार करने की चेष्टा उसने नहीं की थी। असल बात तो यह थी कि वह गाँव में एक प्रकार से रहता ही नहीं था। ज़मींदारी का रुपया वसूल करके शहर में जाकर मौज करता रहता था।

एक दिन शाम को कुछ बादल उमड़े थे। आकाश के पश्चिम-प्रान्त में बादलों का रंग गुलाबी हो उठा था, और मध्य-प्रान्त में काले बादलों का समूह एकत्र हो गया था। ठहर ठहर कर बिजली की एक अलसाई-सी रेखा निकल कर बादलों में मिल जाती थी। कभी कभी दूर से बादलों का रव सुनाई दे जाता था, हवा बन्द थी, पानी बरसने की अधिक सम्भावना नहीं थी। ऐसे समय में बाँकेविहारी दो लठैतों के साथ गाँव के रास्ते से जा रहा था। बाँकेविहारी आगे था, दोनों अनुचर पीछे थे। बाँकेविहारी के सिर पर ज़री की गोल टोपी तिरछी लगी थी। शरीर में मलमल का कुर्ता और उस पर लाल फतुही थी। वह पण्डिताऊ धोती और ज़री-दार पंजाबी जूते पहने था। उसे कोई जल्दी नहीं थी, पान चबाते और इधर-उधर देखते हुए वह मटरगश्ती के साथ जा रहा था।

पार्वती किसी काम से उधर ही गई थी। बादल की घटायें देखकर वह जल्दी घर लौटने का उपक्रम कर रही थी। शीघ्रता से चलने के कारण उसके सिर और छाती का वस्त्र कुछ हट गया था। राह में वह बाँकेविहारी के सामने पड़ गई। वह तुरन्त मस्तक और वक्षःस्थल के वस्त्र को संयत करके द्रुत गति से चल दी।

पलक मारते ही बाँकेविहारी ने सब कुछ देख लिया। पार्वती की चकित, त्रस्त दृष्टि, उसके मुँह का अनुपम सौन्दर्य और अंग का लावण्य आदि सब पर उसकी दृष्टि पड़ी। जब तक पार्वती को पीठ की ओर से देखा जा सका, वह देखता रहा। तब उसने दोनों अनुचरों से पूछा—यह कौन है ?

अनुचरों में से एक ने उत्तर दिया—यह सुचेतसिंह की विधवा बहन है। नाम पार्वती है।

बाँकेविहारी ने और कोई बात नहीं पूछी, न कुछ बोला। न जाने क्या सोचता हुआ वह अपने घर चला गया।

(२)

इसके पहले बाँकेविहारी गाँव में अधिक दिनों तक नहीं ठहरता था, कुछ दिन रह कर ही शहर चला जाया करता था। इस बार गाँव छोड़ने की उसकी इच्छा नहीं होती थी। यही नहीं, उसने गाँव में अकेले घूमना प्रारम्भ किया। जो दो व्यक्ति उसके साथ हमेशा रहते थे उन्हें उसने साथ ले जाना बन्द कर दिया। सवेरे वह कभी तालाब के नज़दीक, कभी मंदिर के नज़दीक और कभी गाँव के भीतर निरुद्देश घूमता फिरता।

राजापुर से मिला हुआ सूजाबाद नाम का एक छोटा-सा गाँव था। एक दिन पार्वती उस गाँव को अपने चाचा के घर गई थी। उसे लौटने में शाम होगई। दोनों गाँवों के बीच में एक मैदान था। उस मैदान में वह पहुँची नहीं कि एकाएक वर्षा होने लगी। वर्षा ज़ोर से नहीं हो रही थी, परन्तु थोड़ी वर्षा में ही कपड़े भीग जाते हैं। पार्वती ने यह नहीं देख पाया था कि उसके पीछे पीछे एक व्यक्ति छाता लगाये हुए आ रहा है। पार्वती तुरन्त मैदान के बीच में एक महुए के पेड़ के नीचे जाकर खड़ी होगई। जो व्यक्ति छाता लगाये आ रहा था वह भी पेड़ के नीचे आकर खड़ा होगया।

वह बाँकेविहारी था। उसने अपना छाता उतार लिया और कहा—पार्वती, मुझसे दो बातें करने में क्या कोई दोष है ?

पार्वती निरुत्तर थी। बाँकेविहारी ने एक पग आगे बढ़कर अनुनय करके कहा—तुम मेरी बात ही नहीं सुनती हो। मुझे तुमसे बहुतेरी बातें करनी हैं।

पार्वती इस बार बोली—तुम मुझसे कौन-सी बातें करोगे ? अगर कोई अनुचित बात कहोगे तो मैं अपने भाई से कह दूँगी।

"पहले बात तो सुन लो। अपने भाई से क्या कहोगी ? सभी बातें क्या हर एक से कही जाती हैं ?"

"तुम्हें मुझसे बात करते हुए कोई देख लेगा तो क्या सोचेगा ?"

बाँकेविहारी को अब कोई सन्देह नहीं रह गया। उसने कहा—कौन देख सकेगा ?

वर्षा बन्द होगई, परन्तु आकाश के बादलों के घिरे होने के कारण अँधेरा होने में देर न लगी। बाँकेविहारी

एकान्त में मिलने के लिए पार्वती को तङ्ग करने लगा। उसने पहले कई बार अस्वीकार किया, अन्त में राज़ी होगई। बांकेविहारी पेड़ के नीचे ही खड़ा रहा। पार्वती अपने घर चली गई। उसके हृदय में बड़ी हलचल मची थी और तरह तरह की चञ्चलता उत्पन्न हो रही थी, परन्तु घर में प्रवेश करने पर उसने अपना उद्वेग दबा लिया।

उसकी मा ने पूछा—क्यों री परबतिया, तुझे घर लौटने में इतनी रात क्यों होगई? पानी में भीग तो नहीं गई?

पार्वती ने कहा—अभी रात कहाँ हुई है? पानी बरसने के कारण एक पेड़ के नीचे खड़ी होगई थी, बूँदों के थमते ही चली आ रही हूँ।

उसने बांकेविहारी से अपनी भेंट अथवा वार्ता की कोई बात नहीं बताई।

बांकेविहारी ने अपने मकान के समीप ही एक बैठकख़ाना बनवाया था। उसमें कोई नहीं रहता था। मैदान की ओर से उसमें छिपकर जाने का मार्ग था। एक दिन शाम होने के बाद पार्वती सबसे छिपकर वहाँ जा पहुँची। दरवाज़े के समीप ही बांकेविहारी उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह उसे अपने साथ एक कमरे में लिवा ले गया। कमरे में प्रकाश हो रहा था, उसकी सब खिड़कियाँ और झरोखे बन्द थे।

पार्वती बोली—तुम्हारी बात मानकर मैं आज चली आई हूँ, परन्तु फिर कभी नहीं आऊँगी। लोग सुन पायेंगे तो मेरा सिर काट डाला जायगा।

एक सन्दूक़ खोलकर बांकेविहारी ने पार्वती को बहुत-सा ज़ेवर दिखाया और कहा—यह सब तुम्हारा है?

पार्वती बोली—इसे लेकर मैं क्या करूँगी? क्या घर ले जाकर सबको दिखाऊँगी?

बांकेविहारी ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—तुम यहाँ क्यों रहोगी? मैं तुम्हें शहर में लिवा जाकर अलहदा मकान बनवा दूँगा, तुम राजरानी की तरह रहोगी।

"और जब दो दिन के बाद निकाल बाहर करोगे तब मैं कहाँ खड़ी होऊँगी?"

"कैसी पागलों की-सी बातें कर रही हो? तुम्हें मैं कभी नहीं छोड़ूँगा, हमेशा सुख से रक्खूँगा।"

चार-पाँच दिन के बाद आधी रात के समय पार्वती चुपचाप घर से बाहर निकली। सारा गाँव निस्तब्ध और निद्रामग्न था। अँधेरी रात थी। पार्वती डर से इधर-उधर देखती हुई जल्दी जल्दी गाँव से बाहर निकल गई। गाँव के बाहर एक बड़ के पेड़ के नीचे अन्धकार में एक मोटर खड़ी थी। पार्वती के वहाँ पहुँचते ही मोटर का दरवाज़ा खोलकर बांकेविहारी ने पार्वती का हाथ पकड़ कर उसे भीतर खींच लिया। इतने में ही सरसराती हुई मोटर चल दी।

सवेरा होते ही पार्वती की खोज शुरू हुई। वह किसी से कुछ कहे-सुने बिना कहाँ चली गई? गाँव में कहीं ढूँढ़े न मिली तब सुचेतसिंह के मन में बड़ा संशय उत्पन्न हुआ। उसने सोचा, इस बार बांकेविहारी इतने दिनों तक गाँव में क्यों रहा? वह बांकेविहारी के घर पहुँचा। वहाँ उसने सुना कि बांकेविहारी गाँव में नहीं है, वह कहीं गया है। वह कहाँ और कब गया, यह वहाँ किसी ने नहीं बताया। बार बार पूछने के कारण बांकेविहारी के आदमियों ने नाराज़ होकर उसे बाहर निकाल दिया। सुचेतसिंह ने देखा कि बांकेविहारी की मोटर नहीं है, वह मोटर में ही बैठकर कहीं गया है।

घर लौटकर सुचेतसिंह ने अपने कपाल पर हाथ मारकर कहा—परबतिया हम लोगों के मुँह में कालिख लगा गई, ज़मींदार के साथ भाग गई।

सुचेतसिंह की मा और स्त्री रोने लगीं।

(३)

पार्वती को बांकेविहारी बरेली लिवा ले गया। वहाँ उसके दो मकान थे—एक बड़ा और एक छोटा। बड़े मकान में बांकेविहारी प्रकटरूप से रहता था, छोटा मकान उसके आमोद-प्रमोद के लिए था। वह पार्वती को अपने छोटे मकान में लिवा गया। उसमें

एक रसोइया, एक नौकर और एक दासी रहती थी। पार्वती स्वयंपाकी थी, वह अपने अथवा अपनी मा के हाथ का बनाया हुआ भोजन करती थी। उसने रसोइये के हाथ का भोजन करने से अस्वीकार कर दिया, अपने हाथ से ही बनाकर खाया। उसे मकान में छोड़कर बाँके-विहारी अपने रहने के मकान में चला गया। रात को भोजन आदि करके लौटा।

पार्वती के कुछ दिन बड़े सुख से कटे। किसी किसी दिन शाम होने के बाद बाँकेविहारी मोटर में बिठाकर उसे घुमाने ले जाता, और निर्जन उद्यान में उसे लेकर घूमता था। अब पार्वती के शरीर पर कुछ ज़ेवर और मूल्यवान् वस्त्र शोभा पाने लगे थे। परन्तु वह अधिक दिन निश्चिन्त होकर न रह सकी। बीच बीच में बाँकेविहारी ने रात को शराब पीकर आना शुरू किया। नशे की हालत में वह शोरगुल मचाता, पार्वती को गालियाँ देता और उसे मारने लगता। उसके बाद अनुतप्त होकर फिर कुछ दिन वह ठीक से रहा। पार्वती को आत्मग्लानि होने लगी। परन्तु अब तो कोई उपाय नहीं रह गया था। वह अपना काला मुँह गाँव में कैसे दिखा सकती थी, गाँव में उसे कौन जगह देता? रात दिन उसके हृदय में वृश्चिकदंशन की ज्वाला जलने लगी।

पार्वती के घर से भाग जाने की बात गाँव का बच्चा बच्चा जान गया। सबने यह बात भी जान ली कि वह बाँकेविहारी के साथ चली गई है। गाँव के लोग बड़े नाराज़ हुए। परन्तु नाराज़ होकर वे कर ही क्या सकते थे? वे लोग प्रजा ठहरे, बाँकेविहारी ज़मींदार था। उसके पास अर्थबल और जनबल था और प्रजा दरिद्र, बलशून्य थी। सुचेतसिंह पागल हो उठा था। ऐसी दशा में यदि वह बाँकेविहारी को देख लेता तो शायद उसका खून कर डालता। कुछ दिनों तक वह अपने हाथ में छुरा लिये घूमता रहा। गाँव के बड़े-बूढ़ों ने समझा-बुझाकर उसके हाथ से छुरा छीन लिया। बाँकेविहारी के भाई-बन्द और नौकर-चाकर सुचेतसिंह को देखकर कतरा कर निकल जाते। सुचेतसिंह पता लगाने लगा कि बाँके-विहारी पार्वती को कहाँ लिवा ले गया है, परन्तु वह पक्की खबर न पा सका। बाँकेविहारी के नौकरों ने भी कुछ नहीं बताया।

इस प्रकार तीन महीने बीत गये। तब ज़मींदारी के किसी विशेष काम से बाँकेविहारी को एक दिन गाँव आना पड़ा। वह पार्वती को अपने साथ नहीं लाया, उसे शहर में ही छोड़ आया।

बाँकेविहारी के गाँव आने की बात प्रत्येक व्यक्ति के कानों तक फैल गई। वह गाँव के भीतर नहीं जाता था, अपने मकान के समीप ही इधर-उधर घूमता रहता था। एक दिन सवेरे के समय वह टहल रहा था। साथ में हाथ में लाठी लिये हुए दो अनुचर थे। मैदान के बीच में दोनों ओर आम और महुए की वृक्ष-श्रेणियाँ थीं। एक महुए के वृक्ष के खोखले में सुचेतसिंह छिपा हुआ था, उसे कोई देख नहीं सकता था। बाँकेविहारी ज्यों ही उस पेड़ के सामने आया, त्यों ही सुचेतसिंह कूद कर उसके समीप जा पहुँचा और जूता उतार कर उसके मुँह पर पटापट जमाना शुरू किया। बाँकेविहारी के नाक और मुँह से खून की धारा बह चली, माथा चकरा जाने के कारण वह बीच राह में गिर पड़ा। उसके दोनों अनुचर कुछ पीछे रह गये थे, वे चीत्कार करके सुचेतसिंह पर आक्रमण करने को दौड़े। सुचेतसिंह ने तत्क्षण बाँकेविहारी को उठाकर अपने सिर पर लाद लिया, जिससे एक अनुचर का लट्ठ बाँकेविहारी के सिर पर ही आ लगा और उसका सिर फट गया। नौकर ने डर के मारे चीत्कार करके अपनी लाठी ज़मीन पर फेंक दी। सुचेतसिंह ने बाँकेविहारी को ज़मीन पर फेंक कर वह लाठी उठा ली। दूसरा लठैत सुचेतसिंह के बल से परि-चित था, वह पीछे हट गया। जिसकी लाठी बाँकेविहारी के सिर पर लगी थी, वह हतबुद्धि-सा वहीं खड़ा रहा।

गोलमाल सुनकर गाँव के लोग लाठी ले लेकर वहाँ जा पहुँचे। बाँकेविहारी के मकान से भी कुछ लोग आये। बाँकेविहारी का मस्तक रक्ताक्त था, वह उठ बैठा था। दङ्गा हो जाने की सम्भावना देखकर उसने अपने आद-मियों से कहा—इस समय और कुछ न करो, मुझे घर ले चलो। वे लोग बाँकेविहारी को उठाकर घर लिवा गये।

गाँव के लोगों ने सुचेतसिंह को घेरकर उसे घर पहुँचा दिया।

युवकों ने कहा—बड़ा सुन्दर हुआ। सुचेतसिंह ने बड़ी अच्छी शिक्षा दी।

बूढ़े बोले—ज़मींदार से क्या हम लोग जीत सकेंगे? जल में रहकर कहीं मगर से लड़ाई की जा सकती है?

सुचेतसिंह कह उठा—जो होगा मुझे होगा। आप लोग क्यों डरते हैं? जो कुछ किया है, अकेले मैंने किया है, उसके लिए मैं जवाबदेह हूँ।

(४)

नालिश-फ़रियाद कुछ नहीं हुई। एक तो एक प्रजा ने ज़मींदार को जूतों से मारा है, यह बात अदालत में ज़ाहिर करना अपमानजनक थी, दूसरे असल बात के ज़ाहिर हो जाने पर बाँकेविहारी सबके सामने लज्जित होता। इसलिए मार खाकर भी उसे छिपा जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। बाँकेविहारी ने सोचा, मार ही खाई होती तो भी कोई बात न थी, परन्तु उसने तो एक-दम मुँह पर जूते मारे। सुचेतसिंह को दूसरे उपाय से परेशान करना पड़ेगा। बाँकेविहारी के मन में आया कि सुचेतसिंह लठैतों के हाथ से पिटवाया जाय। परन्तु उससे भी दङ्गा हो जाने की सम्भावना थी। गाँव के सभी लोग सुचेतसिंह के पक्ष में थे, उसे मारने पर स्वभावतः दङ्गा हो जाता। अतएव बाँकेविहारी ने तय किया कि सुचेतसिंह को मामले-मुक़द्दमे के जाल में फाँसकर उसका सर्वस्वान्त कर दिया जाय, परन्तु यह उपाय भी समय-सापेक्ष था। इच्छा होते ही तुरन्त कुछ नहीं किया जा सकता था।

जिस अभागे नौकर की लाठी से उसके सिर में चोट लगी थी, बाँकेविहारी ने अपने मन की आग पहले उसी पर बुझाई। मारते मारते उसे बेदम कर दिया। वह यह कह कर जितना ही चीख़ा कि मेरा कोई अपराध नहीं है, उतना ही पिटा। बाँकेविहारी ने प्रहार करते हुए उससे कहा, बदमाश, तूने अपनी लाठी क्यों नहीं सँभाल ली? सुचेतसिंह को न मार कर मेरे सिर पर उसे क्यों दे मारा?

नौकर को बाँकेविहारी ने पीटा तो ख़ूब, परन्तु उसे नौकरी से नहीं निकाला। निकाल दिया जाता तो वह जहाँ जाता वहाँ बाँकेविहारी के विरुद्ध जो जी में आता, बकता फिरता।

गाँव में बाँकेविहारी को अपना मुँह दिखाना कठिन होगया। सिर और मुँह के घावों के अच्छे होते ही वह बरेली चला गया।

नौकर को मारकर बाँकेविहारी के क्रोध और अपमान की ज्वाला नहीं बुझी। दाँव लगने पर वह सुचेतसिंह को मार ही डालता, अधमरा तो ज़रूर कर देता, परन्तु उसे शीघ्र ही दाँव में पाना कठिन था। उसकी बहन बाँकेविहारी के हाथ में ही थी। बाँकेविहारी ने उसे ही दण्ड देकर अपना क्षोभ मिटाना चाहा और उस छोटे मकान में जाकर पार्वती और उसके भाई को गालियाँ बकने लगा।

पार्वती क्रोध से लाल हो उठी। वह बोली—तू मेरे भाई को गालियाँ क्यों दे रहा है, उसने तेरा क्या बिगाड़ा है? बल्कि तूने ही उसे बेइज़्ज़त कर डाला।

बाँकेविहारी दाँत पीस कर बोला—उसने सबके सामने मुझे जूते मारे हैं। उसकी यह स्पर्धा मिट्टी में मिला दूँगा। उसे भिखारी बनाकर जेलख़ाने की हवा खिलाऊँगा।

पार्वती ने विकट हास्य करके कहा—ख़ूब किया, बहुत अच्छा किया। जैसा मुँह है, वैसे ही जूते पड़े। तू मेरे भाई को पहचानता नहीं है?

बाँकेविहारी ने पार्वती को लात मारकर ज़मीन में गिरा दिया। उसके बाद उसकी चुटिया पकड़ कर धक्के देता हुआ बोला—हरामज़ादी, मेरे घर से बाहर निकल जा।

पार्वती रोई नहीं, न कुछ बोली, चुपचाप घर से बाहर निकल गई।

रात ज़्यादा नहीं बीती थी। थोड़ी देर के बाद ही बाँकेविहारी डरा कि रास्ते में कहीं पार्वती से किसी की भेंट न हो जाय और वह सारी बातें खोल दे। कहीं गाँव में ही पहुँचकर गाँववालों से सब कुछ कह न दे। वह मकान से बाहर निकलकर पार्वती को ढूँढ़ने लगा,

परन्तु उसे कहीं न पा सका। बांकेविहारी ने सोचा कि पार्वती को घर से निकाल कर मैंने अच्छा नहीं किया। उसके मन में नाना प्रकार की आशङ्कायें उठने लगीं। परन्तु उसे अपनी करनी पर अनुताप नहीं हुआ।

दो दिन के बाद सवेरे के समय स्त्रियों ने गांव के तालाब में जाकर देखा कि पार्वती की मृत देह पानी में उतरा रही है। इस घटना से गांव में हलचल मच गई। पुलिस ने घटना-स्थल पर पहुँच कर जांच की। जाँच-पड़ताल के बाद सारी बातें खुल गईं। परन्तु बांकेविहारी ने विपुल अर्थव्यय करके पुलिस को अपने पक्ष में मिला लिया। पार्वती ने आत्महत्या कर ली थी, अतएव कोई इस मामले में अपराधी नहीं साबित किया गया।

दो महीने के बाद सुचेतसिंह की मा की मृत्यु हो गई। तब उसने अपने मकान में ताला डाल दिया और अपनी स्त्री को उसके मायके लिवा गया। वहाँ जाकर उसने स्त्री से कहा—तुम कुछ दिनों तक अपने नैहर में रहो। फिर मैं तुम्हें लिवा ले जाऊँगा।

स्त्री ने पूछा—तुम क्या घर लौट जाओगे ?

"नहीं, मैं तीर्थ करने जाऊँगा। तुम यहां निश्चिन्त होकर रहो।"

सुचेतसिंह की स्त्री बेचारी इस बात का क्या उत्तर देती। वह चुप होगई।

बांकेविहारी को पता चल गया कि सुचेतसिंह ने अपनी स्त्री-सहित गांव छोड़ दिया है। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने मुसाहबों के पास पहुँचकर बोला—देखा, मेरे डर से सुचेतसिंह गांव छोड़कर भाग गया। उलझन मिटी। उसे भगाने के लिए मुझे कुछ ख़र्च करना पड़ता, अपने आप ही चला गया, बला शान्त हुई।

(४)

पाँच वर्ष बीत गये। गांव के लोग सारा वृत्तान्त प्रायः भूल गये। पार्वती की आत्महत्या की बात कोई नहीं करता था। बीच बीच में सुचेतसिंह की चर्चा अवश्य होती थी। सबको विस्मय था कि वह जाने कहाँ चला गया, जाने कभी गांव को लौटेगा या नहीं। सुचेतसिंह के ससुरालवालों को भी उसका कुछ पता न था। अपनी स्त्री को उसके पिता के घर में छोड़ते वक्त वह तीर्थ-यात्रा करने की बात कह गया था। तब से उसका कोई संवाद ही नहीं मिला। तीर्थ-यात्रा करने में कहीं पांच वर्ष लगते हैं! गांव अथवा ससुराल में न लौटने पर वह चाहता तो एक चिट्ठी भेज सकता था। परन्तु वह एक-दम गुम होगया।

बांकेविहारी कभी कभी गांव जाता था। सुचेतसिंह घर छोड़कर चला गया था, तो भी बांकेविहारी अपने अपमान की बात अब तक नहीं भूल सका था। गांव के किसी भी आदमी से मिलने पर वह समझता कि यह व्यक्ति मन ही मन उसका उपहास कर रहा है। गांव आने पर वह घर से बाहर नहीं जाता था। गांव में उसे अच्छा भी नहीं लगता था। लगता कैसे ? न आमोद-विनोद की सामग्री थी, न यारदोस्त थे। चुपचाप घर में बैठा रहना पड़ता था। बरेली में भी वह अधिक नहीं रहता था। वह लखनऊ में ही ज़्यादा रहता था। वह नवाबी शहर ठहरा, वहाँ घूमने को तमाम जगहें थीं, नाना प्रकार का आमोद था। हज़रतगंज, अमीनाबाद, क़ैसरबाग़, पुराना शहर जहाँ चाहो, घूमो फिरो। बांकेविहारी पुराने शहर में एक बड़ा मकान किराये में लेकर रहता था। वहाँ सब कुछ मौजूद था। जब इच्छा हो नाच-गान देखो-सुनो, जी चाहे वेश्याओं के घर चले जाओ, चाहे उन्हें घर बुलवा लो। मकान के नीचे की दूकानों में एक युवती पानवाली पान बेचती थी। बांकेविहारी बरामदे में खड़े होकर रस्सी से बँधी हुई छोटी टोकरी में पैसे रख कर उसे लटका देता था, पानवाली पैसे लेकर टोकरी में पान के दोने रख देती थी। बांकेविहारी रस्सी खींच कर टोकरी उठा लेता था और पान निकाल लेता था। उस समय वह कभी कभी कुछ हँसी-मज़ाक भी करता था।

बांकेविहारी पानवाली से कहता—तुम टोकरी में बैठ जाओ, मैं तुम्हें खींच लूँ।

पानवाली आँखें मटका कर मिस्सी के दांत निकाल कर कहती—ऐसा क्यों करूँ, ज़ीने ने कौन-सा पाप किया है ?

"ज़ीने से तो सभी कोई आते हैं, तुम एक नये रास्ते से आओ।"

"क्या मैं पान की बीड़ी हूँ" ?

"तुम अनार की कली हो"।

पानवाली मुँह बिचका कर कहती—बाबू जी की बातें !

(६)

एक दिन सवेरे नौ बजे के क़रीब एक मुसलमान बाँकेविहारी के मकान के समीप खड़ा होकर इधर-उधर ताक रहा था। उसकी आकृति बलिष्ठ थी, दाढ़ी घनी थी, आँखों में नीला चश्मा लगा था, सिर पर लाल तुर्की टोपी थी, जिसमें काले सूतों का एक गुच्छा लटक रहा था। वह काले अलपाके की शेरवानी, चूड़ीदार सादा पायजामा और ज़रीदार पंजाबी जूते पहने था। हाथ में पीतल के अड्डे पर एक तोता था। पानवाली की दूकान में एक और मुसलमान मुँह में पान चबाता हुआ उससे गप लड़ा रहा था। तोतेवाला व्यक्ति दूसरे मुसलमान के निकट जाकर बोला—सलाम-आले-कुम ! पान चबानेवाले मुसलमान ने उत्तर दिया—आले कुम अस्सलाम ! आप परदेशी-से जान पड़ते हैं।

"मैं दिल्ली शहर का रहनेवाला हूँ। यहाँ नया ही नया आया हूँ। मैं बाज़ीगरी करता हूँ, तमाशा दिखाता हूँ। सामने का यह बड़ा मकान किसका है" ?

पानवाली ने हँस कर इन लोगों की बातों में योग दिया। उसने कहा—इस मकान में राजापुर के ज़मींदार बाबू बाँकेविहारी रहते हैं। बड़े शौक़ीन आदमी हैं, कितने ही तमाशेवाले उनसे बख़शीश ले जाते हैं। आप के हाथ का तोता पढ़ता है क्या ?

"नहीं, वह पढ़ता नहीं, बाज़ीगरी के तमाशे करता है"।

"हमें तुम्हारा तमाशा देखने को नहीं मिलेगा" ?

"मिलेगा क्यों नहीं ? ज़रूर देखना। पहले एक बार बाबू साहब के यहाँ हो आऊँ"।

"सो तो ठीक है। अमीरों के घर में ज़्यादा रुपया मिलता है।"

बाज़ीगर बाँकेविहारी के मकान पर जा पहुँचा। फाटक पर एक दरबान बैठा था। उसने पूछा—क्या चाहते हो ?

"मैं दिल्ली का बाज़ीगर हूँ। रईसों को तमाशे दिखाता हूँ"।

दरबान बोला—सब्र करो। बाबू साहब इस वक्त फ़ुर्सत में हैं कि नहीं, देख आऊँ।

दरबान ख़बर देने गया। बाज़ीगर दरवाज़े के नज़दीक खड़ा रहा। बाँकेविहारी अपने दुतल्ले के बैठक-ख़ाने में आराम-कुर्सी पर बैठा हुआ कुछ मित्रों से गप कर रहा था। दरबान ने आकर कहा—हुज़ूर, दिल्ली से एक मदारी आया है।

"काहे के तमाशे करता है ?"

"कह नहीं सकता। उसके हाथ में एक तोता है"। मित्रों में से एक ने कहा—दिल्ली का बाज़ीगर होगा तो अच्छे तमाशे दिखायेगा। बुलाकर देखा क्यों न जाय ?

बाँकेविहारी ने दरबान से कहा—उसे बुला लाओ।

बाज़ीगर आया। बाँकेविहारी और उसके मित्रों को झुककर सलाम करके उसने कहा—तसलीम।

बाज़ीगर का चेहरा भव्य था, पोशाक भी अच्छी थी। अपने जूते वह दरवाज़े के बाहर ही उतार आया था।

बाँकेविहारी ने अलस दृष्टि से बाज़ीगर की ओर देख-कर कहा—मियाँ साहब, तुम्हारी आँखों में नीला चश्मा क्यों लगा है ?

"हुज़ूर, मेरी आँखें कमज़ोर हैं, रोशनी बरदाश्त नहीं कर सकतीं, हर वक्त चश्मा लगाये रहना पड़ता है"।

बाँकेविहारी के एक दोस्त ने हँसी में कहा—शेख़ साहब, तुम दिल्ली से आ रहे हो, दिल्ली के लड्डू नहीं लाये ?

"जनाब, दिल्ली के लड्डू दिल्ली में ही मिलते हैं, बाहर नहीं ले जाये जाते।"

दूसरे दोस्त ने कहा—ख़ासा जवाब है। तुम्हारे हाथ की चिड़िया क्या कोई तमाशा करती है ?

"सारे तमाशे यही करती है हुज़ूर। हुक्म हो तो कुछ दिखलाऊँ।"

बाँकेविहारी ने हाथ उठाकर जम्हुहाई लेते हुए कहा—दिखाओ।

बाज़ीगर ने शेरवानी के भीतर से एक थैली बाहर निकाली। पहले उसने उस थैली से तीन छोटी छोटी डिबियाँ निकालीं। तीनों डिबियाँ उसने एक पंक्ति में शतरंजी पर रख दीं। तब कहा—आप लोगों में से एक सज्जन किसी एक डिबिया में कोई वस्तु रख दें। मैं पक्षी को आड़ में करके खड़ा हो जाता हूँ, वह देख न सकेगा। उसके बाद पक्षी उस वस्तुवाली डिबिया को अलग कर देगा।

बाज़ीगर पक्षी को लेकर पीठ फेरकर खड़ा होगया। बाँकेविहारी ने पाँसा खेलने की एक गुट्टी एक डिबिया के नीचे दबा दी। बाज़ीगर ने पक्षी के अड्डे को डिबियों के निकट रख दिया। तोते के पैर में ज़ंजीर थी। उसने अड्डे से उतर डिबियों पर चोंच से ठोकर मार-कर देखा। उसके बाद जिस डिबिया के नीचे गुट्टी थी, उसे उसने उलट दिया और चोंच में गुट्टी उठा ली।

सब लोग ताली पीटते हुए चिल्ला उठे—शाबास, शाबास!

बाज़ीगर ने पक्षी के और भी अनेक कौशल दिखाये। काग़ज़ के टुकड़ों में लिखे नामों में से दर्शकों ने जिस नाम का टुकड़ा चाहा उसे ही उसने अलग निकाल दिया, छिपाकर रक्खा हुआ रूमाल ढूँढ़ लाया।

अन्त में बाज़ीगर ने पक्षी का अड्डा एक खूँटी में लटका दिया और थैली से एक छोटी-सी पीतल की तोप निकाली। तोप के नीचे एक पेंच था, बाज़ीगर ने उसे अड्डे के एक किनारे लगा दिया। तोप की लम्बाई एक बीते से भी कम थी। उसके पीछे एक स्प्रिंग लगा था। पक्षी की चोंच से उसे खींचते ही उसका पिछला हिस्सा खुल गया। बाज़ीगर ने थैली से एक छोटा-सा कारतूस निकालकर पक्षी को दिया। पक्षी ने चोंच के द्वारा उस कारतूस को तोप के भीतर कर दिया।

बाज़ीगर ने बाँकेविहारी से कहा—झूठी होने पर भी इस तोप की आवाज़ कम नहीं है, आप लोग डरि-एगा नहीं।

बाँकेविहारी ने मज़ाक के स्वर से कहा—डर काहे का? पक्षी ने कारतूस भरकर कल को खींचकर तोप का पिछला हिस्सा बन्द कर दिया। बाज़ीगर सामने ही खड़ा था, वह कुछ पीछे हट गया। तोप के नीचे एक और कल थी। पक्षी ने अपनी चोंच से ज्यों ही उसे खींचा, त्यों ही बन्दूक़ की तरह आवाज़ करके तोप चल गई।

बाँकेविहारी ने बाज़ीगर से कहा—ख़लीफ़ा, अपना पक्षी मेरे हाथ बेचोगे?

बाज़ीगर ने उत्तर दिया—मुझे कोई उज्र नहीं है। मैं दूसरा पक्षी लेकर उसे सिखा लूँगा।

"क्या क़ीमत लोगे?"

"आप जो वाजिब समझें सो दे दीजिएगा। लेकिन पक्षी लेकर ही क्या कीजिएगा? उससे किस प्रकार तमाशा करवाना चाहिए, यह जानना भी तो ज़रूरी है।"

"तुम मुझे सिखा देना, उसके लिए अलग बख़्शीश मिलेगी।"

बाज़ीगर ने कुछ हँसकर कहा—क्या आप सब लोग सीखिएगा?

"न न, मैं अकेला ही, ये लोग कोई न होंगे। मैं सीख कर, इन लोगों को दिखाया करूँगा।"

"आपको पेशा तो करना नहीं है, दोस्तों को ही दिखलाइएगा। कब से सीखना चाहते हैं?"

"आज शाम से ही क्यों न शुरू कर दो?"

"बन्दा हाज़िर है। शाम के बाद ही आऊँगा।"

बाँकेविहारी ने अपने दोस्तों से कहा—उस समय तुम लोग कोई मत आना। मैं कमरे के दरवाज़े बन्द करके सीखूँगा। अरे कोई है! इन्हें दो रुपये लाकर दे दो।

बाज़ीगर ने हाथ जोड़कर कहा—बाबू साहब, अभी रहने दीजिए। आप सीख लीजिएगा तब मुझे इनाम दीजिएगा।

उसके चले जाने पर एक दोस्त ने कहा—देखा, पक्का दिल्लीवाला है। दो-एक रुपये नहीं चाहता, इकट्ठी बख़शीश लेगा।

(७)

शाम के बाद ही बाज़ीगर फिर आया। बांकेविहारी की आज्ञा थी कि बैठकख़ाने के कमरे में तीसरा व्यक्ति न आने पाये। कमरे के दरवाज़े बन्द करके बांकेविहारी ने बाज़ीगर का कौशल सीखना आरम्भ किया। एक घंटे से अधिक देर तक बाज़ीगर बांकेविहारी को हर तरह के कौशल सिखाता रहा। तोप छोड़ने के समय ज़ोर से आवाज़ हुई। नौकर लोग पहले से ही जानते थे, इसलिए उनमें से कोई देखने नहीं आया।

जाते समय बाज़ीगर कहता गया—बाबू साहब, आपका हाथ अच्छा है, आप एक हफ़्ते में ही सब कुछ सीख जायँगे।

बांकेविहारी यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ।

जिस दिन एक सप्ताह पूर्ण हुआ, उस दिन बाज़ीगर ने अपने हाथ से कुछ नहीं किया। बांकेविहारी के हाथ से ही सब तमाशा करवाया। अन्त में थैली से एक कारतूस निकाल कर बांकेविहारी के हाथ में दिया। बांकेविहारी कारतूस पक्षी को देकर उसके सामने जाकर खड़ा होगया। तोप का मुँह ठीक उसकी छाती के सामने था। बाज़ीगर अड्डे के नज़दीक खड़ा होगया। पक्षी के तोप छोड़ते ही बांकेविहारी अस्फुट शब्द करके गिर पड़ा। कारतूस के भीतर बारूद नहीं, गोली थी। गोली बांकेविहारी की छाती में जा धँसी।

बांकेविहारी के गिरते ही बाज़ीगर उसके नज़दीक जाकर खड़ा होगया। वह दोनों हाथ बढ़ाकर बांकेविहारी को देखने लगा। उसने सोचा कि यदि बांकेविहारी चीखेगा तो वह उसका मुँह दबा लेगा, परन्तु बांकेविहारी में चीख़ने की शक्ति नहीं रह गई थी। उसकी आँखें बाहर निकली आ रही थीं, साँस लेने में कष्ट होता था।

घुटने झुका कर बाज़ीगर उसके समीप बैठ गया और रङ्गीन चश्मा निकालकर बोला—मुझे पहचानते हो? पार्वती की याद है?

डर के मारे बांकेविहारी की आंखें विस्फारित होगईं। उसने बड़े कष्ट से क्षीण स्वर से कहा—पार्वती? तुम कौन हो? सुचेतसिंह?

"और कौन है? तुम्हारा यम। पार्वती डूबकर मर गई और तुमने सोचा कि शाही से दिन बिताऊँगा, क्यों? मैं पांच वर्ष से तुम्हारे पीछे फिर रहा हूँ। तुम्हारे मुँह में जूते मारकर अपमान का बदला नहीं मिला था, आज मिला है।

बांकेविहारी एक बार सिहर उठा। दो-तीन बार उसके गले से घड़घड़ शब्द हुआ, उसके बाद उसकी आंखें और सारा शरीर स्थिर होगया। सुचेतसिंह ने बांकेविहारी की नाड़ी पर हाथ रखकर जान लिया कि वह मर गया है। वह उठ खड़ा हुआ।

उसने कोई व्यस्तता अथवा आशङ्का नहीं प्रकाशित की। तोते को भी साथ नहीं लिया। दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल कर चुपचाप उसे बन्द कर दिया और आहिस्ता-आहिस्ता ज़ीने से नीचे उतर गया।

नीचे नौकर-चाकर खड़े थे। एक आदमी ने पूछा—शेख़ साहब, आपकी चिड़िया कहाँ है?

सुचेतसिंह ने कहा—उसे बाबू साहब ने रख लिया है। वे इस समय तमाशे का अभ्यास कर रहे हैं। उन्होंने कहा है कि इस समय तुममें से कोई वहां न जाय।

सुचेतसिंह घर से बाहर निकल गया। नौकर-चाकर बैठकर गप लगाने लगे। रात होगई, बांकेविहारी के भोजन का समय आगया। एक नौकर ने बैठकख़ाने के दरवाज़े में धीरे धीरे आवाज़ करके कहा—बाबू साहब, रात होगई है, इस वक्त आपके भोजन में क्या लाऊँ?

कोई उत्तर नहीं मिला।

नौकर ने दरवाज़ा खोला। उसने देखा कि बांकेविहारी शतरंजी पर पड़े हैं, उनके वक्षःस्थल और शतरंजी में ख़ून लगा है। वह चीख़ उठा।

तोता अड्डे पर बैठा हुआ ऊँघ रहा था, चीख़ सुनकर पङ्ख फड़फड़ाकर टें टें करने लगा। पुलिस आई। बांकेविहारी के दोस्त लोग भी इकट्ठे होगये। चारों

तरफ़ बाज़ीगर की खोज शुरू होगई। शहर में असंख्य गली-कूचे हैं। बाज़ीगर कहीं भी नहीं मिला। रातों ही रात चारों तरफ़ तार भेजे गये। तार में असामी की हुलिया लिखी थी। घनी दाढ़ी, नीला चश्मा, तुर्की टोपी, शेरवानी चपकन, चूड़ीदार पायजामा, पंजाबी जूते आदि सब बातों का वर्णन था। लखनऊ से जितनी रेलगाड़ियाँ जा रही थीं, पुलिस ने स्टेशन पर उन सबको रोककर यात्रियों को देखना शुरू किया। एक गाड़ी में सुचेतसिंह बैठा था। उसके माथे में मैली पगड़ी थी, शरीर में मिर्ज़ई और पण्डिताऊ धोती थी, पैरों में मोटे देशी जूते थे। उसकी दाढ़ी बनी हुई थी। पुलिस के आदमियों ने उसकी ओर देखा तक नहीं।

दो महीने के बाद जगन्नाथपुरी से सुचेतसिंह ने अपनी ससुराल को चिट्ठी लिखी—मेरी तीर्थयात्रा समाप्त होगई है, अब मैं देश लौट रहा हूँ।

सुचेतसिंह राजापुर नहीं गया। वहाँ की ज़मीन-जायदाद, मकान आदि बेचकर वह अपनी ससुराल के मकान के नज़दीक ही एक मकान बनवा कर खेती-पाती के लिए कुछ ज़मीन लेकर रहने लगा।

उसकी स्त्री ने उससे पूछा—तुम अब तक कहाँ रहे?

"घूमता-फिरता रहा। एक पिण्ड देना बाक़ी था, लौटने के पहले दे आया।"

"कहाँ? गया जी में?"

"नहीं, अयोध्या में।"

स्त्री कुछ नहीं समझी, उसने कुछ पूछा भी नहीं।

बाज़ीगर का तोता पानवाली की दूकान में रहने लगा। वह दूकान के सामने अपने अड्डे पर बैठा झूलता रहता, टें टें करता, परन्तु उसका तमाशा दिखानेवाला कोई न था। जो लोग पान ख़रीदने आते उन्हें पानवाली उस पक्षी का इतिहास सुनाती। पानवाली गर्व के साथ कहती—इस पक्षी ने एक आदमी का ख़ून किया है, परन्तु इसका विचार नहीं हुआ, न इसे फाँसी ही दी गई।

लेन-देन

श्रीयुत रामानुजलाल श्रीवास्तव

इतना कहकर उस दिन मैंने तोड़ा जग से नाता।
जीने में कुछ सार नहीं जब जीना नहीं सुहाता॥
आह, विदा के समय तुम्हें क्या दूँ—जीवन-उपहार।
जब तक जीवित था तब तक यह जीवन तो था भार॥
हृदय! हृदय-धन तुम हो, आत्मा तुम हो, तुम हो श्वास।
तुमको ही तुमको दे डालूँ तो होगा उपहास॥
ले लो किन्तु उनींदो रातें, ले लो ये उच्छ्वास।
इनमें ही संचित है मेरी पीड़ा-भरी मिठास॥

माँगूँ क्या?—मिल गया मुझे सब कुछ जब मैंने देखा—
तनिक क्रोध श्रीमुख पर औ' फिर तनिक हँसी की रेखा॥
कैसे कहते हैं ये सब—कुछ साथ न ले जाऊँगा—
यह निधि, यह सम्पति, यह धन क्या यहाँ छोड़ जाऊँगा?
फिर भी यह आश्वासन दे दो प्रियतम अन्तिम बेला।
कुछ तो रहे सहारा पथ अनन्त है, पथिक अकेला॥
कोई करुण कथा सुनकर जब होगा कुछ अवसाद।
क्षण भर को तब कर लोगे इस दुखिया की भी याद॥

छायावाद क्या है ?

श्रीयुत गुलाबराय, एम० ए०

इस समय हिन्दी के क्षेत्र में छायावाद की कविता अधिक लोकप्रिय है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने उक्त श्रेणी की कविता की सुघर विवेचना की है और उसका महत्त्व भी निर्दिष्ट किया है।



ईश्वर अगम और अगोचर है। वेद भी 'नेति नेति' कहकर उसकी परिभाषा करते हैं। उसके लिए 'दादू' के शब्दों में यही कहना पड़ता है—

'केतिक पारिख पचि मुये,
कीमत कही न जाइ।
'दादू' सब हैरान हैं,
गूँगे का गुड़ खाइ॥'

यद्यपि ईश्वर और आत्मा का सम्बन्ध गूँगे के गुड़ की भाँति वर्णन का विषय नहीं होता है, तथापि उसका वर्णन किसी न किसी भाँति सांकेतिक भाषा में किया ही जाता है। यह विषय रहस्यमय है, इसलिए रहस्यवाद कहलाता है और इसके वर्णन में जो अस्पष्टता और अपूर्णता रहती है उसी के कारण यह छायावाद कहलाता है। छाया में वास्तविकता का संकेत-मात्र रहता है, किन्तु यह संकेत मिथ्या नहीं होता, क्योंकि छाया वास्तविकता की ही होती है। दूसरी बात यह है कि छाया की सीमायें भी अस्पष्ट होती हैं और उसमें आलोक और अन्धकार का सम्मिश्रण रहता है।

छायावाद और रहस्यवाद में आपस में क्या भेद है, यह बतलाना कठिन है। जहाँ सिद्धान्त की गूढ़ता अधिक प्रकट होती है, वहाँ रहस्यवाद हो जाता है। रहस्यवाद में अधिक आन्तरिकता रहती है। परन्तु जब उस आन्तरिकता को सांकेतिक भाषा में वर्णन किया जाता है तब वह छायावाद हो जाता है। दोनों का विषय एक ही है। यदि कुछ भेद है तो पहुँच और वर्णनशैली का। आज-कल के नवयुवक और कोई कोई प्राचीन युवक भी छायावाद के नाम से जो कविता करते हैं उसमें भी प्रायः ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध के समझाने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त छायावादी पद्धति पर और विषयों का भी वर्णन किया जाता है। छायावादी पद्धति से अभिप्राय उस पद्धति का है जो कठिन सीमाओं को सत्य और सौंदर्य का बाधक समझती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये लोग सीमोल्लंघन के पक्षपाती हैं, वरन यह कि जिन चीज़ों की सीमा बाँधना सम्भव नहीं उनकी कटी-छँटी सीमा बाँधना वे वर्ण्यवस्तु के साथ अन्याय करना समझते हैं। अनन्त को सान्त बनाना उसकी हत्या करना है। अनन्तता केवल ईश्वर में ही नहीं है, वरन अणोरणीयान् रजकण में भी है। क्योंकि वह उसी विश्वसत्ता का अंश है। देखिए—

'विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला ?

× × ×

सच है कण का पार न पाया,
बन बिगड़े असंख्य संसार।
पर न समझना देव हमारी,
लघुता है जीवन का हार।

महादेवी वर्मा

छायावाद केवल कविता में ही नहीं होता, वरन चित्रकला, संगीत और सब ललित कलाओं में होता है। वनस्थली में सन्ध्याकालीन स्तब्धतामय धुँधला आलोक, जिसमें अवनि और अम्बर एक होकर एक शान्तिमय अनन्त सौंदर्य का उत्पादन करते हैं, प्राकृतिक छायावाद का उदाहरण है। बङ्गाल की चित्रकला उसी छायावाद का अनुकरण करती है। आज-कल के नवयुवक ईश्वर के अतिरिक्त ईश्वर की सृष्टि में भी अनन्तता देखकर उसका भी छायावादी वर्णन करते हैं। देखिए पन्त जी नक्षत्रों के प्रति क्या कहते हैं—

(१)

ऐ अनन्त की अगम कल्पना !
ऐ अशब्द-भारति अविषय !
आदि नग्न सौन्दर्य निरामय !
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय !

(२)

स्वर्ण समय के स्मारक सुखमय !
संसृति के अविदित आख्यान !
अब पिपीलिका के विवरों से
निकलो, हे असंख्य, अम्लान !

(३)

ऐ अज्ञात देश के नाविक !
ऐ अनन्त के हृत्कम्पन !
नव प्रभात के अस्फुट अङ्कुर
निद्रा के रहस्य कानन

(४)

ऐ सुखमय तब ! आशामय अब !
ऐ मानस लोचन रुचिमान,
जागो हे, हाँ धीरे, धीरे,
खोलो अलसित पलक सुजान,

देखिए कैसी उर्वरा कल्पना है! कैसी नवीनता, कैसी सुखमा, कैसा सौन्दर्य है! एक-सी कविता से ऊबी हुई आत्मा के लिए कैसा सुखद परिवर्तनमय विश्राम है!

अब ज़रा निराला जी की सन्ध्या-सुन्दरी की ओर दृष्टिपात कीजिए। देखिए कितनी शान्ति, कितनी निस्तब्धता, कितना प्राकृतिक सौन्दर्य, कितनी कोमलता है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे

× × ×

अलसता की-सी वह लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग अलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन रुनझुन नहीं
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप, चुप, चुप ?
गूँज रहा सब कहीं

तुलसीदास और सूरदास में अवश्य छायावाद है। तुलसीदास जी ने तो एक-दो स्थलों में रहस्य-शब्द का भी व्यवहार किया है, ईश्वरीय ज्ञान को ईश्वरीय कृपा का ही फल बतलाया है। "सो जानहि जिहि देहु जनाई" गोस्वामी जी के निम्नोल्लिखित अमरपद में ईश्वरीय रहस्य का कैसा हृदयग्राही वर्णन है ? देखिए—

केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहिं मन रहिए ॥१॥
सून भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरइ भीति दुख पाइय एह तनु हेरे ॥२॥
रवि कर नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसे चराचर पान करन जेहि जाहीं ॥३॥
केहु कह सत्य झूठ कह केऊ जुगल प्रबल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचाने ॥४॥

छायावाद रहस्यवाद से भी पुराना है। उपनिषदों में छायावाद भरा पड़ा है। यह उपनिषदों की 'पराविद्या' का विषय है! अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते अर्थात् परा उसको कहते हैं जिससे अक्षर (नाश न होनेवाला) जाना जाय। आत्मा विरोधी गुणों की आश्रयदायिनी

बन जाती है। "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" अर्थात् वह चलता है और वह नहीं चलता है, वह सबके अन्तर में है और वह सबके बाह्य है। उपनिषदों में ईश्वर और जीव के मिलन का शृङ्गारिक भाषा में वर्णन आया है। देखिए—तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम् एवमायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, तद्वा अस्य एतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपम्। अर्थात् जिस तरह से कोई पुरुष अपनी प्रिया स्त्री से परिरम्भन करने में वह न बाहर का कुछ जानता है और न भीतर का, उसी प्रकार जब जीव परमात्मा से मिलता है तब वह न भीतर का जानता है और न बाहर का। उसकी आत्मा की कामना पूरी हो जाती है, वह आप्त काम हो जाता है, उसकी कोई कामना नहीं रहती है।

कबीर और आज-कल के नवयुवकों के छायावाद में विशेष अन्तर नहीं है। ये लोग उसी पद्धति का अनुकरण करते हैं। कहीं कहीं "नैया में नदिया बूड़ी जाय" से अधिक स्पष्टता भी कर देते हैं। लेकिन कबीर और इनके अनुभव और व्यक्तित्व में अन्तर है। कबीर पहुँचे हुए फ़क़ीर थे। सम्भव है, उन्होंने जो कुछ लिखा हो, अपने अनुभव से लिखा हो। इसका यह अभिप्राय नहीं कि फ़क़ीर के सिवा और किसी को छायावाद पर लिखने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य चाहे छोटा हो या बड़ा, ईश्वर से सम्बन्ध रख सकता है। सूर्य के अभाव में दीपक और खद्योत भी थोड़ा-बहुत प्रकाश करते ही हैं। यद्यपि कुछ लोगों के कथनानुसार (जो किसी अंश में ठीक भी है) आज-कल के छायावादी 'जूठी पत्तल चाटकर' काम चलाते हैं, तथापि उस दिव्य भोज की जूठन भी नायिका-भेद और नख-शिख के विलासमय कुत्सित भोजन से श्रेयस्कर है। जूठा मीठे के लिए खाना क्षम्य माना गया है। नायिकाभेद के अनुकरण में तो मीठे का भी सवाल नहीं है। क्या छायावादियों का वास्तविक मदिरा से सम्बन्ध है? हाँ, अलङ्कारिक मदिरा से अवश्य है, किन्तु वास्तविक मदिरा से उतना ही सम्बन्ध है, जितना एक पहुँचे हुए सिद्ध फ़क़ीर का गाँजा, भाँग और चरस से। मदिरा मस्ती और आनन्द का भौतिक संकेत है। महात्मा कबीर ने भी मदिरा का रूपक लेकर प्रेम का प्याला ही पिलाया है। देखिए—

कठिन प्याला प्रेम का, पियै जो हरि के हाथ।
चारों जुग माता रहै, उतरै जिय के साथ॥

× × ×

हरि रस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैं मन्ता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥

प्रेम के मद की और मदिरा के मद की एक-सी गति है। इसी लिए ईश्वरीय वर्णन में भी मदिरा का रूपक आता है। देखिए मलूकदास जी क्या कहते हैं—

हूँ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम-पियाला।
ठाढ़ होउँ तो गिर-गिर परता, तेरे रँग-मतवाला॥

जिस प्रकार ईश्वरीय सम्बन्ध को बतलाने के लिए शृङ्गार की भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार प्रेम के उन्माद का वर्णन मदिरा के रूपकों-द्वारा किया जाता है। वास्तविक मदिरा का पीना उतना ही ज़रूरी नहीं, जितना ज्ञानी को वास्तविक कृपाण की धार पर चलना। छायावाद में अस्पष्टता अवश्य है, किन्तु इससे यह अनुमान निकालना 'कि जो कुछ अस्पष्ट है वह छायावाद है' इतना ही दूषित होगा जितना कि 'सब कवि मनुष्य हैं' से यह अनुमान करना कि 'सब मनुष्य कवि हैं'। मालूम नहीं कि 'जो कुछ अप्रकट है वह छायावाद है', यह कथन किसी छायावादी का है अथवा छायावाद की अस्पष्टता से किसी तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति का अनुमान है। 'जो प्रकट है वह नहीं' ऐसी बात भी नहीं है। यदि किसी को सर्वज्ञता प्राप्त हो जाय तो वह प्रकट रूप से भी ईश्वरीय रहस्य का उद्घाटन कर सकता है। छायावादी विषय की गम्भीरता के कारण अप्रकट और अस्पष्टता को अपनाते अवश्य हैं, किन्तु प्रकटवाद और स्पष्टता के विरोधी नहीं हैं। यदि हों तो अवश्य दोषी हैं। यदि छायावाद में अस्पष्टता है तो वह विषय की गरिमा और वर्णनकर्ता की लघुता के कारण है—'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत'।

आधुनिक भारतवर्ष में कविता के कई स्रोत बह रहे हैं। उनमें से छायावाद भी एक है। नवीन भारत एवं प्राचीन भारत की संस्कृतियों का इसमें योग है। यद्यपि छायावादी पूर्णतया आध्यात्मिक न हों, तथापि उनके वचन में आध्यात्मिकता अवश्य है। इस वाचनिक आध्यात्मिकता से भी भारतवर्ष में भूतवाद वा प्रकृतवाद की बढ़ती हुई बाढ़ को कुछ धक्का अवश्य पहुँचा है। इस अंश में यह भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त नवीन छायावाद में एक आन्तरिक वेदना की झंकार है, जो भारतीय आत्मा की सच्ची पुकार है। यह करुणालाप भोग-विलास के खोखले हासोल्लास से कहीं पवित्र है। देखिए—

आह, यह मेरा गीला गान !
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द, शब्द है सुधि की दंशन
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह
बूँद में है वाडव का दाह
—पन्त

× × ×

यद्यपि बहुत-सी छायावादी कविता एक पद्धति और फ़ैशन का अनुकरण है, तथापि यह फ़ैशन भौतिक शृङ्गार के अनुकरण से अच्छा है। भौतिक शृङ्गारी कवि भी सब विषयासक्त नहीं होते थे, किन्तु उनकी कविता दूसरों को विषयासक्त बनाने में सहायक होती थी। इसी प्रकार छायावादी कवि चाहे स्वयं आध्यात्मिक और खुदारसीदा न हों, तो भी उनकी कविता का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। छायावादियों ने कविता के विषय का विस्तार किया है। अब कविता-कामिनी शृङ्गार के संकुचित वृत्त से मुक्त होकर अनन्त की स्वच्छन्द वायु में विचरण करती है।

छायावाद में विषय की मुक्ति के साथ छन्द की भी मुक्ति होगई है। कविता ने बाहरी नियमों का तिरस्कार कर बहती हुई उन्मुक्त कल्लोलिनी सरिता के आन्तरिक स्वच्छन्द नियमों का अनुसरण किया है। छायावाद में यद्यपि छाया बहुत है, तथापि उसमें सार और वास्तविकता का अभाव नहीं। उस छाया में भी थोड़ा आलोक मिलता है। सोना यदि पूरे सौ टंच का न हो तो भी सोना ही है और चाँदी से कहीं अधिक मूल्यवान् है। यहाँ पर चार-पाँच उदाहरण देकर यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान युग के हिन्दी-कवियों ने रहस्यवाद और छायावाद में किन किन रहस्यमयी आध्यात्मिक समस्याओं पर छायामय सुखद प्रकाश डाला है। इसमें रहस्यवाद की थोड़ी व्याख्या भी हो जायगी।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध के कई प्रकार हैं। उनमें कुछ द्वैतवादमूलक हैं और कुछ अद्वैतवादमूलक हैं। ईश्वर के मिलन के लिए दोनों ही उत्सुक रहकर विरह-वेदना का अनुभव करते हैं। मिलन में दोनों ही परमानन्द की प्राप्ति समझते हैं, किन्तु मिलन मिलन में भेद है। द्वैतवादियों के मिलन में सान्निध्य सुख है, उसमें जीव अपना व्यक्तित्व रखता है।

अद्वैतवादियों का आदर्श व्यक्तित्व को खोकर असीम में मिल जाना है, जिस प्रकार परमात्मा में मिल जाना ही असीम-गर्भित ससीम का चरम विकास है। आज-कल के छायावादी कवियों ने प्रायः इसी अद्वैतवादी सिद्धान्त को अपनाया है।

सब चराचर में ईश्वर ही व्याप्त है। अखिल विश्व उसी का प्रसार है। इस भाव के सम्बन्ध में वर्तमान युग के कवियों की अभिव्यक्ति देखिए—

तेरी आभा का कण नभ को,
देता अगणित दीपक दान;
दिन को कनकराशि पहनाता,
विधु को चाँदी-सा परिधान।
करुणा का लघु विन्दु युगों से,
भरता छलकाता नव घन;
समा न पाता जग के छोटे,
प्याले में उसका जीवन।
—महादेवी वर्मा

ईश्वर को परिवर्तन रूप में देखते हुए पन्त जी कहते हैं—

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय-सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !

× × ×

इसी पद्य में ईश्वरीय विराट् रूप के दर्शन कीजिए—

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर,
तुङ्ग-तरङ्गों से शत युग, शत शत कल्पान्तर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत-सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह उड़गण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिङ्ग-से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल-दशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन

'अहे विवर्तन हीन विवर्तन' में वर्तमान वैज्ञानिक युग के परिवर्तन और परिवर्तन-रहित निर्विकार ब्रह्म का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण है !

ईश्वर और जीव की एकता के सम्बन्ध में नवीन कवियों की उक्तियाँ देखिए—

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तडित् विलास ।
मुझे बाँधने आते हो लघु
सीमा से चुपचाप
कर पाओगे भिन्न कभी क्या
ज्वाला से उत्ताप

—महादेवी वर्मा

तुम तुङ्ग-हिमालय-शृङ्ग
और मैं चञ्चलगति सुर-सरिता ।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास
और मैं कान्त-कामिनी-कविता

× × × ×

तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरञ्जनी भाषा

—निराला

अब विरह-वर्णन सुनिए—

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास;
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस

जीव का परमात्मा से अलग होना ही जन्म है। जन्म ही वियोग है। इसी लिए सारा जीवन रोना ही रोना है।

यह वेदना केवल जीव में ही नहीं है वरन सारी सृष्टि में है। इसी वेदना में मनुष्य और प्रकृति का साम्य हो जाता है। देखिए—

जब अपनी निःश्वासों से
तारे पिघलातीं रातें,
गिन गिन धरता था
उनके आँसू की पाँतें
घिर कर अविरल मेघों से
जब नभमण्डल झुक जाता
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर आता

—महादेवी

अब ज़रा विरह-व्यथित की अभिलाषा देखिए—

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जातीं तुम,
एक बार भी प्राणों की तम—
छाया में आ कह जातीं तुम
सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल
मैं न कभी कुछ कहता
बस तुम्हें देखता रहता ।

—निराला

यह तो रही देखते रहने की बात। अब ज़रा मिलन की और मिट जाने की उत्कट इच्छा देखिए—

बिखर कर कन कन के लघु प्राण,
गुनगुनाते रहते यह तान,
"अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

अमरता में व्यक्तित्व रहता है, इसी लिए अमरता वाञ्छनीय नहीं। असीम में मिल जाने के लिए मिट जाना ही एकमात्र लक्ष्य है।

सृष्टि का है अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान

—महादेवी

जब आत्मानुभव होने लगता है, जीव सारे विश्व में अपनी आत्मा का ही प्रसार देखने लग जाता है। विरह-व्यथा मिट जाती है और हँसी रोके नहीं रुकती।

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव,
गुदगुदाते यह तन मन प्राण
नहीं रुकती तब यह मुसकान
कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार,
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती है यह मुसकान!

—पन्त

आज-कल के इन कवियों में अभिलाष और मनोराज्य अधिक है, वास्तविक मिलन का सुख कम है। इसमें कमी अवश्य है, पर विडम्बना का अभाव है।

जौहरी से

सरदार नर्मदाप्रसादसिंह

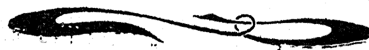
[कुछ समय हुए पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी ने 'रतनाकर' की कविताओं की बड़ी तीव्र आलोचना की थी। कदाचित् सरदार साहब ने ये कवित्त तिवारी जी की उसी आलोचना के उत्तर में लिखे हैं।]

(१)

पगि पाहन-कृत्तिम-पानिप में,
शुचि माणिकता को भुलाइए ना।
मधुरामृत के कण की महता,
लखि ऊर्मि पयोधि घटाइए ना।
नव छत्रकों की छटा में छकि के,
कलकञ्ज कुरूप बताइए ना।
अरे जौहरी! पारिखी रत्न के हो,
रतनाकर ही ठुकराइए ना॥

(२)

सुर कानन के कुसुमों की कली,
कलि काग की चोंच नोचाइए ना।
चिर विश्रुत सिंह के शावकों को,
नित स्वान का भोग बनाइए ना।
मनिषी मणि-मौन-मनोज्ञता की,
उपलों से उपेक्षा कराइए ना।
अरे जौहरी! ज़ुल्म का यों जग में,
अब जौहर और दिखाइए ना॥



नक्षत्र

श्रीयुत गिरीशचन्द्र पन्त

[राग वागीश्वरी, ३ ताल द्रुतलय]

यह कैसा सुन्दर प्रिय निवास !
नक्षत्र अलौकिक नभ-निवास !

तरु-मर् मर् मिस बजते मंजीर,
बहती मृदु-मृदु मुग्धा समीर;
भर गई हृदय में सुरभि मन्द
जागा अधरों में लुप्त हास।
आनन्द-निलय यह लघु निवास !

उत्फुल्ल-विमल सरसिज-समान,
सर में शोभित यह हर्ष-धाम;
मैं अलि-शिशु-सा निज सुख-विभोर—
गा रहा आज फिर प्रेम-गान,
हँस करते मेरे प्राण लास।
मैं तुझ पर बलि-बलि प्रिय निवास !



[श्रीयुत गिरीशचन्द्र पन्त]

हट रहा चिरावृत अन्धकार,
थम रहे नियति के खरप्रहार,
दिख रहे ज्योति-कण विहँस आज,
करने पथ में आभा-प्रसार,

अयि शारदि, बाँधो पुलक-पास,
खो जावे तुममें आज दास;

सायुज्य मुक्ति का बने धाम,
नक्षत्र अलौकिक यह निवास !

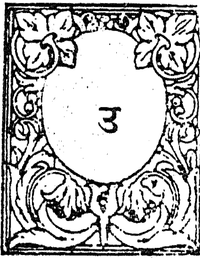


नक्षत्र (श्री सुमित्रानन्दन पन्त का निवास-स्थान) कालाकाँकर

कुरल

श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

विद्वद्वर सान्याल महोदय वृद्धावस्था में भी तामिल-भाषा के साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। यह लेख उसी अनुशीलन का परिणाम है। इसके पढ़ने से पाठकों को एक तामिल-ग्रन्थ-रत्न का थोड़े में पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जायगा।



उत्तर-भारत के अनेक विद्वान् भी न जानते होंगे कि दक्षिण-भारत में 'कुरल' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। जिन प्रान्तों में हिन्दी बोली जाती है उनमें जैसे प्रत्येक पढ़े-लिखे गृहस्थ के घर में तुलसीदास की रामायण नित्य पढ़ी जाती है, वैसे ही जिन प्रान्तों में तामिल-भाषा बोली जाती है वहाँ के प्रत्येक गृहस्थ के घर में 'कुरल' ग्रन्थ का आदर होता है।

'कुरल' तामिल-भाषा का एक उपदेश-पूर्ण काव्य-ग्रन्थ है, जो सम्भवतः ईसा के द्वितीय शतक में लिखा गया था। इसके लेखक का नाम है 'तिरुवल्लुवर'। इनका जन्म शायद किसी अछूत जाति में हुआ था, और ये ताँती के व्यवसाय से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। लोक-कथा से ज्ञात होता है कि ये मदरास के निकट मैलापुर (मलयापुर) नाम की एक बस्ती में रहते थे, जहाँ का एलेला शिंगन नामक एक धनी साहूकार इनका मित्र था। प्राचीन काल में तामिल देश में तीन विख्यात राज्य थे—पाण्ड्य, चेर तथा चोल। पाली-भाषा के महावंश नामक सिंहल के इतिहास में एक चोल-देशीय राजा का उल्लेख मिलता है, जिसने कल्यब्द २६६० में सिंहल-विजय किया था। एलेला शिंगन इसी राजा की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। इससे यह पता चलता है कि कल्यब्द ३२ वें शतक वा ईसा के प्रथम शतक के लगभग तिरुवल्लुवर जीवित थे। जनश्रुति से विदित होता है कि पाण्ड्य-राजा उग्रप्पेरुव-लुदी के राज्य-काल में मदुरा के कवि-समाज में 'कुरल' प्रथम प्रकाशित हुआ था। तामिल के आलोचक-प्रवर पण्डित श्रीनिवास अय्यंगर ने इस राजा के सिंहासनारोहण का समय १२५ ईसवी अनुमान किया है। तामिल-भाषा के दो महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' तथा 'मनिमेखलइ' में 'कुरल' की ५५ वीं कविता उद्धृत की गई है। प्रमाण मिलते हैं कि ये दोनों महाकाव्य ईसा के पहले वा दूसरे शतक के लगभग लिखे गये थे। अतएव यदि हम कहें कि 'कुरल' का रचना-काल पहले और तीसरे शतक के मध्य में कोई समय है तो अयौक्तिक न होगा। श्रीयुत राघव अय्यंगर का अनुमान है कि 'शिलप्पधिकारम्' तथा 'मनिमेखलइ' ईसा के पाँचवें शतक में लिखे गये थे। किन्तु यह स्वीकृत है कि 'कुरल' का काल इन दोनों महाकाव्यों का पूर्ववर्ती है। अतएव 'कुरल' के काल का जो निर्देश ऊपर किया गया है उसमें आपत्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि तिरुवल्लुवर नीच-वंश-सम्भूत थे, तथापि उनके 'कुरल' को वेद का सम्मान मिला है—ब्राह्मण लोग भी उसे मस्तक पर धारण करते हैं। शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चतुर्वर्ग के नाम से कहे

गये हैं, और ये मनुष्य-जीवन की चार अभीष्ट वस्तुएँ हैं। साधारण मनुष्य अर्थ (धन-वैभव) और काम (स्त्री इत्यादि वासना की वस्तुओं) के ही पीछे फिरते हैं। उच्चतर मनुष्य धर्म (साधु-मार्ग पर चलना) और (अन्त में) मोक्ष (परमात्मा को प्राप्त करके श्रेष्ठ आनन्द का उपभोग करना) भी चाहते हैं। 'कुरल' में केवल प्रथमोक्त तीन अभीष्टों का दिग्दर्शन अति निपुणता तथा मधुरता के साथ कराया गया है। मोक्ष की पृथक् आलोचना उसमें नहीं की गई है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम अंश—धर्म—के सूत्रों में, विशेषकर इस अंश के तपस्वी-जीवनात्मक खण्ड में जितनी शिक्षा है उससे मनुष्य के परमानन्द प्राप्त करने के मूल-साधन आत्मानुभूति के कुछ इंगित मिलते हैं।

इस ग्रन्थ में कुल १३३ परिच्छेद हैं—पहले चार परिच्छेद उपक्रमणिका के स्वरूप में लिखे गये हैं। तब ३४ परिच्छेदों में गृहस्थ तथा तपस्वी-जीवन की, ७० परिच्छेदों में राजनीति की और २५ परिच्छेदों में दाम्पत्य-प्रेम की आलोचना है। प्रत्येक परिच्छेद में १० सूत्र हैं। अतएव समग्र ग्रन्थ में १३३० सूत्र हैं। एक एक अंश दो अथवा तीन खण्डों में विभक्त है। धर्म-शीर्षक अंश के दो खण्ड हैं—(१) गृहस्थ-जीवन और (२) तपस्वी-जीवन। अर्थ-शीर्षक अंश के तीन खण्ड हैं—(१) राजा, (२) राज-तन्त्र के अङ्ग-समूह और (३) विविध। काम-शीर्षक अंश के दो खण्ड हैं—(१) गुप्त विवाह और (२) पति-परायणता।

धर्म (गृहस्थ तथा तपस्वी के कर्तव्य)

धर्म-शीर्षक अंश के गृहस्थ-जीवनात्मक प्रथम खण्ड में उत्तम पत्नी, उत्तम पिता, उत्तम प्रतिवासी तथा उत्तम मनुष्य बनने के लिए जितने गुण आवश्यक हैं उनकी शिक्षा १९ परिच्छेदों में दी गई है, और अन्त के २४ वें परिच्छेद में दिखाया गया है कि यश की आकांक्षा से मनुष्य कैसे अच्छे काम करने में प्रवृत्त हो सकते हैं। और तपस्वियों को किन गुणों का अभ्यास करना चाहिए, इस विषय का उल्लेख १३ परिच्छेदों में है। इस खण्ड के अन्तिम ३८ वें परिच्छेद में भाग्य का विवेचन है।



[श्रीयुत नलिनीमोहन सन्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न]

भौतिक विज्ञान में शक्तियाँ दो वर्गों में बाँटी गई हैं—(१) संचित वा अव्यक्त और (२) क्रियाशील वा व्यक्त। क्रियाशील शक्तियों के उदाहरण मिलते हैं प्राणियों की शारीरिक क्रियाओं में, मध्याकर्षण की क्रियाओं में, रासायनिक क्रियाओं में, शब्दों में, उत्ताप, आलोक तथा तडित्-प्रवाह और चुम्बक के आकर्षण में। इनके अतिरिक्त कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जिनकी क्रिया वर्तमान काल में नहीं होती, किन्तु भविष्यत् में होने की सम्भावना रहती है, जैसे बारूद, इलेक्ट्रिक बैटरी, सलफ़्युरिक ऐसिड इत्यादि, लकड़ी, तेल, रुई, दियासलाई इत्यादि में की। सामान्य उत्तेजना से इनमें की अव्यक्त शक्ति व्यक्त शक्ति में परिणत हो जाती है। बारूद के ढेर के एक स्थान पर ज़रा-सी आग छुआ दीजिए, मुहूर्त-मात्र में सबकी सब जल उठेगी।

मनुष्य की कार्यावली में हम शक्ति की व्यक्त अवस्था का अनुभव करते हैं। किन्तु व्यक्त शक्तियों के अतिरिक्त मनुष्य में कुछ संचित वा अव्यक्त शक्तियाँ रहती हैं, जो

उपयुक्त उत्तेजना पाने से व्यक्त हो पड़ती हैं—जैसे क्रोध, दया, ईश्वर-प्रेम, काम-प्रवृत्ति, चोरी करने की प्रवृत्ति इत्यादि। ये संचित प्रवृत्तियाँ जीव को भले-बुरे काम करने को चालित करती हैं। जन्मजन्मान्तर में जीव ने जितने भले-बुरे काम किये हैं, भली-बुरी चिन्ताओं को मन में स्थान दिया है और इस जन्म में वह जितने कामों तथा जितनी चिन्ताओं में नियुक्त होता है, उनकी एक समष्टि बनकर कुछ अव्यक्त रूप में रहती है, और कुछ व्यक्त रूप में परिणत होती हुई व्यथित हो जाती है। इस जीवन के अन्त में जितना कर्मफल अव्यक्त रहता है, उसी को वह भविष्यत् जीवन में अपने साथ ले जाता है, और यही उसके उस जीवन का प्रारब्ध वा प्राक्तन कर्मफल वा भवितव्यता वा भाग्य कहलाता है। ३८ वें परिच्छेद की उक्तियाँ इसी चिन्ता-धारा से प्रसूत हुई हैं। इस परिच्छेद का यह मर्म है कि भवितव्यता ही प्रधान है, और भवितव्यता के हाथ से बचना असम्भव है। तथापि मेरी क्षुद्र मति में, अनासक्त कर्मों तथा शुद्ध चिन्ताओं के द्वारा, इस जन्म में हो चाहे अनेक भविष्यत् जन्मों में हो, संचित कर्मफल का क्षय हो सकता है। नहीं तो तिरुवल्लुवर का सारा उपदेश व्यर्थ हो जाता है। उनका मत भी यही है। २७ वें परिच्छेद में तप का प्रभाव वर्णित हुआ है। कृच्छ्र-साधन, अर्थात् शारीरिक वा मानसिक आघातों के सहन के द्वारा कर्म-बन्धन शिथिल हो जाता है और मनुष्य अपने आपको मुक्त कर सकता है। ६३ वें परिच्छेद में कहा गया है कि दृढ़ सङ्कल्प के द्वारा मनुष्य मन्द भाग्य की पराजय कर सकता है। ६२ वें परिच्छेद के ६ वें तथा १० वें सूत्रों में भी उद्यम का महत्त्व बताया गया है। 'कुरल' के धर्म-विषयक अंश में कुछ अति महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं।

'कुरल' के पहले अंश की विशिष्टता है उसका मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में आशापूर्ण भाव। कवि ने लिखा है—"मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर है सुसम्मानित पवित्र गृह और उसके महत्त्व की पराकाष्ठा है गुणशाली सन्तति।" कवि का वात्सल्य भाव कैसा मधुर है! वह कहता है—"बच्चों के स्पर्श से शरीर का सुख है और बोली से कानों की तृप्ति। जिन्होंने बच्चों की काकली नहीं सुनी वही सितार तथा बाँसुरी की ध्वनि से आकृष्ट होते हैं।" वह आगे लिखता है—"मानव-प्रीति तथा अतिथि-सत्कार हैं मनुष्य के प्रधान कर्तव्य, और मधुर सम्भाषण उसका आभूषण। कृतज्ञता, न्याय-निष्ठता, आत्म-संयम, क्षमा, दान तथा परोपकार हैं उसके अमूल्य गुण। किन्तु परदार, ईर्ष्या, लोभ, वृथा-भाषण, अनिष्ट-चिन्ता इत्यादि हैं अति भयानक दूषण।"

किन्तु जिसे लोग मृत्यु कहते हैं वह तो केवल जीव के शरीर का विनाश है। उससे तो उसका अवसान नहीं होता। उसका एक भविष्यत् जीवन भी है। जब मनुष्य ने हितकर तथा साधु जीवन यापन कर और इस महान् तथा अनन्त जीवन-नाटक में अपने स्थान पर अधिकार करने के लिए पुत्रोत्पादन कर, समाज के प्रति अपना जो कर्तव्य था उसका पालन कर चुकता है, तब उसको भविष्यत् जीवन के लिए प्रस्तुत होना आवश्यक है।

यहाँ तक गृहस्थ अपने साधु आचरण के फलस्वरूप जीवन-सोपानावली के कई सोपान अतिक्रम कर चुकता है। कुछ उच्च स्थान पर पहुँचने के कारण वह अब पूर्वापेक्षा साधुता का एक उच्चतर क्षेत्र अपने सामने प्रसारित पाता है, और उस स्तर के उपयोगी बनने के लिए अपने आपको अधिकतर शासनाधीन रखना उचित समझता है। अब उसके लिए सर्वभूत में दया, निरामिष भोजन, आत्म-निग्रह, ध्यान-योग का अभ्यास करना, और इस प्रणाली से अधिकतर आध्यात्मिक बल तथा दृष्टि-शक्ति संचित होने पर प्रतारणा, असत्य, क्रोध, हिंसा, परपीडन से निवृत्त होकर मन को विशुद्ध करना आवश्यक होता है। इस प्रकार के आत्म-शासन से अविद्या के नाना कोष क्रमशः स्खलित हो जाते हैं, और तपस्वी की आँखें खुल जाती हैं। और वह अपने अन्तर में अनुभव करता है कि यह परिदृश्यमान जगत् स्वप्नवत् है—आज है, कल अन्तर्हित हो जायगा। इस हेतु सांसारिक वस्तुओं में उसकी पहले की आसक्ति छूट जाती है और उसके

मनश्चक्षु के सामने सत्य की यथार्थ मूर्ति प्रतिभात होती है। किन्तु शठ वासना अभी तक उसका पिंड नहीं छोड़ती। वह नाना रंगों में, नाना आकारों में मनुष्यों को धोखा देती फिरती है। बड़े बड़े धार्मिक भी उसके पंजे से छुटकारा नहीं पाते, और जब तक उसका सम्पूर्ण निधन नहीं होता तब तक आत्मा पूर्ण आनन्द का अधिकारी नहीं हो सकती। इसी लिए इस अंश का उपसंहार करते हुए कवि ने लिखा है—वासना कभी तृप्त नहीं होती, किन्तु यदि कोई व्यक्ति वासना का त्याग करने को समर्थ हो तो वह तत्काल ही सम्पूर्णता प्राप्त करता है।

अर्थ (राजनीति)

ग्रन्थ के दूसरे अंश में कवि ने राजनीति की चर्चा की है। तीनों अंशों में यही सबसे बड़ा अंश है, जिससे ज्ञात होता है कि जीवन की परिकल्पना में कवि ने राजनीति को कितना महत्त्व दिया है। इस अंश को अर्थ का शीर्षक देते हुए ग्रन्थकर्ता ने कौटिल्य का अनुसरण किया है, किन्तु इसमें राजनीति का ही प्रसङ्ग मिलता है; कारण कि राज्य के दृढ़ प्रतिष्ठित तथा सुपरिचालित शासन के अधीन न रहने से धन का संचय वा भोग नहीं हो सकता। कवि कहता है कि अत्याचारी राजा के शासन में दरिद्र की अपेक्षा धनी की अवस्था अधिक मर्म-पीड़ादायक होती है (५६।८)। राजा को जो उपदेश दिये गये हैं वे धनी पर भी प्रयोज्य हैं।

प्रथम अंश में हमारा कवि उच्च कोटि का गार्हस्थ्य-नीति-विशारद दिखाई देता है और इस अंश में वह एक धुरन्धर राजनीतिज्ञ तथा सांसारिकता का पूर्ण ज्ञाता प्रकट होता है। राजनीति का ऐसा कोई देश नहीं जो उसका सुपरिचित न था। कहीं अस्पष्टता, कल्पना वा शब्द-बाहुल्य का नाम नहीं। प्रत्येक विषय यथास्थान उचित परिमाण में सन्निवेशित पाया जाता है।

दक्षता के साथ राज्य चलाने का मार्ग दिखाना ही इस अंश का उद्देश है। इसके प्रथम खण्ड में मुख्यतः राजा को उपदेश दिये गये हैं, क्योंकि वही राज्य का शासक है।

इस अंश के द्वितीय खण्ड के प्रथम दस परिच्छेद मन्त्रियों के विषय में लिखे गये हैं।

राज्य के समग्र राज-तन्त्र को भारतीय अर्थ-शास्त्र-विशारदों ने छः अङ्गों में विभक्त किया है और तिरुवल्लुवर ने भी उन्हीं की विभाग-प्रणाली का अनुसरण किया है। इन छः अङ्गों में मंत्रि-समाज एक अङ्ग है। अवशिष्ट अङ्ग हैं—सेना, प्रजा, धन, मित्र, राजन्य-वर्ग, दुर्ग। (३६.१) २६ परिच्छेदों में इन विषयों के प्रधान प्रधान लक्षण दिये गये हैं। प्रजा का विवरण 'राज्य' के भीतर रक्खा गया है। इसके पीछे के कई परिच्छेदों में नाना प्रकार के दूषणों तथा विरुद्धाचारियों का वर्णन है। अन्तिम परिच्छेद में औषधों तथा चिकित्सकों का उल्लेख है।

तीसरे खण्ड के १३ परिच्छेदों में विविध विषयों का विचार है। इनमें प्रतिष्ठा तथा योग्यता के परिच्छेद विशेष उल्लेख-योग्य हैं। अवशिष्ट परिच्छेद हैं—कुलीनता, महत्त्व, शिष्टाचार, निरुपयोगी धन, लज्जा का अनुभव, कुलोन्नति, कृषि, भिक्षा-वृत्ति, अधःपतित जीवन।

काम (दाम्पत्य प्रेम)

गृहस्थ-जीवन तथा राजनीति की आलोचना के पीछे कवि ने जीवन के तृतीय लक्ष्य "प्रेम" का एक अपूर्व आलेख्य हमारे सामने उद्घाटित किया है। 'कुरल' के प्रधान प्रधान भाष्यकारों के मत में यह अंश किसी वास्तव प्रेम का चित्र है—किसी विशेष प्रणयी-युगल की प्रेम-गाथा है। नायक-नायिका के प्रथम दर्शन से लेकर अन्तिम मिलन तक का इतिहास बड़ी निपुणता के साथ इस अंश में वर्णित हुआ है। वर्णन के ढंग से वास्तविकता का अनुमान करना अयुक्त नहीं। किन्तु ये कवितायें साधारण प्रेमिकों की कार्यावली तथा प्रेमोद्गार भी समझी जा सकती हैं। इनमें प्रेमिक-प्रेमिका के हृदय के असंख्य परिवर्तनों का अति सूक्ष्म विश्लेषण है। टेनीसन के लौक्सली हाल में वर्णित नायिका के सहस्र हृदयावेगों से जिन पाठकों का परिचय है वे तिरुवल्लुवर के वर्णनों को पढ़कर अवश्य ही कहेंगे कि ये प्राचीन तामिल-कवि इस विषय में टेनिसन से कहीं श्रेष्ठ हैं।

इस कल्पनोज्ज्वल वृत्तान्त का आरम्भ ऐसे किया गया है कि एक निराले वन में नायक के सामने अकस्मात् नायिका पड़ जाती है। देखते ही दोनों के हृदयों में परस्पर के प्रति प्रेम का सञ्चार होता है। युवक युवती के रूप के मोह में आपे से बाहर हो जाता है। युवती का लावण्य, विशाल युगल अनियारे नेत्र, आँखों की हृदय-भेदी चितवन, उसका उन्नत उरस्थल उसे पागल बना देते हैं। तरुणी दो-एक बार और भी उसके सामने पड़ी थी। उसने अपना भाव गोपन कर अपने आपको अपरिचिता सी दिखाया। नायक कहता है—"वह मुझे जानने नहीं देती कि उसने मुझे देखा है, किन्तु जब अपाङ्ग दृष्टि से देखकर न देखने का बहाना करती है तब मुझे जान पड़ता है कि वस्तुतः उसके हृदय में आनन्द लहरें मारता है। वह प्रत्याख्यान का अभिनय करती है, किन्तु हृदय में गहन प्रेम का पोषण करती है"। फिर अपने चित्त-चोर के अनुनय-व्यञ्जक मुख को देखकर तन्वी द्रवीभूत हो मुस्कराती है। वारान्तर में उसकी आँखों से ही सम्मति व्यक्त हो पड़ती है। तब वे दृढ़ प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि वे चिर दिन परस्पर के प्रति अनुरक्त रहेंगे। उनका गोपन विवाह होता है। ऐसा विवाह प्राचीन तामिल-समाज में प्रचलित था। यह विवाह आर्य-धर्म-शास्त्रोक्त गान्धर्व-विवाह का अनुरूप था। अब तरुण-तरुणी परस्पर के बाहुपाश में आबद्ध होते हैं। जो रमणी अब तक नायक के हृदय में व्यथा पहुँचाती थी, वही अब व्यथा की ओषधि बन गई।

गोपन में विवाह हुआ, किन्तु यह घटना तरुणी के माता-पिता इत्यादि आत्मीय वर्ग से अज्ञात रक्खी गई। दोनों उस अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में रहे जब समाज में बिना कठिनाई के इसका प्रचार हो सके। दो ही चार दिनों में युवक मिलन के लिए व्यस्त हो पड़ा। रहस्य-भेद के लिए शुभ मुहूर्त कब आ पहुँचेगा, इसकी कुछ निश्चयता नहीं थी। हृदय की अधीरता ने अपेक्षा करना असम्भव कर दिया।

अति प्राचीन काल में तामिल देश में ऐसी दशा से छुटकारा पाने के लिए एक कौशलमय उपाय का उद्भावन किया गया था। किन्तु इस उपाय का अवलम्बन सहज न था—प्रेमिक युवक को दारुण शारीरिक क्लेश सहना तथा अशेष लज्जाहीनता दिखाना पड़ता था। उद्देश यह रहता था कि उसकी करुण दशा को देखकर युवती के माता-पिता और समाज के लोग पसीजकर उसकी धृष्टता को क्षमा कर दें और उसके गुप्त विवाह को स्वीकार कर उसके हाथ में उसकी प्रणयिनी को सौंप दें। यह बर्बरोचित स्थूल उपाय था। डंठल-समेत कुछ ताल के पत्ते काट लाये जाते थे और रस्सी से बाँधकर उनका एक गट्ठा बनाया जाता था, जिस पर घोड़े पर सवार होने के सदृश प्रेमिक युवक बैठता था, और उसी अवस्था में उसे उसके कुछ मित्र आवेगमय प्रेम-सङ्गीत गाते हुए गाँव के भीतर ढो ले जाते थे। उस समय ताल-पत्रों के धार-विशिष्ट किनारों के सङ्घर्ष से उस प्रेम-यात्रा के पथिक महोदय के शरीर के अंग-विशेष की कैसी दशा होती थी, यह पाठकवर्ग अनुमान कर लें। तिस पर गाँव के जितने बालक तथा युवक उस प्रेम-विह्वल अश्वारोही वीर वर को चारों ओर से घेरकर उसकी हँसी उड़ाते हुए नाना ढंग के वाक्य-बाणों से उसे जर्जर करते हुए कदाचित् उसकी प्रणयिनी का नाम पुकारते हुए, उसके सहयात्री हो जाते थे (११५ परिच्छेद)। इस कोलाहल का शब्द युवती के माता-पिता तथा बन्धुवर्ग के कानों तक पहुँचता था, और तब उनके युवती की चातुरी का भेद ज्ञात होता था। वे युवती का यथेष्ट तिरस्कार करते थे और उसे सब निग्रह सहना पड़ता था। किन्तु अब उसकी अपकीर्ति के संशोधन का कोई उपाय न था। विवश होकर माता-पिता को विवाह की स्वीकृति देनी पड़ती थी। तब प्रेमिक युगल के हृदय का मेघ दूर होकर उनके सुख-सूर्य का उदय होता था।

आलोच्य ग्रन्थ-वर्णित प्रेमिक भी इसी उपाय से अपनी प्रिया को प्राप्त कर सका। कुछ काल तक नवीन दम्पति को परस्पर के मधुमय साहचर्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु विशुद्ध प्रेम की धारा सहज गति से प्रवाहित नहीं होती। निरानन्द की काली

छाया ने उनके प्रेम के निर्मल नभोमण्डल को घेर लिया। शीघ्र युद्ध में सम्मिलित होने की बुलाहट युवक के पास आई। उसका कलेजा फटने लगा, किन्तु कर्तव्य के अनुरोध से हृदय को पाषाण बनाना पड़ा। विदाई का दृश्य क्या ही करुण था! युवक पत्नी से कहता है कि वह गौरव तथा धन बटोर कर शीघ्र ही लौटेगा। किन्तु युवती प्रबोध न मानती हुई वियोग की चिन्ता तक से सिहर उठती है। कहती है—तुम्हारे मुझे छोड़कर जाने से मेरी मृत्यु निश्चित है। यदि विच्छिन्न होने की बात के अतिरिक्त कुछ कहना हो तो कहो, किन्तु यदि केवल तुम्हारे आशु प्रत्यागमन की बात हो तो वह उसी से कहो जो तब तक जीवित रहने की आशा रखती हो (११६.१)। युवक विदाई की प्रार्थना करके चल खड़ा होता है।

किन्तु युद्ध-विग्रह नवीना रमणियों के आज्ञाधीन नहीं होते, न उनके अभिलाष के अनुसार उनकी समाप्ति होती है। लौटने का निर्दिष्ट समय अतीत हो जाता है। युवती ने अब तक किसी परिमाण में धैर्य धारण किया था। अब व्याकुल हो उठी—विरह-व्यथा ने प्रबल आकार ग्रहण किया। तरुणी की दारुण विरह-यातना का वर्णन ११ परिच्छेदों में किया गया है।

नायक के घर पहुँचने के पहले उसकी उपेक्षा की बात सोच सोचकर नायिका मर्माहत हो कितना ही विलाप करती है! उसके मन में सहस्रों विचित्र भावों का उदय होता है। कभी वह नायक को अति निष्ठुर, कभी अपनी इतनी दुर्दशा का कारण, कभी समाज में निन्दनीय होने का हेतु कहती है। कभी अपने हृदय को धिक्कारती है कि इतनी उपेक्षा तथा अनादर दिखाये जाने पर भी वह प्यारे के प्रति धावित होता है, उसे देखने के लिए लालायित होता है और उससे मिलने के लिए अधीर होता है। उसको कुछ भी आत्म-मर्यादा का ज्ञान नहीं है। वह कहती है—मैं आज तक जीती हूँ, केवल उनके प्रत्यागमन की आशा से। शीघ्र ही वे आयेंगे इस चिन्ता से मेरा हृदय अधीर हो उठता है। मैं चाहती हूँ कि उनकी रूप-सुधा पान कर मेरे उपोषित नेत्र तृप्त हों—मेरे शीर्ण बाहु की विवर्णता दूर हो जाय। अग्नि में घृत के सदृश जिसका चित्त प्रेम के उत्ताप से पिघल गया है, क्या वह प्रियतम के साथ विवाद पोषण कर सकती है?" (१२७-५, तथा १२६-१०)

उधर नायक घर लौटने के लिए छटपटा रहा है। वह चाहता है कि आज ही युद्ध का अवसान हो जाय और आज ही सन्ध्या को वह घर पहुँचकर प्रिया के साथ आलिङ्गनाबद्ध हो सके। प्रिया की दशा सोचकर वह कातर तथा भयभीत होता है। "मेरे पहुँचने के पहले ही यदि उसका कुसुम-पल्लव हृदय टूट गया हो तो घर लौटने से क्या लाभ होगा?" (१२७-८,१०)

आज हृदय-देवता घर पहुँचता है। पर प्रिया दौड़ कर कण्ठ-लग्ना नहीं होती है। अहा, मान करके बैठी हुई है? परिणीत जीवन में मान क्या ही मधुर तथा उपभोग्य होता है! मिलने का आग्रह कितना बढ़ जाता है। अन्त के पाँच परिच्छेदों में कवि ने पाठकों को मान के लीला-माधुर्य का आस्वादन कराया है। इन परिच्छेदों के पढ़ने से एक मधुर नाटिका पढ़ने का आनन्द मिलता है। रस-पुष्टि के लिए एक तृतीय व्यक्ति का सन्निवेश किया गया है—वह है नायिका की सखी, जिसे सम्बोधन कर, मान की अवस्था में, नायक तथा नायिका अपने अपने मनोभावों को व्यक्त करते हैं, और सखी प्रयोजनानुसार अपने दो-एक वक्तव्य कहती है।

इस विवरण में एक पति-परायणा साध्वी तरुणी रमणी के आचरणों तथा मनोभावों का सजीव चित्र है। इसमें असंयम, उद्दामता, प्रगल्भता वा अपवित्रता की गन्ध तक नहीं। यह न्यक्कार-जनक अवैध परकीया प्रेम से कोसों दूर है—इसमें उसका इङ्गित-मात्र नहीं मिलता। न इसमें अश्लीलता का छाया-स्पर्श देख पड़ता है। यह कल्पना स्वर्ग के पारिजात का परिमलवाही है। अवच्छिन्न (abstract) उपदेश व्यर्थ होते हैं यह जानते हुए कवि ने दो तरुण-तरुणियों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर उनकी चिन्ता-धारा तथा कार्य-परम्परा के मिस प्रेम-राज्य के रहस्यों का वास्तव रूप उद्घाटित कर दिखाया है, और प्रेम-विधि के यथोचित निर्वाह के लिए एक

पथ-प्रदर्शक आदर्श युवक-युवतियों के सामने धर दिया है।

मान का उल्लेख अलङ्कार-शास्त्र में पाया जाता है। भरत का नाट्य-शास्त्र तथा भास के नाटक अति प्राचीन कहे जाते हैं, किन्तु तिरुवल्लुवर के समय के पहले कोई अलङ्कार-ग्रन्थ था वा नहीं, इसका पता नहीं चलता। उनसे १२ सौ वर्ष पीछे वैष्णव कवियों ने परकीया नायिका के मान का उत्तम विश्लेषण किया है सत्य, किन्तु इतने प्राचीन समय में भी तिरुवल्लुवर ने स्वकीया नायिका की मान-लीला के वर्णन में जो कृतित्व दिखाया है वह विस्मयकर है। रामायण में कैकेयी के मान का विवरण है। मान कालिदास की शकुन्तला तथा शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट का विषयीभूत नहीं है, तथापि तिरुवल्लुवर की नायिका में निभृत-निवासिनी शकुन्तला वा मिरांडा के सरल अकपट प्रेम की-सी झलक आती है। प्रेमिक-प्रेमिका के कम्पायमान हृदयों के आवेगों के वर्णन में तिरुवल्लुवर मानो उनके अन्तस्तल तक स्पर्श करने को समर्थ हुए थे, ऐसा अनुमान होता है।

उपसंहार

ग्रन्थ के तीनों अंशों का जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे मेरी अयोग्यता का ही परिचय मिलता है। कारण इस ग्रन्थ-रत्न के उत्कर्ष की सम्पूर्ण उपलब्धि कराना योग्यतर व्यक्ति का काम है। मनुष्य के नैतिक, पारिवारिक अथवा नागरिक जीवन का जो दिग्दर्शन कवि ने अपने ग्रन्थ में कराया है वह अमूल्य है। ग्रन्थ में मानव-मन के प्रत्येक देश की विशाल अभिज्ञता का निदर्शन मिलता है। मलयापुर के इस दरिद्र अस्पृश्य ताँती की प्रतिभा असामान्य थी। वह भीष्म, कामन्दक, कौटिल्य, वात्सायन इत्यादि नीति-व्याख्याताओं के साथ आसन पाने के योग्य है। कवित्व-शक्ति भी उसकी उच्च कोटि की थी। कवि वही है जिस में उच्च कल्पना हो, जो अपने भावों को उपयुक्त भाषा में व्यक्त कर सकता हो और जिसकी उक्तियाँ हृदय को स्पर्श करने को समर्थ हों। तिरुवल्लुवर की रचना में ये गुण विद्यमान हैं। उनका ग्रन्थ पढ़कर यह धारणा मन में बद्धमूल हो जाती है कि साधुता, आत्म-सम्मान तथा पौरुष से बढ़कर गुण नहीं, और पाप तथा नीचता अवश्य वर्जनीय हैं। विश्व-साहित्य में 'कुरल' तिरुवल्लुवर का एक अमूल्य दान है।

इस लेख के लिखने में मुझे वी० वी० एस० अय्यर कृत 'कुरल' के अँगरेज़ी अनुवाद से बहुत सहायता मिली है।

माँ

श्रीयुत मदनमोहन मिहिर

सारा जगत् कराह रहा है—
माँ कैसे मैं सोऊँ।
बिखर रहे सब ओर अश्रुकण,
चुन दे उन्हें पिरोऊँ।

थपकी दे-दे मुझे न बहला,
गा मत झूठी लोरी।
गोदी में चपटा ले मुझको,
छिपकर मैं भी रोऊँ।

धर्म में राज्य का हस्तक्षेप

दूसरा पहलू

श्रीयुत माईदयाल जैन, बी० ए०, (आनर्स) बी० टी०



श्रीयुत माईदयाल जो जैन ने धर्म में राज्य का हस्तक्षेप-सम्बन्धी विषय पर अपने लेख में बिलकुल नये दृष्टि-कोण से विचार किया है और सिद्ध किया है कि देश-कालके अनुसार भारतीय लौकिक धर्म-सम्बन्धी क़ानून बनवाना श्रेयस्कर है। आपका तर्क और विवेचन हृदयग्राही और मनोरञ्जक है।



नवम्बर सन् १९३३ की सरस्वती में पण्डित नरदेव जी शास्त्री का एक लेख 'धर्म में राज्य का हस्तक्षेप' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। यह लेख तथा यह विषय अत्यन्त विचारणीय और सामयिक है। इस विषय का महत्त्व केवल वाद-विवाद की दृष्टि से ही नहीं है, वरन इस पर बहुत अंशों में राजा और प्रजा का सम्बन्ध और प्रजा का हित-अहित भी निर्भर है। इस विषय को ठीक तौर से समझने और व्यवहार में लाने से राजा राज्य अथवा प्रजा का बहुत हित कर सकता है तथा प्रजा में प्रिय बन सकता है। इसके विपरीत इस मामले में ज़रा-सी ग़लती करने से राजा और प्रजा के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। आज-कल प्रांतिक कौंसिलों और केन्द्रीय धारा-सभा में प्रजा के चुनें हुए सदस्यों का बाहुल्य है। कहीं कहीं देशी राज्यों में भी प्रजा के प्रतिनिधियों की सभायें स्थापित हो गई हैं। इनका कोई न कोई सदस्य कभी कभी समाज-हित तथा देशोन्नति की शुभ कामना से प्रेरित होकर एक न एक ऐसा प्रस्ताव पेश करता ही रहता है जिसे वह सच्चे हृदय से समाज तथा देश के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी समझता है। ऐसे प्रस्तावों एवं बिलों का उद्देश निस्सन्देह समाज के रीति-रवाजों तथा नियमों में परिवर्तन, संशोधन, सुधार अथवा क्रांति करना होता है। इस बात के बताने की यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है कि ऐसे बिलों अथवा क़ानूनों का प्रजा के धार्मिक विश्वासों पर अथवा अन्धविश्वासों पर, समाज की मान्यताओं पर और समाज-व्यवस्था पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। सामाजिक नियमों, समाज-व्यवस्थाओं तथा रीति-रवाजों में परिवर्तन करना कभी कभी समाज-हित की दृष्टि से आवश्यक होता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे कामों में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। क्या राजा को अथवा किसी धारासभा के सदस्य को राज्य की

सहायता से यह काम करना चाहिए या नहीं? जो राजा अथवा सदस्य ऐसा करता है वह समाज-सुधार आदि कामों में राज्य के हस्तक्षेप को बुरा नहीं समझता।

धर्म में राज्य का हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं, यह विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। सदा से कुछ विद्वान् इसके पक्ष में रहे हैं और कुछ विपक्ष में। भारतवर्ष में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बहराम जी मालाबारी, महात्मा रानाडे, महामना गोपाल कृष्ण गोखले इस बात के पक्ष में थे कि समाज-सुधार आदि कामों में राज्य की सहायता से क़ानून बनवाना ठीक है। आज-कल श्रीयुत रङ्गा ऐयर, सर हरिसिंह गौड़, रायसाहब हरविलास सारदा और कुछ अंशों में महात्मा गान्धी भी इसके पक्ष में हैं। लोकमान्य तिलक इसके विरोधी थे। आज-कल पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्रीयुत एम० के० आचार्य और कई मुसलमान नेता इसके विरोधी हैं कि समाज-सुधार आदि कामों में राज्य की सहायता ली जाय। पण्डित नरदेव जी शास्त्री ने भी अपने लेख में इसी पक्ष को प्रतिपादित किया है कि धर्म के मामले में राज्य का हस्तक्षेप न करना चाहिए। दोनों पक्ष के विद्वानों तथा नेताओं की विद्वत्ता, धर्म-प्रेम, समाजहितैषिता और विवेक-बुद्धि पर कोई आदमी सन्देह करने की धृष्टता नहीं कर सकता। फिर किसकी बात मानी जाय? यदि यहाँ विषय को न बढ़ा कर यह बात कह दी जाय कि कुछ एकान्तवादियों को छोड़कर बाक़ी सभी विद्वान् किसी अवस्था में 'धर्म में राज्य के हस्तक्षेप' के पक्ष में थे और दूसरी अवस्था में इसके विपक्ष में थे तो कोई अत्युक्ति न होगी। वाद-विवाद में विद्वानों को एक पक्ष लेना ही पड़ता है, किन्तु बहुधा ठीक बात दोनों पक्षों के बीच का मार्ग होता है। इस प्रकार के विषयों में एक पक्ष को मानकर ही सदा कार्य करने से काम नहीं चलता, बरन ऐसा करने से कभी कभी बड़ी हानि होती है। ऐसे कामों में सदा परिस्थिति, देश और काल के अनुसार ही काम करने में बुद्धिमानी है।

पण्डित नरदेव जी शास्त्री का लेख बहुत संक्षिप्त है। संक्षिप्त लेख में बहुत-सी बातें साफ़ नहीं होतीं। यदि पण्डित जी कोई बीच का रास्ता बताने की कृपा करते तो अच्छा होता। किन्तु आपने अपने लेख के अन्तिम भाग में कुछ ऐसी बातें लिख दी हैं जिनका साफ़ मतलब यह है कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में राज्य को प्रजा के धर्म में—धर्म में सामाजिक प्रश्न भी शामिल हैं—हस्तक्षेप बिलकुल न करना चाहिए और वर्तमान धारासभाओं को समाज-सुधार-सम्बन्धी क़ानून भी न बनाने चाहिए। क्या पण्डित जी यह चाहते हैं कि राज्य की सहायता से समाज-सुधार का कार्य इस समय बिलकुल न किया जाय? पण्डित जी के इस सिद्धान्त को मान लेने से तो समाज और देश का बहुत अहित हो सकता है। और समाज-सुधार का बहुत-सा उपयोगी काम रुक सकता है, अथवा उसकी प्रगति मन्द हो सकती है। परन्तु इस लेख का उद्देश शास्त्री जी के लेख का खण्डन करना नहीं है, बरन इस विषय के दूसरे पहलू को पाठकों के सामने रखना है।

विचारणीय प्रश्न ये हैं—

(१) राजा अथवा राज्य को प्रजा के धर्म-सम्बन्धी कामों में हस्तक्षेप करने का अधिकार होना चाहिए या नहीं।

(२) भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था में और भविष्य में राज्य की धर्म-सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए?

इनमें से पहली बात का सम्बन्ध सिद्धान्त से है और दूसरी बात का सम्बन्ध इस सिद्धान्त के व्यवहार से है।

इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिए यहाँ इस बात को भी साफ़ तौर से समझ लेना चाहिए कि 'धर्म' शब्द का क्या आशय लेना चाहिए। धर्म की कोई सीधी व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। हम भारतवासी इस शब्द को इतने व्यापक अर्थ में लेते हैं कि प्रायः जीवन की बहुत-सी बातें धर्म में आ जाती हैं। धर्म-सिद्धान्त, दर्शन, धार्मिक आचार-व्यवहार, सामाजिक रीति-रवाज, विवाह, खान-पान आदि बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से धर्म में शामिल हैं। इस अपेक्षा से हिन्दू, मुसलमान आदि सभी बराबर हैं। किन्तु इस बात को थोड़ी देर के लिए छोड़कर कि भारतवासी धर्म का क्या अर्थ लेते हैं, यहाँ एक और बात का उल्लेख करना भी

आवश्यक मालूम होता है। धर्म में राज्य के हस्तक्षेप का प्रश्न योरप में उस समय पैदा हुआ था जब वहाँ ईसाइयों और यहूदियों में झगड़ा था और ईसाई-जनता रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट नाम के दो सम्प्रदायों में बँट गई थी। योरप के प्रत्येक देश में इस सम्प्रदाय-भेद से राजा और प्रजा में साधारण झगड़ा ही न रहता था, वरन बड़े ख़ून-ख़राबे होते थे। धर्म-भेद के कारण राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे और प्रजा राजा को राज्यच्युत करने का प्रयत्न करती थी। ऐसी कथाओं से योरपीय इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। इँग्लेंड के ट्यूडर-वंश और स्टुअर्ट-वंश के राज्य-काल में तो इस प्रकार के अत्याचार अत्यन्त अधिक हुए हैं। किन्तु वहाँ धर्म में धार्मिक मान्यता, पूजा-प्रार्थना, और साधुओं का आचार-व्यवहार आदि ही सम्मिलित थे। विवाह, दायभाग, मदिरापान आदि बातें वहाँ सामाजिक बातें समझी जाती थीं। इसलिए वहाँ यह सिद्धान्त स्थिर करने में देर न लगी कि यदि राजा और प्रजा का धर्म और सम्प्रदाय एक हों तो राजा प्रजा के धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है, अन्यथा नहीं। परन्तु भारतवर्ष में 'धर्म में राज्य के हस्तक्षेप' के प्रश्न को उठाने से पहले यहाँ भी धर्म की व्याख्या करनी होगी—धर्म की अनिश्चित व्याख्या से काम न चलेगा। धर्म के भाग-विभाग करना चाहे हम पसन्द करें या न करें, किन्तु अब देश ऐसी अवस्था को प्राप्त होगया है कि ये भाग-विभाग किये बिना काम न चलेगा। यद्यपि यह काम देश के बड़े बड़े विद्वानों तथा नेताओं का है, तथापि मेरे विचार में धर्म-शब्द के निम्नलिखित तीन अर्थ लेना ठीक होगा—

(१) धर्म-सिद्धान्त।

(२) हमारी धार्मिक क्रियायें और आचार।

(३) समाज-सम्बन्धी प्रश्न यथा विवाह, दायभाग, स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध आदि।

इन तीन बातों के बारे में राज्य की नीति क्या होनी चाहिए, इसी बात पर यहाँ विचार किया जायगा।

इस समय भारतवर्ष का राज-धर्म ईसाई-धर्म है। भविष्य में जब तक भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य के अंतर्गत है तब तक ईसाई-धर्म ही राज-धर्म रहेगा। यद्यपि राज-धर्म का जनता के धर्म पर बलजनित प्रभाव नहीं पड़ रहा है, तथापि परोक्ष रूप से कुछ प्रभाव अवश्य पड़ रहा है। किन्तु ज्यों ज्यों प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथों में राज्य का काम अधिक रूप से आता जायगा, त्यों त्यों धर्म राज-नीति से अलग होता जायगा।

अब प्रथम बात धर्म-सिद्धान्त को लीजिए। इसके बारे में राज्य की नीति स्पष्ट है और भविष्य में भी स्पष्ट रहेगी। आपका सम्बन्ध किसी धर्म से हो, राज्य उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता, वह किसी क़ानून के बल पर जनता का धर्म नहीं पलट सकता। महारानी विक्टोरिया की १८५८ की घोषणा के अनुसार ब्रिटिश सरकार प्रजा के धर्म में हस्तक्षेप न करने का वचन दे चुकी है। धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन करना या न करना प्रजा का अपना काम है। यदि आवश्यकता समझी जाय तो नव शासन-विधान में ऐसी धारा रख दी जाय।

दूसरी बात है धार्मिक क्रियायें और आचार-विचार। यह बात किसी अंश में पहली बात से भिन्न है। हमारी धार्मिक क्रियाओं का प्रभाव दूसरे आदमियों के धार्मिक विश्वासों तथा प्रजा की शांति पर पड़ सकता है। इस मामले में राज्य की नीति बहुधा यह है कि हर एक धर्म के अनुयायी अपनी धार्मिक क्रियाओं को स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकें, किन्तु दूसरे धर्मावलम्बियों के धार्मिक भावों को ठेस न लगे तथा प्रजा की शांति भंग न हो। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को एक दृष्टि से देखे और हर एक के लिए ऐसा प्रबन्ध करे कि वे अपनी धार्मिक क्रियाओं को निर्भय होकर कर सकें। इस मामले में जनता को अत्यन्त उदार तथा सहनशील होना चाहिए। अब भारतवासियों को हिन्दुओं के शंख की ध्वनि, मुसलमानों की बक़रीद, जैनों के नग्न साधुओं तथा नग्न प्रतिमाओं, सिक्खों के झटके आदि सभी बातों को खुले हृदय से सहन करना होगा। इसके लिए भावी शासन-विधान में एक ऐसी धारा अवश्य होनी चाहिए जिससे भारतवर्ष के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपनी धार्मिक क्रियाओं को राज्य के

नियमों के अधीन बे-रोक-टोक करने का अधिकार प्राप्त हो और राज्य उसमें कभी हस्तक्षेप न कर सके।

किन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ दो बातों का उल्लेख करना आवश्यक मालूम होता है।

प्रथम प्रश्न साधुओं के बारे में है। हर एक धर्म में साधुओं का होना आवश्यक है। भारत में इस समय कई लाख सच्चे तथा नामधारी साधु हैं। कुछ प्रतिशत को छोड़ कर बाक़ी साधु समाज तथा देश के लिए भार और कलंक हैं। समाज इनसे छुटकारा चाहता है, किन्तु उसके पास ऐसा बल नहीं है जिससे वह इनकी बाढ़ को रोक सके। यदि इस काम को राज्य करना चाहे और देश राज्य का साथ दे तो यह काम कठिन नहीं है। साधुओं का नियंत्रण भी धर्म में हस्तक्षेप कहा जा सकता है। किन्तु जिस नियंत्रण से समाज का हित हो तथा कपटी पुरुष सुमार्ग पर लगाये जायँ वह बुरा नहीं। किन्तु यह काम तभी हो सकता है जब साधुसुधार के सम्बन्ध में देश में तीव्र आन्दोलन हो और लोकमत तैयार हो जाय।

यही हाल अछूतोद्धार-आन्दोलन का है। दक्षिण के कुछ मन्दिर उस समय तक हरिजनों के लिए नहीं खुल सकते जब तक वर्तमान क़ानून में परिवर्तन न हो। इसी लिए श्रीयुत रंगा ऐयर को असेम्बली में मन्दिर-प्रवेश-बिल पेश करना पड़ा। किन्तु बहुत-से आदमी इस बिल को भी धर्म में राज्य का हस्तक्षेप करना ही समझते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि धर्म में राज्य ने पहले जो हस्तक्षेप किया था, यह उसे दूर करने का एक प्रयत्न है। किन्तु मेरे विचार में बिल के पास हो जाने से भी हरिजनों को वह सुविधा तब तक न प्राप्त होगी जब तक हिन्दुओं के हृदयों में महान् परिवर्तन न होगा और यह काम जनता में ही प्रचार करने से हो सकता है। इसी लिए महात्मा गाँधी जहाँ प्रजा में इसके लिए लोकमत तैयार कर रहे हैं, वहाँ असेम्बली के सदस्यों पर प्रभाव भी डाल रहे हैं।

अब तीसरी बात समाज-सम्बन्धी प्रश्नों—विवाह, दाय-भाग, रीति-रवाज आदि—की लीजिए। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के प्रश्न सामाजिक प्रश्नों की श्रेणी में रखकर धर्म से अलग कर दिये गये हैं। और इसलिए वहाँ आवश्यकतानुसार राज्य की सहायता से या अपनी इच्छा से इनमें परिवर्तन करने में कोई कठिनाई पेश नहीं आती। किन्तु भारतवर्ष में ये लौकिक धर्म में ही सम्मिलित हैं *। किन्तु ये बातें धर्म-सिद्धान्तों के समान अटल तथा अपरिवर्तनीय नहीं हैं। इनमें समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहा है, जिसके उदाहरणों की कमी नहीं है। अनुलोम-प्रतिलोम-विवाह को आज कौन जानता है? स्वयंवर कहाँ दिखाई पड़ता है? स्वयंवर करनेवाली लड़कियों को आज समाज में कौन आदर की दृष्टि से देखता है? अनेक प्रकार के विवाह आज कहाँ होते हैं? इस सम्बन्ध की जो सामाजिक क्रियायें आज प्रचलित हैं वे भी धर्म का ही अंग मानी जाती हैं। हो सकता है कि किसी समय वर्तमान सामाजिक क्रियायें आवश्यक हों और उन्होंने धर्म का रूप धारण कर लिया हो। किन्तु यदि आज इनमें से कुछ रीति-रवाज समाज की पलटी हुई अवस्था के अनुकूल नहीं हैं तो उनमें परिवर्तन करने में क्या हानि है? हमें परिवर्तन का स्वागत करना चाहिए। इसके अतिरिक्त आज भी एक ही धर्म के माननेवाले भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न रीति-रवाज मानते हैं। और सब उनको धर्म ही मानते हैं। यह विचित्र धर्म होते हुए भी लौकिक धर्म के नाते ठीक है। देशकालानुसार सबने अपने रीति-रवाज क़ायम कर लिये। यही हाल दाय-भाग का है। वह भी एक ही धर्म की भिन्न जातियों में भिन्न भिन्न है। यह कोई धर्म-सिद्धान्त की भाँति अटल नहीं है। इसमें समयानुकूल परिवर्तन करने से धर्म में हस्तक्षेप का विचार करना निरी भूल है।

पुराने समय में इस प्रकार के प्रश्न मनु, भरद्वाज, शुक्र, बृहस्पति, पराशर तथा सोमदेव आदि स्मृतिकारों तथा नीतिकारों के ग्रन्थों के अनुसार निश्चित होते थे तथा राजा किसी बड़े धर्मशास्त्री की सम्मति से उसमें परिवर्तन

---

* द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः॥

करता था अथवा जातीय पंचायतें अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने रीति-रवाजों में परिवर्तन करती थीं। किन्तु आज न तो वे राजे ही हैं, न वे समर्थ धर्मशास्त्री ही हैं और न वे शक्तिसम्पन्न तथा विवेकशील पंचायतें ही हैं। हमारे धर्मशास्त्रों को बने भी बहुत समय व्यतीत होगया। हमारे समाज की रचना तथा आवश्यकतायें भी बहुत कुछ पलट गई हैं। अब आवश्यकता है कि समाज समाज-शास्त्र के नवीन सिद्धान्तों पर अथवा प्राचीन आर्य-सिद्धान्तों पर आवश्यकतानुसार खड़ा किया जाय, और भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के सामाजिक नियमों में जो त्रुटियाँ हैं वे दूर की जायँ। हर्ष की बात है कि पूना में हिन्दू-क़ानून का संशोधन करने के उद्देश से एक सभा स्थापित हो गई है। इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बी भी अपने सामाजिक नियमों का संशोधन करने के लिए प्रयत्न करें। किन्तु इन संशोधनों को अथवा नवीन सामाजिक विधानों को क़ानून का रूप तो राज्य के सिवा और कोई नहीं दे सकता। यदि उसी साधन को हम धर्म में राज्य के हस्तक्षेप के नाम पर छोड़ दें तो इससे समाज-सुधार का काम रुक जायगा तथा समाज में गड़बड़ मच जायगा और जिस व्यक्ति को जो नवीन या प्राचीन प्रथा अनुकूल होगी उसे ही मानेगा। क्या दाय-भाग में कोई परिवर्तन क़ानून का रूप धारण किये बिना मान्य हो सकता है? इसके अतिरिक्त जो काम राज्य की सहायता से बड़े परिमाण में कम समय में हो सकता है वही काम राज्य की सहायता के बिना कम परिमाण में और अत्यन्त अधिक समय में होगा। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि सती-प्रथा, कन्या-वध, नर-वध, दास-प्रथा और कुछ अंशों में बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियाँ राज्य की सहायता से कितनी आसानी से दूर होगईं। ऊपर के इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए तथा नवीन उपयोगी सामाजिक नियम बनाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप करना अथवा राज्य की सहायता लेना बुरा नहीं है। इसमें यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि राजा और प्रजा का धर्म एक हो तभी यह काम होना चाहिए अन्यथा नहीं। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनमें अन्य धर्म के माननेवाले राजों ने दूसरे धर्म को माननेवाली प्रजा के लिए सफलतापूर्वक सामाजिक नियमों में क्रान्ति की है और समान धर्म को माननेवाले राजे इस काम में असफल हुए हैं। अमीर अमानुल्लाखाँ अफ़ग़ानिस्तान की स्वधर्मी प्रजा में समाज-सुधार न कर सके, वरन अपने सुधारों के लिए उन्हें देश छोड़ना पड़ा। किन्तु भारतवर्ष में ईसाई-धर्म को माननेवाला अँगरेज़ी राज्य सामाजिक नियमों में सफलतापूर्वक सुधार कर सका है। इनकी सफलता तथा असफलता के कारण समाज-सुधारकों के लिए मनन तथा अध्ययन के उपयोगी विषय हैं।

भारतवर्ष के समाज-सुधारकों को इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि समाज-सुधार-सम्बन्धी कोई बिल क़ानून का रूप उस समय तक धारण नहीं कर सकता जब तक उसके पक्ष में काफ़ी आन्दोलन न होगा और न लोक-मत तैयार होगा। यदि कोई बिल पास भी हो गया तो उसे लाभ कम होगा। समाज-सुधार का बहुत-सा काम समाज के अन्दर ही होना चाहिए। राज्य की सहायता यथा शक्ति कम से कम ली जाय। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सहायता लेना नीति के विरुद्ध नहीं है, वरन कभी कभी अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा के प्रचार तथा समाचार-पत्रों के प्रचार के साथ समाज-सुधारकों का काम आसान होता जायगा। इसलिए इस सम्बन्ध में देश के नेताओं का प्रयत्न जारी रहना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कौंसिलों और असेम्बली के सभी धर्मों को माननेवाले और कुछ पाश्चात्य वातावरण में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त सदस्यों को जो सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्नों के टिकट के स्थान पर राजनैतिक टिकट पर सदस्य चुने गये हैं, क्या अधिकार है कि वे जनता के धर्म-सम्बन्धी—अन्य शब्दों में समाज-सम्बन्धी—क़ानून बनाने की चेष्टा करें। यह प्रश्न देखने में जितना विकट मालूम होता है, वास्तव में उतना कठिन नहीं है। वोटर राय देते समय अपने प्रतिनिधि के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचारों को जानते रहते हैं। आगे उन्हें

इस बात में और भी सचेत रहना चाहिए। किन्तु कोई बिल उस समय तक क़ानून नहीं बनता जब तक केन्द्रीय सभाओं के प्रतिनिधियों का बहुमत उसके पक्ष में न हो। राजनैतिक नीति पर बनी हुई पार्टियाँ भी तथा कभी कभी सरकारी मेम्बर भी समाज-सम्बन्धी प्रश्नों पर राय देने में स्वतन्त्र होते हैं। फिर भारत-सरकार तो सामाजिक बिलों के मामलों में बड़ी सावधानी तथा सतर्कता से काम करती है। जब तक किसी बिल के पक्ष में उसे काफ़ी लोकमत दिखाई नहीं देता वह उसे शीघ्र पास ही नहीं करती। ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अन्तर्जातीय विवाह बिल मुद्दतों तक धारासभा के भवन में पेश होता रहा। बाल-विवाह-निषेधक क़ानून की त्रुटियाँ इसी बात को प्रकट करती हैं कि शासकवर्ग ने बाल-विवाहों को रोकने का काम अपने ऊपर न लेकर प्रजा पर छोड़ दिया। धीरे धीरे इसका प्रचार होने पर इसकी त्रुटियाँ दूर हो जायँगी। समाज-सम्बन्धी क़ानून बनाते समय अब भी यह रवाज है कि जिस बिल का प्रभाव समस्त जनता पर समान रूप से पड़े उस पर सभी प्रतिनिधि सम्मति देते हैं और जो बिल किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध रखते हैं उन पर उसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि सम्मति देते हैं। यह एक अच्छा नियम है।

समाज-सुधार-सम्बन्धी काम राष्ट्रीय काम के पीछे होना चाहिए या पहले, यह भी एकान्त-वाद है। दोनों काम साथ साथ चलने में क्या हानि है? इनका आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक का दूसरे पर बहुत आधार है। इसलिए जो आदमी जिस काम को कर सकता है उसे वही काम करना चाहिए और ख़ूब करना चाहिए।



भारतवर्ष के लिए एक लिपि

बोलचाल की भाषाओं में कई लिपियों ने गड़बड़ मचा रक्खा है। हिन्दी जैसे एक राष्ट्रभाषा बन सकती है, वैसे ही देवनागरी अपनी स्वाभाविक एक लिपि है। जो मनुष्य संस्कृत-लिपि को जानता है, वह उससे बनी हुई सब लिपियों को आसानी से सीख सकता है; और यदि दक्षिणी द्राविड़ संस्कृत का अभ्यास इसलिए करता है कि वह शेष भारत की संस्कृति के साथ सहभागी हो तो उसको हिन्दी-भाषा और देवनागरी भी सीखना चाहिए, जिसके साथ नांदी नागरी का बहुत संबंध है। यदि हम इस नीति का शनैः शनैः अवलंबन करेंगे तो कोई कारण नहीं है कि भारतवर्ष क्यों न एक लिपि और एक भाषा में संगठित होकर, दैनिक एक लिपि तथा एक भाषा के पत्र को पढ़े, जो सार्वजनिक विषयों पर विचार-विनिमय करता हुआ नवीन राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण करे। यह एक ध्येय है जिसके लिए यत्न करना चाहिए। सुधारकगण भावों की प्रबलता का अनुभव करते हैं। ये प्रायः तर्क को दबा देते हैं; परन्तु यहाँ पर तर्क और भाव निस्संदेह संमिलित हैं। उज्ज्वल देशभक्ति चाहती है कि एक राष्ट्रीय भाषा हो और बुद्धिमत्ता प्रेरणा करती है कि हम एक ध्येय को पहुँचें और सर्वदेशीय एक लिपि हो।

—बड़ौदा-नरेश



वैवाहिक जीवन की एक समस्यापूर्ण कहानी

सुधरा जन्म

पंडित मोहनलाल नेहरू

[१]



री तो राय है कि अब तुम ला क्लास में भर्ती हो जाओ"। चौबे जी ने अपनी पुत्री से एम० ए० का नतीजा निकलने पर कहा।

"ला में क्या धरा है? आप ही तो रोज़ कहा करते हैं कि वकीलों का दिवाला निकल गया है। तब मैं भी क्यों उस दिवालिये पेशे को ग्रहण करूँ।" सीता ने हँसते हुए उत्तर दिया।

"तो फिर तेरी शादी ही कर दूँ। बोल"! दयाशंकर ने मुसकराते हुए बड़े व्यंग्य से कहा।

सुशीला के साँवले मुँह पर थोड़ी लाली दौड़ गई, और हँसते हुए उसने कहा—क्या वह वकालत से अच्छा प्रोफ़ेशन है?

बात आई-गई हो गई, मगर चौबे जी उस दिन से पुत्री के बारे में बहुत सोच-विचार में पड़ गये। उनकी इच्छा तो यही थी कि सीता को जिस काम में रुचि हो वही करने दें। किन्तु हमारे युवक और युवतियाँ कालेज की शिक्षा की समाप्ति तक कुछ तय नहीं कर पाते हैं। इसमें उनका भी अपराध नहीं है। कुछ तो माता-पिता ही उस समय तक इस ओर से उदासीन रहते हैं और कुछ काम का भी अभाव रहता है। इसी से जहाँ तक टल सकता है यह विषय टाला जाता है। काम टालने में हम लोग उस्ताद हैं। चौबाइन जी तो विवाह करने के पक्ष में थीं। और न कैसे होतीं? उनका विवाहित जीवन का अनुभव बहुत ही अच्छा था।



मित्र-मंडली ने सीता के पास होने पर दावत माँगी। चौबाइन जी ने चाय की स्वीकृति दी। गरमी के दिन थे। चूल्हे के आगे कौन बैठेगा? केवल पुरुषों का निमंत्रण था और वह भी धनिक मित्रों का जिन्होंने दावत माँगी थी। सभी मित्रों ने सीता की पढ़ाई, विवाह आदि पर वाद-विवाद किया। सभी को वह लड़की समान रूप से प्यारी थी। एक ने कहा—वकालत ही उसके वास्ते अच्छी है। दूसरे ने कहा—नहीं। पढ़ाने का पेशा अच्छा है। तीसरे ने कहा—आज-कल सिनेमा का काम लड़कियों के वास्ते अच्छा है। उसमें अभी गुंजाइश भी है। इस

पर सभी मित्र-मंडली बिगड़ खड़ी हुई। एक वृद्ध सज्जन बोले—वाह! हम अपनी लड़कियों को बीच बाज़ार में नचायेंगे? ऐसा कभी नहीं होगा। घर में बैठी रहना क्या, भीख माँग कर खाना तक इससे कहीं अच्छा है।

उन्हीं के साथी ने कहा—गुंडों के साथ अपनी बहू-बेटियों को कहाँ भेजेंगे?

दूसरे बोले—अब तो पढ़े-लिखे एम० ए० बी० ए० युवक उसमें सम्मिलित हो रहे हैं।

तीसरे ने कहा—वे सब चरित्रहीन हो जाते हैं। जब पेशा ही ऐसा है तब वे क्या कर सकते हैं?

"किन्तु किस पेशे में चरित्रहीन नहीं होते? चरित्र का बनाना या बिगाड़ना तो अपने हाथ है।" प्रस्तावक महोदय ने तिलमिला कर कहा।

विरोधी महोदय ने कहा—इन सब झगड़ों से यही अच्छा है कि उसका विवाह कर दिया जाय।

प्रस्तावक महोदय ने रोब के साथ कहा—और अगर परमेश्वर न करे, पति मर जाय।

वृद्ध सज्जन बोले—भाई, ऐसी बुरी बात मुँह से क्यों निकालते हो?

झेंपकर प्रस्तावक महोदय ने कहा—अगर उससे न बने या उसका व्यवहार बुरा हो। "रामचंद्रजी ने भी तो सीता जी के साथ बुरा व्यवहार किया था। तब क्या वे बाज़ारों में नाचने लगी थीं?"

"यह सब सिनेमा के नाच से अच्छा है"। मित्र-मंडल ने अन्त में यही तय किया।

सीता और उसकी माता भी पर्दे के पीछे ये बातें सुन रही थीं। सीता ने क्रोधित होकर माता से कहा—ये लोग मेरे बीच में पड़नेवाले कौन होते हैं? मेरा जो जी चाहेगा, करूँगी।

"ठीक है मगर उनसे लड़ने तो न जाओगी। कहने दे। वह भी तो तुझे अपनी ही लड़की की तरह मानते हैं"। चौबाइन जी ने उत्तर दिया।

[२]

सीता ने वकालत करने का प्रस्ताव रद कर दिया था। वह गरमी की छुट्टी भर समाचार-पत्रों में 'वान्टेड कालम' देखती रहती और सभी जगह नौकरी के वास्ते अर्ज़ी भेज देती। सौ रुपये से तीन सौ तक की जगहों के वास्ते जो माँगें छपतीं उन सबके लिए उसकी दरख्वास्तें गईं। कालेज खुलनेवाले थे, किन्तु कहीं से उत्तर नहीं आया।

चौबे जी सीता को अपने ऊपर बोझ नहीं समझते थे। वे उसे प्राणों से ज़्यादा प्यार करते थे। किन्तु सीता अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती थी! वह समझती थी कि आर्थिक दशा सँभलने पर वह स्वाधीन हो जायगी। एक जगह से सौ रुपये की जगह के वास्ते मंज़ूरी आई। और कहीं से उत्तर तक न आया।

"लड़कियाँ भी तो बहुत संख्या में नौकरी ढूँढ़ने लगी हैं। अब उतनी माँग कहाँ है जो दस वर्ष पहले थी?" पिता ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा।

इतनी अच्छी बात थी कि रहने को कमरे बिना किराया के बोर्डिंग हाउस में मिल गये थे। माता-पिता की मंज़ूरी से वह चली गई।

अपने स्कूल और कालेज के ज़माने में सीता खेल-कूद, नाटक इत्यादि में भाग लेती रही थी और स्वयं बहुत अच्छा एक्ट करनेवालों में थी। पिता के उन्हीं मित्रों ने जिन्होंने दावत के समय उसके विवाह की सम्मति दी थी, उसके स्कूल-कालेज के दिनों में उसके एक्टिंग पर बधाई दी थी। वे लोग एक उम्र तक तमाशों में लड़की का भाग लेना बुरा नहीं समझते थे, किन्तु जवान लड़की उसके बदले में पैसे ले, इसे अच्छा नहीं मानते थे।

एक ज़माना था जब वेतन लेकर अध्यापिका का काम करना भी बुरा माना जाता था। शुरू में हर काम का इसी तरह स्वागत होता है। हमारे देश में प्रतिष्ठित लोगों का या स्त्रियों का परिश्रम से धनोपार्जन बुरा समझा जाता था। सीता का विवाह करने का विचार न था। फिर भी रोज़ ही कहीं न कहीं से पैग़ाम आते रहते और माता के तक़ाज़े होते जाते। सीता को स्वयं अमीर होने का शौक़ था। किसको नहीं होता? अपनी मेहनत से वह पैसा पैदा करके अमीर होना चाहती थी। उसने सोचा—विवाह

की देखी जायगी, सारी उम्र तो पड़ी ही हुई है। पढ़ाने की नौकरी में पैसा कहाँ? वकालत की हालत ख़ुद ही ख़राब है। तिजारत के वास्ते न पैसा है, न कोई तिजारत ही ऐसी बाक़ी है जो की जा सके। हाँ, सिर्फ़ सिनेमा में कुछ गुंजाइश है। हर्ज भी क्या है? अगर जज की लड़कियाँ और अच्छे घरों की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ पहले से उसमें सम्मिलित न होतीं तो शायद मुझे भी जाते लज्जा आती। पहले से उसमें भले घर की औरतें मौजूद ही हैं। कम ही सही। उन्हें कोई कलंक न लगा तो मुझे क्यों लगेगा?

इस तरह विचार कर उसने अपनी एक सखी से सलाह ली। वह बंबई की रहनेवाली थी। उसे भी सिनेमावालों ने लेना चाहा था, किन्तु उसकी उस पेशे की तरफ़ रुचि न थी। उसने सलाह दी कि अवश्य उसमें सम्मिलित हो जाओ। सिनेमा-कम्पनी से उसने स्वयं ही पत्र-व्यवहार कर सीता का परिचय भी करा दिया। कम्पनी ने दो हज़ार रुपये महीना देने को कहा और उसके डायरेक्टर स्वयं आकर सीता और चौबे जी से मिले। माता ने आधी और पिता ने पौन सम्मति से ख़ुशी से स्वीकृति दे दी।

कोई बात छिपती नहीं, चाहे कितना ही छिपाओ। फिर इसे तो किसी ने छिपाने की कोशिश भी न की। चौबे जी ने किसी से स्वयं नहीं कहा। यह खबर मशहूर होते होते एक महीना बीत गया। फिर क्या था? मित्र-मंडल तो घेर घेर कर चौबे जी पर चढ़ाई करने लगा। कचहरी में जो भी मिलता वही सवाल करता—"यह क्या सुनते हैं चौबे जी?" "यह क्या ग़ज़ब है भाई साहब?" "आज-कल लड़कियाँ हाथ से निकली जाती हैं"। "पढ़ाने से तो यही होवेगा ही।"

शुरू शुरू में तो वकील साहब, समझाने की कोशिश करते रहे, मगर किस किसको समझाते, खासकर जब समझनेवाले समझने से ही इनकार करें। बाज़ार में यही चर्चा, घर में यही चर्चा, कचहरी में यही चर्चा, मौवक्किल आवें तो वे भी शुरू इसी चर्चा से करें, मित्र आवें तो डाट-फटकार के सिवा कुछ न कहें।

औरतों को भी एक तमाशा हाथ आया। चौबाइन जी को घेर घेर कर रोज़ बातें सुनाने लगीं। जो कभी उनसे मिलीं तक न थीं वे भी दूसरे-चौथे मानो समाचार लेने को आने लगीं। ताने सुनाना तो मामूली बात थी। वे बेचारी रोज़ ही रोया करतीं। माता-पिता का दिमाग़ चक्कर खाने लगा। उन्होंने मिलना-जुलना कम कर दिया।

इस विषय पर शहर के समाचार-पत्रों में भी लेख निकलने लगे। यही लिखा जाता कि "सारे शहर के वास्ते बड़े लज्जा की बात है कि एक ऊँचे कुल की शिक्षित स्त्री ऐसे घृणित पेशे में सम्मिलित हो"। अब चौबे जी का निकलना-बैठना लोगों ने मुश्किल कर दिया। चौबाइन जी रोज़ ही पत्र-द्वारा सीता को अपनी दुर्दशा का हाल बताने लगीं। समाज के इस व्यवहार से उसे बहुत परेशानी रहती, मगर अब करती भी क्या? कुछ दिन तो सहती रही और दृढ़ रही, फिर घबराकर नौकरी छोड़नी पड़ी और घर लौट आना पड़ा। अब क्या करे? जो महीने में दो हज़ार कमा सकता हो वह सौ की नौकरी कैसे करे? समाज को दूसरा मौक़ा हाथ लगा। उसने कुछ दिन मज़ाक उड़ाया। आपस में लोग बातें करते—

"बस नौकरी हो चुकी।"

"अजी उसमें बड़ी मेहनत का काम है, वह भला इन सुकुमारियों से हो सकता था"।

"और फिर वहाँ आचार-विचार भी बिगड़ जाते हैं"।

"हाँ हाँ, पुरुषों के भी बिगड़ते हैं, किन्तु उसमें इतनी हानि नहीं"।

"पुरुषों की बराबरी भला स्त्रियाँ कर सकती हैं"?

फिर सीता को ऐसा भुला दिया, जैसे वह कोई थी ही नहीं। जब तक वह नौकरी करती रही तभी तक समाज का उससे वास्ता था। किसी की बढ़ती वह नहीं देख सकता था।

[३]

सीता कुछ दिनों तक ख़ाली बैठी रही। सुस्त कैसे न हो जाती? माता के विवाह के प्रस्ताव पर उसने

अपनी मंज़ूरी दे दी। विवाह धूम-धाम से हो गया। कमलाकांत डाक्टर थे और आमदनी भी बहुत अच्छी थी। मित्र-मंडल ने ख़ूब दावतें खाईं और बधाई देकर रुख़सत हुआ। समाज की जीत हुई, एक कट्टर को और तोड़ा, बस उसका काम ख़त्म हो गया, अब आगे उसका भाग्य।

डाक्टर कमलाकान्त ज़बान के बहुत मीठे आदमी थे, पर दिल की किसे ख़बर हो सकती थी; वह तो साथ ही रहने पर या हर दम साबिक़ा पड़ने पर मालूम होता है। अपने हाथ से चाहे जो भी ख़र्च कर डालें, पर पत्नी को पैसे पैसे का हिसाब रखना पड़ता था। जो कुछ भी वे घर के ख़र्च को दें वही उसके हाथ में आता था और उसका भी हिसाब वे बहुधा देख लिया करते थे। जो ख़र्च बाहर का था उससे उसे मतलब न था, न उसमें बोलने का कुछ अधिकार ही था। सैर-तमाशे भी वे स्वयं बहुधा देख आते, किन्तु पत्नी को बहुत कम ले जाते थे। और न लड़की को ही जो अब सात बरस की हो चुकी थी, ज़्यादा मुँह लगाते थे। सीता को यह बात बहुत अखरती थी, परन्तु वह स्वयं ही कुछ हस्तक्षेप नहीं करती थी। पति का शासन कड़ा था। वे स्त्री को दबाये रहने के पक्ष-पाती थे, चाहे वह मा हो या पत्नी या पुत्री। ख़ासकर उस पत्नी को जो सिनेमा में रह चुकी हो, दबाना आवश्यक था।

सीता की शकल-सूरत कुछ बहुत अच्छी न थी। यों तो कोई ख़ास बुराई न थी, किन्तु रंग साँवला था और वह पाउडर से उसे गोरा नहीं करती थी। इधर पतिदेव गोरे रंग के उपासक थे, जहाँ वह मिलता वहीं झुक जाते। वे उन पुरुषों में थे जिनकी यह इच्छा रहती है कि उनकी धर्मपत्नी तो धर्म का अवतार हो और वह उस श्रेणी की स्त्री हो जिसे सिवा पतिदेव के दुनिया में दूसरा पुरुष सूझे ही नहीं, यदि पतिदेव बेजा भी डाटें-फटकारें तो वह उनकी सराहना ही करती रहे, यदि वह एक गाल पर थप्पड़ मारें तो वह दूसरा गाल भी उनके आगे कर दे इत्यादि। परन्तु दूसरी स्त्रियों के बारे में उनकी इच्छा उलटी थी। उन्हें वे सजी-सजाई गुड़िया बनी देखना पसन्द करते थे और वह भी ऐसी जो गूँगी न हो, जो कम से कम उनसे हँसे-बोले, मज़ाक़ करे।

सीता को बुरा अवश्य मालूम होता, किन्तु सिवा उदास रहने के वह कुछ कहती नहीं थी। रोज़ का झगड़ा कौन मोल ले? इस पर भी वह इन झगड़ों से बच न सकती थी। उसकी उदासीनता पतिदेव को बहुत बुरी मालूम होती और वे उससे चिढ़ते रहते। छोटी छोटी बातों पर बिगड़ उठते। भोजन परोसकर बुलावे तो वे नाराज़ होते कि ठंडा कर डाला। परोसने के पहले बुलाती तो नाराज़ होते कि उनका समय नष्ट करती है। हर बात के साथ पिता के घर भेजने की धमकी दे देते। अपनी पुत्री तक से वे माता के कारण चिढ़ने लगे थे। उससे कभी हँसकर बोलते तक नहीं थे। उनका यह बर्ताव उनके कई रिश्तेदारों ने देखा। उनके रोकने पर वे सीता से और भी नाराज़ होते और कहते कि ऐसी पत्नी को जो दूसरों से घर का भंडा फोड़े, घर में नहीं रख सकते।

सीता ने एक दफ़े साहस करके पूछा कि "आप क्यों नाराज़ रहते हैं। जैसा कहिए मैं वैसे ही रहूँ।"

उन्होंने बिगड़ कर जवाब दिया कि मेरे कहने से तो तुम अपनी चाल बहुत सँभालोगी। मैं परेशान हो गया हूँ। तुम अपने पिता के पास जाकर रहो। मेरे साथ तुम्हारा गुज़र नहीं होगा।" यह कहते हुए वे बाहर चले गये। ऐसा ही अक्सर होता।

राधा अब सात वर्ष की हो चुकी थी। माता ने उसे कुछ हिन्दी पढ़ाई थी। अब वह चाहती थी कि किसी पाठशाला में भेजकर और लड़कियों के साथ पढ़ावे, जिसमें स्कूल की शिक्षा से भी कुछ लाभ उठा सके। बहुत दिनों तक डाक्टर साहब टालते रहे। फिर एक दिन बोले—सच तो यह है कि मुझे स्कूल में शिक्षा देना पसन्द नहीं। औरतों का दिमाग़ बिगड़ जाता है। वे स्वाधीन होने लगती हैं।

सीता ने कहा—यह तो आप दक़ियानूसी बात कह रहे हैं। आज-कल तो ऐसा कोई भी नहीं कहता।

"तो मैं दक़ियानूसी ख़याल का सही। तुम्हारी ऐसी नई रोशनीवालियों से मुझे चिढ़ है।" कमलाकान्त ने उत्तर दिया।

"मैंने तो साधारण बात कही है। बच्चों को कौन नहीं पढ़ाता ? यों आपकी जो ख़ुशी।" मीता कहकर चुप हो रही।

"हर दम ज़बान लड़ाती हो। पचासों दफ़े समझा चुका हूँ। यही पढ़ाई की ख़राबी है।"

इसी तरह बहुधा और बातों पर भी कहा-सुनी हो जाती, और कमलाकान्त का क्रोध बढ़ता जाता। इधर सीतादेवी में भी विद्रोह के चिह्न दिखाई देने लगे थे। स्वतन्त्रता-प्रेमी स्त्री कहाँ तक घुटती रहे ? एक-दूसरे की सभी बातें उलटी दिखाई देती थीं। कभी कभी सिनेमा की नौकरी का भी वे ताना दिया करते और कहते कि राधा को वे थियेटर में नाचनेवाली नहीं बनावेंगे; वह सच्ची गृहलक्ष्मी होगी, जो स्त्री का कर्तव्य है कर दिखावेगी, नहीं तो मुझसे कोई वास्ता न रहेगा।

सीता की माता का देहान्त हो चुका था। वह पिता से यह दुखड़ा रोती तो वे उसे ही उलटा समझाते, कमलाकान्त से कहने की उनको हिम्मत न पड़ती। एक दफ़े उनसे बेटी की सूजी हुई आँखें देख कर न रहा गया। उन्होंने कमलाकान्त से पूछा--बेटा यह क्या बात है ?

कमलाकान्त ने कहा—है क्या ? रात-दिन मेरे पीछे पड़ी रहती है। न मालूम मुझ पर क्या क्या शक करती है। मैं तो अब सह नहीं सकता। इसे आप अपने साथ कुछ दिन रक्खें।

चौबे जी ने सोचा कि शायद कुछ दिन उनके साथ रहे तो सुलह हो जायगी, क्योंकि पति-पत्नी के झगड़े समय तय करा देता है। वे सीता को साथ लेते गये।

राधा पाठशाले जाने लगी। यह ख़बर पाने पर कमलाकान्त बहुत नाराज़ हुए। ससुर को लिखा कि मैं पसन्द नहीं करता। किन्तु सीता ने न माना। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने चौबे जी को लिख दिया कि 'मुझसे और सीता या राधा से कोई वास्ता नहीं। मेरे लिए वे दोनों मर गईं और उनके वास्ते मैं मर गया।' इसी बात का वे मुद्दत से मौक़ा ढूँढ़ रहे थे। मिल गया।

दो वर्ष बीत गये, किन्तु ख़र्च के वास्ते पैसा न दिया। चौबे जी को कुछ मित्रों ने राय दी कि दीवानी नालिश करा दो कि खाना-कपड़ा तो दें। परन्तु चौबे जी ने बदनामी का ख़याल किया। वे कहने लगे—मेरे पास कमी किस बात की है ? जो है इसी का है।

सीता से जब कोई कहता तब वह कहती—मैं नालिश क्यों करूँ ? क्या मेरे पास पैसा पैदा करने की शक्ति नहीं है ? वास्तव में बहुत दिन की बेकारी से वह शक्ति अगर जाती नहीं रही थी तो कम ज़रूर हो गई थी। किन्तु वह समझती थी कि मौजूद है। बेकारी का नतीजा ही सुस्ती है।

[४]

कमलाकान्त अपने रंग में ही मस्त रहे। सीता से अधिक सुन्दर स्त्रियाँ बहुत थीं और उस पर उन्हें कुछ सन्देह भी हो गया था। स्त्रियों पर छोटी छोटी बातों में सन्देह हो जाया करता है। जिस मित्र-मंडल ने पीछे पड़कर सीता की नौकरी छुड़ाई थी वही आज उसी को दोष दे रहा था। कोई कहता पढ़ने-लिखने का यही नतीजा होता है। देखो न पति से काट कर आ गई। कोई कहता, जब आज़ादी की बू ज़्यादा आ जाय तब औरत को शादी ही नहीं करनी चाहिए। किसी ने उसके साथ सहानुभूति न की, न यही पूछा कि तू मरती है या जीती और तुझे ख़र्च की तंगी तो नहीं। उनका काम तो ख़ाली बातें बनाने का था। किसी के दुःख में समाज शरीक नहीं हो सकता। हाँ, उससे सुख भी किसी का देखा नहीं जाता। यह सब भूल गये थे कि उसका विवाह कराने में समाज ने अपनी जीत समझी थी। जब वह विवाह नहीं करती थी तब सभी पीछे पड़े रहे, जब विवाह कर लिया तब कहने लगे न करना चाहिए था।

अगर चौबे जी बेटी के खाने भर को पैसा न छोड़ गये होते तो वह आज रोटी के वास्ते तरसती जैसे हज़ारों हिन्दू स्त्रियाँ तरसती हैं। शायद फिर भी लोग यही कहते कि अपनी करनी का फल है। जो स्त्री समाज के बन्धन को तोड़कर लाखों रुपयों के ऊपर लोट रही हो वह समाज के बन्धनों में फँस कर आज पैसे के कष्ट

भोग रही थी। आचार-विचार कौन-सी श्रेणी के लोगों में अच्छे या बुरे नहीं होते? वह तो अपने स्वभाव की बात है।

समाज ने आज तक इस बात की चेष्टा न की कि सीता और कमलाकान्त में मेल-मिलाप करा दे। कई पत्नी का और ज़्यादातर पति का पक्ष लेकर वाद-विवाद किया करते। कमलाकान्त मेल करने पर राज़ी न थे। कोई क्यों झगड़ा सिर ले?

राधा कालेज में पहुँच गई थी। अब मित्र-मंडली सीता को भूलकर उस लड़की के जन्म-सुधार की तरफ़ झुक पड़ी। कमलाकान्त और उनके मित्रों तक को यह फ़िक्र हो गई थी कि कहीं उस लड़की को सिनेमा इनडस्ट्री में लगा कर कहीं सीता उस लड़की का जन्म न ख़राब कर दे। परन्तु अब सीता किसी की क्यों सुनती?



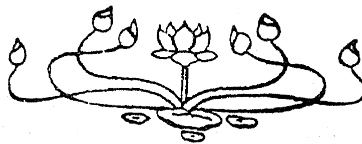
व्यथित विश्व से

श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

पल्लव-पल्लव का यौवन,
वह डाल-डाल की हरियाली!
वह फल-फूलों का सुहाग,
अपलक पलकों की रखवाली!
वह सौरभ का स्वर्ग, अरुणिमा,
वह मोहक मधु की प्याली!
लूट ले गया शिशिर, हाय,
कण-कण लगता ख़ाली-ख़ाली!
रूठा वनमाली, युग-युग का
भूला पल में प्यार-दुलार;
अरे, एक सुन्दर सपने-सा
लीन हुआ वह मधु-व्यापार;
कोकिल और कलापी के
कल-रव से मुखर दिगन्त नहीं,
सूने जग-उपवन! अब
तुझमें वर्षा नहीं, वसन्त नहीं!

× × ×

मिला न पाया था मैं तेरे
सुख के स्वर में अपना स्वर;
अब तक थे हम दूर दूर,
अब दूर हुआ अपना अन्तर?
आ, अब मेरी बारी आई,
अरे उपेक्षित! हो न निरा;
बिखरा दूँ तुझ पर प्राणों की
करुणा का अक्षय मधु-मास।



रंग

श्रीयुत कुँवर राजेन्द्रसिंह

श्रीमान् कुँवर साहब सुलेखक ही नहीं, अध्ययनशील भी हैं। नव प्रकाशित प्रसिद्ध रचनाओं का आप नियमपूर्वक अध्ययन करते रहते हैं। आपका यह लेख ऐसे ही अध्ययन के बाद लिखा गया है। आशा है, पाठकों को यह ज्ञातव्य और रोचक प्रतीत होगा।



जैसे संसार की कोई वस्तु गन्धहीन नहीं है, वैसे ही कोई भी वस्तु रंग-रहित नहीं है। एक विद्वान् का कथन है कि रंग प्रकृति के प्रकट विचार हैं, और वास्तव में है भी रंगों में बड़ी शक्ति। वे अत्यन्त चित्ताकर्षक और मनोरंजक होते हैं।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि रंग क्या हैं? क्या वे स्वयं कोई पदार्थ हैं या केवल आँखों की चेतना हैं। इस विषय के जाननेवालों का यह कहना है कि उनका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है, क्योंकि प्रकाश-द्वारा प्रत्येक वस्तु को रंग प्राप्त होता है। जैसे शब्द का हेतु वायु की लहरें हैं, वैसे ही रंग का कारण प्रकाश के कम्प हैं, जिनका प्रभाव हमारी आँखों के उस पर्दे पर पड़ता है जिसे अँगरेज़ी में रेटिना कहते हैं। रंग बहुत कुछ प्रकाश के कम्पों की दूरता या निकटता पर निर्भर होता है। मृगतृष्णा का उदाहरण लीजिए। मृग की आँखों में प्रकाश के कम्प पानी का भ्रम उत्पन्न करते हैं, पर ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसे इस इन्द्रजाल का पता चलता जाता है और फिर वे ही कम्प नया भ्रम उत्पन्न करते जाते हैं।

जब से स्पेकट्रास्कोप यंत्र का आविष्कार हुआ है तब से आँख के उस पर्दे के नीचे का प्रकाश जाँचा जा सकता है जिसे अँगरेज़ी में स्पेकट्रम कहते हैं। यह वह पर्दा है जिस पर प्रकाश प्रतिबिंबित होता है और जिस पर प्रकाश-द्वारा कुछ प्रतिमायें बन जाती हैं। 'स्पेकट्रम' लैटिन शब्द है, जिसका अर्थ उस भाषा में आकार या प्रतिमा है। आँख के उस पर्दे के नीचे यंत्र-द्वारा देखने

से यह पता चलता है कि सफ़ेद रंग प्रकाश की भिन्न भिन्न कई रंगीन किरणों से बना है और जिनका रंग भिन्न भिन्न अंशों में है। यदि सारा प्रकाश किसी वस्तु से परावर्तित होकर आँख में आवे तो सफ़ेद रंग दिखलाई देगा। यदि किसी वस्तु या पदार्थ ने सब किरणों को सोख लिया है और प्रकाश का अभाव हो गया है तो काला रंग दिखलाई देगा।

रंग के बोध के विषय में अनेक मत हैं, पर आज-कल वही माना जाता है जिसको यांग और हेमहोज़ (Young and Helmholtz) ने प्रतिपादित किया है। उनका यह कहना है कि आँख के उस पर्दे में जो रेटिना कहलाता है, तीन तरह के तत्त्व हैं, जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्नायुओं से है। यह अनुमान कर लिया गया है कि केवल तीन रंग मुख्य हैं—लाल, हरा और बैंगनी।

अब प्रकाश का विश्लेषण आवश्यक है। "जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है तब उस प्रकाश के तीन भाग होते हैं। पहला भाग तो परावर्तित हो जाता है, दूसरा वर्तित हो जाता है और तीसरा उस वस्तु के द्वारा सोख लिया जाता है। परन्तु सब वस्तुओं में ये गुण समान रूप में नहीं होते—किसी में कम और किसी में अधिक होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनमें से प्रकाश परावर्तित होता ही नहीं, वह या तो वर्तित होता है या सोख लिया जाता है, जैसे शुद्ध जल। ऐसे पदार्थ प्रायः बिना रंग के दिखलाई देते हैं। जिन पदार्थों पर पड़नेवाला सारा प्रकाश परावर्तित हो जाता है वे श्वेत दिखलाई पड़ते हैं और जो पदार्थ अपने ऊपर पड़नेवाले समस्त प्रकाश को सोख लेते हैं वे काले होते हैं या दिखलाई देते हैं।" (शब्दसागर)

जो चीज़ दिखलाई देगी उसका प्रभाव पहले आँखों पर स्वभावतः पड़ेगा। वह प्रभाव चाहे सुखकर हो, चाहे असुखकर हो। आँखों के बाद मस्तिष्क पर, तब हृदय पर पड़ेगा। किसी ने ख़ूब कहा है—"आँखों का था क़ुसूर छुरी दिल पर चल गई।" रंगों का आनन्द उन्हीं को अधिक प्राप्त होता है जो प्राकृतिक सौन्दर्य्य के पुजारी हैं। इन्द्रधनुष का उदाहरण लीजिए। उसे देखकर कैसा चित्त प्रसन्न होता है, व्याकुल और व्यथित हृदय की वह परमौषधि-सा है। उसके रंग कैसे कोमल और सुकुमार होते हैं। उनका आनन्द आँखें लेती हैं, हृदय लेता है। पर यह किसी भाषा के सामर्थ्य के बाहर है कि शब्दों-द्वारा उसे प्रकट कर सके। "गिरा अनयन नयन बिनु बानी।" पजनेश ने अपनी कविता में एक ऐसे ही प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया है।—"हरे घन में ज्यों सोनहरी घटा पै सोनहरी घटा छटा छोड़े दिनेश।" यह पद पढ़ते ही आँखों के सामने कैसा चित्ताकर्षक दृश्य आ जाता है। सच्ची मग्नावस्था वही है जब जिह्वा के पास शब्द न रह जायँ और नेत्र अश्रुपूरित हो जायँ। शब्द मस्तिष्क की और आँसू हृदय की भाषा हैं। एक कवि ने ठीक कहा है—"रावरो रूप पियो अँखियान भरो सो भरो उबरो से ढरो परै।"

अपनी पुस्तक 'दी सायकालोजी ऐन्ड ट्रेडिशन आफ़ कलर' में हिल्डा रोहड्स ने लिखा है कि प्रत्येक सभ्य जाति और व्यक्ति में रंगों का बोध आवश्यकीय है। यह भी लिखा है कि प्राचीन समय में भारतवर्ष और मिस्रदेश में दार्शनिक मतों के साथ रंगों का भी विज्ञान सिखाया जाता था। हम इस विदुषी महिला के कृतज्ञ हैं जिसने अपनी राय निर्भीकता से तो प्रकट कर दी, नहीं तो हम भारतवासियों को असभ्य, गँवार और अशिक्षित कहने का फ़ैशन हो गया है और सबसे अधिक दुख इस बात का है कि हम स्वयं अपने को असभ्य समझने लगे हैं। पूर्वोक्त पुस्तक में यह भी लिखा है कि भारत की महिलायें अब तक सारियाँ पहन कर अपनी रंगनिपुणता प्रकट करती हैं। अभी तो यही प्रथा है, भविष्य फ़ैशन के हाथ में है। एक कवि कहता है—"फहरैं पियरो पट बेनी इतै उनकी चुनरी के झबा छहरैं।"

ईवह बर्थ हुटैन ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट कलर मीन्स टु यू' में लिखा है कि विचार और रंग में घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनका बहुत बड़ा प्रभाव हम पर पड़ता है। जैसे हमारे विचार होंगे, हमारे सोचने में वैसे ही रंग आयेंगे, और जैसे रंग होंगे वैसे ही हमारे विचार उत्पन्न होंगे। किसी पवित्र या स्वच्छ वस्तु या पदार्थ के सोचने

में अवश्य हमारे ध्यान में सफ़ेद रंग आयेगा, और सफ़ेद रंग देखकर हमारा ध्यान अवश्य पवित्रता और स्वच्छता पर जायगा। रंगों का प्रभाव बहुत कुछ सम्प्रदाय पर भी निर्भर होता है। किसी सधवा स्त्री को सफ़ेद और विधवा को रंगीन कपड़ों में देखकर सम्प्रदाय के अनुसार बात बेतुकी मालूम होगी—ऐसे अवसर पर रंगों का नहीं, वरन सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ता है।

रंग केवल मनोरंजक और चित्ताकर्षक ही नहीं हैं, उनका प्रभाव स्वास्थ्य, स्वभाव और चरित्र पर भी पड़ता है। बहुत-से रंग ऐसे हैं जिन्हें देखकर शान्ति प्राप्त होती है, सुख प्राप्त होता है, उत्साह प्राप्त होता है। और ऐसे भी रंग हैं जो असुखकर और अशुभ प्रतीत होते हैं। खोज से यह भी पता चला है कि चिन्ता और विषाद की भी ओषधि रंग हैं। बाज़ रंग ज्वर का ताप घटाने में बड़ी सहायता देते हैं, जैसा नीला और बैंगनी। इनका प्रभाव तापहारी होता है।

हमारे आयुर्वेद-शास्त्र की सुविख्यात ओषधि च्यवनप्राश की सेवन-विधि में यह भी बतलाया गया है कि अमुक तरह का मकान हो और अमुक रंग से पुता हुआ हो। विगत महायुद्ध में जिनके गोलियाँ लगी थीं उनके रहने के लिए जो मकान थे उनमें ऐसे रंग पोते जाते थे जिनका स्नायुओं पर शान्तिप्रद प्रभाव पड़ता था, और यही कारण था कि वे लोग शीघ्रता से स्वास्थ्य का लाभ कर लेते थे। नीले रंग से उन्मत्त लाभ उठाते हैं। पक्षाघातवालों को सफ़ेद रंग के कपड़े पहनने और उस पानी से स्नान करने से जिस पर लाल शीशों-द्वारा सूर्य्य का प्रकाश पड़ा हो, बहुत लाभ होता है। प्रथम कथित जल से स्नान करने से एक स्त्री क्षयरोग से मुक्त हो गई थी। न्यूयार्क में एक स्त्री धूप में निकलते ही तापपीड़ित हो जाती थी। जब से उसे टोपी के अन्दर नीले रंग का कपड़ा रखने को बतलाया गया तब से उस तकलीफ़ से छुटकारा मिल गया। एक को धूमिल शीशे लगाने से निर्भर नेत्रों को बड़ा लाभ हुआ था। डब्ल्यू० जे० काल्विली ने अपनी पुस्तक 'लाइट ऐन्ड कलर्स' में लिखा है कि पीले रंगों का सब रंगों से अधिक प्रभाव स्नायुओं पर पड़ता है, और यह भी लिखा है कि प्रायः रेचक ओषधियाँ पीली होती हैं—जैसे अंजीर, रेंडी का तेल। १३ अगस्त सन् १९१३ को शिकागो के म्यूनीसिपल जज मेहानी ने कहा था कि हलके रंग पुण्यशीलता प्रकट करते हैं और गहरे और काले रंग पातक-प्रवर्तक होते हैं। एक का यह कहना है कि चमत्कार से शुद्ध और अन्धकार से अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं। इसी ढंग की एक कहावत हमारे देश में भी है कि दिन देवताओं का और रात दैत्यों की होती है।

लाल सृष्टि का एक मुख्य रंग है, यद्यपि इसकी गणना वैज्ञानिकों के मतानुसार सबसे अन्त में की जाती है। इस रंग को पहचानने के लिए ३,९५,००० कम्पों का प्रभाव प्रति सेकंड रेटिना के पर्दे पर पड़ता है। इस रंग के मुख्य माने जाने का एक कारण यह बतलाया जाता है कि पृथ्वी के स्थापित होने के पहले सूर्य के प्रचण्ड ताप से वाष्प का रंग लाल दिखलाई देता होगा। यह भी कहा जाता है कि इस रंग के मुख्य माने जाने का कारण एक यह भी है कि हेब्रू-भाषा में ऐडमह (जिससे अँगरेज़ी का ऐडम शब्द बना है और जो ईसाइयों के मतानुसार संसार का प्रथम पुरुष है) के अर्थ लाल ज़मीन के हैं। और भी कारण हो सकते हैं। रुधिर का भी तो रंग लाल है, और रुधिर जीवन है। जिसका रंग रुधिर का सा हो उसके महत्त्व का क्या कहना है। हमारे देश में लाल रंग सौभाग्य का सूचक है—सेंदुर और महावर इसी रंग के होते हैं। यह रंग भयानक भी बहुत है। इसी से सूर्य्य का प्रखर ताप, ज्वालामुखी पहाड़ों की नेत्रप्रतिघातिनी प्रभा, आग्नेयोद्गार और चिता की प्रदीप्तता प्रकट की जाती है। यही रंग क्रान्तिकारियों का भी है। ग्रीवाल्डी के पक्षपाती इसी रंग के वस्त्र पहनते थे। यह रंग अत्यन्त उत्तेजक और प्रवर्तक है।

इस विषय के विद्वानों के मतानुसार नीला रंग अत्यन्त सुखप्रद है। एक का कहना है कि रंगों में यह रंग वैसे ही मुख्य है जैसे तत्त्वों में वायु। इसमें आकाश का रंग होने के कारण इसका महत्त्व अधिक है।

अँगरेज़ी में एक कथा है कि एक डाकुओं का सरदार रात को भी मैदान में सोता था। उसे नीले आकाश को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। उसकी प्रियतमा ने धोखा दिया और वह पकड़ लिया गया। कारावास में आकाश को न देख पाने के कारण उसे प्रतीत होता था कि उसके जीवन के सब सुख जा चुके। अन्त में उसे प्राणदंड दिया गया। उसकी प्रियतमा को अब आत्म-ग्लानि हुई और उसने उसके लिए एक नीला रूमाल भेजा और यह प्रार्थना की कि सिर काटे जाने के पहले वह इस नीले रूमाल को अपनी आँखों पर बाँध ले। आकाश के रंग का रूमाल काराध्यक्ष के हाथ में देखकर वह चिल्ला उठा 'आकाश' और तुरन्त उसका प्राणान्त हो गया। ऐसे भी इस रंग के भक्त हुए हैं। अर्ल आफ़ सरे और चासर ने अपनी कविताओं में नीले रंग को सत्यता और निष्कपटता का रंग बतलाया है। पश्चिमीय देशों में नीला रंग शुभ समझा जाता है और प्रायः नववधू इस रंग के कपड़े पहनती है। कृष्णचन्द्र के शरीर का श्यामवर्ण होने के कारण हिन्दी-कवियों ने नील कमल से उनका संकेत किया है।

राधिका से मालिन दूती कह रही है—

"हार सँवारि अनेकन फूल के
आई लै मालिन भौन भरे में,
काहू को स्वेत दियो उहि काहू को
पीरो दियो 'रघुनाथ' अरे में,
नीरज नील को लै कर में
कह्यो राधे से यों चतुराई धरे में,
लीजिए हेतु तिहारे मैं लाई हौं
या रँग को लगै प्यारो गरे में"

बौद्ध नीलम को विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। अरब देश में वहाँ की स्त्रियाँ अपने बच्चों को नीले रंग के माले पहनाती हैं कि प्रेत-बाधा से बचे रहें। अँगरेज़ों के मतानुसार नीला रंग शुक्र-ग्रह का है। यहाँ उनका और हमारा मत-भेद है। हमारे ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार यह रंग शनि का है। शुक्र-ग्रह का रंग वह है जिसमें कई रंग मिले हों और श्वेत रंग की प्रधानता हो।

पीला रंग हमारे देश में शुभ समझा जाता है। इसी रंग के श्री कृष्णचन्द्र के वस्त्र होते थे। हिन्दी-कविता में पीताम्बर की धूम है। दास जी ने कहा है—

"छन वा में जगै छबि जोति छटा
इत पीत पटा दिन रैनि मड़ो,
वह नीर कहूँ बरसै सरसै
यह तो रस जाल सदा ही अड़ो,
वह श्वेत ह्वै जातो अपानिप ह्वै
यह रंग अलौकिक रूप गड़ो,
कहि दास बरोबरी कौन करै
घन सो घनश्याम सो बीच बड़ो" ॥

यही रंग बादशाही का कहलाता है, क्योंकि सोने का यही रंग होता है और सोना लक्ष्मी का संकेत है। सोने को अँगरेज़ी में 'किङ्ग आफ़ मेटल्स' कहते हैं। संस्कृत में भी सोने का एक नाम महारजत है। धम्मपद में लिखा है कि जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध कर लिया है और जिन्होंने पापों को त्याग दिया है और सत्य को अपना लिया है, केवल वे ही पीले रंग के कपड़े पहनने के अधि-कारी हैं। ठीक है, बादशाह का और फ़क़ीर का एक ही रंग होना चाहिए।

हरे रंग की एक निराली छटा है। इसका प्रभाव आँखों और मस्तिष्क के लिए बड़ा हितकर होता है। व्यग्र चित्तवाले इससे बड़ा लाभ उठाते हैं। मेंहदी भी इसी रंग की होती है। मेंहदी की धूम केवल इसी देश में नहीं है। पश्चिमीय देशों में मेंहदी विश्वसनीय स्नेह का चिह्न समझी जाती है। चीन देश की यह एक पौराणिक कथा है कि वैकुण्ठ में 'होराई' एक तरह की घास होती है, जो अत्यन्त मनोहारी होती है। होराई को जाने दीजिए। वर्षाऋतु में देहातों में जो दृश्य होता है वह क्या कम मनोहारी होता है—जिधर आँख उठाइए सब चीज़ें हरे रंग की दिखलाई देंगी। ज़मीन पर हरा मख़मली फ़र्श बिछा दिखलाई मालूम होता है। कहा जाता है कि जो श्रावण में नेत्रहीन होते हैं उनको सदैव हरा ही रंग दिखलाई देता है। इस कथन की भाषा यद्यपि व्यंग्ययुत है तो भी भाव

कितना सच्चा है, हरा रंग प्रेमियों का जीवन है, उनके आभाषण का मुख्य विषय है। हरी घास, हरे वृक्ष और उनका मन्द वायु के साथ झूमना—ये सब प्राकृतिक दृश्य हैं, जिन्हें देखकर यदि हृदय के स्थान में हृदय है तो अवश्य प्रभावित होगा। यहाँ फिर हमारे और विदेशी ज्योतिषियों में मत-भेद है। उनका यह कहना है कि यह रंग शनि का है और हमारे शास्त्र के अनुसार हरा रंग बुध-ग्रह का है। बहुत-से देशों में यह मूढ़ विश्वास है कि हरा रंग भूतों का है। बुध-ग्रह के दोषों को निवारण करने के लिए इस देश में पन्ना पहना जाता है। आयुर्वेद-शास्त्र की दृष्टि से "पन्ना शीतल, रुचिकारक, मधुर रसान्वित, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, तथा भूत-बाधा और अम्लपित्त को दूर करता है।" इस दृष्टि से हमारे ही देश का मत ठीक मालूम होता है। हरा रंग प्रमोदप्रसारक, आनन्ददायक और स्वास्थ्यवर्द्धक है।

बैंगनी रंग को देखने में आँखों पर प्रतिसेकंड ७६,००,००,००० कम्पों का प्रभाव पड़ता है। यह भी बादशाहों का रंग कहलाता है। अँगरेज़ी में यह एक महाविरा है—'बार्न इन् पर्पिल'। कहा जाता है कि टायरिन तरह के बैंगनी रंग का (जिसमें लाल रंग की अधिकता होती थी) दैवयोग से आविष्कार हुआ था। एक दिन टायर देश की राजपत्नी समुद्र के नज़दीक टहल रही थीं। उनका कुत्ता समुद्र की लहरों से खेल रहा था। जब वह लौटा तब उसके मुँह पर एक नये रंग का फेना लगा हुआ था। राजपत्नी को यह रंग बहुत पसन्द आया और उन्होंने आज्ञा दी कि इस तरह का रंग तैयार किया जाय। उद्योग में सफलता हुई। उस समय के सम्राट और उच्च पदाधिकारी इसी रंग का व्यवहार अपने कपड़ों में करते थे। कवि काउपर ने इस रंग की बड़ी प्रशंसा अपनी कविता में की है। बोनापार्ट के वंश का यह रंग कुल-चिह्न था।

श्वेत रंग बहुत श्रेष्ठ समझा जाता है। यह पवित्रता और शान्ति का सूचक है। टेनीसन ने निर्मल जीवन की उपमा श्वेत फूलों से दी है। अभिप्राय की शुद्धता भी इसी रंग से प्रकट की जाती है। पुराने ज़माने में हमारे देश की तरह इँग्लेंड में भी विधवायें श्वेत रंग के कपड़े पहनती थीं। मेरी, स्काट देश की सम्राज्ञी, अपने पति के मरने के बाद श्वेत ही वस्त्र पहने थीं। और भी कुछ मत हमारे और अन्य देशों के इस रंग के विषय में एक ही ढङ्ग के हैं। हमारे यहाँ जिनों के कपड़ों का रंग सफ़ेद कहा जाता है और उनका भी यही कहना है। यह ठंडा रंग कहलाता है (चन्द्रमा का तो रंग है ही) और शायद इसी वजह से शेक्सपियर ने इस रंग को भीरुता का सूचक कहा है। इस रंग को ठंडे कहे जाने से हम सहमत हैं। इसी भाव को हमारी कहावतें भी प्रकट करती हैं, जैसे 'ख़ून ठंडा पड़ गया है,' 'ख़ून सफ़ेद हो गया है।' अँगरेज़ी में कापुरुषों को 'सफ़ेद यकृत के मनुष्य' कहते हैं। इससे हम सहमत नहीं हैं कि श्वेत रंग भीरुता का सूचक है। महाभारत में अर्जुन के रथ के घोड़े श्वेत ही थे—'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ"। यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता है कि यदि यह रंग भीरुता का सूचक होता तो उसी रंग के घोड़े अर्जुन के होते।

काले को रंग कहिए या रंगों की क्षयराशि कहिए या प्रकाश का अभाव कहिए या जो चाहें सो कहिए, पर रंग असल में यही है। "रहिमन कारी कामरि पै चढ़ै न दूजो रंग।" इस रंग का महत्त्व हम भारतवासियों की दृष्टि में बहुत बड़ा है।

यह हमारा राष्ट्रीय रंग है। इस रंग के नाम से हम सम्बोधित किये जाते हैं—"जब कुछ कहते उत्तर मिलता बकता नेटिव काला है।" विष्णु का श्याम वर्ण था। कृष्णचन्द्र का यही रंग था। "कारे कन्हा के अन्हात ही न्हात कलिन्दिजा को जल ह्वै गयो कारो।" रामचन्द्र का भी यही रंग था। यह रंग इस बात का सूचक है कि हमारा देश उष्णप्रधान है।

सभी देश के साहित्यों पर रंगों का गहरा प्रभाव पड़ा है। अँगरेज़ी में कुछ अक्षर रंगसूचक समझे जाते हैं—जैसे, 'ओ' लाल रंग का, 'ई' सोनहरे रंग का, 'आई' नीले रंग का, 'ए' हरे रंग का, 'यू' बैंगनी रंग का। प्रायः हमारे देश के सभी कवियों की कविता में रंग के विषय में कुछ न कुछ मिलेगा।

अवध के किसान

आज-कल इन प्रान्तों की सरकार किसानों की उपयुक्त सहायता करने के लिए विशेष रूप से यत्नवान् है। यही देखकर इस लेख के लेखक महोदय ने अपनी निजी अनुभव के आधार पर अवध के किसानों पर कुछ लेख लिखे हैं। उनका यह लेख भी पिछले दो लेखों जैसा ही ज्ञातव्य बातों से पूर्ण है। राजा और प्रजा दोनों इन लेखों से समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं।

श्रीयुत शीतलासहाय



मिक प्रबन्ध की दृष्टि से संयुक्त-प्रान्त एक प्रान्त नहीं कहा जा सकता। इस विचार से इस प्रान्त में कम से कम चार उपप्रान्त हैं। हर एक क्षेत्र का भूमिकर-क़ानून जुदा जुदा है। इसलिए हर एक क्षेत्र के किसानों की समस्यायें भी अलग अलग हैं। संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी भाग में इस्तमरारी बन्दोबस्त है, पहाड़ी भाग में रैयतवारी, आगरे में ज़मींदारी और अवध में तालुक़दारी है। इसलिए किसानों की वास्तविक दशा जानने के लिए प्रत्येक प्रान्त के किसानों की समस्याओं पर पृथक् पृथक् विचार होना आवश्यक है।

ऐतिहासिक और प्राकृतिक दृष्टि से भी अवध को एक जुदा प्रान्त कह सकते हैं। अँगरेज़ी-राज्य में यह भारतवर्ष के अन्य समस्त प्रान्तों के बाद शामिल हुआ है। १८७७ के पूर्व अवध और पश्चिमोत्तर प्रान्त दो भिन्न भिन्न प्रान्त थे। किन्तु उस वर्ष के आरम्भ में ये दोनों प्रान्त संयुक्त कर दिये गये और उसी समय से दोनों प्रान्तों का नाम संयुक्त-प्रान्त हो गया। प्राकृतिक दृष्टि से अवध भारत का उद्यान कहा जाता है। यहाँ की ज़मीन अत्यन्त उपजाऊ है, और पानी का भी अच्छा प्रबन्ध है। औसत वर्षा ४० इंच प्रतिवर्ष है। नदी, झीलें, नहरें अनेक हैं। क़रीब क़रीब सारी ज़मीन पर खेती की जा सकती है। केवल ६० प्रतिशत भूमि कृषि के अयोग्य है। अवध की कृषि-सम्बन्धी समस्यायें हमेशा से जटिल रही हैं। इनके सुलझाने में ब्रिटिश शासकों के दाँत अक्सर खट्टे होते रहे हैं। मेरा यह मत है कि १९३१ का सत्याग्रह-आन्दोलन, १९२१ का किसानों का एका आन्दोलन इन्हीं समस्याओं के सुचारुरूप से हल न हो सकने की वजह से पैदा हुए थे। इसलिए यदि हम अवध के किसानों की समस्या पर अलग विचार करें तो अनुचित न होगा।

समस्यायें

अवध के किसानों के सामने ४ मुख्य समस्यायें हैं—(१) जन-संख्या की अधिकता अर्थात् व्यवसायहीनता, (२) बेदख़ली का प्रश्न, (३) लगान की अधिकता और (४) क़र्ज़। क़र्ज़ के सम्बन्ध में 'सरस्वती' के पिछले अंकों में कुछ लिखा जा चुका है। इस सम्बन्ध में तथा लगान के विषय में गवर्नमेंट कुछ कर भी रही है, किन्तु पहली दो समस्याओं के हल करने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। इस लेख में हम केवल पहली समस्या पर विचार करेंगे।

पहली समस्या यह है कि अवध की भूमि पर मनुष्यों का भार अत्यन्त अधिक है। अवध का प्रान्त बहुत घना बसा हुआ है।

अवध का क्षेत्रफल २४,१५४ वर्ग-मील है और १९३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के अनुसार यहाँ की

जन-संख्या १,२७,९४,९७९ है। अर्थात् एक वर्ग-मील पर ५३० मनुष्यों का निर्वाह होता है। पश्चिम के भी अनेक देश इतने घने नहीं बसे हैं, जैसा निम्नलिखित आँकड़ों से प्रतीत होगा।

विदेशों से अवध की तुलना

(सन् १९३१ के आँकड़े)

देश	आबादी प्रतिवर्ग-मील	
बेल्जियम	७०२	मनुष्य
इँग्लैंड और वेल्स	६८५	,,
नीदरलैंड	६२८	,,
अवध	५३०	,,
इटली	३५६	,,
जर्मनी	३४८	,,
जापान	३२१	,,
फ्रांस	१९२	,,
चीन	९७	,,
रूस	६१	,,
मिस्र	३८	,,
अमेरिका (संयुक्त-राज्य)	३६	,,

भारत के अन्य प्रान्तों से अवध की तुलना

(सन् १९३१ के आँकड़े)

देश	आबादी प्रतिवर्ग-मील	
बंगाल	६४६	मनुष्य
अवध	५३०	,,
युक्त-प्रान्त	४५६	,,
बिहार व उड़ीसा	४५४	,,
मदरास	३२९	,,
पंजाब	२४१	,,
बम्बई	१७७	,,
आसाम	१५७	,,
मध्यप्रान्त व बरार	१५५	,,
ब्रह्मदेश	६३	,,

वर्तमान आर्थिक संगठन और राजनैतिक परिस्थिति में अवध की भूमि अधिक से अधिक जितनी जन-संख्या का पालन-पोषण कर सकती है, कर रही है। मैं तो यह मानता हूँ कि उस सीमा का उल्लंघन ५० वर्ष पहले ही हो चुका था। उस समय से अवध की जन-संख्या अन्य देशों के समान बढ़ने की कोशिश कर रही है। किन्तु आर्थिक परिस्थिति उसे दबा देती है। इनफ़्लुएन्ज़ा, प्लेग तथा अन्य महामारियाँ आबादी को कम करती रहती हैं। बच्चों की मृत्यु भी इतनी अधिक होती है कि अन्य देशों के सदृश यहाँ की आबादी के बढ़ने की कोई संभावना नहीं रह जाती।

बच्चों की मृत्यु-संख्या की तुलना

	प्रतिसहस्र
नारवे	५५
आस्ट्रेलिया	४७
नीदरलैंड	५०
डेनमार्क	८३
इँग्लैंड व वेल्स	६६
कनाडा	८९
फ्रांस	७६
जर्मनी	८३
नार्थ आयरलैंड	७३
स्काटलैंड	८२
बेल्जियम	९३
इटली	१२५

अन्य देशों में राजनैतिक परिस्थिति और आर्थिक संगठन जन-संख्या की वृद्धि के अनुकूल हैं, इसलिए उन देशों में पिछले ५० वर्ष में आबादी में बहुत उन्नति हुई है। अवध की जन-संख्या कुछ बढ़ती है और फिर घट जाती है, जैसा नीचे लिखे अंकों से प्रतीत होता है।

अवध की जन-संख्या

सन्	संख्या
१८८१	१,१३,८७,७२४
१८९१	१,२६,५०,८०१
१९०१	१,२८,३३,०३९
१९११	१,२५,५७,८७६
१९२१	१,२१,६६,५१२
१९३१	१,२१,९४,९७९

१८८१ में इँग्लेंड और वेल्स की आबादी सवा दो करोड़ थी। आज उसकी आबादी ४ करोड़ है। बेल्जियम की आबादी ५० वर्ष पहले ४५ लाख थी। आज ८१ लाख है। अवध की आबादी ५० वर्ष पहले भी १ करोड़ थी और आज भी एक करोड़ है। कारण यह है कि उपर्युक्त देशों की जनता को संसार के हर एक भाग में जाकर धनोपार्जन की सुविधायें प्राप्त हैं। उन देशों में अपने अपने व्यवसाय और वस्तुओं की खपत के लिए बाज़ार हैं। अवध में इसके विपरीत न तो कोई व्यवसाय ही है, और न उसकी जनता को धनोपार्जन की सुविधायें ही प्राप्त हैं जो उपर्युक्त देशों में पाई जाती हैं। इँग्लेंड और वेल्स की फ़ाज़िल आबादी अन्य देशों में जाकर व्यापार में लगती है और शासन-कार्य करती है। इसके विपरीत अवध की जनता बम्बई, कलकत्ता आदि में जाकर मज़दूरी करती है और फ़ीजी आदि टापुओं में जाकर ग़ुलामी करती है। जापान और जर्मनी की आबादी इतनी घनी नहीं है, जितनी अवध की है। जापान और जर्मनी में व्यवसाय भी बहुत पर्याप्त हैं। तो भी जापान पूर्वी देशों में अपनी आबादी की खपत के लिए उथल-पुथल मचाये हुए है, और जर्मनी इसी कारण योरप में हलचल पैदा किये हुए है। किन्तु अवध शान्त है। अवध की शान्ति सन्तोष की शान्ति नहीं है, किन्तु यह वह शान्ति है जो क़ब्रिस्तान में पाई जाती है।

अवध में ७४ क़स्बे और २४,६२६ गाँव हैं। इन ७४ क़स्बों में एक भी क़स्बा ऐसा नहीं जो व्यावसायिक हो। इँग्लेंड और वेल्स में ६० प्रतिशत जन-संख्या शहरों में रहती है और १० प्रतिशत गाँवों में। अवध का हाल इसके बिलकुल विपरीत है। अवध की एक करोड़ और २७ लाख की आबादी में से ५ लाख के क़रीब लोग १२ म्यूनिसिपलिटियों में रहते हैं। अर्थात् यदि एक शहर में रहता है तो २५ गाँव में; ६६% प्रतिशत गाँव में और ४ प्रतिशत शहर में। अवध में पिछले ५० वर्ष में किसी भी व्यवसाय की उन्नति नहीं हुई और न आज ही इसकी कोई सम्भावना देख पड़ती है। जनता अधिकाधिक गाँवों पर और खेती पर टूट रही है। "अवध की आबादी शायद इतनी घनी है कि संसार का कोई भी इतना छोटा भाग इतना घना नहीं बसा हुआ है। और हिन्दुस्तान का कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं जहाँ ग्रामीण जनता इतनी अधिक और शहर की आबादी इतनी कम हो। अवध की ग्रामीण जनता ७२ प्रतिशत है।" मिस्टर इरविन ने अवध के बारे में उपर्युक्त वाक्य सन् १८८० में लिखा था। १६२१ के अंकों के अनुसार १ करोड़ २१ लाख की आबादी में से ६५ लाख खेतिहर थे। अर्थात् ७५ % प्रतिशत कृषि-जीवी थे। सिवा किसानी के जनता के सामने कोई दूसरा व्यवसाय है ही नहीं। मैं यह नहीं मानता कि अवध की यह दुर्दशा अँगरेज़ी राज्य के पहले भी थी। उस समय चाहे जो कारण रहे हों, किसान भूमि के लिए लालायित नहीं थे। किसान खेत के पीछे नहीं दौड़ते थे, बल्कि खेत किसान के पीछे दौड़ता था। किसानी ही एक-मात्र अवधवासियों की जीविका का साधन नहीं थी। अवध में अनेक व्यवसाय थे। वहाँ तलवारें और बन्दूकें तथा और अनेक प्रकार के सैनिक शस्त्र बना करते थे। नमक का व्यवसाय सैकड़ों रुपयों का होता था। मिस्टर इरविन अपनी पुस्तक 'गार्डन आफ़ इण्डिया' में लिखते हैं—

"देशी शासन-काल में (अवध में) तीन मुख्य व्यवसाय थे—बुनाई, नमक और शराब बनाना। इन तीनों चीज़ों में से प्रथम तो मैनचेस्टर की प्रतिस्पर्धा से टूट गया और दूसरा क़ानून-द्वारा बन्द कर दिया गया, और एक बहुसंख्यक जाति (लोनियाँ) की रोज़ी जाती रही। तीसरे व्यवसाय को गवर्नमेंट के एक महकमे ने अपने अधीन कर लिया है। १८७६-७७ की अवध की शासन-रिपोर्ट में लिखा है कि "टांडा के जुलाहे पहले बहुत महीन मलमल बनाया करते थे, लेकिन अब उनके करघे शायद ही कभी चलते हों। ये लोग अब मोटे कपड़े ही बनाते हैं। जुलाहे और लोनिये जिनके मुँह से रोटियाँ छिन गई हैं, कदापि हमारे राज्य को आशीर्वाद नहीं दे सकते। नमक का व्यवसाय नष्ट हो जाने से अब प्रतिवर्ष ४ लाख पौंड का नमक बाहर से आता है।"

अवध में व्यवसाय न होने का एक कारण यह है कि इस प्रदेश में मध्य-वर्ग का अभाव है। एक ओर तो तालुक़ेदारों की सम्पन्न श्रेणी है, दूसरी ओर दरिद्रों का समुदाय है। ये श्रीमान् लोग जो व्यवसाय चलाने का सामर्थ्य रखते हैं या जो अर्वाचीन ढंग से उद्योग-धंधों का संगठन कर सकते हैं, इस ओर किसी प्रकार का उत्साह नहीं प्रकट करते। इनमें अधिकांश अपना समय आलस्य, व्यसन और व्यर्थ की बातों में नष्ट किया करते हैं। इनका पैसा भी औद्योगिक उन्नति में नहीं लगता। उधर दरिद्र समुदाय का सारा जीवन उदर-पालन में ही चला जाता है। उनसे कोई आशा इस बात की नहीं की जा सकती कि वे कोई व्यवसाय चलायँगे।

इस प्रान्त में धनोपार्जन का मुख्य साधन भूमि है और सो इतनी असम विभाजित है कि यदि अधिकांश जनता भूखों मरे तो इसमें आश्चर्य नहीं है। अवध के सम्पूर्ण धरातल के २/३ भाग पर २७२ तालुक़दारों का क़ब्ज़ा है। जो तृतीयांश बचा वह एक लाख आदमियों के अधिकार में है। अर्थात् अवध की १ करोड़ २० लाख की जनता में से १ करोड़ १९ लाख की जनता भूमि के आधिपत्य से बिलकुल वंचित है। ज़मीन के मालिकों में भी दो अत्यन्त असम विभाग पाये जाते हैं। २४,१५४ वर्ग-मील क्षेत्रफल में से १६,००० वर्ग-मील २७२ तालुक़दारों में बँटा हुआ है, अर्थात् प्रत्येक तालुक़दार के पास औसतन् ६० वर्ग-मील ज़मीन पड़ती है। बाक़ी ८,००० वर्ग-मील भूमि में १ लाख आदमियों का हिस्सा लगाया गया है। अर्थात् प्रत्येक ग़ैर-तालुक़ेदार-भूमिपति के हिस्से में २ २/५ वर्ग-मील भूमि आती है। यदि एक ग़ैर-तालुक़दार भूमिपति के अधिकार में १ वर्ग-मील ज़मीन मानी जाय तो एक तालुक़दार के अधिकार में ७५० वर्ग-मील ज़मीन आती है*।

*अवध में ५० हज़ार एकड़ से लेकर ५ लाख एकड़ तक के भूमिपति कुछ ही हैं। ४ हज़ार से ५० हज़ार एकड़ के भूमिपति ३०० हैं। १५० एकड़ के भूमिपति २१ हज़ार हैं। और ३८ एकड़ के ७८ हज़ार हैं। और इससे कम के छः सौ के क़रीब हैं।

अवध में ९९ लाख एकड़ भूमि पर खेती होती है। उसमें ८० लाख एकड़ ज़मीन ऐसे किसानों के पास है जो बेदख़ल किये जा सकते हैं और जिनका भूमि पर कुछ भी अधिकार नहीं है। १९ लाख एकड़ भूमि स्थायी रूप से ऐसे लोगों के पास है जो ज़मीन के अधिकार से च्युत नहीं किये जा सकते। ९६ लाख जनता कृषि-जीवी है। इसमें से केवल दो लाख आदमी खेत से बेदख़ल नहीं हो सकते*, बाक़ी बेदख़ल किये जा सकते हैं। नीचे के आँकड़े युक्तप्रान्तीय शासन-रिपोर्ट से लिये गये हैं।

[अवध में]

९	प्रतिशत	खेतीहीन मज़दूर	अर्थात्	८,८८,६३६
८८	,,	खेत के अस्थिर किसान	,,	८४,९९,३०६
३	,,	खेत के स्थिर किसान	,,	२,००,६३४
१००	,,	कुल किसान	...	९५,८८,५७६

२० प्रतिशत अवध में स्थायी ज़मीन

		एकड़
सीर	...	५,८७,३३४
खुद काश्त	...	५,४२,०३५
माफ़ी	...	१,१६,३३५
मातहतदारी	...	५,०३,९९०
साख्तुलमिलकियत		५५,३०६
मौरूसी	...	१,१४,२३६
कुल स्थायी ज़मीन		१९,१९,१३८

*इसके पहले हम कह चुके हैं कि आराज़ी के मालिक १ लाख आदमी हैं। यहाँ हम यह कहते हैं कि दो लाख आदमी खेत से बेदख़ल नहीं किये जा सकते। इसमें कोई परस्पर विरुद्ध बात नहीं है। क्योंकि हर एक किसान का जो खेत से बेदख़ल नहीं हो सकता, आराज़ी का मालिक होना ज़रूरी नहीं है।

८० प्रतिशत अवध में स्थायी ज़मीन*

क़ानूनी काश्तकार	६०,३७,७५०
वारिसान ...	६,६६,३७६
शिकमी ...	६,४६,२४७
	७६,५०,३७६

१०० प्रतिशत—कुल ९८,६६,५१४ एकड़।

अवध की २० लाख एकड़ जुती हुई ज़मीन २ लाख किसानों के पास स्थायी तौर पर है, अर्थात् प्रत्येक स्थायी किसान के पास औसतन १० एकड़ ज़मीन है। ८० लाख एकड़ ज़मीन ९४ लाख अस्थिर किसानों के पास है, अर्थात् प्रत्येक अस्थायी किसान के हिस्से में ⅚ एकड़ ज़मीन आती है। यदि अस्थायी किसान को एक एकड़ ज़मीन जोतने को मिली है तो स्थायी को १२ एकड़। इन अंकों से स्पष्ट है कि ज़मीन और खेत अवध में अत्यन्त असम रूप से विभाजित हुए हैं। इसी विषमता के कारण अवध की जनता उड़ीसा को छोड़कर भारत के सारे प्रान्तों से दरिद्र है। अवध के गाँवों में एक भी ऐसा घर न मिलेगा जिसे किसान खेती करके पक्का करा पाया हो।

हज़ार में ९९९ घर कच्चे हैं। कोई गाँव ऐसा नहीं है, कोई पुरवा ऐसा नहीं है, जहाँ अनेक आदमी दिन में एक ही बार भोजन करके न सो रहते हों। पहनने के लिए अधिकांश के पास पर्याप्त कपड़ा तक नहीं होता।

अवध की ग्रामीण जनता केवल धोती पहनकर रहती है और वह भी फटी। जो कोई कुर्ता बनवाता है या जूता ख़रीदता है उसे प्रतिदिन इस्तेमाल नहीं करता। त्योहार और विवाह के अवसर पर ही उनका व्यवहार होता है। प्रत्येक गाँव में अनेक स्त्रियाँ ऐसी मिलेंगी जिनके पास स्नान करके दूसरा वस्त्र पहनने के लिए नहीं होता। एक वस्त्र जो शरीर पर आया वह जब तक फट नहीं जाता, अलग नहीं होता। इसी पर पैबंद के ऊपर पैबंद लगते रहते हैं। यह कोई न समझे कि गाँव में पुरुषों और स्त्रियों के वस्त्रों में जो गंदगी पाई जाती है या छोटे छोटे लड़के-लड़कियाँ नंगे घृणित नाक और थूक से बीभत्स रूप में दिखाई देते हैं या मकानों के चारों ओर जो गोबर, कूड़ा या अन्य प्रकार की गन्दगी पड़ी रहती है, वह इस कारण है कि हिन्दुस्तानी सफ़ाई से रहना नहीं जानते। दरिद्रता के भयंकर पाश में फँसकर उच्च से उच्च संस्कृति के लोगों की भी दुर्दशा हो जाती है। मेरा तो यह विचार है कि यदि भारत की ऐसी पवित्र और दृढ़ संस्कृति हमारे यहाँ की न होती तो इतनी दरिद्रता में फँस कर लोग अपनी स्त्री और बच्चों को बेंचकर खा गये होते। कुछ लोग यह कहेंगे कि हम अवध की दरिद्रता के वर्णन में अत्युक्ति कर रहे हैं और कोई प्रमाण नहीं दे रहे हैं। लेकिन जैसी पुरानी कहावत है—"प्रत्यक्ष का क्या प्रमाण।" हम लोग जो गाँव में रहते हैं उनकी आँखें अवध की जनता की दरिद्रता देखते देखते पक गई हैं। जिनको संदेह हो, एक सप्ताह अवध के किसी ग्रामीण क्षेत्र में भ्रमण करके देख लें। अवध का यह संकट कोई नवजात नहीं है। ५० वर्ष पहले अवध की ग्रामीण जनता के सम्बन्ध में एक अनुभवी अँगरेज़ ने लिखा था—"इस प्रान्त में लाखों आदमी ऐसे मिलेंगे जिनके सामने खेतहीन मज़दूर ख़ुशहाल कहा जा सकता है। हर एक पुरवे में और गाँव में ऐसे लोग हैं जिनके शरीर पर पर्याप्त वस्त्र नहीं, जो भूखों मर रहे हैं, जिनके पास न मवेशी हैं, न पेट भरने का कोई धन्धा। अत्यन्त अद्भुत बात तो यह है कि इतना कम भोजन करते हुए, इस क़दर कम कपड़ा पहनते हुए, ये लोग जाड़ों की ठण्डी रातों में खेतों की रखवारी करते हुए कैसे ज़िन्दा बच जाते हैं।...सारे प्रान्त पर एक सिरे से दृष्टि डाली जाय तो यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि किसानों के बहुत बड़े भाग को न तो काफ़ी भोजन मिलता है कि वह स्वस्थ रह सके, और न काफ़ी कपड़े कि ऋतुओं की विषमता से अपनी रक्षा कर सके। इनके मवेशी चारे की कमी से बिलकुल डाँगर होते हैं और ये बारह महीने में शायद ही किसी महीने में उधार से मुक्त रहते हों।"

इस अँगरेज़ के इस कथन का उल्लेख कर मैं इस लेख को समाप्त करूँगा।

*अवध में सीर, ख़ुदकाश्त, माफ़ी, मातहतदारी, मौरूसी की ज़मीन साधारणतः बेदख़ल नहीं हो सकती। क़ानूनी काश्तकार, उसके वारिस, शिकमी की ज़मीन ताल्लुक़दार ले सकता है।

'हरिऔध' जी का बुढ़भस

पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी



लन्दन में तिवारी जी, सन् १९२२

साहित्य के क्षेत्र में नित्य नये राज्य स्थापित करने की धुन में हरिऔध जी ने अपनी प्रतिभा का इतना अधिक अपव्यय कर डाला कि अपनी नवीन रचना 'रसकलस' में वे पूरे दिवालिया-से दिखाई पड़ने लगे। यही कारण है कि उनकी कृति आज हमारे लिए, बजाय आनन्द के, शोक, ग्लानि और लज्जा का विषय बन रही है। कवि के इसी साहित्यिक पतन का इस लेख में तिवारी जी ने दुःख के साथ वर्णन किया है।



पिछले लेख का अन्त—पाठक को स्मरण होगा—इस वाक्य से हुआ था, 'वास्तव में "रसकलस" उनके (अर्थात्, हरिऔध जी के) बुढ़भस का प्रसाद है।' इस 'बुढ़भस' शब्द के औचित्य पर, आइए, शान्त और निष्पक्ष भाव से एक सरसरी नज़र डाल लें। 'रसकलस' के प्राक्कथन को लीजिए। इस बात पर विचार करने की यहाँ पर ज़रूरत नहीं है कि हरिऔध जी की प्रार्थना पर वह लिखा गया, या रसाल जी ने कविवर से उसके लिखने की प्रार्थना की। लेकिन यह निर्विवाद है कि हरिऔध जी ने, छपने के पहले, उसे देखा था। जहाँ तक उसमें उनकी प्रशंसा की गई है, उसके सम्बन्ध में मैं यहाँ पर कुछ न कहूँगा। जो कुछ कहना था, वह पिछले लेख में आ चुका है। लेकिन उसी प्राक्कथन में रसाल जी ने उन लोगों की खासी खबर ली है, जिनसे उनको, इस किताब के गुण-दोषों के मामले में, मत-भेद की आशंका थी। उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को 'जलौकाप्रवृत्तिवाले' और 'स्वार्थ, आदि, किसी विशेष कारण से निन्दा तक' कर सकनेवाले समालोचक कहा है। मैं विनम्रता से पूछता हूँ कि क्या कोई भी पाठक रसाल जी की इस संकीर्णता का समर्थन करने के लिए तैयार होगा? इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि क्या कारण था कि हरिऔध जी ने प्राक्कथन में इन वाक्यों को ज्यों का त्यों रहने दिया? इन्हें रहने ही नहीं दिया; यदि इतना ही होता, तो भी ग़नीमत थी। रसाल जी से दूसरों को बे-ईमान और ख़ुदग़र्ज़ कहलाकर आपकी प्यास नहीं बुझी। आपने भी 'रसकलस' के मंगलाचरण में उन लोगों को, जो आपकी इस ओछी किताब की मुक्तकंठ से प्रशंसा न करें, खूब ही दिल खोल कर गालियाँ दी हैं। विपक्षी का मुँह बंद करने की पेशबंदी आपने इस खूबी से की है कि गाँव का पटवारी या चौकीदार भी उसे देखकर आश्चर्य से दाँतों तले अँगुली दबाये बिना

नहीं रह सकता। नीचे मैं दोनों छन्दों को ज्यों का त्यों उद्धृत किये देता हूँ :—

(१) वचन-विलास ते न जाको मन विलसत
छहरत छबि से न जाकी मति छरी है।
विविध-रसन ते न जाको चित सरसत
रुचि की रुचिरता न जाहि रुचि-करी है॥
'हरिऔध'-भारती न भूलिहूँ लुभै है ताहि
जाके उर माँहि भारतीयता न भरी है।
वैभव में जाके है अभाव मंजु-भावना को
भावुकता नाहिं जाकी भावना में भरी है॥४॥

(२) कोकिल की काकली को मान कैसे कैहै काक
भील कैसे मंजु मुकतावलि को पोहैगो।
कैसे वर-वारिज विलोकि मोद पैहै भेक
बादुर विभाकर-विभव कैसे जोहैगो॥
'हरिऔध' कैसे 'रस-कलस' रुचैगो ताहि
जाको उर रुचिर रसन ते न सोहैगो।
आँखिन में बसत कलंक-अंक ही जो अहै
कोऊ तो मयंक अवलोकि कैसे मोहैगो॥५॥
—'रसकलस' का मंगलाचरण।

मिष्टभाषी, सहनशील, शब्द-संयमी, वयोवृद्ध, कविवर हरिऔध जी की विनम्रता को तो देखिए! अपने मुँह मियां मिट्ठू बनने की हवस आपमें यहाँ तक बढ़ गई कि आप खुद ही 'रसकलस' की तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। उसे आप 'कोकिल की काकली', 'मंजु मुकतावलि', 'मयंक', 'विभाकर-विभव' से समता देते हैं। और जो पाठक या समालोचक 'दुर्भाग्यवश' इस किताब को इन विविध गुणों से संयुक्त नहीं समझता, उसे हरिऔध जी अपनी साहित्यिक उदारता में सिर्फ़ 'काक', 'भील', या 'भेक' कह कर शान्त हो जाते हैं; क्योंकि आप अपने मन को यह कह कर समझा लेते हैं कि ऐसे अभागे की बातों का बुरा ही क्या मानना, 'जाके उर माँहि भारतीयता न भरी है', 'वैभव में जाके है अभाव मंजु भावन को', 'आँखिन में बसत कलंक-अंक ही जो अहै' और 'जाको उर रुचिर-रसन ते न सोहैगो'। इस धृष्टता, इस अहम्मन्यता, इस गर्वान्धता, इस उच्छृङ्खलता, और निरंकुशता का कुछ ठिकाना है? क्या कोई भी साहित्यिक, होश-हवास के सही-सलामत रहते हुए, अपने संयम और विवेक को इस तरह ठुकरा देगा, जिस तरह से हरिऔध जी ने ठुकराया है? उनकी सादगी और उनकी विनम्रता उनके दोस्तों में प्रसिद्ध है। तब क्यों वे, अपने साहित्यिक जीवन में कवि-कीर्ति-लिप्सा से उन्मत्त होकर, इस तरह की ग़लती कर बैठे हैं? अथवा, क्या हरिऔध जी की उद्धृत उक्तियां उनके स्वाभाविक गर्व, अभिमान और अहम्मन्यता को प्रतिबिम्बित करती हैं? या, क्या इनसे उनकी संकीर्णता, असहिष्णुता और अनुदारता टपकती है? मेरे हृदय में उनके प्रति जो आदर-सम्मान है, उसने मुझे उन्हें न अहम्मन्य और न अभिमानी या अनुदार, संकीर्ण-हृदयवाला ही कहने दिया। इस निरंकुशता और कीर्ति-लोलुपता को मैंने उनके व्यक्तित्व का दोष नहीं माना। उसे तो उनके वार्द्धक्य के जोम के मत्थे मढ़कर मैं सन्तुष्ट हो जाता हूँ। बुढ़भस ही में लोग ऐसी बेजा और अनुचित बातें कर डालते हैं, जिनको देखकर दूसरे उनका मज़ाक उड़ाने लगते हैं। हरिऔध जी की तुलना, इस मामले में, कालिदास से कर लीजिए। अपने को अल्पमतिवाला, दुस्साहसी कवियशःप्रार्थी कहते हुए, वह तो रघुवंश को लिखने की अपनी धृष्टता के लिए माफ़ी माँगते हैं; और ये महोदय 'आपन मुख निज आपन करनी भाँति अनेक बार बहु' बरनन करने में ऊँच-नीच का विचार तक भूल जाते हैं। इस अन्तर का क्या कारण हो सकता है? कालिदास को दूसरे लोग कवि-सम्राट् कहते थे और कहते हैं; हरिऔध जी खुद ही 'कवि-सम्राट्' होने का ढिंढोरा पीटते हैं। असली और नक़ली कवि-सम्राटों में जो अन्तर हो सकता है, वही आपको यहाँ पर भी दिखाई देगा। यदि यह सब बुढ़भस का प्रभाव न होता तो हरिऔध जी भी अपने इस कृत्य को देखकर, हमारी तरह, चकित और व्यथित हो उठते। कवि के इस साहित्यिक पतन को देखकर कौन सहृदय न रो पड़ेगा? क्रोध या विद्वेष के आवेश में नहीं किन्तु अनिर्वचनीय शोक, ग्लानि और लज्जा में मैंने 'रसकलस' की आलोचना की है; क्योंकि उसकी उपेक्षा करना इस बात को

स्वीकार करना होता कि हिन्दी-जगत् में इस तरह की उद्दंडता का प्रतिवाद करनेवाला कोई नहीं रहा। ठकुर-सोहाती की भी सीमा है। वार्द्धक्य और चिरकालीन सेवाओं के प्रति समुचित सम्मान की भी हद होती है। सब जगह और हर समय उनके नाम पर आलोचना का मुँह बन्द करने की चेष्टा करना उतनी ही बड़ी भूल है; जितनी बड़ी ग़लती वे करते हैं, जो मौके-बे-मौके अपनी सनदों को जनता के सामने पेश कर ऊँचे स्थान पर अपना मौरूसी हक़ क़ायम कराना चाहते हैं। डा० ग्रियर्सन के सिफ़ारिशी पर्चे या किसी वयोवृद्ध महारथी के श्लोकबद्ध आशीर्वाद की दुहाई देकर कोई भी आदरणीय नहीं हो सकता। अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने से न तो हरिऔध जी का मान ही बढ़ेगा, और न उन की बँदरघुड़कियों से कोई 'रसकलस' की आलोचना से झिझकेगा।

आइए, पाठक, अब मैं पहले आपको 'रसकलस' की कुछ कविताओं की बानगी चखा दूँ; और, फिर, बाद में, भूमिका के विषय में दो-चार शब्द कह कर लेख को समाप्त करूँ।

(१)

इस रस-निरूपण का श्रीगणेश उत्तम रति के उदाहरण ही से होना उचित है। पहले हरिऔध जी की व्याख्या को सुन लीजिए। आप फ़र्माते हैं—उत्तम रति 'सदा एक-रस रहनेवाली अनन्य प्रीति को कहते हैं।.... इसमें सेव्य-सेवक-भाव की प्रधानता है।'

चन्द-मुख की ही बनी रहति चकोरिका है
सरस-सनेह-स्वाति-बूँद की है चातकी।
प्यारो तक कारो करि रखति नयन तारो
वारति गोराई पै गोरे-गोरे गात की॥
× × × ×
पात लौं हिलति पवि-पात सिर पै है होत
पातक-निरत-पतिहूँ को कहै पातकी॥

'पातक-निरत-पतिहूँ को कहै पातकी'—ऐसी सती-साध्वी की 'सदा एक-रस रहनेवाली अनन्य प्रीति' को हरिऔध जी जब 'उत्तम' कहते हैं, तब यह आसानी से समझ में आ जाता है कि क्यों न वे अश्लीलता में श्लीलता का अनुभव करें और अपनी ऊबड़-खाबड़ तुकबन्दी को, रसात्मक वाक्यों की कोमल-कान्त-पदावली के नाम से, बाज़ार में मनचलों के हाथ बेंचते फिरें।

'उत्तम रति' का एक दूसरा भी उदाहरण ले लीजिए:—

पौर परोसिन पै पति को
सुन प्यार पगी कबौं टोकत नाहीं।
भीतर भौन अलीन हूँ मैं
परे कामहूँ के कुछ ठोकत (!) नाहीं॥
रोस किये हरिऔध के बाल
वे बैन सुधा-सने रोकत नाहीं।
लाज-भरी अँखियान उठाइ
मयंकहूँ को अवलोकत नाहीं॥

कहाँ तो आपकी नायिका एक जगह 'पातक-निरत पतिहुँ को, कहै पातकी; और दूसरी जगह वही, इतनी सीधी हो जाती है कि 'परे कामहूँ के' अपने पति को 'ठोकत नाहीं'—सिर्फ़ गालियों ही से संतुष्ट हो जाती है?

(२)

'रसिया "हरिऔध" के अन्तर में' किसी 'ललना' की 'अँखियान' ने कैसे सुधा बरसा दी, यदि इसके जानने की आपको उत्कंठा है; तो नीचे के छन्द को देखिए—आपको सब ब्यौरा मालूम हो जायगा:—

अनखानभरे सब सौतिन के
उर मैं बिख-धार बहावति-सी।
तम-पूरे अनेहिन के हिय-भौन मैं
चाँदनी-चारु उगावति-सी॥
रसिया 'हरिऔध' के अन्तर मैं
रस की सुभ-सोत लसावति-सी।
मुसुकावति आवति है ललना
अँखियान सुधा बरसावति-सी॥

यह 'स्मित' का उदाहरण है। केवल 'मुसुकावति' शब्द की छन्द में उपस्थिति से आप भले ही समझ लें कि यह 'स्मित' का उदाहरण है। मशीन में ढली हुई इस तरह की कविता को हरिऔध जी यदि कविता कहते हैं, और यदि रसाल जी उन्हें दाद देते और उनकी पीठ ठोंकते हैं;

तो किसी को बिगड़ने की क्या ज़रूरत है ? अपनी अपनी रुचि, और अपनी-अपनी समझ !

ऊपर के सवैया की तुलना पद्माकर के छंद से कर लीजिए :—

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु
दई पहिराय लगाय सुरोरी।
बेनी बिसाखा रची 'पद्माकर'
अंजन साजि समाजि कै गोरी॥
लागी जबै ललिता पहिरावन
कान्ह को कंचुकी केसरि बोरी।
हेरि हरे मुसुक्याय रही
अँचरा मुख दै वृषभानुकिसोरी॥

पद्माकर के छंद से तो स्मित हास्य झलक रहा है; परन्तु हरिऔध जी के सवैया में यदि आप 'मुसुकावति' शब्द के स्थान में कोई दूसरा शब्द रख दें तो आपको पता भी न चले कि यह किस चीज़ का उदाहरण है।

(३)

नायिका का गुण-गान आपने चार कवित्तों में किया है। एक नमूना मैं नीचे पेश करता हूँ :—

चकित चितै कै चाव चौगुनों बढ़ाई चौंकि
चित अनुमानि लाल भूल्यो चैन सुख है।
चलि कत चरचा करैरी चारुता को चूकि
सभी चेरी वाकी चारुता के सनमुख है।
'हरिऔध' चाँदनी लौं हास चख झख के से
चलन-अमोल चामीकर लौं बपुख है।
चपला सी चमक चितौन है चकोर जैसी
चंपा लौं बरन चारु चंद्रमा सों मुख है।

इनको नीचे दिये हुए दो छन्दों से मिला लीजिए। हरिऔध जी की सरसता का अन्दाज़ा आपको लग जायगा :—

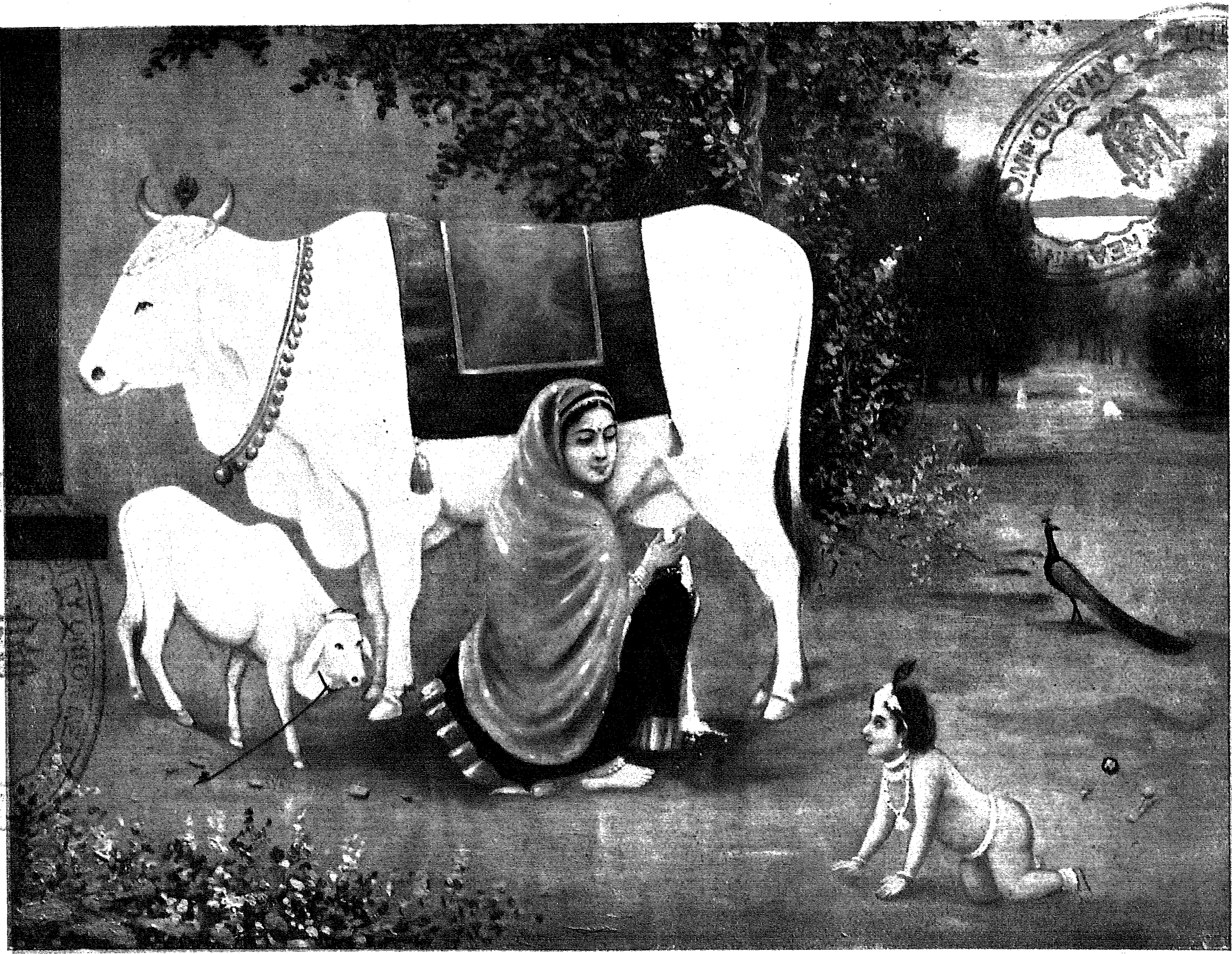
(अ) आनन हैं अरबिन्द न फूले,
अलीगन भूले कहा मड़रात हौ ?
कीर तुम्हैं कहा वायु लगी,
भ्रम बिम्ब से ओठन को ललचात हौ ?
'दास' जू ब्याली न बेनी रची,
तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलती बाल न बाजती बीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥

(इ) चोथते चकोर चहूँ ओर जानि चन्द्रमुखी,
जो न होती डरनि दसन दुति दम्पा की।
लीलि जाते बरही बिलोकि बनिता की,
जौ न होती गूथनि कुसुमसर चम्पा की॥
पूखी कवि कहै ढिग भौंहैं ना धनुष होती
कीर कैसे छोड़ते अधर बिम्ब झम्पा की।
दाख कैसी झौंरा झलकति जोति जोबन की
चाटि जाते भौंर जौ न होती रङ्ग चम्पा की॥

ऊपर मैंने दास और पूखी के उसी शैली के छंद उद्धृत किये हैं, जिस शैली का हरिऔध जी का कवित्त है, ताकि तुलना करने में आसानी हो। नीचे मतिराम का यह छंद मैं देता हूँ, जिससे पाठक सुगमता से कवि-कर्म्म-कुशल कलाकार और कवि-कर्म्म (की कपाल-क्रिया करने में) कुशल 'रसकलस' के रचयिता में व्यापक अंतर को समझ सकें।

कुंदन कौ रंग फीको लगै,
झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आंखिन मैं अलसानि, चितौन में
मुंज विलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं,
'मतिराम' लहै मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि,
त्यों त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥

इसी तरह से, 'रसकलस' के पेज के बाद पेज उलटते जाइए; और एक से एक अधिक शिथिल और लचर छंदों का ताँता बीभत्स तांडव करता हुआ आपको दृष्टिगोचर होगा। सन् १९०८ में 'भद्दी कविता' के विवेचन में द्विवेदी-जी ने 'सरस्वती' के अपने एक लेख में हरिऔध जी की रचनाओं को उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया था। खेद की बात है कि आप की रचनाओं में वही भद्दापन आज भी पहले की तरह मौजूद है। इसी लिए, हरिऔध जी



यशोदा-नन्दन

की निकम्मी कविता के उदाहरणों के देने में मैं अधिक स्थान नष्ट नहीं करना चाहता। हाँ, मैं पुस्तक की कुछ सामग्री पाठकों की भेंट अवश्य कर देना चाहता हूँ, ताकि वे देख लें कि सामयिकता के पुजारी, परम देश-भक्त और समाज-सेवा के प्रचारक हरिऔध जी, बेचारे पुराने कवियों को अश्लील कहकर पदभ्रष्ट बताते हुए, खुद कहाँ तक श्लीलता की सीमा के भीतर रहने में समर्थ हुए हैं:—

(१) "भरे उमंग परे रह हू, कहाँ भयो पिय भोर।
है तमचुर को रव नहीं, बोलत तम मैं चोर॥"

(२) "ए री वारी भोरी कौन लूट्यो तेरे माल को॥"

(३) "करत गुमान तू तो कैसे रैहै अरमान
मान तू करत तो मनमानी मैं"॥

(४) "भाग जगावन काज मैं माँगन गई भूभत,
कहाँ करौं भोरे-जनन काँहि भिरयो जो भूत॥"

(५) "सरस बनाबहु जलद-तन चलि करि रस-मय-केलि।
अहै कलक-रधि-कर तई दुलही-उलही बेलि॥"

(६) "मंजुल-गौन पै ए 'हरिऔध' गयंदहुँ की
गति जाति छली है।
भानु-लली प्रिय-रङ्ग-रली कल-केलि थली
यह जाति चली है"॥

(६) "कौन सूनी सेज पै चढ़ैगी परतेजि प्रान
दूनी दाह काके अंग अनंग दिखायगो'॥

(७) "भूख औ प्यास बिसारि सदैव
अवास मैं मेरे ही पास परी रहै"॥

ऊपर के उद्धरणों को पढ़कर कौन समझदार पाठक ऐसा होगा, जिसका हृदय 'हरिऔध' जी की प्रतिभा को पथभ्रष्ट होते देखकर दुःखित न हो जाय। आपकी 'अश्लीलता' को भूल जाइए वह तो, हरिऔध जी के अनुसार, उनके 'रसकलस' में हो ही नहीं सकती; क्योंकि सामयिकता का अनादर करनेवाले, आजकल के—हरिऔध जी के शब्दों में—'पथ-भ्रष्ट', व्रजभाषा में कविता करनेवाले कवियों के सामने नवीन, परिमार्जित प्रणाली का एक उच्च और देशोपयोगी आदर्श रखने ही के लिए तो 'सामयिकता' के इन पुजारीजी ने उसकी रचना की है। परन्तु हरिऔध जी के 'रसकलस' में तो रस के बूँद कठिनता से ढूँढ़े मिलते हैं। उसमें अधिकांश जो कुछ है, वह गँदला और खारी है, जिसको चखते ही उबकाई आने लगती और हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है। देव, दास और केशव ने जिस काम को करने में अपनी-अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया था, उसमें हाथ डालने की हरिऔध जी को मुतलक़ ज़रूरत न थी। लेकिन हमारे कविवरजी में जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ उनमें 'हवस' का एक भारी दुर्गुण भी मौजूद है। साहित्य के क्षेत्र में नित्य 'नये राज्य स्थापित करने को छोड़'—श्री काशीप्रसाद जायसवाल के शब्दों में—आपको 'दूसरी बात पसन्द नहीं आती।' 'प्रियप्रवास' की सफलता से आप खड़ी बोली के महाकवि तो हो ही गये थे। उसी मार्ग पर वे यदि चले जाते तो सम्भव था कि आप साहित्य के भाण्डार को नये नये रत्नों से भरने में सफल होते। लेकिन 'नये राज्य स्थापित करने की' धुन में आप चौपायों के चक्कर में बहुत दिनों तक पड़े रहे। उसके बाद भी यदि वे अपने पथ पर आ जाते, तो अच्छा था। परन्तु जब आप हिन्दी के अकबर न बन सके, तब आपको देव और केशव के सिंहासनों पर आधिपत्य जमाने की सूझी। इसी जोम का परिणाम है 'रसकलस'। देव और केशव को जाने दीजिए, रत्नाकर जी को लीजिए। उनमें 'श्रम-लभ्य रचना-चातुर्य्य' तो था, जिसकी बदौलत वह 'करामाती कारीगर' माने जाते हैं। परन्तु हरिऔध जी के 'रसकलस' में न तो कवित्व-शक्ति का चमत्कार ही मिलता है, और न करामाती कारीगर का कमाल ही नज़र आता है। क्या अच्छा होता, यदि हरिऔध जी गीता की 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' वाली उक्ति को न भूल गये होते। 'आधी छोड़ एक को धावै। एक छोड़ आधी भी जावै।' इसी लिए हरिऔध जी जब एक जगह पर यह कहते-कहते रो पड़ते हैं कि—

'हाय! हरिऔध' हूँ अपने पराये भये
सूझति न मोको कोऊ सूरति इलाज की।'
—रसकलस १२६।

तब मेरा हृदय समवेदना से अधीर अवश्य हो उठता है;

परन्तु 'सूझति न मोको कोऊ सूरत इलाज की।' उन्होंने जानबूझ कर अपनी अन्तरात्मा की अवहेलना की, अपनी ईश-दत्त प्रतिभा का दुरुपयोग किया, अपने निर्दिष्ट 'स्वधर्म' के सुगम पथ को छोड़कर पर-धर्म के भयावह मार्ग को अपना लिया। इसी लिए आज वे, आत्म-हन्ता की तरह, निराशा के अंधकार में भटकते फिरते हैं। वहाँ से निकल कर प्रकाश में आने का उन्हें कोई मार्ग नहीं सुझाई देता है।

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

इसी ईश्वरीय शाप से अभिशापित होकर हरिऔध जी रोते हैं कि :—

हाय! हरिऔध हूँ से अपने पराये भये।

आत्मा के प्रति विश्वासघात का परिणाम बड़ा ही भयावह है। जिसने अपनी आत्मा तक को अपनाना नहीं सीखा, उसे तो कम से कम दूसरों को यह उपालम्भ न देना चाहिए कि वे पराये हो गये; क्योंकि जो अपने को नहीं अपना सका; वह, भला, दूसरों को कैसे अपना बना सकता है?

लेख बेतरह बढ़ गया है। इसलिए, अब जल्द ही इसे समाप्त कर देना चाहिए। यदि सम्भव हुआ तो कभी आगे चल कर 'रसकलस' की भूमिका की सविस्तर आलोचना मैं करूँगा। आज बहुत ही संक्षेप में यहाँ पर मैं उस पर अपनी सम्मति प्रकट कर देना चाहता हूँ। इस 'रसकलस' में जो कुछ अच्छा है, वह मौजूदा किताबों में प्राप्त है। विषय के प्रतिपादन में भी कोई विशेषता नहीं। जहाँ कहीं आपने अपनी ओर से नई बातें भिड़ाई हैं, वहाँ आपको सफलता नहीं हुई। नायिकाओं के भेदों को ले लीजिए। आपने समाज-सेविका, आदि, नायिकाओं की 'नवीन कल्पना' पर अपने-आपको ख़ूब बधाई दी है। परन्तु उनका वर्गीकरण सर्वथा अवैज्ञानिक और सिद्धान्त-हीन है। भूमिका में आपने संस्कृत के पुराने आचार्यों की खोज ही का सहारा लेकर रस-मीमांसा पर लिखने की कृपा की है। लेकिन इस विषय पर, इन आचार्यों के अतिरिक्त भी, दूसरों ने काफ़ी खोज की है। रस-विषयक अनेक प्रश्नों के अस्तित्व का या तो आप को बोध तक नहीं है; और यदि कुछ का बोध है भी तो उन गुत्थियों के सुलझाने की आपने कोई चेष्टा नहीं की। शृंगार की जो विस्तृत व्याख्या आपने दी है, उसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ; परन्तु 'रसकलस' के काव्यांश में उसकी झलक तक नहीं दिखाई देती। 'रसकुसुमाकर' में जिस श्रेणी के उदाहरण आपको मिलेंगे, उसी तर्ज़ के छंद आपको 'रसकलस' में दिखाई देंगे। नायकों में कर्म-वीर, धर्मवीर, महंत और नेता, आदि, और नायिकाओं में समाज-सेविका, आदि, की भरमार तो केवल इसलिए कर दी गई है कि किताब पर 'सामयिकता' की क़लई चढ़ जाय, ताकि नवीनता की तड़क-भड़क से चकाचौंध होकर समालोचक 'रसकलस' की व्यापक बुराई की ओर ध्यान न दे सके! लेकिन मुलम्मा भी इतना ऊपरी और निकम्मा है कि उससे ऐबों का ढँकना तो दूर रहा, वे और भी ऊपर उभर आते हैं।

आपकी भूमिका के कुछ अनमोल अंशों को उद्धृत कर देना अनुचित न होगा। पहले, आपके इसी सिद्धान्त को ले लीजिए कि संगीत से काव्य का स्थान ऊँचा है, क्योंकि, आपकी सम्मति में, '......स्वरों और ध्वनियों की भाव-प्रवणता अस्वीकार नहीं की जा सकती। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि वचन-रचना उससे अधिक प्रभाव-मयी है'। इसी सम्बन्ध में आप फ़र्माते हैं, 'सरगम का समादर है, परन्तु क्या उतना ही जितना भावमय गान का? हारमोनियम की स्वरलहरी विमुग्ध करती है, किन्तु क्या फोनोग्राफ के इतना ही?' कृपया उद्धृत वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ लीजिए कि सरगम से गान अधिक भाव-मय होता है; या, फोनोग्राफ के सामने किसी बाजे की स्वर-लहरी फीकी मालूम होती है। जिस लेखक को इतना कम ज्ञान है, और जिसका मानसिक विकास अभी तक इतना स्वल्प हुआ है कि वह कविता को संगीत से अधिक प्रभावकारिणी और भावों की अभिव्यक्ति में अधिक सामर्थ्यशालिनी समझता है, उससे यह आशा करना कि वह रस-मीमांसा के समान सूक्ष्म विषय की गुत्थियों को समझ या समझा सकता है, अपने आपको धोखे में डालना होगा।

दूसरा उदाहरण लीजिए। भूमिका के पृष्ठ २५ पर आप यह फ़र्माते हैं कि यद्यपि 'रस का विषय बड़ा ही विवादग्रस्त है, कुछ विद्वानों की धारणा है कि अब तक रस की उचित मीमांसा नहीं हुई है और इसी लिए 'निश्चित रूप से किसी सिद्धान्त का संक्षिप्तकरण सुलभ नहीं'; 'किन्तु यह दुस्साहस मैंने किया है।' कहीं उचित होता यदि आप उस काम को करने में अग्रसर न होते, जिसे ख़ुद आप दुस्साहस समझते हैं। एक और उदाहरण ले लीजिए। साहित्य के पठन-पाठन से, कहते हैं, पाठक को अनिर्वचनीय और लोकोत्तर 'आनन्द' प्राप्त होता है। यह 'आनन्द' क्या है, इसका आपको सही-सही बोध आज तक नहीं हो पाया। इस 'आनन्द' शब्द का चलताऊ अर्थ मानकर आपने, अपने आपको बड़े ही चक्कर में डाल लिया है। एक उदाहरण लीजिए। दूसरों को मुसीबत में देखकर हमारी करुणा जाग उठती है, रुलाई आती है, पर-दुःख से हृदय टूक-टूक होने लगता है। क्या इस करुण क्रंदन को 'आनन्द' का उद्रेक कहिएगा? आप फ़र्माते हैं कि न केवल दुःख ही में किन्तु सुख में भी चित्त द्रवित होता है। इसी लिए आप का कहना है कि 'करुण रस से भी सुख की प्राप्ति होती है,' और 'भयानक रस और बीभत्स रस में भी हृदय में आनन्द का संचार होता है।' इसका एक और भी कारण आप देते हैं। उसे भी ग़ौर से सुन लीजिए। 'नाटक देखते समय एक भाव और (? एक और भाव ?) सब दर्शकों के हृदय में जाग्रत होता है। वह यह है कि वे उसको खेल समझते हैं, तात्कालिक होनेवाली सत्य घटना नहीं।........ इसलिए रंगमंच के सुख-दुःखमय दृश्यों का......प्रभाव तो उन पर पड़ता है, और वे प्रभावित भी होते हैं; परन्तु उनको वह शोक, मोह और क्षोभ नहीं सताता जो वास्तविक घटना के संघटित होने के समय प्रत्येक प्रत्यक्ष-दर्शी मानव-हृदय को कष्ट पहुँचाता है।' इस नवीन सिद्धान्त की ईजाद पर हम हरिऔध जी को बधाई देते हैं। क्या ख़ूब कहा कि करुण और बीभत्स रस से सुख का उद्रेक होता है! टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। जो लेखक भावों के विश्लेषण में इतना बहक सकता है, उसकी रस-मीमांसा की तारीफ़ जितनी भी की जाय, वह थोड़ी है। 'आनन्द' का सही सही अर्थ बिना समझे ही, आप रसाचार्य बन बैठे! पढ़ा अवश्य बहुत; पर उस पर न तो मनन किया, और न उसे हज़म ही कर पाया! बलिहारी है हरिऔध जी की, बलिहारी!

नायिका-भेद के विषय को उठाकर, यह कैसे सम्भव था कि हरिऔध जी परकीया के माहात्म्य पर न लिखते? यह मैं मानता हूँ कि इस विषय पर आपने काफ़ी प्रकाश डाला है; और जो कुछ लिखा है, वह बड़ी ही जोशीली भाषा में लिखा है, और लिखा है साधिकार। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि इस मामले में भी आप लकीर ही के फ़क़ीर बने रहे। श्री राधा के परकीयत्व का टकसाली ढङ्ग से निरूपण आपने ख़ूब ही अच्छे ढङ्ग से किया है, जिसे पढ़कर इन पूजनीया देवी को स्वकीया पुकारनेवाले गुमराह लेखक, मुझे आशा है, अपने कुफ़्र को छोड़ देंगे। सूरदास के भक्ति-भरे श्रृङ्गार की ख़ूब दिल खोल कर प्रशंसा की गई है। यह उल्लेखनीय बात है कि इन्हीं हरिऔध जी ने सन् १९२३ में सूरदास के सूरसागर में वर्णित श्रृङ्गार को 'अभव्य और अमनोरम' कहा था। तुलसी-ग्रन्थावली के तृतीय भाग में आपका एक निबन्ध छपा है। उसमें आपने तुलसी से तुलना कर सूरदास को नीचे गिराया है। वहाँ पर आपने सूर-सागर के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसे मैं, ऐतिहासिक दृष्टि से, यहाँ पर उद्धृत किये देता हूँ:—

'किन्तु श्रृङ्गार-रस ही उसका (अर्थात्, सूरसागर का) प्रधान वर्णनीय विषय है, समस्त ग्रन्थ श्रृङ्गार-रस से प्लावित है। इस प्लावन का प्रेम-प्रवाह बड़ा ही मनोरम है, किन्तु उसमें श्रृङ्गार-रस के अभव्य और अमनोरम आवर्त्त भी विद्यमान हैं। प्रेम का वह उच्च आदर्श जिसका स्पर्श मर्मस्थल को नन्दनकानन में परिणत करता है, मानवता की वह महिमामयी मूर्ति जिसके पुनीत पदतल पर जातीय गौरव का कमनीय कुसुम-कदम्ब सादर समर्पित होता है, पारिवारिक परस्पर सम्बन्ध के वे आदरणीय व्यापार जो सांसारिक जनों के संसार को

स्वर्गीय सुख का आधार बनाते हैं, कौटुम्बिक प्रथा के वे सुन्दर निदर्शन कुटुम्ब में सुख-शान्ति-संवर्धन के सूत्र होते हैं, व्यावहारिक वे कार्य-कलाप जिनमें आत्मोत्सर्ग की अद्भुत आभामयी मूर्ति विराजमान है, धार्मिक भाव के वे महान् रहस्य-समूह जो स्वार्थ-संघर्षण-जनित उत्तापतप्त प्राणि-पुंज को पारिजात तरुच्छाया के समान सुखद अथ च शान्तिप्रद होते हैं, पूर्णकला से विकसित सूरसागर में नहीं पाये जाते, उनके किसी किसी अंश का आभास उसमें भले ही हो।' (पेज ९-१०) यह सन् १९२३ में लिखा गया था। तब से अब तक १३ साल से अधिक गुज़र चुके। एक ज़माना बीत गया। कोई अचरज की बात नहीं, यदि हरिऔध जी ने भी अपनी राय बदल दी। हममें से प्रत्येक को अपनी सम्मति बदलने का अधिकार है। परन्तु क्या हम इतना भी नहीं कह सकते कि हमें इस परिवर्तन के व्यापक प्रभाव की प्रत्यक्ष छाप 'रसकलस' पर दिखाई देती है?

भूमिका की एक विशेषता अवश्य है। दिल खोलकर उपाध्याय जी ने अपने से भिन्न विचारवालों को गालियाँ दी और खरी-खोटी बातें सुनाई हैं। उनको उद्धृत करने से कोई लाभ नहीं। दिल के फफोले फोड़ने के लिए, 'ग़ालिब, यह ख़याल अच्छा है'। यदि कवि के हृदय को इससे शान्ति मिल सकती है, तो मुझे कोई शिकायत नहीं, क्योंकि गालियों से किसी के सिर फूटने की बात तो आज तक कहीं सुनाई नहीं दी। लेकिन हरिऔध जी जहाँ आदर्शवादी होने का ढोल बजाते हैं, वहाँ उन्हें उदार सहिष्णुता से काम लेना चाहिए था। अपने से भिन्न मत और आचरणवालों के प्रतिकूल उन्हें आग उगलने की ज़रूरत न थी। क्या सामयिकता है, और क्या समयोचित है—इन प्रश्नों के अन्तिम निर्णय का ठेका उपाध्याय जी को भगवान् के घर से नहीं मिल गया है। विपक्षी भी अपने मत के समर्थन में उतना ही ईमानदार हो सकता है, जितने हरिऔध जी अपने विचारों के प्रतिपादन में हैं। हमें दुःख है कि हरिऔध जी ने, जिसे वह 'आर्य-संस्कृति' समझते हैं, उसके समर्थन में अपनी भूमिका को रँगने का अनावश्यक कष्ट उठाया। आपके सामाजिक विचार कितने संकुचित और अनुदार हैं, इसके विवेचन की यहाँ पर ज़रूरत नहीं; विशेषकर जब उनका रस-मीमांसा के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। रस-मीमांसा में जिन बातों पर लिखने की आवश्यकता थी, उन पर तो अधिकांश में आप मौन साध गये हैं। उदाहरण के लिए, भूमिका में शृङ्गार का तो विशद और सुविस्तृत व्याख्या-द्वारा पिसे हुए का, फिर-फिर पीस कर, कचूमर निकाला गया है; परन्तु अन्य रसों पर कुछ नहीं के बराबर ही लिखने की कृपा आपने की है। कारण प्रत्यक्ष है। मौजूदा किताबों से जो मसाला आपके हाथ लगा, उसी से आपने अपनी पुस्तक रँग डाली। जिन विषयों का प्रतिपादन उनमें नहीं किया गया है, उन पर आप लिखते तो कैसे? शृङ्गार ही पर बङ्गाल के वैष्णव कवियों और आचार्यों ने जितना प्रकाश डाला है, उसका भी उपयोग आप अपने विवेचन में नहीं कर सके। इसी लिए 'रसकलस' बहुत ही साधारण पुस्तक है। उसका वैज्ञानिक महत्त्व नगण्य है। हाँ, स्कूली किताब की हैसियत से उसका मामूली तौर पर आदर यदि कोई करे, तो करे। इससे अधिक मोल इस ग्रन्थ का कदापि नहीं है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में 'रसकलस' प्रकाशित क्यों किया गया? 'रसकलस' को देखने पर मुझे यह अनुमान हुआ था कि शायद, अपने आरम्भिक काल में कवि ने रीति-ग्रन्थ पढ़कर उसी परिपाटी की कवितायें रची होंगी। उनको प्रकाशित करने की उस समय हिम्मत न हुई। सम्भव है, हरिऔध जी ने उन्हें इस योग्य भी न समझा हो। कारण कुछ भी रहा हो, वे बन्द पड़ी रहीं। इधर 'प्रियप्रवास' के निकलने के बाद, कवि-सम्मेलनों में आपको सम्मिलित होने के बारम्बार सुअवसर मिले। साथ ही, रत्नाकर जी की व्रज-भाषा के क्षेत्र में ख़ूब धूम मच गई। उनका सितारा ज़ोरों से चमक उठा। कुछ तो कवि-सम्मेलनों का असर और कुछ रत्नाकर जी के स्थान पर अपना सिक्का जमाने की तमन्ना ने उन्हें पहले की रचनाओं को प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया; परन्तु एक अड़चन इस

उद्देश की पूर्ति में उन्हें दिखाई दी। आपको सामयिकता के पुजारी होने का भयंकर रोग है। आदर्शवादी भी बनना चाहते हैं। 'अश्लीलता' के नाम पर आप सूरदास तक की आलोचना कर चुके थे। 'प्रियप्रवास' का कवि एकाएक नायिका-भेद पर कवितायें प्रकाशित करते हुए अवश्य झिझका होगा। इस बाधा को दूर करने के फिर तरीके सोचे गये। क्योंकि 'रत्नाकर' जी के क्षेत्र पर राज्य स्थापित करने की धुन तो आप पर सवार ही थी। फिर क्या था? समाज-प्रेमिका, देश-सेविका, आदि, की सृष्टि हुई। लम्बी-चौड़ी भूमिका तैयार की गई, जिसमें अपनी सफ़ाई देने की पूरी पूरी कोशिशें की गईं; यहाँ तक कि जिन सूरदास के खिलाफ़ आपने तुलसी-ग्रन्थावली के तीसरे भाग में क़लम चलाई थी, उनको भी 'रसकलस' की भूमिका में भक्त कवि कहकर स्वच्छन्दता से विचरने का फ़तवा दे दिया। अपने को 'अश्लीलता' के आक्षेप से बचाने के लिए, आपने आजकल के लेखकों और प्रकाशकों की 'वासलेटी अथवा चाकलेटी' करतूतों पर दिल खोलकर कस कस कर वार किये। और, अन्त में, नायिका-भेद के सामाजिक महत्त्व और उसके ज्ञान की परमावश्यकता पर आपने सफ़े के सफ़े रँग डाले। आपने समझ लिया कि इसके बाद किसी की क्या मजाल कि वह अँगुली उठाये और नुक्ता-चीनी करने की जुरत कर सके। इतने पर भी पूरी तौर से ढाढ़स न बँधा। तब 'रसाल' जी की शरण ली गई। उनके मुखारविन्द से विपक्षियों का मुँह बन्द कराने के लिए धमकियाँ दिलवाई गईं। फिर क्या था? रास्ता साफ़ हो गया। बढ़कर व्रज-भाषा के गढ़ पर विजय-पताका फहराने की देर थी। शुभ मुहूर्त में, कविवर जी रसकलस की मृगनैनियों की भृकुटी-कमानों और नयनकटाक्ष-रूपी सरों को हाथ में लेकर क़िले की ओर बढ़ गये, और आनन-फ़ानन आपने उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। 'रसकलस' के प्रकाशन का, मेरी समझ में, यही रहस्यमय इतिहास है; और भूमिका की विलक्षणता का रूप इन्हीं विशेष परिस्थितियों ने निर्धारित किया है।

मैं पाठकों का ध्यान 'रसकलस' के निम्न उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूँ, क्योंकि कविवर के मानसिक भावों का सच्चा प्रतिविम्ब इसमें हमें देखने को मिल जाता है:—

'हिन्दी-साहित्य..................में इन दिनों एक विचित्र ऊधम मचा हुआ है। स्वतन्त्र विचार के जीव इस उच्छृङ्खलता के विधाता हैं।......वे निरंकुश हैं, और हैं अपने मन के......। कितने नाम चाहते हैं, कितने दाम।......कितने अपनी पुस्तकों का प्रसार। वेश उनका मराल का है, परन्तु चाल बगलों की। वे मुख से और लेखनी से सदुपदेश का प्रचार करते हैं, परन्तु हृदय से हैं वायस-वृत्ति, मलिन पदार्थ को ही प्यार करते हैं। उनके हाथ में झंडा है उपकार का, किन्तु उनका व्रत है अपकार......। इस तरह के लेख आद्योपांत अश्लीलता-मय होते हैं......।' (पृष्ठ १८६-७।) ऊपर के अवतरण का मूल्य इस बात में है कि उसके लेखक ने ज्ञात रूप से तो दूसरों को लक्ष्य में रखकर उसे लिखा था; परन्तु, वास्तव में, यद्यपि अज्ञात अवस्था में, उन्होंने अपना ही सच्चा चित्र उसमें अंकित कर दिया है। कितनी सच्ची बात कही है—'कितने नाम चाहते हैं, कितने दाम।' जायसवाल जी का प्रमाण-पत्र मौजूद है कि हरिऔध जी को 'साहित्य में नये राज्य स्थापित करने को छोड़ दूसरी बात पसन्द नहीं आती।' ठीक है, 'कितने नाम चाहते हैं, कितने दाम'!! 'रसकलस' से नाम तो हरिऔध जी का, बक़ौल रसाल जी के, 'अमर' हो ही गया। अधिक की परवा नहीं—दाम मिले, न मिले; इसकी क्या चिन्ता? नाम होना चाहिए—नाम कि आप, जैसे खड़ी बोली के, वैसे ही व्रज-भाषा के भी, बड़े भारी कवि हैं! लेकिन इसमें मुझे सन्देह है कि बाबू श्यामसुन्दरदास की नागरी-प्रचारिणी सभा, रत्नाकर (संग्रह) की तरह, कोई हरिऔध का संग्रह प्रकाशित करेगी। सम्भव है, कोई रसिक-मण्डल आपका 'प्रोषित-पतिका का प्रलाप' नामक महाकाव्य--यदि वह कभी लिखा गया--उसी तरह प्रकाशित भले ही कर दे, जैसे 'रत्नाकर' जी का उद्धव-शतक प्रयाग से छापा गया था।

अन्त में, मुझे इतना ही निवेदन करना है कि 'रस-कलस' पर अपनी सम्मति का सार यदि मैं प्रकट करना चाहूँ तो मुझे शब्दों की खोज में भटकने की ज़रूरत नहीं है। हरिऔध जी ही मेरी सहायता के लिए उत्सुक दिखाई देते हैं। अतएव, धन्यवाद के साथ मैं उनकी भूमिका से निम्न दोहा और उसकी व्याख्या ज्यों की त्यों उद्धृत कर अपने को कृतार्थ करना चाहता हूँ आपका स्वरचित दोहा यह है :—

सेत केस मिस अवनि मैं पसरी कीरति सेत।
कौन दाँत के गिर गये दाँत सुमुखि पै देत॥

(पृष्ठ १७।)

इस दोहे पर हरिऔध जी की व्याख्या को भी पढ़ लीजिए :—

'इस पद्य में एक वयोवृद्ध की हँसी उड़ाई गई है। प्रायः देखा जाता है कि वृद्धावस्था में हवस बढ़ जाती है, किसी किसी का मन वृद्धावस्था में भी युवा बना रहता है, वे दाँत गिर जाने पर भी सुमुखियों पर दांत देते रहते हैं। दाँत गिर जाने पर दाँत देना, एक अद्भुत बात है, इसलिए पद्य में कहा गया है कि वृद्ध ने अद्भुतकर्मा बनकर श्वेत दाढ़ी के बहाने पृथ्वी पर अपनी श्वेत कीर्त्ति फैलाई है। यह घोर व्यंग्य है जो वृद्ध के चरित्र पर कुत्सित कटाक्ष करता है।' चित्र सच्चा है.........।'

हरिऔध जी की हाँ में हाँ मिलाते हुए, मैं भी तो यही कहने के लिए तैयार हूँ कि दोहे में अंकित 'चित्र सच्चा है।' जिस समय आप कवि-सम्मेलनों में प्रोषित-पतिका पर छन्द पढ़ने के लिए खड़े होते हैं, तब इस श्वेत-केशधारी साहित्यिक ऋषि की भव्य मूर्ति को देखकर सुननेवालों के सामने ऊपरवाले दोहे में चित्रित चित्र अनायास ही खिंच जाता है। वास्तव में, चित्र सच्चा है! इस दोहे की रचना पर कविवर को कौन सहृदय दाद न देगा? लीजिए, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मैं अपने हृदय का पाप आज खोलकर रख देना चाहता हूँ; क्योंकि पाप का परिशोध प्रायश्चित्त ही द्वारा सम्भव है। मेरा पाप यह है कि जब जब मैंने यह सुना कि हरिऔध जी ने कल उस सम्मेलन में और आज इस सम्मेलन में वाल्मीकि के समान शुभ्रकान्ति बरसाते हुए प्रोषित-पतिका के कारुणिक क्रन्दन से दर्शकों को रुला दिया, तब तब केशव का यह दोहा मुझे बरबस याद आ जाता था :—

'केशव केशन अस करी, जैसी अरि हू न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥''

लेकिन भविष्य में केशव को भुलाकर हरिऔध जी ही का ऊपर उद्धृत दोहा मैं दोहराऊँगा; और यह भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि 'रसकलस' के रचयिता के सम्बन्ध में कबीर का निम्न वचन भूल-चूक से भी अपनी ज़बान पर न लाऊँगा :—

''ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधो निन्दा सोय॥''



जन-संख्या की वर्तमान समस्या

श्रीयुत यज्ञदत्त शुक्ल, बी० ए०

जन-संख्या को वृद्धि भारत जैसे दरिद्र देश के लिए विकट समस्या है। इस सम्बन्ध में योरपीय देशों में समयोचित कार्यवाही की गई है। उस ओर हमारे देश के नेताओं का भी ध्यान गया है और वे अब सोचने लगे हैं कि इस समस्या की कैसे मीमांसा की जाय। लेखक महोदय ने यह सब अपने लेख में मनोरञ्जक ढंग से लिखा है।



ज-कल जन-संख्या-सम्बन्धी अनेक विचार फैल रहे हैं। कुछ लोगों का, विशेषतया पाश्चात्य विद्वानों का, और उन्हीं की देखादेखी हमारे कुछ माननीय भारतवासियों का भी कहना है कि संसार की वर्तमान दुरवस्था के कारणों में से एक कारण जन-संख्या की अतिवृद्धि भी है। कहा जाता है कि संसार की आबादी पहले से बहुत बढ़ गई है, और यदि यह इसी तरह वृद्धिंगत होती रहेगी तो लोगों को भोजन मिलना सर्वथा कठिन हो जायगा। जानवरों और पेड़-पौधों की तरह मनुष्यों का बढ़ना ठीक नहीं है। मनुष्यों की बहुत अधिक वृद्धि होने से सब लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार होगी? यों ही एक साधारण कुटुम्ब में जब बच्चे अधिक पैदा होने लगते हैं और कुटुम्ब बढ़ जाता है तब उन बच्चों की भोजन-व्यवस्था, रोगोपचार तथा शिक्षा आदि की चिन्ता के भार से उनके अभिभावक व कुटुम्बीजन पीड़ित होने लगते हैं। फिर वर्तमान काल में जब सारा संसार शैथिल्य-सागर में डूब रहा है, सन्तानोत्पत्ति की समस्या और भी कठिन हो जाती है। जानवरों की—गाय, भैंस और बकरियों की—संख्या-वृद्धि तो योंही नहीं होने पाती, क्योंकि न मालूम इनमें से कितने पशुओं का वध मनुष्य स्वयं अपने आहार-विहार के लिए करता है। पेड़-पौधों और जंगलों को काट-कूट डालना इस वैज्ञानिक युग में कोई बड़ी बात नहीं है। अब रही मनुष्यों की बात, सो वे भी अपनी संख्या-वृद्धि के नियंत्रण के लिए अनेक कृत्रिम उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं, क्योंकि वे प्रकृति को इस विषय में अपनी मनमानी नहीं करने देना चाहते। प्रकृति तो अभी तक येन केन प्रकारेण अपना कार्य कर ही रही है, तो भी संसार की जन-संख्या इतनी बढ़ गई है कि योरपीय सभ्य देशों के निवासियों को उसका नियमन करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

जिनेवा के राष्ट्रसंघ की रिपोर्टों में दिये गये अंकों के अनुसार संसार की जन-संख्या सन् १९१३ और १९२९ के बीच में ११ प्रतिशत बढ़ गई, और साथ ही साथ कच्चे और खाद्य पदार्थों की उपज ३० प्रतिशत अधिक हुई। इसी प्रकार योरप में कच्चे पदार्थों की पैदावार उपर्युक्त काल में २० प्रतिशत बढ़ गई, और आबादी ९ प्रतिशत। उत्तरी अमेरिका में उपज ३३ प्रतिशत और जन-संख्या २७ प्रतिशत बढ़ गई। जो चीज़ें मिलों और कारखानों में तैयार की गईं उनकी गणना इसमें नहीं की गई। वस्तुतः उन पदार्थों का निर्माण तो बहुत ही अधिक हुआ। अतएव कच्चे और तैयार किये हुए पदार्थों का उत्पादन जन-संख्या के अनुपात से इतना अधिक बढ़ गया है कि साधारणतया मनुष्यों को दरिद्रता का कष्ट न होना चाहिए। परन्तु संसार के अधिकांश लोग अब भी ग़रीब हैं; लाखों मनुष्यों को काम नहीं मिलता, और हज़ारों कारखाने बन्द पड़े हैं—यह एक बड़ी हास्यजनक स्थिति है। अर्थशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि इस

ग़रीबी का कारण चीज़ों की कमी नहीं है, बल्कि संपत्ति का अनुपयुक्त विभाजन है। फिर इसके अतिरिक्त चीज़ों की बहुलता से ही क्या होता है, जनता में उनके ख़रीदने की क्षमता होनी चाहिए। सो वह कहाँ है ?

ऐसी परिस्थिति में जन-संख्या की अत्यन्त वृद्धि कोढ़ में खाज के सदृश है। सन् १६२६ के आरम्भ में सारे संसार की जन-संख्या दो अरब (१,६६,३०,००,०००) के क़रीब थी। इस जन-समूह का चतुर्थांश योरप में रहता है, और इसके आधे से अधिक लोग एशिया में रहते हैं। भारत की आबादी ३४,८०,००,००० है। यह ग्रेट-ब्रिटेन की आबादी से अठगुनी है। चीन और भारत के बाद सोवियट रूस ही ऐसा देश है, जिसमें सबसे अधिक लोग रहते हैं। चीन और भारत बहुत घने बसे हुए देश हैं। भारत की जन-संख्या पहले से बहुत बढ़ गई है। एक तो दरिद्रता, दूसरे जन-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होना इस देश के दुर्भाग्य का ही सूचक है। अभी हाल में ही माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने मदरास में भाषण करते हुए भारतीय जन-संख्या की बाढ़ को रोकने का आदेश किया है। परन्तु इस आदेश के पालन करने में यह देश जो आधुनिक सभ्यता में बहुत पिछड़ा हुआ है, सफल हो सकेगा या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यहाँ तो सन्तानोत्पत्ति करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म समझा जाता है, और जब तक वह ऐसा नहीं करता तब तक पितृऋण से छुटकारा नहीं पा सकता। सन्तानोत्पत्ति का यह धार्मिक भाव छुआछूत की तरह परम्परा से चला आ रहा है। वस्तुतः हिन्दू इस समय बड़े चक्कर में पड़े हुए हैं। उधर नेता किन किन बातों का प्रचार करें ? एक-आध समस्या हो तो हल हो जाय, परन्तु जब सैकड़ों प्रश्न अपनी भीषण जटिलता के साथ इकट्ठा खड़े हो जाते हैं तब तो बुद्धि चकित हो जाती है। सम्प्रति हमारे प्रभावशाली नेता अछूतोद्धार पर अधिक ज़ोर डाल रहे हैं। देश के सामने आज-कल यह एक प्रधान लक्ष्य हो रहा है। इसके अतिरिक्त वर्तमान व भावी शासन-सम्बन्धी सुधार, बेकारी, हिन्दू-मुसलिम-समस्या, कृषि की दुरवस्था, मालगुज़ारी व लगान-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, सर्वसाधारण का स्वास्थ्य और सफ़ाई, निर्धनता, शिक्षा, और व्यापार आदि कितने ही अगणित विषयों में सुधार और परिवर्तन करने के लिए जनता को जाग्रत करने की आवश्यकता है।

अब इन सब के साथ सन्तान-निग्रह की शिक्षा भी देते जाइए। कोई हर्ज की बात नहीं। इस समय देश ख़ाली बैठा है। अनेक प्रकार के कार्यक्रम उपस्थित किये जा सकते हैं। कम से कम प्रचार-कार्य से तो न चूकना चाहिए। हाँ, एक बात ज़रा खटकती है। वह यह कि सन्तति-निरोध-सम्बन्धी पाश्चात्य ढङ्ग के कृत्रिम प्रयोग कितने लोग यहाँ कर सकते हैं और कर रहे हैं। इस विषय में योरपीय देशों के लोगों का ध्येय यह रहा है कि कृत्रिम उपायों के द्वारा विषय-वासनाओं की तृप्ति तो ख़ूब कीजिए, किन्तु बच्चे न पैदा कीजिए। इसके विपरीत भारतीय आदर्श यह रहा है कि विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए नहीं, बल्कि केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाहित मनुष्य को तत्सम्बन्धी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

सो यह इन्द्रिय-निग्रह का कार्य भी तो कठिन है। बहुत-से लोग इसे असम्भव ही समझते हैं। इसी लिए वे कृत्रिम रीति से बच्चों का जनन रोकना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जब फ़्रांस, जर्मनी, इटली आदि देश इस विषय में सफल हो चुके हैं तब कोई कारण नहीं है कि भारतवासी इसमें असफल हो जायँ। उन देशों में, पचास वर्ष पहले, जन-संख्या की वृद्धि जिस गति से होती थी, अब नहीं होती है। वास्तव में अब वहाँ जन-संख्या का ह्रास हो रहा है। जन-संख्या-सम्बन्धी एक प्रकार की क्रांति वहाँ हो रही है। जन-संख्या कम होने से मरण-संख्या भी कम हो जाती है। लोग पुष्ट और स्वस्थ रहते हैं। परिणामतः उनकी जीवनावधि भी बढ़ जाती है। कुटुम्ब में थोड़े से मनुष्य रहते हैं और वे सब आराम से रह सकते हैं। अनेक बच्चों के रोने-चिल्लाने की बाधा से मुक्त होकर वे लोग जीवन के आमोद-प्रमोद में स्वतन्त्रतापूर्वक काल-क्षेप कर सकते हैं। स्थानाभाव की शिकायत नहीं रहती है, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि ज्यों ज्यों किसी देश या कुटुम्ब की जन-संख्या बढ़ती है, त्यों त्यों उसे अधिक

स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता कुछ कम हो जाती है। युद्ध की सम्भावना भी कम रहती है। लोग नियमित संख्या में आराम से रहते हैं, अतः लड़ाई-झगड़े कम होते हैं। जीवन का आदर्श भी ऊँचा हो जाता है। बच्चे थोड़ी ही संख्या में पैदा हों तो अच्छा है, ताकि वे सुशिक्षित, स्वस्थ और सबल बनाये जा सकें। लूले, लँगड़े, काने, कुबड़े और अपाहिजों की संख्या बढ़ाने से मानवजाति का कल्याण नहीं हो सकता। सारांश यह कि नस्ल अच्छी होनी चाहिए। आधुनिक समाज-शास्त्रवेत्ताओं का यही ध्येय है। उनका कहना है कि संख्या पर नहीं, प्रत्युत गुणों पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

हम लोगों के लिए यह कोई नवीन आदर्श नहीं है। हम लोग यदि प्रयत्न करें तो विना कृत्रिम उपायों के संतान-निरोध कर सकते हैं। प्रत्येक बात में पाश्चात्य रीतियों का अनुकरण करना लज्जा की बात है। वास्तव में हम लोग संयमशीलता, ऋतुचर्य्या और ब्रह्मचर्य आदि नियमों का उल्लंघन करते हुए विलासिता की ओर अग्रसर हो रहे हैं और गार्हस्थ्य जीवन का दुरुपयोग करते हैं। फलतः एक बच्चा साल या दो साल का भी नहीं होने पाता कि दूसरे बच्चे के स्वागत की तैयारी होने लगती है। कुटुम्ब की अनावश्यक वृद्धि करना हम लोगों का आदर्श कभी नहीं था। शूकरों की तरह अनेक लड़के और लड़कियों को उत्पन्न करना मनुष्य को शोभा नहीं देता। हमारे यहाँ के हितोपदेश आदि संस्कृत की पुस्तकों में पहले ही कहा जा चुका है—

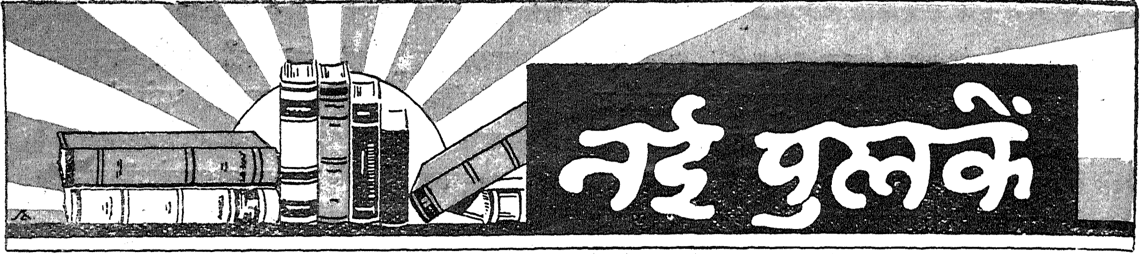
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम्॥
अजातमृतमूर्खाणां मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥
वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च॥

अतएव इन उपदेशों से लाभ उठाकर हमें अपने जीवन को स्वयमेव नियमित करना चाहिए। परन्तु योरपवाले जब किसी लोकोपयोगी काम को करने लग जाते हैं तभी हम लोगों की आँखें खुलती हैं!

कुछ भी हो, अन्धों की तरह हमें व्यवहार न करना चाहिए। यह युक्तिसंगत बात नहीं मालूम होती कि जो वस्तु दूसरों के लिए उनके देश, काल, परिस्थिति के अनुसार लाभदायक है वही हम लोगों के लिए भी होगी। हम लोग अपने हित-अनहित का स्वयं विचार कर सकते हैं। वही फ़्रांस आदि देश जिन्होंने कुछ ही समय पूर्व जन-संख्या की वृद्धि का नियंत्रण किया था अब उसे बढ़ाने का सतत उद्योग कर रहे हैं। उन देशों में सरकार की तरफ़ से विवाह और सन्तानोत्पादन के लिए अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिये जा रहे हैं और 'अविवाहित जीवन तथा सन्तान-निग्रह की प्रवृत्ति को रोकने की भरसक चेष्टा की जा रही है।' अविवेकता का इससे बढ़ कर उदाहरण क्या हो सकता है?

हमारे देश में, सौभाग्य या दुर्भाग्य से, समय समय पर प्लेग, हैज़ा, इन्फ़्लुएंज़ा आदि महामारियों के प्रकोप से यों ही आबादी कम हो जाया करती है। (क्योंकि गाँवों में अधिकतर खँडहर ही दिखाई पड़ते हैं), फिर हम लोग भी यदि इस विषय में सतर्क और सचेष्ट रहें तो और भी अच्छा हो! 'अधिकस्य अधिकम् फलम्'।





[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। इनका परिचय यथासमय प्रकाशित होगा]

१—**केशव की काव्य-कला**—लेखक, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, एम० ए०, प्रकाशक, साहित्य-ग्रन्थ-माला-कार्यालय, काशी है। पुस्तक सजिल्द है मूल्य १॥) है।

२—**वियोग**—लेखक, श्री लक्ष्मीनारायणसिंह, 'सुधांशु'। प्रकाशक, अध्यक्ष, युगान्तर-साहित्य-मन्दिर, अयोध्यागंज बाज़ार, पूर्णिया है। विषय दार्शनिक है। मूल्य १) है।

३—**वेदसार**—लेखक, आचार्य श्री विश्वबन्धु शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, और श्री भीमदेव शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, प्रकाशक, वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला हैं। पुस्तक सजिल्द का ॥।) और सादी जिल्द का मूल्य ॥=) है।

४—**नेह-निकुञ्ज**—लेखक, दीवान बहादुर कैप्टेन चन्द्रभानुसिंह "रज", प्रकाशक, प्रेमभवन, गरौली, है। इसका मूल्य 'कृपा' है।

५—**रामदूत**—लेखक और प्रकाशक, श्रीसंत-प्रसादसिंह "सन्त", अध्यापक, टाऊन स्कूल, आज़मगढ़, हैं। पुस्तक का मूल्य ।।) है।

६—**अश्रुकण**—लेखक, पं० पुरुषोत्तमदास गौड़ "कोमल", प्रकाशक, गौड़-पुस्तक-भंडार, कटरा, प्रयाग और मूल्य १) है। कहानियों का संग्रह है।

७—**श्री हर्षुल-धर्म विवेचन**—लेखक, कविराज पं० रामनारायण हर्षुल मिश्र, आयुर्वेदाचार्य। प्रकाशक, श्री हर्षुल-भारत-गौरव-कार्यालय, रायपुर, सी० पी० हैं। मूल्य ।=) है।

८—**श्री रामराग**—लेखक, श्री महाराज श्री स्वामी मित्रसेन जी महाराज राममित्र। प्रकाशक, श्री लाला द्वारिकानाथ जी, गुड्स क्लर्क, मुल्तान शहर हैं, इसका मूल्य 'प्रेम-सेवा' है। यह कविता में है।

९—**स्वर्ग की सीढ़ी**—लेखक, पं० पुरुषोत्तमदास गौड़, "कोमल," प्रकाशक गौड़-पुस्तक-भण्डार, कटरा, प्रयाग, हैं। मूल्य ।=) है। बालोपयोगी कविता-पुस्तक है।

१०—**अन्तर्नाद**—लेखक, श्री अनन्तप्रसाद विद्यार्थी, प्रकाशक, गौड़-पुस्तक-भण्डार, कटरा, प्रयाग, है। मूल्य ।) है। कविता-पुस्तक है।

११—**कौटिल्य के आर्थिक विचार**—लेखक, श्री जगनलाल गुप्त और श्री भगवानदास केला। प्रकाशक, व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन, मूल्य ॥=) है।

१२—**भीमप्रतिज्ञा**—लेखक, श्री कैलाशनाथ भट-नागर एम० ए०, प्रकाशक हिन्दीभवन, अनारकली, लाहौर, मूल्य ॥=) है। यह नाटक है।

१३—**त्रिदोष-मीमांसा**—लेखक स्वामी हरिशरणा-नन्द वैद्य, प्रकाशक, आयुर्वेदविज्ञान ग्रन्थमाला आफिस, अमृतसर और मूल्य १) है। पुस्तक वैद्यक-विषयक है।

---

१ **मज्झिम-निकाय**—कोई ४० वर्ष हुए। उस समय पहले-पहल मुझे बौद्ध-धर्म्म-विषयक दो पुस्तकें देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उनमें से एक तो थी ललित-विस्तर, दूसरी बुद्धचरित। पिछली पुस्तक महाकाव्य है और अश्वघोष की रचना है। उसने तो मुझे मोह

लिया। उसके सैकड़ों श्लोक मैंने कण्ठ कर लिये। उनमें से कुछ अब तक याद हैं, यथा, सोलहवें सर्ग के—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

सुगत-भगवान् के चलाये हुए धर्म्म के अनुसार निर्वृति या निर्वाण का यह कैसा सुन्दर लक्षण या वर्णन है। इसके अनन्तर बौद्धागम-विषयक अन्यान्य भी कुछ पुस्तकें जब मैंने पढ़ीं तब तो इस धर्म्म के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों पर मेरी बड़ी ही श्रद्धा हो गई। खेद है, जिस धर्म्म का उदय इसी पुण्यभूमि भारत में हुआ वहीं, अनेक कारणों से, उसका उच्छेद हो गया सही, पर उसमें इतनी उद्भट जीवनी-शक्ति है कि वह चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत और लङ्का में अब भी अपना अस्तित्व बनाये हुए है। सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि बुद्ध को भगवान् का अवतार मानकर भी हम लोग उनके चलाये हुए धर्म्म का बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं। हमारा हिन्दी-साहित्य तो अभी कुछ समय पहले तक इस धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों से बिलकुल ही कोरा था।

भला हो राहुल सांकृत्यायन जी का जिनकी बदौलत कुछ पुस्तकें अभी हाल में ऐसी निकली हैं जिनसे हम लोगों को इस धर्म्म के तत्त्वों से थोड़ी-बहुत परिचिति हो सकती है। ऊपर शीर्षक में, निर्दिष्ट पुस्तक उन्हीं की कृति है और पाली-भाषा से हिन्दी में रूपान्तरित हुई है। बड़े आकार में, बड़े सुन्दर टाइप में, छपी है। पृष्ठ-संख्या सात सौ के लगभग है। मूल्य ६) है। इस पुस्तक के पाठ से बुद्ध भगवान् के समय की सहस्रशः बातें मालूम हो सकती हैं। उनके व्यक्तित्व, उनके सिद्धान्त और उनके सदुपदेश से सम्बन्ध रखनेवाले जो वर्णन इसमें हैं वे अनमोल हैं। यह अनुवाद शाब्दिक है। अतएव कहीं कहीं कई बार पढ़ने पर ही भगवान् की उक्तियाँ समझ में आ सकती हैं। परन्तु यदि मूल ग्रन्थ का अनुवाद सब कहीं न भी समझ में आवे तो भी अनुवादक महोदय ने पुस्तकारम्भ में, अपनी दस सफ़े की भूमिका में बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का जो वर्णन किया है उन्हीं के पाठ से पाठक को इस धर्म्म के स्थूल तत्त्वों से यथेष्ट अवगति हो सकती है।

वार्धक्य के कारण क्षीणशक्ति होने पर भी मैंने यथाकथञ्चित् यह विज्ञापना लिखने का श्रम इसलिए उठाया क्योंकि—

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

२-५—श्री सियारामशरण जी गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव, की ४ पुस्तकें—

(१) मानुषी—११३ पृष्ठों में गुप्त जी की आठ कहानियों का यह संग्रह है। गुप्त जी अच्छे कवि हैं, उपन्यास और कहानियों के लिखने का भी उनको शौक है। कहानियाँ इस पुस्तक में प्रायः अच्छी हैं। किन्तु गुप्त जी से मेरा निवेदन यही है कि बहु व्याधि में वे न पड़ें। कविता देवी की ही उपासना कर लें, कहानियों को ही लिखें या कथानकों के लिखने की वे चेष्टा करें, चारों ओर हाथ-पैर पटकने से श्रेष्ठता से दूर रह जाने का भय है। गल्पों का लिखना सहज काम भी नहीं है, यूँ तो इस समय हिन्दी में कहानियों के लेखक बहुत पैदा हो गये हैं और जिसे देखिए वही कहानियाँ लिख रहा है। गुप्त जी की कहानियाँ अच्छी हैं, किन्तु गल्प का नाम कदाचित् इनको दिया नहीं जा सकता। एक निवेदन गुप्त जी से और है और वह है भाषा के सम्बन्ध में। गुप्त जी की भाषा सरल और सुन्दर है, किन्तु संस्कृतशब्द यत्र तत्र खटकते हैं। इधर कुछ लोग हिन्दी को संस्कृतप्रधान भाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। संस्कृतशब्दों की भाषा में मीनाकारी भाषा के लिए ज़हर साबित हो रही है और होगी। गुप्त जी अपने को इस प्रयत्न से दूर रक्खें तो अच्छा।

पृष्ठ ४ पर महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं—"प्रस्तर-प्रसूते……।" पृष्ठ ४२ पर "जमादार ने उसे ख़ूब अच्छी तरह **आयत्त** कर लिया था……" में क्या आयत्त के बिना काम नहीं चल सकता था? आगे चल कर "उसके ऐसे अप्रत्याशित भाषण से……" अप्रत्याशित शब्द निकाल दिया जाय तो क्या हानि होगी? भाषा का कोई न कोई शब्द मिल ही सकता है। इसका मूल्य १) है।

(२) पुण्यपर्व—गुप्त जी कवि हैं, गल्पलेखक हैं, उपन्यासकार हैं और नाटक भी लिखते हैं। यही उनकी विशेषता है और यही उनका दोष भी। पुण्य-पर्व मेरी समझ में एक सुन्दर गाथा है, नाटक की विशेषतायें इसमें दिखाई नहीं देतीं। कथा अच्छी है और उपदेशप्रद भी। मूल्य ।।।) है।

(३) आत्मोत्सर्ग—इसमें स्वर्गवासी गणेशशङ्कर विद्यार्थी के निधन की गाथा मार्मिक कविता में अङ्कित की गई है। जीवन-मय काव्य है और हिन्दी-भाषा-भाषियों को इसे पढ़ना चाहिए। गुप्त जी इस सुन्दर रचना के लिए बधाई के पात्र हैं। मूल्य ।।=) है।

(४) गोद—यह अच्छा छोटा-सा कथानक है, कथा अच्छी है और कहने का ढंग भी। पढ़नेवाले का हृदय आगे पढ़ते रहने को उत्सुक बना रहता है। साहित्य-क्षेत्र के इस अपरिचित और अज्ञात पथ पर सफलतापूर्वक चलने के लिए गुप्त जी बधाई के पात्र हैं। अगर गुप्त जी इसी तरह उन्नति करते रहे तो वे एक दिन अच्छे उपन्यासकार भी हो जायँगे।

—कृष्णकान्त मालवीय

६—**'कुमार'** का गत जनवरी का नव-वर्षाङ्क देख तथा पढ़कर मुझे परम सन्तोष हुआ। इसके छापा, काग़ज़ तथा चित्र अपूर्व हैं—केवल बालकों का नहीं, प्राप्तवयस्क लोगों को भी यह चित्ताकर्षक है। परन्तु मेरा एक विनीत निवेदन है कि पीले रंग के अक्षरों का उपयोग न किया जाय—इससे नेत्रों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

बड़े लड़कों तथा लड़कियों के लिए इसमें ८ कवितायें और १२ गद्य लेख हैं, और बच्चों के लिए ३ कविताएँ और ३ गद्य लेख। इनके अतिरिक्त एक लेख सूची-शिल्प पर है जो बड़ी लड़कियों के काम का है; एक लेख सङ्गीत पर है, जिसके साथ स्वर-लिपि भी दी गई है; एक लेख में गृहस्थ-जीवन की उपयोगी कुछ बातें बताई गई हैं; ४ लेख हास्य-कौतुक तथा बाल-विनोद पर हैं और अन्त का लेख सम्पादकीय है।

प्रसाद जी की 'भारतवर्ष'-शीर्षक कविता उच्च कोटि की है—गुरु-गम्भीर, भावपूर्ण तथा मनोज्ञ, पर कदाचित् अल्प-वयस्कों के लिए किसी क़दर कठिन है। गुप्त जी का 'राहुल-यशोधरा', पन्त जी की 'साध', मोहनलाल जी द्विवेदी का 'जागरण' तथा सीमाकुमारी माता की 'परियाँ' सुन्दर और बालोपयोगी हैं।

गद्य लेखों में व्रजेशसिंह जी का स्विट्ज़रलैंड का संक्षिप्त परिचय, नरेन्द्रसिंह जी का मधुमक्षिकाओं का शहद बनाने का रहस्य, शङ्करराव जी जोशी का तरु-जीवन का वर्णन और वकुल जी का अनुवीक्षण का संक्षिप्त विवरण—ये सरल तथा प्राञ्जल भाषा में लिखे गये हैं और बहुत शिक्षाप्रद हैं। नागर जी की 'टाकी' से मुझे यथेष्ट सन्तोष न हुआ। लड़कों के सीमाबद्ध ज्ञान तथा बुद्धि को ध्यान में रख के इसे और भी अधिक समझा के लिखने से अच्छा होता।

कहानियों में 'खिलौना' सरस है और 'अन्त्येष्टि-क्रिया' हास्य-रस-सिक्त है। 'सिनेमा की रानी' लिखी तो अच्छी गई है, किन्तु मैं पूछता हूँ कि ऐसे विषय क्या बालोपयोगी हैं? खेल-कौतुक के लेखों से बच्चों को आनन्द मिलेगा।

—नलिनीमोहन सान्याल



बिहार पर विपत्तियों के बादल



हार से विपत्तियों के बादल अभी नहीं हटे हैं। लोगों की मुसीबतों का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसका कुछ अनुमान पाठक 'अभ्युदय' के निम्न लेख के इस अंश से कर सकते हैं—

भूकंप-पीड़ित स्थानों की विपत्तियों के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत कठिन हो रहा है! किस मुँह से कुछ कहा जाय, किस क़लम से कुछ लिखा जाय! सारा विहार ही अन्न-कष्ट से छटपटा रहा है। अकाल भयंकर स्वरूप धारण करके लोगों के सामने खड़ा है। विहार सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी के प्रकाशन-मंत्री का वक्तव्य है कि पीड़ित गाँवों के निवासी अन्न के लिए छटपटा रहे हैं। दिन भर धूप में अपने शरीर का ख़ून सुखाने के बाद भी उनके पेट में अन्न नहीं पहुँचता। एक किसान तो भूख की ज्वाला से छटपटा कर मर गया। अभी मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले के आनौर-केंद्र से यह समाचार आया है कि वहाँ के बरदद नाम के एक गाँव में १० साल की एक लड़की अन्न न मिलने के कारण काल के गाल में चली गई। सुहागपुर में भी इसी तरह चार मौतें हुई हैं। इसी तरह की ख़बरें दरभंगा, मधुबनी और मुज़फ़्फ़रपुर के अन्य गाँवों से भी आ रही हैं। यह तो बिलकुल सच है कि सहायक-समितियों की सहायतायें अभी तक झोपड़ियों में रहनेवाले ग़रीब किसानों तक नहीं पहुची हैं; इसी लिए गाँवों में रहनेवाले दुखी किसानों की विपत्तियों के सम्बन्ध में कभी कभी बड़ी हृदय-विदारक ख़बरें आ जाती हैं। वे भूखे हैं, घरविहीन हैं, पर यहीं तक उनकी विपत्तियों का ख़ातमा नहीं! सुनने में तो आया है कि गाँवों में प्लेग, चेचक और निमोनिया का बड़े ज़ोरों में दौरा हो रहा है। इन भयंकर बीमारियों के प्रकोप के कारण गाँव के रहनेवाले मनुष्यों की विपत्तियाँ कुछ और अधिक विकट हो गई हैं। चंपारन-ज़िले के एक किसान ने अपनी विपत्तियों की जिन शब्दों में चर्चा की है उसे पढ़ कर हृदय काँप उठता है। उसने लिखा है—न खाने के लिए अन्न है और न पहनने के लिए कपड़ा। इस पर भी जब बच्चों को ज्वर से छटपटाता हुआ देखता हूँ तब लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि भगवान्, क्यों न मेरा परिवार भी मकान की दीवारों के नीचे दब कर ख़तम हो गया! विहार के गाँवों में न जाने इस तरह की कितनी आत्मायें अन्न के अभाव से तड़फ रही हैं!

राजेंद्र बाबू ने अभी भोजनी प्रांत के सुगौली थाना के गाँवों का ज़िक्र करते हुए कहा है—'इस हिस्से में ज़मीन का अधिक बर्बादी हुई है। खेतों के ऊपर चार चार, पाँच पाँच फ़ुट मोटा बालू का पर्त जमा हुआ है। नहर, झीलों और तालाबों में भी बालू भर गई है। कच्चे-पक्के सभी मकान गिर गये हैं या गिरने लायक़ हो गये हैं। केवल घासफूस की झोपड़ियाँ बच गई हैं। बेतिया-राज्य तथा सेंट्रल-रिलीफ़-कमेटी गाँव के आदमियों से काम करवा के उन्हें खाना दे रही है। मज़दूरों को उनके काम के बदले दो सेर धान या तीन पैसे दिये जाते हैं। मैंने मज़दूरी कम समझ कर दो सेर की जगह पर तीन सेर करवा दिया।' अब इसी से गाँव

के रहनेवाले मनुष्यों की विपत्तियों का पता लगा लेना चाहिए। जिस घर में सात-आठ प्राणी होंगे उसका इस तीन सेर अनाज से कैसे गुज़ारा हो सकता है? कैसे उस घर में पलनेवाले बच्चों को भरपेट भोजन मिल पाता होगा! देश के धनी और ग़रीब मनुष्यों का भी कर्त्तव्य है कि वे यथाशक्ति बिहार की सहायता करके भूख की ज्वाला में तड़फनेवाले इन बच्चों को मरने से बचायें।

गुरुकुल-शिक्षा की सफलता

गुरुकुल, काँगड़ी के रजिस्ट्रार प्रोफ़ेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार ने गत २३ मार्च के अर्जुन में उपर्युक्त शीर्षक में एक लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें उन्होंने गुरुकुल का संक्षिप्त सिंहावलोकन किया है। गत ३३ वर्षों में गुरुकुल का विस्तार कितना हो गया है इसका ज़िक्र उन्होंने अपने लेख में इस प्रकार किया है—

जब से गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना हुई है तब से यह संस्था लगातार फलती-फूलती गई है। जगह-जगह इसकी शाखायें खुली हैं। इस समय गुरुकुल काँगड़ी से सम्बन्ध रखनेवाली ११-१२ शाखायें हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में काम कर रही हैं। इन्द्रप्रस्थ, मुलतान, राजकोट, कुरुक्षेत्र, झज्झर, कमालिया, मटिण्डू, सूपा, भटिण्डा, भैंसवाल, चित्तौड़, बेटसोनी, सोनगढ़ में गुरुकुल की शाखायें खुल चुकी हैं, जहाँ अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार शिक्षा दी जा रही है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का विस्तार तो प्रायः प्रत्येक प्रान्त में हो गया है। यू० पी० में गुरुकुल, वृन्दावन एक प्रसिद्ध संस्था है, जिसमें गुरुकुल काँगड़ी की तरह उच्च से उच्च शिक्षा दी जाती है। बम्बई में भी देवलाली स्थान पर एक गुरुकुल खुला हुआ है। इस समय बम्बई के प्रसिद्ध सेठ शूरजी वल्लभदास अपनी संरक्षता में बम्बई-प्रान्त में एक और गुरुकुल खोलने का आयोजन कर रहे हैं, जिसमें रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा आदि किसी बात के लिए भी शुल्क नहीं लिया जायगा। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि दिनों दिन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का ताना फैलता ही जा रहा है। उसमें कमी नहीं आ रही है। गुरुकुलों में विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। सं० १९८६ में गुरुकुल काँगड़ी तथा इन्द्रप्रस्थ में ४२३ ब्रह्मचारी थे। १९८७ में ४०२ थे, १९८८ में ४०६ थे। १९८९ में ४१६ और १९९० में ४४० थे। कुल शाखाओं को मिलाकर इस समय एक हज़ार से ऊपर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। १९८६ में ४५ नवीन ब्रह्मचारी गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट हुए थे। १९८७ में ६४ ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुए। पिछले साल ५७ ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुए। ये संख्यायें भी सिद्ध करती हैं कि गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले नवीन विद्यार्थियों की संख्या में कोई कमी नहीं है। कभी कभी पिछले सालों से अधिक संख्या में ही नवीन ब्रह्मचारी प्रविष्ट होते हैं, जो जनता के गुरुकुल के प्रति बढ़ते प्रेम का ही परिचायक है। इस समय तक २३२ स्नातक गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं और बड़ी सफलता से समाज तथा देश की सेवा कर रहे हैं।

भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को स्वर्गवासी हुए ५० वर्ष हो आये हैं। हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक बाबू शिवपूजनसहाय ने 'आज' में इस सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित करवाया है, जिसमें उन्होंने इस बात की आवश्यकता बताई है कि इस अवसर पर हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों को भारतेन्दु अर्द्धशताब्दी मनानी चाहिए। बाबू शिवपूजनसहाय जी का यह प्रस्ताव उपयोगी है और इसके कार्यरूप में परिणत होने से हिन्दी का हित ही होगा। लेख का आवश्यक अंश यह है—

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र सन् १८८५ ई० की छठी जनवरी को गोलोकवासी हुए थे। अतएव सन् १९३५ ई० की छठी जनवरी को उनकी पचासवीं निधन-तिथि पड़ेगी। इस प्रकार भारतेन्दु-

अर्द्धशताब्दी-महोत्सव के लिए अब कुल नव महीने का समय है। किन्तु हिन्दी-संसार में अभी तक इस बात की कहीं कोई चर्चा नहीं हो रही है। यह बड़े खेद और आश्चर्य का विषय है।

अभी तक समय हाथ से निकला नहीं है। भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी का महोत्सव काशी में ही मनाया जाना चाहिए। अन्य स्थानों में भी छोटे बड़े उत्सव हो सकते हैं, पर अखिल भारतीय समारोह काशी में ही होना उचित है। यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समस्त हिन्दी-संसार के हैं, पर काशी की उन पर विशेष ममता है। अपने शुभ जन्म और अतुलनीय साहित्य-सेवा से उन्होंने काशी का ही गौरव बढ़ाया है। उन पर काशी को बड़ा गर्व भी है। किन्तु काशी-निवासी अभी तक एक-दम चुप हैं।

गत वर्ष अजमेर में आर्यसमाजी भाइयों ने बड़े उत्साह से श्रीमद्दयानन्द अर्द्धशताब्दी मनाई थी। उसी प्रकार कलकत्ते में बङ्गाली भाइयों ने राममोहन-शताब्दी मनाई। अजमेर और कलकत्ते में जो कुछ हुआ उसका कार्यक्रम अभी ताज़ा है। योजना तैयार करने में उससे सहायता ली जा सकती है। यदि कोई व्यवस्थापक मण्डल बन जाय अथवा कोई कार्यकारिणी समिति ही क़ायम हो जाय तो योजनायें बहुत-सी बन जायँगी और उन्हें सफल बनाने के अनेक मार्ग भी निकल आवेंगे।

बहुत दिनों से सुनने में आ रहा है कि भारतेन्दु जी के दौहित्र और हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्री व्रजरत्न-दास बी० ए०, एल-एल० बी० ने भारतेन्दु जी की एक सर्वाङ्गपूर्ण प्रामाणिक जीवनी लिखी है, जो महीनों या वर्षों से प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडेमी के दफ़्तर में अप्रकाशित पड़ी है। वह कब तक प्रकाशित होगी, इसका कुछ पता नहीं। यदि वह इन नौ महीनों के अन्दर प्रकाशित हो गई तो अर्द्धशताब्दी-महोत्सव के अवसर पर निस्सन्देह एक अच्छी चीज़ होगी। हिन्दुस्तानी एकाडेमी को इधर ध्यान देना चाहिए। पटने के खड्गविलास प्रेस से जो भारतेन्दु-जीवनी निकली है, उसके लेखक स्वर्गीय श्री शिवनन्दनसहाय ने बरसों परिश्रम और छान-बीन करके उसका परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण तैयार किया था, किन्तु वह प्रकाशित हुआ या नहीं, यह मैं नहीं जानता। उसका प्रकाशन भी अर्धशताब्दी के समय तक अवश्य हो जाना चाहिए। यदि अर्द्धशताब्दी-समिति बनेगी तो उसे इन दोनों प्रकाशकों से अनुरोध करना पड़ेगा कि वे उत्सव पर जीवनी निकाल देने का यत्न करें।

सुना है कि भारतेन्दु जी की सारी रचनाओं को सुसम्पादित ग्रन्थावली के रूप में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा प्रकाशित करनेवाली है।

बङ्गाली भाइयों का उत्साह और साहित्यानुराग देखिए कि राजा राममोहन राय की सम्पूर्ण ग्रन्थावली प्रकाशित करने के लिए वे कितना बड़ा आयोजन कर रहे हैं। कलकत्ते की बङ्गीय साहित्यपरिषद् ने उसके प्रकाशन के लिए कम से कम तीन साल का समय निश्चित किया है। स्वनामधन्य सम्पादकाचाय श्री रामानन्द चटर्जी उसके प्रधान सम्पादक बनाये गये हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी आदि यशस्वी विद्वान उसके सहकारी सम्पादक हैं। राजा राममोहन राय ने संस्कृत, हिन्दी, बँगला, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं में जितनी चीज़ें लिखी हैं सबकी खोज हो रही है और लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम तक में अनुसंधान कराया जा रहा है। राजा साहब की एक एक चिट्ठी-पत्री तक का संग्रह किया जा रहा है। बड़े दिन की छुट्टियों में राम-मोहन-शताब्दी के अवसर पर 'अमृतबाज़ारपत्रिका' में इसका पूरा विवरण प्रकाशित हुआ था। उससे भी लाभ उठाया जा सकता है। क्या हम हिन्दी-भाषी अपने बङ्गाली भाइयों से इस विषय में कुछ शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते? अपने साहित्य-विधाताओं का सम्मान करना हमारा प्रधान कर्तव्य है।

राजनैतिक शिथिलता

देश की वर्तमान राजनैतिक शिथिलता का क्या कारण है, इसका क्या कुपरिणाम हो सकता है और यह कैसे दूर हो सकती है, आदि प्रश्नों पर सहयोगी

'भारत' ने अपने हाल के एक अग्र लेख में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उस लेख का एक विचार-पूर्ण अंश यह है—

वास्तविक बात यह है कि इस समय कांग्रेस में भी एक दल नहीं है, उसमें भी कई दल हो गये हैं। एक दल कहता है कि अब सत्याग्रह-आन्दोलन विफल हो चुका, अतः अब केवल लकीर पीटने से क्या फ़ायदा? अब तो यही ठीक होगा कि स्वर्गीय दास और नेहरू की स्वराज्यपार्टी के ढंग पर नई स्वराज्यपार्टी बनाकर कौंसिलों पर अधिकार कर लिया जाय और सरकार के गढ़ के बाहर ही नहीं, बल्कि भीतर भी उससे टक्कर ली जाय। दूसरा दल चाहता है कि सत्याग्रह को छोड़कर कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम की ओर शक्तियाँ लगाई जायँ, परन्तु कौंसिलों में प्रवेश न किया जाय। तीसरा दल ऐसा भी है जो कांग्रेस के कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। ये तीन तो मुख्य मुख्य दल हैं, इनके सिवा और भी गौण दल हों तो आश्चर्य नहीं। प्रत्येक दल अन्य कांग्रेसी दलों से अपना मत मनवा लेना चाहता है, परन्तु किसी का प्रभाव इतना नहीं कि दूसरे उसकी बात मान लें। महात्मा गांधी का ही व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली है कि वे कांग्रेस जैसी महान् संस्था को अपने मार्ग पर चला सकते हैं, परन्तु वे जुलाई तक राजनैतिक कार्यों में भाग न लेने के लिए वचन-बद्ध हैं। कांग्रेस के भिन्न भिन्न दल अपने अपने मत को मनवाने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयत्न तो करते ही रहेंगे, परन्तु मालूम तो यही होता है कि जब तक गांधी जी फिर से नेतृत्व ग्रहण न करेंगे तब तक कांग्रेसी दलों में ऐक्य स्थापित होना कठिन ही है।

कुछ समय से राजनैतिक क्षेत्र में बड़ी शिथिलता आ गई है। कांग्रेस में मतभेद है और नेतृत्व का अभाव है; लिबरलों के साथ लोकमत के समर्थन का अभाव है। हिन्दू-महासभा, मुसलिम लीग आदि को साम्प्रदायिक बातों से राष्ट्रीय कार्य के लिए फ़ुर्सत नहीं है। इस शिथिलता और मतैक्यता का हमारी राजनैतिक उन्नति के विरोधी पूरा पूरा लाभ उठा रहे हैं। अगर यही अवस्था रही तो परम असन्तोषजनक ह्वाइट-पेपर से भी अधिक असन्तोषजनक शासन-विधान भारत के सिर मढ़ दिया जायगा। हमें आशा करनी चाहिए कि देश के नेता इस आपत्ति की सम्भावना से बेफ़िक्र नहीं हैं और वे इस बात का उपाय करेंगे कि भारत के भिन्न भिन्न राजनैतिक दलों के लोग मिल कर स्वराज्य के विरोधियों से टक्कर ले सकें।

संस्कृत की उन्नति कैसे हो सकती है?

काशी में पाँच हज़ार से अधिक संस्कृत के विद्यार्थी अध्ययन करते हैं, पर इनका न कोई संगठन है और न पारस्परिक सम्मिलन की कोई व्यवस्था। संस्कृत के विद्यार्थियों का अन्यत्र भी यही हाल है। कुछ तो इसलिए और कुछ परीक्षा-पद्धति के सदोष होने के कारण संस्कृत की उन्नति रुकी हुई है। इसकी उन्नति तभी हो सकती है जब इसके अध्ययन की व्यवस्था देश-काल के उपयुक्त बनाई जाय। 'आज' में एक लेख लिखकर एक काशीस्थ संस्कृत-सेवी ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। लेख का एक विचार-पूर्ण अंश यह है—

काशी में जितनी भी पाठशालायें हैं वे सभी एक प्रकार की राजकीय संस्कृत-परीक्षा की मशीन हैं। जो पाठ्य पुस्तकें निर्धारित कर दी जाती हैं उन्हीं को पाठशालायें आँख मूँदकर कोल्हू के बैल की तरह साल भर चलाया करती हैं। अन्त में गज़ट में परीक्षाफल देख कर सन्तुष्ट हो जाया करती हैं। पाठ्य पुस्तकों का निर्वाचन ऐसी संस्था-द्वारा होता है जिसमें संस्कृत-समाज की सब प्रकार की अवस्थाओं से परिचित व्यक्ति सदस्य नहीं हैं। सदस्य कुछ ऐसे चुने हुए व्यक्ति होते हैं जो संस्कृत-समाज की वर्तमान अवस्था से बिलकुल अपरिचित होते हैं। परीक्षाओं में ऐसे ग्रन्थों का निर्वाचन होता है जिनके अध्ययन से संस्कृत की प्रौढ़ विद्वत्ता होना असंभव है। प्रथमा से लेकर आचार्य तक की परीक्षा ली जाती है, पर निम्न कक्षा की किसी भी परीक्षा में साधारण विषय

के ज्ञान के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। काशी-संस्कृत-साहित्य-समाज के दो-तीन वर्ष तक हल्ला मचाने पर कुछ सुधार हुआ है सो भी नाम-मात्र का।

आमूलतः परीक्षा-प्रणाली में सुधार हुए विना संस्कृत-साहित्य का कल्याण दुस्तर है। गीता-मनुस्मृति-वाल्मीकीय रामायण जैसे धर्म-ग्रंथों का किसी विषयान्तर की परीक्षा में पता नहीं है। संस्कृत-परीक्षा पास बहुत से विद्यार्थियों ने गीता, मनुस्मृति और वाल्मीकीय रामायण की पुस्तक का आज तक स्पर्श भी न किया होगा, उनको पढ़ना समझना तो दूर रहा। यही दशा अन्य स्थानों के सभी संस्कृत-विश्वविद्यालयों की भी है। नाम-मात्र के लिए कहीं कुछ परिवर्तन भले ही हो। शिक्षा प्रभृति की व्यवस्था है ही नहीं।

संस्कृत-पाठशालाओं के अध्यक्षों तथा संस्कृताध्यापिवर्गों से मैं थोड़े में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब तक राजकीय परीक्षा-पद्धति का परिष्कार बिलकुल नहीं हो जाता तब तक आप लोग आँख मूँदकर उस पद्धति का ही अनुकरण न करें। यदि आपको सर्वथा उस परीक्षा का पिण्ड नहीं छोड़ना है, तो अपने विद्यार्थियों को उस परीक्षा-यन्त्र के पुर्ज़े न बनाइए। अपनी पाठशालाओं की एक अतिरिक्त पाठपद्धति बनाइए, जिसमें धार्मिक ग्रन्थों का तथा हिन्दी, इतिहास, भूगोल प्रभृति आवश्यक विषयों का भी सन्निवेश रहे। उसी में राजकीय संस्कृत-परीक्षा के पाठ्य ग्रन्थ भी शामिल रहें। विद्यार्थीगण भी इन विषयों की ओर अधिक रुचि प्रकट कर स्वतन्त्र रूप से धर्म-ग्रन्थों एवं हिन्दी-पुस्तकों के अध्ययन-द्वारा अपने ज्ञान को अधिक दृढ़ एवं परिमार्जित करें। प्रत्येक पाठशाला में अवकाश के दिनों में वाद-विवाद-रूप से धार्मिक और सामाजिक विषयों पर विचार किया करें एवं हिन्दी में प्रकाशित सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक समाचार-पत्रों तथा सनानन-धर्म की पुस्तकों का अध्ययन किया करें।

साहित्य की पूजा और पूजा का साहित्य

उपर्युक्त शीर्षक में 'कर्मवीर' में वर्धा-सत्याग्रह-आश्रम के आचार्य्य साधुवर श्री विनोबा जी का एक महत्त्व-पूर्ण भाषण प्रकाशित हुआ है जो उन्होंने वहाँ के लक्ष्मीनारायण मंदिर में एक पुस्तकालय के उद्घाटन के अवसर पर सभापति के आसन से किया था। विचारों का प्रसार किस प्रकार होता है या होना चाहिए, इस प्रश्न का उक्त भाषण में बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। भाषण का एक महत्त्व-पूर्ण अंश इस प्रकार है।

बुद्धिमान् लोगों ने दो बुद्धिमानी के विचारों को जन्म दिया; परन्तु इन दो बुद्धिमानी के विचारों में से लोगों ने दो पागलपन की कल्पनायें उत्पन्न कीं। बुद्धिमान् लोगों ने जो दो प्रकार के विचार निर्माण किये उनमें पहला यह है कि यदि विचार में सच्ची शक्ति है तो उसका प्रचार अपने आप हो जायगा। केवल मैं उस विचार को अमल में ला सकूँ कि हो गया। जिस विचार में मैं निमग्न हूँ, जिस विचार के लिए मेरा जीवन है, जिस विचार का मैंने अनुभव किया है, उस विचार को अलग, ज़बरदस्ती से, प्रचार करने की आवश्यकता नहीं। सूर्य के प्रकाश को प्रकट करने के लिए दूसरे बाह्य साधनों की—किसी एजेन्सी की—आवश्यकता नहीं है। सूर्य के स्वरूप को प्रकट करने के लिए उसकी किरण काफ़ी हैं। उसी तरह मेरा अनुभव, मेरा आचार मेरे विचारों का प्रचार करने में समर्थ है। अपना विचार ज़बरदस्ती से दूसरों पर लादने में हानि है; क्योंकि जो विचार मेरे चिन्तन से, मनन से, मेरी अनुभव-प्रणाली में से निर्मित हुए हैं, वे जिस मनोभूमिका पर मैं था, वहाँ निर्माण हुए हैं, मेरी विशेष मनोवृत्ति, परिस्थिति और जीवन-दशा में निर्माण हुए हैं, उन विचारों को अन्य मनोभूमिका के व्यक्तियों पर लादना, अन्य परिस्थितियों के व्यक्तियों से कहना तो ज़बरदस्ती ही कहा जायगा। जो भूमि गेहूँ उत्पन्न करने के योग्य नहीं, उसमें गेहूँ बोना पागलपन है। वहाँ गेहूँ तो उत्पन्न होगा नहीं, हाँ, बोया

हुआ व्यर्थ ज़रूर जायगा। यह हुआ बुद्धिमानी का पहला प्रकार।

दूसरा जो विचार है उसके लिए पश्चिमी लोगों को आदर देना चाहिए। यह बात तो नहीं कि इस विचार का शोध ही उन्होंने लगाया हो; किन्तु हाँ, यह प्रवृत्ति उनमें अधिक है याने—मुझमें जो विचार हैं, जिस विचार का स्फुरण मुझमें हुआ, यह केवल मेरे ही परिश्रम का परिणाम नहीं है। मेरे द्वारा यह विचार विश्व को मिले, यह विश्वात्मा की इच्छा है। मैं तो एक निमित्त हूँ, साधन हूँ। उस विचार की जो सुन्दर देन मुझे मिली है वह केवल मेरे लिए ही नहीं मिली, समस्त दुनिया में बाँट देने के लिए वह विचार ईश्वर की ओर से मुझे प्राप्त हुआ है। ईश्वर ही उस विचार का प्रचारक है।

यही हैं बुद्धिमानी के दो प्रकार।

बिहार में कांग्रेस और सरकार का सहयोग

दुखी बिहार की सहायता के लिए यह आवश्यक है कि कांग्रेस और सरकार एक-दूसरे के साथ पूर्णरूप से मिलकर कार्य्य करें, क्योंकि दोनों का उद्देश है पीड़ितों की सहायता करना और उजड़ी बस्तियों का फिर से बसाना। ऐसे अवसर पर असहयोग का प्रश्न उठाना सहायता के कार्य्य में अड़चन उपस्थित करना है। यह हर्ष की बात है कि महात्मा गांधी ने बिहार पहुँचने पर सबसे पहले इसी बात पर ज़ोर दिया है। कट्टर असहयोगी होते हुए भी उन्होंने बिहार सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी में सरकार के साथ सहयोग करने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए जो भाषण किया है वह उनके सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। उन्होंने कहा है—

एक कट्टर असहयोगी के नाते इस प्रस्ताव के साथ अपने को शामिल करने में मुझे कोई भी हिचक नहीं होती। मैं कमेटी को बताना चाहता हूँ कि इस प्रस्ताव को वस्तुतः मैंने ही तैयार किया है। टिनेवली में जब इस महान् विपत्ति का समाचार मुझे मिला था उस समय मैंने कहा था कि यह ऐसा मौक़ा है जब कि कांग्रेस ...... समेत ...... जनता को सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए और सरकार को जनता के साथ सहयोग करना चाहिए।

अब लोगों को अपने आपको कांग्रेसमैन, ग़ैर कांग्रेसी, हिन्दू, मुसलमान व किसी दल का न समझना चाहिए पर सरकार और अन्य सब दलों को एक साथ मिलकर दुःखी बिहार के दुख को दूर करना चाहिए। यह एक ऐसा कार्य है कि अगर सरकार और उदार जनता जितना भी इस कार्य के लिए धन देंगे उससे पूरी तरह से उनका दुःख दूर नहीं किया जा सकेगा। उन लोगों का दुख जब दूर होगा तब उन्हें मालूम होगा कि सब लोग उनके साथ हैं और मनुष्य से जहाँ तक सम्भव है, उसकी सहायता कर रहे हैं।

कमेटी के लिए यह समझ लेना बहुत आसान है कि यदि सरकार इसके साथ सहयोग न करे तो इसका कार्य उतना उपयोगी सिद्ध न होगा जितना होना चाहिए। इसी तरह यदि जनता का सहयोग सरकार को न मिले तो, चाहे वह कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, दुखी जनता को दुख से नहीं छुड़ा सकती। इसलिए मेरी राय में उदारता-पूर्वक जनता के दिये धन को सहायता-कार्य में ठीक तरह उपयोग के लिए दोनों का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है।

इसलिए मैं कमेटी के मेंबरों से अपील करता हूँ कि वे यह भूल जायँ कि वे कांग्रेसमैन हैं या ग़ैर कांग्रेसी हैं, परन्तु केवल वे अपने मन को पीड़ित बिहार को अधिक से अधिक मदद पहुँचाने के लिए जितनी वे पहुँचा सकते हैं, तैयार करें। इस सहयोग का यह अर्थ नहीं है कि कमेटी ने सरकारी रिलीफ़ की नीति और योजना व कार्य की सम्मान-पूर्ण रीति से आलोचना करने का हक़ छोड़ दिया है। पर इसकी मंशा है कि एक ध्येय की सिद्धि के लिए कमेटी सरकार के साथ पूरी तरह हामी व सहयोग करेगी। मेंबरों से मेरी प्रार्थना है कि वे प्रस्ताव पर बहस न करें। यदि इसमें विश्वास करते हैं तो वे इसका समर्थन करें।

२३वाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

श्रीनाथसिंह

[१]



डित लक्ष्मीधर वाजपेयी पहले साहित्यिक थे जिन्हें इन पंक्तियों के लेखक ने प्रयाग-स्टेशन पर दिल्ली जानेवाली गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुए देखा। वाजपेयी जी की धर्मपत्नी घर में बीमार और अकेली पड़ी थीं, फिर भी वे दिल्ली के साहित्य-सम्मेलन में भाग लेने जा रहे थे। ऐसी अवस्था में वे सम्मेलन में क्यों जा रहे हैं, इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है—"मैं सम्मेलन का चौकीदार हूँ। चौकीदार का काम है ख़तरे के समय चिल्लाना और लोगों को सावधान करना। सम्मेलन इस समय ख़तरे में है, इसलिए मेरा वहाँ पहुँचना ज़रूरी है। सम्मेलन का प्रधान मंत्री एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सब दलों में मिलकर काम कर सके। ऐसा व्यक्ति पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। इसलिए मैं शुक्ल जी को सम्मेलन का प्रधान मंत्री बनवाने जा रहा हूँ।"

जब गाड़ी स्टेशन पर आई तब हमने देखा कि बिहार के कवि और नाटककार श्रीयुत ललितकुमारसिंह 'नटवर' प्लेटफ़ार्म पर बिखरी भीड़ में इलाहाबाद के साहित्यिकों की खोज कर रहे हैं। हमने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और उसी डिब्बे में सवार हो गये। नटवर जी उदास थे, उनके चेहरे पर भूकम्प-पीड़ित बिहारियों का दुःख अङ्कित था। हमें यह जानने की इच्छा न रही कि इस गाड़ी पर बनारस से कौन आ रहा है और इलाहाबाद में कौन सवार हो रहा है। हम बिहार की कष्ट-कथा सुनने में तन्मय हो गये। मुज़फ़्फ़रपुर, मुँगेर और मोतीहारी का हाहाकार हमारे कानों में गूँज उठा और रेल की गड़गड़ाहट न जाने कहाँ ग़ायब हो गई।

ठसाठस भरे रेलगाड़ी के उस तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठे बैठे जब नटवर जी के साथ हम भूकम्प-पीड़ित बिहार की सैर कर चुके तब हमें ज्ञात हुआ कि इसी गाड़ी में कुछ डिब्बों के बाद इंजन की ओर हिन्दी-साहित्य के दो 'सम्राट्' भी विराजमान हैं। इन सम्राटों का दर्शन करने के लिए फ़तेहपुर में गाड़ी के खड़े होते ही हम उस डिब्बे की ओर बढ़े।

आवश्यकता से अधिक भरे हुए गर्दमय और अल्प प्रकाशवाले इंटर क्लास में हिन्दी के ये दोनों स्वनामधन्य 'सम्राट्' एक दूसरे की ओर पीठ किये हुए बैठे थे। कवि-सम्राट् श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कुछ पूड़ियाँ ख़रीदी थीं और उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द जी ने कुछ केले। वे उन्हें अकेले में खाने का अवसर देख रहे थे।

सवेरा होने पर हम लोग दिल्ली पहुँच गये। स्टेशन पर गाड़ी के खड़े होते ही हम लोग अपने सामान के साथ उतर कर प्लेटफ़ार्म पर आये। उपन्यास-सम्राट् और कवि-सम्राट् अब भी अपने डिब्बे में अपने स्थान पर अचल थे और आँख फाड़कर खिड़की के बाहर देख रहे थे। इन दोनों सम्राटों ने दिल्ली में अपने स्वागत की अच्छी कल्पना कर रक्खी थी। खेद है कि एक वालंटियर भी कहीं दिखाई न पड़ा। उपन्यास-सम्राट् जी परिस्थिति को ताड़ गये और मुसकुराते हुए प्लेटफ़ार्म पर आ गये, परन्तु कवि-सम्राट् अभी कल्पना के ही जगत् में विचरण कर रहे थे। उन्होंने रेलगाड़ी के द्वार से प्लेटफ़ार्म की ओर झाँका, फिर क्रोध के स्वर में कहा—"हमें लिखा गया था कि स्टेशन पर वालंटियर मिलेंगे, हमें आशा थी कि हमारा धूमधाम से स्वागत होगा। हम प्रदर्शिनी का उद्घाटन करने के लिए बुलाये गये थे।

हमारा मन फीका पड़ गया। अपनी रेल होती तो इसी समय ड्राइवर को बनारस लौटने की आज्ञा देता।"

प्रेमचन्द जी ने कहा—"मेरे आने का किसी को पता नहीं है। मैं अललटप्पू आ गया हूँ। इसलिए मेरा स्वागत हो या न हो, मुझे फ़िक्र नहीं है। परन्तु हरिऔध जी के लिए मैं चिन्तित हूँ।"

ख़ैर किसी प्रकार ये दोनों सम्राट् और इनके पीछे हम लोग स्टेशन से बाहर निकले। वहाँ कुछ वालंटियर मिले और उनकी सहायता से हम लोग वहाँ पहुँचे, जहाँ प्रतिनिधियों के ठहराने का प्रबन्ध किया गया था।

प्रतिनिधियों के ठहराने का प्रबन्ध एक भव्य भवन में किया गया था, जिस पर मोटे मोटे काले अक्षरों में संगमरमर पर लिखा था—"अनाथालय" और कुछ और। इस अनाथालय शब्द ने हमारे सम्राटों को बहुत ही चौंकाया। उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो स्वागत-समिति उनका अपमान करने पर तुली हुई हो। क़रीब आध घंटा इधर-उधर घूमने के पश्चात् जब स्वागत-समिति से किसी प्रकार की आशा न रह गई तब हरिऔध जी ने अपनी 'गज की टेर' सुनाने के लिए टंडन जी का स्मरण किया। टंडन जी दौड़ते हुए आये और उन्होंने सम्राटों की मान-रक्षा की।

[२]

प्रतिनिधियों के इस निवासस्थान का नाम 'पाटोदी-हाउस' था। यह एक अच्छी और बड़ी इमारत थी। हर प्रान्त के लोगों के ठहरने के लिए अलग अलग व्यवस्था की गई थी। नहाने के लिए ठंडे पानी के नलों का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध था। पाख़ाने भी साफ़ और यथेष्ट थे। लेटने के लिए सब प्रतिनिधियों को चारपाइयाँ दी गई थीं। बिजली की रोशनी रात को जगमगाती थी। भोजन-शाला बड़ी शुद्ध और साफ़ थी। कच्चा और पक्का दोनों प्रकार का भोजन शुद्ध और स्वादिष्ट तैयार होता था। सम्मेलन के प्रतिनिधियों के ठहराने के लिए इतना सुन्दर प्रबन्ध और कहीं के सम्मेलन में हमने नहीं देखा था।

इतने पर भी हमने देखा कि स्वागतसमिति के कार्य्य से बहुत-से लोग असन्तोष प्रकट कर रहे थे। उनके असन्तोष का कारण यह था कि भोजन के लिए स्वागत-समिति ने प्रतिदिन आठ आना के हिसाब से टिकट लगा दिया था और स्टेशन पर इतने वालंटियर नहीं थे कि उनको कुली का काम देते। असन्तोष के ये दोनों कारण हमें तुच्छ जान पड़े। जो लोग दिल्ली के साहित्य-सम्मेलन में गये थे वे किसी के ऊपर एहसान करने नहीं गये थे। जो लोग सम्मेलन अपने यहाँ बुलाते हैं वे अपनी बेटी का ब्याह नहीं करते। अपनी ऐसी सुविधाओं के लिए स्वागत-समिति पर क्रोध करना कदापि उचित नहीं है।

हम दिल्ली की स्वागत-समिति की प्रशंसा करते हैं कि उसने सम्मेलन करनेवालों को एक नया मार्ग दिखाया। अब तक जितने सम्मेलन होते थे उनमें प्रतिनिधियों को भोजन बेशक मुफ़्त में मिलता था, पर उस मुफ़्त के भोजन से बड़ा भेदभाव उत्पन्न हो जाता था। ख़ास ख़ास लोगों के लिए ख़ास ख़ास तरह का प्रबन्ध होता था। प्रभावशाली व्यक्तियों को अच्छा भोजन मिलता था और साधारण लोगों को बासी और सड़ा-गला। दिल्ली की स्वागत-समिति ने सम व्यवहार करके सबका समुचित सम्मान किया। आठ आना देने पर सब प्रतिनिधि एक तरह का भोजन कर सकते थे। फल, दूध और विशेष प्रकार के भोजन का भी प्रबन्ध था। उसके लिए अलग से टिकट ख़रीदना पड़ता था।

परन्तु खेद है कि भोजन के भूखे कुछ ऐसे ब्राह्मण वहाँ आ गये थे जो स्वागत-समिति को मुफ़्त में भोजन न देने के लिए बुरा-भला कह रहे थे। इनमें श्रीयुत किशोरी-दास वाजपेयी शास्त्री तो मौक़े-बे-मौक़े स्वागत-समिति पर बाज़ की तरह झपटते थे।

[३]

नगर की ख़ास ख़ास सड़कों पर से हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों का जलूस निकालना दिल्ली के सम्मेलन की अपनी ख़ास विशेषता थी। जलूस में यदि कोई दोष था तो केवल यह कि वह असङ्गठित था। जलूस का प्रबन्ध प्रोफ़ेसर इन्द्र कर रहे थे। जहाँ तक मेरा ख़याल है, वे आदि से अन्त तक जलूस के साथ रहे। वे उसके दोषों को भी जानते थे और उससे होनेवाले लाभ पर भी उनकी दृष्टि

थी। परन्तु उनके साथ सहयोग करनेवाले वहाँ बहुत कम थे और जो लोग थे भी वे मानो उन पर एहसान कर रहे थे। जलूस में सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसका कोई नेता न था। महाराज बड़ौदा सम्मेलन के सभापति मनोनीत हुए थे, पर वे आये न थे और उनकी अनुपस्थिति में यह जलूस बिना दूल्हे की बारात-सा निकला था। कदाचित् मनहूसियत का यह भी एक कारण था।

[४]

इस जलूस ने क़रीब १२ बजे पाटोदी-हाउस में आकर विश्राम लिया। परन्तु थके हुए प्रतिनिधियों को अभी एक परीक्षा और देनी थी। वह थी प्रदर्शिनी के उद्घाटन-कर्ता श्रीयुत हरिऔध जी के दीर्घ भाषण का धैर्य्य के साथ सुनना। भाषण इतना लम्बा और व्यर्थ के शब्दाडम्बर से इतना पूर्ण था कि हरिऔध जी के अनन्यभक्त श्री किशोरीदास वाजपेयी भी उससे घबरा उठे और बोले—"हरिऔध जी की कृतियों के लिए वास्तव में 'बुढ़भस' से अच्छा विशेषण नहीं मिल सकता। मैं यहाँ से जाते ही समाचार-पत्रों में लिखूँगा कि हरिऔध जी ने थके हुए लोगों के भोजन और विश्राम का समय व्यर्थ में नष्ट किया।" हिन्दी के आधुनिक बिहारी श्री दुलारेलाल भार्गव ने उसी समय एक दोहा बनाया—प्राण लेंहि प्रतिनिधिन कौं भीषण भाषण भाखि!

इधर कवि-सम्राट् इस प्रकार अपना साम्राज्य-विस्तार कर रहे थे, उधर उपन्यास-सम्राट् धूप में खड़े गल्प-सम्मेलन में अपने सम्मान की कल्पना कर रहे थे। उनके आस-पास के लोगों ने उन्हें प्रसन्न करने के लिए कहा—"गल्प-सम्मेलन का प्रेसिडेंट कौन होगा?" इसका उत्तर किसी ने दिया—"उपन्यास-सम्राट् के होते हुए उस पद का अधिकारी और कौन हो सकता है?" प्रेमचन्द जी गरज कर बोले—"मैं ऐसे ऐरे-ग़ैरे सम्मेलनों का सभापति होना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता हूँ। मैं गल्प-सम्मेलन का सभापतित्व तब स्वीकार कर सकता हूँ जब उसमें श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री शरच्चन्द्र जैसे लोग गल्प सुनाने आवें।" इस घोषणा से गल्प-सम्मेलन के संयोजक लोग अप्रतिभ हो गये और उन्होंने दूसरे सभापति की खोज प्रारम्भ की।

[५]

सम्मेलन के अधिवेशन का आरम्भ उसी दिन तीसरे पहर लाल क़िले के पास बने एक विशाल पंडाल में आरम्भ हुआ। पंडाल बड़े सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से सजाया गया था। प्रतिनिधियों, दर्शकों, विशिष्ट व्यक्तियों और महिलाओं के अलग अलग बैठने का प्रबन्ध था। अगर कोई दोष था तो केवल यह कि पंडाल पर उपदेश-सूचक जो वाक्य और पद्यांश टाँगे गये थे उनकी भाषा कुछ ग़लत थी।

जितने प्रतिनिधि जमा हुए थे वे सभी मञ्च पर आ विराजे, यहाँ तक कि सभापति के बैठने के लिए कोई स्थान ही न रह गया। इसकी आवश्यकता भी न थी, क्योंकि सभापति कोई था ही नहीं। इस प्रकार बिना सभापति की यह सभा एक अन्धे आदमी के मङ्गलगान के साथ आरम्भ हुई, जिसका अर्थ कदाचित् यह था कि सम्मेलन का सञ्चालनकार्य जिस प्रकार के मनुष्यों के हाथ में है, यह अन्धा उन्हीं का प्रतिनिधि है। अन्धे के बाद एक महोदय स्वागत-गान गाने के लिए खड़े हुए, पर आपने ऐसी ग़लत कविता लिखी थी कि श्रीयुत बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे संयमी सम्पादक का भी धैर्य छूट गया और उठकर लगे प्रश्न करने—"इस कविता को पढ़ने की आज्ञा किसने दी, क्यों दी, कविता शुद्ध क्यों नहीं की गई।" नवीन जी जब इस प्रकार तर्क कर चुके तब स्वागत-गान फिर आरम्भ हुआ। स्वागत-गान के पश्चात् केसरिया साड़ी में किसी पाठशाला की कन्याओं ने प्रतिनिधियों के पीछे खड़े होकर एक गीत गाया, जिसे शायद उन्होंने अपने स्कूल में सीखा था। उनके बाद कुछ बालकों ने वन्दे मातरम् का गान गाया और जब वह आधा गाया जा चुका तब आवाज़ हुई कि "भाइयो! खड़े हो जाओ, बहनों खड़ी हो जाओ, यह वन्दे मातरम् गान है।"

मञ्च पर तिल रखने को भी जगह नहीं थी और नीचे दर्शकों और प्रतिनिधियों के बैठने के स्थान में

दीमकें लग रही थीं। देवियाँ भी मञ्च पर आ गई थीं। मानो उस सम्मेलन में सब वक्ता ही वक्ता थे और श्रोताओं का स्थान एक-मात्र अनन्त और अदृश्य ईश्वर ने ले लिया था।

पंडाल के इतना सुन्दर होते हुए भी, श्री टण्डन जी, श्री इन्द्र जी जैसे नेताओं के उपस्थित होते हुए भी, सम्मेलन में यह अव्यवस्था क्यों थी? इसका एक-मात्र कारण यह था कि पहले तो सम्मेलन का कोई सभापति नहीं था और दूसरे काम चलाने के लिए जिन बूढ़े व्यक्ति के कन्धों पर यह भार रक्खा गया था वे सभा-सञ्चालन के कार्य से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

हम अब तक यह नहीं समझ सके कि बड़ौदा के महाराज के फ़ोटो को ही सम्मेलन का सभापति क्यों बनाया गया? यदि सम्मान का यह पद किसी नरेश को ही देना अभीष्ट था तो ओरछा के महाराज की उपेक्षा क्यों की गई? जब यह मालूम था कि बड़ौदा के महाराज नहीं आवेंगे तब सम्मेलन के सञ्चालन का कार्य किसी योग्य व्यक्ति के हवाले क्यों नहीं किया गया? सम्मेलन की सारी असफलता इन्हीं प्रश्नों की आड़ में छिपी हुई है। क्या हम आशा करें कि सम्मेलन के कर्णधार दिल्ली की इस भूल को समझेंगे और दुबारा उसे न होने देंगे?

यदि यह अव्यवस्था न होती तो दिल्ली का सम्मेलन बहुत अंशों में सफल समझा जाता। उपस्थिति की दृष्टि से तो वह सफल रहा ही। मञ्च पर श्री घनश्यामदास बिड़ला, श्री टण्डन जी, मिश्रबन्धु, ओरछा-नरेश, महा-महोपाध्याय गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, रायबहादुर हरविलास सारदा, श्री गयाप्रसादसिंह, मिस्टर और मिसेज़ कीबे आदि को बैठा देखकर प्रसन्नता होती थी। सभापति और स्वागताध्यक्ष दोनों के भाषण छोटे थे, पर वे काम के थे और उनकी कोई बात व्यर्थ नहीं थी। इस प्रकार सम्मेलन की प्रथम दिन की कार्य्यवाही समाप्त हुई।

[६]

इस बार चार दिन सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। मुख्य सम्मेलन के साथ साथ साहित्य-परिषद्, दर्शन-परिषद्, इतिहास-परिषद्, विज्ञान-परिषद्, गल्प-सम्मेलन और कवि-सम्मेलन भी हुए। स्वागत-समिति की हम इस बात के लिए भी प्रशंसा करेंगे कि उसने कार्यक्रम इतना सुन्दर बनाया था कि लोग सब परिषदों में भाग ले सकते थे और विश्राम और भ्रमण के लिए भी उनके पास समय बच रहता था। जिन लोगों ने इस सम्मेलन में भाग लिया है वे यह स्वीकार करेंगे कि सम्मेलन के अधिवेशन में जो अव्यवस्था पाई जाती थी वह परिषदों में कम दिखाई देती थी। इसका कारण यह था कि भिन्न भिन्न परिषदों के लिए योग्य सभापति चुने गये थे और उनके संयोजक भी अपने कार्य में सतर्क थे।

साहित्य-परिषद् और गल्प-सम्मेलन में साहित्यिक चर्चा का बड़ा ज़ोर रहा। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री चतुरसेन शास्त्री, श्रीमती कमलाबाई कीबे आदि के प्रभावशाली भाषण हुए। खेद है कि कुछ लोगों ने इन सम्मेलनों को अपने मित्रों और परिचितों के विज्ञापन का साधन बनाया। साहित्य-परिषद् में तो स्वयं उसके सभापति श्रीमान् माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने स्वभाव की यह निर्बलता दिखाई। उन्होंने ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा की और ऐसे व्यक्तियों को बोलने के लिए खड़ा किया जो उनके विशेष स्नेह के पात्र थे। विरोधी विचार रखनेवालों को बोलने का समय देना वे अपने ऊपर ख़तरा लेना समझते थे और इसको उन्होंने अपने भाषण में स्वीकार भी किया। यही कारण था कि इस परिषद् में थोड़ी-सी कटुता भी उत्पन्न हो गई। इन लोगों ने उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द जी की अनुचित प्रशंसा प्रारम्भ की और उन्हें हिन्दी का टाल्स्टाय बताया। टाल्स्टाय उपन्यास-जगत् के नहीं, व्यावहारिक जगत् के प्राणी थे। वे प्रेम के प्रचारक और ईसा के सच्चे अनुयायी थे। महात्मा गाँधी जैसे लोकपूज्य नेता भी टाल्स्टाय की प्रशंसा करते नहीं थकते। उन्हीं टाल्स्टाय से श्री प्रेमचन्द जी की तुलना करके प्रताप के यशस्वी सम्पादक और स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के स्वनामधन्य अनुयायी ने साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया। और जब भीड़ से यह आवाज़ उठी कि प्रेमचन्द जी प्रेम नहीं घृणा के प्रचारक हैं तब नवीन जी ने अपनी भूल स्वीकार

न करके यहाँ तक कह डाला कि प्रेमचन्द जी अमर रहेंगे और उनकी निन्दा करनेवाले मर जायँगे। श्रीयुत बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ज्योतिषी भी हैं और भविष्यवाणी भी कर सकते हैं, यह हमने दिल्ली-सम्मेलन में ही जाना। हम नवीन जी का आदर करते हैं। उनकी साहित्यिक रचनाओं के हम प्रशंसक और समर्थक हैं, पर उनकी यह बात हमें असंगत और व्यर्थ जान पड़ी। 'सरस्वती' में हम प्रेमचन्द जी की रचनाओं के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट कर चुके हैं और यहाँ इससे अधिक हम नहीं लिखना चाहते कि प्रेमचन्द जी बीते युग के लेखक हैं, उनके आदर्श पुराने हैं। श्री बालकृष्ण शर्मा की भविष्यवाणी उन्हें अमर बना सकती है, पर उन्हें नवयुग के साहित्यकारों के बीच में सम्मान का स्थान नहीं दिला सकती—बिलकुल उसी तरह जैसे देव, बिहारी और हरिऔध का नये युग में स्वागत नहीं हो सकता।

गल्प-सम्मेलन में भी कुछ इसी तरह की बातें हुई और जब सभानेत्री श्रीमती कमलाबाई कीबे ने उस सम्मेलन के संयोजक श्री जैनेन्द्रकुमार जी को अधिक बोलने से मना किया तब इन संयोजक महोदय ने उन्हें डाट कर कहा—"मैं इस सम्मेलन का संयोजक हूँ, आपको सभापति का आसन मैंने दिलाया है, इसलिए आप मुझे बोलने से नहीं रोक सकतीं।" संयोजक महोदय की यह बात उपस्थित जनता को बहुत बुरी लगी और स्वागतमंत्री श्रीयुत पुत्तूलाल वर्मा ने उनके इस व्यवहार को असद्व्यवहार कहा और उनकी निन्दा की। इतने पर भी आप बेशर्म बने रहे और बोलते रहे। दूसरे दिन अर्जुन में जब आपका भाषण छपा तब देखा गया कि जितना आप बोले थे उससे कहीं अधिक छप गया है और आपके उक्त असद् व्यवहार का पत्र में कोई ज़िक्र तक नहीं है।

सम्मेलन के अधिवेशनों में जो बातें कही गई और सुनी गई उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण टंडन जी का वह भाषण था जो उन्होंने व्याकरण के नियमों को ढीला करने के सम्बन्ध में किया था। वे बिहार से लौटे थे और उनके कानों में बिहार के प्रसिद्ध नेता राजेन्द्र बाबू के कुछ वाक्य गूँज रहे थे, जैसे, "रेल का लाइन टूट गया। नदी में बाढ़ आ गया।" ये वाक्य टंडन जी ने राजेन्द्र बाबू के मुख से सुने थे। इनमें लाइन और बाढ़ ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। परन्तु यदि राजेन्द्र बाबू इन्हें पुँल्लिङ्ग में व्यवहार करते हैं तो टंडन जी की समझ में वे कोई भूल नहीं करते। हिन्दी को व्यापक और सरल बनाने के लिए टंडन जी ने इस बात की आवश्यकता बताई कि ऐसे सब अकारान्त शब्द पुँल्लिङ्ग मान लिये जायँ। उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि हिन्दी के समर्थक वे इसलिए नहीं हैं कि वह उनकी मातृभाषा है, बल्कि इसलिए हैं कि वह भारत की राष्ट्रभाषा है और राष्ट्रभाषा को सब प्रान्त के लोगों के लिए सरल होना चाहिए।

[७]

उपस्थिति की दृष्टि से सबसे अधिक सफलता कवि-सम्मेलन को हुई, परन्तु कवियों की राय ली जाय तो यही उपस्थिति उसकी असफलता का कारण थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय हिन्दी में जो कवितायें लिखी जाती हैं वे जनसाधारण के लिए व्यर्थ हैं। कवि लोग अपनी इस कमज़ोरी को समझते हैं, इसलिए वे जनता से दूर ही रहना चाहते हैं और कम से कम लोगों में अपनी रचना सुनाना चाहते हैं। दिल्ली के निवासियों को क्या पता था कि जो कवि यहाँ एकत्र हुए हैं वे भीड़ से घबराते हैं। कविता सुनने के लिए दिल्ली की हिन्दी-प्रेमी जनता उमड़ पड़ी। सम्मेलन के किसी भी अधिवेशन में उपस्थिति १,००० तक नहीं पहुँची थी, पर कवि-सम्मेलन में यह संख्या ४,००० से ऊपर थी। इस उपस्थिति से कवि-सम्मेलन के संयोजकों को गर्व होना चाहिए था, पर वे उदास हो रहे थे। कवि-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती महादेवी वर्मा थीं। उन्होंने कवि-सम्मेलन का सञ्चालन बड़ी सुन्दरता से किया और समुचित दृढ़ता दिखाई, तो भी इस कवि-सम्मेलन को उन्होंने असुन्दर ही कहा। उनके वास्तविक शब्द ये थे—"मैंने सुन्दर कवि-सम्मेलन देखे हैं, ऐसे असुन्दर नहीं।" हमारी समझ में न आया कि भारत की राज-

धानी दिल्ली में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पंडाल में, सब ओर के हिन्दी-प्रेमियों और साहित्य-सेवियों की उपस्थिति में, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, श्री दुलारेलाल भार्गव, श्रीबालकृष्ण शर्मा नवीन आदि के सहयोग में और स्वयं महादेवी वर्मा के सभापतित्व में होनेवाला वह बृहत् कवि-सम्मेलन असुन्दर कैसे था? हमने माना कि शोरगुल हो रहा था, हमने माना कि लोग प्रत्येक कवि की कविता मूक-मूर्ति होकर नहीं सुनते थे, पर यह उनका दोष न था। जनता को निमन्त्रित करना और फिर उसके ऊपर ऐसे कवियों की कविता लादना जो स्वयं नहीं समझते कि क्या लिख रहे हैं, कदापि उचित नहीं है। हम जनता के धैर्य्य की प्रशंसा करेंगे कि उसने शान्त होकर गुड़-गोबर सब कुछ ग्रहण किया और कवि-सम्मेलन १½ बजे रात तक चलता रहा। कोई कारण नहीं कि इतनी देर तक जमनेवाले कवि-सम्मेलन की हम निन्दा करें।

[८]

सम्मेलन के इस अधिवेशन में भी सदा की भाँति बहुत-से प्रस्ताव पास हुए। हमने देखा कि प्रतिनिधियों का बहुत-सा समय इन व्यर्थ के प्रस्तावों पर वादविवाद करने में नष्ट हुआ जैसा कि प्रतिवर्ष होता है।

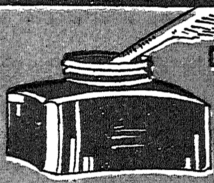
सम्मेलन में सभापति, मंत्री या उपमंत्री का पद किसी को सम्मानित करने के लिए न देना चाहिए, बल्कि इन पदों के लिए ऐसे व्यक्तियों को चुनना चाहिए जो मान के भूखे न हों, बल्कि जो साहित्य के सेवा-भाव से प्रेरित होकर इस ओर आये हों। सम्मेलन के सभापति के चुनाव में इस प्रकार की भूलें बराबर होती आई हैं, और इस बार तो यह भूल अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई।

हमें यह देखकर दुःख हुआ कि बहुत-से प्रतिनिधि हिन्दी में नवयुग की आवश्यकता के अनुसार समुचित परिवर्तन करने के लिए तयार नहीं प्रतीत हुए। यद्यपि स्वागताध्यक्ष श्री घनश्यामदास बिड़ला ने अपने भाषण में इसी एक बात पर ज़ोर दिया था। उन्होंने कहा था—

"अगर हमें हिन्दी का भण्डार भरना है और इस प्रकार इसे सब भाषाओं की चोटी पर पहुँचाना है तो हमें प्रान्तीय भाषाओं से बहुत कुछ लेना होगा। राष्ट्र-भाषा बननेवाली चीज़ राष्ट्र-मात्र की सम्पत्ति होगी और उसकी परिपुष्टि के लिए यह आवश्यक होगा कि वह राष्ट्र के प्रत्येक अंग से कुछ ग्रहण करने को तयार रहे। हिन्दी का हित इसी में है कि उसे इस बात की स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, बँगला, तामिल, तेलुगू आदि सबसे व्यावहारिक और उपयुक्त शब्दों का आदान-प्रदान कर सके। अर्थात् एक तो यह आवश्यक है कि हिन्दी को कृत्रिमता अर्थात् जटिलता की बेड़ी से मुक्त कर देश-मात्र की जनता के व्यवहार की भाषा बना दिया जाय; दूसरे यह कि विभिन्न प्रान्तों से यह न कहा जाय कि 'यह हमारी हिन्दी है। तुम इसे इसी रूप में ग्रहण कर सकते हो' बल्कि यह कि 'हिन्दी तुम्हारे लिए भी बड़े काम की चीज़ होगी। इसे लो और इसमें कुछ अपनी ओर से मिला कर अपना काम निकालो'। ऐसी रीति-नीति से ही हम इस देश में हिन्दी का अधिक से अधिक प्रचार कर सकेंगे।"

यदि हम वास्तव में हिन्दी को उन्नत राष्ट्र-भाषा के रूप में देखना चाहते हैं तो हमें बिड़ला जी की इन पंक्तियों पर विचार करना ही होगा।

प्रसन्नता की बात है कि सम्मेलन का आगामी अधिवेशन इन्दौर में होने जा रहा है। इन्दौर के सरदार और श्रीमती कीबे और वीणा-सम्पादक श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' दिल्ली में उपस्थित थे। सम्भवतः यही लोग इन्दौर-सम्मेलन के सञ्चालक होंगे। क्या अच्छा हो कि दिल्ली-सम्मेलन में जो भद्दी त्रुटियाँ हुई हैं वे इन्दौर में न होने पावें। योग्य सभापति का चुनाव और पंडाल में प्रतिनिधियों और दर्शकों को बैठाने की समुचित व्यवस्था न होने से सम्मेलन का सारा मज़ा किर-किरा हो जा सकता है जैसा कि दिल्ली में हुआ। आशा है, इन्दौर सम्मेलन को नया मार्ग दिखायेगा और उसकी शिथिलता दूर कर देगा।



सम्पादकीय नोट

योरप की दशा

संसार के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की अवस्था अब भयावह दिखने लगी है। जब तक संसार की महाशक्तियाँ सहयोग-पूर्वक संसार की समस्याओं के हल करने में लगी रहीं तब तक संसार में विश्वशान्ति की ही हवा बहती रही। परन्तु जब से मंचूरिया के मसले के कारण जापान और निश्शस्त्रीकरण की ढीलाढाली से जर्मनी भी राष्ट्र-संघ से अलग हो गया तब से हवा का रुख़ दूसरी ओर हो गया और भावी युद्ध के सम्बन्ध में विशेषज्ञ पत्रकार खुल्लमखुल्ला चर्चा करने लगे। इधर जर्मनी की समानता की माँग तथा छिपे छिपे शस्त्र-सज्जित होते जाने की कार्य-वाही से योरप की शक्तियों का संघ भी शिथिल हो गया है और वे एक दूसरे से अलग अलग अपनी सुरक्षा करने की व्यवस्था में लग गये हैं। सभी शक्तियाँ अपने युद्धोपकरण बढ़ाने के काम में लग गई हैं और अपनी अपनी सुविधा को सामने रखकर तदनुसार भिन्न भिन्न शक्तियों से मेल-जोल बढ़ा रही हैं। इस सम्बन्ध में फ़्रांस पहले से ही सावधान रहा है। वह अपना सैन्यबल पूर्ववत् सज्जित किये रहा, साथ ही रूमानिया, जुगोस्लेविया, ज़ेचोस्लोवेकिया, पोलेंड, बेल्जियम आदि राज्यों से मेल-जोल भी बढ़ाये रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि इस समय योरप में एवं राष्ट्र-संघ में उसी का बोलबाला है।

परन्तु योरप में ब्रिटेन, जर्मनी और इटली भी अपना महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रखते हैं। राष्ट्र-संघ के निर्बल पड़ जाने तथा निश्शस्त्रीकरण के प्रयत्न के विफल हो जाने से अब ये राष्ट्र भी सावधान हुए हैं। इनमें महत्त्वाकांक्षी इटली आस्ट्रिया और हंगरी को अपने मैत्री-बन्धन में बाँध रहा है। अभी हाल में इन तीनों राज्यों में आर्थिक सन्धि भी हो गई है। इस प्रकार योरप में यह एक नया गुट बना है। फ़्रांस, रूमानिया आदि का गुट पहले से ही था। यह भी कहा जाता है कि जर्मनी और ब्रिटेन में अलग मेल-जोल बढ़ रहा है। इस प्रकार योरप के राजनैतिक क्षेत्र में दोहरी कार्रवाई हो रही है। एक ओर ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली राष्ट्र-संघ और निश्शस्त्रीकरण-सम्मेलन को लस्टम-पस्टम चलाये जा रहे हैं, दूसरी ओर भावी सङ्कट से अपने अस्तित्व की रक्षा करने के प्रयत्न में भी वे तत्परता से लगे हुए हैं।

फ़्रांस, ब्रिटेन और इटली के दृष्टिकोणों में भेद उपस्थित हो जाने से ही योरप की राजनैतिक दशा इस अवस्था को आ पहुँची है। अब देखना है कि उक्त महाशक्तियों के सूत्रधार इस अवस्था का किस तरह सामना करते हैं।

आस्ट्रिया का विषम रूप

योरप में पिछले दिनों आस्ट्रिया में वर्गवादियों का जो दमन हुआ है तथा वहाँ की सरकार ने जर्मनी के नाज़ियों के प्रति जो विरोध का भाव प्रकट किया है उससे वहाँ के राजनैतिक क्षेत्र में एक नई अवस्था उत्पन्न हो गई है। इस अवस्था से जहाँ आस्ट्रिया और हंगरी की इटली से अधिक घनिष्ठता हो गई है, वहाँ उनका जर्मनी से मनमुटाव हो गया है। परन्तु आस्ट्रिया में नाज़ीदल की अवस्था सुदृढ़ है और वह वहाँ के वर्गवादियों की तरह सरलता से वहाँ के डोल्फ़स की सरकार के वशीभूत नहीं हो जायगा। इस अवस्था से वहाँ की सरकार भी परिचित है और इसी से उसके समर्थक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि पुराना राजघराना एक बार फिर अधिकारारूढ़ हो जाय। परन्तु यह बात न तो इटली को स्वीकार है और न उसके पड़ोसी ज़ेचोस्ले-वेकिया आदि राज्यों को पसन्द है। तथापि यदि वहाँ हैप्सबर्ग का राजघराना अधिकारारूढ़ हो जायगा तो

आस्ट्रिया के नाज़ियों का षड्यंत्र व्यर्थ हो जायगा, अर्थात् उस दशा में आस्ट्रिया का सम्मिलन जर्मनी के साथ न हो सकेगा और यह अवस्था इटली और फ्रांस दोनों को रुचिकर होगी। अतएव यदि आस्ट्रिया के राजतन्त्रवादी यह दुस्साहस का कार्य कर ही उठायेंगे तो फ्रांस और इटली उसकी उपेक्षा करेंगे और उनके उदासीन रहने पर मध्य-योरप के दूसरे राष्ट्र भी कुनमुनाकर शान्त हो जायँगे। यदि डोल्फ़स साहब यह दुस्साहस न कर सके तो फिर उन्हें अपने यहाँ के नाज़ियों के आगे झुकना पड़ेगा और उसका अर्थ आस्ट्रिया और जर्मनी का सम्मिलन होगा, जिसके परिणामस्वरूप योरप में महायुद्ध का छिड़ जाना अनिवार्य हो जायगा।

जापान का अभ्युदय

संसार के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की अवस्था योरप की विषम अवस्था की अपेक्षा जापान के अभ्युदय के कारण कहीं अधिक जटिल हो गई है। जापान को अपनी वृद्धिगत जन-संख्या के निर्वाह के लिए जहाँ उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे माल की ज़रूरत है, वहाँ उसके उपनिवेश के लिए उसे भूमि की भी ज़रूरत है। इन दोनों की सुविधा के साथ बहुत कुछ पूर्ति मंचूरिया से हो सकती थी, सो उसने निर्भयतापूर्वक अपने शस्त्रबल से उसे अपने अधिकार में कर लिया है। उसके इस कार्य का सभ्य संसार में विरोध किया गया। परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ ही नहीं रहा, किन्तु उस विरोध की ज़रा भी परवा न कर वह अब और आगे बढ़कर मंगोलिया पर भी हाथ सफ़ा करना चाहता है। वह मंगोलिया को स्वाधीनता आदि प्रदान करने का प्रलोभन देकर उसे भी अपने नये मंचूकोराज्य में मिला लेना चाहता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि जापान की कूटनीति के इन कार्यों को अमरीका तथा ब्रिटेन अभी तक अनदेखा करते जा रहे हैं। परन्तु यह उदासीनता अधिक दिन तक नहीं रह सकती। क्योंकि जापान चीन-साम्राज्य के एक बड़े भाग पर अपना प्राधान्य जमा लेने की जो योजना कार्य में परिणत कर रहा है उससे चीन की जो कुछ हानि होने को थी वह तो हो गई, अब रूस की तथा उसके साथ ही अमरीका और ब्रिटेन की भी कुछ न कुछ हानि अवश्य होगी।

जापान का मंचूरिया पर पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया है और इस अवस्था को छिपाने के लिए उसने अब उसको एक स्वाधीन राज्य मानकर उसके सिंहासन पर चीन के पदच्युत सम्राट् हेनरी पू-यी को मंचुओं के सम्राट् के रूप में अधिष्ठित किया है। भूतपूर्व चीन-सम्राट् के इस रूप में अवस्थान करने से चीन जोखिम की अवस्था में पड़ गया है। क्योंकि इन नये सम्राट् की आड़ में जापान मंगोलिया में भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता है। मंगोलिया एक विशाल देश है और गत दस वर्ष से वह चीन से स्वतन्त्र है। यहाँ के छोटे बड़े सरदारों के मिलाने का काम बराबर जारी है। गत नवम्बर में मंगोल सरदारों की एक सभा भी मकदन में हुई थी।

परन्तु जापान की इस कूटनीति को कब तक तरह दिया जायगा? ब्रिटेन और अमरीका एवं रूस को ही जापान की इन कार्रवाइयों से विशेष विरोध होगा और ये तीनों ही राष्ट्र इस समय संसार के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में हैं। क्या जापान इनकी अवज्ञा कर सकता है? परन्तु यह स्वार्थ का प्रश्न है। यह उसके अभ्युदय का युग है। व्यवसाय के क्षेत्र में उसका आज कोई मुक़ाबला नहीं कर पाता। ब्रिटेन तथा अमरीका का विदेशी व्यापार जापान के आगे दब गया है। अतएव यह अवस्था ब्रिटेन एवं अमरीका को कैसे सह्य होगी ? वे निस्सन्देह उसके प्रतीकार का उपाय करेंगे। पिछले दिनों उपर्युक्त राष्ट्रों ने अपने अपने व्यापार के सँभालने का ही प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु वे युद्धोपकरणों के तयार करने की योजनायें भी कार्य में लाने लग गये हैं। यह अवस्था भविष्य की सङ्कट-पूर्ण अवस्था का ही सूचक है। निस्सन्देह उपर्युक्त राष्ट्रों के प्रधान प्रधान व्यक्तियों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि उनकी इस सैनिक तैयारी का सम्बन्ध एक-मात्र आत्मरक्षा से है। भगवान् करे, ऐसा ही हो।

फ़िलीपाइनद्वीपपुञ्ज की स्वाधीनता

फ़िलीपाइन द्वीप-पुञ्ज गत चालीस वर्षों से संयुक्त राज्यों के अधिकार में है। परन्तु जिस समय वहाँ स्पेन के स्थान में संयुक्त राज्यों का अधिकार हुआ था उसके पहले से ही वहाँ के निवासी स्वाधीनता के लिए यत्नवान् थे। और यदि बीच में उस पर संयुक्तराज्यों जैसे बलवान् राज्य का अधिकार न हो गया होता तो वह द्वीप-पुञ्ज या तो स्वाधीन हो गया होता या उस पर किसी दूसरे बलवान् राष्ट्र का अधिकार हो गया होता। परन्तु उस देश के सौभाग्य से वहाँवालों का भाग्य-सूत्र संयुक्तराज्यों के हाथ में पड़ गया और वे उनके गत चालीस वर्ष के शासन के भीतर इतना सम्पन्न और समर्थ हो गये कि आज अमरीका उनकी स्वाधीनता को प्रसन्नता से स्वीकार कर रहा है।

इस सम्बन्ध में संयुक्तराज्यों के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट साहब ने जो उदात्त विचार हाल में व्यक्त किये हैं उनसे उनकी तथा उनके देश की गौरव-वृद्धि हुई है और उनके ये विचार इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होंगे। फ़िलीपाइन-द्वीपपुञ्ज को अगले १२ वर्ष से १४ वर्ष के भीतर स्वाधीनता प्रदान करने के लिए संयुक्तराज्यों की कांग्रेस ने जो बिल पास किया था उसे फ़िलीपाइन-द्वीप पुञ्ज की व्यवस्थापक सभा ने इस कारण अस्वीकार कर दिया था कि उस बिल में एक यह शर्त भी थी कि संयुक्तराज्य उक्त द्वीपपुञ्ज में कहीं कहीं अपनी सैनिक छावनियाँ तथा जङ्गी जहाज़ों के अड्डे रक्खेगा। परन्तु अब राष्ट्रपति ने उक्त बिल में संशोधन कर दिया है, जिसके अनुसार इस प्रतिज्ञा के साथ उक्त द्वीपपुञ्ज की स्वाधीनता स्वीकार की गई है कि वहाँ से संयुक्तराज्य की सेना तथा जङ्गी जहाज़ अगले दो वर्ष के भीतर ही हटा लिये जायँगे। इस संशोधित बिल पर राष्ट्रपति ने अपना जो वक्तव्य लिखा है उसमें उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि 'संयुक्तराज्यों का प्रजा-तन्त्र किसी देश को अपने अधीन नहीं करना चाहता है और जो देश उसकी अधीनता में हैं उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध अपनी अधीनता में भी नहीं रखना चाहता है।' ये कितने उदात्त विचार हैं!

इस संशोधित बिल से उक्त द्वीपपुञ्ज के लोकनेता सेनोर मैनुअल क्वेज़न ने भी अपना सन्तोष प्रकट किया है। आशा है, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की इस उदार नीति से फ़िलीपाइन-द्वीपपुञ्ज निकट भविष्य में स्वतन्त्र राज्य के रूप में अपने अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करना प्रारम्भ कर देगा।

देश की राजनैतिक शिथिलता

बिहार के भयंकर भूकम्प से सारा देश स्तब्ध हो गया है। इतना अधिक कि श्वेत-पत्र एवं ज्वाइंट कमिटी की रिपोर्ट के सम्बन्ध में देश में उतना काफ़ी आन्दोलन नहीं छिड़ा जितना छिड़ना चाहिए था। निस्सन्देह भावी सुधारों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए एक सर्वदल-सम्मेलन करने की चर्चा छिड़ी थी। इस चर्चा के पीछे देश के प्रतिष्ठित लोकनेताओं का हाथ था। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि इसमें साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में विचार न होगा। फलतः इससे सहयोग करने से कांग्रेस तथा हिन्दू-सभा ने इनकार कर दिया और यह विचार विचार होकर रह गया। इसके बाद कांग्रेस के कुछ लोग कौंसिलों में जाने के लिए पुराने स्वराज्य-दल का फिर संगठन करने को यत्नवान् हुए। इस सम्बन्ध में बम्बई और मदरास में व्यवस्थित रूप से प्रचार-कार्य भी छिड़ा था। बम्बई के श्री जमना-दास मेहता ने और मदरास के श्री सत्यमूर्ति ने इस सम्बन्ध में अधिक तत्परता दिखाई थी। इससे प्रकट होता है कि नये शासन-सुधारों के अनुसार चुनाव होने पर कांग्रेस का भी कम से कम एक दल उससे उस दशा में भी सहयोग करेगा यदि नये शासन-सुधार कांग्रेस को सन्तोषप्रद न भी प्रतीत होंगे। इसके सिवा और उपाय ही क्या शेष रहेगा?

इस समय नये सुधारों की योजना के सम्बन्ध में ज्वाइंट कमिटी अपनी रिपोर्ट लिख रही है। भारतमंत्री की इच्छा है कि उनके श्वेतपत्र की योजना ज्यों की त्यों स्वीकार की जाय। वे श्वेतपत्र में परिवर्तन नहीं होने देना

चाहते। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल तथा डाक्टर तेज-बहादुर सप्रू ने कमिटी को नये सुधारों के सम्बन्ध में अपने अपने जो मेमोरेंडम अलग अलग दिये हैं, कदाचित् भारतमंत्री के प्रयत्नों के कारण वे भी महत्त्वहीन ठहरेंगे। जैसे उनके आगे चर्चिल के दल का विरोध न ठहर सकेगा, वैसे ही ये मेमोरेंडम भी बेकार सिद्ध होंगे और कदाचित् कुछ महत्त्वहीन परिवर्तनों के साथ अधिकतया श्वेतपत्र के ही अनुसार उक्त रिपोर्ट लिखी जायगी। परन्तु इस अन्तिम स्थिति में भारतीय कह ही क्या सकते हैं? जब तक शासन-विधान अपने नये रूप में सबके सामने नहीं आ जाता तब तक उसके पक्ष या विपक्ष में कहना ठीक भी नहीं होगा। परन्तु लक्षणों से जान पड़ता है कि देश के नेता सर्वदल-सम्मेलन करने का फिर आयोजन कर रहे हैं और उसके द्वारा वे श्वेतपत्र में परिवर्तन करने की अपनी माँग को सम्मिलित रूप से उपस्थित करना चाहते हैं। देखें, उनके इस बार के प्रयत्न का क्या परिणाम होता है। हमें तो आशा नहीं है कि ये लोग अपने प्रयत्न में सफल होंगे, क्योंकि देश का राजनैतिक वायुमण्डल साम्प्रदायिकता के विष से पहले जैसा ही विषाक्त बना हुआ है।

परन्तु देश की राजनैतिक अवस्था की शिथिलता को देखकर कांग्रेस के कुछ लोग आकुल हो उठे हैं और वे एक ऐसा संगठन करने को चिन्तित है जिसके द्वारा देश का राजनैतिक कार्य किया जा सके। इस समय यही लोग कुछ क्रियाशील दिखाई दे रहे हैं और उनकी हाल के दिल्ली-सम्मेलन की कार्यवाही से यह स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस का एक दल अगले चुनाव में अवश्य भाग लेगा, भले ही उसे कांग्रेस की सहायता न प्राप्त हो। प्रारम्भ में इस विचार का सूत्रपात बम्बई से हुआ था और उसका साथ पूना ने दिया था। इस समय मदरास और कलकत्ता भी उसका समर्थन कर रहा है। देखें, इस कार्यवाही का क्या परिणाम होता है। वस्तुतः देश की राजनैतिक शिथिलता का एक कारण यह है कि यह भावी शासन-सुधारों का प्रतीक्षाकाल है। उस सम्बन्ध में लोगों को जो कुछ कहना था वह सब बार बार और विस्तार के साथ कहा जा चुका है और सरकार ने जो अधिकार देने का प्रस्ताव किया है उसके पक्ष या विपक्ष में जो कुछ लोग कहना चाहते थे वह सब भी वे कह चुके हैं। अब लोग इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि देखें, सरकार क्या देती है। ज्वाइंट कमिटी की रिपोर्ट तैयार हो जाने के नज़दीक पहुँच गई है। कदाचित् इसी सिलसिले में वायसराय महोदय मई में विलायत जा रहे हैं। यह छमाही बीतते बीतते सुधारों के सम्बन्ध में सरकार का अन्तिम निर्णय प्रकट हो जायगा। यह सब होगा, परन्तु क्या कभी यह भी होगा कि इस देश के हमारे देशभक्त नेतागण एक-मन होकर अपनी भी गरिमा का समुचित परिचय देंगे।

राजा मोतीचन्द

बनारस के प्रसिद्ध रईस राजा मोतीचन्द का उस दिन पक्षाघात से काशीवास हो गया। पिछले दिनों आप इस रोग से कई महीने से पीड़ित थे और चिकित्सकों के उपयुक्त उपचार से आप नीरोग भी हो गये थे। परन्तु दुर्भाग्य से एकाएक उसका दौरा फिर हुआ और आप इस भयानक रोग के इस बार के आक्रमण को न सह सके।

राजा साहब काशी के एक सर्वश्रेष्ठ रईस थे और अपने नगर की गौरववृद्धि के कार्यों में सदा लगे रहते थे। सार्वजनिक कार्यों से आपकी विशेष प्रीति ही नहीं रहती थी, किन्तु पुष्कल धन से भी उसकी सहायता करते रहते थे। हिन्दू-विश्वविद्यालय जैसी महान् संस्था की स्थापना में तथा उसके सञ्चालन में आपने सदा अपने उपयुक्त ही सहयोग किया। आप सरकार के विशेष कृपा-पात्र थे तो उस सरकार की प्रजा के भी विशेष प्रिय पात्र थे। उदारता की भावना और तत्सम्बन्धी सूझ भी आपमें एक ही थी। उदाहरण के लिए इधर कुछ समय से आपने मोगा के प्रसिद्ध नेत्रचिकित्सक डाक्टर मथुरादास को बुलाकर अपने व्यय से सहस्रों नेत्ररोगियों की चिकित्सा अपने यहाँ आप मुफ़्त में करवा दिया करते थे। इस प्रकार के परोपकार के कार्यों में आप अपना समय और धन सदैव

उत्सर्ग करते रहते थे। ऐसे महान् व्यक्ति के अभाव की पूर्ति काशी निकट भविष्य में कैसे कर सकेगी, यह वास्तव में बड़े परिताप की बात है।

'आर्यमित्र' और उसके सम्पादक

आगरे का 'आर्यमित्र' आर्यसमाज की संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि-सभा का मुख-पत्र है। पण्डित हरिशंकर शर्मा कविरत्न के सम्पादकत्व में इस पत्र की उत्तरोत्तर उन्नति हुई है। गत ग्यारह-बारह वर्ष से आप ही इसके प्रधान सम्पादक रहे हैं। खेद की बात है कि हाल में सम्पादक जी तथा पत्र के मैनेजर से बिलकुल साधारण-सी बात पर मनोमालिन्य हो गया। जिसके फलस्वरूप पत्र के मैनेजर ने शर्मा जी के साथ अपमान-जनक व्यवहार किया। शर्मा जी को बाध्य होकर वही काम करना पड़ा जो कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति ऐसे अवसर पर करता। उन्होंने तत्काल अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु 'आर्यमित्र' किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है। वह एक प्रतिष्ठित संस्था का मुखपत्र है। और कदाचित् इसी कारण इस खानगी झगड़े को सार्वजनिक रूप प्राप्त हो गया है। आशा है, उक्त प्रतिनिधि सभा अपने स्वाभिमानी सम्पादक के साथ न्याय करेगी और अपने मैनेजर को ऐसी शिक्षा देगी जिससे वे भविष्य में फिर किसी के साथ ऐसा अशिष्ट व्यवहार न कर सकें। शर्मा जी के साथ हमारी सहानुभूति है और हम चाहते हैं कि प्रतिनिधि सभा के कार्यकर्ता शर्मा जी का त्यागपत्र ऐसे क्षुद्र कलह के कारण कदापि न स्वीकार करें और उनको आग्रहपूर्वक अपने पद पर बनाये रक्खें।

ओझा जी का अभिनन्दन

महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा हिन्दी के महारथियों में हैं। उन्होंने जीवन भर हिन्दी में लिखकर उसके एक महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की है। वे इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित हैं और इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वैज्ञानिक ढंग से लिखा है। उन्होंने राजपूतों के इतिहास की खोज करके राजपूताने का एक प्रामाणिक इतिहास कई जिल्दों में लिखा है। इतिहास के क्षेत्र में वे भारत में ही नहीं, किन्तु विदेशों तक में सम्मानित हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं से राष्ट्रभाषा हिन्दी का मुखोज्ज्वल किया है। अतएव उनकी ७० वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण 'अभिनन्दन ग्रन्थ' उन्हें प्रदान करके सम्मेलन ने अपने उपयुक्त ही कार्य किया है। ओझा जी इस प्रकार के समादर के क्या, इससे भी अधिक आदर के पात्र हैं।

श्री कमला राजा का देहावसान

ग्वालियर-नरेश की बड़ी बहन श्री कमला राजा का विवाह अभी हाल में अकिलकोट के राजा साहब के साथ बड़ी धूमधाम से हुआ था। कहा जाता है कि इस अवसर पर ग्वालियर में जो धूमधाम और महोत्सव हुआ था, वैसा शानदार जलसा भारत को बहुत दिनों के बाद देखने को नसीब हुआ था। परन्तु दुःख की बात है कि श्री कमला राजा के ग्वालियर से अकिलकोट पहुँचने के दूसरे दिन मोटर दुर्घटना हो गई, जिसमें श्री कमला राजा को घातक चोट लगी और उसके दूसरे ही दिन उनकी मृत्यु हो गई। श्री कमला राजा एक उच्च शिक्षा-प्राप्त राजकुमारी थीं। उनकी इस अवसर की यह आकस्मिक अकाल-मृत्यु निस्सन्देह एक महान् दुःखद घटना है।

दुर्भाग्य या सौभाग्य?

राष्ट्रभाषा हिन्दी का जिस दिन सूत्रपात हुआ था वह दिन भारतीय साहित्य-क्षेत्र का गौरव का दिन था। उसके उन्नायकों ने प्रान्तीयता की भावना से मुक्त होकर अपनी मातृभाषा को संस्कृत रूप देकर यह आशा की थी कि हिन्दी-भाषी हिन्दू और मुसलमान उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दी से यदि एक-प्राण न हो जायँगे तो कम से कम उसके द्वारा

वे हिन्दुओं के अधिकाधिक समीप तो ज़रूर ही आते जायँगे, और एक दिन उनकी हिन्दी के द्वारा भारत में राष्ट्रीय भावना अधिक दृढ़ता प्राप्त करेगी। यह सन्तोष की बात है कि हिन्दी के प्रेमी भूतकालीन अनेक कठिनाइयों के सामने पश्तहिम्मत नहीं हुए और अपने ध्येय को आगे रखते हुए आज अपने मार्ग में यहाँ तक अग्रसर हो आये हैं कि उनकी हिन्दी राष्ट्रीय महासभा-द्वारा भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत की जा चुकी है। ऐसी अवस्था में जहाँ यह होना चाहिए था कि हम सभी हिन्दीवाले राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसके पद-गौरव के अनुरूप साहित्य से भी अलंकृत करते, वहाँ हमारे दो-एक साहित्यिक हिन्दी की भिन्न भिन्न बोलियों के क्षेत्रों के मण्डल स्थापित कर उनके साहित्य के समुद्धार का प्रयत्न करना चाहते हैं। हमारे इन महानुभावों की इस अभिनव योजना के उद्भव का विशेष कारण है। वह कारण हिन्दी के दो-एक लेखकों के हाल के वे कुछ लेख हैं जिनमें व्रजभाषा की शृंगार-रचना के दूषित आदर्शों की कड़ी टीका-टिप्पणी की गई है। पर उनके विवाद में भाग लेकर तथ्य का निरूपण न कर हमारे कुछ तुनकमिजाज़ साहित्यिक साहित्यक्षेत्र में प्रान्तीयता का भाव बढ़ाना चाहते हैं। यह निस्सन्देह हमारे लिए दुर्भाग्य की बात है। परन्तु हम जिस पवित्र भावना से अपने मार्ग पर अग्रसर हैं उससे हमें ऐसी दृढ़ता प्राप्त हो गई है कि हम इस अप्रगति-मूलक आन्दोलन की बाधा को भी पार कर लेंगे।

अब रहा व्रजभाषा का साहित्य सो उसके भव्य रूप का महत्त्व राष्ट्र-भाषा के हिमायतीयों को भी पूर्णरूप से स्वीकार है। परन्तु इसके साथ वे इसकी परीक्षा करते रहने के काम से विरत नहीं रह सकते, भले ही उसके अन्धभक्त ऐसे लोगों पर यह निराधार आरोप किया करें कि ये लोग उसके विनाश का उपक्रम कर रहे हैं। सूरदास आदि महात्माओं तथा केशव जैसे महाकवियों की महिमामयी रचनाओं की बीसवीं सदी का लेखक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आलोचना करने से कभी नहीं विरत हो सकेगा, बरन ऐसा करते रहना तो उसके लिए परमावश्यक होगा। राष्ट्रभाषा हिन्दी के नवीन या आधुनिक साहित्य में यदि व्रज-भाषा के उक्त महारथियों की रचनाओं के सन्देशों और आदर्शों पर विचार नहीं हो लेगा तो हम प्रबुद्ध होकर नूतन साहित्य की रचना में कैसे अग्रसर होंगे? हमारे साहित्य के महापुरुषों के ईश्वर के सम्बन्ध में कैसे विचार थे, सदाचार की वे क्या व्याख्या करते थे तथा उनके चरित्र-चित्रणों का क्या आदर्श रहा है, यदि हम आज इन प्रश्नों को उठाकर उनकी रचनाओं में इन बातों की खोज करते हैं तथा उन पर अपने दृष्टिकोण से टीका-टिप्पणी करते हैं तो यह व्रज-भाषा के संहार का काम कैसे हुआ? राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रति जिस किसी साहित्यिक का यत्किञ्चित् अनुराग होगा वह भी उन आलोचकों की नीयत पर आक्रमण नहीं करेगा। परन्तु हमारे कुछ साहित्यिक तो केवल अपने को ही व्रज-भाषा के प्रेमी होने का मुस्तहक़ समझते हैं, और ये उक्त श्रेणी के लोगों का विश्वास नहीं करते और उन्हें गालियाँ देने पर उतारू हो जाते हैं। इन्हें व्रज-भाषा के कवियों की प्रतिकूल आलोचना नहीं सह्य है। परन्तु इस क्रान्ति के युग में अब पाधा-पन्थी नहीं टिकने पायेगी। स्वाधीनचेता लेखक तो भंटे को भंटा और इमली को इमली ही कहेंगे। सदाचार और संयम के वर्तमान समय में मुग़लों के विलासयुग की व्रज-भाषा की रचनाओं से उसके तत्कालीन दूषित प्रभावों की ओर अँगुली तो उठाई ही जायगी। क्योंकि इसी तरह हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी का नूतन साहित्य आनेवाले युग को नूतन सन्देश प्रदान कर सकेगा।

सम्पादकीय शिष्टाचार

सरस्वती के गत अंक में 'सम्पादकीय शिष्टाचार' शीर्षक एक नोट छपा था। उसमें कुछ पत्रों के सम्बन्ध में यह शिकायत की गई थी कि उन्होंने 'सरस्वती' में छपनेवाले लेख का छपा हुआ फ़र्मा पाकर उसे अपने पत्र में छाप तो लिया, पर लेख के अन्त में 'सरस्वती' का उल्लेख तक न किया। एक पत्र ने तो उक्त लेख के लेखक का भी नाम देना न उचित समझा। इस पर जब हमने अपने उक्त नोट में सम्पादक महानुभावों का ध्यान इस ओर

आकृष्ट किया तब और तो किसी ने कुछ नहीं कहा, पर कलकत्ते के नये दैनिक 'राष्ट्रबन्धु' ने उत्तर देने की कृपा की। वह उत्तर सर्वथा उनके अनुरूप ही हुआ है। हमें उसे पढ़कर केवल इस बात से कुछ आश्चर्य हुआ कि 'राष्ट्र-बन्धु' 'एडवान्स' जैसे उच्च कोटि के राष्ट्रीयतावादी पत्र की छत्रच्छाया में निकलकर ऐसा धींगाधींगी भी कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रबन्धु के सम्पादक महोदय अपने उत्तर में हमारे उक्त नोट का केवल मखौल उड़ाने के सिवा और कुछ भी नहीं लिख सकते थे। भूल स्वीकार करना उनकी शान के खिलाफ़ होता। और उत्तर देना आवश्यक था, अतएव जो चाहा लिख डाला। यदि अँगरेज़ी के पत्रकार हिन्दीवालों को हेय दृष्टि से देखते हैं तो क्या बेजा करते हैं? परन्तु आश्चर्य है कि वही हेय अवस्था अँगरेज़ी के एक नामी पत्रकार की संरक्षता में पनप रही है। कैसा अंधेर है? 'राष्ट्र-बन्धु' के सम्पादक को 'सरस्वती' में छपे हुए एक लेख का छपा हुआ फ़ार्म मिलता है और वे उसे अपने पत्र में इस ढंग से छाप लेते हैं मानो वह उन्हें स्वयं लेखक से ही छपने को प्राप्त हुआ हो। और यदि उनका ध्यान उनके इस अन्याय की ओर आकृष्ट किया जाता है तो वे डाँट बताते हैं और मखौल उड़ाते हैं। इसी को चोरी और ऊपर से सीनाज़ोरी कहते हैं।

स्वर्गीय पण्डित श्यामलाल नेहरू

इलाहाबाद के प्रसिद्ध नेहरू-परिवार के पण्डित श्यामलाल नेहरू का इसी मार्च महीने में पक्षाघात के रोग से स्वर्गवास हो गया। असहयोगकाल में आपने भी कांग्रेस का कार्य बड़े उत्साह से किया था और जब स्वराज्य-दल की स्थापना आपके चाचा पण्डित मोतीलाल नेहरू ने की थी तब आप उसकी ओर से सदस्य होकर असेम्बली में गये थे। पिछले सत्याग्रह में अपनी अस्वस्थता के कारण आपने योग नहीं दिया था, परन्तु आपकी धर्मपत्नी श्रीमती उमा नेहरू उनके स्थान की पूर्ति बराबर किये रहीं। स्वर्गीय नेहरू जी देशभक्त होने के सिवा बड़े लोकप्रिय थे। भगवान् आपके परिवार के लोगों को यह आकस्मिक आघात सहन करने में समर्थ करें।

'विशाल भारत' के सम्बन्ध में

हिन्दी के मासिकपत्रों में 'विशाल भारत' अधिक सौभाग्यशाली है। उसकी अच्छी आर्थिक अवस्था होने के सम्बन्ध में 'लीडर' जैसे पत्र ने गत वर्ष सार्टिफ़िकेट तक दिया था। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि उसकी भी वैसी दशा कदाचित् अब नहीं रही। इस सम्बन्ध में स्थानीय 'अभ्युदय' ने एक नोट लिखा है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"हमारा सहयोगी, 'विशाल भारत' जो कुछ करता या कहता है, उस सब पर एक निराली विशालता की छाप लगी रहती है। उदाहरण के लिए, उसका पिछला ही अङ्क ले लीजिए। उसमें इस मासिक पत्रिका के स्वनाम-धन्य संपादक महोदय का एक लेख छपा है, जिसका शीर्षक है 'हमारे साहित्य की सबसे बड़ी आवश्यकता'। हम चाहते हैं कि अपने पाठकों का ध्यान उनके इस महत्त्वपूर्ण संदेश की ओर विशेषरूप से आकृष्ट करें; इस लिए हम उसी को ज्यों का त्यों उद्धृत किये देते हैं—

"'हमारे हिन्दी-साहित्य के लिए भी पुरुषों की आवश्य-कता है'—ऐसे पुरुषों की जो कबीर के साथ यह कह सकें:—

"कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ॥

"'क्रांति चाहे राजनैतिक हो या सामाजिक अथवा साहित्यिक—सभी के लिए घर फूँक तमाशा देखनेवाले भिक्षुओं की आवश्यकता है। जिस दिन हमारे यहाँ इस प्रकार के आदर्श को ग्रहण करनेवाले साहित्य-सेवी उत्पन्न होने लगेंगे उसी दिन साहित्य का रूप ही बदल जायगा।'

"'विशाल भारत' को ज़रूरत है 'घर फूँक तमाशा देखनेवाले भिक्षुओं' की। क्यों? इसका सही सही अर्थ समझ लेना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव होगा, जब

तक उसी पत्रिका में हाल ही में प्रकाशित "लेखकों के पारिश्रमिक' पर इस सम्पादकीय टिप्पणी से सहायता हम न ा :—

'"हमें यह लिखते हुए खेद तथा लज्जा है कि 'अपनी ओर से प्रयत्न करने पर भी हम लेखकों को 'निश्चित समय पर (यानी जनवरी और जुलाई में) पारिश्रमिक नहीं भिजवा पाते। पिछला हिसाब हम धीरे धीरे साफ़ कर रहे हैं। भविष्य में हम अपने कृपालु लेखकों से पारिश्रमिक देने की तिथि के विषय में किसी प्रकार वचनबद्ध नहीं होना चाहते। हमारा 'यह विश्वास है! और इस विषय के अपने काग़ज़-पत्र चाहे जिस अधिकारी अन्वेषक को दिखला सकते 'हैं) कि पिछले साढ़े पाँच वर्षों में जितना पारिश्रमिक 'विशाल भारत' ने अपने लेखकों को दिया है, उतना 'बहुत कम हिन्दी-पत्रों ने दिया होगा, पर समय पर 'न दे सकने का अपराध हमसे अवश्य बन पड़ा है।'

"लेखकों के पारिश्रमिक के संबंध में 'विशाल भारत' की 'उपर्युक्त लाचारी' को ध्यान में रखते हुए यदि हम घर फूँक तमाशा देखनेवाले संपादक भिक्षुओं की आवश्यकता पर इस पत्रिका के प्रतिष्ठित सम्पादक की ज़ोरदार अपील को पढ़ेंगे तो उसका अर्थ हमारी समझ में आसानी से आ जायगा।"

कुछ पत्र-पत्रिकायें

हिन्दी में इधर कुछ सुन्दर नये पत्र अस्तित्व में आये हैं। इनमें कलकत्ते का 'राष्ट्रबन्धु' और प्रयाग का 'अभ्युदय' विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं।

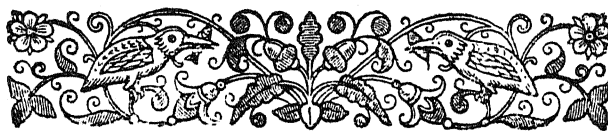
'राष्ट्रबन्धु' दैनिक है और इसका प्रकाशन स्वर्गीय जे० एम० सेनगुप्ता के 'एडवांस' के प्रकाशकों ने किया है। इसकी छपाई और काग़ज़ सुन्दर और इसमें पाठ्य-सामग्री भी उपयुक्त रहती है। इसके सम्पादक बाबू विश्वनाथसिंह नवयुवक होते हुए भी एक अनुभवी कुशल पत्रकार हैं। बिहार की खबरें इस दैनिक में विशेष रूप से स्थान पाती हैं।

इधर दैनिकों की बाढ़ आ जाने से साप्ताहिकों का प्रभाव दब-सा गया था। परन्तु 'अभ्युदय' ने प्रकाशित होकर साप्ताहिकों का महत्त्व फिर से स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। यह प्रसिद्ध विद्वान् और सुलेखक पण्डित वेंकटेश नारायण जी तिवारी के सम्पादन में निकल रहा है और बहुत अच्छा निकल रहा है।

'अभ्युदय' के सिवा मेरठ से 'विकास' नाम का एक साप्ताहिक इधर कई महीने से बड़े अच्छे ढंग से निकल रहा है। यह पत्र वहाँ के कुछ साहित्यिक नवयुवकों के प्रयत्नों का सुन्दर परिणाम है। आशा है, उनके अध्यवसाय से इस पत्र का और भी अधिक विकास होगा और यह मेरठ-मण्डल के निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने को उपयोगी सिद्ध करेगा।

पंजाब के हिन्दी-प्रेमियों ने लाहौर से 'भारती' और 'कमल' नाम की मासिक पत्रिकायें निकाली हैं। इनमें 'भारती' तो ऊँची श्रेणी की पत्रिका है और इससे पञ्जाब में, आशा है, साहित्यिक भावना जाग्रत होगी। 'कमल' बालकोपयोगी पत्र है।

हम इन पत्र-पत्रिकाओं का हृदय से स्वागत करते हैं।



Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.



सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह



मई, १९३४ | भाग ३५, खंड १ सं० ५, पूर्ण संख्या ४१३ | अधिक वैशाख, १९९१

पतझड़

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
तुम स्रस्त-ध्वस्त, तुम शुष्क-शीर्ण,
हिम-ताप-पीत, मधु-वात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !

निष्प्राण विगत-युग ! मृत विहङ्ग !
जड़-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत अस्तव्यस्त पङ्खों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

कङ्काल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली,
प्राणों की मर्-मर् से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली,

मञ्जरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर-मदिरा से
भर दे युग के नभ की प्याली।

पंडित मोतीलाल



[सर्वाधिकार लेखक के अधीन]

त्यागमूर्त्ति स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू ने स्वदेश के लिए अपने सर्वस्व की किस प्रकार बलि कर दी यह पाठकों को भली-भाँति मालूम है। परन्तु स्वदेश की सेवा के लिए कटिबद्ध होने से पूर्व उनका जीवन एक दूसरी ही दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा था जिसका बहुत कम लोगों को पता होगा। आइए, इस लेख में श्री सेंट-निहालसिंह के साथ एक बार हम भी सन् १९१० के उस 'आनन्द-भवन' की सैर कर लें जिसकी परीदेश के समान अब कहानी मात्र शेष है।

श्रीयुत सेंट निहालसिंह

पंडित मोतीलाल नेहरू से जब मैंने प्रथम बार हाथ मिलाया था तब से आज चौबीस वर्ष के लगभग हो गये। परन्तु जिस परिस्थिति में मैं उनसे मिला था वह मेरी स्मृति में इतनी स्पष्ट है, मानो अभी कल की ही बात हो।

पृथ्वी की प्रथम प्रदक्षिणा जिसमें क़रीब पाँच वर्ष लगे थे, करके भारत आये मुझे केवल एक महीना हुआ था। मेरे बहुत-से मित्र यह चाहते थे कि अब मैं यात्रायें करना बन्द कर दूँ और भारत में रह कर सम्पादन-कार्य्य करूँ।

उनमें एक श्रीयुत सच्चिदानन्द सिनहा थे। साहित्य की ओर उनका झुकाव बाल्यकाल से ही रहा था। इसलिए जो लोग उनको जानते थे उन्हें उनके विलायत से बैरिस्टरी पास करके आते ही इलाहाबाद से 'हिन्दुस्तान रिव्यू' नामक एक मासिक पत्र अँगरेज़ी में निकालते देखकर आश्चर्य नहीं हुआ।

संसार-भ्रमण के लिए प्रथम बार मैं सन् १९०४ में निकला था। इससे पहले मैं उनसे नहीं मिला था। परन्तु उनके 'रिव्यू' के कुछ फुटकर अङ्क मुझे देखने को मिल गये थे और उन्होंने मुझे आकृष्ट किया था। कुछ वर्षों के बाद संयुक्त-राज्य, अमरीका, से मैंने उनके पास एक लेख भेजा, जिसे उन्होंने शीघ्रता के साथ अपने पत्र में छापा ही नहीं था, बल्कि उसे सम्मान का स्थान भी दिया था। मेरे नाम उन्होंने अपना पत्र भेजना आरम्भ कर दिया और बड़े प्रेम से मुझे पत्र लिखा कि मैं उनके पत्र के लिए यथाशक्ति बराबर लेख लिखा करूँ।

तब से समय समय पर सच्चिदानन्द मुझे पत्र लिखते रहे। उनके पत्र मित्रता-पूर्ण और प्रशंसा के योग्य होते



थे। इसलिए १६१० में मातृभूमि में वापस आने पर बम्बई में जहाज़ से उतरते ही मैं स्वभावतः उनसे भेंट करने के लिए उत्सुक हो उठा।

वे भी मुझसे मिलने के लिए उत्सुक थे। इसलिए उन्होंने मुझे मेरे होशियारपुर (पञ्जाब) जहाँ मैं मिसेज़ सेंट निहालसिंह के साथ अपने माता-पिता से मिलने गया था, पहुँचते ही एक पत्र लिखा।

मुझे मालूम हुआ कि श्रीयुत सच्चिदानन्द सिनहा का ब्याह लाहौर के एक बैरिस्टर श्री रोशन-लाल की पुत्री के साथ हुआ है। गर्मी में कचहरियों के बन्द होजाने पर उन्होंने अपने श्वसुर से मिलने के लिए लाहौर आने का निश्चय किया था। वहीं से होशियारपुर में मुझसे मिलने के लिए आने को उन्होंने मुझे लिखा था।

अपने पत्र में उन्होंने अत्यन्त नम्रता-पूर्वक मुझसे पूछा था कि क्या आपकी संसार-भ्रमण की इच्छा पूर्ण हो चुकी है और अब आप अपने ऊपर भारत में सम्पादकीय उत्तरदायित्व ले सकते हैं। उनके कुछ मित्रों ने इलाहाबाद से 'लीडर' नामक एक दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था और उसमें वे मुझे बुलाना चाहते थे।

ख़ैर, सिनहा के होशियारपुर पहुँचने के पहले ही मैं वहाँ से चल पड़ा। महान् विस्तृत संसार में पाँच वर्ष तक भ्रमण करने के पश्चात् वह स्थान मुझे एक बड़ा गाँव-सा जान पड़ा जो अभी असभ्य ही था और जिसका बौद्धिक विकास नहीं हुआ था। मैं कह नहीं सकता कि मेरी पत्नी ने जो अमरीका से ताज़ा भारतवर्ष आई थीं—और मैंने उस मनहूस स्थान में एक मास कैसे व्यतीत किया? माता-पिता का स्नेह ही इसका एक-मात्र उत्तर हो सकता है।

उस समय गर्मी बहुत अधिक पड़ रही थी। मिसेज़ सिंह के लिए वह असह्य हो उठी। ठंडे देशों में पाँच वर्ष बिताने के पश्चात् मुझे भी वह गर्मी अखरने लगी।



[नया आनन्दभवन]

पञ्जाब के उस छोटे-से बिल में चूहों की तरह रहने की अपेक्षा हमने गर्मी में जल मरने का ही निश्चय किया। इसलिए जून के दूसरे सप्ताह में हम भारत का—जिसे मेरी पत्नी ने अपने सारे जीवन प्रेम से स्मरण किया था और जहाँ से बाहर गये माने मुझे एक युग बीत चुका था—भ्रमण करने निकले।

अब से लगभग २९ वर्ष पूर्व का हमारा यह कार्य्य अब हमें सर्वथा पागलपन का कार्य्य जान पड़ता है। आश्चर्य्य की बात तो यह है कि ग्रीष्मकाल के उस मध्याह्न में इस प्रकार भारत के मैदानों में फिरने से हमारा स्वास्थ्य सदा के लिए बिगड़ नहीं गया!

तब हम दोनों युवा थे। हमारी नाड़ियों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा था। बिना किसी की सम्मति लिये हम जो चाहते थे, करते थे। सौभाग्य से किसी अदृश्य शक्ति ने उस समय हमारी देख-भाल और रक्षा की। यात्रा के अन्त में हमारा स्वास्थ्य उसके आरम्भ करने के समय के स्वास्थ्य की अपेक्षा अधिक बुरा नहीं था।

जब श्रीयुत सच्चिदानन्द सिनहा को यह मालूम हुआ कि हमारा इलाहाबाद देखने का इरादा है तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और हमारे ठहरने की व्यवस्था करने लगे। जब हम उस दिशा की ओर रवाना हुए तब हमें यह पता नहीं था कि हम पंडित मोतीलाल नेहरू से मिलेंगे। उनके सम्बन्ध में हमने इससे अधिक कि वे एक सफल वकील हैं और राजसी ढङ्ग से रहते हैं, और कुछ भी नहीं सुना था।

[२]

हमारी गाड़ी क़रीब दोपहर को इलाहाबाद-स्टेशन पर पहुँची। सूर्य्य देवता अपने पूर्ण यौवन के साथ सिर के ऊपर प्रज्वलित हो रहे थे। गर्म और शुष्क वायु, जैसे किसी भट्ठी से तप्त होकर निकल रही हो चेहरे को झुलसा रही थी। त्वचा और वस्त्रों पर बालू और गर्द के कण जमा हो रहे थे।

प्लेटफ़ार्म पर श्रीयुत सच्चिदानन्द सिनहा हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि उन्होंने मुझे पहले कभी नहीं देखा था, तथापि मुझे पहचानने में उन्हें कुछ देर न लगी। केवल एक ही भारतीय उस गाड़ी से एक पाश्चात्य महिला के साथ उतरा था। इसलिए मेरे क़रीब आने और मेरा नाम लेकर सम्बोधित करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं हुआ।

उनकी पोशाक की स्वच्छता देखकर मैं दङ्ग रह गया। वे एक भूरे रंग की टोपी लगाये हुए थे, जो कुछ कुछ वैसी ही थी जैसी लार्ड कर्ज़न, जब वे भारतवर्ष के वायसराय और गवर्नर-जेनरल थे, गर्मी के मौसम में लगाया करते थे। उनका कोट और पायजामा भी भूरे ही रंग के थे, जो सम्भवतः किसी महीन सर्ज के थे। नेक-टाई और मोज़े सूट और हैट के अनुरूप ही थे। हम दोनों के प्रति उन्होंने जो मित्रभाव प्रदर्शित किया उसका हम पर और भी प्रभाव पड़ा। हमारा असबाब ले जाने के लिए वे अपने नौकरों को साथ लाये थे। इस-लिए उन्होंने उसकी ओर से हमें बेफ़िक्र हो जाने के

लिए कहा और हमें बाहर एक बढ़िया और बड़े मोटर की ओर ले गये जिसे ड्राइवर हमें देखते ही सायबान में ले आया।

[३]

जब मोटर सड़क पर तीव्र गति से चली जा रही थी और उसके श्वेत बाह्य-तल पर सूर्य्य की किरणें प्रतिबिम्बित होकर उसके तेज को द्विगुणित करके दिखा रही थीं तब सिनहा ने मुझसे कहा कि हम पंडित मोतीलाल नेहरू के यहाँ चल रहे हैं। इस बात को उन्होंने इस ढङ्ग से कहा, मानो इस सम्बन्ध में हमारी स्वीकृति निश्चित है। इसका कोई कारण न बताकर वे केवल मुस्कराने लगे।

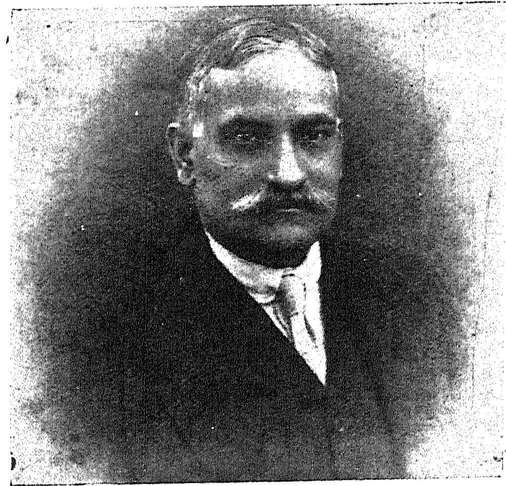
हमें कुछ आश्चर्य्य हुआ। हमें जो कुछ उन्होंने लिखा था उससे हमने यही अनुमान किया था कि अपने इलाहाबाद के लघु प्रवास में हम उन्हीं के यहाँ ठहरेंगे।

हमें चकित देखकर उन्होंने कहा—"पंडित जी का रसोइया गोआ* का रहनेवाला है और मैंने सोचा कि मेरे रसोइए की अपेक्षा उसका बनाया हुआ भोजन मिसेज़ सेंट निहालसिंह को अधिक पसन्द आयेगा। इसलिए हमने आपके ठहरने का प्रबन्ध वहीं किया है।"

यह विषय अब विवाद की सीमा के बाहर निकल चुका था, इसलिए न तो मैंने और न मिसेज़ सेंट निहालसिंह ने ही कोई असमंजस-सूचक बात कही। मिस्टर सिनहा के हम बड़े कृतज्ञ हुए। उन्हें हमारे आराम के लिए बड़ी चिन्ता थी। हमें जान पड़ा कि इलाहाबाद उनका हेड क्वार्टर था और थोड़ा थोड़ा करके उनका अधिकांश समय इलाहाबाद के बाहर ही व्यतीत होता था।

इस सम्बन्ध में और बात न हुई। पर स्वभाव से ही भावुक होने के कारण मुझे कुछ बुरा मालूम हुआ था। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, उस समय

*गोआवासी अँगरेज़ी ढङ्ग का भोजन बनाने में बड़े निपुण होते हैं और उनकी सारे 'भारत' में बड़ी माँग रहती है।



[पंडित मोतीलाल नेहरू सन् १९१३ में]

पंडित मोतीलाल का हमारे लिए एक नाम से अधिक और कोई महत्त्व न था।

[४]

स्टेशन से आनन्दभवन—पंडित मोतीलाल नेहरू का निवासस्थान—जाने में बहुत देर नहीं लगी। जैसे ही हम वहाँ पहुँचे मिस्टर सच्चिदानन्द मकान के सामने के कमरों में ले गये। ये हमारे लिए पृथक् कर दिये गये थे।

उन्होंने कहा—"आप लोग भूखे होंगे, शीघ्रता से स्नान कर लीजिए और पहले भोजन कीजिए।"

हमने वैसा ही किया। जब हम भोजनगृह में गये तब उन्होंने हमारे मेज़बान की अनुपस्थिति के लिए हमसे क्षमा माँगी। पंडित जी कचहरी गये हुए थे। इस सिलसिले में हमें मालूम हुआ कि उनकी कम से कम फ़ीस ५०० रुपया प्रति पेशी है।

पंडित जी का गोआ-वासी रसोइया निःसन्देह अपने कार्य्य में दक्ष था। स्वादिष्ठ से स्वादिष्ठ भोजन हमारे सामने आने लगे। क्या क्या खाया, आज हमें यह स्मरण नहीं है। जब हम पुडिंग की प्रतीक्षा कर रहे थे (योरपीय भोजनों में इसका नम्बर अन्त में आता है) तब हमें यह देखकर आश्चर्य्य हुआ कि हमारे



[श्रीमती उमा नेहरू]

सामने पुलाव और अन्य भारतीय भोजनों का ढेर लग रहा है। ये सब भोजन भी बड़े स्वादिष्ट थे।

मैंने सिनहा साहब से कहा--यह भोजन तो गोआई रसोइये का बनाया नहीं जान पड़ता।

उन्होंने उत्तर दिया—नहीं, पंडित जी के और भी रसोइये हैं।

मेरी पत्नी ने कहा—यह तो दो बार भोजन करना हुआ।

भारतीय भोजन के प्रति उनका सर्वदा ही बड़ा अनुराग रहा है। यदि उन्हें पहले से ज्ञात होता कि भारतीय भोजन भी मिलेगा तो वे योरोपीय ढङ्ग का भोजन कम मात्रा में करतीं।

मैं भी यही भूल कर बैठा था। परन्तु एक लम्बे समय तक भारतवर्ष से बाहर रहने के कारण भारतीय भोजन का न मिलना मुझे इतना अखरा था कि मैंने उस भोजन को यों ही छोड़ देने की अपेक्षा भूख से अधिक ही खाना पसन्द किया।

पुलाव और कढ़ी का आनन्द लेते हुए मैंने मिस्टर सच्चिदानन्द सिनहा से कहा कि यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट है कि पंडित मोतीलाल नेहरू को पूर्व और पश्चिम दोनों गोलार्द्धों का उत्तमांश प्राप्त है।

उस दिव्य भोजन का जो हमें इतनी विशुद्धता के साथ खिलाया गया था जितनी कि योरप के किसी प्रथम श्रेणी के होटल में ही खिलाया जा सकता है, हमारे ऊपर जो प्रभाव पड़ा उसे उन कमरों का जो हमारे हवाले किये गये थे, निरीक्षण करने से और भी पुष्टि प्राप्त हुई। इस निरीक्षण का अवसर हमें भोजन के बाद मिला जब श्री सच्चिदानन्द सिनहा अपने घर आराम करने को चले गये थे और हमें भी आराम करने का उपदेश दे गये थे। उस स्थान की प्रत्येक वस्तु राजसी प्रतीत होती थी।

कमरे बड़े और ऊँचे थे। वे बहुत अच्छी तरह और बड़ी सुन्दरता के साथ सजाये गये थे। मेज़ें, कुर्सियाँ और पलँग आदि सभी वस्तुएँ योरप से मँगाई गई थीं। उनसे एक विचित्र रुचि का परिचय मिलता था। कोई भी वस्तु जो ज़रा भी आराम पहुँचा सकती थी, छूटने नहीं पाई थी।

पाँच बजे बटलर ने चाय के तैयार होने की सूचना देते हुए हमसे पूछा कि आप चाय अपने ही कमरे में पियेंगे या गोल कमरे में परिवार के लोगों के साथ। जैसी आपकी इच्छा हो, यदि मेम साहब थकी हों तो यहीं लाऊँ।

[४]

जब हम ड्राइंग-रूम में जो एक बहुत बड़ा लम्बा-चौड़ा कमरा था जाने लगे तब रास्ते में हमारे मेज़बान से हमारी भेंट हुई। मैं उसी समय से उन पर मुग्ध हो गया।

उनका क़द ऊँचा था, उनका शरीर पतला सीधा और सुडौल था।

उनके सुघर सिर पर बालों का सुन्दर मुकुट था, जिसमें कुछ रुपहली रेखायें भी अङ्कित थीं। उनकी ओर एक बार देखने से भी कोई बिना यह कहे नहीं रह सकता था कि उनके बालों को किसी शौक़ीन नाई ने बड़ी सावधानी से काटा है और बालों के सँवारने में भी बड़ी सावधानी से काम लिया गया है।

उनका ललाट चौड़ा और ऊँचा था और उस पर गम्भीर चिन्तन की रेखायें अङ्कित थीं। धनुषाकार भौंहों के नीचे से दो काली काली पुतलियाँ चमक रही थीं और जान पड़ता था कि उनकी चमक उनके मस्तिष्क में छिपी अग्नि से आ रही है। उन आँखों में स्नेह था, वे संसार की ओर अत्यन्त सहिष्णुता और आनन्द के साथ देखती थीं। नासिका उभड़ी हुई थी और उससे उनकी शक्ति और उत्साह का परिचय मिलता था। उनके होंठ एक सत्ताधारी की भाँति पतले और वृत्ताकार थे और वे उनके मुख पर अजंता की चित्रकला के धनुष के समान अङ्कित थे। उनकी ठुड्डी से युद्धप्रियता का भाव टपकता था, तथापि वह अन्य रेखाओं के साथ पूर्ण रूप से एकरूपता प्रदर्शित करती थी। उसके नीचे गर्दन की बनावट बड़ी सुन्दर और ठीक थी। उनका भाषण मधुर और तेज़ था और वे धाराप्रवाह अँगरेज़ी बोलते थे।

पंडित जी सिर से पैर तक अँगरेज़ी पोशाक में थे। उनके देखने से जान पड़ता था मानो अभी अभी वे बाँड स्ट्रीट—लन्दन में फ़ैशन का केन्द्र— की सर्वोत्तम दर्ज़ी की दूकान से निकले चले आ रहे हों।

उनके उत्तम वस्त्र उनके अच्छे शील-स्वभाव के सर्वथा अनुरूप थे। उनसे उनके चरित्र के सुखमय पहलू का परिचय मिलता था।

उस समय उनके शरीर पर किसी ऐसे वस्त्र का जो भारतवर्ष में बना हो, एक धागा भी नहीं था। कुछ समय के बाद मुझे मालूम हुआ कि उनके मित्र उन्हें पेरिस से कमीज़ें धुलवाने के लिए छेड़ा करते थे।

उन दिनों उनकी रुचि और स्वभाव पर ऐसी ही प्रगल्भ टीकायें हुआ करती थीं। किसी भारतीय ने पाश्चात्य सभ्यता को इतना अधिक नहीं अपनाया था जितना कि उन्होंने। यदि मैं पश्चिम से ताज़ा ताज़ा न आया होता तो भी मेरे ऊपर यही प्रभाव पड़ता।

[६]

यह सब होते हुए भी मैंने देखा कि पाश्चात्य सभ्यता के इस प्रेम ने उनके आतिथ्य-सत्कार के उस भाव को नष्ट नहीं किया था जो पूर्व के निवासियों में जन्म-जात होता है। पूर्व के सुशिक्षित और सभ्य पुरुष के सब गुण उनमें विद्यमान थे। योरपीय शिष्टाचार की समस्त विशेषताओं पर अधिकार कर लेना उनके लिए बड़ा सरल था। इन विशेषताओं को उन्होंने योरप के उच्च सामाजिक जीवन से ग्रहण किया होगा।



[राइट आनरेबुल सर तेजबहादुर सप्रू]

सबसे पहले उन्होंने हमसे स्टेशन पर या उसके बाद घर पर हमारे पहुँचते ही न मिल सकने के लिए क्षमा माँगी। उनके मुँह से वे शब्द इतने प्रेम और सचाई के साथ निकले थे कि उनका हम पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

उसके पश्चात् उन्होंने हमसे कहा कि आप लोग हमारे घर को अपना ही घर समझिए, जहाँ चाहिए वहाँ जाइए और जैसे चाहिए रहिए। नौकरों को उन्होंने तुरन्त हमारी आज्ञा के अनुसार काम करने के लिए हिदायत कर दी थी। उनकी इच्छा थी कि हम लोग कहीं जाने के लिए जल्दी न करें और जब तक चाहें उनके मकान में बने रहें। उन्होंने हमें इस बात का विश्वास दिलाया कि उन्हें संगत, विशेषकर विद्वानों की संगत पसन्द है और इतनी गर्मी पड़ते हुए भी तथा अपनी पत्नी के ग़ैरहाज़िर होते हुए भी वे हमें सुख पहुँचाने में कोई प्रयत्न बाक़ी न रक्खेंगे।



[पंडित मदनमोहन मालवीय]

उनकी पत्नी अपने बच्चों के साथ नैनीताल या शायद मंसूरी में थीं। जवाहरलाल अपनी शिक्षा समाप्त करके योरप से नहीं लौटे थे या शायद आकर फिर विलायत की सैर करने चले गये थे। इस सम्बन्ध में मुझे ठीक स्मरण नहीं है।

[७]

यह बातचीत बड़े कमरे में जो हमारे कमरों के ठीक बाहर था, हुई थी। इससे मुझे और मेरी पत्नी को बड़ी शान्ति मिली। हमें जान पड़ा जैसे हमारी उनकी वर्षों की दोस्ती हो।

इस प्रकार हमारा स्वागत करने के पश्चात् पंडित जी हमें अपने ड्राइंगरूम में ले गये जो भोजनवाले कमरे से भी बहुत बड़ा था। इसके एक कोने में चाय की मेज़ के सामने एक महिला बैठी थीं जो हलके गुलाबी रंग की साड़ी पहने हुए थीं। सैंडविचों, केकों, बिस्कुटों इत्यादि के अतिरिक्त भारतीय भोजन की कुछ तश्तरियां और कुछ फल भी थे।

उक्त महिला श्रीमती उमा नेहरू, पंडित श्यामलाल नेहरू की पत्नी थीं। उन्होंने राष्ट्र की बड़ी सेवायें की हैं और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। हमने देखा कि वे अत्यन्त सुशिक्षिता महिला हैं और एक ऐसे युग में जब उत्तर-भारत में प्रतिष्ठित घरानों की महिलाओं के लिए परदे के अन्दर जीवन व्यतीत करना आवश्यक समझा जाता है, वे बन्धन-मुक्त हैं। (पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि मैं १९१० की बात लिख रहा हूँ।) वे धाराप्रवाह अँगरेज़ी बोलती थीं और कभी कभी उनकी टिप्पणियां बड़ी तीक्ष्ण होती थीं।

हम फ़ुर्सत के साथ चाय पीते जाते थे और विविध विषयों पर बातें भी करते जाते थे। पंडित जी ने दूर देशों की यात्रायें की थीं, पर वे संयुक्त-राज्य (अमरीका) नहीं गये थे। उस देश के और उस देश की संस्थाओं के विषय में उन्होंने हमसे बहुत-सी बातें पूछीं।

हमने शीघ्र ही देखा कि उनके विचार अमरीका और अमरीकनों के सम्बन्ध में अँगरेज़ों-द्वारा प्रभावित नहीं हुए थे। वे मनुष्यस्वभाव की कमज़ोरियाँ जानते थे और उन्हें यह मालूम था कि बौद्धिक सत्य भी ईर्ष्या से प्रभावित हो सकता है, इसलिए उन्होंने अमरीका के सम्बन्ध में झूठी सम्मतियों पर भरोसा नहीं किया था। इसके विपरीत उन्होंने अमरीका के सम्बन्ध में अमरीकनों की लिखी पुस्तकें पढ़ी थीं। अपनी योरप-यात्रा के समय में अमरीकनों से वे मिले भी थे।

हमारे वहाँ पहुँचने के कुछ समय पहले वे एक अमरीकन महिला का स्वागत-सत्कार अपने यहाँ कर चुके थे। वह महिला एक या कदाचित् कई कारख़ानों की स्वामिनी थीं। उनके कारख़ाने में हथौड़े या कुछ ऐसे ही औज़ार लाखों की संख्या में बनते थे। उनके

साथ उनका सेक्रेटरी भी आया था, जो एक नवयुवक था और बहुत ही कार्य्य-पटु था।

मोतीलाल जी को ये आगन्तुक बहुत पसन्द आये थे। उन्होंने उस महिला की विवेकशक्ति की ख़ास तौर से प्रशंसा की। अपने विस्तृत व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी वह तुरन्त समझ लेती थी। उसकी शीघ्र निर्णय करने और निर्णय कर चुकने के पश्चात् उस पर क़ायम रहने की योग्यता पर भी वे मुग्ध हुए थे।

उन्होंने मेरी पत्नी से पूछा—"हमारे देश की स्त्रियाँ ऐसा क्यों नहीं कर सकती हैं ?"

मेरी पत्नी ने उत्तर दिया—"पंडित जी, उन्हें अवसर दीजिए। मैं इस देश के लिए नई हूँ, परन्तु इतना तो मैं देख ही चुकी हूँ कि मेरी भारतीय बहनें यथेष्ट बुद्धिमान् हैं। उनमें और भी बहुमूल्य विशेषतायें हैं। उन्हें स्वाधीनता और शिक्षा दीजिए और फिर देखिए।"

मैंने देखा कि श्रीमती उमा नेहरू ने इन भावों को विशेष रूप से पसन्द किया। शीघ्र ही उनकी और मिसेज़ सेंट निहालसिंह की मित्रता हो गई।

[८]

सूर्य्य जब शीघ्रता के साथ पश्चिम की ओर जा रहा था, पंडित जी ने मोटर-द्वारा सैर करने का प्रस्ताव किया। हम सब एक बड़ी गाड़ी में बैठे। उन्होंने स्वयं मोटर चलाने का निश्चय किया और हमें अपने बग़ल में बैठने के लिए कहा ताकि मार्ग में बातें भी होती चलें।

चलने से पहले उन्होंने मेरी पत्नी से पूछा कि आप इस शहर में पहले तो कभी नहीं आई थीं।

उन्होंने उत्तर दिया—"इस जन्म में तो नहीं आई। मेरा यह प्रथम आगमन है।"

"अच्छी बात है, तब हम आपको संगम का एक दृश्य दिखायेंगे।" उन्होंने कहा।

मैंने भी संगम का दृश्य प्रथम बार ही देखा था। चाहे जब तक मैं जीवित रहूँ, वह अवसर मैं कभी नहीं भूल सकूँगा।

हिमगिरि-शिखर में जन्म लेकर गंगा माई मैदानों को पार करती हुई प्रयाग आती हैं। इस लम्बी यात्रा में भी वे अपनी बर्फ़ के समान सफ़ेदी सुरक्षित रखती हैं।

पर यमुना की अवस्था यह नहीं है। लाल भूमि पर बहते बहते उनका रंग मोरचा का-सा हो जाता है। जिस स्थान पर ये दोनों बहनें एक दूसरे का आलिङ्गन करती हैं उससे आगे कुछ दूर तक जान पड़ता है मानो दो फीते, एक सफ़ेद और दूसरा मटमैला, पास पास रक्खे हों, पर उन्हें मिलकर एक हो जाने में कठिनाई होती हो।

मैंने आधा अपने आप से और आधा पंडित जी से कहा—"यह हमारे समय के भारत का हमें स्मरण दिलाता है। प्राचीनता और नवीनता दोनों ने जैसे हाथ तो मिलाया हो, पर जैसे अपना पृथक् व्यक्तित्व खोने के लिए दो में से एक भी तैयार न हों।"

यह कह चुकने के बाद मैंने सोचा कि यह बात मैंने ग़लत मनुष्य से कही है। पाश्चात्य सभ्यता के रङ्ग में वे इतने रँगे हुए थे कि यदि कोई उनके मुख की ओर देखता न हो तो उसके लिए यह कहना कि वे योरपीय नहीं हैं, असम्भव है।

तब मैं यह नहीं जानता था कि पाश्चात्य सभ्यता से इतने प्रभावित होते हुए भी उन्होंने उसे अपने जीवन का अङ्ग नहीं बनाया था, पर इसका ज़िक्र मैं यथा अवसर करूँगा। यहाँ वार्तालाप के सूत्र को फिर पकड़ता हूँ।

मैंने पंडित जी से पूछा—"तीसरी नदी 'सरस्वती' के संगम की कल्पना किस स्थान पर की जाती है।"

उन्होंने मज़ाक के भाव से कहा—"यह बात आप ग़लत आदमी से पूछ रहे हैं। मैं काश्मीरी ब्राह्मण हूँ, इसमें सन्देह नहीं; पर मैं पंडा नहीं हूँ।"

हम सब लोग हँस पड़े।

[९]

सैर करके जब हम लौटे तब अन्धकार ने संसार को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लिया था। एंटी चैम्बर में होकर जब हम निकले तब हमने कोने में लाल लाल कुछ देखा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह मकान को

बिजली से जलाने का यन्त्र है जो बिगड़ गया है और उसके सुधारनेवाला इलाहाबाद में कोई नहीं है।

पंडित जी ने पूछा—"क्या आप इसे चला सकते हैं ?" कदाचित् उनका ख़याल था कि जो व्यक्ति कल-पुर्ज़ों के उन्नतशील देश अमरीका में कुछ समय रह चुका है उसे बिजली का प्रकाश फैलानेवाले इस यन्त्र का चलाना आता होगा।

मुझे बिजली-सम्बन्धी काम का क ख ग भी नहीं मालूम था। यह बात मैंने स्वीकार की।

स्त्रियाँ अपने कमरों में चली गईं। मैं पंडित जी के साथ विस्तृत अहाते के एक भाग में जहाँ कुछ कुर्सियाँ और छोटी मेज़ें रक्खी हुई थीं, गया। सच्चिदानन्द सिनहा वहाँ कुछ पहले से ही आ गये थे और वहाँ बैठे कुछ मित्रों से गप-शप कर रहे थे। और भी लोग आये और ख़ासी मंडली जमा हो गई।

पहले आनेवालों में जहाँ तक मुझे स्मरण है, पंडित मदनमोहन मालवीय थे। उनकी वेश-भूषा पंडित मोतीलाल नेहरू के सर्वथा प्रतिकूल थी।

मालवीय जी के सिर पर एक छोटी, सफ़ेद और सुन्दरता के साथ बँधी हुई पगड़ी थी। उनके मस्तक पर टीका लगा था। उनके गले में एक सफ़ेद दुपट्टा लिपटा था जो नीचे अचकन के ऊपर बड़ी सुन्दरता के साथ लहरा रहा था। अचकन में बजाय बटन के नन्हें नन्हें बन्द लगे थे। उनकी पतली टाँगें कसे सफ़ेद पायजामे से ढँकी थीं। उनके पाँवों में लाल जूते थे, जिनकी नोकें आगे की ओर पीछे को मुड़ी थीं। जब वे मोतीलाल के ठीक सामने मेरी बग़ल में आकर विराजमान हुए तब हमें जान पड़ा जैसे वे किसी दूसरे लोक के यात्री हों।

मालवीय जी के लिए वह जलपान व्यर्थ था, जिसका बाक़ी सब लोग आनन्द ले रहे थे। कट्टरता के लिए लोग उनको हँस रहे थे और मेरा ख़याल है, वह पहला ही अवसर नहीं था। एक मुस्कुराहट-द्वारा वे इस मज़ाक का निवारण कर देते थे।

मुझे डाक्टर (अब राइट आनरेबुल सर) तेजबहादुर सप्रू का भी स्मरण आता है। विविध विषयों के ज्ञान से परिपूर्ण अपने सावधान मस्तिष्क के साथ वे किसी भी समूह में प्रमुख रूप से दिखाई पड़ेंगे। डाक्टर साहब, इन्हीं शब्दों से वे सम्बोधित किये जाते थे, प्रत्येक बात को गम्भीरतापूर्वक तौलते थे और बड़े संयम और शान्तिभाव से उस पर अपनी राय प्रकट करते थे। उनका व्यवहार सुसंस्कृत था और उनमें अपनी बात को सिद्ध करने के जोश की अपेक्षा दूसरों के भावों का ख़याल रखने की इच्छा अधिक थी।

[१०]

आगन्तुकों में कट्टर लोग ६ बजे के क़रीब चले गये। जो रह गये उन्होंने भोजन करने की तैयारी की।

जब हम लोग बातें कर रहे थे, पंडित जी के नौकर अपने काम में व्यस्त थे। हमारे क़रीब ही उन्होंने खुली जगह में एक मेज़ लगाई थी। मेरी पत्नी जो मेरे बाद वहाँ आगई थीं और जो अपनी मातृभूमि अमरीका की चर्चा चलने पर बीच बीच में बोल उठती थीं, नौकरों की कारगुज़ारी देख रही थीं।

मेज़ के ऊपर बिछे स्वच्छ कपड़े पर फूलों की पंखुड़ियों से उन्होंने जो बेलबूटे बनाये थे, उनको उन्होंने बहुत पसन्द किया था। हवा में न बुझ सकनेवाले विविध रङ्गों के लैम्पों ने उस स्थान को पूरा परीदेश बना दिया था।

दोपहर के जलपान का मैं ऊपर ज़िक्र कर चुका हूँ। शाम के भोजन का पाठक इसी से अनुमान कर लें। स्वादिष्ट भोजनों की तश्तरियों पर तश्तरियाँ आईं। दिन के अनुभव से सजग होकर हमने योरपीय भोजन कम मात्रा में खाया और भारतीय भोजनों के लिए पेट में स्थान ख़ाली रक्खा। क्योंकि हमें निश्चय था कि उनकी भी बारी आयेगी। इस प्रतीक्षा में हमें निराश नहीं होना पड़ा। तरह तरह के पुलाव और क़ूरमे आये और हमने ख़ूब खाया।

भोजन की मेज़ पर बड़ी विनोद-पूर्ण बातें हुईं। खानेवालों की संख्या भी कम न थी। मज़ाक किये गये। हममें से कुछ ने अपने जीवन के दिलचस्प अनुभव भी सुनाये।

मेरी पत्नी ने जिनके पास घर की चाभियां रहती हैं जब बम्बई में चुङ्गीघर का अपना अनुभव बताया तब पंडित जी को अपने ही एक ऐसे अनुभव का स्मरण हो आया। जब वे योरप से लौटे थे तब चुङ्गी के आदमियों ने उनकी वस्तुओं की बड़ी कड़ाई से जाँच करने की ज़िद की।

इस जाँच में बहुत समय लगा, क्योंकि उनके साथ कितने ही सन्दूक़ और बंडल थे, जिनमें कपड़े, यात्रा की आवश्यक वस्तुएँ और परिचितों और मित्रों के लिए उपहार थे। इस जाँच-पड़ताल में कुछ ऐसी बातें भी हुईं जिनसे पंडित जी को बजाय बुरा लगने के मज़ाक सूझा। और अफ़सरों का मज़ाक उड़ाने के लिए प्रत्येक अवसर का उन्होंने सदुपयोग किया।

उक्त दृश्य का उन्होंने अपने ढङ्ग से वर्णन किया था। उनके वर्णन को सुनकर हमारे सामने वह दृश्य उपस्थित होगया और हमें जान पड़ा जैसे चुङ्गी के अफ़सर एक छोटे संदूक़ को उठाकर पूछ रहे हैं—"कृपया बताइए, इसमें क्या है?" और उनको पंडित जी उत्तर दे रहे हैं—"मैं कैसे बता सकता हूँ?" या "क्या आप मुझसे यह आशा करते हैं कि मैं प्रत्येक वस्तु को बताऊँ जिसे मेरे नौकरों ने इन सन्दूक़ों में रक्खा है।" या "यदि आप जानना चाहते हैं कि इसमें क्या है तो इसे खोल डालिए और स्वयं देखिए। चाभी आपकी सेवा में उपस्थित है।"



बेचारा चुङ्गी का आदमी अपने कर्तव्य का पालन करने की चेष्टा करते हुए सन्दूक़ को खोलता और उसमें कोई पोशाक या वैसी कोई वस्तु पाता जो तमञ्चा या राजद्रोही साहित्य से बिलकुल न मिलती-जुलती होती थी।

उनकी ब्यौरेवार बातों को सुनकर हमारा हँसते हँसते पेट फूल जाता।

भोजन के साथ साथ शराब की भी धारा मुक्त बह रही थी। मैं अपने बाल्यकाल से ही शराब का प्रशंसक नहीं था और इसलिए शराब पर अपनी सम्मति नहीं दे सकता। परन्तु मेरे मित्र जो उसका अनुभव रखते थे और अधिकार के साथ बोल सकते थे, पंडित जी की शराबों का चुनाव करने की शक्ति की प्रशंसा करते थे। उस समय जितने क़िस्म की शराबें लोगों को पिलाई गईं और आनन्दभवन में मैंने शराब की जितनी बोतलें देखीं उनसे मैं कह सकता हूँ कि आनन्दभवन में जितनी क़िस्म की उत्तम उत्तम शराबें थीं उतनी योरप के कदाचित् ही किसी प्रसिद्ध होटल में भी रही हों।

उस रात बड़ी देर तक ग़प लड़ती रही। परन्तु दूसरे दिन सवेरे पंडित जी हमसे पहले ही उठे और अपने अदालत के काम में परिश्रम के साथ लग गये। अपने तेज़ मस्तिष्क की सहायता से वे तुरन्त किसी मामले की तह तक पहुँच जाते थे और अपनी वकालत की प्रतिभा से प्रायः उसे जीत भी लेते थे। इसमें आश्चर्य नहीं जो वे मुँहमाँगी फ़ीस पाते थे।



पिछले सत्रह वर्षों की राजनैतिक घटनाओं का सिंहावलोकन करते हुए स्वामी जी ने इस लेख में अपने ढङ्ग से इस बात की आवश्यकता बतलाई है कि अब हमें महात्मा गांधी का पीछा छोड़कर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कोई दूसरा साधन तलाश करना चाहिए तथा कांग्रेस के प्रोग्राम को एक-दम बदल डालना चाहिए।

सिं हा व लो क न

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

उस दिन की वह संध्या। मैं बम्बई में समुद्र के किनारे चौपाटी की सड़क पर खड़ा था। डाक्टर कल्याणदास जी देसाई मुझे वहाँ भ्रमणार्थ छोड़ने के लिए आये थे। वे मुझे स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की दीर्घ-काय मूर्ति के सामने छोड़कर बोले—"आप यहाँ बैठिए। मैं साढ़े आठ बजे मोटर लेकर आऊँगा और आपको अपने साथ घर ले चलूँगा।"



वे चले गये। उन्हें बम्बई आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव में शरीक होना था। म्हात्रे-स्टूडियो के पास आर्य-समाज का पंडाल बना हुआ था और वहाँ साम्प्रदायिकता के रंग में रँगे हुए उपदेशक अपना गर्जन कर रहे थे। दो सीढ़ियाँ चढ़कर मैं उस मूर्त्ति के चरणों के पास बैठ गया और लगा इधर-उधर निहारने।

उस दिन की वह संध्या। कभी भूलेगी नहीं। सात फ़ुट के क़रीब उँचाई के एक साधारण सीढ़ियोंवाले चौकोने पत्थर पर संगमर्मर का एक छोटा-सा चबूतरा बनाकर उसी पर अष्टधातु की तिलक महाराज की यह मूर्त्ति बम्बई के नागरिकों की ओर से खड़ी की गई है। उसके चारों तरफ़ भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं तथा अँगरेज़ी में—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—यह वाक्य लिखा हुआ है। उसे पढ़कर मैं सोच में पड़ गया। पिछले सत्रह वर्षों की स्मृतियाँ चैतन्य हो उठीं। घटनाओं का चक्र ज्ञान की आँखों के सामने घूमने लगा। नाटक-कार एक एक करके सामने खड़े हो गये और मैं पिछले राष्ट्रीय जीवन का सिंहा-वलोकन करने लगा।

× × ×

मेरी बाईं ओर अरब-सागर में हलकी हलकी लहरें उठ रही थीं। सामने मालाबार की पहाड़ी काली दीवार की तरह पश्चिम की ओर चली गई थी और आगे चल कर समुद्र के बीच में कोना काट कर मुड़ गई थी। विद्युत्-प्रभा का तो कहना ही क्या? चारों ओर उसके प्रकाश की छटा अपनी शोभा दिखा रही थी। चौपाटी की उस रेतीली भूमि पर बैठे थे—बम्बई के सभी श्रेणियों के नागरिक। अधिकांश उनमें से चाट खाने में मशगूल थे। चटोरों को लगी थी चाट के चाट की और चाटते थे अपनी उँगलियाँ। थे भी सभी प्रान्तों के निवासी। बम्बई हमारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को माननेवाला सर्वमिश्रित नगर है। बिजली के अनगिनत लैम्प जहाँ जगमगाते हों, वहाँ मेरे जैसे पुरुष की आँखें क्यों न चौंधिया जायँ? तो भी जी कड़ाकर मैं अपनी दाहनी ओर देख रहा था। सामने घूम रहा था मोद-चक्र; इसके बिजली के लैम्प नीचे से ऊपर जाते हुए ऐसे मालूम होते

थे, मानो विद्युत्-रहट चल रहा हो। ज़रा फ़ासले पर सड़क को पार करके आर्य-समाज के पंडाल में ज्ञान-गपोड़े हो रहे थे—घर में फूट और दूसरों को संगठन का उपदेश!

× × ×

हाँ, मैं अपने राष्ट्रीय जीवन का सिंहावलोकन करने लगा। पिछले सत्रह वर्ष स्वप्न की तरह बीत गये थे। देश के नेताओं ने उसका सिंहावलोकन नहीं किया। हिन्दू अपनी दूकान का बही-खाता मिलाना ख़ूब जानता है, लेकिन अपने समाज और राष्ट्र का बही-खाता मिलाना इसने सीखा ही नहीं। यह व्यक्तिवादी है और 'नेकी कर दरिया में डाल' की कहावत को माननेवाला है। इसका करोड़ों रुपया मठों, मंदिरों और तीर्थों में ख़र्च होता है, किन्तु इसने अपने उस दान का बही-खाता कभी नहीं मिलाया। वह सब बरबाद हो रहा है। प्रत्येक वर्ष लाखों रुपये यह ब्रह्मचर्य-आश्रमों, गौशालाओं, ऋषिकुलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और गुरुकुलों को देता है, लेकिन इसने घूमकर कभी यह नहीं देखा कि इसके रुपये का क्या हुआ? हिन्दू केवल अपने ही कर्मों की ओर देखता है और अज्ञान-वश यह समझता है कि वह अपने ही कर्मों से भवसागर के पार उतर जायगा। उसने कभी नहीं सोचा कि वह एक सामाजिक सभ्य है और समाज के उत्थान-पतन के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। ये बातें उसके गुरु लोग उसे बताते ही नहीं। साधु-सन्त और महात्मा-फ़क़ीर उसे यह उपदेश देते हैं कि संसार अनित्य है, जीवन दुःखमय है और शरीर व्याधिमंदिर है। फिर वह भला क्यों दुनिया के पचड़ों में पड़े? उसे केवल अपना जीवन काटना है, किसी प्रकार काटना है, बस उसी को वह बनिये के रूप में काट देता है। सैकड़ों वर्षों से वह इसी जीवन-फिलासफी के गर्त्त में पड़ा हुआ दूसरों के पानी भरने और लकड़ियाँ चीरने के काम में लगा हुआ है। राष्ट्रीय जीवन के सिंहावलोकन का क्या महत्त्व है, उसे वह नहीं जानता।

इसी लिए तो पिछले एक हज़ार वर्षों से उसका राष्ट्र-जीवन सुधरा नहीं—उसका दिवाला निकल गया है। कोई भी दूकानदार अपना बही-खाता मिलाये बिना अपनी दूकान नहीं चला सकता। फिर भला राष्ट्र-जीवन बिना सिंहावलोकन किये आगे कैसे बढ़ सकेगा? हमने अपनी पिछली भूलों से इसी लिए कुछ भी लाभ नहीं उठाया, क्योंकि हमारे देश के नेता अपने देश का बही-खाता नहीं मिलाते। किन कारणों से पठानों और तुर्कों ने इस स्वर्णमयी भूमि को सहज में रौंद डाला और किन कारणों से यह अब तक रौंदी चली जा रही है, इस दुःखमय इतिहास पर यदि ठंडे दिल से हिन्दू लोग सिंहावलोकन करते तो उनकी ऐसी दुर्दशा कभी न होती। जहाँ दूसरी जातियाँ आनेवाले पचास वर्षों का प्रोग्राम पहले से बना लेती हैं, उसके लिए साधन जुटाती हैं, वहाँ हिन्दू अपने वर्तमान को भी सुधारने का प्रयत्न नहीं करता और पिछली भूलों को दूर करनेवाले साधन इकट्ठे नहीं करता।

मैं गहरे विचारों में डूब गया। पिछले १७ वर्षों में कैसी कैसी घटनायें घट गई हैं, कितना पानी पुल के नीचे से निकल गया है और कैसा बलिदान देश ने किया है। पर उसका परिणाम? कुछ भी नहीं। इस देश के लोगों को स्वराज्य कैसे मिलेगा, यह समस्या आज हमारे सामने वैसी ही मुँह बाये खड़ी है, जैसी १९१७ में थी। हमने ज़रा भी आगे पग नहीं बढ़ाया। महात्मा गांधी जी ने कहा था कि वे एक वर्ष में स्वराज्य दिला देंगे, सो वह भी मृगतृष्णा ही निकला। महात्मा का वचन निष्फल गया। कारण चाहे कुछ भी हो, कारण तो बहुत-से कहे जा सकते हैं। इसके बाद सत्याग्रह की लड़ाई हुई। लोगों से कहा गया कि सत्याग्रह से स्वराज्य मिलेगा, जेलों को भर दो। जेल भरे गये, सत्याग्रह किया गया, किन्तु स्वराज्य फिर भी न मिला। अब महात्मा गांधी अस्पृश्यता की ओर झुके हैं और एक वर्ष तक उसी में लगे रहेंगे। देश की बुद्धू जनता उन्हीं का मुँह देख रही है। वह समझती है कि महात्मा गांधी ही स्वराज्य दिला सकेंगे। अभी तक हमारी मोह-निद्रा भंग नहीं हुई और हम अपना सिंहावलोकन नहीं कर रहे हैं।

× × ×

मैंने ठंडी साँस भरी और अपने इर्द-गिर्द बैठे हुए लोगों को देखने लगा। पाँच-पाँच, चार-चार आदमियों की टोलियाँ रेत पर बैठी हुई खाने-पीने और हँसी-दिल्लगी में मशगूल थीं। खोमचेवाले आवाज़ लगा रहे थे—मलाई की कुलफ़ी! नारियल का पानी!! भुने हुए बदाम-पिस्ते!!! शौक़ीन लोग अपना शौक़ पूरा कर रहे थे। व्रजवासीलाल नामक एक सज्जन मेरे पास आकर बैठ गये और कहने लगे—"स्वामी जी, स्वराज्य कैसे मिलेगा और इस सत्याग्रह का क्या होगा?"

मुझे एक श्रोता मिल गया और सिंहावलोकन करने का बड़ा अच्छा अवसर। मैंने कहना प्रारम्भ किया—"भाई, मैं यहाँ बैठा हुआ पिछले राष्ट्रीय जीवन का सिंहावलोकन कर रहा हूँ। सन् १९१७ में इस देश की जनता उत्साह से भरी हुई स्वराज्य के लिए लालायित थी। हिन्दू-मुसलमान मिल कर स्वराज्य की प्राप्ति के लिए यत्नशील थे। लोकमान्य तिलक, पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास, लाला लाजपतराय, विट्ठलभाई पटेल, जे० एम० सेन-गुप्त आदि देश के प्रसिद्ध नेता हमारे बीच में थे। कैसा था वह सुहावना समय। सन् १९२० में लोकमान्य जी स्वर्ग सिधार गये और महात्मा गांधी जी उनकी गद्दी पर बैठे। वह सन् १९२१ का वर्ष जब देश के सभी बड़े बड़े नेता तथा उनके सहकारी नवयुवक जी-जान लड़ाकर महात्मा गांधी जी का साथ दे रहे थे, कैसा था? मुसलमानों में जोश था और ख़िलाफ़त की मदभरी तरंगें थीं! लेकिन सिद्धान्त-वादी गांधी जी चौरीचौरा से डर गये और हमारा भविष्य पटरा हो गया। गांधी जी की उस ग़लती ने इस अभागे देश को कितनी हानि पहुँचाई है, इसका अन्दाज़ा भावी इतिहासकार करेंगे। परन्तु इतना तो मैं भी कह सकता हूँ कि ख़िलाफ़त के नशे में चूर संगठित मुसलमान यदि उस समय के अहिंसात्मक युद्ध में जूझ जाते तो राष्ट्रीयता का पक्का लाल रंग उन पर सदा के लिए चढ़ जाता। महात्मा गांधी जी ने तो मुसलमानों के उस नशे का लाभ नहीं उठाया, किन्तु राजनीति-निपुण ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ नहीं चूके और उन्होंने मुसलमानों के सहयोग का उपयोग कर स्वराज्य की समस्या को अत्यन्त जटिल कर दिया। इधर महात्मा गांधी जी ने अपने सारे मोहरे दाव पर लगाकर देश के धन-जन को ऐसा निचोड़ लिया है कि अब किसी दूसरे कार्यकर्त्ता को क्षेत्र में आने की हिम्मत नहीं रही। यही नहीं, उनकी असफलता के कारण आज सारा देश घोर निराशा में डूब गया है। जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ, मेरे कान में यही आवाज़ आती है, 'जो काम महात्मा गांधी नहीं कर सके उसे अब दूसरा कोई नहीं कर सकता।' सत्रह वर्षों के बाद आज हम क्या देखते हैं? घोर निरुत्साह, बड़े बड़े नेताओं का अभाव, जनता में अविश्वास और हिन्दू-मुसलमानों में भारी फूट। इन परिणामों को देखकर यदि अब भी हम अपना प्रोग्राम न बदलें और महात्मा गांधी जी का पीछा छोड़कर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कोई दूसरे साधन तलाश न करें तो इससे बढ़ कर हमारी और क्या मूर्खता होगी?"

मैं चुप हो गया। व्रजवासीलाल जी कुछ देर तक मेरे मुँह की ओर ताकते रहे। बाद में बोले—"मेरे प्रश्न का आपने उत्तर नहीं दिया। अब हमें क्या करना चाहिए?"

मैं—"इस देश के लोगों को स्वराज्य नहीं मिल सकता, क्योंकि स्वराज्य का पहला सिद्धान्त—आत्मरक्षा—हमारे लोग नहीं सीखते। पिछले एक हज़ार वर्षों से इस आत्मरक्षा की कमी के कारण हमारी कितनी धन-जन की हानि हुई है, हमने कितना अपमान सहा है और दासता की बेड़ियों ने हमें कितना सताया है, यह प्रकाश की तरह सबके सामने प्रकट है। परन्तु तिस पर भी आज तक हमने इस एक प्रश्न को नहीं हल किया। कोई मनुष्य, कोई समाज और कोई राष्ट्र तब तक स्वाधीन जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, जब तक उसके पास अपनी रक्षा के साधन नहीं हैं। हम अभी तक इस सत्य सिद्धान्त को भी नहीं समझे। यदि महात्मा गांधी कम से कम सारे देश में व्यायामशालायें खुलवाकर देश के बच्चों को मज़बूत बना देते तो भी हम समझते कि स्वराज्य की आधी लड़ाई हमने जीत ली है। वह भी नहीं हुआ।

अँगरेज़ों की सेनाओं के कारण सरहद्दी पठान फ़ौजें बनाकर तो भारतवर्ष पर अब आक्रमण नहीं कर सकते, लेकिन हज़ारों की संख्या में वे इस देश के ग्रामों और नगरों में आज भी फैले रह कर निर्बल हिन्दुओं को प्रायः वैसा ही सताते रहते हैं, जैसा कि अँगरेज़ों के आने से पहले सताते थे। संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बङ्गाल, मध्यप्रदेश, बम्बई प्रान्त आदि स्थलों में घूमकर देखिए, सूदख़ोर काबुली गिद्धों की तरह हमारे लोगों का ख़ून चूसते रहते हैं और हम अब तक उनसे अपनी जनता को नहीं बचा सकते। यदि आज अँगरेज़ यहाँ से चले जायँ तो अफ़ग़ानिस्तान के हमलों से इस देश की जनता को क्या महात्मा गांधी बचा लेंगे?"

इतना कहकर मैंने लोकमान्य जी की मूर्ति की ओर देखा। मूर्ति के होंठ मुझे हिलते हुए मालूम दिये, मानो वह मेरे विचारों का समर्थन कर रही थी। मुझे स्फूर्ति मिल गई और मैंने फिर कहना प्रारम्भ किया—"भाई व्रजवासीलाल जी, हमें सत्य घटनाओं की पड़ताल करनी चाहिए। पिछले दस वर्षों से इलाहाबाद में रामलीला बन्द है और इलाहाबाद में हमारे बड़े बड़े राष्ट्रीय नेता रहते हैं। पंडित मदनमोहन मालवीय और पंडित जवाहरलाल नेहरू का वहाँ घर है। उनका वहाँ मुसलमानों पर इतना भी प्रभाव नहीं कि वे हिन्दुओं के इस अधिकार की रक्षा कर सकें। स्वराज्य की बात तो दूर रही। हिन्दू आज आगे से भी अधिक भीरु, असंगठित और निराश हो गये हैं। महात्मा गांधी जी को नागपुर-कांग्रेस में मौक़ा दिया गया था कि वे अपने सत्याग्रह के ढङ्ग से इस देश को स्वराज्य दिलावें। उन्हें इसमें असफलता हुई है। क्या अपनी पराजय मानने में कोई लज्जा की बात है? जो मनुष्य अपनी भूल नहीं स्वीकार करता वह कभी आगे नहीं बढ़ता। महात्मा गांधी जी का अहिंसा का सिद्धांत, उनकी सत्याग्रह की लड़ाई और उनका खद्दर-प्रचार कुछ हद तक अवश्य ही देश के लिए लाभदायक हुआ है; प्रोपैगेण्डा के लिए उसने बड़ा काम किया है। परन्तु स्वराज्य तभी मिल सकेगा जब जाति में आत्मरक्षा की ज़बर्दस्त भावना जाग्रत होगी और वह सामूहिक रूप से आत्मरक्षा की शक्ति पैदा कर सकेगी।

बहुत-से भोले-भाले शेख़चिल्ली अब यह कहने लगे हैं कि यदि योरप में लड़ाई छिड़े तो भारत का बेड़ा पार हो। मुझे उनकी बुद्धि पर तरस आता है। यदि योरप में जङ्ग हो जाय और ब्रिटिश जाति की पराजय हो तो भारत की क्या अवस्था होगी, ज़रा ठंडे दिल से इस पर विचार कीजिए तो। उत्तर हिन्दुस्तान से लुटेरे संघ बाँध कर लूटमार करने के लिए निकल पड़ेंगे। उन्हें कौन रोकेगा?

अफ़सोस, हिन्दू कभी भी पिछली घटनाओं से शिक्षा नहीं लेते। वे यह समझते हैं कि केवल अँगरेज़ों के चले जाने से ही उनका सारा स्वप्न सिद्ध हो जायगा। पञ्जाब में सिक्खों का राज्य था तब वहाँ की सिक्ख-शाही के मारे प्रजा के नाक में दम था। महाराष्ट्र में मरहठों का शासन था तब उनके सिपाहियों का त्रास सारे भारत में फैला हुआ था। आज राष्ट्रीयता के प्रचार के कारण हम एक-दूसरे के अति निकट अवश्य हो गये हैं, हममें एक देश की भावना भी जाग्रत हो गई है और हम अपनी एक संस्कृति को भी समझने लगे हैं, पर संगठित होकर शासन चलाने की योग्यता हममें बिलकुल नहीं है। यह बात हमारी म्यूनिसिपैलटियों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और अन्य पब्लिक संस्थाओं के कुप्रबन्ध से स्पष्ट मालूम होती है। रियासतों में कैसा ख़राब शासन है, यह हम सब पर विदित है ही। इसलिए हमें अब महात्मा गांधी जी का पीछा छोड़कर कोई दूसरा प्रोग्राम देश को आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में सोचना चाहिए। गांधी जी के प्रोग्राम में राजनैतिक टक्करों के लिए कोई स्थान नहीं है; हाँ, चरित्र सुधारने, प्रोपैगेण्डा करने और संगठन के भाव लाने में अवश्य ही वह प्रोग्राम सहायक हो सकता है, सो उसका समय ख़त्म हो गया।

× × × ×

कई दर्शक लोकमान्य तिलक की मूर्ति को देखने के लिए चबूतरे के इर्द-गिर्द आकर खड़े हो गये और घूमघूम कर मूर्ति को नमस्कार करने लगे। कई लड़के सीढ़ियों पर चढ़कर ज़ोर ज़ोर से बातें करने लगे। इस कारण मैं समुद्र की ओर मुँह कर अपनी विचार-धारा में

ग़ोते खाने लगा। कुछ मिनटों के बाद ब्रजवासीलाल जी ने फिर प्रश्न किया—"स्वामी जी महाराज, जर्मनी ने ऐसी शीघ्रता से फिर कैसे ज़ोर पकड़ लिया है? क्या आप उसके कारण बतला सकते हैं?"

यह मेरे मन के अत्यन्त अनुकूल प्रश्न था। मैं चाहता हूँ कि अपनी ऊँची आवाज़ से अपने देश के लोगों को जर्मनी के इस शीघ्र पुनरुत्थान के कारणों को बतलाऊँ, ताकि वे उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें। इस प्रश्न से मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने उत्तर दिया—"मेरे प्यारे, जर्मनी का वर्तमान उत्थान हमें बहुत-से सबक़ सिखा सकता है। केवल वीर्यवान् लोग ही शीघ्र उत्थान का पथ पकड़ सकते हैं। जैसे तन्दुरुस्त शरीर अपने निर्मल रक्त के कारण लगे हुए घावों को शीघ्र भर देता है, इसी प्रकार वीर्यवान् जाति अत्यन्त पराजित होकर भी बहुत जल्द अपनी पराजय के कारणों को दूर कर सकती है। इसके विपरीत वीर्यहीन शरीर पर लगा हुआ घाव जल्दी नहीं भरता, वह शरीर को दीर्घकाल तक पीड़ा देकर अन्त में उसका नाश कर देता है। निर्बल जातियाँ बलवान् के कोड़े खाकर ज़ख्मी हो जाती हैं और सिसक-सिसक कर—शताब्दियों तक दासता के दुख से दबी हुई—नरकरूप जीवन व्यतीत करती हैं। उनके घाव कभी नहीं भरते, क्योंकि उनका लहू गन्दा होता है, उसमें घाव को भर देने की शक्ति नहीं होती। जर्मनी के नेताओं ने इस तथ्य को भले प्रकार समझा था, इसी लिए वे संधि होते ही व्यायाम-शालाओं के संगठन में लग गये। फ़ौजी सिपाही और उनके सरदार सारे जर्मनी के ग्रामों, क़स्बों और नगरों में फैल गये। वहाँ उन्होंने बालक-बालिकाओं के लिए व्यायाम-शालायें खोल दीं। 'व्यायाम बिना खाना हराम है,' यह उनका मूलमंत्र था और उन व्यायाम-शालाओं में उन्होंने उन नीरोग लड़के-लड़कियों को देश-भक्ति की शिक्षा दी और यह भी सिखलाया कि राष्ट्र की एकता के बिना जर्मनी का पुनरुत्थान कभी नहीं हो सकता। उनकी बारह वर्षों की तपस्या ने जर्मनी के घाव भर दिये और वह नये जोश के साथ संसार के सामने खड़ा हो गया है। इसलिए हमें इस ध्रुव सत्य सिद्धान्त को हृदयंगम करना चाहिए—'वीर्यवान् जातियाँ ही संसार में आदर के साथ जी सकती हैं; वीर्यवान् शरीर ही घावों को शीघ्र भर सकता है और आत्म-रक्षा के साधनों से सुसज्जित जाति ही स्वराज्य प्राप्त कर सकती है।' हमें अपने किसानों और मज़दूरों में निर्बलता के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा करना चाहिए और जीने के मोह के लिए जीने की भावना को अत्यन्त कुत्सित और घृणित बतलाना चाहिए। जो लोग अपने नित्य के जीवन में अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते वे कदापि स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकते। कांग्रेस का यह सिद्धान्त कि हमें मुसलमानों का अन्याय सहकर भी अपने देश में एकता लानी चाहिए, अत्यन्त भ्रम-पूर्ण और निन्दनीय है। देश की जनता में अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की ज़बर्दस्त भावना तभी उत्पन्न हो सकेगी, जब उसे यह सिखलाया जायगा कि वह किसी का किसी प्रकार का भी अत्याचार न सहन करे—

हमें अब देश की जनता को क्षात्र-धर्म की दीक्षा देनी चाहिए। उस सात्विक क्षात्र-धर्म की जिससे भूतकाल में उसका मस्तक ऊँचा हुआ था। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो भविष्य में यह देश खंड-खंड हो जायगा और पिछले डेढ़ सौ वर्षों का किया हुआ पुरुषार्थ नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। अतएव हमें अनन्य देश-भक्ति, सात्विक क्षात्र-धर्म और भारतवर्ष की एकता, इन तीनों महामन्त्रों को अत्यन्त पवित्र मानकर अपने लोगों को इसकी शिक्षा देनी चाहिए।

× × × × ×

डाक्टर कल्याणदास जी का भेजा हुआ मोटर-ड्राइवर ठीक साढ़े आठ बजे मुझे बुलाने आ गया। ब्रजवासीलाल जी भी मुझे नमस्ते कर चले गये। मैं मोटर के पास आया और डाक्टर जी के साथ मोटर में बैठकर मालाबार हिल की ओर रवाना हुआ। समुद्र की ठंडी-ठंडी हवा खिड़कियों में से आ रही थी, लेकिन मैं अपनी विचार-तरङ्गों में ही निमग्न था।

क्या ब्रह्मवैवर्त-पुराण अप्रामाणिक है ?

पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी

'ईश्वर की साहित्यिक छीछालेदर' और श्री राधाकृष्ण-सम्बन्धी साहित्य को लेकर तिवारी जी ने जो विचारपूर्ण प्रश्न 'सरस्वती' के पिछले अङ्कों में उठाये हैं वे कितने महत्त्वपूर्ण हैं, इसका अनुमान पाठक इसी से कर सकते हैं कि हिन्दू-धर्म के परम आस्तिक नेता पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय जी भी आज पुराणों के बहुत अंशों को क्षेपक कहने के लिए तैयार हुए हैं। इधर कुछ लोगों ने तिवारी जी के उन प्रश्नों का विरोध यह कहकर करना शुरू किया है कि पुराणों के अंश-विशेष क्षेपक हैं। तिवारी जी ने इस लेख में जहाँ क्षेपक-सम्बन्धी कठिनाइयों का विवेचन किया है वहाँ उन्होंने इस बात को भी सिद्ध किया है कि मध्यकालीन साहित्य के विश्लेषण के लिए पुराणों के प्रचलित संस्करण ही अन्यतम प्रमाण हैं।



'क्या श्री राधा सामाजिक क्रान्ति की मूर्ति थीं ?' यह प्रश्न मैंने फ़रवरी की 'सरस्वती' में उठाया था। इस सवाल को उठाये अभी पूरे दो महीने भी नहीं हुए; परन्तु इतने ही थोड़े समय में इसने बड़ों-बड़ों के आसन जड़ से हिला दिये हैं। आज मेरे हर्ष और आनन्द का पारावार नहीं है। जिन पूज्यवाद, प्रातःस्मरणीय पंडित मदनमोहन मालवीयजी के श्री चरणों की रज को अपने मस्तक पर लगाने का भी अधिकारी मैं अपने आपको नहीं समझता, उन्होंने अपने मुखारविन्द से पुराणों के बहुत अंशों को प्रक्षिप्त कहने की अनुपम कृपा की है। दूसरे विद्वान् भी अब हिम्मत दिखाने और पुराणों को क्षेपकों से भरा हुआ स्वीकार करने का साहस करने लगे हैं। ये सब शुभ लक्षण हैं; यद्यपि आपस में इन सज्जनों ने अभी तक यह नहीं तय कर पाया है कि पुराणों के किसी अंश-विशेष को क्षेपक क़रार देने या न देने की कसौटी क्या होगी। 'ईश्वर की साहित्य में छीछालेदर' की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने का मैंने जो दुस्साहस किया था, उसका इतना उत्साहवर्द्धक परिणाम मुझे इतनी जल्दी देखने को मिलेगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। मुझे आज संतोष है कि मेरा परिश्रम असफल नहीं हुआ। इससे भी अधिक संतोष मुझे इस बात का है कि सनातनी नेताओं और विद्वानों ने इस बात की आवश्यकता स्वीकार कर ली है कि साहित्य में जो कुछ है वह सब भक्ति और धर्म्म के नाम पर अंगीकार करने के योग्य नहीं है; क्योंकि उसमें बहुत कुछ गंदा, भ्रष्ट और त्याज्य है। यदि उनकी यह धारणा न होती, तो, फिर, वे आज पुराणों के बहुत से अंशों को प्रक्षिप्त क्यों कहते फिरते—और वह भी उन आर्यसमाजियों के सामने, जिनके आचार्य, स्वामी दयानन्द जी सरस्वती, अठारह पुराणों को गपोड़ों से भरे हुए पोथे कहा करते थे। यह आशाजनक है। इसी तरह से यदि सनातनधर्म्म की सजग पंडित-मंडली ने इन प्रश्नों की तह तक पहुँचने की अपनी कोशिशें जारी

रक्खीं; तो, मुझे विश्वास है, हिन्दू समाज का नैतिक दृष्टिकोण एक-दम से बदल जायगा; क्योंकि श्री राधा के साथ साथ—चाहे वे स्वकीया रही हों या परकीया—गोपियाँ और वृन्दावन-विहार की रंगरलियाँ, दुस्स्वप्न की तरह, विलीन हो जाएँगी। तब श्रीराधा-कृष्ण से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य भी भ्रष्ट और कुरुचि-पूर्ण समझा जायगा। आज जो इस लेखक को कोस रहे हैं, वे ही शायद उसे अपने आशीर्वाद से कृतकृत्य भी करने का अनुग्रह करें। करें या न करें, यह उनकी मर्ज़ी पर निर्भर है। मैं तो उतनी ही दृढ़ता से इस पथ का पथिक बना रहूँगा, जिस दृढ़ता से श्री पूज्यपाद पंडित मदनमोहन मालवीय, हरिजनों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार दिलाने में, पुरातन के अन्धभक्तों के विरोध की उपेक्षा कर रहे हैं।

सचमुच, श्री राधा क्रान्ति की मूर्त्ति हैं। हिन्दू जगत् में, उनके कारण, अनेक क्रान्तियाँ आज तक हो चुकी हैं। उनके प्रताप से आज पुराणों को प्रक्षिप्त कहने के लिए बड़े बड़े कट्टर सनातनी कमर कस कर मैदान में उतर रहे हैं। पुराणों के संशोधित संस्करण निकालने की तैयारियाँ भी की जा रही हैं। राधे! सर्वाराध्ये राधे! तू, सच-मुच, प्रलय की मूर्ति है। तेरे केवल पदक्षेप से विश्व के विश्व विनष्ट हो जाते हैं। हज़ारों वर्षों की विचार-परम्परा को लोग, तेरे ही कारण, ठुकराने के लिए प्रोत्साहित हो उठते हैं। तेरे ही इशारे पर हिन्दू-समाज, जो पहले पातिव्रत का पुजारी था, जार-प्रेमिका का उपासक बन गया; और आज, फिर, तेरे ही नयनकटाक्ष से सशंकित होकर वह अपने पूर्वजों-द्वारा समादृत धर्म्म-ग्रन्थों को क्षेपकों से कलुषित कहने के लिए आतुर हो रहा है। तू धन्य है, राधे! तू धन्य है। शत-सहस्र बार मैं श्रद्धा और भक्ति से तेरा स्मरण करता हूँ। तेरे ही गुण-गान करने के लिए मैं उत्सुक हूँ, लोग भले ही मुझे भला-बुरा कहें। लेकिन जब क्षेपक-रहित और हर पहलू से विशुद्ध पुराण-साहित्य के असली ग्रन्थ हज़ारों वर्ष हुए लोप हो गये और इसी लिए किसी को नहीं मिलते, तब परम सात्विक, परम वैष्णव, सनातन-धर्म्माभिमानी श्रीकृष्णदासात्मज, श्री गंगाविष्णु और श्री खेमराज, के सुप्रसिद्ध सनातनी वेंकटेश्वर प्रेस में मुद्रित और वहीं से प्रकाशित श्री ब्रह्मवैवर्तपुराण ही के आधार पर श्री राधाजी की पुनीत और पापनाशिनी कहानी अगले अंक में सुनाकर, मैं अपने को कृतार्थ करूँगा। 'सरस्वती' के पाठक भी इस कथा को सुनकर अक्षय पुण्य के भागी होंगे। ब्रह्मवैवर्तपुराण के कथन पर विश्वास करता हुआ, मैंने पाठकों को ऊपर का आश्वासन दिया है।

आस्तिक हिन्दू पुराणों को वेदव्यास ही द्वारा रचित मानते हैं। वेंकटेश्वर प्रेस के स्वामियों ने भी, इस पुराण को प्रकाशित करते हुए, पाठकों को यही विश्वास दिलाया है। उनका कहना है कि 'ब्रह्मवैवर्त ...... श्रीमद्वेदव्यासप्रणीतत्वेन अखण्डभूमंडलप्रसिद्धमिति'। इस पुराण का संस्करण भी उन्होंने काफ़ी छानबीन के बाद निकाला था। कई प्रतियों से मिलान करने के बाद उसका शुद्ध पाठ स्थिर किया गया। इस काम में वेंकटेश्वर प्रेस के मालिकों ने कई विद्वानों से सहायता ली थी। उनके कथन को कृपया सुन लीजिए। 'एतदङ्कितुमुद्युक्तैरस्माभिः दृष्टे च पुस्तके पुस्तकान्तरतोऽशुद्धमाभातमतोऽन्यतः पुस्तकान्यानीयपण्डितैः शुद्धं विधाय पाठान्तरैः संयोज्य च मुद्रितं विद्यते'। ब्रह्मवैवर्तपुराण का एक अँगरेज़ी अनुवाद भी मेरे सामने है। अनुवादक का नाम है श्री राजेन्द्रनाथ सेन, एम० ए०, एल-एल० बी०। प्रकाशक है पाणिनि कार्यालय, बहादुरगंज, प्रयाग, जिसको स्वर्गीय मेजर वसु ने स्थापित किया था। श्री राजेन्द्रनाथ सेन ने अपने अनुवाद की भूमिका में ज़ोर देकर कहा है कि यह पुराण श्री व्यास ही का बनाया हुआ है। इस पुराण की प्रामाणिकता में गौडीय वैष्णव-समाज की अगाध श्रद्धा है। श्री राधा और उनके पति रायण की प्रामाणिकता को, श्री चैतन्य महाप्रभु के समय से आज तक, बंगाल का वैष्णव-समाज ऐतिहासिक सत्य से भी अधिकतर सत्य मानता चला आया है। काशी की 'पंडित'-मंडली और सनातन-धर्म्म के अनेक प्रमुख आचार्य्य भी इस पुराण में वर्णित कथा को सत्य मानते हैं।

अतएव, जब तक इस पुराण का कोई ऐसा संकलन नहीं मिल जाता, जो मध्यकालीन युग के हिंदुओं में प्रचलित था और जिसे विभिन्न सम्प्रदायों के मठाधीश, आचार्य और पंडित एक-स्वर से प्रामाणिक स्वीकार कर लें, तब तक विनम्रता के साथ, दीनता के साथ, मैं अपने बड़ों से करबद्ध और नतमस्तक होकर क्षमा का प्रार्थी बना रहूँगा। यदि मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दू-समाज में ईश्वर की साहित्यिक छीछालेदर के ऐतिहासिक अन्वेषण में मैं इस पुराण को हिन्दुओं का एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानने का दुराग्रह करूँ।

रायण की जार-प्रेमिका, श्री राधिका, की कथा इस पुराण में जिस ढंग से वर्णित की गई, उसी का प्रतिबिम्ब मध्यकालीन राधा-साहित्य है। अतएव, इस पुराण का साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। श्री राधा कैसे उत्पन्न हुईं ? सुरलोक से मृत्युलोक में उन्हें क्यों आना पड़ा ? रायण कौन थे ? उनसे श्री राधा का कब और कैसे ब्याह हुआ ? श्रीकृष्णचंद्र से उनका क्या सम्बन्ध था ? गोलोक धाम में विरजा नाम की सखी पर श्रीकृष्ण कैसे आसक्त हुए ? श्री दामा ने राधा को क्यों शाप दिया ? वृषभानु के घर में श्री राधा का जन्म होने के कितने वर्षों के बाद श्री कृष्ण का अवतार हुआ ? वृन्दावन में रास-लीला कैसे भगवान् ने रची ? इन बातों का वर्णन जिस रूप में ब्रह्मवैवर्तपुराण ने किया है, उससे मध्यकालीन युग के वैष्णव-समाज की मानसिक और आध्यात्मिक मनोवृत्तियों का हमें बहुत कुछ बोध हो जाता है। श्री राधा-कृष्ण-विषयक साहित्य की विशेष प्रवृत्ति समझने के लिए इस पुराण की सहायता अनिवार्य है। इन सब बातों का संक्षेप से मैं वर्णन अगले लेख में करूँगा।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण का साहित्यिक महत्त्व बहुत बड़ा है। मैंने 'साहित्य में ईश्वर की छीछालेदर' शीर्षक अपने लेख में* एक स्थान पर लिखा था कि "जो कृष्ण साक्षात् परमेश्वर माने जाते हैं उनके स्वरूप और जीवन का सूर आदि शृङ्गारी कवियों ने जिस तरह चित्रण किया है उससे मानव-हृदय में पवित्रता के प्रति प्रेम या कामुकता की ओर से घृणा कैसे पैदा हो सकती है ? अनाचार, दुराचार, व्यभिचार को—चाहे जिस नाम से पुकारिए—धर्म्म और भक्ति के सुनहरे आवरणों से सजाने पर भी वह अनाचर, दुराचार, व्यभिचार ही बना रहेगा। विष को अमृत कहने से उसका ज़हरीलापन नहीं मिट जाता। पाप पुण्य नहीं हो सकता, उसे चाहे अवतारी पुरुष ही क्यों न करे। प्रकाश और अन्धकार में इतना व्यापक भेद नहीं है, जितना आत्मा की पवित्रता या अपवित्रता में है। एक जीवन की ओर ले जाता है, और दूसरा मृत्यु की तरफ़; एक ऊपर को उठाता है, और दूसरा पाताल में ले जाकर पटकता है; एक का परिणाम मुक्ति है, और दूसरे का नरक-यातना। भक्ति का कितना व्यंग्यात्मक उपहास है कि जो योगिराज कृष्ण गीता में तो काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार बतायें, वे ही इन रसिया कवियों के हाथों में पड़कर रति-रहस्य के एक पारगामी पंडित, अश्लीलता के धनी और परले दर्जे के कामी बन जायँ; वे ही गीता में इन्द्रियों के जीतने और आत्म-संयम पर ज़ोर दें, लेकिन वे ही सूरदास आदि महाकवियों के अनुसार रँगीले रसिया और पर-स्त्री के अनवरत पुजारी निकलें! दोनों ही चित्रों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है, लेकिन इस व्यापक विरोध की परवा न करते हुए, हिन्दू-समाज दोनों ही मूर्तियों को एक ही अवतार या महापुरुष की अनन्त माया के अन्तर्गत मान लेने में सोच-संकोच का कुछ अनुभव नहीं करता।" उसी लेख के अन्त में मैंने कहा था कि "जो भी हो, हिन्दू-समाज या तो खुलकर अपने सामाजिक सिद्धान्तों में व्यापक रद्दोबदल करने के लिए तैयार हो जाय या इस प्रकार की कविता करनेवालों को प्रोत्साहन न दे। नहीं तो इस दोमुँही चाल से समाज की आत्मा का ह्रास होगा, उसकी नैतिक शक्ति क्षीण हो जायगी और वह अकाल में मौत का शिकार बनेगा; क्योंकि जैसे व्यक्ति, वैसे ही समाज, पाप और अपवित्रता को अपनाने से मृत्यु के घाट उतरता है। मृत्यु का अतिथि वह भी होता है

* नवम्बर, १९३३, की 'सरस्वती' में प्रकाशित।

जिसका मौखिक सिद्धान्त एक है, पर आचरण दूसरा—विश्वास और आचरण में विरोध विनाश का सगा भाई है।''

इस पुराण में श्री राधा-कृष्ण के चित्रण में शृङ्गारी अश्लीलता का सम्मिश्रण उस चरम सीमा को पहुँच गया है, जिसे देखकर साहित्यिक क्षेत्र में धार्मिक कामुकता की समस्या आसानी से समझ में आ जाती है। जिस वातावरण में इस धर्म-ग्रन्थ का अन्तिम संकलन तैयार हुआ था, उसी में यदि हितहरिवंश और सूरदास ने श्री राधा-कृष्ण का शृङ्गारी चित्र खींचा तो कौन-सी अचम्भे की बात है? अचरज तो तब होता जब उस ज़माने में पैदा होने पर भी वे अपने युग की प्रवृत्तियों से ऊपर उठने में समर्थ होते। ऊपर के कथन की सत्यता इस पुराण को विष्णुपुराण से मिलाने से स्पष्ट हो जाती है। दोनों के अंतिम संकलन-कालों में लगभग १,००० वर्ष का अन्तर है। इस कालान्तर में हमारे सामाजिक दृष्टिकोण में जो क्रान्तिमय परिवर्तन हुआ, वह इन दोनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। विष्णु-पुराण के श्री कृष्ण भगवान् विष्णु के आंशिक अवतार थे। इसकी व्याख्या यदि आप जानने को उत्सुक हों तो विष्णु-पुराण के पंचम अंश को पढ़ जाइए। यहाँ पर मैं केवल दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। पहली बात को लीजिए। इस पुराण के प्रथम अंश में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि सृष्टि और प्रलय के आदि-कारण भगवान् विष्णु हैं जिनसे ब्रह्मा, शिव, आदि, उत्पन्न हुए। उन्हें 'ईश्वराणाम् परमेश' (ईश्वरों के भी ईश्वर), 'प्रसूतिनाशस्थितिहेतुरीश्वरस्त्वमेव' बताते हुए, यह भी कहा है कि वे ही परम पद हैं—'नान्यत्परमम् च यत्पदम्'। (विष्णु-पुराण, प्रथम अंश, ३१वाँ श्लोक।) पंचम अंश में जहाँ श्री कृष्णावतार का वर्णन है, वहाँ आरम्भ में, भगवान् विष्णु की ब्रह्मादि देवताओं-द्वारा भूभार हरने की प्रार्थना का ज़िक्र करने के बाद, विष्णु-पुराण के व्याख्याता, वेदव्यास के पिता, पराशर जी, ने यह कहा है—'देवताओं की स्तुति सुनकर भगवान् विष्णु ने अपने श्याम और श्वेत दो केश उखाड़े, और देवताओं से बोले कि मेरे ये दोनों केश पृथ्वी पर अवतार लेकर संसार के कष्टों को दूर करेंगे। इसके बाद का श्लोक स्मरणीय है—

'वसुदेवस्य या पत्नी देवकी देवतोपमा।
तत्रायमष्टमो गर्भो मत्केशो भविता सुराः॥
(—वि० पु०, ५।१।६४)

इसका अर्थ है कि वसुदेव की देवतोपमा पत्नी देवकी के आठवें गर्भ से मेरा यह केश अवतार लेगा। इस से यह सिद्ध है कि विष्णु का एक बाल कृष्ण के रूप में प्रकट हुआ था। इसी लिए इस अंश के तीसरे श्लोक में कहा है कि भगवान् पुरुषोत्तम ने अपने अंश के एक अंश से—'अंशांशेन'—कृष्ण का अवतार लिया था। लेकिन ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्री कृष्ण विष्णुपुराण के श्री कृष्ण से सर्वांश में भिन्न हैं। इस पुराण में वह विष्णु के अंशांश के अवतार कहे गये हैं। उस पुराण में श्री कृष्ण ही सब कुछ माने गये हैं। उन्हीं से विष्णु, ब्रह्मा और महेश की उत्पत्ति बताई गई है। वही सृष्टि और संहार के आदि-कारण हैं। उन्हीं की इच्छा से विश्व की रचना होती और प्रलय होने पर सब कुछ उन्हीं में विलीन हो जाता है। विष्णु-पुराण के 'ईश्वराणाम् परमेश', भगवान् विष्णु, वैकुण्ठ-धाम में विराजमान रहते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में न केवल विष्णु और उनके वैकुण्ठ ही का वर्णन मिलता है; किन्तु विष्णु से भी कहीं अधिक बड़े, उनके भी परमेश, श्रीकृष्ण का और वैकुण्ठ से भी ऊँचा और भिन्न धाम—गोलोक—का उल्लेख है। इस पुराण के अनुसार, विष्णु नहीं किन्तु कृष्ण ही ईश्वराणाम् परमेश हैं; विष्णु के अंशांश का नहीं किन्तु साक्षात् कृष्ण ही का मथुरा में देवकी के गर्भ से अवतार हुआ था। जिन्होंने ललितविस्तर नामक बौद्ध काव्य पढ़ा है, उन्हें ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्री कृष्ण और उनके गोलोक तथा ललितविस्तर के बोधिसत्व और उनके तिषत लोक की समानता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, यद्यपि कई अन्य बातों में दोनों के दृष्टि कोणों में व्यापक भेद है। बौद्ध महायान का तिषत लोक वैष्णवों में गोलोक के नाम से प्रचलित हो गया, और उनके बोधिसत्व हमारे

कृष्ण के नाम से पुजने लगे। इस सब के होते हुए, कौन कहता है कि बौद्ध धर्म का भारतवर्ष से लोप गया है ? बौद्ध धर्म्म की बातें आज भी हम मानते हैं—भेद केवल इतना है कि उनके नामों को महज़ बदल कर ! जो शून्य-पुराण (यह भी एक बौद्ध ग्रन्थ है) में धर्मदेव को स्थान प्राप्त है, वही ब्रह्मवैवर्तपुराण में श्री कृष्ण भगवान् को मिला है। सचमुच, ब्रह्मवैवर्तपुराण का वैष्णव धर्म बौद्ध वाममार्ग का हिन्दू रूपान्तर है। यही रूपान्तर मध्य-काल से हिन्दुओं में प्रचलित है। इसी ने उस भक्त-साहित्य को जन्म दिया जिसकी आलोचना मैंने पिछले कई लेखों में की है।

यह तो हुआ इन दोनों पुराणों में एक अन्तर। एक दूसरा भेद इससे भी अधिक आश्चर्यजनक है। विष्णु-पुराण में यद्यपि गोपियों के साथ श्री कृष्ण की रास-लीला का उल्लेख मिलता है और वह भी केवल एक अध्याय में, परन्तु उसमें श्री राधा का नाम तक नहीं आया। इसके विपरीत, ब्रह्मवैवर्तपुराण में न सिर्फ़ श्री राधा का उल्लेख मौजूद है, बल्कि बारह वर्ष की अवस्था में उनका यशोदा के भाई रायण के साथ बाक़ायदा विवाह का वर्णन और उसके लगभग २६-२८ वर्ष बाद श्रीकृष्ण के साथ उनके जार-प्रेम का विशद और स्थूल चित्रण भी किया गया है। पातिव्रत के माहात्म्य को तिलांजलि देकर, ब्रह्मवैवर्तपुराण के अंतिम संकलन के समय के हिन्दू-समाज ने जारप्रेमिका को अपने हृदय में सर्वोच्च आसन प्रदान करने में अपनी धर्मपरायणता की सार्थकता देखी ! कितना व्यापक अन्तर इन दोनों पुराणों में एक हज़ार वर्षों में हो गया ! इसी युगपरिवर्तनकारी विप्लव के धार्मिक आलेख का नाम है ब्रह्मवैवर्तपुराण ! इसी में इस पुराण का महत्त्व है। तब से आज तक वैष्णव-समाज का बहुत बड़ा भाग इन्हीं जार-प्रेमिका, श्री 'राधा', के परकीयत्व को धर्म्म के नाम पर पूजता चला आया है। और कम से कम पिछले ४००-५०० वर्षों से सनातनधर्मी बौद्ध वाममार्ग के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करनेवाले इस पुराण को अपने सम्प्रदाय का एक परम आदरणीय और प्रामाणिक ग्रन्थ मानते चले आये हैं। हम उसे प्रामाणिक कहते हैं, क्योंकि वह एक ऐतिहासिक विप्लव का सच्चा आलेख है। जब हम उसे प्रामाणिक कहने की धृष्टता करते हैं तब लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते और इसे प्रक्षिप्त पुकारते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उनके पूर्वज सदियों से इसकी पूजा करते, और उसमें कही गई भगवान् की लीलाओं को भक्ति और श्रद्धा से सुनते, चले आये हैं। इसी लिए जब उनके साहित्य का अनुशीलन कोई करना चाहेगा तब इस साहित्य की प्रेरक प्रवृत्तियों को समझने के लिए उसको इस पुराण के प्रचलित संकलन का आश्रय लेना अनिवार्य हो जायगा। ऐसी दशा में क्या यह पूछना अनुचित होगा कि कौन वास्तव में सच्चे सनातनी हैं ?—वे जो आज सन् १९३४ में इस पुराण के कथानक को प्रक्षिप्त कहते हैं, अथवा वे जो, गौरांग महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव और बंगाल के वैष्णव-समाज के साथ, सनातनी प्रणाली के अनुसार, इसे प्रचलित सनातन-धर्म्म का एक पवित्र धर्म्म-ग्रन्थ कहते हैं ? क्यों श्री हितहरिवंश के साक्ष्य को श्री चैतन्यदेव के साक्ष्य से हम अधिक महत्त्व दें ? यदि श्री राधा को एक ने स्वकीया माना है, तो दूसरे ने परकीया कहकर पूजा है। दोनों में किसका मत ठीक है—इसका निर्णय कौन करेगा ? कम से कम मैं तो ऐसी धृष्टता कर नहीं सकता हूँ। मैंने दोनों ही मतों का केवल उल्लेख-मात्र कर दिया है। यही मेरा अपराध है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि वह कौन है, जो इन दोनों मतों के अस्तित्व से इनकार करता हो ? क्या सनातनी वही है जो सनातन परम्परा के ऊपर हरताल फेर दे ? क्या वह विद्रोही क्रान्तिकारी नहीं है, जो श्री चैतन्य महाप्रभु की परकीया राधिका को प्रक्षिप्त बताए और ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रति आस्तिक हिन्दुओं में अश्रद्धा और अविश्वास के बीज बोता फिरे ? परन्तु मुझे संतोष है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्'। फिर, गांधी जी को भी तो सनातनी हिन्दू अहिन्दू कहने से नहीं झिझकते, और, मंदिर-प्रवेश के विषय को लेकर, पूज्यपाद मालवीय जी तक की धार्मिक प्रामाणिकता में खुल्लम-खुल्ला अपना अविश्वास प्रकट करते हैं। मैं तो इन दोनों ही पूज्यपादों का एक तुच्छ

अनुचर-मात्र ठहरा। यदि मुझ अकिंचन को भी ये भला-बुरा कहें तो कौन-सी अचरज की बात होगी?

बात तो यह है कि अभी तक लोगों ने इन मामलों पर ध्यान नहीं दिया है। अंधविश्वास की प्रेरणा से उन तमाम बातों को वे ठीक समझते चले आये, जिनको उनका समाज-विशेष धर्म्म के नाम से पूजता और पुकारता रहा है। तर्क और विवेक की कसौटी पर इन सज्जनों ने अपने विचारों और विश्वासों को कसने की कभी ज़रूरत ही नहीं समझी। इसी लिए ये महानुभाव इस पर तो सिर काटने और कटवाने के लिए उधार खाये फिरते हैं कि श्री राधा स्वकीया थीं या परकीया; परन्तु अनेक प्रमाणों के होते हुए कि 'राधा' की कल्पना आधुनिक है, वे आँखों पर पट्टी बाँधे हुए इस निर्विवाद सत्य के अस्तित्व तक को स्वीकार करने से साफ़ इनकार करते हैं। जब 'राधा' ही न थीं, तब उनके स्वकीया या परकीया होने का प्रश्न ही कैसे और कहाँ उठता है? फिर, 'राधा' को स्वकीया कहा किसने? श्री हितहरिवंशजी ने? परन्तु श्री चैतन्य और श्री वल्लभाचार्य ने तो उन्हें परकीया कहकर पूजा है। बड़े-बड़े विद्वान् और आचार्य श्री राधिका जी के परकीयत्व पर अनमोल ग्रन्थों की रचना करते रहते हैं। इन महापुरुषों को आस्तिक हिन्दू एक पल पर भी कैसे टिकने देते, यदि, उनकी सम्मति में, 'राधा' का परकीयत्व हिन्दू-संस्कृति और सनातन-धर्म्म के प्रचलित सिद्धान्तों और विश्वासों के प्रतिकूल होता। सूरसागर की 'राधा' भी तो वृन्दावन की रति-क्रीड़ा और रास-लीला के समय विशुद्ध परकीया ही थीं, यद्यपि सूरदास और ब्रह्मवैवर्त-पुराण की 'राधाओं' के परकीयापने में व्यापक अन्तर है। लेकिन थीं और हैं दोनों ही परकीया। इस पर भी 'राधा' को परकीया कहनेवाले को कोसने से पंडितम्मन्य विद्वान् बाज़ नहीं आते! तर्क एक चीज़ है, फतवा दूसरी। मैं तर्क का आश्रित हूँ; पक्षपात का हिमायती नहीं। मैं जिज्ञासु हूँ; उन अहम्मन्य पंडितों में नहीं हूँ जो ज्ञान के अभाव को अपशब्दों से छिपाने की कोशिशें करते हैं। समय की चुनौती के सामने हम सबको अपने विश्वासों और सिद्धान्तों की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए विवश होना पड़ेगा। किसी के कथन-मात्र को वेद-वाक्य स्वीकार कर कोई सिर न झुका लेगा। लोकमत की अदालत में अकाट्य प्रमाण और निर्मम तर्क के द्वारा सबके लिए अपने पक्ष का समर्थन करना अनिवार्य है। इसी तरह से, किसी ग्रन्थ के अंश-विशेष को प्रक्षिप्त कहने ही से काम नहीं निकल सकता है। असली और क्षेपक के निर्णय करने के कुछ निश्चित नियम होते हैं। उनकी अवहेलना करना और मनमाने ढंग से असुविधाजनक अंशों को प्रक्षिप्त होने का फ़तवा देना साहित्यिक समालोचना के सिद्धान्तों से परिचित पंडित के लिए आसान नहीं है।

जो ब्रह्मवैवर्त-पुराण से झिझकते हैं, उन्हें हितहरिवंश और सूरदास, नन्ददास और अन्य भक्त कवियों के ग्रन्थों का भी नवीन संस्करण निकालना पड़ेगा। जब तक विश्वविद्यालयों में सूरसागर का प्रचलित संस्करण प्रक्षिप्त नहीं क़रार दिया जाता या जयदेव का गीत-गोविन्द हिन्दू-समाज में भक्ति-मूलक ग्रन्थों की गणना से नहीं निकाल फेंका जाता तब तक ब्रह्मवैवर्त-पुराण को क्षेपक-युक्त और अप्रामाणिक कहना किसी भी पंडितराज को शोभा नहीं देगा। हाथी को हज़म कर जाने के बाद, महज़ एक मच्छड़ के निगलने में आनाकानी करना व्यर्थ है। जो भी हो, मैं तो ब्रह्मवैवर्त-पुराण का साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व समझता हूँ, और इसी लिए चाहता हूँ कि उसकी कथा पाठकों को मालूम हो जाय, क्योंकि तभी वे 'राधा'-विषयक गंदे साहित्य के उत्थान के कारणों को अच्छी तरह से समझने में समर्थ होंगे। यह चिर स्मरणीय है कि इसी पुराण को ४ सौ वर्षों से हिन्दू-समाज अपने धर्म्म-ग्रन्थों में उच्च स्थान देता आ रहा है; और उसमें वर्णित कथानक को अपने धर्म्म का पुनीत अंग मानता चला आया है। धार्मिक विचार और विश्वासों के विकास-क्रम में इस पुराण को भूल जाना इतिहास-सिद्ध प्रणाली का गला घोटना होगा। वह प्रक्षिप्त हो या न हो; किन्तु यह तो सर्वमान्य है कि अभी तक वह व्यास-कृत कहकर विश्वसनीय माना गया है। आगे चलकर हिन्दू क्या मानेंगे, यह एक बात है। अभी तक

वे क्या मानते चले आये हैं, यह दूसरी और बिलकुल भिन्न बात है। मैं तो सिर्फ़ साहित्य पर प्रचलित विश्वासों के प्रभाव की मीमांसा कर रहा हूँ। सम्भव है, इसके द्वारा भविष्य के विचार-क्रम की गति-विधि पर कुछ थोड़ा-सा प्रभाव पड़े। लेकिन भूत और वर्तमान की उपेक्षा करते हुए भविष्य का निर्माण करना मूर्खता की निशानी है, क्योंकि भविष्य की जड़ें भूत और वर्तमान ही में निहित रहती हैं।

पुराण के क्षेपकों का मसला इतना आसान नहीं है, जितना कुछ उत्साही सज्जन समझ बैठे हैं। क्या क्षेपक है और क्या नहीं, इसका निर्णय कौन, और कैसे, करेगा? ब्रह्मवैवर्तपुराण की जब तक मूल पांडुलिपि न मिले तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका कौन-सा अंश बाद में जोड़ा गया है? फिर, सब पुराण भी तो सब सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए, श्रीमद्भागवत और देवी-भागवत के सम्बन्ध में मतभेद पर एक नज़र डालिए। वैष्णव श्रीमद्भागवत को बड़ा ही पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। वेदों के समान ही इसका मान है। उनका कहना है कि अठारह पुराणों में से एक यह भी है। लेकिन शैव और शाक्त सम्प्रदायवाले इसे उपपुराण ही मानते हैं। वे इसकी गणना अठारह पुराणों में नहीं करते। इस विषय पर कि दो भागवतों में से कौन पुराण है और कौन उपपुराण, इन दोनों सम्प्रदायों में काफ़ी वाद-विवाद हो चुका है। झगड़ा यहाँ तक बढ़ चुका है कि प्रतिद्वंद्वियों ने साधारण शिष्टता और विवाद में संयम को एकदम से भुला दिया है। नमूने के तौर पर, मैं 'सरस्वती' के पाठकों के मनोरंजन के लिए, इस विवाद की कुछ बातों का उल्लेख कर देना चाहता हूँ। उन्हें इसके द्वारा पुराणों से प्रक्षिप्त अंशों के निकालने के प्रयत्नों की कठिनाइयों का भी कुछ थोड़ा-सा आभास मिल जायगा। सेवाश्रम से प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तिका है, जिसका नाम है 'दुर्जन मुखचपेटिका,' अर्थात् दुर्जन के मुख पर थप्पड़। इसमें देवी-भागवत की निंदा की गई और श्रीमद्भागवत ही का असली पुराण होना सिद्ध किया गया है। इस थप्पड़ को, भला, कैसे कोई सजीव शैव सह सकता था। चट से श्री काशीनाथ ने इसका उत्तर दिया महाचपेटिका से। आपकी पुस्तिका का नाम है 'दुर्जनमुखमहाचपेटिका,' यानी दुर्जन के मुख पर बड़ा थप्पड़। इस भयङ्कर थप्पड़ से वैष्णव लेखक तिलमिला उठे। आव देखा न ताव, उन्होंने थप्पड़ का जवाब जूते से दिया। उनकी इस पुस्तिका का नाम है 'दुर्जनमुखपद्मपादुका' अथवा दुर्जन के मुखकमल पर जूता! जहाँ साम्प्रदायिक मतभेद इतना भयङ्कर और उग्र रूप धारण कर चुका है वहाँ पर किसी व्यक्ति से—वह चाहे कितना ही लोक-प्रिय क्यों न हो—पुराणों के सम्बन्ध में फ़तवा दिलाकर कोई भी उसके फ़ैसले को सब सम्प्रदायों से कदापि नहीं मनवा सकता। फिर, यह भी विचारणीय है कि वैष्णवों में भी तो अनेक सम्प्रदाय हैं। श्रीवैष्णव लक्ष्मीनारायण की उपासना करते हैं। चैतन्य सम्प्रदायवाले राधा-कृष्ण के उपासक अवश्य हैं, लेकिन वे ब्रह्मवैवर्तपुराण को व्यासकृत मानते और राधा जी के प्रति रायण की कथा को ऐतिहासिक सत्य से भी अधिक सही समझते हैं। क्या यह सम्भव है कि वे हितहरिवंश-सम्प्रदाय की स्वकीया राधा की उपासना शुरू कर देंगे, यदि राधावल्लभी सम्प्रदायवाले ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रक्षिप्त होने का आदेश निकाल दें? श्रीसम्प्रदायवाले तो 'राधा' ही के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए झिझकेंगे। ऐसी अवस्था में कौन किसकी मानेगा? हमें जितना आदर राधावल्लभी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का है, उतना ही आदर-सत्कार हमें गौड़ीय सम्प्रदाय के उसूलों का भी करना चाहिए। उनकी परकीया 'राधा' को कपोलकल्पित कहना धार्मिक अनुदारता और असहिष्णुता का परिचय देना है। सब सम्प्रदाय एक हो जायँ, और सब मत आपस के भेद-भावों को भूलकर एक जगदीश्वर की उपासना करना सीखें, यही हमारी कामना है। परन्तु व्यावहारिक सत्ता के सामने आँखों पर पट्टी बाँध कर, और अपने मत-विशिष्ट के सिद्धान्तों ही को सत्य घोषित करते हुए, जो विद्वन्मंडली पुराणों के संशोधन का बीड़ा उठाएगी, उसको निराशा के अथाह सागर में

ग़ोते खाना पड़ेगा। साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न पुराणों का अनुशीलन करना उचित है। किस युग में किस पुराण का अन्तिम संकलन हुआ था, इतना ही हम कर सकते हैं; या यह अनुमान लगा सकते हैं कि युगों के प्रवाह में कब विचार-शैली की कौन-सी तह पुराणों में जमी थी। इससे धार्मिक, सामाजिक और संस्कृति-सम्बन्धी विकास-क्रम का हमें यथोचित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। परजिटर, आदि, ने जिस पद्धति से पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन किया है, उसी प्रणाली से यदि इन धर्म्म-ग्रन्थों के धार्मिक और सामाजिक पहलुओं का भी अध्ययन किया जाय तो देश और समाज का परम कल्याण होगा। लेकिन यदि कोई हठधर्मी और साम्प्रदायिक संकीर्णता से प्रेरित होकर अपने सिद्धान्त-विशेषों के समर्थन की दृष्टि से पुराणों का शुद्ध संकलन निकालने की चेष्टा करेगा तो वह विशुद्ध-पुराण-साहित्य के निर्माण में जहाँ असफल होगा वहाँ उसे सम्प्रदायों के जंगलों से भरे हुए इस देश में एक शुद्ध-पुराण-पन्थ के कटीले कानन को बोने की कीर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी न मिलेगा। ऊपर की पंक्तियाँ हमने शुद्ध-पुराण-साहित्य की उपयोगिता के विरोध में नहीं लिखी हैं। हमारा केवलमात्र उद्देश इस प्रयत्न के मार्ग में उन कठिनाइयों और जटिलताओं की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है, जिनको लोग अपने साम्प्रदायिक जोश में भूल जाते हैं। ज़रूरत है लोकमत के जाग्रत करने की। हमें आशा है कि हिन्दू-विश्वविद्यालय से पूज्यपाद पंडित मदनमोहन मालवीय की संरक्षता और संचालन में प्रकाशित होनेवाला साप्ताहिक 'सनातनधर्म्म' पुराणों में क्षेपक के मसले को लेकर सब सम्प्रदायों के आचार्यों और विद्वानों का ध्यान इस प्रश्न के महत्त्व की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करने का प्रयत्न करेगा। परमात्मा से प्रार्थना है कि हिन्दुओं के धर्म्म-ग्रन्थों के संस्करण और परिमार्जन में उसे आशातीत सफलता मिले। उस दिन की हम उत्सुक नयनों से प्रतीक्षा करेंगे, जब उसका यह आन्दोलन सफल होगा और सब सम्प्रदायवाले एक ही हिन्दूधर्म्म की ध्वजा के नीचे खड़े होकर धर्म्म-युद्ध के लिए अग्रसर होंगे। लेकिन इसका अर्थ यह कभी न हो कि भूतकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में हम या कोई दूसरा विद्यार्थी पुराणों के उन संकलनों को भुला दे जो आज दिन प्रचलित हैं। उन्हीं की छत्रच्छाया में तो मध्यकालीन साहित्य की सृष्टि हुई थी। उन्हीं के अध्ययन से उस युग की मनोवृत्तियों का हमें सही सही ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से ब्रह्मवैवर्तपुराण की प्रामाणिकता अक्षुण्ण है, और वह सदा अक्षुण्ण ही बनी रहेगी।



प्रोफ़ेसर चबलानी-सम्बन्धी संस्मरण



श्रीयुत धर्मवीर, एम० ए०



हिन्दुस्तानी खाना तैयार करनेवाले रेस्टाराँ लन्दन में दो ही चार हैं। इनमें से एक इंडियन रेस्टाराँ है। इसका प्रबन्ध एक बङ्गाली सज्जन के हाथ में है। ये साहब पहले बैरिस्टरी पढ़ते थे लेकिन बाद में घरवालों ने रुपया भेजना बन्द कर दिया। तब अपने निर्वाह का अन्य कोई उपाय न देखकर इन्होंने भारत से आये हुए विद्यार्थियों और सैर करनेवालों के लिए यह भोजनालय खोल दिया। सुनते हैं, आमदनी अच्छी हो जाती है और अब बङ्गाली बाबू को बैरिस्टरी का कभी ख़याल भी नहीं होता।

मैं इस बात को सोच रहा था कि पार्टी देनेवाले सज्जन ने मुझे क्यों निमन्त्रण भेजा है। शायद इसलिए कि मैं भी भारतीय हूँ। जब मैं बाज़ार के सिरे पर पहुँचा तब देखा कि रेस्टाराँ का मालिक अतिथियों का दरवाज़े पर स्वागत कर रहा है। इतने में रेस्टाराँ मेरे सामने भी आ पहुँचा। वहाँ का हर एक नौकर हिन्दुस्तानी तरीक़े की अचकन, चूड़ीदार पायजामा और पगड़ी पहने था। अकेले हाल में ही पचास-साठ कुर्सियाँ लगी हुई थीं। बीच के दरवाज़े की परली तरफ़ भी कुर्सियाँ और मेज़ें लगी हुई थीं। इसके अतिरिक्त नीचे भी अतिथियों के बैठने का इन्तज़ाम किया गया था।

देखते-देखते हाल की सब कुर्सियाँ भर गईं, बल्कि कुछ देर के बाद साथ के कमरे से भी मँगवानी पड़ीं। चाय का प्रोग्राम संक्षिप्त था, किन्तु था बहुत सुन्दर। चाय के साथ साग के पकौड़े, गुलाबजामुन और रसगुल्ले थे। बहुत दिन से ये चीज़ें नहीं खाई थीं, इसलिए परदेश में इनके खाने में बहुत मज़ा आया।

किसी को ख़याल भी नहीं था कि चाय का यह अवसर मेहमानों के लिए कुछ बौद्धिक सामग्री भी प्रस्तुत करेगा। जब चाय ख़त्म हुई तब मेज़बान ने उठकर क्षमा माँगी—"मुझे खेद है कि आपको कष्ट दिया गया है। यह कष्ट संभवतः क्षम्य होता अगर चाय पुरतकल्लुफ़ होती। लेकिन ऐसा जान-बूझ कर नहीं किया गया है—आपमें से शायद हरएक सज्जन हररोज़ ही पुरतकल्लुफ़ खाना खाने का आदी है। सब सज्जनों का धन्यवाद करने से पहले मैं श्री भाई परमानन्द जी का धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मुझे यह पार्टी देने का अवसर दिया है।"

करतलध्वनि के मध्य में श्रीभाई परमानन्द जी उठे। चाय और हिन्दुस्तानी मिठाई के लिए उन्होंने मेज़बान का धन्यवाद किया। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा—"इस अवसर से लाभ उठाने के लिए मैं आप सज्जनों के सामने एक तजवीज़ रखता हूँ। इँग्लैंड में रहनेवाले भारतीयों के लिए एक सोसाइटी बनाई जाय, जिसका उद्देश जहाँ सामाजिक और सांस्कृतिक हो वहाँ वह यह भी देखे कि हिन्दुओं के राजनैतिक अधिकारों को किसी प्रकार हानि तो नहीं पहुँचती। जो सज्जन इस तजवीज़ के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हों वे कृपया ऐसा करने की तकलीफ़ गवारा करें।"



[प्रोफ़ेसर चबलानी]

सबसे पहले बिहार के भूतपूर्व मन्त्री श्री सच्चिदानन्द-सिंह उठे। उन्होंने बड़ा नपा-तुला राजनीतिज्ञता-पूर्ण भाषण किया—"ऐसी सोसाइटियाँ यहाँ पहले भी कई बार बनाई गई थीं। इसलिए अब यह सोच लेना चाहिए कि अगर इसे चलाना हो तो यह बनाई जाय, वरना बाद में बंद करने से तो बेहतर यह है कि पहले बनाई ही न जाये।"

पञ्जाब के पण्डित नानकचन्द बैरिस्टर ने सिनहा साहब के बिलकुल उल्टा कहा। बस, अब क्या था? सभी उपस्थित सज्जनों के विचारों का रुख़ पलट गया। जहाँ पहले सब लोग इँग्लेंड में कोई भारतीय सोसाइटी बनाने के ख़िलाफ़ थे, वहाँ अब वे यह कहने लगे कि ऐसी सोसाइटी अवश्य बनाई जाय।

महाराष्ट्र के डाक्टर अम्बेडकर ने सिनहा साहब का समर्थन किया। कुछ लोगों की राय फिर बदल गई।

यह अनुभव करके कि कहीं बाज़ी हार न जाय। ४८-४९ बरस का एक दुबला-पतला मनुष्य उठा। काली अचकन, सफ़ेद चूड़ीदार पायजामा और सिर पर पगड़ी के बजाय ऊँची दीवारवाली काली टोपी थी। आँखों पर चश्मा था। वे भाषा ऐसी साफ़ और बामुहावरा बोलने लगे कि सबकी आँखें उन्होंने अपनी तरफ़ खींच लीं। कहा—"हमारे इन वृद्ध सज्जनों ने जो करना था वह एक तरह से कर लिया है। अब तो बारी हमारी है। ये लोग तो सदा यह सलाह देते रहेंगे कि ऐसा न करो, वैसा न करो, क्योंकि इससे नुक़सान होगा। ये बेचारे सच्चे हैं। अब इनमें हिम्मत नहीं रही। इन तिलों में आप तेल की आशा भी नहीं कर सकते! ये तिल हैं ही नहीं, ये तो फोंक रह गये हैं। अगर यह सोसाइटी इस समय न बनी तो फिर उस समय तो क्या बन सकेगी जब हम भी क़ब्र में पाँव लटकाये बैठे होंगे।"

इस पर खूब तालियाँ पिटीं। मेरे साथ बैठे हुए 'लंडन स्कूल आव् इकनामिक्स' के एक विद्यार्थी ने मुझसे पूछा—"ये साहब कौन हैं?" मैंने उत्तर दिया ये देहली के हिंदू-कालेज के अध्यापक हैं और यूनिवर्सिटी के इकनामिक्स विभाग के रीडर। इनका नाम......चबलानी है।"

"अच्छा यही सिंध के प्रोफ़ेसर चबलानी हैं?"

मैंने उत्तर दिया—हाँ, यही सिंध के प्रोफ़ेसर चबलानी हैं।

प्रोफ़ेसर के शब्दों का प्रभाव यह हुआ कि उसी समय "सेंट्रल हिंदू सोसाइटी आव् ग्रेटब्रिटेन" की नींव डाली गई। जिन सज्जनों ने पहले इस तजवीज़ का विरोध किया था उन्होंने ही अब इस सोसाइटी को चलाने के लिए अपनी अपनी जेब से रुपया दिया।

(२)

मित्र के साथ मेज़ के सामने बैठे हुए संध्या का भोजन कर रहा था कि वेटर ने आकर उन मित्र से कहा—"एक सज्जन आपसे फोन पर बात करना चाहते हैं। अपना नाम उन्होंने मिस्टर चापलानी बतलाया है।"

"अच्छा, तो कृपया उनसे कहिए कि अगर उनको कोई कष्ट न हो तो वे यहाँ ही चले आयें। हम खाना खा रहे हैं।"

वेटर जब चला गया तब मैंने अपने मित्र से कहा—"आपने अच्छा किया है! यहाँ भी आप देशी तरीक़े ही इस्तेमाल करने लगे हैं।"

"और किया ही क्या जाता?" उन्होंने प्रश्न किया।

"आप कहते तो मैं फोन पर चला जाता।"

"और अब नौकर जवाब दे देगा। इसमें फ़र्क़ क्या पड़ता है ? अपने चबलानी ही तो हैं।"

चबलानी साहब को मैंने देहली में कई बार देखा था। कुछ ही दिन पहले जब वे टामस कुक के लंडन हेड आफिस में अपने सामान के सम्बन्ध में पहुँचे तब भी मैंने उन्हें देखा था। परन्तु यों कभी बात-चीत न हुई थी। इस समय मैंने मित्र से कहा—"चबलानी यूनिवर्सिटी के रीडर हैं। हमारी इस तरह की बातों से कहीं बुरा तो नहीं मानेंगे ?"

"नहीं नहीं, आप प्रोफ़ेसर चबलानी से अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। वे इन बातों की परवा नहीं किया करते।"

इतने में नौकर ने आकर दरवाज़े पर खटखट की।

मैंने उत्तर में कहा—"हाँ !"

नौकर ने दरवाज़ा खोलकर नीचे की तरफ़ इशारा किया—"ड्राइंग रूम में मिस्टर चापलानी आपका इंतज़ार कर रहे हैं।"

(ऐसा मालूम होता है कि नौकर ने चबलानी जैसा कोई शब्द पहले नहीं सुना था। शायद यही कारण था कि अब दूसरी बार बताने पर भी वह 'चबलानी'-शब्द का उच्चारण 'चापलानी' ही कर रहा था।)

मेरे मित्र ने सिर हिलाते हुए कहा—"नहीं नहीं, उन्हें अपने साथ ले आइए।"

नौकर बहुत हैरान हुआ। मैं भी हैरानी में अपने मित्र के मुँह की तरफ़ देख रहा था। मेरी हैरानी तब ख़त्म हुई जब नौकर ने दरवाज़ा खोलकर एक दुबला-सा शख़्स अन्दर दाख़िल कर दिया। वही बड़ी बड़ी आगे को झुकी हुई मूँछें और लंबा-सा हँसमुख चेहरा जिस पर बड़ा-सा चश्मा लगा हुआ था। इस समय अचकन और पायजामा न थे तो भी सूट सूफ़ियाना था। हाथ जोड़कर उन्होंने नमस्कार किया। मित्र ने नमस्कार का जवाब दिया और साथ ही मुझसे परिचित करवाया। प्रोफ़ेसर साहब ने ज्यों ही कुर्सी सँभाली त्यों ही सवाल किया—"क्यों साहब, यह अजीब तरीक़ा है। आप खा रहे हैं और मुझे बातें करने के लिए बुलाया है।"

मित्र—"इसमें क़ुसूर आपका ही है। आपने ऐसे समय में क्यों फोन किया जब हमारे खाने का वक़्त है ?"

इस पर चबलानी साहब ख़ूब हँसे।

मित्र ने ज़रा गम्भीर होकर कहा—"प्रोफ़ेसर साहब, अभी आपके लिए खाना आ जाता है। तैयार हो जाइए। आपके आने से पहले ही इसका प्रबन्ध करवा लिया था।"

"न न साहब, मैं इस वक़्त खाना नहीं खाया करता।"

"तब क्या किया करते हैं ?"

"सिर्फ़ फल और तरकारियाँ लिया करता हूँ।"

"तो वही आ जायँगी।"

"न न, ऐसा न करिए। इसके लिए मैं पहले से ही पिकेडली के एक रेस्टाराँ को कह चुका हूँ। आपको फोन करने के कुछ मिनट पहले मैंने रेस्टाराँ के प्रबन्धक से कह दिया था कि आज मैं क्या-क्या चाहता हूँ।"

"तब तो यह अच्छा नहीं मालूम देता कि हम खायँ और आप बैठे देखें।"

"नहीं नहीं आप घबराइए नहीं। मैं बैठा देखूँगा नहीं, बातें करूँगा।"

इस पर फिर हँसी हुई।

हमारी ये बातें शायद कुछ देर और चलतीं अगर नौकर ने आकर फिर खटखट न शुरू कर दी होती। हमारे मित्र तो कुछ तंग भी आ गये। कहने लगे—"फोन की यह मुसीबत क्या आज जारी ही रहेगी ? (दरवाज़े की ओर देख कर) हाँ !"

"मिस्टर रैम नीचे बैठे हैं।"

"उनको भी कृपया ऊपर ले आइए।"

"बहुत अच्छा साहब।" यह कह कर नौकर चला गया।

राय सेवकराम जब आये तब बेचारे हाँफ़ रहे थे। दरवाज़े में दाख़िल होते ही उन्होंने कुर्सी की तरफ़ देखा। लपक कर दाईं ओर को जा बैठे। जब कुछ क्षण के बाद साँस बाक़ायदा चलने लगी तब उन्होंने कहा—"अजी साहब, आपको अपना कमरा बदलना होगा।

हमसे ऊपर नहीं आये बनता। न यहाँ लिफ़्ट है, न कोई दूसरा इंतज़ाम। मारे थकान के दम फूल जाता है।"

"ये बातें आपसे बाद में करेंगे। पहले आपका इनसे परिचय कराऊँ। राय सेवकराम, प्रोफ़ेसर चबलानी।"

इस पर दोनों ने एक दूसरे को हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

मेरे मित्र ने बातचीत चलाने के लिए प्रोफ़ेसर चबलानी से कहा—"राय सेवकराम सर गंगाराम के बड़े लड़के हैं। आप कृषि-विशेषज्ञ हैं।"

चबलानी—"अच्छा। सर गंगाराम की सत्कृतियों और स्वयं उनके संबंध में तो मैंने बहुत कुछ पढ़ा और सुना है। (राय सेवकराम से) कहिए साहब, क्या अब भी आप खेती में मसरूफ़ रहते हैं?"

"खेती में मसरूफ़ तो नहीं रहता, हाँ करवाता हूँ। मगर अब खेती में धरा ही क्या है? खेती करने की मेहनत भी तो उससे नहीं निकलती।"

प्रोफ़ेसर साहब ने सवाल किया—"क्यों?"

"आपको ज़्यादा मालूम होना चाहिए; आप तो अर्थशास्त्री हैं।" राय सेवकराम ने कुछ हँसते हुए कहा।

"मैं आप की खेती को फ़ायदामंद बना सकता हूँ; परन्तु मुश्किल यह है कि मेरी स्कीम को आप मंज़ूर नहीं करेंगे।"

"आपकी वह स्कीम क्या है?"

"बात यह है कि भारत में ज़मींदारों के पास ज़मीन के बहुत छोटे छोटे टुकड़े होते हैं। उनके मुक़ाबले पर योरप और अमेरिका के ज़मींदारों के पास मीलों लंबे खेत होते हैं। यही कारण है कि वे भारतीय ज़मींदारों की निस्बत मिक़दार में ज़्यादा और क़िस्म में बढ़िया रुई, गेहूँ आदि पैदा करते हैं। अगर आप उनका मुक़ाबला करना चाहते हैं तो आपको उनके हथियार भी इस्तेमाल करने होंगे; 'मशीनरी' और 'पावर' से फ़ायदा उठाना होगा।"

"लेकिन प्रोफ़ेसर साहब, मशीनरी और पावर—इन दोनों चीज़ों को मैं इस्तेमाल कर चुका हूँ। अमेरिका से हल वग़ैरह मँगवाये हैं और बिजली से काम करवाया है। तो भी मैं असफल हुआ हूँ।"

"कारण?"

"कारण बस यह कि ये दोनों चीज़ें भारतीय किसानों और मज़दूरों की आदतों के अनुकूल नहीं बैठतीं।"

प्रोफ़ेसर चबलानी ने सिर को इधर से उधर और उधर से इधर हिलाते हुए कहा—"राय साहब, अगर आज ये अनुकूल नहीं बैठतीं तो कल आपको मजबूर होकर अनुकूल बैठानी होंगी। जब तक आप ऐसा न करेंगे तब तक आप योरप और अमेरिका के मुक़ाबले में हारते ही रहेंगे।"

राय सेवकराम को यद्यपि इस बात ने अपील न की, तो भी वे प्रोफ़ेसर साहब की लियाक़त के क़ायल ज़रूर हो गये।

थोड़ी देर के बाद हम सब सैर को चल दिये।

(३)

एक दिन एक ज़रूरी पत्र प्रोफ़ेसर चबलानी को भेजना था। समय थोड़ा था। डाक से देर हो जाती। इसलिए फोन किया। प्रोफ़ेसर अपने होटल के कमरे में ही थे। मैंने पूछा—"आपके नाम का एक पत्र है।"

"तब? लेने के लिए आदमी भेजूँ?"

"जैसी आपकी इच्छा।"

"अच्छा तो एक मिनट फोन पर ही रहिए।"

कुछ देर के बाद उन्होंने खेद प्रकट करते हुए कहा कि इस समय बाहर भेजने के लिए कोई आदमी हाथ नहीं आया। इस पर मैंने पूछा—"क्या मैं ही आ जाऊँ?"

"ज़रूर। कष्ट के लिए क्षमा। धन्यवाद।"

उनका होटल क्वीन्सरोड के पास ही था। पाँच मिनट में पहुँच गया। दरवाज़ा खटखटाया। आगे एक स्टीनोग्राफ़र महिला कुछ टाइप कर रही थी। एक मेज़ उसने सँभाल रक्खी थी, दूसरी के ऊपर-नीचे कई किताबें और अख़बारों के कटिंग आदि पड़े थे। चबलानी साहब बोल रहे थे, टाइपिस्ट मशीन पर टक-टक कर रही थी। एक क्षण में वाक्य पूरा करके उन्होंने

मिसिज़ जैक्सन से मेरा परिचय कराया। अब वे तो फिर अपना काम करने लगीं। हमने हिन्दुस्तानी में बातें शुरू कर दीं (इसके लिए मिसिज़ जैक्सन से क्षमा माँग ली)।

प्रोफ़ेसर चबलानी ने मेरी दी हुई चिट्ठी पढ़ने के बाद कहा—"बहुत अच्छा। हाँ, तो आप कहिए, लंदन में क्या देखा आपने?"

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया—"जो पढ़ रक्खा था वह देखा, यद्यपि जो पढ़ा था वह और था और जो देखा है वह कुछ और ही है। फिर भी यहाँ के जीवन के कुछ पहलू देखे हैं। अर्थात् जितना कि मनुष्य कुछ दिनों में देख सकता है।"

"कभी हाईड-पार्क में भी गये हैं?"

"हाँ हाँ, सुबह सैर को उधर ही जाता हूँ। क्यों वहाँ कोई ख़ास बात है क्या? आपके साथ कोई घटना तो नहीं हुई?"

"नहीं भाई साहब, घटना तो नहीं हुई किन्तु अजीब-अजीब बातें ज़रूर देखी हैं।"

"वे क्या?"

"आपको मालूम हो कि मैं सुबह ब्रेक-फ़ास्ट करने के बाद ब्रिटिश म्यूज़ियम की लायब्रेरी की तरफ़ चल देता हूँ। "सिंध का इतिहास" लिखना मैंने देहली में शुरू किया था। यहाँ उसे पूरा करना चाहता हूँ। दोपहर को वहाँ ही पास के किसी ए० बी० सी० रेस्टाराँ में चाय पी लेता हूँ और फिर वापस जाकर अध्ययन के लिए बैठ जाता हूँ। इस प्रकार कई बार मुझको आठ-नौ बज जाया करते हैं। शाम को आक्सफ़र्ड स्ट्रीट से आते हुए मार्बल आर्च से मैं हाईड-पार्क के अंदर हो जाता हूँ। हवा ठंडी रहती है। फिर मोटरों की आमदरफ़्त से भी बचाव हो जाता है। लेकिन यहाँ एक दूसरी ही मुसीबत से वास्ता पड़ता है। बिजली के हर खंभे के पास कोई न कोई लड़की बनाव-शृंगार किये बैठी होती है। मुझे भूख लगी होती है इसलिए मैं तो जल्दी अपने होटल की तरफ़ चला जाता हूँ। लेकिन इन लड़कियों में से कोई वक़्त पूछती है, कोई सिगरेट माँगती है और कोई दियासलाई। मुझे बहुत हैरान होना पड़ता है। घड़ी हुई तो वक़्त बता दिया। लेकिन न मैं सिगरेट पीता हूँ, न दियासलाई रखता हूँ। जो यह सब माँगती हैं उनको क्या जवाब दूँ! इन लड़कियों में बहुत ही ज़्यादा साहस होता है जो इन बहानों से अपना काम निकालना चाहती हैं। (दो मिनट चुप रहकर) लेकिन शायद योरप और इँग्लेंड में ऐसी बातें करने का यही तरीक़ा हो।"

मैंने हँस कर कहा—"चबलानी साहब, घबराइए नहीं। धीरे-धीरे इन बातों के देखने की आदत हो जायगी। तब हैरानी जाती रहेगी।"

इसके थोड़ी देर बाद मैं वहाँ से चला आया।

(४)

हाउस आव् कामन्ज़ के कमिटी रूम में एक राजनैतिक मीटिंग-लीग है। हिंन्दू सोसाइटी आव् ग्रेट ब्रिटेन की ओर से पार्लमेंट के सदस्य और पत्र-प्रतिनिधि आमंत्रित किये गये थे। लेबर पार्टी के प्रसिद्ध सदस्य और भारत-प्रेमी कर्नल जोशिया सि० वेजवुड सभा के सभापति थे। जब दो-एक सज्जन "ह्वाइट पेपर और भारत" के सम्बन्ध में भाषण कर चुके तब सभापति ने श्री भाई परमानन्द जी से अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रार्थना की। भाई जी बंदगले का कोट और ढीला-ढाला साफ़ा बाँधे हुए उठे। उपस्थित लोगों ने बड़े शौक़ और ध्यान से उनकी सब बातें सुनीं। यही कारण था कि जब उनका भाषण समाप्त हुआ तब विभिन्न लोगों में परस्पर वाद-विवाद-सा शुरू हो गया।

अब बारी आई प्रोफ़ेसर चबलानी की। काली अचकन पहने हुए ये उठे। इन्होंने भी सांप्रदायिकता के विरुद्ध ख़ूब कहा। भारत के स्कूलों, कालेजों, बोर्डिंगों, कमिटियों, कौंसिलों, एसेम्बली और गवर्नमेंट के विभिन्न विभागों में सांप्रदायिकता के ऐसे नमूने—तथ्य और अंक—पेश किये कि सब लोग दंग रह गये। इँग्लेंड में बहुत ही कम व्यक्तियों को यह ख़याल हो सकता है कि भारत में ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से मज़हबी संप्रदायों के आधार पर जीवन के हर विभाग में बिभाजन किया जा

रहा है। इँग्लैंड के इन राजनीतिज्ञों पर प्रभाव डालना प्रोफ़ेसर एच० एल० चबलानी का ही काम था।

× × × ×

इस असार संसार में जीवन का क्या भरोसा हो सकता है। कुछ दिन हुए प्रोफ़ेसर चबलानी को नाक में कोई तकलीफ़ हो गई। विशेषज्ञों की सलाह से आप बंबई पहुँचे। शस्त्र-क्रिया की गई। अभी नाक ठीक न हुई थी कि कान में दर्द शुरू हो गया। १० जनवरी को उसका भी आपरेशन किया गया। लेकिन शारीरिक दुर्बलता बहुत थी, इसलिए तकलीफ़ बर्दाश्त न कर सके। परिणाम-स्वरूप १४ जनवरी को प्राण त्याग दिये।

इस देशभक्त राजनीति-विशारद तथा विद्वान् अर्थ-शास्त्री की मृत्यु से भारत को जो हानि हुई है उसकी पूर्ति शायद ही किसी तरह हो सके। इनकी विद्वत्ता से स्वयं महात्मा गांधी लाभ उठाना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने चबलानी जी को उस कमिटी में रक्खा था जिसका कर्त्तव्य सरकारी क़र्ज़ों का फ़ैसला करना था।



उस पार

कुमारी रामेश्वरीदेवी गोयल, एम० ए०

आहः हः हः............ . ...!

उस पार जाना चाहते हो, पथिक !......

यह गठरी ले कर.........?

इस गम्भीर—अथाह जल-प्रवाह को पार करना चाहते हो,......हँसते हँसते ?.........स्मृति की छाया में ?.........और;—यह भेंट लेकर स्नेहाकांक्षा में......?

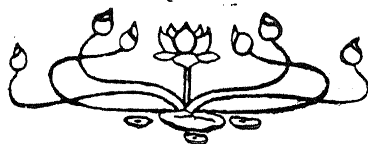
नादान पथिक ! ठहरो,—लौ...........ट जाओ सुकुमार.........

यह क्या......? ममत्व की अपेक्षा, उत्सर्ग का निश्चय कर आगे बढ़ना—तुम्हारा प्रेमी निर्म्मोही है।

कामना, प्रेम-जनित अभिलाषा, प्रत्याशा और अपने धन को वहीं छोड़ आना—तुम केवल फ़क़ीर बन कर उसके पास पहुँच सकते हो—वह तो योगी है।

क्या तुम्हें विश्वास है कि मार्ग की कोई भी कठिनाई—भयङ्कर झञ्झा, मृत्युवाहिनी भँवर,—विकराल अंधकार, जीवन-नैराश्य, तथा अनन्त संताप—तुम्हें विचलित न कर सकेंगे ? ....क्या तुम दृढ़तापूर्वक कह सकते हो कि तुम्हारे पास तुम्हारा कुछ भी नहीं है ? यदि हां तो तुम सच्चे प्रेमी हो—

पथिक ! उस पार मिलन नहीं है—वहां है आत्म-विसर्जन..................चलोगे ?



गीत

श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०



मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल—
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदुतन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कन;
विश्वशलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझमें मिल' !
सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असंख्यक;
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
फेनिल सागर उर जलता है
विद्युत् ले घिरते हैं बादल !
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अङ्ग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी
बन्दी है तापों की हलचल !
बिखर बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल !
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन;
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल !
सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नित खेल निरन्तर;
तम के अणु अणु में विद्युत्-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय,
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल ।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

ऐतिहासिक खोज का एक अनुकरणीय आदर्श

महाराजकुमार रघुवीरसिंह, एम० ए०, एल-एल० बी०



महाराजकुमार रघुबीरसिंह सीतामऊ-नरेश के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपने आगरा यूनीवर्सिटी से इतिहास में एम० ए० पास किया है। कदाचित् देशी राजन्यवर्ग में आप ही प्रथम ग्रेजुएट हैं। आपको इतिहास से विशेष प्रेम है। आशा है, आपके प्रयत्न से हिन्दी का इतिहास-विभाग अधिक अलंकृत होगा।

किसी प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ का कथन है कि—"यदि किसी देश या राष्ट्र को विनष्ट करना हो, उसके जातीय जीवन की धारा को सुखा देना हो तो इससे अधिक कोई दूसरा उपाय सरल नहीं है कि उस देश की राष्ट्रभाषा को उसके उच्चासन से गिरा दो और उस देश के इतिहास को नष्ट कर दो या असत्य की कालिमा से उस राष्ट्र के विगत इतिहास को कलंकित कर दो।" विगत राष्ट्रीय जीवन-सम्बन्धी इतिहास का उस राष्ट्र के भावी जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, यह बात उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाती है। इसी कारण एक विद्वान् लेखक के मतानुसार इतिहासकार का राष्ट्र के साथ वही सम्बन्ध होता है जो पिता का पुत्र के साथ। अतएव इस उच्च कर्तव्य का पालन करने के लिए इतिहासकार का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह अपना इतिहास जहाँ तक हो सके सत्य की भित्ति पर स्थापित करे। प्राचीन विगतकालीन घटनाओं के सम्बन्ध में सत्यासत्य का निर्णय तत्कालीन सामग्री के आधार पर ही किया जा सकता है।

पूज्यपाद ओझा जी ने अपने "राजपूताने के इतिहास" की भूमिका में चार प्रकार की ऐतिहासिक सामग्रियों का उल्लेख किया है, जैसे—

(१) हमारे यहाँ की प्राचीन पुस्तकें।

(२) विदेशियों के यात्रा-विवरण और इस देश के वर्णन-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(३) प्राचीन शिलालेख तथा दान-पत्र तथा

(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प। परन्तु इतिहास के लेखन में इन चारों से भी अधिक उपादेय सामग्री तथा इतिहास का एक और पाँचवाँ आधार तत्कालीन पत्र, हिसाब, डायरियाँ तथा अन्य प्राचीन काग़ज़ भी हो सकते हैं। यह सत्य है कि शताब्दियों पहले के राजकीय पत्र-व्यवहार तथा राजकीय काग़ज़ों का उपलब्ध होना कठिन है, विशेषतया एक विनष्ट साम्राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री का अप्राप्य होना स्वाभाविक ही है। किन्तु फिर भी यदि खोज की जाय तो इस प्रकार की भी बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है। उदाहरणार्थ एक बात का लिख देना अनुपयुक्त न होगा। सुना जाता है कि

मन्दसौर शहर में एक घराना ऐसा भी है जिसके पास विक्रमादित्य के समय से आज तक होनेवाले विभिन्न शासकों से प्राप्त सनदें आदि संगृहीत हैं।

तत्कालीन पत्र-व्यवहार तथा अन्य काग़ज़ों का इतिहास-लेखन पर कितना प्रभाव पड़ता है, यह देखना हो तो मराठों के आधुनिक इतिहास को पढ़ना चाहिए तथा मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री की जाँच की जाय। मराठों के इतिहासकारों को बहुत कुछ सफलता इस कारण मिली है कि मराठों के साम्राज्य के विनष्ट होने के बाद फिर कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण राजनैतिक उलट-फेर नहीं हुआ जिससे कोई सामग्री विनष्ट हो जाय। मराठों के राज्य की अर्वाचीनता भी इसमें सहायक हुई है।

उत्तरीय भारत में ऐतिहासिक खोज का काम बहुत हो रहा है, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, जिस उत्साह तथा लगन और जिस ढङ्ग से मराठों के इतिहासकार यह कार्य कर रहे हैं वह उत्साह तथा वह लगन यहाँ नहीं पाई जाती। इस विभिन्नता का प्रधान कारण अपने विगत इतिहास के प्रति तद्देशीय जनसमाज के दृष्टिकोण में पाया जानेवाला भेद ही है। समग्र मराठी-भाषा-भाषियों को मराठों का साम्राज्य अपनी वस्तु जान पड़ती है, ब्राह्मण तथा अब्राह्मण के भेद के कारण उस विनष्ट राज-सत्ता के प्रति कोई भेद-भाव नहीं पाया जाता। इसके विपरीत उत्तरीय भारत में जो राज्य विनष्ट हो गये इनके लिए आधुनिक समाज को न तो खेद होता है और न उनके प्रति आत्मीयता का कोई भाव ही पाया जाता है। इस आत्मीयता के भाव के अभाव के कारण ही उत्साह और लगन का भी अभाव हो गया है। अतएव इस लेख-द्वारा मैं पाठकों को यह बताना चाहता हूँ कि महाराष्ट्र तथा अन्य मराठी-भाषा-भाषी जनसमाज में मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली खोज किस प्रकार हो रही है।

महाराष्ट्र में ऐतिहासिक खोज आदि कार्यों के प्रारम्भ करने तथा मराठों के इतिहास को नवीन राष्ट्रीय तथा जीवनपूर्ण



[श्री गोविन्द सखाराम सरदेसाई बी० ए०]

स्वरूप देने का श्रेय न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे को है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "राइज़ ऑफ़ दि मराठा पॉवर" का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। इस पुस्तक में मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली अनेकानेक भ्रान्तियों को निर्मूल करने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही अनेकानेक यत्र-तत्र प्राप्त होनेवाली सामग्री का भी उपयोग किया गया है। यह बिखरी हुई अप्रकाशित सामग्री उस समय यदा-कदा किसी किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित की जाने लगी थी। इस सामग्री के आधार पर ही श्रीयुत रानडे ने उपर्युक्त पुस्तक में "ग्लीनिङ्ग फ्रॉम मराठा क्रानिकल्ज़" नामक परिशिष्ट लिखा है, और वहाँ उस सामग्री का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए यह भी बता दिया है। रानडे ने पेशवा की डायरियों की भूमिका लिखी है,

तथा मराठों की मुद्राओं आदि पर भी एक पुस्तक की रचना की है।

परन्तु मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री की खोज करना, उसका सम्पादन करके उसे प्रकाशित करना एक दूसरे ही विद्वान् ने आरम्भ किया। उन महापुरुष का नाम विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े था। बी० ए० पास होते ही उन्होंने बड़े ही उत्साह और लगन के साथ अपना कार्य आरम्भ किया था। जो काम न्यायमूर्ति रानडे ने प्रारम्भ किया था उसको पूरा करने का साधन जुटाना ही राजवाड़े का उद्देश था। रानडे ने बताया था कि किस प्रकार तत्कालीन सामग्री के आधार पर इतिहास में यत्र-तत्र पाई जानेवाली असत्यता दुरुस्त की जा सकती है। जिस आधार पर इतिहास का संशोधन हो सके उसे जनसमाज तथा इतिहास के विद्वानों के सम्मुख उपस्थित करना ही राजवाड़े का प्रधान उद्देश था। विद्वान् राजवाड़े सरस्वती के लाड़ले थे, अतएव लक्ष्मी ने उनकी ओर आँख भी उठाकर न देखा। किसी भी प्रकार की सहायता न होते हुए भी उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुराने काग़ज़-पत्र घर घर ढूँढ़ना आरम्भ किया। पूना, सतारा, नासिक, वाई के समान शहरों के साथ ही साथ उस देश के गाँव गाँव में वे भटकते फिरे। न भूख-प्यास का खयाल था, न सम्पत्ति एकत्र करने की इच्छा ही उन्हें सताती थी। भर पेट खाने को अन्न तो उन्हें मिल ही जाता था। अपनी उद्देश-पूर्ति के लिए यात्रा करने के लिए जितना धन आवश्यक होता, देशप्रेमी सज्जन सहर्ष उतने की सहायता प्रदान कर देते थे। पुराने काग़ज़, चिट्ठियाँ, दानपत्र, सनदें आदि के ढेर के ढेर अपनी पीठ पर लादे वे घूमते-फिरते थे।

राजवाड़े की इस लगन तथा तपस्या का यह फल हुआ कि अनेक कार्यकर्ता उनके शिष्य बनने को एकत्र हो गये तथा उस महान् कार्य में उन्हें सहायता देने लगे। पुराने काग़ज़-पत्र ज्यों ज्यों एकत्र होते जाते थे, त्यों त्यों उनका सम्पादन भी होता जाता था। उन तपस्वी ने स्वयं को इस महान् कार्य के उपयुक्त बनाने के लिए पूर्ण अध्यवसाय भी किया। बी० ए० पास करने के बाद उन्होंने उन सब विषयों का अध्ययन किया जिनसे ऐतिहासिक खोज में बहुत कुछ सहायता मिलती है। योरप का ही नहीं, संसार के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास का उन्होंने अध्ययन किया, लिपिविद्या को उन्होंने सीखा तथा भाषाविज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण-शास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त किया। इनके साथ ही साथ जब उन्होंने अपनी ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि का उपयोग किया तब धड़ाधड़ निकले "मराठ्याचीं इतिहासाचीं साधनें" (मराठों के इतिहास के साधन के) मोटे मोटे ग्रन्थ-खण्ड। एक एक खण्ड में भूमिका के अतिरिक्त ३५० पृष्ठ के क़रीब सामग्री रहती थी। और इस प्रकार के कोई २२ खण्ड प्रकाशित करने का सौभाग्य उन तपस्वी को हुआ। ६२ वर्ष की आयु तक वे निरन्तर परिश्रम करते ही रहे। राजवाड़े की क़लम से निकली हुई सामग्री १५,००० से भी अधिक पृष्ठों में छपी है। और इसके प्रकाशन में उन तपस्वी ने किसी से भी आर्थिक सहायता नहीं ली।

राजवाड़े के अध्यवसाय तथा लगन के दो परिणाम हुए। उनके लिखे हुए ग्रन्थों से बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई। यों तो उन्होंने मराठों के समग्र इतिहास को नवीन जीवन प्रदान किया तथा मराठों के जातीय, सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश डाला। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि उनके इतिहास-प्रेम का यह रोग छूत की तरह औरों को भी लग गया। जिन व्यक्तियों ने राजवाड़े का शिष्यत्व ग्रहण किया तथा जिन्होंने उनके आदेशानुसार काम किया उनके अतिरिक्त अन्य शिक्षित मराठी-भाषा-भाषी व्यक्तियों में भी मराठों के इतिहास के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा। नवयुवा व्यक्तियों का एक दल संगठित हुआ। इनमें विशेषतया प्रायः सभी भिन्न भिन्न हाईस्कूलों में अध्यापक थे। इन्होंने एक मासिक पत्र निकाला, जिसमें काव्य और इतिहास दो ही विषयों की चर्चा होती थी। इस मासिक पत्र का नामकरण हुआ "काव्येतिहाससंग्रह"। यह मासिक पत्र १२ वर्ष तक चलता रहा और इसमें ऐतिहासिक सामग्री, ऐतिहासिक काव्य, तत्कालीन पत्र तथा अन्य काग़ज़ों के संग्रह

के कोई ३० खण्ड प्रकाशित हुए। इस मासिक पत्र को जनसमाज ने विशेष अपनाया नहीं और इसी कारण बन्द भी हो गया। इस दल में काम करनेवालों में राव बहादुर काशीनाथ नारायण साने का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

अब तक जिस कार्य का उल्लेख किया गया है उसमें उन तपस्वियों ने अपने ही साहस तथा अध्यवसाय का सहारा लिया था, परन्तु शीघ्र ही कुछ व्यक्ति ऐसे भी कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए जिन्होंने गवर्नमेंट की भी सहायता ली। इस प्रकार के कार्यकर्ताओं में राव बहादुर दत्तात्रय बलवन्त पारसनिस का नाम विशेषरूप से लिया जाना चाहिए। यदि मराठों के इतिहास-सम्बन्धी खोज करनेवालों में राजवाड़े के बाद किसी का भी नाम लिया जा सकता है तो वह पारसनिस का ही है। यद्यपि उन्होंने किसी विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा नहीं पाई थी, तथापि उनकी स्मरण-शक्ति अपूर्व थी, और उन्हें अपने अध्यवसाय का पूरा भरोसा था। जो कुछ सामग्री उन्होंने एकत्र की वह सतारा के "हिस्टॉरिकल म्यूज़ियम" में सुरक्षित रक्खी हुई है, और इतिहास के विद्यार्थी उसका उपयोग कर सकते हैं। उन्होंने "भारतवर्ष" तथा "इतिहास-संग्रह" नामक दो मासिक पत्रों का सम्पादन भी किया था और इनके द्वारा कोई ४० खण्डों के रूप में कोई १५,००० पृष्ठों की ऐतिहासिक सामग्री मराठी-भाषा-भाषियों के सम्मुख समुपस्थित की। पारसनिस का प्रधान कार्य मराठों के पिछले दिनों के महान् राजनीतिज्ञ नाना फड़निस के पत्रों आदि के संग्रह को प्रकाशित करना था। यह संग्रह मेनावली में स्थित नाना फड़निस के घर पर रखा हुआ था। पारसनिस ने तथा सी० बी० किंकेड ने मराठों का एक नया इतिहास अँगरेज़ी में लिखा, जो तीन खण्डों में समाप्त हुआ है। यह इतिहास अपने भारतीय दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण ही बहुत पढ़ा जाता है। इसमें अब तक प्राप्त हुई ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण उपयोग किया गया है।

पारसनिस के बाद जिन इतिहास-प्रेमी तपस्वी का नाम याद आता है वे हैं वासुदेव वामन शास्त्री खरे। अपने कार्य को अधूरा ही छोड़कर ये महानुभाव मर गये, परन्तु जैसा कि कभी कभी पहले भी भारत में हुआ है इनके पुत्र महोदय अपने पिता के कार्य को चलाते रहे। और यशवन्त वासुदेव खरे ने अपने पूज्य पिता के कार्य को बन्द न होने दिया। इन पिता-पुत्रों ने कुल मिला कर "ऐतिहासिक लेखसंग्रह" नामक माला के रूप में अब तक कोई १४ खण्ड प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक खण्ड में क़रीब क़रीब कोई ६०० पृष्ठ हैं। इस लेख-संग्रह में खरे ने दक्षिणी मराठी रियासतों में पाये जानेवाले पत्र आदि काग़ज़ प्रकाशित किये हैं। इनका विशेष महत्त्व इसी कारण है कि ये पत्रादि उन व्यक्तियों-द्वारा लिखे गये हैं जिनका पेशवा के राजदरबार में निरन्तर होनेवाले षड्यन्त्र तथा कुचक्रों से कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

इन इतिहास-प्रेमी व्यक्तियों के अतिरिक्त अब कुछ संस्थायें भी स्थापित हो गई हैं जिन्होंने ऐतिहासिक खोज तथा उनका प्रकाशन ही अपना प्रधान उद्देश बना लिया है। भारतीय गवर्नमेंट के द्वारा नियुक्त "इंडियन हिस्टॉरिकल रेकर्ड्स कमीशन" ने भी बहुत कार्य किया है। यह कमीशन प्रतिवर्ष अपना वार्षिक सम्मेलन करता है और इस तरह अनेकानेक नई बातें जनसमाज के सम्मुख आती हैं। परन्तु भारतीय सरकार ने मराठों के इतिहास-सम्बन्धी शोध में दूसरी तरह से भी सहायता की है। उसने अब पूना के "एलियेशन दफ़्तर" की सामग्री भी शोधकों तथा विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध कर दी है। पेशवा के दफ़्तर से निकले हुए काग़ज़ों के सम्पादित संग्रह भी प्रकाशित होने लगे हैं। इनका सम्पादन किया है मराठों के आजकल के महान् इतिहासकार गोविन्द सखाराम सरदेसाई ने।

भारतीय सरकार के कार्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं-द्वारा भी शोध का कार्य किया जा रहा है। राजवाड़े ने ही यह सुझाया था कि सारे देश में यत्र-तत्र ऐतिहासिक खोज के लिए संस्थायें संगठित की जायँ। इस प्रकार की संस्थाओं का जाल जब बन जायगा तब बहुत ही जल्दी खोज का कार्य हो सकेगा। परन्तु इस प्रस्ताव का परिणाम

यही हुआ कि पूना, सतारा, धुलिया*, बड़ोदा, इन्दौर आदि कुछ स्थानों पर ही कुछ संस्थायें संगठित हो सकीं। इन संस्थाओं में पूना का भारत-इतिहास-संशोधन-मण्डल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मण्डल के एक हज़ार से अधिक मेम्बर हैं जो उसका वार्षिक चन्दा देते हैं। कोई ३० से अधिक ऐतिहासिक पुस्तकें इस मण्डल-द्वारा प्रकाशित की जा चुकी हैं। यहीं नहीं, इसके आग से सुरक्षित एक मकान में मण्डल-द्वारा संगृहीत पुराने अप्राप्य चित्र, हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन पत्र आदि रक्खे हुए हैं। समय समय पर इस मण्डल के अधिवेशन होते हैं, जहाँ इतिहास-प्रेमी बैठ बैठ कर भिन्न भिन्न विषयों पर विचार करते हैं और अनेकानेक उलझी हुई ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाते हैं। इस मण्डल ने अपने कार्य का क्षेत्र मराठों के इतिहास तक ही परिमित नहीं रक्खा है, किन्तु समग्र भारतीय प्रश्नों पर विचार करना उसका उद्देश है। यदि इस उद्देश की पूर्ति में कोई बाधा पड़ती है तो वह भाषा के कारण, क्योंकि इस मण्डल के सब ग्रन्थ मराठी-भाषा में ही प्रकाशित होते हैं।

अन्तिम महान् व्यक्ति जिनका नाम इस मराठों के इतिहास की खोज के सम्बन्ध में लिया जाना चाहिए, हैं गोविन्द सखाराम सरदेसाई। उन्होंने कोई ६ खण्डों में मराठों का सम्पूर्ण विशद इतिहास "मराठी रियासत" नाम से लिखा है। इन महान् इतिहासकार को भारतीय सरकार ने पेशवा के दफ़्तर से प्राप्त काग़ज़ों का संकलन, संग्रह तथा सम्पादन करने के लिए नियुक्त किया है। इस संग्रहमाला के अब तक ३२-३३ भाग निकल चुके हैं और कोई २० भाग और निकलेंगे। अब तक अन्दाज़न १०,००० से अधिक छपे हुए पृष्ठ इस संग्रह में प्रकाशित हो चुके हैं। आधुनिक काल में मराठों के इतिहास का सबसे बड़े ज्ञाता यही महोदय हैं। इनके अध्ययन का तथा ऐतिहासिक ज्ञान का बहुत कुछ निचोड़ "मराठी रियासत" में आ गया है। परन्तु जनसमाज तथा साधारण पाठकों के लिए मराठों के इतिहास पर सबसे अच्छा ग्रन्थ इन्हीं इतिहासकार-द्वारा लिखा हुआ "मेन करंट्स ऑव् मराठा हिस्ट्री" है। सन् १६२६ में सर जदुनाथ सरकार के विशेष आग्रह पर सरदेसाई जी ने पटना-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख जो "रीडरशिप लेक्चर्ज़" दिये थे वे ही संशोधित करके इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये गये हैं। इस पुस्तक के सम्बन्ध में भविष्य में अधिक लिखूँगा। इस पुस्तक के प्रकाशन से एक प्रकार राजवाड़े के उस महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई है। यद्यपि यह पुस्तक बहुत ही संक्षिप्त है तथापि आज तक की गई खोज के आधार पर मराठों के इतिहास का जो ढाँचा सरदेसाई ने इस पुस्तक-द्वारा इतिहास के विद्वानों के सम्मुख रखा है वह कई वर्षों तक स्थायी रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस तरह विगत ४०-५० वर्षों के अविरल परिश्रम से आज मराठों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली इतनी सामग्री एकत्र हो गई है कि सरदेसाई के कथनानुसार कोई ३०० से अधिक छपी हुई पुस्तकों की सूची बन जायगी। सरदेसाई लिखते हैं कि—"महाराष्ट्र में अब प्रश्न यह नहीं है कि किस प्रकार नवीन सामग्री एकत्र की जावे, परन्तु यह है कि जो प्राप्त है उसका संकलन, संशोधन तथा सम्पादन करके वह प्रकाशित किया जाय, और उसके आधार पर सच्चा सच्चा इतिहास लिखा जावे।" परन्तु अन्य प्रान्तों में स्थित मराठी रियासतों के सम्बन्ध में यह कथन किसी भी प्रकार सत्य नहीं हो सकता है। अभी तक इन्दौर, ग्वालियर, धार, देवास आदि मराठों की रियासतों का ठीक ठीक इतिहास भी नहीं लिखा गया है। इन रियासतों की स्थापना का क्रम, उनके संस्थापकों की जीवनी आदि से सम्बन्ध रखनेवाले काग़ज़ों, पत्रों,

* धुलिया में जो संस्था स्थापित हुई है उसका नामकरण राजवाड़े की ही स्मृति में "राजवाड़े संशोधन-मण्डल" किया गया है। इस तरह मराठी-भाषा-भाषियों ने इतिहास के उस महान् तपस्वी की स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। क्या कभी हिन्दी-भाषा-भाषी इतिहास-प्रेमी तपस्वी को भी ऐसा आदर हिन्दी-भाषा-भाषियों से प्राप्त होगा? ओझा जी का समुचित आदर "ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थ" के प्रकाशित करने से ही न होगा। उनके कार्य को जारी रखने के लिए "ओझा-इतिहास-मण्डल" की स्थापना की बहुत बड़ी आवश्यकता है। —लेखक

सनदों आदि का संग्रह भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इस कार्य में इन राज्यों ने बहुत ही उपेक्षा की है। ग्वालियरराज्य-द्वारा महादजी सिंधिया के पत्रों के संग्रह के ५ खण्ड प्रकाशित कराये गये थे। यह संग्रह राव बहादुर पारसनिस ने किया था। परन्तु अब इनके भी संशोधन की आवश्यकता है। इस संग्रह के अतिरिक्त इन राज्यों की इतिहास-सम्बन्धी जो कुछ भी सामग्री प्रकाशित हुई है वह प्रायः संग्रहकर्ताओं ने निजी तौर से ही प्रकाशित की है। इन संग्रहकर्ताओं में इन्दौर के ए० एन० भागवत तथा ग्वालियर के सरदार फलके का नाम विशेष रूप से लिया जाना चाहिए। भागवत महोदय ने इन्दौर-राज्य-सम्बन्धी काग़ज़ों का संग्रह किया है। अब तक इसके कोई ५-६ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। सरदार फलके कोटानिवासी सरदार पुरुषोत्तम राव गुलगुले के पास का संग्रह नक़ल करवाकर उसको "शिंदे शाहीं इतिहासाचीं साधनें" नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। दो खण्ड अभी तक प्रकाशित हुए हैं। धार में भी इतिहास-कार्यालय ने बहुत कुछ संग्रह किया है, परन्तु अभी तक कोई विशेष ग्रन्थ नहीं प्रकाशित हुआ है। अब भी इन राज्यों के इतिहास तथा मराठों के उत्तर-भारत-विजय के इतिहास के विषय में बहुत खोज हो सकती है। परन्तु यदि आवश्यकता है तो राजवाड़े के समान पाई जानेवाली लगन तथा उन्हीं के समान अदम्य उत्साह की।

खोज-सम्बन्धी इस विवरण को पढ़कर यदि हम उत्तरी भारत-सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री तथा ऐतिहासिक खोज का विचार करते हैं तो यहाँ का कार्य नगण्य के समान प्रतीत होता है। यह सत्य है कि उत्तरी भारत के उन समतल मैदानों में अनेक राजनैतिक परिवर्तन हो चुके हैं, अतएव बहुत कुछ सामग्री बिखर गई है। परन्तु क्या इस आदर्श का राजपूतों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री को प्राप्त करने तथा उसे संगृहीत करने में अनुकरण नहीं किया जाना चाहिए? जहाँ तक मालूम है, ऐसा कोई भी प्रयत्न उत्तरी भारत में नहीं किया गया। क्या मराठों के इतिहास की सामग्री की खोज करने की यह पद्धति हमारे सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श समुपस्थित नहीं करती?



प्राणाधार

कुँवर हिम्मतसिंह 'साहित्यरञ्जन'

शीघ्र सुधि लो हे प्राणाधार!
बने हुए हो तुम अलबेले,
नाथ निपट ही मुझको भूले।
पर मैं तो क्षण भर भी तुमको सकती नहीं बिसार॥
सुमन सलोने फूल रहे हैं,
वृन्त दोल पर झूल रहे हैं॥
फूल फूल पर मुग्ध हुए अलि करते हैं गुञ्जार॥
लज्जावश कुछ कह नहीं पाती,
बैठी मैं मन में अकुलाती।
उठती है भावुक वीणा से नीरव-सी झङ्कार॥

देकर के यह अपना तन मन,
बना लिया तुमको जीवनधन।
जैसे चाहो रक्खो वैसे हे मेरे कर्तार॥
दुख की वारिदमाला छाई,
आँसू की वर्षा ले आई।
किंकर्तव्यविमूढ़ हुई पथ बतला दो सुकुमार॥
मुझे कष्ट ही कष्ट लिखा है,
भाग्य-पटल पर स्पष्ट लिखा है।
पर तुमको कुछ कठिन न करना विधि की लिपि निस्सार॥

कहानी नहीं, एक वास्तविक ग्रामीण जीवन

पाठक जी

श्रीयुत रा-सा

(१)



औरंगज़ेब की मृत्यु के साथ मुसलमानों के प्रभुत्व का पतन आरम्भ हुआ, लेकिन वही समय है, जब कि मुग़लों के दृढ़ शासन के फलस्वरूप बढ़ी हुई जन-संख्या ने नये नये गाँवों और बस्तियों को बसाना शुरू किया। पाठक के पूर्वज इसी प्रकार १८ वीं शताब्दी के प्रथम पाद में प... गाँव में आकर बस गये। उस समय प... के आस-पास घना जंगल था, जिसमें भेड़िये बहुतायत से रहा करते थे। पश्चिम-ओर एक छोटे द्वीपवाली पुरातन विशाल पोखरी थी, जिसका महामाई नाम शायद पाठक के पूर्वजों ने स्वयं रक्खा था। इसी पोखरी के पश्चिमतट पर ब...नाम का छोटा गाँव था, जिसमें ख़ानदानी सैयद, कारीगर जुलाहे, सागभाजियाँ पैदा करनेवाले मेहनती कोइरी लोग निवास करते थे। यहाँ की अनेक ही ईंट-चूने की क़ब्रों से प्रकट होता है कि कभी यह स्थान आस-पास पर ख़ूब प्रभाव रखता था। प... गाँव के उत्तर-तरफ़ भी पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न थे। लोग पूछने पर बतलाया करते थे कि यहाँ कभी सिउरी रहा करते थे, जो पीछे उजड़ कर दूर देश में चले गये। अब भी उनके वंशज उन सुदूर देशों से रात को कभी कभी आकर बीजक की सहायता से अपने पूर्वजों के ख़ज़ाने का पता लगाया करते हैं।

सवा सौ वर्ष बाद अपने प्रथम पूर्वज की ५ वीं पीढ़ी में (१८४४ ई० में) पाठक पैदा हुए थे। तब चारों ओर अँगरेज़ों का राज्य था। प... में एक घर के ब्राह्मणों के १७ घर हो गये थे। उनके साथ आये अहीरों और चमारों के भी कितने ही घर हो चुके थे। यद्यपि अब जंगल काट कर बहुत-से खेत बन चुके थे, तो भी इतना जंगल आस-पास में था, जिसमें भेड़िये गुज़र कर सकते थे। हमारे प... पाठक अपने पिता के तीन पुत्रों में मँझले थे। तीनों भाइयों में पाठक कम गोर थे, तो भी इनका रंग गेहुँये से ज़्यादा साफ़ था। तीनों ही भाई विशालकाय थे, जिनमें हमारे पाठक की शरीर-गठन बहुत ही अच्छी थी। पाठक के पिता के पास खेती के अतिरिक्त काफ़ी गायें-भैंसें थीं। लड़कपन में पाठक को इन्हीं को चराने का काम मिला था। जब पाठक १२-१३ वर्ष के हुए, तभी माता-पिता ने शादी कर दी। पाठक अपनी भैंस-गायों के चराने में मस्त रहते थे। घर में दूध-घी की इफ़रात थी, यौवन में पदार्पण के साथ पाठक के रग-पुट्ठों में भी असाधारण बल की झलक दिखाई पड़ने लगी। लड़के की कुश्ती की ओर रुचि और शरीर-गठन को देखकर पिता ने उस समय के रवाज के मुताबिक़ बरसात में कसरत-कुश्ती सिखाने के लिए एक नट रक्खा। तीन महीने के बाद नट को १ भैंस इनाम में मिली। पाठक ने और भी कुछ बरसातें अखाड़े में बिताईं।

(२)

पाठक के गाँव का कोई आदमी ज़िले से बाहर नौकरी करने को गया हो, इसका पता नहीं। यही नहीं, आस-पास के गाँवों से भी शायद ही कोई गया हो। पाठक की चरवाही की पाठशाला में भूपर्यटकों के ज्ञान का भाण्डार खुला रहता हो, इसकी संभावना नहीं थी; तो भी पाठक को कहीं से हवा लगी ज़रूर। १८ वर्ष की उम्र में ही पिता के कहीं रक्खे हुए डेढ़ सौ रुपयों को लेकर १८६२ ईसवी में वे वैसे ही चम्पत हुए,

जैसे ४६ वर्ष बाद उनका नाती उनके रुपये लेकर। युक्त-प्रान्त के इस पूर्वी छोर से सुदूर दक्षिण-हैदराबाद को अभी रेल शायद न बनी थी। घर से भाग कर विदेश में चलें, इतना ही उन्हें घर छोड़ते समय ख़याल आया था। वे हैदराबाद के जालना क़स्बे में अँगरेज़ी पल्टन में नौकरी करेंगे, इसका उन्हें कुछ ख़याल भी न था। किन्तु रास्ते के साथियों के कारण आख़िर एक दिन वे जालना पहुँच गये। वहाँ उस समय एक पूर्विया फ़ौज रहती थी, जिसमें पाठक के ज़िले के भी कितने ही राजपूत सिपाही थे; पल्टन के सूबेदार मेजर रम्मूसिंह भी उनके अपने ही ज़िले के थे।

एक दिन पाठक भी अखाड़े पर गये। आज कुछ विशेष चहल-पहल थी। कुश्ती देखने के लिए पल्टन के अफ़सर भी वहाँ कुर्सियों पर डटे थे। पाठक ने भी लड़ने की इच्छा प्रकट की। सबसे तगड़े आदमी से लड़े। १८-१९ वर्ष के नवयुवक के लिए वह आदमी बहुत भारी मालूम होता था, और कुछ लोग सन्देह में पड़ने लगे थे, किन्तु कुछ ही मिनटों में पाठक ने उसे चित कर दिया। कप्तान साहब ने कूद-कर तरुण की पीठ ठोंकी, कुछ इनाम भी मिला। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि कप्तान साहब ने ख़ुद सूबेदार मेजर से कहकर उसी दिन पाठक को फ़ौज में भर्ती करा दिया। पाठक ने तनख़्वाह और इनाम के १५०) में से सौ के कुछ ऊपर रुपये सूबेदार मेजर के हाथ में रखकर कहा कि मैं अशर्फ़ियों का कंठा पहनना चाहता हूँ। उसी दिन वे रुपये जालना के मारवाड़ी सेठ के पास भेजे गये और दो-तीन दिन के बाद पाठक के गले में सात मुहरों का कंठा पड़ गया।

पाठक शरीर से जैसे बलवान् थे, वैसे ही निशाने में भी सिद्धहस्त निकले। क़वायद-परेड का काम सीख लेने के बाद ही कप्तान साहब ने उन्हें अपना अर्दली बना लिया। पल्टन के अफ़सरों को हमेशा कोई उतना काम तो होता नहीं। जाड़ों में साहब बहादुर कभी हैदराबाद के जंगलों में, कभी मालवा और नागपुर के वनों में शिकार करते फिरते थे। पाठक भी उनके साथ रहते थे। कितने ही बाघ साहब मारते थे, और कितने ही पाठक के मारे बाघ भी साहब के नाम दर्ज होते थे। हाँ, बाघ मारने का सरकारी इनाम और उसके चमड़े का दाम ही नहीं, ऊपर से साहब की ओर का भी इनाम पाठक को मिल जाया करता था।

इस जीवन की शिकारयात्राओं की बातें बुढ़ापे में पाठक बड़ी रात बीते तक अपनी सहृदय धर्मपत्नी को सुनाया करते थे। उस वक्त उनकी बग़ल में बैठा या गोद में लेटा आठ दस वर्ष का उनका नाती उन बातों को सुनता और आश्चर्य करता। कामठी, धुलिया, अमरावती, नासिक यद्यपि उस समय उस बच्चे को बेमानी मालूम होते थे, किन्तु उन्होंने पीछे से भूगोल और नक़्शा पढ़ने में बड़ी दिलचस्पी पैदा की। पाठक कहा करते थे—उधर पहाड़ों में 'बिसकर्मा' (विश्वकर्मा) के हाथ के बनाये बड़े बड़े महल हैं जो पहाड़ काट कर बनाये गये हैं। बिसकर्मा ने इन्हें बनाया था देवताओं के लिए, किन्तु जब तक देवता आयें आयें तब तक राक्षसों ने उनमें बसेरा कर लिया। देवताओं को ख़बर देकर लौटते हैं, तब क्या देखते हैं कि चारों ओर बोतलें खनखना रही हैं। बिसकर्मा बेचारे हताश हुए, और उन्होंने शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गम्भीरता से पठकाइन से कहते—आज भी वे राक्षस या तो हाथ में बोतल लिये, या ताथेई-ताथेई नाचते या आँख-मुँह बनाते दिखाई देते हैं। देखने से क्या मालूम होता है कि वे पत्थर हो गये हैं? अस्तु।

पाठक इसी प्रकार साहब के साथ जाड़ों में शिकार खेलते, गर्मियों में शिमला और ठंडे पहाड़ों पर घूमते मौज कर रहे थे। उन्हें नौकरी करते दस वर्ष हो गये थे और इस बीच में उनके साथी—और कुछ तो उनकी सिफ़ारिश पर—तरक्क़ी करके नायक और जमादार बन गये थे, किन्तु इनको न इसकी उतनी इच्छा थी और न साहब ही वैसा करना चाहते थे।

पिछले सात आठ वर्षों में पाठक ने कभी एक-आध चिट्ठी तो ज़रूर भेज दी थी, किन्तु घर आने का ज़िक्र तक न किया था। 'उड़ती हुई चिड़िया ने' घर पर ख़बर भी

दे दी थी कि पाठक ने वहीं स्त्री कर ली है। वस्तुतः था भी ऐसा ही। जालना में कितने ही ऐसे भी घर थे जो पूर्विया सिपाहियों की मराठी स्त्रियों की संतान थे। ऐसी ही एक स्त्री उनकी चिर रक्षिता हो गई थी, जिससे उन्हें एक पुत्र भी हुआ था। पाठक ने उसके लिए घर भी बनवा दिया था। शायद पाठक का वह पुत्र या उसकी सन्तान अब भी जालना में हों, (यदि जालना की अँगरेज़ी छावनी के टूटने के साथ वे अन्यत्र न चले गये होंगे।) आठ-नौ वर्ष बीत गये। पाठक के पिता भी मर गये। पाठक के भाइयों का भी बर्ताव उनकी स्त्री के साथ कुछ बहुत अच्छा न था। तब स्त्री ने अपने भाई को हैदराबाद भेजा। पाठक स्वयं तो न आये, किन्तु उन्होंने साले के हाथ स्त्री के लिए कुछ रुपये भेजे। साले ने उस रुपये को अपनी दुखिया बहन को देना पसन्द नहीं किया।

३-४ वर्ष और बीते, इसी बीच पाठक दिल्ली-दरबार भी हो आये। अभी उनका जीवन-स्रोत वैसा ही बह रहा था। बलजोर और दवन नाम के दो राजपूत नौजवानों से उनको सगे भाई से भी ज़्यादा मुहब्बत थी। सच पूछिए तो अब उनके लिए जालना घर से कम न था। उनको प...की फ़िक्र हो तो क्यों? किन्तु एक दिन किसी ने पाठक से सूबेदार रम्मूसिंह की कथा सुनाई जो कई वर्ष पूर्व पेन्शन पाकर घर चले गये थे। रम्मूसिंह ने जब से पल्टन में नौकरी की थी तब से एक ही दो बार कुछ समय के लिए घर गये थे या नहीं ही गये थे। पेन्शन के बाद एक बक्स में अशर्फ़ियाँ भरकर वे घर पहुँचे। उनकी स्त्री अब वृद्ध हो चुकी थी। बूढ़े सूबेदार मेजर ने अशर्फ़ियों का बक्स उनके सामने खोल दिया। ख़याल किया होगा, स्त्री बहुत प्रसन्न होगी, किन्तु प्रसन्नता का पता तो तब लगा जब सूबेदार मेजर ने पानी माँगा और उत्तर मिला कि "उन्हीं अशर्फ़ियों से लो। तुमने तो ज़िन्दगी में अशर्फ़ियाँ ही पैदा कीं, पानी देनेवाले थोड़े ही पैदा किये हैं।" बेचारे सूबेदार पर क्या बीती होगी, इसका तो पता नहीं, किन्तु पाठक पर इस बात का बड़ा असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों के बाद सबके कहते-सुनते रहने पर भी नाम कटा कर वे घर के लिए रवाना हो गये।

(३)

घर लौटने की सबसे अधिक प्रसन्नता पाठक की स्त्री को होनी ही चाहिए थी। यदि भाइयों के पास समय समय पर कुछ रुपया आया करता तो इसमें शक नहीं कि पाठक की स्त्री की उतनी उपेक्षा न होती। पठकाइन में एक बड़ा गुण यह था कि वे झगड़ापसन्द न थीं, किन्तु इसका ही दुष्प्रभाव यह था कि दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार को वे हज़म करती जाती थीं। वस्तुतः कड़वे मुँहवालों में अक्सर देखा जाता है कि वे किसी के दुर्व्यवहार को फ़ौरन मुँह से निकाल कर भीतर-बाहर दोनों ओर ठण्ढे हो जाते हैं। बेचारी पठकाइन में यह गुण या अवगुण तो था नहीं, वे बारह वर्ष तक की उपेक्षायें ताने सब कुछ दिल में रखती गई थीं। पाठक के आने के बाद वह लेखा एक एक कर खुलने लगा। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय के बाद पाठक भाइयों से अलग हो गये।

अब उन्होंने अपने घर को कुछ अपनी रुचि का बनाना चाहा। पहले तो उन्होंने द्वार पर पक्का कुआँ बनवाया और रहने के लिए ईंटों का मकान। पाठक को यह पसन्द न था कि वे अपना गन्ना दूसरे के कोल्हू में पेरने ले जायँ। इसलिए चुनार जाकर एक पत्थर का कोल्हू ले आये। कोल्हू को अपने द्वार पर ही गाड़-कर दो घर 'कुल्हाड़' के लिए भी बनवा दिये। उनके पास अपना पैत्रिक खेत दो बीघे से ज़्यादा न था। कुछ दिनों के बाद उनके एक समीपी कुटुम्बी ने तीनों भाइयों से कहा—मुझे रुपये की आवश्यकता है। तुम लोग मेरे हिस्से का इतना खेत ले लो। नहीं तो मैं दूसरे को बेंच दूँगा। तीनों भाइयों ने मिलकर खेत लिखा तो लिया, किन्तु छोटे भाई दाम न दे सके। पाठक ने उस भूमि को भी ले लिया। इस प्रकार अब पाठक के पास पाँच बीघे (तीन एकड़ से कुछ अधिक) के क़रीब ज़मीन हो गई। घर में दो प्राणी थे। एक लड़का हुआ, किन्तु कुछ ही समय के बाद मर गया। १८७६ ईसवी के क़रीब पाठक

को एक लड़की पैदा हुई। वही उनकी अन्तिम और एक-मात्र सन्तान थी। घर में उसका लड़के के ही समान लाड़-प्यार था और होना ही चाहिए था। ९-१० वर्ष की होने पर लड़की का ब्याह १० मील पर एक दूसरे गाँव में कर दिया गया। लड़की अधिकतर मायके में ही रहती थी, ससुराल जाने पर हर दूसरे हफ़्ते मा का आदमी कुछ लेकर पहुँचा रहता था। १८९३ ईसवी में लड़की के एक पुत्र हुआ। नाती के जन्म से पाठक-पठकाइन दोनों को ही अपार आनन्द हुआ। नाती जब अपनी मा से अलग रहने लायक़ होगया तब वह नाना का हो गया। अब बेटी की ममता भी नाती पर चली आई, इससे अब उसे ससुराल में अधिक रहने की इजाज़त होगई।

पाठक के बड़े भाई के पाँच बेटे थे और छोटे के दो। उस थोड़ी-सी भूमि से बड़े भाई के इतने बड़े परिवार की गुज़र होना बहुत कठिन था, उधर वे देखते थे कि जो जायदाद उनको मिलती उसके लिए नाती तैयार किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों परिवारों में अनबन रहने लगी। दिल में जलन तो थी ही, ज़रा-सा भी मौक़ा मिलते आग भड़क उठती थी, दो-चार गाली-गलौज होती और फिर तीन-चार मास के लिए दोनों ओर के गाल फूल आते।

पाठक अपने हाथ से काम करना अच्छा न समझते थे। पल्टन के तिलङ्गा रह ही चुके थे। घर में दूध देनेवाली एक भैंस वे ज़रूर रक्खा करते थे। बहुत पशुओं के शौक़ीन न थे, सिर्फ़ दो बैल और एक भैंस रखते थे। दूध और छाछ के बिना उनका काम न चल सकता था। पहले मछली-मांस की भी खूब चाट थी; किन्तु पीछे खानदानी गुरु और अपनी स्त्री के बार बार कहने पर मजबूर हो बेचारे एक सौ ग्यारह नम्बरवाले घर के चेले हो गये। एक काठ की कण्ठी गले में डाल दी गई और पाठक को अपने प्रिय भोज्य से वञ्चित हो जाना पड़ा। तो भी जब उनका नाती कुछ खाने-पीने लगा तब वे कण्ठी और वैष्णवता के रहते भी नाती के लिए कहीं मछली मिल जाती तो लाये बिना नहीं रहते थे। जी सकनेवाली जीती मछलियों को तो चार चार पाँच पाँच सेर लेकर एक नाद में पाल लेते थे, जिसमें से (ज़रा होश सँभालने पर) नाती निकाल निकाल कर भूनता तलता था; नाना-नानी ढङ्ग बतलाने और हल्दी-मसाला पीसकर दे देने में कोई हिचकिचाहट नहीं करते थे।

पाठक की थोड़ी भूमि उनकी परिमित आवश्यकता के लिए काफ़ी थी। खेत से अनाज और भैंस से दूध-घी उन्हें मिल जाया करता था। घर का काम-काज बहुत कम था। बाहर का काम उनका हलवाहा या दूसरा कर देता था और घर का उनकी स्त्री। बस, पाठक को खाना, सोना और सबसे बड़ा काम गपें मारना था। उस समय प...गाँव के किसी बाग़, कुल्हाड़, या खलिहान में पाँच-सात आदमियों के बीच एक मोटे-ताज़े अधेड़ पुरुष को पैर-कमर को अँगोछे में बाँध कर कुर्सी बनाये बैठे हुए पाठक महोदय अपना कथालाप किया करते। यद्यपि उन्होंने बारह-तेरह वर्षों में बहुत-से देश और लोग देखे थे, तो भी जब उन्हीं बातों को और उतने ही आदमियों में रोज़ आध घण्टा कहा जाय तो वे कितने दिनों तक नई रह सकती हैं? फलतः बाज़ श्रोता पाठक के बात आरम्भ करते ही कह देते—हाँ, यह हिंगोली छावनी के पहलवान की कथा होगी। तो भी पाठक ऐसे जीव न थे कि श्रोता की अनिच्छा के कारण अपनी कथा छोड़ बैठते।

प...गाँव में सरस्वती का सत्कार नहीं था। पाठक का छोटा भतीजा प्राइमरी तक पढ़े था, फिर उनका नाती ही पहला आदमी था, जिसने मिडिल पास किया। पाठक स्वयं अनपढ़ रहते हुए भी विद्या के लाभ को जानते थे, इसी लिए अभी नाती जब पाँच ही वर्ष का था तभी पास के स्कूल में पढ़ने के लिए बैठा दिया। वे कहा करते थे—और नहीं तो बैठना तो सीखेगा। पाठक के फुफेरे भाई सदर-आला होकर मरे थे, वही खयाल करके अपनी स्त्री से वे कहा करते थे—ज़रा मिडिल पास हो जाने दो, फिर मैंने जहाँ एक दिन जाकर पादरी साहब के यहाँ जङ्गी सलाम दागी कि बच्चे को अँगरेज़ी स्कूल में भर्ती

कराकर ही छोड़ूँगा। पाठक को और भी बड़े बड़े मंसूबे बाँधने की उत्तेजना मिलती थी—इस बात से सबसे अधिक कि उनका नाती पाठशाला में अपने दर्जे में बराबर अव्वल रहा करता था।

(४)

पाठक ने नाती को अपने सुख के लिए ही इतने लाड़-प्यार से पाला था, किन्तु इसी प्रेम ने इनके जीवन की संध्या को दुःखांधपूर्ण बना दिया। वस्तुतः यदि पाठक को अपने मन से करने दिया गया होता तो वे अपने भतीजों को दुश्मन न बनाते। उनका अपने भाइयों के प्रति हमेशा स्नेहपूर्ण बर्ताव रहता था। हाँ, जिस वक़्त वायु-मंडल बिलकुल कड़वा हो जाया करता था, उस वक़्त भी सतह से ज़रा नीचे जाने पर भाइयों का स्नेह वैसा ही तर पाया जाता। ऐसे मौक़े आये, जिस वक़्त ये तीनों वृद्ध भाई झगड़े के तूफ़ान के बीच भी स्वच्छन्दता-पूर्वक मिलने पर 'भैया' 'भैया!' कह कर फूट फूट कर रोने लगते। तो क्या पाठक की स्त्री को दोष दिया जा सकता है? इनका स्वभाव भी बहुत मधुर था। आदमी-जन, हित-पाहुना ही नहीं, रात के टिकनेवाले भिखमँगे भी इनकी तारीफ़ किया करते थे। अतिथियों को खिलाने-पिलाने में इनको बड़ा आनन्द आता था। मधुरभाषिणी तो इतनी कि सिवा अपनी जेठानी (जिसका कारण और ही था) के किसी को इन्होंने कभी कड़े शब्द न कहे होंगे। दया का उदाहरण लीजिए वैसे पाठक के घर से कुत्ते-बिल्लियों का बिलकुल सम्बन्ध न था, किन्तु एक बार एक कुतिया ने आकर बाहर के घर के कोने में बच्चे जन दिये। फिर क्या था? पठकाइन ने समझा—इस प्रसूता की परिचर्या का सारा भार उन्हीं पर है। कुतिया के लिए प्रसूताओं की तरह खाना मिलने लगा। हालाँकि इस दया का फल तुरन्त ही यह हुआ कि कुतिया द्वार की मालिकिन बन गई और उसने एक बुढ़िया भिखमंगिन को काट खाया। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि अपने दो दायादों के घर के सिवा वे अजातशत्रु थीं।

तो क्या उनकी जेठानी और देवरानी कसूरवार थीं? देवरानी और उसके घर का विरोध तो हमेशा क्षीण रहा (न उन्हें कुछ आशा थी, न उन्हें कुछ मिला)। हाँ, जेठानी उन सासों में थीं जो कड़ाई के बिना अपनी बहुओं को शासन में रख सकती थीं। उनमें बहुत गंभीरता थी। अन-पढ़, अल्प-वित्त, बहुसन्तान और ग्रामीण होते हुए भी उनमें व्यवस्था और परख करने का गुण था। वे उदारमना थीं, जो गुण उनकी परिस्थिति की स्त्रियों में कम पाया जाता है। उनके पति पाठक के बड़े भाई तो पूरे धृत-राष्ट्र थे। लड़कों के मारे भाई का विरोध करते भी असमञ्जस में ही पड़े रहते थे। और पाँच लड़के—इतने परिवार को उतनी थोड़ी भूमि से चलाना मुश्किल था। इसलिए होश सँभालते ही दो तो कलकत्ता जाकर पुलिस में भर्ती हो गये। जब वे दो-चार वर्ष में छुट्टी में घर आते तब चाहे चचा (पाठक) और अपने घर से बोल-चाल भी न हो, भेंट की चीज़ लेकर पहले वे चचा के पास ही पहुँचते थे। भेंट सामने रखकर चरण छूकर चचा-चाची को प्रणाम करते थे। एक बार एक पुलिसमैन भतीजा उस वक़्त घर आया, जिस वक़्त रूस-जापान की लड़ाई हो रही थी। आकर उसने घंटों पन-डुब्बी नावों की बातें और दूसरी ख़बरों का जो वह कलकत्ता में सुना करता था—वर्णन करता रहा। सबसे छोटा भतीजा असाधारण व्यवहारकुशल तथा प्रतिभाशाली था। यदि उसे शिक्षा का अच्छा अवसर मिला होता तो एक विशेष आदमी हुआ होता। पाठक के नाती या अपने भांजे के साथ उसका प्रेम था। उसी ने ले जाकर उसे अक्षरारंभ करवाया था। घर पर रहते वक़्त भांजे को कुछ काम की बातें बतलाकर उत्साहित करता रहता था। अपर प्राइमरी तक पढ़कर उसे चिट्ठीरसा की नौकरी कर लेनी पड़ी थी, इसलिए ज़िले में ही किन्तु बराबर बाहर रहना पड़ता था। बाक़ी दो भतीजे अपनी स्वतन्त्र बुद्धि न रखते थे। वस्तुतः यदि वह थोड़ी-सी ज़मीन—जो सारी कड़वाहट की जड़ थी—हटा दी जाय तो भतीजे बुरे ही न थे, बल्कि बहुत अच्छे थे। भतीजों की बहुयें? एक पाठक के साले की लड़की थी। दूसरी उनके ही कथनानुसार गौ थी। सबसे छोटी बहू की तो वे प्रशंसा करते न थकते थे। और बाक़ी

दो बेचारी घर के भीतर चुपचाप रहनेवाली थीं, उन्हें झगड़े-झंझट से कोई वास्ता नहीं रहता था।

और नाती? वह तो लड़का था। वह सभी चीज़ें अपने शिशु-नेत्रों से देखता था। तो भी यदि उसके उस बाल-अनुभव—चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव—की क़ीमत है तो उसे सभी मामियाँ बड़ी ही मधुर मालूम होती थीं। छोटी मामी से तो उसे असाधारण प्रेम था। स्कूल से लौटते ही, जहाँ नानी ने कुछ खाना दिया नहीं कि वह छोटी मामी के दरबार में हाज़िर हुआ। इस मामी में असाधारण कोमलता थी। वह सुन्दर थी, स्वच्छ थी, शीघ्र बात समझनेवाली थी, और अपने भैने को तृप्त करनेवाली मीठी बातें करना जानती थी। आने पर खाने को पूछना, पानी के लिए पूछना, फिर दिल खोलकर बातें करना—और एक बालक के लिए चाहिए ही क्या? सचमुच यदि उस लड़के को पूछा जाता कि तुमको सिर्फ़ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ तो वह अपनी इसी छोटी मामी को ही चुनता। उसका बालक-हृदय टूक टूक हो गया, जब एक बार दोनों घरों की बोलचाल बन्द होने पर भी वह छोटी मामी के पास गया; और बाहर आते ही बड़े ही रूखे शब्दों में उसे कहा गया—तुमने बहू को गाली दी है, खबरदार! अब इधर मत आना। मामी को भी इससे कम दुःख न हुआ होगा, क्योंकि उसे भी अपने भानजे को शाम-सवेरे देखे बिना चैन न आता था। बालक को क्या मालूम था कि यह दुनिया प्रेम और मधुरता का स्रोत बहाने के लिए नहीं है। कुछ ही वर्ष बाद वह प्यारी मामी मर गई।

अस्तु। अलग अलग व्यक्तियों में ढूँढ़ने में तो किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था, किन्तु समुदाय में अक्सर भयंकर कड़वाहट पैदा हो जाती थी। इसका कोई सबब ज़रूर था।

(५)

१९०५ ईसवी में पाठक की लड़की मर गई। अब पाठक के चार नाती थे। बाक़ी तीन अपने घर पर रहा करते थे, और छोटे छोटे थे। पठकाइन ने ज़ोर दिया कि नातियों के नाम लिखा-पढ़ी कर देनी चाहिए, ज़िन्दगी का ठिकाना नहीं। १९०६ में पाठक ने अपनी जायदाद को नातियों के नाम लिख दिया।

अब तो युद्ध की घोषणा हो गई। किन्तु बेचारी पठकाइन उस युद्ध के प्रचंड होने से पूर्व ही प्लेग में इस दुनिया को छोड़ चल बसीं। नाती अब गाँव से कुछ दूर एक मिडिल स्कूल में पढ़ता था, जहाँ से छठे-छमाहे ही आता था; और जब झगड़ा ज़ोर पकड़ चुका तब तो आता भी न था। लड़नेवाले थे, एक ओर पाठक के भतीजे और दूसरी ओर पाठक और उनका दामाद। अनुकूल-प्रतिकूल आदमी सभी जगह मिल जाते हैं। वही यहाँ भी हुआ। भतीजों ने पहले तो हिस्से को नाजायज़ करार दिलाने के लिए दीवानी में मुक़द्दमा दायर किया, किन्तु वे जानते थे, क़ानून उनके विरुद्ध है। फिर उन्होंने फ़ौजदारी मुक़द्दमे और मारपीट शुरू कर दी। फ़ौजदारी में तो जो पुलिस को ख़ूब रुपया दे, झूठे-सच्चे गवाह दे, उसकी जीत होगी। दोनों ओर से रुपया ख़र्च होने लगा। साल भर तक यह घमासान युद्ध होता रहा; जितनी की जायदाद नहीं थी, उतनी हानि और ख़र्च पाठक के दामाद को उठाना पड़ा। भतीजों को भी उससे कम ख़र्च नहीं करना पड़ा। दोनों को कुछ होश आने लगा। दामाद साहब भी समझने लगे, दूसरे गाँव में आकर यह सब करने में हम नुक्सान में रहेंगे। उनके अपने घर का लेन-देन, खेतीबारी का काम बिगड़ रहा था। अन्त में पंच के द्वारा सुलह हुई। पंच ने नाती को ग्यारह या बारह सौ रुपये देने को कहा।

भतीजे अब भी पाठक को रहने के लिए कहते थे। किन्तु पाठक समझते थे कि किसी समय उन्हें ताना मारा जा सकता है। यद्यपि वे अपने सबसे छोटे भतीजे की बहू को देवता मानते थे, (यह छोटी मामी के मरने के बाद दूसरी शादी थी)। साथ ही पाठक को इससे भी कम ग्लानि न थी कि जिस लड़की के गाँव तक में धर्म-भीरु लोग पानी पीना नहीं चाहते, वहाँ उन्हें अपनी ज़िन्दगी का अन्तिम समय अपरिचित मुखड़ों के बीच बिताना पड़ेगा। साँप-छछूँदर की दशा थी। यदि

पाठक ने पहले इस परिणाम को जाना होता तो अपने भतीजों को वे विरोधी न बनाते। अस्तु। एक दिन पाठक इच्छा से या अनिच्छा से दामाद के गाँव में चले गये, साथ ही जवानी के लाये उस पत्थर के कोल्हू को भी लेते गये।

यद्यपि जहाँ तक दामाद और सम्बन्धियों का सम्बन्ध था उनका बर्ताव अच्छा था; तो भी पाठक को वह स्थान अननुकूल, अपरिचित-सा जान पड़ता था। अब भी वे अपने शिकार की, अपनी यात्राओं की बातें सुनाते थे, और सुननेवाले भी होते थे; किन्तु उन्हें कहने में वह रस न आता था। अब उनका अपना नाम चला गया था, और उसकी जगह अमुक के ससुर कहे जाते थे। पाठक का अपना मकान एक छोटे गाँव में था, किन्तु वहाँ मील भर पर ही अच्छा बाज़ार था, और फेरीवाली खटकिनें, कोहरनें भी साग-भाजी लेकर आ जाया करती थीं। अब उस झारखण्ड के गाँव में खाने-पीने की उन चीज़ों की सुविधा न थी। स्त्री-वियोग और पुत्री-वियोग ऊपर से चित्त को खिन्न किये रहता था। अब एक और घटना हुई, जिसने उनके जीवन को बिलकुल ही नीरस बना दिया। पहले तो नाना की विचित्र यात्राओं के प्रभावों से प्रभावित नाती एक वर्ष घुमक्कड़पन में गँवा आया। फिर मिडिल पास करने पर उस पर दूसरा खब्त सवार हुआ। कहने लगा—अँगरेज़ी म्लेच्छ-भाषा है, मैं तो संस्कृत पढूँगा—जिसमें स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग रक्खा हुआ है। घरवालों के ज़िद करने पर एक दिन वह चुपके से निकल भागा। पाठक के लिए यह असह्य बात थी। उनका सारा प्रेम उसी नाती में केन्द्रित था। जब उन्हें पता लगा कि नाती बदरीनारायण की ओर गया है तब वे भी उधर चल पड़े, किन्तु भेंट न हुई। पीछे नाती को बनारस में रहकर संस्कृत पढ़ने की अनुमति हो गई। कुछ वर्षों तक बनारस में संस्कृत पढ़ता रहा, किन्तु इसी बीच १९१२ ईसवी में पाठक ने सुना कि नाती साधु होकर कहीं चला गया है।

पाठक अब जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुँच गये थे, उनका शरीर और हड्डियाँ जितनी दृढ़ थीं और जैसे वे नीरोग रहते आये थे, उससे अभी वे और जी सकते थे किन्तु अब उन्हें जीवन की चाह नहीं रह गई थी। १९१३ में वे बीमार पड़े, जान गये अब चलना है। उस वक़्त उनकी एक यही इच्छा थी कि अन्तिम समय में नाती को देख लें। किन्तु नाती उस समय डेढ़ हज़ार मील की दूरी पर बैठा था। वह जानता भी न था और यदि सुन भी पाता तो कौन जानता है कि वह अपने वृद्ध नाना की आत्मशांति के लिए उनके पास जाना पसन्द करता। पाठक एक दिन चल बसे और उस क्रूर प्रथा को याद करते हुए जिसके द्वारा भाइयों को वञ्चित कर दूर गाँव के सम्बन्धियों को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है!

भावी

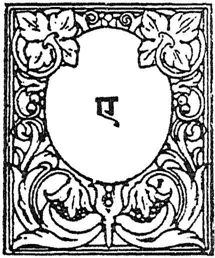
श्रीयुत मदनमोहन मिहिर

राजतिलक टल गया—वहीं थी बदी ख़ाक जङ्गल की,
श्री बिखरी छप्पर फटकर—मिल गई विभूति महल की।
आशा आशा—बुझे प्राण, था सपना किन्तु सफल है,
भावी के हैं खेल अनोखे, कौन जानता कल की।

मन्त्र का प्रभाव

श्रीयुत शुक्ल जी हिन्दी के पुराने लेखक हैं और आप सदा अनूठे विषयों पर रोचक ढंग से लिखने में सिद्धहस्त हैं। इस लेख में आपने मंत्रों के महत्त्व का प्रतिपादन अनूठे ढंग से किया है।

श्रीयुत वनमालीप्रसाद शुक्ल



एक समय वह था जब सात समुद्र के पार रहनेवाले गौराङ्ग विद्वान् जो न तो भारतवर्ष को जानते थे, न वहाँ के वेदशास्त्र से परिचित थे, भारत की प्राचीन सभ्यता, विद्या, कला आदि के सम्बन्ध में जैसा कुछ अपना मत स्थिर करते थे उसे हम आँख मूँद कर मान लेते थे। समझते थे कि उनका कथन ब्रह्म-वाक्य है। उस पर मीन मेख़ करना महापाप है। पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे दृष्टि-कोण को बेतरह परिवर्तित कर दिया था। उसी से हम ऋषि-महर्षियों के अनन्त काल के अनुभव से प्राप्त सिद्धान्तों को भ्रमात्मक, दिव्य ज्ञान को निरर्थक और शास्त्रों को काल्पनिक कहने लगे थे। उनकी पुनर्जन्म और भूत-प्रेतवाली वार्ता को विकृत मस्तिष्क का विकार और मन्त्र को ठग-विद्या मानने में सङ्कोच नहीं करते थे। पर सौभाग्य से वह समय बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सका और भारतवासी आर्यों के मन में भारतीय संस्कृति, भारतीय भावना-कामना और पूर्वजों तथा उनके कृत्यों के प्रति श्रद्धा फिर से जागृत हो गई। उन्हें ऋषि-प्रणीत शास्त्रों में पूर्ण सत्य लक्षित होने लगा और वे मानने लगे कि ऋषियों को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, जिससे वे अदृश्य सत्य को हस्तामलकवत् देख सकते थे और जिसकी कल्पना जड़वादी पाश्चात्य विद्वान् सात जन्म में भी नहीं कर सकते।

ऋषियों की दिव्य दृष्टि से प्राप्त अनेक विद्याओं में से मंत्र भी एक है। यद्यपि उसका पहले जैसा प्रचार नहीं है, फिर भी उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ है। उसके साधकों का अभाव हो जाने के कतिपय कारणों में से एक यह जान पड़ता है कि मन्त्र के साधने में कठिन परिश्रम, असह्य कष्ट और भयंकर विघ्न-बाधा से सामना करना पड़ता है। तब कहीं जाकर सफलता हाथ लगती है। वर्तमान काल के लोगों में इतना धीरज, इतनी सहिष्णुता और चित्त की एकाग्रता कहाँ है? उनकी मानसिक दुर्बलता भी ऐसी बढ़ी-चढ़ी है कि जिस कार्य के सम्पादन में दृढ़ संयम और विशेष कठिनाई से सामना करना पड़ता है उसे वे अन्ध-विश्वास का रूप देकर अपनी कमज़ोरी पर परदा डाल देते हैं। ऐसा करते समय उनके ध्यान में यह नहीं समाता कि धर्म, विज्ञान और कला को उत्पन्न करनेवाली कल्पना ही अन्ध-विश्वास की भी जननी है। जब कल्पना की सन्तान धर्म और विज्ञान सत्य हैं तब उनका सहोदर अन्ध-विश्वास क्योंकर असत्य हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि शिक्षा के दोष से हम लोग पुरानी बातों को त्यागने और नई बातों को ग्रहण करने के आदी हो गये हैं। इसने भी मंत्र-विद्या के प्रचार में काफ़ी रुकावट पैदा की है। अब तो पहले जैसे मान्त्रिकों की चाह भी नहीं है। उन्हें राजाश्रय भी नहीं मिलता है। ऐसी दशा में भूखों मरने के लिए मन्त्र साधने की मूर्खता करना भला कोई क्यों पसन्द करेगा?

अब पाश्चात्य विद्वानों की भी भारतवर्ष और उसकी प्राचीन विद्या-सम्बन्धी धारणा परिवर्तित दिखाई पड़ती है। जिस भारतीय रहस्य-पूर्ण बात को किसी समय वे थोथी समझते थे उसमें उन्हें अब तथ्य लक्षित होने लगा है। इस समय उनमें से कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं जो उनके सजातीयों-द्वारा निरर्थक कहे गये योग को स्वास्थ्य के लिए परमौषधि समझ कर चिकित्साशास्त्र में उसके सम्मिलित किये जाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश करते हैं। वास्तव में योग ऐसा ही है। उसके केवल प्राथमिक साधन को जीवन की दैनिक चर्या बना कर हर कोई अपने आयुष्य में वृद्धि कर सकता है, जीवन-पर्यन्त स्वास्थ्य का सुख भोग सकता है, बौद्धिक विकास और आत्मिक शान्ति के निमित्त सोपान निर्मित कर सकता है। भिन्न भिन्न ओषधियाँ भिन्न भिन्न रोगों को ही दूर करती हैं, परन्तु योग में समस्त मानुषिक रोगों को समूल नष्ट करने और संसार से रोग को दूर कर देने की अपूर्व शक्ति है। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में योग के समान मन्त्रों की भी महत्ता असाधारण झलकने लगी है। यहाँ पर हमें उनके मन्त्र-सम्बन्धी विश्वास का विवेचन नहीं करना है। हमें तो यह बताना है कि जिस मन्त्र-शास्त्र की महिमा आर्य-ग्रन्थों में वर्णित है वह असत्य नहीं है। ऋषियों ने अदृश्य शक्ति के रहस्यों का उद्घाटन करके ही उसे प्राप्त किया है। इसी से उसमें अदृश्य प्रबल शक्ति है। आज दिन भी उसके प्रभाव से विषैले कीड़े-मकोड़ों के काटे हुए कतिपय मनुष्य आराम हो जाते हैं। एक बार स्वर्गीय पण्डित रामजीलाल शर्मा ने 'विद्यार्थी' में लिखा था कि युक्त-प्रान्त के रेलवे विभाग के एक बंगाली कर्मचारी विषधर सर्प के काटे हुए मनुष्यों को मन्त्र-प्रयोग से आराम करने में जैसे सिद्ध हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न रोगों को मन्त्रोपचार से दूर करने में कुशल हैं। शर्मा जी की धर्मपत्नी का रोग जिसे डाक्टर और वैद्य दूर नहीं कर सके, उक्त बंगाली सज्जन के द्वारा एक-मात्र मन्त्र-बल से आराम हुआ था। इसी तरह का एक लेख बम्बई से प्रकाशित होनेवाली इलस्ट्रेटेड वीकली में उसके संवाददाता ने कुछ दिन हुए छपाया था। उसमें लिखा था कि दक्षिण-भारत का एक स्टेशन मास्टर सर्पाघात से पीड़ित मनुष्य को, चाहे वह हज़ारों मील दूर क्यों न रहता हो, तार-द्वारा सूचना पाते ही मंत्र से तुरन्त आराम कर देता है। अब तक उसने एक लाख से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचाया है। पागल कुत्ते और सियार के दंश से पीड़ित मनुष्यों को जो आरोग्यता पास्चूर साहब के द्वारा आविष्कृत उपचार से अधिक दाम ख़र्चने तथा शारीरिक कष्ट झेलने पर मिलती है वही मन्त्रद्वारा मुफ़्त में और बिना तकलीफ़ के प्राप्त हो जाती है। रायपुर के दूधाधारी मठ के बाबा जी ऐसे लोगों की मन्त्र से चिकित्सा करने में बड़े सिद्ध हैं। ग्रहों के कुप्रभाव और भूत-प्रेत की बाधा से मुक्त होने के लिए मन्त्र के अतिरिक्त और कोई उपचार ही नहीं है। इनसे सिद्ध होता है कि मन्त्र जैसा अलौकिक है, वैसा ही उसका प्रभाव दिव्य और स्थायी है।

परन्तु कभी कभी कुटिल एवं लोलुप तान्त्रिक लोग इस अलौकिक शक्ति का अनुचित प्रयोग करते हैं। इसी से बहुत लोग मन्त्र-द्वारा लाभ उठाने में हिचकते हैं। उन्हें भय होने लगता है कि जिस प्रकार लोभी ज्योतिषी झूठी गणना करके प्रथम भावी विपत्ति का भीमकाय रूप प्रदर्शित करता है और फिर उसके शमन के निमित्त लम्बा-चौड़ा ख़र्च बताकर धन हड़प जाता है, वैसे ही मन्त्रशास्त्री भी गहरी रक़म हथियाने के लोभ से मङ्गल के बदले कहीं अमङ्गल न कर दे। यह सच है कि हर एक बात के दो पहलू होते हैं। मन्त्र में भी यही बात है। जिस तरह उससे भला किया जा सकता है, उसी तरह बुरा भी हो सकता है। इसमें मन्त्र का दोष नहीं है, दोष है प्रयोक्ता का।

बहुधा देखने में आता है कि ऋषिप्रणीत संस्कृत-भाषा के मन्त्रों की तरह ग्रामीण भाषा के मन्त्रों का प्रयोग भी ग्रामीणों-द्वारा सफलतापूर्वक किया जाता है। ग्रामीण मन्त्रसाधक भी अपने मन्त्र से साँप-बिच्छू के विष उतारते हैं, सिर-दर्द, अतरी, तिजारी, चौथिया और मोतीझरा ज्वर का शमन करते हैं, भूत-प्रेत की बाधा को दूर करते हैं तथा ऐसी ही अन्यान्य

छोटे-बड़े सङ्कट को बात की बात में नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार चीन, जापान और मिस्र के मान्त्रिक भी अपनी भाषा के मन्त्रों से जनता को लाभ पहुँचाते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि संस्कृत-भाषा के मन्त्रों के समान इतर भाषा के ऊटपटाँग मन्त्रों का क्यों प्रभाव पड़ता है? वे न तो ऋषि-प्रणीत हैं, न संस्कृतज्ञों-द्वारा प्रेरित किये जाते हैं। इसके समाधान में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि ऋषियों ने जिस सिद्धान्त के आधार पर मंत्र-शास्त्र की सृष्टि की है वह मन्त्र-शास्त्र की आत्मा है। जब सिद्धान्त रूपी आत्मा पर अधिकार प्राप्त करके किसी ने साधन किया है तो उसे मन्त्र के शब्दों में चाहे वे किसी भी भाषा के हों, चेतनता लाने में कोई अड़चन नहीं होगी। मन्त्र के शब्द स्वयं जड़ हैं। उनमें सिद्धान्तानुकूल साधना से शक्ति आती है। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे ध्यान के लिए मूर्ति का महत्त्व है, वैसे ही साधना के लिए मन्त्र-शब्दों का है। मूर्ति चाहे उत्कृष्ट कलाविद् की गढ़ी हुई हो या गँवार कारीगर की बनाई हुई हो, दोनों सच्चे ध्यानी के लिए समान महत्त्व की होती हैं। इसी प्रकार मन्त्र चाहे संस्कृत के हों या प्रचलित भाषा के, साधक के लिए एक ही मूल्य के हैं।

मन्त्रों का प्रभाव प्राणियों और जड़ पदार्थ दोनों पर समान भाव से पड़ता है और प्रयोक्ता के इच्छानुकूल स्थायी या अस्थायी रूप से क़ायम रक्खा जा सकता है। इस लेख के पाठकों ने सुना ही होगा कि प्राचीन काल के राजे, महाराजे, ज़मींदार, अमीर तथा उमरा की भूगर्भ-स्थित सम्पत्ति का पता पाकर उसे खोद निकालने, हथियाने और लाभ उठाने की चेष्टा करनेवालों पर कैसी कैसी विपत्ति आई, यहाँ पर इस सम्बन्ध की एक-दो ऐतिहासिक वार्तायें लिखते हैं।

प्राचीन काल में राजे, महाराजे और अमीरों के यहाँ तांत्रिक लोग बड़ी बड़ी तनख़्वाह पर नियुक्त होते थे। वे लोग अपने स्वामी के भिन्न भिन्न स्वार्थ की सिद्धि करने के अतिरिक्त उनके कोषागार के बहुमूल्य रत्नों को भी मन्त्र से अभिषिक्त करके सुरक्षित कर देते थे। मन्त्र-रक्षित ऐसे रत्नों को फिर न तो चोर चुरा सकते थे, न विजेता राजा हस्तगत कर सकते थे। यदि लोभवश कोई उन्हें हथियाने की धृष्टता करता तो उनमें स्थित मंत्र-प्रभाव से उस पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता था। इस प्रकार का मन्त्राभिषिक्त एक बहुमूल्य और बेजोड़ रत्न जो किसी विजयी राजा को एक राज-कोष से लूट में मिला था, भयंकर अनिष्ट-कारक सिद्ध होने पर अन्त में वह पेगान के देवालय की श्रीरामचन्द्र जी की मूर्ति का आभूषण बनाये जाने के लिए दान कर दिया गया। जब इस अनुपम रत्न की चर्चा व्यवसाय के निमित्त दिल्ली में आये हुए जीन बापटाइस्ट टेह्वरनीयर नामक फ़रासीसी जौहरी के कानों में पड़ी तब वह उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठा। यद्यपि तत्कालीन मुग़ल-सम्राट् से उस दिव्य रत्न के मन्त्राभिषिक्त होने की वार्ता उसे मालूम हो गई थी, तो भी लोभवश उसने उसकी परवा नहीं की। भारतवर्ष में आने का यह उसका पहला मौक़ा नहीं था। इसके पूर्व भी वह कई बार आ चुका था और यहाँ से बहुमूल्य रत्न ले जाकर तथा योरप के राजे-महाराजे तथा अमीर-उमरा के पास बेचकर मनमाना धन कमा लिया था। जब पेगान में पहुँच कर उसने उस रत्न को देखा तब जैसा कुछ सुना था उससे कहीं बढ़ कर उसे पाया। प्रथम उसने मठाधीश को मुँहमाँगा धन देकर उसे ख़रीदना चाहा। परन्तु जब इसमें उसे सफलता नहीं मिली तब एक दिन रात्रि में उसे चुरा कर वह चम्पत हो गया। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र जी की अनुपम कान्ति रत्न के साथ चली गई और निःसहाय मठाधीश रोता-पीटता रह गया।

टेह्वरनीयर की इच्छा उस दिव्य रत्न को किसी भी मूल्य पर बेचने की नहीं थी। उसके घर में अटूट लक्ष्मी थी। परन्तु मन में अकारण जागृत होनेवाली वेदना एवं कुभावना से भयभीत होकर उसने उस रत्न को फ़्रांस के तत्कालीन सम्राट् लुईस के हाथ एक लाख पौंड और राजसी उपाधि लेकर बेच दिया। तो भी उसके चित्त को शान्ति नहीं मिली। क्रमशः उसका व्यापार और उसकी विभूति आपसे आप विनष्ट हो गई और वह स्वयं परदेश

में जंगली कुत्ते का शिकार हो गया। इधर फ़्रांस में क्रान्ति की एक लहर उत्पन्न हुई। देखते देखते सारे देश का वातावरण उससे आन्दोलित हो उठा। लुईस का राजसिंहासन डगमगाया। उनकी पैतृक सत्ता पर, उनके जन्माधिकार पर, प्रजा के अधिकार ने विजय पाई। लुईस के सामने भय, निराशा और विपत्ति के अतिरिक्त और कोई दृश्य नहीं रह गया। बेचारी महा-रानी को भी रत्न के कुप्रभाव का फल एक-मात्र उसके धारण करने के अपराध में चखना पड़ा। कहना न होगा कि उन्हें बड़ी दुर्गति से अपनी अन्तिम लीला संवरण करनी पड़ी। महाराज लुईस ने अपने जिन जिन कृपा-पात्र सरदारों तथा मन्त्रियों को उस रत्न से विभूषित होने का सम्मान प्रदान किया था, वे भी रत्न-जनित कुप्रभाव से नहीं बच सके। डी मान्टेस्पान की बड़ी बुरी तरह से मृत्यु हुई और अर्थ-सचिव निकोलस फ़ाक्वेट अपने दयालु स्वामी की नज़रों से गिर कर जेल में मस्तिष्क-रोग की असहनीय यातना सहते हुए चल बसा। इन घटनाओं से फ़रासीसियों के मन में रत्न के मंत्राभिषिक्त होने की बात जिसे टेव्हरनीयर ने हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास के उदाहरण-स्वरूप अपने मित्रों से कही थी, सत्य जँचने लगी।

इसके अनन्तर कुछ काल तक अपने अपहरण करने, ख़रीदने और धारण करनेवालों को फाँसी, मस्तिष्क-विकार तथा आत्म-हत्या की सज़ायें देकर वह रत्न तीन भागों में विभक्त हो गया। उनमें से एक अँगरेज़ रत्न-पारखी स्ट्रिटर के क़ब्ज़े में गया। दूसरा ड्यूक ब्रन्सविक के कोष में पहुँचा और तीसरा जो सबसे बड़ा था होप साहब की अर्धाङ्गिनी के आभूषण में परिणत हुआ। उस अमोल रत्न के शृंगार करने का शौक़ पूरा भी न हो पाया था कि एकाएकी होप साहब की पत्नी ने पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। उनका कहना है कि रत्न को धारण करने से मन में ग्लानि और शरीर में शिथि-लता न जाने कहाँ से आ जाती है। लार्ड फ़्रांसिस होप का भी आनन्द किरकिरा हो गया। उनका भवन टूट गया। उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। रहा-सहा उनका स्वास्थ चिन्ता-ज्वाल में भस्म हो गया।

फिर सन् १६०८ में उस रत्न ने रूसी राजकुमार केनीटोम्स्की के राजमहल में पदार्पण किया। एक रात्रि को उनकी प्रेमिका उसे धारण करके रङ्ग-मञ्च पर अपना कौशल दिखा रही थी कि इतने में अचानक गोली चलने की आवाज़ हुई और वह विख्यात नर्तकी देखते देखते मृत्यु के मुँह में समा गई। एक दिन राजकुमार पर भी आपत्ति आई और वे पेरिस की सड़क पर मरे हुए पाये गये। उस रत्न को उनके हाथ बेंचनेवाले जौहरी ने भी आत्मघात करके प्राण दे दिया। इसके अनन्तर एक यूनानी जौहरी ने उसे तुर्की के सुल्तान अब्दुल-हमीद के हाथ बेचा। बेचने के दूसरे दिन एक आकस्मिक घटना से जौहरी अपने कुटुम्ब-सहित मर मिटा। सुल्तान का कोषाध्यक्ष जिसके अधिकार में रत्न रक्खा गया था, अपने स्वामी के एकाएक अप्रसन्न हो जाने से कारागार में भेजा गया जहाँ वह पागल हो गया। पश्चात् कुलुब बे नामक खोजा को रत्न के संरक्षण का भार मिला। वह सुल्तान का मुँहलगा नौकर था। फिर भी न जाने क्यों उसे फाँसी की सज़ा दी गई। अन्त में युवक तुर्कों-द्वारा उपस्थित की गई क्रान्ति से सुल्तान का भी अनिष्ट हुआ। इतना सब करके वह रत्न अमरीका में श्रीमती मकलीन के यहाँ पहुँचा। सुनते हैं कि सन् १६१६ के मई महीने में उनका एक-मात्र पुत्र जो अतुल सम्पत्ति का अकेला अधिकारी था, मोटर के नीचे दब कर मर गया।

पाठक सोचते होंगे कि रत्नों में स्वाभाविक दोष होने से उनके धारण करनेवालों का अमङ्गल होता होगा। उनसे मेरा कहना है कि जो रत्न कान्ति में दिव्य, रूप में नयनाभिराम और वज़न में भारी होते हैं वे श्रेष्ठ, शुभ एवं बहुमूल्य कहे जाते हैं। और इनके विपरीत जो मन्द कान्ति और दागवाले होते हैं वे हीन, अशुभ तथा सस्ते माने जाते हैं। प्रथम प्रकार के रत्नों को देखकर चित्त प्रसन्न होता है और उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा तथा धारण करने की उत्सुकता होती है। ऐसी दशा में उनको स्वाभाविक दोष से युक्त कहना न्यायसङ्गत नहीं दीखता। वास्तव में अधिकारी के स्वत्व-रक्षार्थ अथवा किसी दूसरे प्रयोजन से उनके मन्त्राभिषिक्त हुए बिना वे

किसी हालत में मनुष्यों पर बुरा असर नहीं डाल सकते। यह मानी हुई बात है कि श्रेष्ठ रत्न ग्रहों के कुप्रभाव को शमन करने में स्वभावतः मनुष्य की सहायता करते हैं, फिर उनसे अनिष्ट कैसे हो सकता है। यदि होता है तो इसका कारण तान्त्रिकों-द्वारा उन पर उपस्थित किये गये प्रभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अब रही दूसरे प्रकार के रत्न की बात। इस सम्बन्ध में इतना जान लेना बस होगा कि जिस प्रकार आँखों की पुतलियों में फूली या मैले रंग के सफ़ेद दाग आ जाने से आँखें कुरूप और घृणित दीखती हैं और इस कारण अशुभ मानी जाती हैं, उसी प्रकार हीन प्रकार के रत्न भी अपनी कुरूपता के कारण अशुभ कहे जाते हैं। उनमें प्रभाव का सर्वथा अभाव रहता है। अतः वे ग्रहों के कुप्रभाव को शान्त नहीं कर सकते।

अब मिस्र-देश के प्राचीन काल के तान्त्रिकों की बात सुन लीजिए।

बहुत पुराने समय में मिस्रदेशवासियों का धार्मिक विश्वास था कि आत्मा बहुत वर्षों तक इधर-उधर भ्रमण करके अपने मृत शरीर में पुनः लौट आती है। अतः मृत शरीर की रक्षा यत्न-पूर्वक नहीं करने से आत्मा गृह-विहीन होकर दर दर भटकती फिरेगी। इसके सिवा उनकी यह भी धारणा थी कि आत्मा पृथ्वी पर तब तक लौट कर नहीं आती जब तक उसका शरीर जीवित तुल्य और अभङ्ग हुए बिना स्थित रहता है। इन विश्वासों से प्रेरित होकर कई बड़े लोग अपने जीवन-काल में ही अपने मृत शरीर के रक्षार्थ सुदृढ़ क़ब्र की योजना कर लेते थे। उन्हें जीवित शरीर की अपेक्षा मृत शरीर के रहने के स्थान तथा सुख-सुविधा की बड़ी चिन्ता रहती थी। फेरोह और पुरोहित धार्मिक रहस्य-पूर्ण माने जाते थे। इसलिए उनकी क़ब्रें अधिक मज़बूत बनाई जाती थीं और शरीर विशेषरूप से सुरक्षित रक्खा जाता था। सुदृढ़ क़ब्र शरीर को वर्षा, हिम, वात तथा ताप के द्वारा विनष्ट होने से बचा सकती थी। दुष्ट प्रेतात्मा तथा शत्रु से उसकी रक्षा करना उसके सामर्थ्य के बाहर की बात थी। इसके लिए तान्त्रिक से सहायता ली जाती थी। वह मन्त्र से मृत-शरीर, तावूत तथा क़ब्र के भीतरी भाग को सुरक्षित कर देता था और यह आदेश दे देता था कि क़ब्र के भीतर की शान्ति को भंग करनेवाले पर मन्त्र-प्रभाव से विपत्ति का पहाड़ टूट पड़े। इसके बाद फिर कोई क़ब्र में प्रवेश करने, तावूत को खोलने और मृत शरीर को स्पर्श करने की हिम्मत नहीं कर सकता था।

जब इजिप्ट में गौराङ्गों का प्रवेश हुआ और उनके साथ नई सभ्यता की नई रोशनी वहाँ पहुँची तब उसके प्रकाश में कुछ मिस्रवासियों को सूझने लगा कि प्राचीन काल की क़ब्र में स्थित तावूतों के मन्त्राभिषिक्त होने की बात अन्ध-विश्वास-प्रसूत है और एक-मात्र चोरों से उनकी रक्षा के लिए कही गई है। वे गौराङ्गों के सुर में सुर मिलाकर यह भी कहने लगे कि यदि उसे सच मान लें तो भी कहना होगा कि तीन हज़ार वर्ष पूर्व उच्चरित हुए मन्त्रों का प्रभाव बीसवीं सदी तक क़ायम रह सकना नितान्त असम्भव है। मिस्रियों के इस विचार ने गौराङ्गों को प्राचीन क़ब्र खोदने और मिस्र की प्राचीन सभ्यता, दस्तकारी आदि को प्रकाश में लाने की अनुमति दे दी। फिर क्या था। मक़बरे ढहाये गये। तावूत तथा उनके साथ की अन्य वस्तुएँ निकाली गईं। साथ ही फेरोह तथा पुरोहितों के मृत शरीर के साथ खेलवाड़ करने, उनकी मान-मर्यादा एवं प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाने और उनके धार्मिक विश्वास की हँसी उड़ानेवालों पर आपत्ति का हमला भी हुआ। उस पर किसी ने ध्यान दिया और किसी ने नहीं दिया। जिन्होंने ध्यान दिया उनका समाधान करने के लिए कहा गया कि यह संयोग की बात थी, मन्त्र-तन्त्र की नहीं। परन्तु जब तूतन खामन की समाधि खोदी गई और खोदने-वालों, तावूत के दर्शन करनेवालों तथा मृत शरीर को छूने-उठानेवालों पर एक एक करके भीषण आपत्तियाँ आईं तब गौराङ्गों के रोंगटे भय से खड़े हो गये, उनका धीरज जाता रहा और उन्हें बोध होने लगा कि इजिप्ट की प्राचीन क़ब्रों में स्थित मृत शरीर मन्त्राभिषिक्त हैं और अब भी अपने अपराधियों को दण्ड देने की शक्ति रखते हैं।

तूतन खामन के मक़बरे का रहस्योद्‌घाटन होते ही लार्ड कारनरवान जो इस रहस्योद्‌घाटक-मण्डल के प्रमुख व्यक्ति थे, सुरपुर को सिधार गये। मिस्र के पुरोहितों ने जो कहा था, वही हुआ। मक़बरे में प्रवेश करने का दण्ड लार्ड साहब को अपना जीवन देकर चुकाना पड़ा। लेडी कारनरवान जिस जहाज़ से अपने पति के शव को लेकर विलायत के लिए रवाना हुईं उसके कतिपय यात्रियों ने इस भय से कि लार्ड साहब के संग यात्रा करने में कहीं फेरोह का शाप उन पर भी न पड़ जाय, अपनी अपनी यात्रा स्थगित कर दी। क़ब्र के रहस्योद्‌घाटक हौवर्ड कार्टर साहब तो मरते मरते बचे। अब उन्हें क़ब्र तथा ताबूत के मन्त्राभिषिक्त होने की बात खरी जँचने लगी है। लार्ड कारनरवान को स्वर्ग सिधारे कुछ ही दिन हो पाये थे कि उनके एक भाई जिन्होंने तूतन खामन की मिमियाई का जी खोल कर दर्शन किया था, लंदन में अचानक मर गये। वे मक़बरे में बड़े उत्साह से घुसे थे, पर जब तूतन खामन की विशाल ताबूत पर उनकी दृष्टि पड़ी तब वे घबरा-से गये थे। उसी समय उन्हें भास होने लगा था कि उनके परिवार पर कोई भयंकर आपत्ति आनेवाली है। इस मृत्यु का शोक मनाया ही जा रहा था कि इतने में लार्ड साहब के परम मित्र जार्ज गोल्ड की अचानक एवं रहस्यमयी मृत्यु हो गई। वे भी फेरोह की क़ब्र की हवा खा चुके थे। अब लंदन के उन सब साहबों का दिल दहलने लगा जिन्होंने क़ब्र में प्रवेश किया था। इसी बीच में एक्स-रे के विशेषज्ञ सर आरचीवाल्ड डगलस रीड तूतन खामन की मिमियाई पर एक्स-रे डाल कर उसके भीतरी ढाँचे का फोटो लेने के लिए बुलाये गये। वे अपना प्रयोग आरम्भ करने ही पर थे कि सहसा उनकी चेतना जाती रही और कुछ दिन तक बीमार रह कर वे भी परलोक को सिधारे। आश्चर्य तो यह है कि कोई डाक्टर उनके रोग का निदान तक निश्चित नहीं कर सका। इसके एक महीना के बाद प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता प्रोफ़ेसर पाल जिन्होंने फेरोह की समाधि की खोदाई के कार्य में योग दिया था, शारीरिक यातना भोग कर संसार से बिदा हो गये। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में डाक्टरों ने हृदय-रोग बताया था, पर अन्ध-विश्वासियों ने उस बात पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने तो उसे भी फेरोह के शरीर-रक्षक मन्त्र का अभिशाप ही समझा। इधर इमलीन व्हाइट साहब का मस्तिष्क कुभावना-पूर्ण विचारों से ख़राब होने लगा। एक दिन उन्होंने एक पत्र लिखकर कि फेरोह के शाप से मुक्त हुए बिना आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी, पिस्तौल से अपना काम तमाम कर लिया। इसी तरह मिस्र के राजकुमार अली फाहमी बे का भी अन्त हुआ। वे क़ब्र में आमन्त्रित होकर गये थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने क़ब्र खोदनेवालों की धन से सहायता भी की थी। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हल्लाह बे अपने स्वामी के सच्चे अनुगामी निकले। जैसे फेरोह के दर्शन करने के समय वे अपने स्वामी के अनुचर थे, वैसे ही उनके परलोकवासी होने पर भी बने रहे। उनकी रहस्यमयी मृत्यु के विषय में इसके सिवा कि वे भी क़ब्र में गये थे, और कोई दूसरा कारण अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है।

दो वर्ष तक इस सम्बन्ध की फिर कहीं कोई दुर्घटना नहीं हुई। क़ब्र की शापवाली बात को लोग प्रायः भूल-से गये थे। इसके बाद मिस्र के पुरातत्त्वज्ञ प्रोफ़ेसर जार्ज बेनीडाइट सन् १९२६ के मार्च महीने में एकाएक परलोकवासी हो गये। वे तूतन खामन की क़ब्र के उद्‌घाटक-दल के एक प्रमुख सदस्य थे। इस घटना के तीन वर्ष बाद एक अमरीकन युवती जो लार्ड कारनरवान का निमन्त्रण पाकर क़ब्र और तत्सम्बन्धी नुमाइशी वस्तुओं को देख गई थी, पागल होगई। उसके पागल-पन की कथा बड़ी विचित्र है। अन्त में एक दिन यह लिख चुकने के बाद कि मैंने क़ब्र के शान्ति-भंग-कर्ताओं को सहयोग देकर पाप किया है, उसने अपने भेजे को गोली का निशाना बना लिया। उसकी चर्चा अख़बारों में हो ही रही थी कि इधर लंदन के बाथ क्लब में लार्ड वेस्टबरी के उत्तराधिकारी ने आत्महत्या कर ली। उसे कार्टर साहब के सेक्रेटरी के नाते क़ब्र में बहुत घूमने-फिरने का संयोग प्राप्त हुआ था। इसके बाद ही फेरोह के मन्त्राभिषिक्त शरीर का प्रभाव लार्ड वेस्टबरी पर पड़ा

(शेष अंश ४९० पृष्ठ पर)

हास्यरस की एक कहानी

चिकित्सा का चक्कर

[श्रीयुत कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल-टी०]



मैं बिलकुल हट्टा-कट्टा हूँ। देखने में मुझे कोई भला आदमी रोगी नहीं कह सकता। पर मेरी कहानी किसी भारतीय विधवा से कम करुण नहीं है, यद्यपि मैं विधुर नहीं हूँ। मेरी आयु लगभग पैंतीस साल की है। आज तक कभी बीमार नहीं पड़ा था। लोगों को बीमार देखता था तो मुझे बड़ी इच्छा होती थी कि किसी दिन मैं भी बीमार पड़ता तो अच्छा होता। यह तो न था कि मेरे बीमार होने पर भी दिन में दो बार बुलेटिन निकलते। पर इतना अवश्य था कि मेरे लिए बीमार पड़ने पर हंटले पामर के बिसकुट—जिन्हें साधारण अवस्था में घरवाले खाने नहीं देते, दवा की बात और है—खाने को मिलते। 'यू डी कलोन' की शीशियाँ सिर पर कोमल करों से बीबी उँड़ेल कर मलती। और सबसे बड़ी इच्छा तो यह थी कि दोस्त लोग आकर मेरे सामने बैठते और गम्भीर मुद्रा धारण करके पूछते, कहिए किसकी दवा हो रही है? कुछ फ़ायदा है? जब कोई इस प्रकार से रोनी सूरत बनाकर ऐसे प्रश्न करता है तब मुझे बड़ा मज़ा आता है और उस समय मैं आनंद की सीमा के उस पार पहुँच जाता हूँ जब दर्शक लोग उठकर जाना चाहते हैं पर संकोच के मारे जल्दी उठते नहीं। यदि उनके मन की तसवीर कोई चित्रकार खींच दे तो मनोविज्ञान के 'खोजियों' के लिए एक अनोखी वस्तु मिल जाय।

हाँ, तो एक दिन हाकी खेल कर आया। कपड़े उतारे, स्नान किया। शाम को भोजन कर लेने की मेरी आदत है, पर आज मैच में रेफ्रेशमेंट ज़रा ज़्यादा खा गया था इसलिए भूख न थी। श्रीमती जी ने खाने को पूछा। मैंने कह दिया कि आज स्कूल में मिठाई खाकर आया हूँ, कुछ विशेष भूख नहीं है। उन्होंने कहा—"विशेष न सही, साधारण सही। मुझे आज सिनेमा जाना है। तुम अभी खा लेते तो अच्छा था। संभव है, मेरे आने में देर हो।" मैंने फिर इनकार नहीं किया, उस दिन थोड़ा ही खाया। बारह पूरियाँ थीं और वही रोज़ वाली आधपाव मलाई। मलाई खा चुकने के बाद पता चला कि 'प्रसाद' जी के यहाँ से बाग़ बाज़ार का रसगुल्ला आया है। रस तो होगा ही। कल तक संभव है, कुछ खट्टा हो जाय। छः रसगुल्ले निगलकर मैंने चारपाई पर धरना दिया। रसगुल्ले छायावादी कविताओं की भाँति सूक्ष्म नहीं थे; स्थूल थे। एकाएक तीन बजे रात को नींद खुली। नाभि के नीचे दाहनी ओर पेट में मालूम पड़ता था, कोई बड़ी बड़ी सुइयाँ लेकर कोंच रहा है। परंतु मुझे भय नहीं मालूम हुआ, क्योंकि ऐसे ही समय के लिए ओषधियों का राजा, रोगों का रामबाण, अमृतधारा की एक शीशी सदा मेरे पास रहती है। मैंने तुरंत उसकी कुछ बूँदें पान कीं। दोबारा दवा पी। तिबारा। पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा की सार्थकता उसी समय मुझे मालूम हुई। प्रातःकाल होते होते शीशी समाप्त हो गई। दर्द में किसी प्रकार कमी न हुई। प्रातःकाल एक डाक्टर के यहाँ आदमी भेजना पड़ा।

राय बहादुर डाक्टर विनोदबिहारी मुकर्जी यहाँ के बड़े नामी डाक्टर हैं। पहले जब प्रैक्टिस नहीं चलती

थी तब आप लोगों के यहाँ मुफ़्त जाते थे। वहाँ से पता चला कि डाक्टर साहब नौ बजे ऊपर से उतरते हैं। इसके पहले वे कहीं जा नहीं सकते। लाचार दूसरे के पास आदमी भेजना पड़ा। दूसरे डाक्टर साहब सरकारी अस्पताल के सब-असिस्टेंट थे। वे एक एक्के पर तशरीफ़ लाये। सूट तो वे ऐसा ही पहने हुए थे कि मालूम पड़ता था, प्रिंस आफ़ वेल्स के वेलेटों में हैं। ऐसे सूटवाले का एक्के पर आना वैसा ही मालूम हुआ जैसा लीडरों का मोटर छोड़कर पैदल चलना। मैं अपना पूरा हाल भी न कहने पाया था कि आप बोले, ज़बान दिखलाइए। प्रेमियों को जो मज़ा प्रेमिकाओं की आँखें देखने में आता है, शायद वैसा ही डाक्टरों को मरीज़ों की जीभ देखने में आता है। डाक्टर महोदय मुसकराये। बोले घबराने की कोई बात नहीं है। दवा पीजिए। दो ख़ुराक पीते पीते आपका दर्द वैसे ही ग़ायब हो जायगा, जैसे हिन्दुस्तान से सोना ग़ायब हो रहा है। मैं तो दर्द से बेचैन था। डाक्टर साहब साहित्य का मज़ा लूट रहे थे। चलते चलते बोले, "अभी अस्पताल खुला न होगा नहीं तो आपको दवा मँगानी न पड़ती। ख़ैर, चंद्रकला फ़ारमेसी से दवा मँगवा लीजिएगा। वहाँ दवाइयाँ ताज़ा मिलती हैं। बोतल में पानी गर्म करके सेंकिएगा। दवा पी गई। गर्म बोतलों से सेंक भी आरंभ हुई। सेंकते सेंकते छाले पड़ गये। पर दर्द में कमी न हुई।

दोपहर हुआ, शाम हुई। पर दर्द ने मुझसे ऐसा प्रेम दिखलाया कि हटने का नाम दूर। लोग देखने के लिए आने लगे। मेरे घर पर मेला लगने लगा। ऐसे ऐसे लोग आये कि कहाँ तक लिखूँ। हाँ, एक विशेषता थी। जो आता, एक न एक नुसख़ा अपने साथ लेता आता था। किसी ने कहा, अजी, कुछ नहीं हींग पिला दो; किसी ने कहा, चूना खिला दो। खाने के लिए सिवा जूते के और कोई चीज़ बाक़ी नहीं रह गई, जिसे लोगों ने न बताई हो। यदि भारतीय सरकार को मालूम हो जाय कि देश में इतने डाक्टर हैं तो निश्चय है कि सारे मेडिकल कालेज तोड़ दिये जायँ। इतने ख़र्च की आख़िर आवश्यकता ही क्या है?

कुछ समझदार लोग भी आते थे, जो इस बात की बहस छेड़ देते थे कि असहयोग-आन्दोलन सफल होगा कि नहीं, ब्रिटिश नीति में कितनी सचाई है, विश्व आर्थिक सम्मेलन में अमेरिका का भाषण बहुत स्वार्थ-पूर्ण हुआ इत्यादि। मैं इस समय केवल स्मरण-शक्ति से काम ले रहा हूँ। तीन दिन बीत गये। दर्द में कमी न हुई। कभी कभी कम हो जाता था; बीच बीच में ज़ोरों का हमला हो जाता था, मानो चीन-जापान का युद्ध हो रहा हो।

तीसरे दिन तो यह मालूम होता था कि मेरा घर क्लब बन गया है। लोग आते मुझे देखने के लिए, पर चर्चा छिड़ती थी कि पंडित बनारसीदास ने इस बार किसको पछाड़ा, प्रसाद जी का अमुक नाटक स्टेज की दृष्टि से कैसा है, हिन्दी के दैनिक पत्रों में बड़ी अशुद्धियाँ रहती हैं, अब देश में अनारकिस्ट नहीं रह गये हैं, लार्ड विलिंगडन अब ब्रूकबांड चाय नहीं पीते, छतारी के नवाब टेढ़ी टोपी क्यों लगाते हैं और राय कृष्णदास हफ़्ते में नौ बार दाढ़ी क्यों बनवाते हैं; अर्थात् लार्ड विलिंगडन और महात्मा गांधी से लेकर रामजियावनलाल पटवारी तक की आलोचना यहाँ बैठकर लोग करते थे। और यहाँ दर्द की वह दर्दनाक हालत थी कि क्या लिखूँ। मुझे भी कुछ बोलना ही पड़ता था। ऊपर से पान और सिगरेट की चपत अलग, भला दर्द में क्या कमी हो। बीच बीच में लोग दवा की सलाह और डाक्टर बदलने की सलाह और कौन डाक्टर किस तरह का है, यह भी बतलाते जाते थे।

आख़िर में लोगों ने कहा कि तुम कब तक इस तरह पड़े रहोगे। किसी दूसरे की दवा करो। लोगों की सलाह से डाक्टर चूहानाथ कतर जी को बुलाने की सब की सलाह हुई। आप लोग डाक्टर साहब का नाम सुनकर हँसेंगे। पर यह मेरा दोष नहीं है। डाक्टर साहब के मा-बाप का दोष है। यदि मुझे उनका नाम रखना होता तो अवश्य ही कोई साहित्यिक नाम रखता। परन्तु थे यथा नाम तथा गुण। आपकी फ़ीस आठ रुपये थी और मोटर का एक रुपया अलग। आप लंदन के एफ़० आर० सी० एस० थे।

कुछ लोगों का सौन्दर्य रात में बढ़ जाता है, डाक्टरों की फ़ीस रात में बढ़ जाती है। ख़ैर, डाक्टर साहब बुलाये गये। आते ही हमारे हाल पर रहम किया और बोले, मिनटों में दर्द ग़ायब हुआ जाता है, थोड़ा पानी गरम कराइए, तब तक यह दवा मँगवाइए। एक पुर्ज़े पर आपने दवा लिखी। पानी गर्म हुआ। दो रुपये की दवा आई। डाक्टर बाबू ने तुरन्त एक छोटी-सी पिचकारी निकाली; उसमें एक लम्बी सूई लगाई, पिचकारी में दवा भरी और मेरे पेट में वह सूई कोंच कर दवा डाली।

यह कह देना आसान है कि मेरा कलेजा निगाहों के नेज़ा के घुस जाने से रेज़ा रेज़ा हो गया है, अथवा उनका दिल बरुनी की बरछियों के हमले से टुकड़े टुकड़े हो गया है, पर अगर सचमुच एक आलपीन भी धँस जाय तो बड़े बड़े प्रेमियों को नानी याद आजाय, प्रेमिकायें भूल जायँ। डाक्टर साहब कुछ कहकर और मुझे सान्त्वना देकर चले गये। इसके बाद मुझे नींद आगई और मैं सो गया। मेरी नींद कब खुली कह नहीं सकता, पर दर्द में कमी हो चली थी और दूसरे दिन प्रातःकाल पीड़ा रफ़ू-चक्कर हो गई थी।

कोई दो सप्ताह मुझे पूरा स्वस्थ होने में लगे। बराबर डाक्टर चूहानाथ कतर जी की दवा पीता रहा। अठारह आने की शीशी प्रतिदिन आती रही। दवा के स्वादु का क्या कहना। शायद मुर्दे के मुख में डाल दी जाय तो वह भी तिलमिला उठे। पंद्रह दिन के बाद मैं डाक्टर साहब के घर गया। उन्हें धन्यवाद दिया। मैंने पूछा कि अब तो दवा पीने की कोई आवश्यकता न होगी। वे बोले—यह तो आपकी इच्छा पर है। पर यदि आप काफ़ी एहतियात न करेंगे तो आपको 'अपेंडिसाइटीज़' हो जायगा। यह दर्द मामूली नहीं था। असल में आपको 'सीलियो सेन्ट्रिक कोलाइटीज़' हो गया था। और उससे 'डेवेलप' कर 'पेरिकार्डियल हाइड्रोस्यूलिक स्टमकालिस' हो जाता, फिर ब्रह्मा भी कुछ न कर सकते। मालूम होता है कि आपकी श्रीमती बड़ी भाग्यवती हैं। अगर छः घण्टे की देर और हो जाती तो उन्हें ज़िन्दगी भर रोना पड़ता। यह तो कहिए कि आपने मुझे बुला लिया। अभी कुछ दिनों आप दवा पीजिए।

डाक्टर महोदय ने ऐसे ऐसे मर्ज़ों के नाम सुनाये कि मेरी तबीयत फड़क उठी। भला मुझे ऐसे मर्ज़ हुए जिनका नाम साधारण क्या बड़े पढ़े-लिखे लोग भी नहीं जानते। मालूम नहीं, ये मर्ज़ सब डाक्टरों को मालूम हैं कि केवल हमारे डाक्टर चूहानाथ को ही मालूम हैं। ख़ैर, मैंने दवा जारी रक्खी।

अभी एक सप्ताह भी पूरा न हुआ था कि दो बजे दिन को एकाएक फिर दर्दरूपी फ़ौज ने मेरे शरीररूपी क़िले पर हमला कर दिया। डाक्टर साहब ने जिन जिन भयंकर मर्ज़ों का नाम लिया था उनका स्वरूप मेरी रोती हुई आँखों के सामने नृत्य करने लगा। मैं सोचने लगा कि हुआ हमला किसी उन्हीं में से एक मर्ज़ का। तुरंत डाक्टर साहब के यहाँ आदमी दौड़ाया गया कि इंजेकशन का सामान लेकर चलिए। वहाँ से आदमी बिना माँगी पत्रिका की भाँति लौट कर आया कि डाक्टर साहब कहीं गये हैं। इधर मेरी हालत क्या थी उसका वर्णन यदि सरस्वती शार्टहैण्ड से भी लिखे तो संभवतः समाप्त न हो। एयरोप्लेन के पंखे की तेज़ी के समान तो करवटें बदल रहा था। इधर मित्रों और घरवालों की कान्फ़रेंस हो रही थी कि अब कौन बुलाया जाय, पर 'डिसार्मामेंट कान्फ़रेंस' की भाँति कोई न किसी की बात मानता था, न कोई निश्चय ही हो पाता था। मालूम नहीं, लोगों में क्या क्या बहस हुई, कौन कौन प्रस्ताव फ़ेल हुए, कौन कौन पास। जहाँ मैं पड़ा कराह रहा था उसी के बग़ल में लोग बहस कर रहे थे। कभी कभी किसी किसी की चिल्लाहट सुनाई दे जाती थी। बीमार मैं था, अच्छा-बुरा होना मुझे था, फ़ीस मुझे देनी थी, परन्तु लड़ और लोग रहे थे। मालूम होता था कि उन्हीं लोगों में से किसी की ज़मींदारी कोई ज़बर्दस्ती छीने लिये जा रहा है। अन्त में हमारे मकान के बग़ल में रहने-वाले पंडित जी की विजय हुई और आयुर्वेदाचार्य, रसज्ञरंजन, चिकित्सा-मार्तण्ड, प्रमेह-गज-पंचानन कविराज पंडित खुखड़ी शास्त्री के बुलाने की बात तय हुई। आधा

घण्टा तो बहस में बीता। ख़ैर, किसी तरह से कुछ तय हुआ। एक सज्जन उन्हें बुलाने के लिए भेजे गये। कोई पैंतालीस मिनट बीत गये, परन्तु वहाँ से न वैद्य जी आये, न भेजे गये सज्जन का ही पता चला। एक ओर दर्द इनकम टैक्स की तरह बढ़ता ही चला जा रहा था, दूसरी ओर इन लोगों का भी पता नहीं। और भी बेचैनी बढ़ी। अन्त में जो साहब गये थे लौटे। वे बोले, वैद्य जी ने बड़े ग़ौर से पत्रा देखा और कहा कि अभी बुद्ध के क्रान्ति-वृत्त में शनि की स्थिति है, एकतीस पल नव विपल में शनि बाहर हो जायगा और डेढ़ घटी एकादशी का योग है उसके समाप्त होने पर मैं चलूँगा। आप आध घण्टे में आइएगा। सुनकर मेरा कलेजा कबाब हो गया। मगर वे कह आये थे, अतएव बुलाना भी आवश्यक था। मैंने फिर उन्हें भेजा। कोई आध घण्टे बाद वैद्य जी एक पालकी पर तशरीफ़ लाये। आकर आप मेरे सामने कुर्सी पर बैठ गये। आप धोती पहने हुए थे और कन्धे पर एक सफ़ेद दुपट्टा डाले हुए थे। इसके अतिरिक्त शरीर पर सूत के नाम पर केवल जनेऊ था, जिसका रंग देखकर यह शंका होती थी कि कविराज जी कुश्ती लड़कर आ रहे हैं। वैद्य जी ने कुछ और न पूछा,—पहले नाड़ी हाथ में ली। पाँच मिनट तक एक हाथ की नाड़ी देखी, फिर दूसरे हाथ की। बोले, 'वायु का प्रकोप है, यकृत से वायु घूम कर पित्ताशय में प्रवेश कर अन्त्र में जा पहुँची है। इससे मन्दाग्नि का प्रादुर्भाव होता है और इसी कारण जब भोज्य पदार्थ प्रतिहत होता है तब शूल का कारण होता है। संभव है, मूत्राशय में अश्मन भी एकत्र हो'। कविराज जी मालूम नहीं क्या बक रहे थे और मेरी तबीयत दर्द और क्रोध से एक दूसरे ही संसार में हो रही थी। आख़िर मुझसे न रहा गया। मैंने एक सज्जन से कहा—ज़रा आलमारी में से आपटे का कोश तो लेते आइए। यह सुनकर लोग चकराये। कुछ लोगों को संदेह हुआ कि अब मैं अपने होश में नहीं हूँ। मैंने कहा—दवा तो पीछे होगी, मैं पहले समझ तो लूँ कि मुझे रोग क्या है? पंडित जी कहने लगे—बाबू साहब, देखिए आज-कल के नवीन डाक्टरों को रोगों का निदान तो ठीक मालूम ही नहीं, चिकित्सा क्या करेंगे। अँगरेज़ी पढ़े-लिखों को वैद्यक-शास्त्र पर से विश्वास उठ गया है। परन्तु हमारे यहाँ ऐसी ऐसी ओषधियाँ हैं कि एक बार मृत्युलोक से भी लौटा लें। मुहूर्त मिल जाना चाहिए। और अच्छा वैद्य मिल जाना चाहिए। इसके पश्चात् वैद्य जी चरक, सुश्रुत, रसनिघण्टु, भेषजदीपिका, चिकित्सा-मार्तण्ड के श्लोक सुनाने लगे। और अन्त में कहा—देखिए, मैं दवा देता हूँ और अभी आपको लाभ होगा। परन्तु इसके पश्चात् आपको पर्पटी का सेवन करना होगा। क्योंकि आपका शुक्र मन्द पड़ गया है। गोमूत्र में आप पर्पटी का सेवन कीजिए, फिर देखिए दर्द पारद के समान उड़ जायगा और गन्धक के समान भस्म हो जायगा। लिखा है—

गोमूत्रेण समायुक्ता रसपर्पटिकाशिता।
माससमात्रप्रयोगेण शूलं सर्वं विनाशयेत्॥

मैंने कहा—शुक्र अस्त नहीं हो गया, यही क्या कम है। पंडित जी गोमूत्र पिलाइए और गोबर भी खिलाइए। शायद आप लोगों के शास्त्र में और कोई भोजन रह ही नहीं गया है। इसी कारण से आप लोगों के दिमाग़ की बनावट भी विचित्र है। ख़ैर, पंडित जी ने दवा दी। कहा कि अदरख के रस में इस ओषधि का सेवन करना होगा। ख़ैर साहब फ़ीस दी गई किसी प्रकार वैद्य जी से पिण्ड छूटा। दो दिन दवा की गई। कभी कभी तो कम अवश्य हो जाता था, पर पूरा दर्द न गया। सी० आई० डी० के समान पीछा छोड़ता ही न था। वैद्य जी के यहाँ जब आदमी जाता तब कभी रविवार के कारण, कभी प्रदोष के कारण और शायद त्रिदोष के कारण ठीक समय से दवा ही नहीं देते थे।

अब वैसी बेचैनी नहीं रह गई थी, पर बलहीन होता गया। खाना-पीना भी ठीक मिलता ही न था। चारपाई पर पड़ा रहने लगा। दिन को मित्रों की मण्डली आती थी। वह आराम देती थी कम, दिमाग़ चाटती थी अधिक। कभी कभी दूर दूर से रिश्तेदार भी आते थे। और सब लोग डाक्टरों को गाली देकर और मुझे बिना माँगी सलाह देकर चले जाते थे। मैं चारपाई पर

'इन्टर्न' था। आखिर मेरा विचार हुआ कि फिर डाक्टर साहब की याद की जाय। जिस समय मैं यह ज़िक्र कर रहा था, एक 'कांग्रेसमैन' बैठे हुए थे। ये सज्जन अभी जेल से लौटे थे। मुझे देखने के लिए तशरीफ़ लाये थे। बोले, "साहब, आप लोगों को देश का हर समय ध्यान रखना चाहिए। ये डाक्टर सिवा विलायती दवाओं के ठीकेदार के और कुछ नहीं होते। इनके कारण ही विलायती दवायें आती हैं। आप किसी भारतीय हकीम अथवा वैद्य को दिखलाइए।" ऐसी खोपड़ीवालों से मैं क्या बहस करता? मैंने मन में सोचा कि वैद्य महाराज को तो मैंने देख ही लिया। कुछ और रुपयों पर ग्रह आया होगा, हकीम भी सही। एक की सलाह से मसीकुल हिन्द, बुक़राते ज़माँ, सुक़रातुश्शफ़ा जनाब हकीम सैयद आलुए बुखारा साहब के यहाँ आदमी भेजा। आप फ़ौरन तशरीफ़ लाये। इस ज़माने में भी जब तेज़ से तेज़ सवारियों का प्रबन्ध सभी जगह मौजूद है, आप पालकी में चलते हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि पालकी रख दी जाती है अथवा कहार कन्धे पर ले लेता है और हकीम साहब उसमें टहला करते हैं। मेरा मतलब यह है कि जब किसी के यहाँ आप बुलाये जाते हैं तब पालकी के भीतर बैठ कर आप जाते हैं।

हकीम साहब आये। यद्यपि मैं अपनी बीमारी का ज़िक्र और अपनी बे-बसी का हाल लिखना चाहता हूँ, पर हकीम साहब की पोशाक और उनके रहन-सहन तथा फ़ैशन का ज़िक्र न करना मुझसे न हो सकेगा। सर्दी बहुत तेज़ नहीं थी। बनारस में यों भी तेज़ सर्दी नहीं पड़ती। फिर भी ऊनी कपड़ा पहनने का समय आ गया था। परन्तु हकीम साहब चिकन का बन्ददार अंगा पहने हुए थे। सिर पर बनारसी लोटे की तरह टोपी रक्खी हुई थी। पाँव में पाजामा ऐसा मालूम होता था कि चूड़ीदार पाजामा बननेवाला था, परन्तु दर्ज़ी ईमानदार था। उसने कपड़ा चुराया नहीं, सब का सब लगा दिया; अथवा यह भी हो सकता है कि ढीली-मोहरी के लिए कपड़ा दिया गया हो और दर्ज़ी ने कुछ कतर-ब्योंत की हो और चुस्ती दिखाई हो। जूता कामदार दिल्लीवाला था। मोज़ा नहीं था। रूमाल इतना बड़ा था कि अगर उसमें कसीदा कढ़ा न होता तो मैं समझता कि यह रूमाल मुँह अथवा हाथ पोंछने के लिए नहीं तरकारी बाँधने के लिए है। हकीम साहब के दाढ़ी के बाल ठुड्डी की नोक ही पर इकट्ठे हो गये थे। मालूम होता था हजामत बनाने का बुरुश है। हकीम साहब पतले दुबले इतने थे कि मालूम पड़ता था, अपनी तन्दुरुस्ती आपने अपने मरीज़ों को बाँट दी है। हकीम साहब में नज़ाकत भी बला की थी। रहते थे बनारस में, मगर कान काटते थे लखनऊ के।

आते ही मैंने सलाम किया, जिसका उत्तर उन्होंने मुस्कराते हुए बड़े अन्दाज़ से दिया और बोले—मिज़ाज कैसा है?

मैंने कहा—"मर रहा हूँ। बस, आपका ही इन्तिज़ार था। अब यह ज़िन्दगी आपके ही हाथों में है।"

हकीम साहब ने कहा—या रब! आप तो ऐसी बातें करते हैं गोया ज़िन्दगी से बेज़ार हो गये हैं। भला ऐसी गुफ्तगूँ भी कोई करता है। मरें आपके दुश्मन। नब्ज़ तो दिखलाइए। ख़ुदावन्दकरीम ने चाहा तो आनन-फ़ानन में दर्द रफ़ूचक्कर होगा।

मैंने कहा—अब आपकी दुआ है। आपका नाम बनारस ही नहीं, हिन्दुस्तान में लुकमान की तरह मशहूर है, इसी लिए आपको तकलीफ़ दी गई है।

दस मिनट तक हकीम साहब ने नब्ज़ देखी। फिर बोले, मैं यह नुसखा लिखे देता हूँ। इसे इस वक़्त आप पीजिए, इन्शा अल्लाह ज़रूर शफ़ा होगी। मैंने बग़ौर देख लिया। लेकिन आपका मेदा साफ़ नहीं है। और सारे फ़साद की बुनियाद यही है।

मैंने कहा—तो बुनियाद उखाड़ डालिए। किस दिन के लिए छोड़ रहे हैं।

हकीम आलू बुखारा साहब बोले—तो आप मुसहिल* ले लीजिए। पाँच रोज़ तक मुंज़िज पीना होगा इसके बाद मुसहिल। इसके बाद मैं एक माजून लिख दूँगा। उसमें ज़ोफ़[1] दिल, ज़ोफ़ दिमाग़, ज़ोफ़ जिगर,

*जुलाब—[1]ज़ोफ़—कमज़ोरी।

ज़ोफ़ मेदा, ज़ोफ़ चश्म, एक की रियायत रहेगी। मुझसे न रहा गया। मैं बोला, कई ज़ोफ़ आप छोड़ गये, इसे कौन अच्छा करेगा। हकीम साहब ने, कहा, जब तक मैं हूँ, आप कोई फ़िक्र न कीजिए।

एक सज्जन ने उनके हाथों में फ़ीस रक्खी। हकीम साहब चलने को तैयार हुए। उठे। उठते उठते बोले, ज़रा एक बात का ख़्याल रखिएगा कि आज-कल दवाइयाँ लोग बहुत पुरानी रखते हैं। मेरे यहाँ ताज़ा दवाइयाँ रहती हैं।

मैंने उनकी दवा उस दिन पी। वह कटोरा भर दवा जिसकी महक रामघाट के सिवर से कम्पिटीशन के लिए तैयार थी, किसी प्रकार गले के नीचे उतार गया, जैसे अहल्कार लोग अँगरेज़ों की डाँट निगल जाते हैं। दूसरे दिन मुंज़िज आरंभ हुआ। उसका पीना और भी एक आफ़त थी। मालूम पड़ता था, भरतपुर के क़िले पर मोरचा लेना है। मेरी इच्छा हुई कि उठा कर गिलास फेंक दूँ, पर घरवाले जेल के पहरुओं की भाँति सिर पर सवार रहते थे। चौथे दिन मुसहिल की बारी आई। एक बड़े से मिट्टी के बधने से दवा मुझे पीने को दी गई। शायद दो सेर के लगभग रही होगी। एक घूँट गले के नीचे उतरा होगा कि जान बूझकर मैंने करवा गिरा दिया। बधना गिरते ही असफल प्रेमी के हृदय की भाँति चूर चूर हो गया और दवा होली के रंग के समान सबकी धोतियों पर जा पड़ी। उस दिन के बाद से हकीम साहब की दवा मुझे पिलाने का फिर किसी को साहस न हुआ। खेद इतना ही रह गया कि उसी के साथ हकीम साहबवाला माजून भी जाता रहा।

दर्द फिर कम हो चला। परन्तु दुर्बलता बढ़ती जाती थी। कभी कभी दर्द का दौरा अधिक वेग से हो जाता था। अब लोगों को विशेष चिन्ता मेरे सम्बन्ध में नहीं रहती थी। कहने का मतलब यह है कि लोग देखने-सुनने कम आते थे। वही घनिष्ठ मित्र आते थे। घरवालों को और मुझे भी दर्द के सम्बन्ध में विशेष चिन्ता होने लगी। कोई कहता था कि लखनऊ जाओ, कोई एक्स-रे का नाम लेता था। किसी किसी ने राय दी कि जल-चिकित्सा कीजिए। एक सज्जन ने कहा, यह सब कुछ नहीं, आप होमियोपैथी इलाज शुरू कीजिए, देखिए कितनी शीघ्रता से लाभ होता है। बोले—साहब इन नन्हीं नन्हीं गोलियों में मालूम नहीं कहाँ का जादू है। साहब जादू का काम करती है, जादू का।

एक नेचर-क्योरवाले ने कहा कि आप गीली मिट्टी पेट पर लेप कर धूप में बैठिए, एक हफ़्ते में दर्द हवा हो जायगा। हमारे ससुर साहब एक डाक्टर को लेकर आये। उन्होंने कहा, देखिए साहब! आप पढ़े-लिखे आदमी हैं। समझदार हैं—मैं बीच में बोल उठा, समझदार न होता तो भला आपको कैसे यहाँ बुलाता।

डाक्टर महोदय ने कहा—दवा तो नेचर की सहायता करने के लिए होती है। आप कुछ दिनों तक अपना 'डायट' बदल दीजिए। मैंने इसी 'डायट' पर कितने ही रोगियों को अच्छा किया है। मगर हम लोगों की सुनता कौन है। असल में आपमें विटेमिन 'एफ़' की कमी है। आप नीबू, नारंगी, टमाटो, प्याज़, धनिया के रस में सलाद भिगोकर खाया कीजिए। हरी हरी पत्तियाँ खाया कीजिए। मैंने पूछा—पत्तियाँ खाने के लिए पेड़ पर चढ़ना होगा। अगर इसके बजाय घास बतला दें तो अच्छा हो। ज़मीन पर ही मिल जायगी।

इसी प्रकार जो आता इतनी हमदर्दी दिखलाता था कि एक डाक्टर या हकीम या वैद्य अपने साथ लेता आता था।

खाने के लिए साबूदाना ही मेरे लिए अब न्यामत थी। ठण्डा पानी मिल जाता था, यह परमात्मा की दया थी। तीन बजे एक पंडित जी महाराज आकर एक पोथी में से बड़ बड़ पाठ किया करते थे और मेरा मग्ज़ खाते थे। शाम को एक पंडित और आकर मेरे हाथ में कुछ धूल रख जाते कि महामृत्युञ्जय का प्रसाद है। इसी बीच में मेरी नानी की मौसी मुझे देखने आईं। उन्होंने बड़े प्रेम से देखा। देखकर बोलीं, मैं तो पहले ही सोच रही थी कि यह कुछ उपरी खेल है। मैंने पूछा, यह उपरी खेल क्या है नानी जी। बोलीं—बेटा सब कुछ किताब में ही थोड़े लिखा रहता है। बात यह है किसी

चुड़ैल का फ़साद है। मेरी स्त्री और माता की ओर दिखाकर कहने लगीं, देखो न इसकी बरौनी कैसी खड़ी हैं। कोई चुड़ैल लगी है। किसी को दिखा देना चाहिए। मैंने कहा, डाक्टर तो मेरी जान के पीछे लग गये हैं! क्या चुड़ैल उनसे भी बढ़कर होगी। जब सब लोग चले गये तब मेरी स्त्री ने कहा, तुम लोगों की बात क्यों नहीं मान लिया करते? कुछ हो या न हो, इसमें तुम्हारा र्ज ही क्या है। कुछ खाने की दवा तो देंगे नहीं। रमात्मा की आज्ञा तो टाली जा सकती है, परन्तु अपनी ा मैं तो कहूँगी किसी भले आदमी की स्त्री की आज्ञा ोई भला आदमी नहीं टाल सकता। मैंने कहा, तुम ोगों को जो कुछ करना है करो, मगर मेरे पास किसी ो मत बुलाना। कोई ओझा या भूत का पचड़ा मेरे स लेकर आया तो वही सन् २६ में मुजफ़्फ़रपुर सम्मे- में जो चप्पल पहनकर गया था उसी से मैं उठकर म्मत करने लगूँगा। श्रीमती जी बोलीं, अजी वह कोई झा थोड़े ही हैं। एम० ए० पास हैं। कुछ समझा होगा ी तो यह काम करते हैं। कितनी स्त्रियाँ रोज़ उनके जाती हैं, कितने पुरुष जाते हैं। बड़े वैज्ञानिक ढंग उन्होंने इसका अन्वेषण किया है।

मेरे दर्द में किसी विशेष प्रकार की कमी न हुई। ा से तो किसी प्रकार की आशा क्या करता। पर बीच में दवा भी होती जाती थी। अन्त में मेरे साहब ने बड़ा ज़ोर दिया कि यह सब झेलना इसी है कि तुम ठीक दवा नहीं करते। होमियोपैथी कित्सा शुरू करो, सारी शिकायत गंजों के बाल की ग़ायब हो जायगी। मैंने भी कहा, मुर्दे पर जैसे पन वैसे पचास। ऐसा न हो कि कोई कह दे कि 'सिस्टम' का इलाज छूट गया। अब यह राय लगी कि कौन होमियोपैथ को बुलाया जाय। हमारे न से कुछ दूर एक होमियोपैथ डाकिया था। दिन भर बाँटता था, सवेरे और शाम दो पैसे पुड़िया दवा था। सैकड़ों मरीज़ उसके यहाँ जाते। बड़ी थी। एक और होमियोपैथ थे। चार पैसे फ़र्मा में पुस्तकों का अनुवाद करते थे और प्रातः-सायं होमियोपैथी से चार-छः आने पैदा कर लेते थे। एक मास्टर भी थे जो कहा करते थे कि सच पूछो तो जैसी होमियोपैथी मैंने 'स्टडी' की है, किसी ने नहीं की। कुछ बहस के बाद एक डाक्टर का बुलाना निश्चित हुआ। डाक्टर महोदय आये। आप भी बंगाली थे। आते ही सिर से पाँव तक मुझे तीन-चार बार ऐसे देखा मानो मैं हानोलूलू से पकड़कर लाया गया हूँ और खाट पर लिटा दिया गया हूँ। इसके पश्चात् मेडिकल सनातनधर्म के अनुसार मेरी जीभ देखी। फिर पूछा, दर्द ऊपर से उठता है कि नीचे से, बाँये से कि दाँये से; नोचता है कि कोंचता है; चिकोटता है कि बकोटता है; मरोड़ता है कि खरबोटता है। मैंने कहा कि मैंने दर्द की फ़िल्म तो उतरवाई नहीं है। जो कुछ मालूम होता है, मैंने आप से कह दिया। डाक्टर महोदय बोले—बिना सिमटाम के देखे कैसे दवा देने सकता है। एक एक दवा का भेरियस सिमटाम होता है। फिर मालूम नहीं कितने सवाल मुझसे पूछे। इतने सवाल तो आई० सी० एस० के 'वाइवा-वोसी' में भी नहीं पूछे जाते। पर कुछ प्रश्न यहाँ अवश्य बतला देना चाहता हूँ। मुझसे पूछा—तुम्हारे बाप के चेहरे का रंग कैसा था। कै बरस से तुमने सपना नहीं देखा। जब चलते हो तब नाक हिलती है या नहीं। किसी स्त्री के सामने खड़े होते हो तब दिल धड़कता है कि नहीं? जब सोते हो तब दोनों आँखें बन्द रहती हैं कि एक। सिर हिलाते हो तो खोपड़ी में खट खट आवाज़ आती है कि नहीं। मैंने कहा—आप एक शार्ट हैण्ड राइटर भी साथ लेकर चलते हैं कि नहीं। इतने प्रश्नों का उत्तर देना मेरे लिए असम्भव है।

फिर डाक्टर बाबू ने पचीसों पुस्तकों का नाम लिया और बोले—फ़ेरिंगटन यह कहते हैं, नैश यह कहते हैं, क्लार्क के हिसाब से यह दवा होगी। डाक्टर साहब पंद्रह-बीस पुस्तकें भी लाये थे। आध घण्टे तक उन्हें देखते रहे। तब दवा दी। आपकी दवा से कुछ लाभ अवश्य हुआ, पर पूरा फ़ायदा न हुआ। मैंने अब पक्का इरादा कर लिया कि लखनऊ जाऊँ। जो बात काशी में नहीं हो सकती, लखनऊ में हो सकती है। वहाँ सभी साधन हैं।

सब तैयारी हो चुकी थी कि इतने में एक और डाक्टर को एक मेहरबान लिवा लाये। उन्होंने देखा, कहा— ज़रा मुँह तो देखूँ। मैंने कहा मुँह-जीभ जो चाहें देखिए। देखकर बड़े ज़ोर से हँसे। मैं घबराया। ऐसी हँसी केवल कविसम्मेलन में बेढंगी कविता पढ़ने के समय सुनाई देती है। मैं चकित भी हुआ। डाक्टर बोले, किसी डाक्टर को यह सूझी नहीं। तुम्हें 'पाइरिया' है। उसी का ज़हर पेट में जा रहा है और सब फ़साद पैदा कर रहा है। मैंने कहा—तब क्या करूँ? डाक्टर साहब ने कहा—इसमें करना क्या है? किसी डेंटिस्ट के यहाँ जाकर सब दाँत निकलवा दीजिए। मैंने अपने मन में कहा—आपको तो यह कहने में कुछ कठिनाई ही नहीं हुई। गोया दाँत निकलवाने में कोई तकलीफ़ ही नहीं होती। ख़ैर, रात भर मैंने सोचा। मैंने भी यही निश्चय किया कि यही डाक्टर ठीक कहता है। डेंटिस्ट के यहाँ से पुछवाया। उसने कहलाया कि तीन रुपये फ़ी दाँत तुड़वाने में लगेंगे। कुल दाँतों के लिए छानबे रुपये लगेंगे। मगर मैं आपके लिए छः रुपये छोड़ दूँगा। इसके अतिरिक्त दाँत बनवाई डेढ़ सौ अलग। यह सुनकर पेट के दर्द के साथ साथ सिर में भी चक्कर आने लगा। मगर मैंने सोचा कि जान सलामत है तो सब कुछ। इतना और ख़र्च करो। श्रीमती से मैंने रुपये माँगे। उन्होंने पूछा—क्या होगा? मैंने सारा हाल कह दिया। वे बोलीं—तुम्हारी बुद्धि कहीं घास चरने गई है क्या? किसी कवि का तो साथ नहीं हो गया है कि ऐसी बातें सूझने लगी हैं। आज कोई कहता है दाँत उखड़वा डालो। कल कोई कहेगा सारे बाल उखड़वा डालो; परसों कोई डाक्टर कहेगा नाक नोचवा डालो, आँख निकलवा दो। यह सब फ़ज़ूल है। तुम सुबह टहला करो, किसी एक भले डाक्टर की दवा करो। खाना ठिकाने से खाओ। पंद्रह दिन में ठीक हो जाओगे। मैंने सबका इलाज भी देख लिया। मैंने कहा तुम्हें अपनी ही दवा करनी थी तो इतने रुपये क्यों बरबाद कराये?

कुछ दिन के बाद मैंने समझा कि स्त्रियों में भी बुद्धि होती है—विशेषतः बीस साल की आयु के बाद।

(४८२ पृष्ठ का शेष अंश)

और वे अपने भवन की ऊपरी मंज़िल की खिड़की से अचानक गिर कर मर गये। जब उनकी अर्थी समाधि-स्थल की ओर जा रही थी तब मार्ग में अर्थी के वाहन से कुचल कर एक बालक मर गया। इनके सिवा क़ब्र तथा उसकी वस्तुओं का निरीक्षण करके तत्सम्बन्धी आश्चर्यमयी वार्ता को लेखबद्ध करने के निमित्त जो छः पत्रकार एवं ग्रन्थकार मिस्र में बुलाये गये थे वे सबके सब अकाल में ही काल के गाल में समा गये। केवल हौवर्ड कार्टर क़ब्र के अभिशाप को पचा कर अभी तक जीवित हैं। उन्होंने हाल में ही कहा है कि मिस्र की क़ब्र के अनुसन्धान की ओर मन लगाने की मूर्खता नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर और व्यापक होता है। वास्तव में जैसा कि कहा जाता है, वे मंत्राभिषिक्त हैं।

कोयल



श्री नरेन्द्र, बी० ए०

मुहु' मुहु कोयल कुहुकी कुहु कुहु—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !
बन की डाली डाली डोली
मधुऋतु की मधुप्यारी बोली
तरु-तरु में जागीं नव-कोंपल !—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

मधुमय स्वर से सिञ्चित मधुबन—
सुरभित नीम नवल-दल पीपल,
मधु में बौरे आम मञ्जरित—
फैले द्रुम द्रुम विद्रुम-से दल
पिक-श्यामल मँडराते अलि-दल !—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

बोल रसाल रसाल सजाते,
मधु-बरसा मधुमास जगाते,
कलि-कलि कुसुम-कुसुम के उर में
मधुमय स्वर मधु-रस बरसाते—
ढुलकाते रस स्वर के बादल !
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

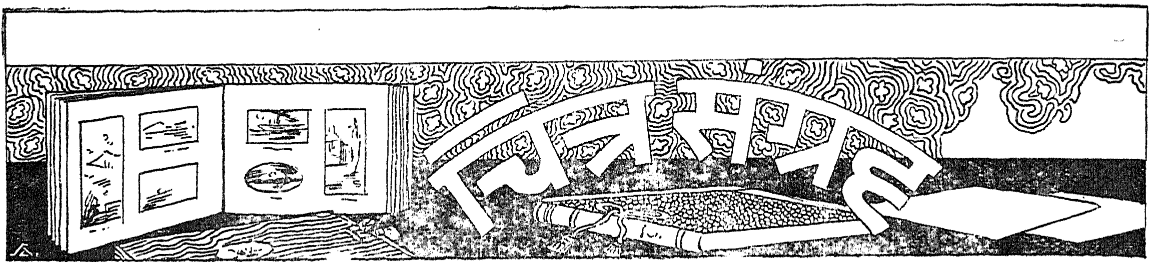
किशलय-दल-कोमल मधुराधर—
खोल, आज मधुवन के तरुवर—
पीते पिक-मधु रिक्त हृदय भर
खिल-खिल उठते पुलकित तन पर
नये फूल-फल, नये मुकुल-दल !—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

पीले लाल हरे पत्रों के
पल्लव-नीड़ बने मधुबन में,
वहीं विजन के सूनेपन में
कहीं छिपी प्राणों-सी तन में
बोली पिक मधुबानी कोमल !—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

प्रणय-हीन प्यासे अधरों को
भर लाई पिक मधु की प्याली,
लाई फिर यौवन की लाली,
बनबाला को भी वनमाली,
मधु में डूबीं अब विरहानल !—
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

आज भर दिये मधु बाला ने
उर-अभाव में हँसते सपने,
भूल भविष्यत् की भय-बाधा
बीते के सब सुख-दुख अपने
बिहँसे विरह-विधुर जीवन-पल !
मुहु' मुहु कुहु कुहु कुहुकी कोयल !!

———





श्रीमती विद्यावती सेठ, बी० ए०—ये कन्या-गुरुकुल, देहरादून, की आचार्य्या हैं और आधुनिक भारत की उच्च कोटि की शिक्षित महिलाओं में से एक हैं। प्राचीन हिन्दू-आदर्शों के अनुसार इन्होंने बालिकाओं की शिक्षा के लिए जो त्याग और तप किया है, कन्या-गुरुकुल, देहरादून, उसका एक नमूना है। यह चित्र हमें श्रीयुत सेंट निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ है।



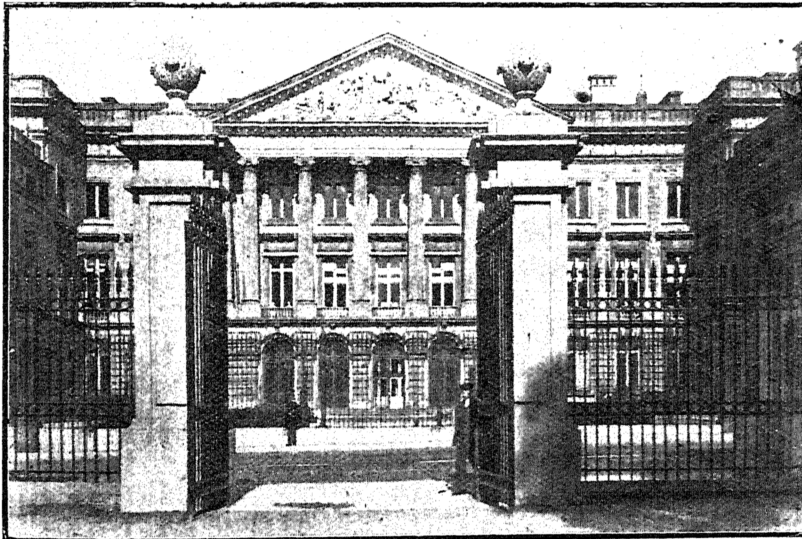
श्री स्वामी यतीश्वरानन्द—ये रामकृष्ण-मिशन की ओर से जर्मनी में वेदान्त का उपदेश देने जा रहे हैं। ये उच्च कोटि के शिक्षित साधु हैं और धाराप्रवाह अँगरेज़ी बोलते हैं। विविध धर्मों का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। इस चित्र के लिए हम श्री सेंट निहालसिंह के कृतज्ञ हैं।



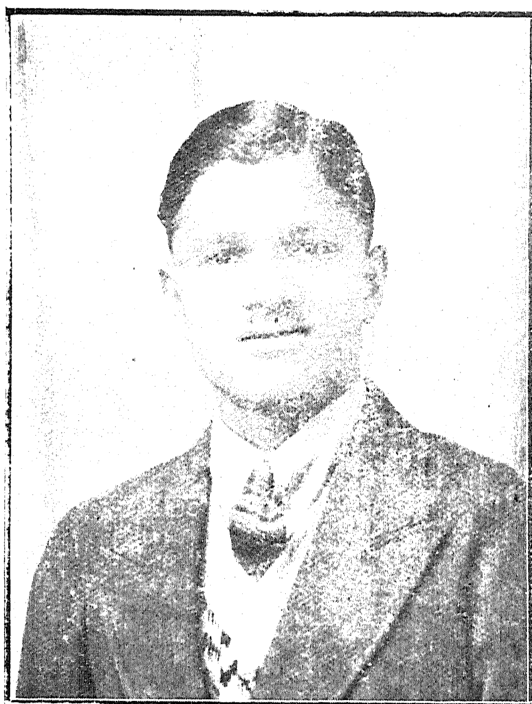
श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी० टी०—इन्होंने हाल में "स्त्रियों की स्थिति नामक" एक पुस्तक लिखी है जो इस वर्ष की स्त्रियों की लिखी पुस्तकों में सर्वोत्तम घोषित की गई है और इसके लिए इन्हें ५००) का सेकसरिया-पारितोषिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से प्रदान किया गया है।



स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद मालवीय, वैद्यवीर—आप हिन्दी के पुराने कवि तथा लेखक थे। 'मनोरमा' का सम्पादन भी किया था।



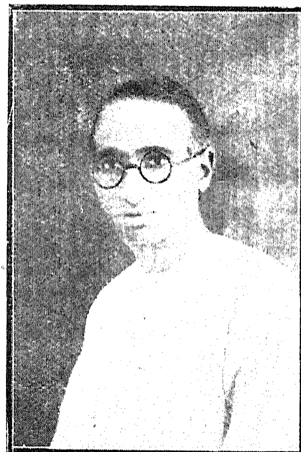
ब्रसेल्स—(बेलजियम) में पार्लियामेंट के भवन। बेलजियम के नये सम्राट् ने गद्दी पर बैठने के समय अपनी सारी शक्ति प्रजा की भलाई में लगा देने की शपथ यहीं ली थी। इस चित्र के लिए हम श्री सेंट निहालसिंह के कृतज्ञ हैं।



प्रोफ़ेसर एन० आर० जोशी—आप एक कुशल संगीतज्ञ हैं और एकेडेमी आफ़ म्यूज़िक (प्रयाग) के प्रोफ़ेसरों में से एक हैं। प्रयाग-विश्वविद्यालय के पिछले संगीत-परिषद् में आपने एक प्रतियोगिता-पारितोषिक प्राप्त किया था। आप ग्वालियर के रहनेवाले हैं।



साहित्यरत्न श्री विष्णुकुमारी श्रीवास्तव—ये कानपुर के रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर रायबहादुर श्यामलाल की पुत्री हैं। हिन्दी के स्त्री-कवियों में ये भी बड़ी होनहार हैं।



श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालङ्कार—इस वर्ष १,२००) का मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक इन्हीं को इनके 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ के लिए प्रदान किया गया है। यह पुस्तक 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से हाल में प्रकाशित हुई है। नागरी-प्रचारिणी सभा का द्विवेदीपदक भी पिछले वर्ष इन्हें मिला था। ये इतिहास के अच्छे विद्वान् हैं।



जाग्रत महिलायें

श्रीमती लेखवती जैन का भाषण

हम पंजाब की श्रीमती लेखवती जैन एम० एल० सी० के भाषण का जो उन्होंने 'भारतीय अग्रवाल-महिला-सम्मेलन, (प्रयाग) में सभापति के आसन से दिया है, स्वागत करते हैं और उन्हें इस बात के लिए बधाई देते हैं कि उन्होंने भारतीय स्त्रियों की मांगों को निर्भीकतापूर्वक जनता के सामने उपस्थित किया। उनके एक शब्द 'कोर्ट-शिप' से कुछ लोग खासकर प्रयाग के कतिपय अग्रवाल भाइयों ने आसमान को सिर पर इस तरह उठा लिया कि बेचारा 'लीडर' तक जिसने कदाचित् उनके पक्ष में टिप्पणी लिखी थी, घबरा उठा और यह बहाना किया कि उसने वह मज़ाक में लिखा था। भारतीय नारियों की समस्यायें दिन पर दिन जटिल होती जा रही हैं और मज़ाक में वे अब अधिक समय तक टाली नहीं जा सकतीं। श्रीमती लेखवती जैन का भाषण दिल बहलाने का नहीं, गम्भीरता-पूर्वक विचार करने का विषय है। 'सरस्वती' के पाठकों की जानकारी के लिए हम उसका आवश्यक अंश यहाँ देते हैं—

योग्य सन्तानोत्पत्ति के बिना हमारी जाति कदापि उन्नति नहीं कर सकती और यदि हम योग्य संतान उत्पन्न कर सकती हैं तो दुनिया की कोई शक्ति हमारे पथ में बाधक नहीं हो सकती। सन्तान को उत्पन्न करना और उसको योग्य बनाना केवल स्त्रियों का ही कर्तव्य है। इसका कोई उत्तरदायित्व पुरुषों पर नहीं है। हमारे बच्चे अत्यन्त दुर्बल, जीर्ण, शीर्ण और रोग ग्रसित-से ही होते हैं। शिशु-सुन्दरता तो उनमें से बिलकुल उड़ी सी जा रही है और बतौर स्त्री के मुझे तो इससे बहुत लज्जा प्रतीत होती है। आप अँगरेज़ों, ईसाइयों या पंजाबियों के बच्चों को देखिए और अग्रवालों के बच्चों को भी, आपको आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देगा। इसका कारण हैं वही हमारी सामाजिक त्रुटियाँ जिनकी निन्दा असंख्यात बार हो चुकी है। परदा कुल-मर्यादा का एक चिह्न है और यदि कुल-ललनायें परदे से बाहर निकल आईं तो उनका सतीत्व सुरक्षित नहीं रह सकेगा। ऐसा विचार रखनेवाली स्त्रियों से मेरा नम्र निवेदन यही है कि यह केवल उनका भ्रम-भाव है। परदे और कुल-मर्यादा का दूर का भी वास्ता नहीं है। परदा प्रकृति-विरुद्ध होने के अलावा अत्यन्त हानिकारक है और जब तक किसी जाति की स्त्रियाँ परदे को जड़-मूल से नष्ट न करेंगी, वे कभी उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकतीं।

इसी परदे के कारण न वे सैर को जा सकती हैं और न कुछ व्यायाम कर सकती हैं। बल और आयु-वृद्धि इनके बिना नहीं हो सकती। खुली वायु का सेवन करना ही लाभदायक हो सकता है। जो बहनें वायु-सेवन करती हैं, सैर को जाती हैं, वे जानती हैं कि कितना आनन्द वे प्राप्त करती हैं।

सतीत्व की रक्षा में भी परदा सहकारी होने के बजाय अत्यन्त हानिकारक है। आपसे यह प्रार्थना है कि यदि आप अपनी रक्षा करना चाहती हैं तो आप परदे को त्याग कर कृपाण या कटार धारण कीजिए, अपने आपको ख़ूब अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित कीजिए। अव्वल तो किसी कुलललना के सामने आँख उठाने की किसमें सामर्थ्य है? उसका सतीत्व ही उसकी रक्षा करता है। और यदि वह हथियारबन्द होगी तब—तो घृणित से घृणित गुण्डा भी कोई दुःसाहस न कर सकेगा।

दूसरा कारण जिससे हम अच्छी संतान उत्पन्न करने

के अयोग्य हो गई हैं वह हमारी वैवाहिक बुराइयाँ हैं। बाल-विवाह की प्रथा अब तक समाज में उसी प्रकार से जारी है। शारदा-एक्ट भी इस बुराई के नहीं रोक सका है। शारीरिक अवनति का मुख्य कारण यही है, और जब तक यह कुप्रथा जाति में जारी रहेगी, जाति दिन प्रतिदिन गिरती ही जायगी। यदि हम चाहते हैं कि देश में विधवाओं की संख्या कम हो, समाज में दुराचार की मात्रा घटे—यदि हम चाहते हैं कि जाति में वीर-धीर मनुष्य और सुन्दर स्त्रियाँ हों तो हमारा कर्तव्य है कि बड़े ज़ोर से इस बढ़ते हुए दोष को रोकें। हम अपनी कन्याओं तथा पुत्रों का ब्याह तब तक न करें जब तक वे ब्याह-योग्य न हो जायँ।

माता-पिता का कर्तव्य पाश्चात्य देशों में सन्तान को शिक्षा देना है, न कि ब्याह-शादी करना। अवस्था प्राप्त होने पर स्त्री-पुरुष स्वयमेव एक दूसरे को 'कोर्टशिप' करके विवाह करते हैं और जब तक हमारे समाज में यह प्रथा जारी न होगी, वैवाहिक बुराइयों का अन्त न होगा।

समय के प्रभाव ने हमारे बहुत-से ज़ेवर हमारी लोहे की अलमारियों से निकलवा कर बाजार में पहुँचा दिये हैं। परन्तु इनके पहनने का शौक़ लेश-मात्र भी कम नहीं हुआ है। बहनो, यकीन मानिए मेरी तो हार्दिक इच्छा यह है कि सुनार और सर्राफ़ भारतवर्ष से कहीं चले जायँ तो बहुत अच्छा हो। यदि इन सब पर भूकम्प आ जाय तो मुझे किंचित्मात्र भी दुःख या क्लेश न होगा।

मैं तो अपने तजरबे के आधार पर कहती हूँ कि ये ज़ेवर हमारी उन्नति में बाधक हैं। मैं कलकत्ते से लेकर पेशावर तक अकेली फिरी हूँ। यदि मेरे पास कुछ भी ज़ेवर होता तो यह बिलकुल असंभव होता।

शिक्षालय केवल बूटेड शूटेड बाबू पैदा करने की फ़ैक्टिर्यां हैं। शिक्षा का जो असली अभिप्राय है वह तो लेश-मात्र भी पूरा नहीं होता। परन्तु जो शिक्षा लड़कों के लिए ज़हर थी लड़कियों के लिए तो वह हलाहल है, परन्तु खेद है कि आज यही हलाहल हमारी कन्याओं को बलात् पिलाया जा रहा है।

इस शिक्षा से तो बेहतर यही होता कि हमारी कन्याओं को शिक्षा बिलकुल ही न दी जावे। इस आधुनिक शिक्षा ने जहाँ हमारी कन्याओं के स्वास्थ्य को नष्ट कर दिया है, वहाँ उन्हें गृह-कार्य के लिए अयोग्य भी बनाया है। आप ९० प्रतिशत आधुनिक शिक्षित कन्याओं को देख लीजिए आप अनुभव करेंगे कि वे मेमें मालूम होंगी। देशी आचार-व्यवहार इत्यादिक सबसे उनको घृणा होगी और एक तरह से वे पाश्चात्य बहनों की कुत्सित कापी (नक़ल) होती हैं। बाल कटे हुए, चेहरे पर पौडर लगा हुआ, होंठों पर लिपस्टिक का प्रयोग, आधा बदन नंगा। कुछ बहनें तो सिगरेट और मदिरा-पान को फ़ैशन समझने लगी हैं।

मैं अपनी जाति की स्त्रियों के उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बिलकुल ख़िलाफ़ हूँ और न इसकी कोई आवश्यकता है। प्राइमरी और सेकेंडरी शिक्षा ही हमारी कन्याओं के लिए पर्याप्त है। यदि कोई पति अपनी पत्नी को अधिक शिक्षा देना चाहता है तो यह कार्य वह स्वयमेव कर सकता है।

हाँ, एक बात जिस पर मैं अधिक मात्रा में ज़ोर देना चाहती हूँ वह यह है कि जहाँ हम अपनी कन्याओं की शिक्षा का ध्यान करते हैं वहाँ हम अपनी वृद्ध माताओं और बहनों की शिक्षा की तरफ़ से बिलकुल उदासीन हैं। इस कार्य को तो हमने एक-मात्र दुःसाध्य समझ कर बिलकुल ही त्याग दिया है और इसका परिणाम यही हो रहा है कि हमारे सुधार-सम्बन्धी सब यत्न विफल हो रहे हैं। कृपया जहाँ आप बालक और बालिकाओं के लिए पाठशालायें स्थापित करते हैं वहाँ इन वृद्धाओं की शिक्षा का भी ध्यान रखिए।

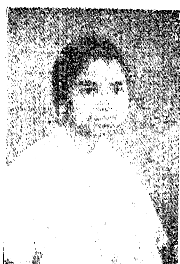
भारतवर्ष आज परतंत्रता की बेड़ियों में फँसा हुआ है और इन बेड़ियों को तोड़ने और काटने के लिए हुकूमत के साथ देशवासियों का एक घोर संग्राम हो रहा है। हमारे लिए यह बड़े गर्व की बात है कि स्त्रियों ने इसमें आशा से बढ़कर भाग लिया है और उनकी देश-सेवायें आइन्दा लिखे जानेवाले इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जावेंगी। परन्तु इस समय हमारी बहनों में कुछ उदासीनता-सी आगई है। इस उदासीनता को दूर करना हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य है।

स्वदेशी-प्रचार, अछूतोद्धार, ग्राम-सुधार, जातीय संगठन, हिन्दू-मुसलिम-एकता इस युद्ध के प्रधान अंग हैं। इसलिए हर बहन को चाहिए कि वह अपने घर में विदेशी कपड़े की एक धज्जी भी घुसने न दे। मनुष्य मनुष्य से घृणा करे, इससे बढ़ कर और क्या पाप हो सकता है ?

जातीय संगठन और हिन्दू-मुसलिम-एकता में भी स्त्रियां बहुत भाग ले सकती हैं। और इसी आशय से मेरा आपसे अनुरोध है कि आप राजनैतिक क्षेत्र में अधिक भाग लें, म्युनिसिपल कमिटियां, डिस्ट्रिक बोर्ड इत्यादिक में मेम्बर बनें। ऐसा करने से हिन्दू मुसलिम-एकता भी स्थापित होगी और जातीय संगठन भी होगा।

महिला-सेवासदन


कोचम्मालूदेवी


टी० इन्दिरादेवी


सीतादेवी


रंगम्मादेवी


शकुन्तलादेवी

प्रयाग का महिला-सेवासदन स्त्रियों के लिए दिन पर दिन आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है। इस सेवासदन में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश से बहुत दूर दूर से स्त्रियां आकर सम्मिलित हुई हैं। मदरास की छात्राओं ने जिनकी शिक्षा आदि की इस सेवासदन में निःशुल्क व्यवस्था की गई है, अपनी उपस्थिति से इसमें और भी चहल-पहल भर दी है। पिछली बार महिला-विद्यापीठ की ओर से एक महिला-सप्ताह मनाया गया था, जिसके एक दिन के कार्यक्रम में एक नाटक खेलना भी था। यह नाटक इन्हीं मदरास की छात्राओं ने बड़ी सफलता के साथ खेला था और उसका उपस्थित जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। यहाँ जो चित्र प्रकाशित किये जा रहे हैं उनमें ये सभी देवियाँ अपनी नाटक की पोशाक में हैं।

सौभाग्य से इस सेवासदन को हिन्दी की श्रेष्ठ कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का सहयोग मिल गया है। श्रीमती जी ने सेवासदन में एक कविता सिखाने की भी कक्षा खोल दी है।

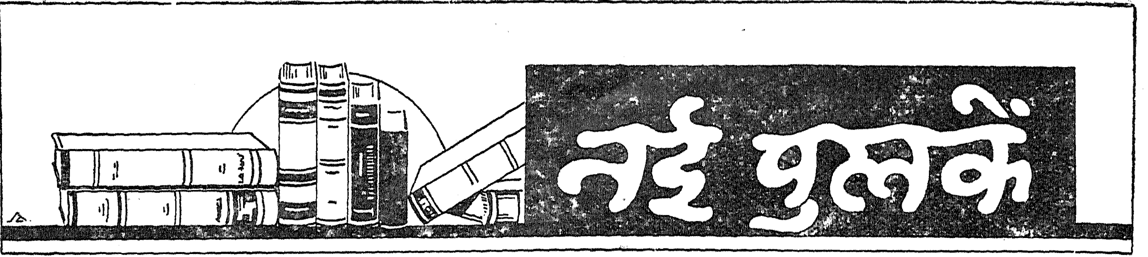

कल्याणीदेवी


गिरिजादेवी


कमलाबाई


लक्ष्मीकान्तादेवी


शान्तादेवी



[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची। इनका परिचय यथासमय प्रकाशित होगा।]

१—**युग-परिवर्तन**—अर्थात् (कलियुग का अन्त और सतयुग का आरम्भ)। लेखक—श्रीयुत जोतिर्भूषण गोपीनाथ शास्त्री, प्रकाशक—सावतराम रामप्रसाद फर्म के मालिक अकोलानिवासी बाबू कृष्णलाल गोयनका। पुस्तक सजिल्द और मूल्य २) है।

२—**वेदकाल-निर्णय**—लेखक—विद्याभूषण श्री दीनानाथ शास्त्री चुलेट, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर, द्वारा प्रकाशित। पुस्तक सजिल्द और मूल्य ४) है।

३—**हिन्दी-भाषा का इतिहास**—लेखक—प्रोफ़ेसर धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, रीडर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग; सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४) और अजिल्द का मूल्य ३॥) है।

४—**श्री विष्णुपुराण**—मूल और हिन्दी अनुवाद सहित (सचित्र)—अनुवादक, श्री मुनिलाल गुप्त, प्रकाशक, गीता-प्रेस, गोरखपुर। साधारण जिल्द का मूल्य २॥) है।

५—**सचित्र सुबोध**—सम्पादक तथा प्रकाशक, श्रीयुत नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, महाविद्यालय, ज्वालापुर हैं। पुस्तक का मूल्य १) है, छात्रों से ॥) लिया जायगा।

६—**ज्योत्स्ना**—लेखक, श्रीयुत सुमित्रानन्दन पंत, प्रकाशक, श्रीयुत दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य १) है।

७—**अछूत-समस्या**—लेखक, महात्मा गांधी, अनुवादक, श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, प्रकाशक—श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य १) है।

८—**हास्य-रस**—लेखक—श्री जी० पी० श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक—श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ। मूल्य ॥=) है।

९—**काया-पलट**—अनुवादक, श्री रामसिंह वर्मा, प्रकाशक, किशोर पुस्तक-भंडार, ६ बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता। मूल्य १॥) है।

१०—**जीवन-मरण-रहस्य**—लेखक—श्री ठाकुर प्रसिद्धनारायणसिंह बी० ए०, एम० एल० सी०, प्रकाशक—श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य ॥) है।

११—**क्यों और कैसे**—लेखक, श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी० ए०, प्रकाशक, श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य।) है।

१२—**डाबर पञ्चांग**—डाबर (डाक्टर एस० के० बर्म्मन) लि०, कलकत्ता।

१३—**भगवान् महावीर और उनका समय**—लेखक, श्री पण्डित जुगलकिशोर मुख़्तार, सरसावा, ज़िला सहारनपुर, प्रकाशक, हीरालाल पन्नालाल जैन, दरीबा कलाँ, देहली। पुस्तक अजिल्द और मूल्य।) है।

१४—**सरल हिन्दी-रचना-बोध**—लेखक, श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा, प्रकाशक, ग्रन्थ-भंडार, लेडी हार्डिञ्ज रोड, माटुंगा (बम्बई) हैं। मूल्य ॥=) है।

१५—**हिन्दी-प्रवेश (प्रथम भाग)**—लेखक, श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा, प्रकाशक, ग्रन्थ-भंडार लेडी हार्डिञ्ज रोड, माटुंगा (बम्बई) मूल्य ≈) है।

१६—**हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी**—लेखक—स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा, प्रकाशक—इलाहाबाद हिन्दुस्तानी एकेडेमी यू० पी० मूल्य १।) है।

१७—स्थानकवासी जैन-इतिहास—अन्वेषक श्री० केसरीचन्द जी भंडारी, प्रकाशक, श्री एस० के० भंडारी, प्रोप्राइटर सरदार प्रिं० वर्क्स, इन्दौर, पुस्तक सजिल्द है। मूल्य ॥।) है।

१८—पद्य-पुष्प—लेखक—कुमार उदयरत्नसिंह, प्रकाशक, बाबू रामानुग्रह नारायणसिंह, मीरगंज, गया। पुस्तक अजिल्द है, मूल्य =) है।

१९—राष्ट्रकूटों (राठोड़ों) का इतिहास—लेखक—पण्डित विश्वेश्वरनाथ रेउ, जोधपुर गवर्नमेंट प्रेस से प्रकाशित हुई है। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य २) है।

२०—अद्भुत-वन-वीर (तीसरा चौथा भाग)—लेखक, श्री कैलाशबिहारी बी० ए०, प्रकाशक, श्री महावीर-प्रसाद बी० ए० रिटायर्ड हेडमास्टर, दयालबाग़ प्रेस है। पुस्तक एक उपन्यास है। मूल्य ॥–) है।

२१—स्त्रीजीवनचिकित्सा—लेखक—डा० एम० एस० निगम एस० डी० एस०, प्रकाशक बाबू रणवीर बहादुरसिंह निगम, बराही टोला, इटावा। मूल्य ॥।) है।

२२—सन्त—संपादक, महर्षि शिवव्रतलाल जी, प्रकाशक, दीवान वंशधारीलाल, राधास्वामीधाम, मिर्ज़ापुर। चन्दा ४॥) है। नमूना-प्रति का मूल्य ।) है।

१—ईश्वर और धर्म केवल ढोंग है—लेखक श्रीभजामिशङ्कर दीक्षित, बिद्लखा, पोस्ट रामनगर, ज़िला बाराबंकी हैं। मूल्य ॥।) है। लेखक से प्राप्य।

पुस्तक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि ईश्वर एक कल्पना-मात्र है, आत्मा कोई चीज़ नहीं, पुनर्जन्म गप-मात्र है, परलोक मिथ्या है, धर्म-ग्रन्थ वन्ध्या-पुत्र के विवाह के गीतों से अधिक महत्त्व नहीं रखते। लेखक का साहस प्रशंसनीय है, किन्तु उनके निर्णय के सम्बन्ध में भी मैं यही नहीं कह सकता। नास्तिक अपने मत का प्रतिपादन आदि काल से करते आये हैं। आशा थी कि इसके लेखक भी गम्भीरता-पूर्वक इतने महत्त्व के प्रश्नों पर विचार करेंगे, किन्तु उनकी पुस्तक में गाम्भीर्य का पता नहीं है। चलती भाषा में, चलते ढंग से, ऊपरी बातों के सहारे ही वे अपना फ़ैसला सुनाते गये हैं। ईश्वर की चर्चा करनेवाले और उसमें विश्वास करनेवाले लेखक की राय में ढोंगी हैं, मैं इसे मान लेता यदि लेखक यह भी सिद्ध कर देते कि संसार के समस्त धर्म-प्रचारकों ने कभी किसी समय में एकत्र होकर संसार को धोखा देने के लिए कोई षड्यंत्र रचा था। हम आँख से ईश्वर को नहीं देख सकते, इसी लिए ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं है, यह दलील काफ़ी नहीं है। लेखक को दर्शन-शास्त्रों का खंडन-मंडन दर्शन-शास्त्र की रीति से ही करना चाहिए था। पं० जवाहरलाल से मस्तिष्कवाले, उनसे अधिक विद्वान, उनके ही समान देशभक्त, और किसी भी बात में उनसे किसी तरह भी कम नहीं दूसरे भारतीय युवक आज संसार में मौजूद हैं, किन्तु वे पंडित जवाहरलाल न हो सके। एक के जीवन में 'अवसर' आये और उनसे उसने लाभ उठाया, दूसरे के जीवन में वे अवसर उपस्थित ही नहीं हुए और सर्वथा निर्दोष होते हुए भी वह कुछ नहीं कर सका। 'अवसर' नहीं आये, यही नहीं, दूसरे बन्धन भी ऐसे थे, स्थिति ऐसी थी जो उसे आगे बढ़ने से रोकती थी, उसके मार्ग में काँटे के समान हो रही थी, यह भिन्नता क्यों हुई? लेखक की राय में इस भिन्नता का श्रेय केवल इत्तिफ़ाक़ के देवता की दया और 'अवसर' की देवी को है। इसका अर्थ यह है कि पुरुष स्वयमेव कुछ नहीं है, उसकी शक्तियाँ भी कुछ नहीं, सब कुछ इत्तिफ़ाक़, अवसर और आर्थिक व्यवस्था या सामाजिक व्यवस्था है; कर्म की चेष्टा और कर्म भी कुछ नहीं। बहस के लिए यदि हम इसे मान लें तो एक व्यक्ति के लिए फल वही होगा जो विधि के विधान पर निर्भर हो बैठ रहने में होता है। लेखक महोदय कहेंगे, नहीं नहीं, यह नहीं, सामाजिक व्यवस्था ठीक होने से समाज की दशा ठीक होगी, अर्थात् व्यक्तियों के समूह की दशा का सुधार होगा और इसके फलस्वरूप व्यक्तियों की दशा सुधरेगी। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यही है कि सृष्टि के आदि-काल से आज तक और आज से लेकर जब तक सृष्टि रहेगी सुधारक समाज के सुधार के लिए ही आयोजन करते आये हैं, कितने ही प्रयोग हो चुके कितने

ही नये नये प्रयोग अभी और होंगे, हम और आप इसे तय हीं नहीं कर सकते कि कौन-सा प्रयोग अनन्त काल के लिए सुखदायी और सन्तोषजनक हो सकता है, हर प्रयोग की बनावट में ही उसके नाश के बीज मौजूद होते हैं और दोनों ही हर समय समान रूप से काम करते होते हैं, किसी की गति किसी समय कम ज़्यादा हो जाय, यह दूसरी बात है। हमारी नज़रों के सामने ही प्रयोग बनते और बिगड़ते हैं, आयु इतनी होती ही नहीं कि प्रयोगों का पूर्ण विकास हम देख सकें। दूसरे प्रयोग भी कुछ ही दूर चल सकते हैं, क्योंकि स्थिति और समाज ही एक तरह से बदलता रहता है। ईश्वर अगर कल्पना-मात्र ही है तब भी जिन लोगों ने ईश्वर की सृष्टि की उनकी निगाह में भी इस सृष्टि का उद्देश केवल-मात्र समाज की भलाई ही था। ऐसी दशा में हम ईश्वर के सृष्टिकर्ताओं तथा उसमें विश्वास करनेवालों को ढोंगी कैसे मान लें? वर्गवादियों या बोलशेविकों की राय में, ईश्वर और धर्म केवल जनता के लिए 'अफ़ीम' है, उसे हाथ पैर मार कर आगे न बढ़ने देने की कीमिया है, उनको अपने भाग्य पर सन्तुष्ट रखने का मोहन मंत्र है। क्राईस्ट ने कहा है कि एक अमीर मनुष्य के लिए स्वर्ग में पहुँचना उतना ही कठिन है जितनी सुई की आँख में से ऊँट का निकलना। माना कि उन्होंने यह भी कहा है कि ग़रीब धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर के राज्य के उत्तराधिकारी होंगे, ईश्वर उन पर कृपा करेगा और इन सब बातों से यह प्रकट होता है कि वे पूँजीवालों के सहायक थे और गरीबों को उनकी स्थिति से सन्तुष्ट रखना चाहते थे इसलिए कि वे बलवान करें, और ज़बर्दस्ती आगे न बढ़ें। मैं लेखक महोदय से ही पूछता हूँ कि क्या यह सही भी है? क्या ईसामसीह अमीरों और अमीरी के पृष्ठपोषक थे? ईश्वर धर्म क्या है, यह मैं नहीं सह सकता, किन्तु इतना कह सकता हूँ कि इस सम्बन्ध में अध्ययन और गम्भीरता के साथ विचार करने की ज़रूरत है। —'पुस्तक-प्रेमी'

२-५—नवभारत-ग्रन्थमाला की चार पुस्तकें—श्रीयुत वेंकटेश श्यामराव बलकुंदी (बी० ए०) महाशय नागपुर से मराठी भाषा में उपर्युक्त ग्रन्थमाला निकालते हैं। इस ग्रन्थमाला का विज्ञप्तिपत्रक देखने से मालूम होता है कि साहित्य, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, दर्शन-शास्त्र इत्यादि विषयों के गम्भीर और उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशित करना इस माला का उद्देश्य है। गम्भीर विषयों पर लिखी हुई पुस्तकों के पाठक किसी भी भाषा में बहुत ही कम मिलते हैं। अधिकांश पाठक प्रायः नाटक-उपन्यास, क़िस्से, कहानी और विनोदपूर्ण साहित्य पढ़नेवाले मिलते हैं। ऐसी दशा में बलकुंदी महाशय के मातृभाषाप्रेम और उनके उद्योग की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

इस माला की निम्नलिखित चार पुस्तकें इस समय हमारे सामने हैं—

(१) **ज्ञानोपासना व भारतीयांचें कर्तव्य**—लेखक, श्रीयुत श्रीनिवासनारायण बनहट्टी, एम० ए०, एल-एल० बी०। इस पुस्तक का स्वरूप दार्शनिक और वैज्ञानिक है। पूर्वीय और पाश्चात्य नीति, दर्शन तथा विज्ञान की उत्पत्ति और उसके विकास का विद्वान् लेखक ने बहुत ही सुन्दर और तुलनात्मक विवेचन किया है। इस पुस्तक में साहित्य, विज्ञान, कला, समाज-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र इत्यादि की शाखा प्रशाखाओं का तात्त्विक और उदाहरण-सहित दिग्दर्शन है; और प्रत्यक्ष, शाब्द, अनुमान, उपमान इत्यादि ज्ञानसाधनों की उपपत्ति-सहित विवेचना की गई है। राष्ट्रीय उन्नति में इन विषयों का क्या स्थान है, यह भी बहुत ही चतुरता के साथ दिखलाया गया है। पुस्तक जिज्ञासुओं के लिए गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करने योग्य है।

(२) **शेक्सपियर और तत्कालीन अँगरेज़ी रंग-भूमि**—लेखक, श्रीयुत गणेश हरि केलकर एम० ए० (मुंबई व केम्ब्रिज)। अँगरेज़ी साहित्य में—और इस समय सम्पूर्ण संसार के साहित्य में—शेक्सपियर का क्या स्थान है, सो विद्वान् पाठकों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। शेक्सपियर की नाट्यकला का प्रभाव इस समय, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, संसार की सब रंगभूमियों पर दिखाई देता है। इसका कारण उक्त महाकवि की

नाट्यकुशलता तो है ही; किन्तु पश्चिमीय विद्वानों और साहित्यकारों की गुणग्राहकता भी इसका एक प्रधान कारण है। केवल शेक्सपियर पर ही अँगरेज़ी में बहुत बड़ा साहित्य है। उनकी रचना की आलोचना-प्रत्यालोचना और गुण-दोष-विवेचन के सम्बन्ध में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये हैं; और बराबर लिखे जा रहे हैं। परन्तु वही हमारे देश के अद्वितीय कवि कालिदास के विषय में देख लीजिए। राष्ट्रीय हिन्दी भाषा में—एक सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक भी तो इस हमारे महाकवि के रचना-कौशल पर नहीं लिखी गई है। हिन्दी-भाषा-भाषी विद्वानों को अपने अन्य कामों से ही अवकाश नहीं है—कालिदास का अध्ययन कौन करे! ऐसी दशा में हमारे महाकवियों का रचना-कौशल संसार को मालूम हो तो कैसे?

अस्तु। प्रोफ़ेसर केलकर ने इस पुस्तक के पहले भाग में अँगरेज़ी नाट्यकला के प्रारम्भिक इतिहास और उसके क्रमविकास का विवेचन करके दूसरे भाग में शेक्सपियर के समय की सामाजिक दशा, उनका चरित्र और उनके नाटकों की मार्मिक आलोचना की है। तीसरे भाग में शेक्सपियर के समकालीन नाटककारों का भी वृत्तान्त दिया है। शेक्सपियर के पहले पश्चिमी रंगभूमि की क्या परिस्थिति थी; और शेक्सपियर के समय में उसमें क्या क्या उन्नति हुई इत्यादि बातों का बहुत ही हृदयंगम विवेचन किया है। साहित्य-रसिकों के लिए पुस्तक बड़े काम की है।

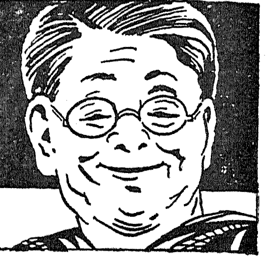
(३) राज्यशास्त्र—लेखक, श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर। इस पुस्तक का महत्त्व पाठक इसके लेखक के नाम से ही जान सकते हैं। पुस्तक में कुल आठ अध्याय और तीन परिशिष्ट हैं। मुख्य विषय का विवेचन कुल २१२ पैराग्राफों में—अलग अलग अन्तःशीर्षकों में—हुआ है। "राज्यशास्त्र" का विषय और उसके लेखक नरसिंह चिन्तामणि केलकर—मणि-कांचनसंयोग इसी को कहते हैं! केलकर महोदय ने अपने रचनाचातुर्य से इस २५० पृष्ठ की पुस्तक में राज्यशास्त्र के गम्भीर विषय को इतना सुलभ और मनोरंजक बना दिया है कि पढ़नेवाले यह अनुभव नहीं कर सकते कि वे किसी अत्यन्त गम्भीर विषय के जटिल वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर रहे हैं। इतना होने पर भी विवेचनाशैली अत्यन्त मार्मिक है। राज्यसंस्थाओं का उद्गम और आधार, उनकी घटना और वर्गीकरण, राष्ट्रव्यक्ति और राष्ट्रसंघ; सेन्द्रिय—सजीव राज्यसंस्था के अंग, प्रातिनिधिक राज्यपद्धति, राज्यसंस्था और स्वातंत्र्य, स्वराज्य और सुराज्य, भारत की भावी स्वराज्य-घटना, प्राचीन हिन्दूराजधर्म और प्रजाधर्म, इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। मैट्रिक और इंटर क्लासों में यदि देशी भाषाओं के द्वारा राज्यशास्त्र का अध्ययन कराया जाय, तो उसके लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। हिन्दी-भाषा में यदि इस पुस्तक का अनुवाद हो जाय तो बड़ा उपकार होगा।

(४) अमेरिका (संयुक्त संस्थानें) पूर्वखण्ड। लेखक श्री नारायण हरि आपटे। इस पुस्तक में अमेरिका की संयुक्त रियासतों की स्थापना, उनकी सामाजिक, धार्मिक और राजकीय विशेषता का अच्छा वर्णन किया गया है। विलायतवालों ने अपने अनुचित और अत्याचारपूर्ण क़ानूनों से अमेरिका के स्वाधीनताप्रिय लोगों को कैसे भड़का दिया, फिर अमेरिका की जनता ने स्वतंत्रता की लड़ाई में किस प्रकार आत्म-बलिदान किया और अन्त में विजय प्राप्त करके पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा की, इत्यादि बातों का वर्णन भारतीयों के लिए जानने योग्य है। वीरश्रेष्ठ वाशिंगटन के चरित्र और राष्ट्रोद्धार-विषयक उसकी कर्तव्यदक्षता का स्फूर्तिदायक वृत्तान्त ग्रन्थकार ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में लिखा है।

इस माला की ये चारों पुस्तकें सजिल्द बहुत अच्छी छपी हुई हैं। मूल्य प्रत्येक का डेढ़ रुपया बिलकुल उचित है। मिलने का पता—नवभारत-ग्रन्थमाला, नागपुर है।

—लक्ष्मीधर बाजपेयी

हास-परिहास



'कवि सम्राट्' हरिऔध जी ने कविता लिखने में कितनी उन्नति की है, इसका अनुमान, उनकी एक रचना से जो उन्होंने हाल में ही सुधा के प्रथम पृष्ठ पर छपवाई है, सहज ही किया जा सकता है। वे लिखते हैं—

क्यों बिगड़ी ही रहती हैं,
मेरे घर की सब घड़ियाँ।
क्यों काट काट हित राहें,
ए बनती हैं लोमड़ियाँ।

× × × ×

काव्य-कानन में लोमड़ियों का प्रवेश सर्वथा मौलिक है! खेद है कि इस नई सूझ पर दाद न देकर हरिऔध जी के पड़ोसी श्री वीरेन्द्र वर्मा मालवीय 'जागरण' में लिखते हैं—"अनन्त प्रकार के अन्धविश्वास यहाँ के रहनेवाले हिन्दुओं में हैं।"

× × × ×

तुकबन्दी से प्रेम रखनेवाले पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे ज़रा लोमड़ियों का तुक ढूँढ़ें। शायद वे न ढूँढ़ सकेंगे। पर देखिए हरिऔध जी की सूझ! वे लिखते हैं—

क्यों बहुत तंग करती हैं
मुझको कितनी खोपड़ियाँ
क्या नहीं देख पाती हैं
मेरी टूटी झोपड़ियाँ

× × × ×

यह इशारा शायद श्री गिरीश जी की ओर है जिन्होंने हरिऔध जी के काव्य-महलों को आशा देकर भी झोपड़ियों में बदल दिया है। कविता का महल ढहवाकर झोपड़ियों में समय काटनेवाले इन कवि महोदय के साथ किसे सहानुभूति न होगी? पर काव्य की ये झोपड़ियाँ भी रहने पावें तब न, क्योंकि इनमें 'लोमड़ियाँ' और 'खोपड़ियाँ' जैसी मरघट की वस्तुओं का प्रवेश हो गया है।

× × × ×

'हरिद्वार के गन्दे नाले' की स्कीम हाल के ही भारत में प्रकाशित हुई है। यह 'स्कीम पूज्य मालवीय जी से साहित्यिक भेंट' के रूप में 'भारत' में उपस्थित की गई है। 'हरिद्वार का गंदा नाला' नामधारी कौन ऐसा साहित्यिक महापुरुष है जिसकी 'स्कीम' पर बातचीत आरम्भ होते ही श्री किशोरीदास वाजपेयी मालवीय जी के पास से चले गये। ज़रूर वह वाजपेयी जी से कोई ज़ोरदार व्यक्ति होगा।

× × × ×

पुण्यतीर्थ हरिद्वार में पूज्य मालवीय जी को ऐसे ही लोगों से पाला पड़ा। श्री किशोरीदास वाजपेयी ने उन्हें अपनी 'रस और अलंकार' नामक पुस्तक दी और उस पर उनकी सम्मति माँगी। मालवीय जी ने कहा—"कहीं कहीं बहुत गरम हो गया है। यदि आप मिर्च का बघार न देकर ज़ीरे का देते तो अच्छा होता।"

× × × ×

जान पड़ता है, वाजपेयी जी की रसोई में मालवीय जी को मिर्च और ज़ीरा इन्हीं दो में से एक चुनना था। पता नहीं, वे पकवान क्या हो गये थे जिनके लिए उन्होंने आचार्य द्विवेदी जी से सार्टीफिकेट प्राप्त किया था।

× × × ×

कदाचित् मालवीय जी को मिर्च और ज़ीरा दो में से एक भी पसन्द नहीं आया। इसी लिए उन्होंने कहा—"इसमें कुछ परिवर्तन करके फिर इसका प्रकाशन कीजिए।" पुस्तक के सम्बन्ध में उनकी यह स्पष्ट राय थी। पर वाजपेयी जी ने समझा कि वे प्रशंसा कर रहे हैं इसलिए उन्होंने इसे तड़ाक अख़बार में छपवा दिया।

'सदानन्द'

क्या हिन्दी-पाठक कामुक और व्यभिचारी हैं?

श्रीनाथसिंह

हम हिन्दी लेखकों का यह सौभाग्य है कि हमें पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे 'शिक्षक, रहनुमा और ज्ञानदाता' मिल गये हैं। समय समय पर आप अन्धकार में भटकते हुए हिन्दी के लेखकों के सामने अपने ज्ञान की बिजली चमकाकर उन्हें पथ-भ्रष्ट होने से बचाने का प्रयत्न करते रहते हैं। जिस प्रकार गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—"हे भिक्षुओ, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, सुख के लिए विचरण करो।" उसी प्रकार चतुर्वेदी जी भी हिन्दी के लेखकों से कहते हैं—"हिन्दी के लेखको! पाखण्ड पर प्रहार करना, दम्भ को दूर करना और अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाना (तुम्हारा) परमधर्म है।"

हिन्दी के इन भगवान् बुद्ध, ईसा और मुहम्मद स्वरूप ज्ञानदाता पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी की बातों को ध्यान से सुनना और उन पर बार बार विचार करना इन पंक्तियों के लेखक के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना कि हिन्दी के किसी लेखक के लिए हो सकता है। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि मैंने चतुर्वेदी जी की बातों पर जितना ही विचार किया उतना ही मुझे निराश होना पड़ा। यदि यह भी मान लिया जाय कि वह वस्तु जिसे साधारण ज्ञान कहते हैं हिन्दी के अन्य लेखकों में उतना नहीं है जितना कि चतुर्वेदी जी में है तो भी चतुर्वेदी जी की यह बात हृदय में नहीं धँसती कि हिन्दी के पाठक कामुक और व्यभिचारी हैं।

अभी हाल में चतुर्वेदी जी ने हिन्दी के समाचार-पत्रों में "कस्मै देवाय?" शीर्षक एक लेख प्रकाशित कराया है। इस लेख का उद्देश भी हिन्दी के लेखकों को उपदेश देना और उन्हें सन्मार्ग पर लाना है। इस लेख में चतुर्वेदी जी ने लेखकों को सम्बोधित करके पूछा है—"आखिर हम किन आदमियों के लिए साहित्य-रचना करें?"

इस समय हिन्दी में जिन आदमियों के लिए साहित्य रचा जाता है उनकी एक सूची चतुर्वेदी जी ने तैयार की है। उनकी सूची में व्यापारी, वकील, सरकारी नौकर और कालेज के विद्यार्थी हैं। हमारा ख़याल है कि यदि ये लोग समाज के बाहर कर दिये जायँ तो हिन्दी की वर्तमान रचनाओं का कोई पाठक न रह जायगा। अच्छा या बुरा जो कुछ भी साहित्य निकला है, उसको यही लोग पढ़ते हैं। जैसा कि संसार में सर्वत्र अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की पुस्तकों के ख़रीदार होते हैं, वैसे ही हिन्दी में भी दोनों प्रकार की पुस्तकों के ख़रीदार हैं। परन्तु चतुर्वेदी जी के फ़तवे के अनुसार हिन्दी के व्यापारी, वकील, सरकारी नौकर और कालेज के विद्यार्थी आदि सभी पाठक कामुकतापूर्ण साहित्य चाहते हैं। चतुर्वेदी जी का यह फ़तवा पढ़ते समय मुझे जान पड़ा कि चतुर्वेदी जी ने हिन्दी के पाठकों के साथ घोर अन्याय किया है। चतुर्वेदी जी ने प्रश्न तो यह उठाया है कि हिन्दी में किस प्रकार का साहित्य लिखा जाना चाहिए, परन्तु उनका लेख पढ़ते समय यह प्रश्न दब जाता है और दूसरा प्रश्न जो उठ खड़ा होता है वह यह है कि क्या हिन्दी के पाठक कामुक और व्यभिचारी हैं? हमारी समझ में नहीं आया कि चतुर्वेदी जी ने यह बेमतलब की बात उस लेख में क्या समझ कर घुसेड़ दी? क्या उसे रोचक बनाने के लिए?

चतुर्वेदी जी अपने आपको अश्लीलता का विरोधी घोषित करते हैं। कतिपय लेखकों के मत्थे अश्लीलता का कलङ्क मढ़कर उनसे आप लड़ाइयाँ भी लड़ चुके हैं। परन्तु वे स्वयं अश्लील साहित्य की रचना करने में कितने पटु हैं इसका पाठक उनके उक्त लेख के निम्नलिखित पैराग्राफ से सहज ही अनुमान कर सकते हैं—

"रम्भादेवी अठारह-बीस वर्ष की युवती हैं। विवाह अभी नहीं हुआ है। डिप्टी-साहब की लड़की हैं; उन डिप्टी-साहब की, जिनकी कमज़ोर आत्मा ने सारी ज़िन्दगी

सरकार-रूपी उपपति के साथ व्यभिचार किया है। घर में भोग-विलास के सारे सामान मौजूद हैं। काम कुछ करने को नहीं। वक्त काटे नहीं कटता। उनकी अतृप्त कामेच्छा की पूर्ति के लिए ऐसी कहानियों की ज़रूरत है, जिनमें Sex की अपील हो, दुराचारों का वर्णन हो, जिनसे देवी जी को मानसिक व्यभिचार का अवसर मिले।"

सरकारी अफ़सरों की युवती लड़कियों का इस पैराग्राफ में चतुर्वेदी जी ने जो चित्र खींचा है वह उनके किस अध्ययन और निरीक्षण का परिणाम है, इसका लेख में कोई ज़िक्र नहीं है। क्या उनकी यह बात हम केवल इसलिए मान लें कि वे हमारे 'रहनुमा और ज्ञानदाता' हैं और हम इस पर विचार न करें। हमने तो सरकारी अफ़सरों की ऐसी लड़कियों की कहानियाँ पढ़ी हैं जिन्होंने पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया था, जो स्वयं-सेविकायें बनी थीं, जो जेलखाने गई थीं, पर ऐसी एक भी कहानी नहीं पढ़ी जो अपनी 'अतृप्त कामेच्छा की पूर्ति' के लिए ऐसी कहानियों की तलाश में हों जिन्हें चतुर्वेदी जी ने अश्लीलता के विरोध का दम्भ करते हुए भी 'विशाल भारत' में शान से छापा है? अपने इसी लेख में चतुर्वेदी जी लिखते हैं—"कमज़ोर विधवाओं के पतन की कहानियों की आजकल बाज़ार में खूब माँग है। उनकी बिक्री से काफ़ी रुपया कमाया जा सकता है।" तो क्या उन्होंने स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न की कमज़ोर विधवा के पतन का विषद वर्णन सत्यनारायण जी की जीवनी में इसी लिए किया था? और क्या यह बात उसी अनुभव के आधार पर लिखी है?

हिन्दी की स्त्री-पाठिकाओं का चतुर्वेदी जी ने ऐसा ही आपत्तिजनक वर्णन किया है। व्यापारियों के सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं, ज़रा यह भी पढ़ लीजिए—

"सेठ जी दिन-भर सट्टेबाज़ी करके रात को दस बजे भरी हुई जेब और ख़ाली दिमाग़ लेकर घर लौटते हैं। अवश्य ही उनकी मोटी अक़्ल और कमज़ोर स्नायुओं के लिए किसी हलकी चीज़ की ज़रूरत है। वे ऐसी कहानियाँ पढ़ना पसन्द करेंगे, जिनमें कोई निरुद्देश्य युवक किसी कामुक युवती से आँखें लड़ा रहा हो। सेठ जी के निर्बल अंगों को तभी सन्तोष हो सकता है, जब गल्प-लेखक उस युवती को उक्त युवक के साथ भगा दे।"

इसी प्रकार चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में वकीलों और कालेज के विद्यार्थियों की भी भद्दी और कामुकतापूर्ण तसवीरें खींची हैं। क्या चतुर्वेदी जी का यह ख़याल है कि व्यापारी, वकील, सरकारी नौकर और उनकी लड़कियाँ तथा कालेज के विद्यार्थी सब कामुक ही होते हैं? क्या उनमें सदाचारी, बलवान्, पुरुषार्थी बनने की इच्छा ही नहीं होती? क्या इस समय हिन्दी में जो कुछ लिखा जा रहा है वह ऐसे ही कामुकों की वासना-पूर्ति के लिए लिखा जा रहा है। क्या हिन्दी के वर्तमान लेखक भी समाज के इन्हीं वर्गों में से किसी न किसी से सम्बन्ध नहीं रखते। आख़िर चतुर्वेदी जी के यह सब लिखने का क्या अर्थ है? हम चतुर्वेदी जी से ही पूछते हैं कि क्या रम्भादेवी के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अश्लील या घासलेटी नहीं है?

क्या चतुर्वेदी जी विधाता हैं या वे कोई जादू जानते हैं जो बिना हिचकिचाहट के और बिना कुछ सोचे-समझे वे हिन्दी के लेखकों और पाठकों और प्रकाशकों को 'कोढ़ी' 'काम्मोद्दीपन करनेवाले', 'तिकड़मबाज' और न जाने क्या क्या घोषित कर रहे हैं। कौन किस उद्देश्य से काम करता है, किसी के जी में क्या है, यह सब बताने का ठेका क्या उन्हींने ले लिया है? क्या किसी की नीयत पर इस प्रकार हमला करना उचित है?

प्रत्येक मनुष्य में प्रेम, सेवा, सदाचार, सहानुभूति, करुणा, न्याय, सत्य, अहिंसा आदि सद्गुण कम या अधिक मात्रा में होते हैं। इन्हीं सद्गुणों का प्रसार करना और जहाँ वे कमज़ोर अवस्था में हैं वहाँ उनको पुष्ट करना लेखक का उद्देश्य है या हो सकता है। हम भी यह जानते हैं कि हमारे देश में अस्सी सैकड़ा किसान और मज़दूर हैं। कोई भी भारतीय जिसमें ज़रा भी भारतीयता है, किसानों और मज़दूरों के दुख से बिना दुःखी हुए नहीं रह सकता। परन्तु किसानों के दुःख दूर करने का उपाय डिप्टी साहब की लड़की की अतृप्त कामेच्छा की चर्चा करना नहीं है जैसा कि चतुर्वेदी जी कर रहे हैं।

आश्चर्य्य की बात तो यह है कि जहाँ चतुर्वेदी जी किसानों और मजदूरों का रोना रोते हैं, वहीं वे शिकार-साहित्य के नाम पर वन-पशुओं की हत्याओं का रोचक वर्णन करके सम्पूर्ण जन-समाज को बेदर्द और निर्दय बना डालना भी चाहते हैं। क्या चतुर्वेदी जी बतायेंगे कि इस शिकार-साहित्य का वे किसके लिए प्रचार कर रहे हैं?

चतुर्वेदी जी ने वेद की एक सुन्दर ऋचा के एक अंश को अपने लेख का शीर्षक बनाकर अपनी अक्ल को सार्थक करने का जो यह प्रयत्न किया है, हमें खेद के साथ कहना पड़ता है, वह विफल हुआ है, इसके साथ हमें इसका भी दुख हुआ है कि उन्होंने अपने इस लेख के द्वारा हिन्दी के पाठकों तथा लेखकों का घोर अपमान किया है। अतएव हमने यहाँ उसका प्रतिवाद करना उचित समझा है।



भारतेन्दु अर्द्ध-शताब्दी

हिन्दी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि, नाटककार तथा आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता श्री भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के गोलोकवास को आगामी २५ जनवरी १९३५ को पूरे पचास वर्ष हो जायँगे। भारतेन्दु जी ने ही आधुनिक हिन्दी की नींव डाली थी; और इस समय हिन्दी-साहित्य की जो शोभा और श्री-वृद्धि हुई है, उसका मूल कारण भारतेन्दु जी ही हैं। भारतेन्दु जी के इस उपकार के लिए समस्त हिन्दी जगत उनका बहुत अधिक ऋणी है; और इसी लिए हिन्दी-भाषियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे भारतेन्दु जी का अर्द्ध-शताब्दी-उत्सव बहुत ही उपयुक्त रूप से मनावें और उनकी कीर्त्ति-कौमुदी का चारों ओर विस्तार करें।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने निश्चित किया है कि समस्त उत्तरी भारत, राजपूताने और मध्य भारत के सभी नगरों और प्रमुख स्थानों में यह उत्सव बहुत ठाठ-बाट के साथ मनाया जाय और सभी स्थानों में भारतेन्दु जी के किसी न किसी नाटक का अभिनय हो। सभा का यह भी विचार है कि भारतेन्दु जी के समस्त गद्य-लेखों और कविताओं आदि का एक बहुत ही सुन्दर संग्रह चार भागों में प्रकाशित किया जाय। अनुमान किया गया है कि इस काम में प्रायः १००००) व्यय होंगे; और जब तक इस सम्बन्ध में समस्त हिन्दी-प्रेमियों की उदारतापूर्ण सहायता न प्राप्त हो, तब तक यह कार्य उपयुक्त रूप से नहीं हो सकता। और भारतेन्दु जी की समस्त कृतियों का यह संग्रह तभी अर्द्ध-शताब्दी उत्सव के समय प्रकाशित हो सकता है, जब उसकी छपाई आदि का काम मई १९३४ में आरम्भ कर दिया जाय।

इसलिए काशी-नागरीप्रचारिणी सभा हिन्दी-प्रेमी राजामहाराजाओं, धनवानों और साधारण देशाभिमानियों से आग्रह-पूर्वक प्रार्थना करती है कि वे इस काम में सभा को पूरी-पूरी आर्थिक सहायता प्रदान करें, जिसमें यह सभा भारतेन्दु जी की कीर्त्ति की रक्षा और विस्तार का यह कार्य सुगमतापूर्वक सम्पादित कर सके। आशा है, सभी हिन्दी-प्रेमी अपनी उदारतापूर्ण सहायता से सभा को अनुगृहीत करेंगे।

नागरी-प्रचारिणी सभा,
काशी, १ अप्रैल १९३४.

रामचन्द्र वर्म्मा,
प्रधान मन्त्री

उत्तरी विहार में भू-

श्रीयुत राहुल



[गंगा के संचालक कुमार कृष्णानन्दसिंह की कोठी, सुल्तानगंज (भागलपूर)]

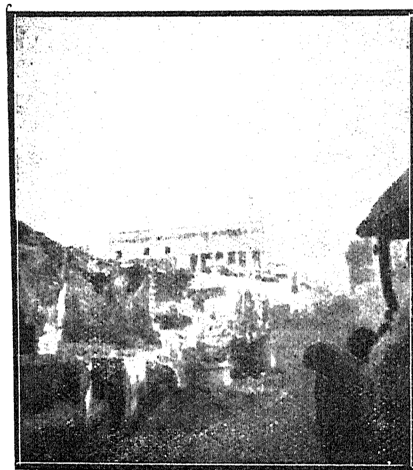


रस्वती' के पाठकों के सामने अपने पिछले लेख को उपस्थित करते समय मैं आशा रखता था, कि दूसरे लेख में मैं भूकम्प-ध्वस्त अन्य स्थानों के बारे में भी कुछ लिख सकूँगा। और इसी लिए मैंने कितने ही फोटो भी खींचे थे, किन्तु अब जब मैं लेख लिखने से अपने को मजबूर पाता हूँ तब उपोद्घात के तौर पर इन कुछ पंक्तियों के साथ उन चित्रों को ही पाठकों के सामने रखकर छुट्टी लेता हूँ।

सहायता-कार्य के सम्बन्ध में सीतामढ़ी में प्रायः तीन सप्ताह रहने के बाद मैं वहाँ से चम्पारन की ओर रवाना हुआ। चार-पाँच मील इक्के पर चलकर फिर बैलगाड़ी पकड़ी। बागमती के किनारे तक



[टीन के झोपड़े (मुँगेर)]

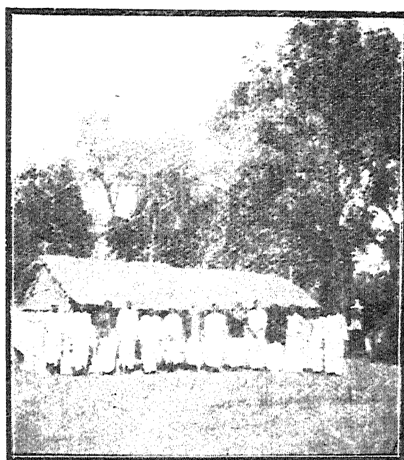


[मुँगेर का एक धनी मुहल्ला भूकम्प के बाद]

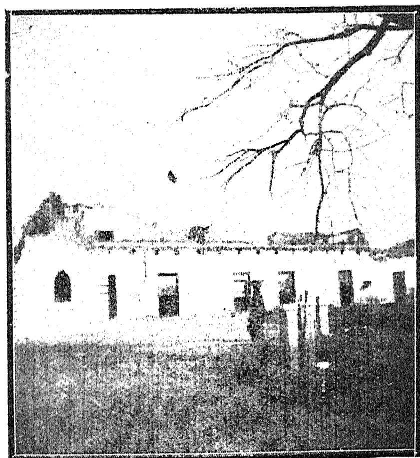
कम्प की ध्वंसलीला

सांकृत्यायन

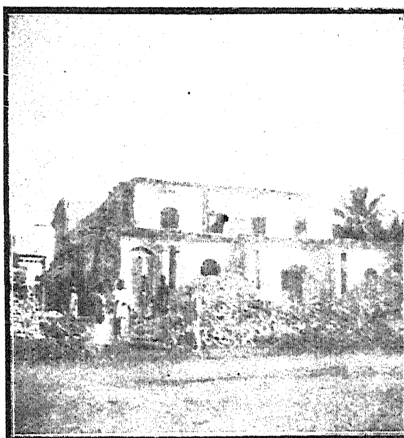
भूकम्प की वही अवस्था थी। इस प्रदेश में फूस की छतों और बाँस की दीवारों के ही मकान आमतौर से बना करते थे। इधर गाँवों में जो एकाध मकान ईंट के बने थे, सभी या तो गिर गये थे या रहने के अयोग्य थे। बागमती के रेल के पुल के दो पायों को तो मालूम होता था कि जैसे किसी ने तलवार लेकर केले के स्तम्भ की भाँति बड़ी सफ़ाई से काट दिया है। नदी पार हो फिर गाड़ी से आगे चले। सड़क पर ही मुसहरों की झोपड़ियाँ थीं। डेढ़ दो सौ गज़ और चलने पर एक तालाब मिला। भूकम्प के कारण या शायद पहले से ही मैला पानी जमा था। मुसहर स्त्रियाँ उसी से घड़ों में पानी भर कर ले जा रही थीं। पूछने पर साथी ने यह कहकर शंका निवारण करनी चाही कि ये लोग बराबर ही ऐसा पानी पीते हैं। "बराबर" और



[सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी—छपरा]



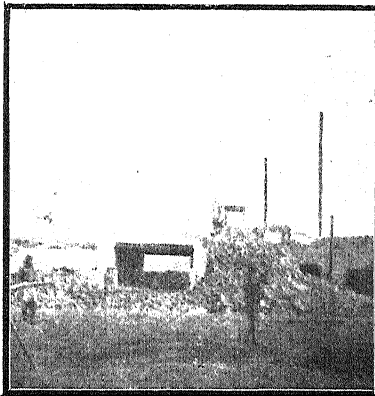
[अस्पताल (मुँगेर) भूकम्प के बाद]



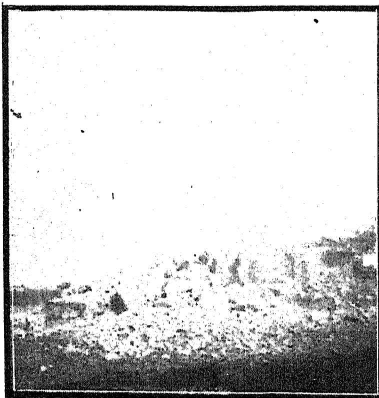
[बाबू तपनारायण की कोठी (छपरा)]



[पत्थर वाला दरवाज़ा (राजप्रासाद का प्रमुख द्वार) बेतिया—चम्पारन]



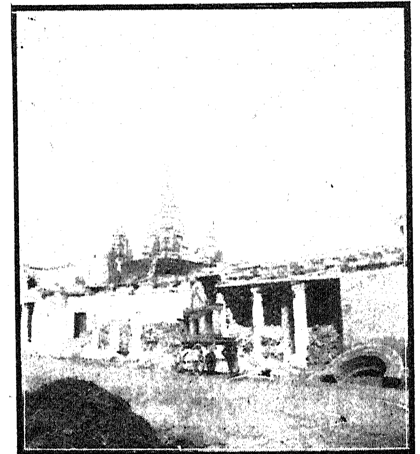
[पशुपति टाइस मिल्स, रक्सौल जि० चम्पारन]



[रामपुर-रुद्र (मसरख थाना) का ध्वस्त मंदिर]

"सनातन" से जो बात हो उसके लिए शंका उठाने को गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है? रास्ते में सड़क टूटने से बने दलदल में एक गाड़ीवान की गाड़ी फँस गई थी। उसने हमारे गाड़ीवाले से बहुतेरा कहा कि थोड़ी देर के लिए बैलों को दे दो। लेकिन वह कहाँ सुननेवाला था। जैसे-तैसे हमारी गाड़ी भी बाहर निकली। आगे बैरगिनिया बाज़ार है। नैपाल-तराई की सीमा पर होने से यह एक अच्छी मंडी है। यहाँ भी मकान बहुत गिरे हैं। 'बिहार केन्द्रीय सहायक समिति' की ओर से यहाँ बाबू विष्णुदेवनारायण धवन काम कर रहे थे। यहाँ के उत्साही आर्यसमाजियों ने एक अँगरेज़ी मिडिल स्कूल खोला था। उसी के ध्वंस के ऊपर हमारी समिति का कार्यालय था। रेलवे प्लेटफ़ार्म तो फूट की तरह फटा हुआ था। एक ट्रेन अब तक यहीं खड़ी थी।

एक नदी पार हो अब हम चम्पारन-ज़िले में प्रविष्ट हुए। इरादा तो था, पहले रक्सौल होकर मोतीहारी जाने का किन्तु बैरगिनिया के इक्के ने हमें रात जाते जाते ढाका (थाना) पहुँचा दिया। मालूम हुआ, हम उलटे चले आये। यह थाना चम्पारन के अति पीड़ित इलाक़ों में है। तालाब पर एक



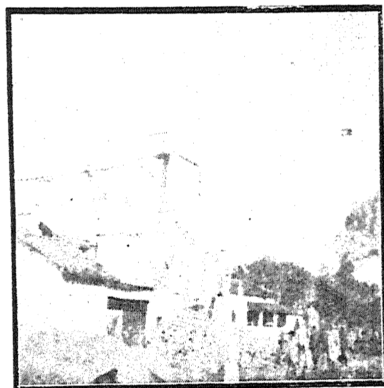
[छपरा—भगवान बाज़ार का पंच मंदिर]

ईंटों का मकान भूकम्प से बचा हुआ था। यहीं 'केन्द्रीय सहायक समिति' का कार्यालय था। हम सब बात कर रहे थे कि नौ बजे के क़रीब एक करारा धक्का चौकी को लगा। लोग चौकन्ने हो गये। मालूम हुआ, यह तो भूकम्प था।

ढाका से मोतीहारी के लिए बैलगाड़ी की गई। जगह जगह भूकम्प की भीषणता का परिचय मिल रहा था। चिरैया बाजार के स्कूल की इमारत के चित्र से इधर की अवस्था का अनुमान हो सकेगा। सारे चम्पारन-ज़िले की यही दशा है।

मोतीहारी से सुगौली, रमगढ़वा बाज़ार होते रक्सौल पहुँचे। वहाँ से वीरगंज (नेपाल तराई) को देखते बेतिया पहुँचे। बेतिया से मोतीहारी और फिर मुज़फ़्फ़रपुर के रास्ते छपरा को।

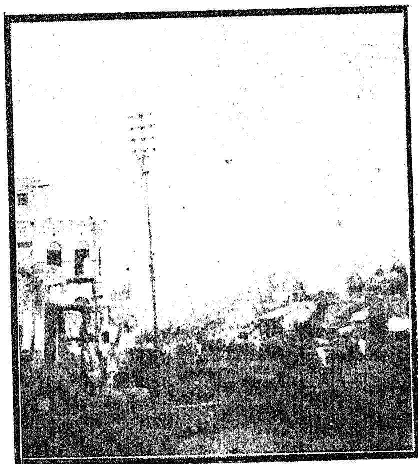
छपरा शहर में भी बहुत-सी इमारतों को नुक़-सान हुआ है। और इस ज़िले के गंडक के किनारे-वाले तीन-चार थानों में तो चम्पारन जैसा ही नुक़सान हुआ है। कई गाँवों के मकानों, मन्दिरों के ध्वंसों को देखने हम रामपुर-रुद्र पहुँचे, यहाँ का वह विशाल मन्दिर जिसका शिखर गंडक के उस पार से दिखाई पड़ता था, अब ज़मीन में बिखरी ईंटों का एक ढेर-मात्र है।



[जव्वादमियाँ का मकान—मोतीहारी]



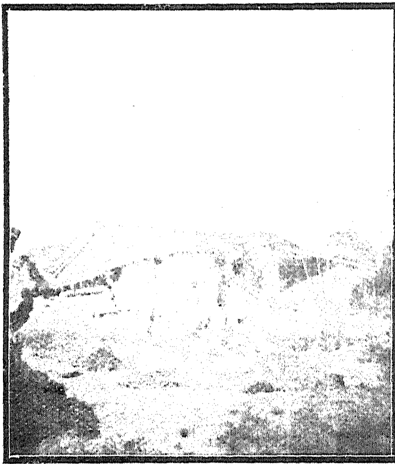
[रोमन केथलिक गिर्जा—बेतिया]



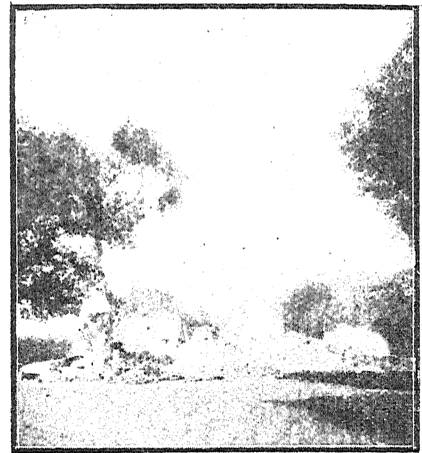
[सेठ गोयनका का मकान—मुँगेर]



[विपिन बाबू का मकान (मोतीहारी)]

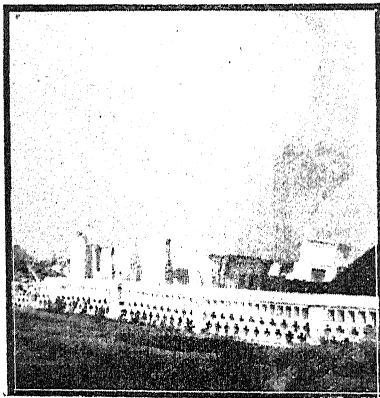


[सराय (माँझी थाना) का एक घर—सारन]



[मुँगेर—एक आलीशान कोठी का ध्वंसावशेष]

फिर गंडक के बाँध पर पहुँचे। बाँध के पास ही मँडवा बसइया का वह घर देखा जिसके भीतर चार स्त्रियाँ दबकर मर गई थीं। एक तरह से कहना चाहिए, ये पर्दा-प्रथा पर बलि चढ़ी थीं। बाहर खुली



[श्रीनारायण बाबू की कोठी (मोतीहारी)]

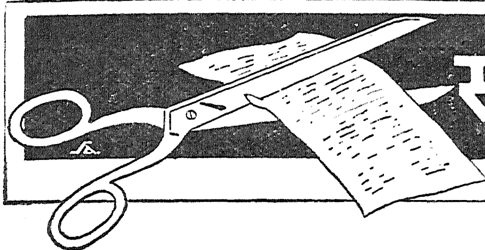
जगह थी, किन्तु ये तो सोच रही थीं घर से बाहर हम पर्दानशीनों को निकलना चाहिए या नहीं। किन्तु वहाँ सोचने के लिए उतना समय कहाँ था? घर की एक वधू तथा उसकी तरुण ननन्द तो द्वार के पास एक दूसरे को पकड़े मरी पाई गई। मालूम होता है, उन्होंने निकल आने का निश्चय कर लिया था, किन्तु तब तक समय बीत चुका था।

सतजोड़ा लकड़ी की पठान-टोली तो गिरी दीवारों और टूटी छतों की ढेर थी।

छपरा से सरयू के किनारे की ओर चले। इधर यद्यपि उतना नुक़सान नहीं है, तो भी कहीं कहीं वैसे दृश्य दिखाई पड़ जाते हैं। माँझी के पास के सरैया गाँव का वह कच्चा मकान इसका साक्षी है, जिसका फोटो अन्यत्र प्रकाशित है। और सरयू का प्रसिद्ध रेलवे पुल (Incheape Bridge) तो अब बेकार है। उसका तो एक पाया ही टूट कर गिर गया है।

× × × ×

दक्षिण-बिहार के मुंगेर और जमालपुर-ध्वंस-लीला के बारे में काफ़ी लिखा जा चुका है। हमने भी कुछ फोटो लिये हैं, वस्तुतः वहाँ की अवस्था न शब्द-द्वारा ही प्रकट की जा सकती है, न चित्र-द्वारा ही। उसी वक़्त सुल्तानगंज (भागलपुर) भी जाने का मौक़ा हुआ। देखा "गंगा" के संस्थापक कुमार गंगानन्द-सिंह की सुन्दर कोठी धराशायी है। इस क़सबे में भी कितने ही मकानों को क्षति पहुँची है।



सामयिक साहित्य

महात्मा गान्धी और कट्टर-पंथी सनातनी

महात्मा गान्धी के हरिजन-आन्दोलन का विरोध करने में कट्टरपंथी सनातनी कोई कसर बाक़ी नहीं रखना चाहते। जसडीह (राँची) स्टेशन के पास तो उन्होंने महात्मा जी की मोटर पर लट्ठ भी चलाये। सौभाग्य से महात्मा जी को चोट नहीं लगी। कट्टरपंथियों के इस प्रकार के अमानुषिक और अधार्मिक विरोध-प्रदर्शन पर खेद प्रकट करते हुए देवघर में महात्मा जी ने जो भाषण दिया उसका आवश्यक अंश यहाँ दिया जाता है---

दक्षिण-भारत के भ्रमण के समय भी कुछ स्थानों में मेरे विरुद्ध काले झंडों का प्रदर्शन किया गया था, किन्तु उन प्रदर्शनों में सौजन्य वर्तमान था, वह केवल इस बात का ही प्रदर्शन था कि जो लोग काली झण्डी लिये हुए हैं वे इस अस्पृश्यतानिवारण के आन्दोलन के विरोधी हैं। उनमें से बहुत-से तो मेरे अभिवादन का उत्तर देते थे तथा प्रसन्नता और जय-जयकार में भी सम्मिलित होने में संकोच नहीं करते थे। मुझे यह भी सन्देह नहीं है कि वहाँ के प्रदर्शनकारियों में से बहुत-से यह भी कहने को तैयार हो जाते कि वे भीष्म तथा द्रोण की तरह इस आन्दोलन का विरोध केवल अपने पेट के लिए कर रहे हैं।

किन्तु खेद है कि यहाँ के प्रदर्शनकारियों ने न केवल सौजन्य तथा आदमियत का ही परित्याग कर दिया है, किन्तु उन्होंने हिंसा का मार्ग भी ग्रहण किया है। आज रात को २॥ बजे जब मैं जसीडीह स्टेशन पर उतरा, तो उन्होंने अपशब्दों की चिल्लाहट से वायुमण्डल को दूषित कर दिया। इतने से ही वे शांत न हुए। उन्होंने उपद्रव भी मचाना आरम्भ कर दिया। यदि वे अपने हिंसात्मक कार्यों में सफल हो जाते तो मोटर के हुड टुकड़े टुकड़े हो जाता। हुड पर ज़ोरों से लाठियों की वर्षा हो रही थी। पीछे का शीशा चूर चूर हो गया और भगवान ने गहरी चोट से मेरी रक्षा की। मैं यह विश्वास करता हूँ कि ये लोग मुझे शारीरिक कष्ट पहुँचाने के इच्छुक नहीं थे और हुड पर डण्डे बरसाकर तथा शीशा तोड़कर उन्होंने केवल मेरे प्रति अपने क्रोध का प्रदर्शन ही करना चाहा था। जो कुछ भी उनका इरादा रहा हो, कम से कम उनका कार्य तो अवश्य ही हिंसात्मक था।

इस आक्रमण का परिणाम इतना भयंकर हो सकता था कि बाद में शायद वे स्वयं ही दुःखी होते। कालीकट के ज़मोरिन का व्यवहार जो मेरे प्रति था उससे आज के इस व्यवहार से ज़मीन आसमान का अन्तर है। मैं गुरुवायूर गया हुआ था। इस प्रसिद्ध मंदिर पर हुए सत्याग्रह से ज़मोरिन मेरे प्रति दुखी हो सकते थे किन्तु जिस समय मैं वहाँ गया था उस समय उन्होंने मेरे विरुद्ध होनेवाले काले झण्डों के प्रदर्शन को भी रोक दिया। अपने महल में उन्होंने मेरा सौजन्यपूर्ण तथा हार्दिक स्वागत किया। बातचीत में उन्होंने कहा कि 'हमारी आपकी लड़ाई सिद्धान्तों की है।'

स्वयंभू सनातनियों का यह अभिमान कि वे ही सनातन सत्य के जानकार हैं, क्यों है? जो उनका दावा है वही दावा मेरा भी है कि मैं सनातन-धर्म का पालन करने की चेष्टा करता हूँ। शास्त्रों की व्याख्या का जितना अधिक या जितना कम अधिकार उनको है उतना ही अधिकार मुझे भी है। मैं यह भी मानता हूँ कि इसी प्रकार शास्त्रों का अर्थ समझने का जितना अधिकार मुझे है, उन्हें भी है। अवश्य ही हमारी और उनकी समझ में,

हमारे और उनके मत में भेद हो सकता है। किन्तु यह भेद तो केवल शास्त्रों की व्याख्या में है। ऐसे भेद हमारे यहाँ सर्वदा रहे हैं।

सनातनियों को यह विश्वास रखना चाहिए कि मैं ज़बरदस्ती किसी के ऊपर अपना मत लादना नहीं चाहता। ज़बरदस्ती बाध्य करने के उपाय में मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है। मैं तो लोगों को अपना मत मनवाने के लिए सत्य सामने रखता हूँ और उनकी बुद्धि तथा उनके हृदय में परिवर्तन करना चाहता हूँ।

उदाहरणार्थ मन्दिर-प्रवेश के ही प्रश्न को लीजिए। अपनी इस यात्रा में मुझे अनेक स्थानों में अनेक मन्दिरों को हरिजनों के लिए उत्साहित तथा जयजयकार करती हुई सहस्रों की संख्या में एकत्र जनता के सामने खोलने का मौक़ा मिला है। मैंने जहाँ भी मन्दिर खोला है वहाँ की हिन्दू जनता में से किसी एक ने भी विरोध नहीं किया है। एक स्थान में जहाँ मुझे मंदिर खोलने के लिए कहा गया था, मैंने यह करना इसी लिए अस्वीकार कर दिया कि वहाँ एक अत्यन्त अल्पसंख्या इस कार्य के विरुद्ध थी। मैंने कहा था कि यह कार्य तभी होना चाहिए जब या तो अल्पसंख्यक भी आपके पक्ष में हो जाय या कम-से-कम बहुमत के मत को कार्य-रूप में परिणत करने के पूर्व काफ़ी समय विचार के लिए दे दिया जाय।

यदि मुझे यह मालूम हो जाय कि कोई एक मन्दिर भी ज़बरदस्ती या लोगों के मत के विरुद्ध खोला गया है तो मैं उस मन्दिर को पुनः हरिजनों के लिए बन्द कर देने को आकाश और पाताल एक कर दूँगा।

मैं यह विश्वास करता हूँ कि प्रत्येक सवर्ण हिन्दू का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह १९३२ में बम्बई में हरिजनों को दिये गये अपने पवित्र वचनों की पूर्ति के लिए सभी उचित उपाय करे। उस वचन में यह बात भी कही गई है कि हरिजनों के सम्बन्ध में आवश्यकता पड़ने पर क़ानून बनवाने का यत्न किया जायगा। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि बहुमत की बात चलाना है तो मन्दिर-प्रवेश-बिल तथा तत्सम दूसरे बिलों का स्वीकार किया जाना नितान्त आवश्यक है। आज के क़ानून के अनुसार एक आदमी के भी विरोध कर देने पर हरिजनों के लिए मन्दिर नहीं खुल सकता। किन्तु इसके साथ ही साथ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि यदि इस बिल के पक्ष में हिन्दुओं का स्पष्ट बहुमत न हो तो मैं इस क़ानून का समर्थन नहीं कर सकता।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सनातनियों के इस विरोध-प्रदर्शन के क्या माने हैं? क्या वे यह चाहते हैं कि मैं अपने मत-प्रकाश के कार्य को भी रोक दूँ? क्या वे यह चाहते हैं कि अस्पृश्यता-सम्बन्धी क़ानूनों के पक्ष में लोकमत जाग्रत करने का कार्य भी मैं छोड़ दूँ और वह भी उस समय जब मैंने स्वयं ही अपने कार्य के सम्बन्ध में अनेक बन्धन लगा लिये हैं जो हमारे साथियों तथा सहकर्मियों को पसन्द नहीं हैं?

बाबू भगवानदास जी और कांग्रेस

काशी के बाबू भगवानदास जी ने 'कांग्रेस किधर?' शीर्षक के अन्दर सहयोगी 'आज' के कई अङ्कों में एक विचारपूर्ण लेख प्रकाशित कराया है। उसका अन्तिम अंश इस प्रकार है—

पण्डित मालवीय जी से जो सफ़ेद काग़ज़ के विरोध के लिए एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के समर्थक हैं, मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि केवल विरोध कर देना पर्याप्त नहीं है। ऐसे विरोधों का समय बीत चुका। अब तो एक निश्चित शासनसुधार-योजना तैयार करने का समय आ पहुँचा है। निषेधात्मक आलोचनाओं का कार्य व्यर्थ है। आवश्यकता है एक विधायक कार्यक्रम की, एक निश्चित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक नीति की।

मौलाना शौकतअली जो यह कहते हैं कि "मैं शान्ति स्थापना के लिए ज़ोरदार प्रयत्न कर रहा हूँ" तथा डाक्टर मुंजे से जिन्हें मैं साहसी नेताओं में से एक मानता हूँ, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप कृपा करके "शान्ति के लिए ज़ोरदार प्रयत्न करना" छोड़कर कोमल प्रयत्न आरम्भ कीजिए। हम उनसे यह भी कहना चाहते हैं

कि उस रहस्यमय शक्ति की प्रेरणा से जो बुराई में से भलाई पैदा कर देती है, आप दोनों ने देश के दो वर्गों में जो जागृति, जो जीवन तथा जो शक्ति पैदा कर दी है, उसके लिए हम लोग आपके कृतज्ञ हैं, किन्तु अब वह समय आ गया है जब इन दोनों विभिन्न समूहों का ध्यान हिन्दूत्व तथा मुसलमानत्व की भावनाओं से हटाकर एक भारतीयत्व की भावना में प्रेरित किया जाय।

श्री श्रीनिवासशास्त्री से जो यह चाहते हैं कि 'श्री हेल्स देश के विभिन्न मतों की जानकारी प्राप्त करके ठीक ठीक बात पार्लामेंट की साधारण सभा में प्रकट करें', मैं यह कहना चाहता हूँ कि तीन गोलमेज़-सम्मेलनों में विभिन्न मतों ने जो किया खूब किया। अब तो यह आवश्यक है कि ये विभिन्न मत एक मत में परिवर्तित कर दिये जायँ और एक शासन-योजना तैयार की जाय जिसके निर्माण में आप अत्यन्त सहायक होंगे।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू से जो यह कहते हैं कि "मैं किसी भी समूह से भारत की वर्तमान तथा भविष्य की अवस्था पर विचार-विनिमय करना चाहता हूँ," मैं यह कहना चाहता हूँ आप आर्थिक कार्यक्रम की योजना तैयार करने में लग जायँ। यह कार्यक्रम पूरी और व्यापक तफ़सील के साथ हो, तथा इस कार्यक्रम में एक ऐसे शासन-विधान का भी ढाँचा रहे जो उनके मत से भारत के सर्वथा अनुकूल हो तथा शीघ्रातिशीघ्र यह योजना भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित करें ताकि लोग विचार करने के बाद संयोजित सर्वदल-सम्मेलन में अपने मत प्रकट कर सकें। यह प्रार्थना ख़ास तौर से पण्डित जवाहरलाल से करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि सम्भवतः अन्य लोगों की योजना उपनिवेशों के शासन-विधानों के आधार पर होगी, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि श्री जवाहरलाल जी की योजना संभवतः सबसे पूर्णरूपेण भिन्न होगी। उनकी यह योजना यदि अतीत से बिलकुल अविच्छिन्न करके बनाई जायगी तो कदाचित् पूर्णतः अव्यवहार्य तथा ख़तरनाक होगी, किन्तु यदि यही योजना इस देश के उत्तमोत्तम परम्परागत भावनाओं से सम्बन्धित बनी तो शायद यह अन्य सब योजनाओं से अधिक लाभप्रद तथा सुन्दर होगी।

उजड़ा हुआ बिहार कैसे बसाया जाय?

बिहार की अवस्था अब भी बड़ी शोचनीय बनी हुई है। वायसराय-फ़ंड और सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी के पास एकत्र धन मिलकर ५० लाख से ऊपर पहुँच चुका है, परन्तु अवस्था देखते हुए यह धन कुछ भी नहीं है। इस सम्बन्ध में बाबू राजेन्द्रप्रसाद का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि बिहार कैसे बसाया जाय? उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

पीड़ितों का कष्ट बड़ा भयानक है। घने स्थानों का साफ़ किया जाना बहुत ज़रूरी है। लोगों को मकान बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ रही है इसलिए किराये पर उठाने के लिए मकान बनाने का तो सवाल ही नहीं उठता। पुराने मकानों के लिए, जो गिर पड़े हैं, नई ज़मीन की आवश्यकता है। मुँगेर तथा मुज़फ़्फ़रपुर इत्यादि शहरों में यदि म्युनिसिपैलिटी, सरकार या ज़मींदार ज़मीन दें तो सेंट्रल रिलीफ़कमेटी जनता के आराम के लिए अर्ध स्थायी मकान बनाने का प्रबंध करेगी। मकानों के लिए ज़्यादा रुपयों की ज़रूरत होगी। एक बहुत मामूली मकान बनाने में कम से कम तीन सौ रुपया लगने का अनुमान है।

अधिकारियों का अनुमान है कि मुँगेर में ६,०००, मुज़फ़्फ़रपुर में १२,०००, छपरा में ८,०००, मोतिहारी में ७,५००, दरभंगा में १३,०००, पटना में १२,०००, भागलपुर में १,३०० तथा पूर्णिया में ४,००० मकान गिरे हैं या गिरने लायक़ हो गये हैं। कुल मकानों की क़ीमत बारह करोड़ रुपये की आँकी जाती है। यदि तीन चौथाई मकानों के स्थानों पर तीन तीन सौ रुपयेवाले मकान बनाये जायँ तो कम से कम ५० लाख रुपये लगेंगे। मेरा ख़याल है कि इससे भी अधिक रुपये की ज़रूरत होगी। शहरों में इस तरह के मकान बनाने के लिए एक करोड़ रुपये की ज़रूरत होगी।

गाँवों की हालत और ख़राब है। गाँवों में मकानों के अतिरिक्त ज़मीन और कुएँ बनवाने तथा साफ़ करवाने की भी ज़रूरत है। फ़सलों को पैदा करने के लिए खेतों से बालू हटाने और उसमें मिट्टी मिलाने की ज़रूरत है। ज़मीन के सुधारने में बालू की गहराई के मुताबिक २० से १२० रुपये तक फ़ी बीघे ख़र्च पड़ेगा। मेरी समझ में इस समय अधिकांश जनता को ज़मीन सुधारने के लिए नौकर रखना ही अकाल-पीड़ितों की मदद का सबसे अच्छा तरीक़ा है। इसमें ज्यादा रुपये ख़र्च पड़ेंगे। फिर भी इस तरह उन्हें रुपया और खाना देकर काम लेने से इस समय एक पंथ दो काज वाली कहावत मशहूर होगी।

ख़बर लगी है कि गिरे हुए मकानों को फिर से बनवाने के लिए सरकार की ओर से क़र्ज़ देने का काम १५ दिन में शुरू हो जायगा। क़र्ज़ देने और लेने के नियम भी बन गये हैं। मगर अभी उस पर भारत-मंत्री की स्वीकृति नहीं हुई है। अभी फ़िलहाल शहर के निवासियों ही को क़र्ज़ दिया जायगा। गाँवों में तक़ावी के रूप में क़र्ज़ देने के संबंध में भी तैयारी की जा रही है। कहा जाता है कि क़र्ज़ के हक़दारों की फ़ेहरिस्त तैयार कर ली गई है। साथ ही क़र्ज़ के लिए बहुत-से लोगों की अर्ज़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सहायता पहुँचाने के लिए रिलीफ़ इंजीनियर तथा सप्लाई आफ़िसर कर्नल टेंपल नियुक्त हो रहे हैं। मिस्टर टेंपल मकान बनाने के लिए ज़रूरी सामान व्यापारियों से सस्ते मूल्य पर दिलाने की कोशिश करेंगे। अधिकारियों का विचार है कि बरसात के पहले मकानों के लिए ज़रूरी सामान मुहय्या कर लिया जाय, ताकि बरसात ख़तम होने के बाद मकान बनवाने का काम शुरू कर दिया जाय।

पूज्य मालवीय जी और 'अभ्युदय'

आज-कल 'अभ्युदय' पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी के सम्पादकत्व में बड़ी धूमधाम से प्रकाशित हो रहा है। तिवारी जी बड़ी ही निर्भीकता और स्वाधीनतापूर्वक उसका सम्पादन कर रहे हैं। यहाँ तक कि वे 'अभ्युदय' के सर्वे सर्वा पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय के मत के विरुद्ध मत प्रकट करने में भी नहीं झिझकते। 'अभ्युदय' की इस नीति के सम्बन्ध में हाल में श्री किशोरीदास वाजपेयी ने मालवीय जी से वार्तालाप किया और उनकी बातों का 'अभ्युदय' की इस स्वाधीन नीति के विरुद्ध आन्दोलन करने में उपयोग किया। परन्तु पंडित कृष्णकान्त मालवीय का कहना है कि स्वतंत्रतापूर्वक अपने मत को प्रकट करने में ही अभ्युदय का सच्चा गौरव है। वे लिखते हैं—

पूज्य मालवीय जी 'अभ्युदय' के जनक हैं। वे उसके सर्वे सर्वा हैं। तिवारी जी 'अभ्युदय' के संपादक हैं। तिवारी जी लिख रहे हैं वह जो मालवीय जी के लिए असहनीय है। पूज्य मालवीय जी का गौरव यह है कि संपादक को यह स्वतंत्रता है कि वह अपने सर्वे सर्वा के मत के विरुद्ध, धीरे से नहीं, ज़ोरों से, अपने मत को प्रकट करे। 'अभ्युदय' और तिवारी जी का गौरव यह है कि वे बिना किसी संकोच के स्वतंत्रतापूर्वक अपने मत को प्रकट करने के लिए सदा आज़ाद हैं। 'अभ्युदय' को सदा से यह गौरव प्राप्त रहा है; और आज भी उसका यह गौरव अक्षुण्ण है।

'अभ्युदय' में जो कुछ निकल रहा है या तिवारी जी जो कुछ लिख रहे हैं, उस सबसे मैं सहमत नहीं हूँ। अगर बहुत-सी बातें मुझे पसंद आती हैं तो कुछ ऐसी भी बातें हो सकती हैं, जिनको मैं पसंद न करूँ; किन्तु उन बातों का मेरे जीवनकाल में यह कभी भी अर्थ नहीं हो सकता कि तिवारी जी या कोई भी 'अभ्युदय' का संपादक वही लिखे, जो मुझे पसंद हो, जो मेरी राय हो, या जो मेरी रुचि के अनुकूल हो। मैं संपादक रह चुका हूँ। संपादक के पद के गौरव की रक्षा का अर्थ क्या है, मैं जानता हूँ। मैंने अपने को कभी बेचा नहीं, ईश्वर की कृपा से, गुरुजनों के स्नेह और आशीर्वाद से, ऐसी समस्यायें मेरे जीवन में उपस्थित नहीं हुईं, और अगर हुईं तो मैं उनका रास्ता भी जानता था। मैंने अपने

मन या अपनी इच्छा के विरुद्ध या पैसों के लिए कभी कुछ लिखा ही नहीं। मेरी यह कामना है कि हिन्दी के संपादकों को ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। कम से कम 'अभ्युदय' के संपादक का सौभाग्य यह हो, 'अभ्युदय' का गौरव यह हो और 'अभ्युदय' हिन्दी ही के नहीं, परन्तु संसार के समस्त पत्रों का इस संबंध में प्रथ-प्रदर्शक हो। वाजपेयी जी को और 'भारत' को इस बात का गर्व होना चाहिए था कि तिवारी जी सदृश संपादक और 'अभ्युदय'-सा पत्र हमारी इस हीन दशा में इस गुलाम-प्रधान देश में मौजूद है।

जात-पाँत क्यों तोड़ी जाय ?

'युगान्तर' के गृहस्थाङ्क में उपर्युक्त शीर्षक के अन्दर एक विचार-पूर्ण सम्पादकीय नोट प्रकाशित हुआ है जिसका एक अंश इस प्रकार है—

जात-पाँत-तोड़क आन्दोलन का मुख्योद्देश लड़कों के लिए लड़कियाँ और लड़कियों के लिए लड़के ढूँढ़ना नहीं। यह तो एक गौण बात है। इस आन्दोलन का मुख्योद्देश तो है रोटी-बेटी के सम्बन्ध-द्वारा उस जन्ममूलक ऊँच-नीच के भाव को दूर करना जिसके कारण हिन्दू-समाज सहस्रों छोटी छोटी टुकड़ियों में बँटा पड़ा है और जिसके कारण हिन्दुओं में समता और भ्रातृ-भाव उत्पन्न नहीं हो पाता। जात-पाँत तोड़ने का दूसरा उद्देश पूर्ण मनुष्य उत्पन्न करना है। एक ही संकीर्ण क्षेत्र में—छोटी-सी तंग बिरादरी के एक ही रक्त में—ब्याह-शादी होते रहने से ब्राह्मण जन्माभिमानी, क्षत्रिय मूर्ख, वैश्य भीरु और शूद्र स्वाभिमान-शून्य दास बन गया है। अनेक पीढ़ियों से एक ही रक्त आने से उनमें विशेष प्रकार की बुराइयाँ पुञ्जीभूत हो गई हैं। जात-पाँत तोड़ कर ब्याह करने से ऐसे मनुष्य पैदा होंगे जिनमें मस्तिष्क ब्राह्मण का होगा, बल क्षत्रिय का, व्यापार-बुद्धि वैश्य की और परिश्रमशक्ति शूद्र की। ऐसे ही मनुष्य को पूर्ण मनुष्य कहा जा सकता है और ऐसा ही मनुष्य समाज के किसी काम का हो सकता है। अपनी ही बिरादरी में गुण-कर्म मिलाते रहने से न तो हिन्दुओं में भ्रातृ-भाव और समता ही आ सकती है और न सर्वाङ्ग-पूर्ण मनुष्य ही पैदा हो सकते हैं। दूसरे, हिन्दू-समाज में जाँत-पाँत-तोड़क विवाहों का प्रचार करने के लिए भी आवश्यक है कि आर्यसमाजी जानबूझ कर उदाहरण क़ायम करें। यदि उनको भी गुण-कर्म केवल अपनी ही बिरादरी में मिल सकते हैं तो फिर आर्यसमाज बनाने का लाभ ही क्या है? सनातनधर्मी भी तो अपनी ही बिरादरी में गुण-कर्म मिलाते हैं। गुण-कर्म को तोलने का तराज़ू भगवान् ने केवल आर्यसमाजियों को ही नहीं दिया है, सनातनियों को भी दिया है। बात तो असल में यह है कि जो आर्यसमाजी जात-पाँत तोड़ने का साहस नहीं रखते वे ही कहा करते हैं कि हम जात तो पूछते ही नहीं। हम तो जहाँ गुण-कर्म मिल जाय वहीं सम्बन्ध करने को तैयार हैं। परन्तु दुनिया जानती है कि ये सब बातें अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए ही हुआ करती हैं।

धर्म का नैतिक पतन

श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार ने 'भारती' में धर्म का नैतिक पतन शीर्षक एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया है कि मानव-समाज की अधिकांश बुराइयों का कारण धर्म का प्रचलित स्वरूप ही है। उनके लेख का एक विचारणीय अंश यह है—

धर्मभीरु लोग एकाएक कह उठते हैं कि धर्म के मिट जाने के बाद समाज, देश अथवा राष्ट्र के नैतिक जीवन की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी? यूरोपियन तथा अन्य राष्ट्रों के पतित सामाजिक जीवन के अतिरंजित चित्र खींच कर यहाँ की भोली-भाली जनता को बहकाया जाता है, मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरियों की भयानक कथायें गढ़ कर यहाँ के ग़रीब लोगों को धर्म के जाल में फँसाये रखने की चेष्टायें की जाती हैं। धर्म के नाम पर सदियों से प्रचलित देवदासी-प्रथा के रहते हुए, मंदिरों पर चढ़ाई जानेवाली बलि के लिए होनेवाली पशु-हत्या के होते हुए, तीर्थों में होनेवाले पाप-व्यभिचार तथा भ्रूणहत्या

को देखते हुए और धर्मजीवी महंतों, पंडों तथा पुरोहितों की पापलीला को सुनते हुए भी धर्म को नैतिक जीवन का संरक्षक कहने से अधिक बड़ी भूल और क्या हो सकती है? जिन स्थानों के नाम से धर्म की जितनी अधिक दुहाई दी जाती है उनमें उतनी ही अधिक पोल दीख पड़ती है। ढोलक की आवाज़ से उसके भीतर का अनुमान लगाने के समान ही धर्म की हिमायत की अवस्था है। हिन्दू-समाज में खाना-पीना और उठना-बैठना तक धर्म का अंग बना हुआ है। इसी से उसका नैतिक पतन भी इतना सर्वतोमुखी हुआ है कि उसके चारों ओर निराशा ही निराशा छाई हुई है।

बच्चों को अफ़ीम

मासिक 'विश्वमित्र' लिखता है—

भारत में बाल-विवाह की प्रथा होने के कारण कारखानों में काम करनेवाली अधिकांश स्त्रियाँ विवाहित होती हैं। इसलिए उन्हें दोहरा काम करना पड़ता है। एक तो घर का काम-काज और दूसरा कारख़ाने का काम। स्त्रियाँ जिस समय काम करने जाती हैं, उस समय अपने बच्चों को घर पर अफ़ीम खिला कर जाती हैं ताकि वे चुपचाप दिन भर सोते रहें। ह्विटले कमीशन के सामने बम्बई की सरकार ने मज़दूरों की दशा के सम्बन्ध में जो मसविदा पेश किया उसमें लिखा है कि ९८ प्रतिशत बच्चों को स्त्रियाँ काम पर जाने के पहले अफ़ीम खिला देती हैं। कुछ स्त्रियाँ अपने बच्चों को पड़ोसियों के सुपुर्द भी कर जाती हैं। इसके बदले में उन्हें कुछ मजूरी देनी पड़ती है। अहमदाबाद और शोलापुर में भी स्त्रियाँ बच्चों को अफ़ीम खिलाती हैं। भारत के दूसरे स्थानों की मजदूर-स्त्रियाँ ऐसा ही करती हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जिन बच्चों को दिन भर गन्दी कोठरियों में रहना पड़ता हो और उन्हें प्रतिदिन अफ़ीम खिलाई जाती हो, उनका स्वास्थ्य बड़े होने पर बिलकुल चौपट हो जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। चाहिए यह कि हर कारखाने में जहाँ स्त्रियाँ काम करती हों, शिशु-पालन का भी प्रबन्ध हो। कारख़ानों के शिशु-गृहों में सुशिक्षित तथा अनुभवी दाइयाँ रखी जाया करें जो बच्चों का पालन किया करें।

बजट-अधिवेशन का सिंहावलोकन

'स्वाधीन भारत' लिखता है—

बड़ी व्यवस्थापक सभा का बजट-अधिवेशन समाप्त हो गया। बजट और उससे सम्बन्ध रखनेवाले बिलों में अर्थ-बिल, वस्त्रसंरक्षकबिल, चीनी के कर-सम्बन्धी बिल, दियासलाई के कर-सम्बन्धी बिल तथा गन्ने के भाव का निर्ख़ क़ायम करनेवाले बिल का प्रमुख रूप से अन्तर्भाव होता है। किन्तु इनमें गन्ने के भाव का निर्ख़ क़ायम करनेवाले बिल के अतिरिक्त एक भी बिल ऐसा नहीं, जिससे ग़रीब कृषिजीवी तथा श्रमजीवी जनता की भलाई हुई हो। डाकख़ाने और रेलगाड़ी के महसूल घटाये जाने के सम्बन्ध में सरकार की ओर से ढिंढोरा पीटा जा रहा है, किन्तु हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि रेल और डाक के महसूल में कमी करने का दिखाव दिखा के दर असल उनमें वृद्धि ही की गई है। इन बातों पर और ख़ास कर डाकमहसूल के सम्बन्ध में व्यवस्थापक में चींचपड़ हुए बिना न रही। किन्तु सरकारी अर्थ-विभाग के कर्णधार सर शुस्टर ने अपने मीठे-मीठे आश्वासनों से विरोध को ठण्डा कर दिया। चीनी और दियासलाई पर कर लगानेवाले बिल का सञ्चालन भी उन्होंने इसी ढङ्ग से किया। दियासलाई-बिल के तीसरे वाचन के समय उन्होंने बजट-अधिवेशन का सिंहावलोकन किया। उसी समय उन्होंने कहा कि "वर्तमान अर्थ-बिल और उससे सम्बन्ध रखनेवाले बिलों के द्वारा भावी फ़ेडरल सरकार की स्थापना की राह के रोड़े हटाये जाकर फ़ेडरल फ़ाइनान्स की नींव डाली गई है। अव्वल तो हमने बङ्गाल की आवश्यकता की पूर्ति करने की ओर पदार्पण किया है और दूसरे चीनी तथा दियासलाई के कर के ज़रिये आयवृद्धि करने का नया मार्ग निकाला है।" हाँ, मार्ग तो ज़रूर निकाला है और ख़ूब निकाला है। पर यह एक ऐसा कुमार्ग निकाला है, जिससे इन

व्यवसायों ही को देश-निकाला होने का भय है। दियासलाई और चीनी के कारखानों के बन्द होने की खबरें हवा में उड़ती उड़ती आ रही हैं। देश के उन्नतिशील व्यवसायों पर कर लगा के किसी प्रान्तविशेष की फ़िज़ूलखर्ची की आवश्यकता की पूर्ति नहीं की जा सकती, और न एक प्रान्त की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए इस तरह दूसरे प्रान्तों के उद्योगों पर करों का बोझा लादना न्यायसंगत है। प्रान्त के लिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक ही मार्ग है, और वह है स्वावलम्बन। अर्थ-बिल की इस ज़हरीली और कड़वी गोली के निगलने में व्यवस्थापक सभा आनाकानी न करे और विरोध का ज़ोर ढीला पड़ जाये, इसी नीयत से गन्ने के भाव का निर्ख़ क़ायम करनेवाले बिल का मीठा पुट उसे दिया गया है। लेकिन उसमें भी कृषकों के हित की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, उतना नहीं दिया गया है। कई सदस्यों ने गन्ने के भाव की कम से कम निर्ख़ की, साथ ही साथ उसके उचित भाव की निर्ख़ भी क़ायम करने की सूचना दी थी, किन्तु उनकी एक भी न चली। वस्त्र-संरक्षक बिल बाहरी रूप से भारतीय मिलों के कपड़े का संरक्षक दिखाई देता है; किन्तु उसमें साम्राज्य के बने माल को इस तरह रियायतें दी गई हैं, और जापान आदि देशों के माल के सम्बन्ध में इस तरह ढीलापन दिखाई देता है कि उसका असली उद्देश असफल होके रक्षक के बदले उसके भक्षक होने का ही अधिक भय है। देशी राज्यसंरक्षण क़ानून तथा ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट को स्थायी बनानेवाले क़ानून का भी सख्त प्रहार इसी दम कर डाला। इन बिलों के ज़रिये अपनी न्यायसंगत शिकायतों को प्रकट कराने की चेष्टा करनेवाले मज़दूरों और देशी राज्य के प्रजाजनों के हाथ-पाँव जकड़ दिये गये हैं। दुःख है कि वर्तमान व्यवस्थापक के सदस्य इस अपमान के कड़वे घूँट को बिना किसी हिचकिचाहट के पी गये। जब कभी व्यवस्थापक का ज़िक्र छिड़ता है तब यह दलील पेश की जाती है कि सरकार-पक्ष का बहुमत है। पर वास्तव में देखा जाय तो व्यवस्थापक के १४४ सदस्यों में कुल ४० ही सरकारी नामज़द सदस्य हैं और १०४ लोकनियुक्त सदस्य। इन सदस्यों में यदि उज्ज्वल देशहित की भावना होती तो यह कभी संभव नहीं था कि सरकार-पक्ष की जीत होती।

नागरी-लिपि में सुधार

नागरी-लिपि के सुधार के सम्बन्ध में दिल्ली के सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ है। उसका मर्म यह है कि नागरी-लिपि में ऐसा सुधार किया जाय कि वह छपने में और शिक्षा देने में और भी अधिक सुविधाजनक हो जाय। इसके लिए एक कमिटी भी नियुक्त की गई है जिसके एक सदस्य रत्नागिरि के श्री विनायक दामोदर सावरकर बैरिस्टर भी बनाये गये हैं। बैरिस्टर सावरकर नागरी-लिपि के सुधार की केवल बातें ही नहीं करते हैं, किन्तु एक निश्चित योजना का वर्षों से व्यवहार भी कर रहे हैं और उनको इस सम्बन्ध में इतना अधिक उत्साह है कि उन्होंने उक्त कमिटी में अपनी नियुक्ति की सम्मेलन से सूचना पाने के पहले से ही अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में २४ अप्रेल के खँडवा के 'स्वराज्य' में एक उपयोगी लेख छपवाया है और अपनी सुधार-योजना के तीन मुख्य सुधारों को कार्य में यथाशीघ्र परिणत करने के लिए ज़ोर दिया है। वे उस लेख में लिखते हैं—

"जो सुधार अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त व्यवहार्य भी हैं, वे केवल तीन ही हैं:—

(१) 'अ' की बाराक्षरी—स्वरों के रूप 'अ' को बाराक्षरी के कानामात्रादि चिह्न देकर सिद्ध किये जायँ। यथा—

अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै अित्यादि।

(२) संयुक्ताक्षर अेक ही नियम से तोड़ कर लिखे जायँ। यथा—

"ल्ल, क्क, क्व, क्त, त्न इत्यादि। अिनके आज जो रूप प्रचलित हैं वे ल्ल, क्क, क्व, क्त, त्न, प्रभृति नियम

बाह्य स्वच्छन्द और विक्षिप्त रूप त्याज्य समझना चाहिए। अिस सुधार से कम-से-कम पचास-साठ स्वतन्त्र संयुक्ताक्षरों और टंकों (Types) को निकाल दिया जा सकता है।

(३) क, फ, और र को इस प्रकार लिखा जाय—
का, फा, ा

(विशेष—छ, द, प्रभृति चोटीवाले अक्षरों को व्यंजन रूप न होने से संयुक्ताक्षरों में अुन्हें हलंत लिखा जाय। जैसे—छद्‌म, पद्‌म, साह्‌य, जाज्‌य, सट्‌टा अित्यादि।)

"नागरी-लिपि में कम-से-कम अितने ३ सुधार किये जायँगे तो वह अँगरेज़ी लिपि के समान ही नहीं किन्तु अुससे भी अधिक शिक्षण-सुलभ और मुद्रण-सुलभ बन जायगी।

"अिससे अधिक सुधार यदि व्यवहार्य हो तो भले ही किये जायँ, परन्तु अूपर दिये हुए तीन सुधार तो अत्यंत अपरिहार्य हैं और साथ-साथ पर्याप्त भी हैं। अिससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि आज महाराष्ट्र में अुनका व्यवहार भी सैकड़ों लोग कर रहे हैं और अुनका परिचय तो बहुधा सर्व सुशिक्षित समाज को हो चुका है।"

हिन्दुओं की विवाह-समस्या

हिन्दू-समाज अपनी वैवाहिक कुरीतियों के कारण भी बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हो गया है। यद्यपि समय समय पर देश के विद्वान् लोग इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते रहते हैं। अभी हाल में बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन में इस विषय पर विद्वद्वर श्री के० ए० पाध्ये ने एक महत्त्वपूर्ण लेख पढ़ा था। उसका मुख्यांश खण्डवा के 'स्वराज्य' में छपा है। पाध्ये जी का कहना है कि सगोत्र-विवाह अनुचित नहीं है। वे लिखते हैं—

जब आर्यों की अनेक बस्तियाँ भारत की पंचनदियों तथा गङ्गा-यमुना के आस-पास फैल गई तब समय के बीतने के साथ, सूत्र-काल में, गोत्र शब्द 'वंशोद्‌भव' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आठ ऋषियों के नाम पर समस्त आर्य-जगत् विभाजित हो गया। समस्त 'ऋषि-संतान' इन आठ कुलों की 'वंशोद्‌भव' बन गई। धीरे-धीरे गोत्रों की संख्या बढ़कर ४९ तक पहुँच गई! आज हिन्दुओं की द्वि-जाति में—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में—जितने भी गोत्र हैं, इन ४९ में संमिलित हैं। हिन्दू-धर्म-शास्त्र का उद्‌गम होते समय 'गोत्र' शब्द को 'वंशोद्‌भव' का अर्थ प्राप्त हो गया। इसी लिए सगोत्र-विवाह निषिद्ध माना गया और ऐसे 'संगम' से होनेवाली संतान 'चण्डाल' कहाने लगी! 'गोत्रों' के साथ 'प्रवर' भी जोड़े जाने लगे। इन प्रवरों का अर्थ है, उस 'गोत्र' के विशेष प्रकाशमान पुरुष! सगोत्र में विवाह की रोक इसी कल्पना पर की गई कि गोत्र का अर्थ 'कुल' होता है। वैदिक-काल में इस प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। उस समय संतान-वृद्धि की आवश्यकता थी। उस समय माता का कम-से-कम 'दश-पुत्रा' होना आवश्यक समझा जाता था। 'वीर-जननी' 'दश-पुत्रा' के न होने से, आर्यों की बढ़नेवाली सत्ता की संरक्षक-सेना कहाँ से पैदा होती?

× × × ×

जब आर्यावर्त का उपनिवेश स्थिर हो चुका तब सूत्र ग्रंथों की रचना हुई। उसी समय सगोत्र-प्रवर के विवाहों की रोक भी हुई। स्वयंवर अथवा प्रीति-विवाह-पद्धति का लोप होता गया। 'स्वयंवर' से गोत्र-प्रवर कौन देखता था? जानकी स्वयंवर में राम-सीता के कुल-गोत्र को किसने मिलाया था? नल-दमयन्ती, कृष्ण-द्रौपदी के स्वयंवरों में किसने लड़के-लड़कियों के 'गोत्र' मिलाये थे?

× × × ×

प्रवर-ऋषियों की संख्या केवल १० है। प्रत्येक कुल के ५ या ३ प्रवर होते हैं! इसका अर्थ है उसके विशेष प्रकाशमान व्यक्तियों का संस्मरण। गोत्रोच्चार के साथ प्रवरोच्चार भी होता है। समान प्रवरों में भी हिन्दुओं का विवाह नहीं हो सकता! क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्र या प्रवर नहीं हैं। उन्हें अपने पुरोहित का

'गोत्र' लगाना पड़ता है। क्षत्रियों को ३ और वैश्यों को २ 'प्रवर' लगाने की अनुज्ञा पौराणिक काल में दी गई है।

× × × ×

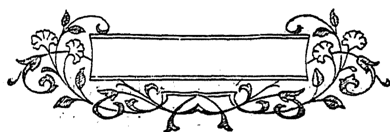
सगोत्र-विवाह से सुप्रजा-जनन में कोई हानि हो सकती है? जब गोत्र का सम्बन्ध अनुवंशिक रक्त से नहीं है तब सगोत्र-विवाह से मनुष्य के शारीरिक अथवा मानसिक विकास में कौन-सी अड़चन हो सकती है? ईसाइयों, मुसलमानों, पार्सियों में विवाह के इतने कड़े बन्धन नहीं हैं, फिर भी उनमें प्रजा-जनन में कुछ हानि हुई है? हिन्दू-धर्म-शास्त्र में अथवा वेद में सगोत्र-विवाह का निषेध नहीं है। मनु इसके खिलाफ़ नहीं है। सुप्रजा-जनन शास्त्र इसके विरुद्ध नहीं है। हिन्दुओं के लिए सगोत्र-निषेध एक अड़चन है जिसे उन्हें मिटा देना चाहिए!

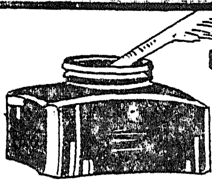
तिल का ताड़

हमारे देश में ज़रा ज़रा-सी बातों को लेकर किस प्रकार भीषण हिन्दू-मुसलिम दङ्गे हो जाते हैं, इस बात को उपर्युक्त शीर्षक में 'अर्जुन' में प्रोफ़ेसर इन्द्र ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से समझाया है। वे लिखते हैं—

तिल का ताड़ कैसे बनाया जाता है, यह उस दिन खारी बावड़ी में प्रकट हो गया। सड़क पर थूकना बुरा है। फिर जिस मार्ग से लोग गुज़रते हों, वहाँ थूकना तो बहुत ही हानिकारक है। एक दूकानदार ने रास्ते की ओर मुँह करके थूक दिया। वह थूक राह-जाते पर पड़ गया। इस पर कहा-सुनी हो गई। कहा-सुनी में गर्म-गर्म बातें कही गईं। इसी पर शोर मच गया कि हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। लाठियाँ ले लेकर लोग भागने लगे। जब लाठियाँ निकल आईं, तो चलने में क्या देर लगती है? सिर फटने लगे। दूकानें बन्द होने लगीं। शहर भर में सनसनी हो गई।

पहले तो रास्ते में थूकना न चाहिए। यदि किसी ने भूल से थूक दिया और दूसरे पर पड़ गया तो थूकनेवाले को उसी समय दुःख प्रकाशित करके क्षमा माँगनी चाहिए और जिस पर पड़ा है उसे क्षमा कर देना चाहिए। इससे अधिक जो कुछ होता है, वह मनुष्यों की अदूरदर्शिता, अहंकार और नासमझी का प्रमाण है। ज़रा-सी बात के बढ़ जाने से कितने व्यक्तियों को हानि पहुँचेगी, और बात बढ़ानेवालों को कहाँ-कहाँ घसीटा जाना पड़ेगा, इस बात पर यदि विचार कर लिया करें तो छोटी-सी बात को हिन्दू-मुसलिम झगड़े का रूप देनेवाले लोग अपने जोश की गाड़ी में ब्रेक लगा दिया करें। अगर कोई भूल हो गई तो उसे न मानना या उसके लिए दुःख प्रकाशित न करना अहंकार का सूचक है। नासमझी और अहंकार का परिणाम यह होता है कि छोटी-सी बात बड़ी बन जाती है, राई की जगह पहाड़ खड़ा हो जाता है और शहर का वातावरण बिगड़ जाता है। यह हमारी अदूरदर्शिता का ही फल है कि दो व्यक्तियों के झगड़े को साम्प्रदायिक रूप दे दिया जाता है। जिन लोगों को यह चाहिए कि झगड़े को शांत कराया जाय, वे लाठियाँ ले लेकर निकल पड़ते हैं; दूकानें बन्द होने लगती हैं और जो शान्त बाज़ार था, वह मूर्खता की नृत्य-भूमि बन जाता है। न जाने हम कब समझेंगे कि हमारे ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण कार्य संसार में हमें उपहास्य बनाते हैं।





सम्पादकीय नोट

महात्मा गान्धी का सबसे बड़ा बुद्धिमानी का कार्य

महात्मा गान्धी ने अपने महत्त्व का परिचय अवसर आने पर अवश्य दिया है। उस दिन पटना से उन्होंने अपना जो वक्तव्य प्रकाशित किया है वह उनके ऐसे ही महत्त्व का सूचक है। सत्याग्रह स्थगित करके उन्होंने इस अवसर पर अपने देश की अमूल्य सेवा की है और कांग्रेस को अनैक्य का रंगमंच बन जाने से बाल बाल बचा लिया है। यही नहीं, उनके इस साहस के कार्य से कांग्रेस में नवजीवन का सञ्चार होगा और क्रियाशील होकर वह इस बार अपनी विशेष शक्ति का परिचय भी देगी। और यह सब महात्मा जी की सत्यनिष्ठा के प्रसाद से होगा। निस्सन्देह ऐसे महान् नेता को पाकर आज भारत धन्य है—उसकी चतुर्मुखी उन्नति हो रही है। क्यों न हो महात्मा जी भारत की एक अनुपम विभूति हैं। उन्होंने आर्यों के एक-मात्र धर्म 'सत्य' का जो आग्रह किया है उससे पुराण-वर्णित हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर की कथायें ऐतिहासिक तथ्य का रूप धारण करती हैं। महात्मा जी भारत के ऐसे ही लोकनेता हैं और 'सत्याग्रह' को स्थगित करके उन्होंने सर्वथा अपने अनुरूप ही कार्य किया है।

परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि उनकी इस घोषणा से कांग्रेसवादियों में मतभेद उपस्थित हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि इस मतभेद कांग्रेस के वे कुछ लोग भी शिकार हुए हैं जिन्होंने सत्याग्रह-काल में महत्त्वपूर्ण त्याग किया है। जो लोग प्रारम्भ से ही सत्याग्रह से विलग रहे और कांग्रेसवादी होते हुए भी अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाते रहे हैं यदि वे कांग्रेस या उसके प्रमुख नेताओं की खिल्ली उड़ाते हैं तो वे वैसी ढिठाई कर सकते हैं, क्योंकि वे सदैव वाक्शूर रहे हैं। और अब जब कांग्रेसवादी कौंसिलों में जाना चाहते हैं तब वे भी इस डर से कि कांग्रेसवालों के आगे वे असेम्बली या कौंसिलों में नहीं भेजे जायँगे, कांग्रेस और महात्मा जी को आँखें दिखा रहे हैं। चाहिए तो यह था कि एक ईमानदार कांग्रेसवादी की तरह वे अपना संगठन भंग करके स्वराज्यदल में मिल जाते और इस तरह वाक्शूरता छोड़ क्रियाशूरता दिखलाते। परन्तु वे यह सब नहीं करना चाहते और तू तू-मैं मैं का सिनेमा दिखलाते रहकर जनता को अपने को जीवित रहने का पता देते रहना चाहते हैं। अब रही सत्याग्रहियों के विरोध की बात सो चिन्ता का विषय है, ऐसी दशा में उनका क्षुब्ध या क्रुद्ध होना सर्वथा स्वाभाविक है। तो भी हमारे इन प्रमुख कार्यकर्ताओं को इस तरह विरोधभाव प्रकट करना उचित नहीं है। उनको अपने दूसरे प्रमुख नेताओं का-सा ही व्यवहार करना चाहिए, जो चुप रह कर महात्मा जी का इस अवसर पर अपने मानसिक उद्वेगों को दबाकर पूरा साथ दे रहे हैं। वे जानते हैं कि महात्मा जी ने यह कार्य भी देशहित को ही अपने सामने रख कर उठाया है और निस्सन्देह इससे देश का हित ही होगा। इस बार स्वराज्यदल असेम्बली और कौंसिलों में जाकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करने में समर्थ होगा, क्योंकि उसके पीछे महात्मा गान्धी का बल रहेगा। इस तरह कुछ कांग्रेसवादियों को उनकी रुचि के अनुसार कार्य में नियुक्त कर गान्धी जी असहयोगी कांग्रेसवादियों को अलग रखकर उनकी सम्मति के अनुसार ही स्वराज्यप्राप्ति का कार्य करेंगे। तब उनके इन प्रमुख अनुयायियों को आकुल तथा चपल होने की क्या आवश्यकता है? उन्हें समझना चाहिए कि यदि महात्मा जी ने यह घोषणा न की होती तो आज एक ज़माने के बाद देश में जो यह राजनैतिक चहल-पहल दिखाई देने लगी है, क्या सम्भव थी? इसी के उत्तर में महात्मा जी की महत्ता निहित है।

अखिल भारतवर्षीय उर्दू-कान्फ़रेंस

संयुक्त-प्रान्त विशुद्ध हिन्दी-भाषी प्रान्त है। परन्तु यहाँ के सरकारी दफ़्तरों और कचहरियों में एक-मात्र उर्दू-भाषा और उसकी लिपि का ही राज्य है। इससे हिन्दुओं को, साथ ही अशिक्षित, मुसलमानों को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर्षों के आवेदन-निवेदन के बाद सरकार ने किसी नगण्य अंश में अपने दफ़्तरों और कचहरियों में हिन्दी-लिपि को भी स्थान प्रदान किया है, पर कुछ कारणों से सरकार का उक्त परिमित आदेश भी कार्य में परिणत नहीं हो पाता है। तथापि हिन्दू अपनी कठिनाई के सम्बन्ध में सरकार से आवेदन-निवेदन करने से विरत नहीं होते और अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने दिल्ली के सम्मेलन में दिल्ली-प्रान्त की सरकारी कचहरियों में हिन्दी को भी स्थान देने का प्रस्ताव पास कर दिया। परन्तु यह प्रस्ताव दिल्ली के मुसलमानों को इतना अखर गया कि उन्हें उर्दू की 'रक्षा' के लिए सर्व भारतीय उर्दू-सम्मेलन नाम की एक नई संस्था तक की स्थापना करनी पड़ी। इसका जो सम्मेलन हाल में दिल्ली में हुआ था उसके सभापति होती के नवाब बनाये गये थे। इस सम्मेलन में असेम्बली के कतिपय मुसलमान सदस्यों ने प्रमुख भाग लिया था और सभी ने एक-स्वर से हिन्दुओं की उक्त माँग को उनकी बेजा हरकत घोषित किया। सभापति महोदय ने इस अवसर पर जो भाषण किया है उसके पढ़ने से जान पड़ता है कि मुसलमान हिन्दुओं के हिन्दी-प्रेम को मुसलमान-द्रोह समझते हैं।

सभापति आनरेबुल नवाब सर मोहम्मद अकबरख़ाँ ने अपने सभापति के आसन से ग़ुस्से में यहाँ तक कह डाला कि—

"मैं बतलाना चाहता हूँ कि उर्दू-लिपि तुर्की, अरबी से मिलती हुई है और इससे मुसलमानों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि यदि इसको बदला गया तो इसका प्रभाव फ़ारसी और अरबी लिपि पर पड़ेगा और क़ुरान मजीद के हरूफ़ पर पड़ेगा। इस प्रकार हिन्दू-जाति एक मुरदा ज़बान संस्कृत की लिपि को जारी करने के लिए सरहदी क़ौम को अपना शत्रु बना लेगी और अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान और मध्य-एशिया की जातियों को और मिस्र, अफ़रीका, श्याम और फ़िलिस्तीन तथा इराक़ और हजाज आदि के अरबी बोलनेवाले मुसलमानों को हिन्दू-जाति अपना शत्रु बना लेगी और जो लाखों हिन्दू व्यापार के लिए हर देशों में बसते हैं वे ख़तरे में पड़ जायँगे, क्योंकि मुसलमान क़ुरान मजीद के हरूफ़ और अहादीस नबवी के हरूफ़ों को बदल कर संस्कृत-लिपि का रवाज देना कदापि पसन्द न करेंगे।

"हिन्दुओं को मालूम है कि राजपाल की एक गुस्ताख़ानी किताब से नाराज़ होकर सरहदी जातियों ने वहाँ आबाद हिन्दुओं को, जो व्यापार करते हैं, आज्ञा दे दी थी कि वे यहाँ से निकल जायँ। यद्यपि राजपाल की घटना केवल लाहौर में हुई थी और उर्दू, फ़ारसी, अरबी तथा तुरकी लिपि का फ़ैसला तो सारे मुसलमानों का है और वे सबके सब नाराज़ हो जायँगे।"

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार चाहनेवाले हिन्दुओं को इस प्रकार धमकाने की ज़रूरत नहीं थी। उर्दू, फ़ारसी या अरबी लिपि यदि इस युग में काम दे सकती तो कमालपाशा को तुर्की से उसे उठाने की क्यों सूझती? भारत की उन्नति के लिए प्रथम आवश्यक बात यह है कि सारे देश की राष्ट्रभाषा एक हो और लिपि भी एक ही हो। अब तक भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही इस योग्य समझी गई है। यदि हिन्दी इस योग्य नहीं है तो इसके लिए नवाब साहब को क्रोध के बजाय कुछ तर्क उपस्थित करने चाहिए। हिन्दी के प्रश्न को हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न बनाना कदापि उचित नहीं है। और हिन्दी-लिपि के प्रचार का यह अर्थ भी नहीं है कि क़ुरान आदि भी हिन्दी में लिखे जायँ। देश की सब भाषायें अपनी लिपि और अपना साहित्य सुरक्षित रखते हुए भी हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय का साधन उसी प्रकार बना सकती हैं जैसे इस समय अँगरेज़ी को बनाये हुए हैं। नवाब साहब को जब अँगरेज़ी से चिढ़ नहीं है तब हिन्दी से क्यों है, यह समझ में नहीं आता।

यहाँ इस सम्बन्ध में हमें हिन्दुओं से सिर्फ़ इतना ही कहना है कि वे उक्त उर्दू-सम्मेलन की कार्यवाही को ध्यान-पूर्वक पढ़ कर अपनी अवस्था पर विचार करें और यदि उनमें पुरुषार्थ हो तो अपनी मातृ-भाषा की क़द्र करना सीखें। यहाँ हम अपने उन मुसलमान बन्धुओं से भी यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि इस तरह की धमकियों का वज़न हिन्दू लोग भले प्रकार जानते हैं और वे अपनी मातृ-भाषा की उन्नति उतनी ही दृढ़ता के साथ करेंगे जितनी दृढ़ता से कोई भी जीवित जाति अपनी मातृभाषा की करती है। उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है और मुसलमानों की साम्प्रदायिक संकीर्णता उसे उसके स्थान से अब पदच्युत नहीं कर सकती।

भारतीय प्रजा और डाकुओं का उत्पात

उत्तर-भारत विशेष कर बंगाल में सशस्त्र डकैतियां की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। आये दिन समाचार-पत्रों में कहीं न कहीं सशस्त्र डाका पड़ जाने की ख़बर पढ़ने को अवश्य मिल जाती है। ऐसे डाकों में जिनके यहाँ डाका पड़ता है वे लोग निरस्त्र होने के कारण बुरी तरह मारे जाते हैं और कभी कभी तो धन-जन दोनों का सफ़ाया हो जाता है। सरकार की पुलिस पहुँचती है, पर साँप की घिसलन पीटने। सशस्त्र डाकू शेर की तरह आ टूटते हैं और निश्शस्त्र कर दी गई सरकारी रियाआ को लूटते मारते रहते हैं। प्रजाजनों को आत्मरक्षा के साधनों से वञ्चित करके सरकार ने उसे पंगु बना दिया है। यदि सरकार उसकी रक्षा करने में असमर्थ है तो उसे अब अपनी भूल का परिशोध करना चाहिए और उसे ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि प्रत्येक गाँव में कम से कम दस-बीस आदमी बन्दूक़ रखने के अधिकारी समझे जायँ जो उनका उपयोग ऐसे अवसरों पर किया करें। सरकार ने डकैतों का दमन करने के लिए संयुक्त-प्रान्तों में विशेष पुलिस की योजना की थी और उसने डाकुओं के कई बड़े बड़े दलों को ध्वंस भी किया, परन्तु डाकू रक्तबीज की तरह बढ़ते ही जा रहे हैं। अपनी प्रबल और प्रवीण पुलिस के द्वारा सरकार ने अपने भरसक इन डाकुओं का विनाश करने में कुछ उठा नहीं रक्खा, पर वह असफल हुई और यह बात दिन दिन आवश्यक होती जाती है कि सरकार अपने उपयुक्त प्रजाजनों को आत्मरक्षा के साधनों से युक्त रहने का पूर्ण अधिकार प्रदान करे। लोकनेताओं का भी यह धर्म है कि वे सरकार का ध्यान इस अवस्था की ओर आकृष्ट करें और प्रजावर्ग में से प्रत्येक गाँव में उपयुक्त व्यक्तियों के सशस्त्र कर देने के लिए ज़ोर डालें। जब तक यह या ऐसी ही कोई दूसरी योजना काम में नहीं लाई जायगी तब तक निःशस्त्र प्रजा इन दुर्धर्ष डाकुओं की शिकार ही बनी रहेगी।

तिब्बत की राजनीति

दलाई लामा की मृत्यु से तिब्बत में काफ़ी राजनैतिक हलचल हो रही है। जान पड़ता है कि वहाँ के अस्थायी राज्याधिकारियों से प्रमुख लामाओं का मनोमालिन्य हो गया है और ये लोग अपनी ही प्रतिपत्ति क़ायम करना चाहते हैं। परन्तु शासन-सूत्र इनके हाथ में न होने से ये लोग चञ्चल हो उठे हैं। पुरानी रीति के अनुसार तो दलाई लामा के अभाव में ताशी लामा को दलाई लामा के प्रतिनिधि-रूप में तिब्बत का शासन-भार ग्रहण करना चाहिए था। परन्तु ताशी लामा का स्वर्गीय दलाई लामा से मनमुटाव हो गया था और वे अपने प्राण लेकर चीन भाग गये थे और वे वर्षों से वहीं रह रहे हैं। इधर जब दलाई लामा की मृत्यु हो गई तब उनकी अनुपस्थिति में राज्याधिकारियों की एक कौंसिल ने तिब्बत का शासन-भार अपने हाथ में ले लिया है और उसने ताशी लामा को तिब्बत बुलाया है। कहा जाता है कि ताशी लामा पर चीन की राष्ट्रीय सरकार का प्रभाव है और वे तथा उनके तिब्बतस्थ अनुयायी इस बात के पक्ष में हैं कि पहले की भाँति चीन का राज्याधिकार तिब्बत पर फिर स्थापित हो जाय। इधर अनेक तिब्बती सरदार इस व्यवस्था के विरुद्ध हैं और वे नहीं चाहते कि तिब्बत चीन की अधीनता में रहे। इस तरह की जो ख़बरें

समाचार-पत्रों में छप रही हैं वे भले ही सच न हों, पर यह अवश्य सच है कि वहाँ राजनैतिक चहल-पहल ज़रूर है और ताशी लामा के आने पर ही प्रकट होगा कि ऊँट किस करवट बैठता है।

मुसलमानों की गतिविधि

मुसलमानी राज्यों में, जान पड़ता है, तुर्की और फ़ारस में काफ़ी से अधिक घनिष्ठता बढ़ गई है, अन्यथा ईरान के वर्तमान शाह रज़ाशाह पहलवी तुर्की के राष्ट्रपति गाज़ी मुस्तफ़ा कमाल पाशा से भेंट करने अंगोरा जाने की घोषणा न करते। इन दो मुसलमान वीर शासकों का यह सम्मिलन विशेष राजनैतिक महत्त्व रखता है, इसी से ब्रिटिश पार्लियामेंट में इसकी चर्चा भी हुई। आश्चर्य नहीं कि इसके बाद भविष्य में अन्य मुसलमान शासक भी एक दूसरे से भेंट-मुलाकात कर आपस में मेल-जोल बढ़ावें। वर्तमान समय के प्रायः सभी मुसलमान शासक पर्याप्त बुद्धिमान्, राजनीतिनिपुण और व्यक्तिगत रूप से अनुभवी योद्धा भी हैं। ऐसी दशा में यदि इनमें शान्ति-मूलक समझौता हो जाय तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी। यह सच है कि नेज्द और हेजाज के सुलतान ने यमन के अमीर पर चढ़ाई करके उसे बुरी तरह परास्त कर दिया है और उसके राज्य के एक विशेष अंश पर अधिकार भी कर लिया है। नेज्द के सुलतान अरब-प्रायद्वीप के एकमात्र प्रधान शासक हो जाना चाहते हैं। परन्तु उनके देश की यह लड़ाई उपर्युक्त समझौते के मार्ग में बाधक होने की अपेक्षा उत्साहवर्द्धक ही होगी। भगवान् करे, मुसलमान शासकों में ऐसा पारस्परिक मेल-जोल बढ़ जाय कि वह एशिया के पश्चिमी भाग के लिए शान्तमूलक तथा मंगलप्रद सिद्ध हो।

योरप की राजनीतिज्ञता

योरप के राजनीतिज्ञों के समक्ष एक बार फिर नाज़ुक अवस्था आ उपस्थित हुई है और यदि इस बार भी वे अपने प्रयत्न में सफलमनोरथ हो गये तो भविष्य के इतिहास में उनका यह कार्य भी महत्त्वपूर्ण गिना जायगा। जिस राष्ट्रसंघ से जर्मनी और जापान अलग हो गये हैं और जिसके रूस और संयुक्तराज्य सदस्य नहीं है, साथ ही जो निःशस्त्रीकरण की समस्या को इतने परिश्रम के बाद भी हल नहीं कर सका, बिना किसी तरह की अधीरता तथा उत्साहहीनता के उसी को विश्व-शान्ति का एकमात्र साधन मानते रहना तथा दृढ़ बनाये रखने के लिए सतत परिश्रम करते जाना योरप के राजनीतिज्ञों के लिए गौरव-वर्द्धक ही माना जायगा। वास्तव में राष्ट्र-संघ की रक्षा में ही विश्व-शान्ति की रक्षा है और इस बात को जब तक वहाँ के राजनीतिज्ञ अपनी दृष्टि से बाहर नहीं जाने देंगे तब तक कम से कम योरप में विश्वव्यापी युद्ध नहीं छिड़ेगा। और ऐसा दृष्टिकोण रखने के ही कारण समय समय पर ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और इटली एक दूसरे से मतभेद रखते हुए भी राष्ट्र-संघ की रक्षा के लिए आगे आ जाते हैं। इधर जापान और जर्मनी के उससे अलग हो जाने के कारण उसके महत्त्व को कुछ ठेस पहुँच गई थी। परन्तु अब जब उनके प्रयत्न से रूस उसका सदस्य हो जायगा तथा संयुक्तराज्य भी उससे सहयोग रखने में अधिक दिलचस्पी रक्खेगा तब उसका महत्त्व पूर्ववत् फिर स्थापित हो जायगा, यही नहीं, जापान और जर्मनी भी उससे अधिक समय तक अलग नहीं रह सकेंगे। योरप क्या, संसार के ये भाग्य-विधाता भीतर ही भीतर ऐसा ही महत्त्व का कार्य सम्पन्न करने में लगे हुए हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि इस समय योरप में राष्ट्रीयता की अधिक प्रबलता है और जर्मनी में तो वह सीमा को भी लाँघ गई है। यह उसी का प्रभाव है कि वहाँ से विशुद्ध जर्मन जातीयता ने व्यापक रूप धारण कर लिया है, यहाँ तक कि सदियों के निवासी जर्मन यहूदियों को अपने प्राण लेकर दूसरे देशों में भाग जाना पड़ा है। इसके सिवा वहाँ इस समय जो राष्ट्रीय संगठन हो रहा है तथा वर्सेलीज़ के सन्धि-पत्र के प्रतिबन्धों की अवहेलना की जा रही है एवं शस्त्रास्त्रों आदि में समानता की माँग की जा रही है, यह सब भी उसी प्रबल राष्ट्रीय भावना का

ही परिणाम है। परन्तु विजयी राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने इस सम्बन्ध में जो धैर्य प्रदर्शित किया है वह भी कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। जान तो यह पड़ता है कि जर्मनी के साथ भी वे कोई ऐसा समझौता कर लेंगे जिससे जर्मनी को अपनी उन्नति करने में किसी तरह की कठिनाई नहीं भोगनी पड़ेगी। निस्सन्देह जर्मनी की हिटलरशाही में जर्मनराष्ट्र का संकुचित राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही संगठन हो रहा है। परन्तु जर्मनी को अपनी क्षमता का ज्ञान है और वह भूलकर भी ऐसा कोई कार्य न करेगा, जिससे युद्ध का छिड़ जाना अनिवार्य हो जायगा। यद्यपि फ़्रांस को अभी तक उस पर विश्वास नहीं है, तथापि ब्रिटेन और इटली ने उसका विश्वास करके फ़्रांस के लिए मार्ग साफ़ कर दिया है। और जब ब्रिटेन और इटली जर्मनी से समझौता करने को तैयार हो जायँगे तब फ़्रांस उनसे अलग नहीं रह सकेगा। कहा जा सकता है कि रूस राष्ट्र-संघ का सदस्य इसलिए बनाया जा रहा है कि ऐसे अवसर पर फ़्रांस अकेला न रह जाय। परन्तु यह तो तभी ठीक होता जब फ़्रांस और रूस भी युद्ध के लिए लालायित होते। वास्तव में इस समय योरप के सभी राष्ट्र शान्ति चाहते हैं, परन्तु एक दूसरे का विश्वास न होने के कारण युद्ध आ उपस्थित होने के लिए पहले से तैयार भी रहना चाहते हैं, जो सुरक्षा के विचार से सर्वथा उचित ही है। और यदि इस अवसर पर इनका परस्पर कोई समझौता काम चलाऊ ही सही—हो जायगा तो विश्वव्यापी युद्ध की सम्भावना दूर हो जायगी।

यद्यपि इस समय अवस्था पहले जैसी ही है और प्रायः सभी राष्ट्र—यहाँ तक कि वे भी जिन्हें सन्धियों के अनुसार सैनिक तैयारी करने का अधिकार नहीं है—एक प्रकार से खुल्लमखुल्ला सैनिक तैयारी कर रहे हैं। और इनमें पराजित जर्मनी का सैनिक तैयारी करना तो फ़्रांस को किसी तरह स्वीकार नहीं है, यहाँ तक कि उसने निश्शस्त्रीकरण-सम्बन्धी ब्रिटेन के प्रस्तावों को भी अस्वीकार कर दिया है। तो भी शान्ति के इच्छुक राजनीतिज्ञ अपने प्रयत्न में धीरता के साथ लगे हुए हैं और यह उनके लिए गौरववर्द्धक ही है।

जापान का मनोभाव

योरप की अपेक्षा प्रशान्त महासागर अधिकाधिक आशंका का स्थल होता जा रहा है। पिछले दिनों जापान की उद्दण्डता से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खलबली मच गई थी और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उसका रूस से अवश्य युद्ध होगा। परन्तु जापान ने, जान पड़ता है, उस समय भीतर ही भीतर रूस से और संयुक्तराज्यों से भी अपनी सफ़ाई कर ली थी। संयुक्तराज्य के वैदेशिक विभाग ने तो इस मर्म का एक वक्तव्य भी प्रकाशित किया था कि उसका जापान से पूर्ववत् मैत्रीभाव है। परन्तु अभी हाल में जापान ने यह घोषित किया है कि जापान एशिया के उस भाग की शान्ति का ज़िम्मेदार है और चीन के मामले में किसी भी विदेशी राष्ट्र का हस्तक्षेप वह नहीं सहन कर सकेगा। जापान की यह घोषणा एक हिसाब से न्यायपूर्ण भी है, क्योंकि चीन में गृह-युद्ध एक ज़माने से छिड़ा हुआ है और यदि वहाँ के विद्रोही प्रान्तीय शासकों को विदेशों से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त होते रहेंगे तो चीन में कभी शान्ति की स्थापना न हो सकेगी। परन्तु जापान की यह सदिच्छा न तो चीन को स्वीकार होगी, न विदेशी शक्ति-शाली राष्ट्रों को ही। अतएव इस सम्बन्ध में जो अनिवार्य संघर्ष होगा उससे या तो जापान एशिया के उस अंचल का सर्वेसर्वा हो जायगा या उसका पराभव होगा। बात यह है कि जापान इस समय इतना उन्नत हो गया है कि संसार के दूसरे चोटी के उन्नत राष्ट्र उसके आगे हतप्रभ-सा हो रहे हैं, और वे अपना महत्त्व पूर्ववत् बनाये रखने के लिए अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रक्खेंगे। इस दृष्टि से भविष्य संकट-पूर्ण ही दिखाई देता है।

परन्तु जापान की यह नई नीति योरप के उन राष्ट्रों को कैसे मान्य होगी जिनका चीन से एक ज़माने से सम्बन्ध है और जो उसके साथ अपने इच्छानुसार मित्रता या शत्रुता का व्यवहार बराबर करते आ रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि जापान उनके स्वेच्छाचार में हस्तक्षेप करेगा तब परस्पर संघर्ष हो जाना अनिवार्य हो जायगा। यही सब देख सुनकर इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने अपने

हाल के एक लेख में यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया है कि जापान का रूस से अवश्य युद्ध होगा, जिसमें बाद को संयुक्तराज्य, ग्रेटब्रिटेन और इटली को भी शामिल होना पड़ेगा। और चीन इस युद्ध में जापान के पक्ष में लड़ेगा। यह भी कहा जाता है कि चीन की राष्ट्रीय सरकार के राष्ट्रपति च्यांग-कै-शेक इस समय जापान के प्रति अधिकाधिक अनुराग प्रकट कर रहे हैं। जब इस तरह की बातें योरप के एक समुन्नत राष्ट्र का अधिकारी कह रहा है तब यह निराधार नहीं हो सकती। इसके सिवा जब से जापान राष्ट्रसंघ से अलग हुआ है तब से उसके तेवर बदले हुए ही दिखाई दे रहे हैं। इधर ग्रेट-ब्रिटेन आदि उसकी मंचूरिया-लीला से असन्तुष्ट थे ही, अब इस नई घोषणा को सुनकर तिलमिला उठे हैं। आश्चर्य नहीं कि यह अवस्था उग्र रूप धारण कर जाय और संसार को एक बार फिर संसारव्यापी युद्ध का सामना करना पड़ जाय।

हिटलरशाही के सम्बन्ध में

जर्मनी की हिटलरशाही की यदि कहीं प्रशंसा, कहीं विरोध तो कहीं निन्दा हो रही है। परन्तु जर्मनी को इनमें से किसी की परवा नहीं है। हिटलर ने जर्मनों को इस समय अपनी मुट्ठी में कर लिया है और वह उनका आराध्य देव हो गया है। परन्तु फ्रांस और उसके साथियों को वह फूटी आँख नहीं सुहाता। यही क्यों, स्वयं उसके सजातीय आस्ट्रिया के जर्मन तक उसके विरोधी हो गये हैं। परन्तु वह बेधड़क अपनी राह चला जा रहा है। तथापि राष्ट्रों का, विशेष कर निरपेक्ष राष्ट्रों का उसके प्रति क्या वास्तविक भाव है, इसका एक ताज़ा उदाहरण अभी अभी मिला है।

न्यूयार्क में एक सभा हुई है। उसमें बीस हज़ार की जनता एकत्र हुई थी। उस सभा में उपस्थित जनता के समक्ष जर्मनी की हिटलरशाही पर यह अभियोग लगाया था कि वह 'सभ्यता के विरुद्ध अपराध' है। इस अभियोग को प्रमाणित करने को संयुक्त-राज्यों के बड़े बड़े उच्चाधिकारियों और न्यायाधीशों ने भाग लिया था। अपना पक्ष समर्थन करने के लिए वहाँ के जर्मन राजदूत भी बुलाये गये थे, पर वे नहीं आये। उपस्थित जनता ने वक्ताओं की दलीलें सुनकर वोट देकर अभियोग की पुष्टि की। केवल एक स्त्री ने विपक्ष में वोट दिया था। इस अवसर पर न्यूयार्क-राज्य के भूतपूर्व गवर्नर अलस्मिथ ने तो यहाँ तक कहा है कि हिटलर ने जर्मन-राज्य को कन्दरावासी लोगों के युग को पहुँचा दिया है और वहाँ लड़कों को यह शिक्षा दी जाती है कि वे अपने से भिन्नधर्मी को घृणा से देखें। जर्मन-राजदूत ने इस सभा का होना रुकवाने के लिए प्रयत्न भी किया, पर अधिकारियों ने भाषण-स्वतन्त्र की बुनियाद पर हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। हिटलरशाही के प्रति पाश्चात्य देशों का कैसा लोकमत है, इस उदाहरण से अवस्था पर ख़ासा प्रकाश पड़ता है और साथ ही यह भी प्रकट होता है कि योरप के आगे एक असाधारण समस्या उपस्थित है। इस अवस्था की पुष्टि इस बात से भी होती है कि जापान निर्भयता के साथ अपनी शक्ति बढ़ाये चला जा रहा है। वह जानता है कि योरप में इस समय अविश्वास का भाव बहुत बढ़ा हुआ है, अतएव वह उनके मार्ग में बाधक होने में समर्थ नहीं होगा, अन्यथा जापान की क्या मजाल थी कि वह मंचूरिया पर क़ब्ज़ा कर लेता और आज यह घोषित करता कि चीन में कोई विदेशी राष्ट्र अस्त्र-शस्त्र न बेच सकेगा और न विदेशी आकर चीनियों को सैनिक शिक्षा ही दे सकेंगे। वस्तुतः इस समय एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर जापान अपनी मनमानी कर गुज़रने से बाज़ नहीं आ रहे हैं। परन्तु इन दोनों को कब तक तरह दी जायगी? चाहे जो हो, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत डाँवा-डोल होती दिखाई दे रही है।

दक्षिण-भारत का हिन्दी-प्रेमी यात्री-दल

दक्षिण-भारत के हिन्दी-प्रेमियों का एक दल हिन्दी-भाषी प्रान्तों के भिन्न भिन्न केन्द्रों का भ्रमण करता हुआ प्रयागराज में भी यथासमय आया और अन्य स्थानों की

भाँति यहाँ भी इसका उपयुक्त स्वागत-सत्कार किया गया। दक्षिण के ये हिन्दी-प्रचारक हिन्दी-प्रचार का जो महत् कार्य दक्षिण में कर रहे हैं, आशा है, उसकी ओर हिन्दी-भाषी प्रान्तों के हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान अब विशेषरूप से आकृष्ट होगा और वे व्रजभाषा तथा उर्दू के संकुचित द्वन्द्व-क्षेत्र से निकल कर राष्ट्रभाषा के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करेंगे और उसके महत्त्व का अनुभव करेंगे। प्रयागराज में 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने उक्त दल के स्वागत-सत्कार की जो सभा की थी, उसमें राइट आनरेबुल सर तेजबहादुर सप्रू ने भी भाग लिया था और उन्होंने सभापति की हैसियत से श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के इस कथन का कि हिन्दी और उर्दू मिलने के मार्ग पर अग्रसर हो रही हैं, खण्डन करके उर्दू और हिन्दी का प्रश्न उठाया था। सप्रू महोदय उर्दू और फ़ारसी के अनन्य भक्त हैं और वे उन भाषाओं के ग्रन्थ नित्य पढ़ते भी रहते हैं। यदि उर्दू के साथ ही १०-१५ मिनट का समय हिन्दी को भी पढ़ते रहने के लिए उन्होंने निर्दिष्ट किया होता तो टंडन जी का उस तरह विरोध कदापि न करते। सप्रू महोदय को यह जान लेना चाहिए कि हिन्दी ने अपने गत ३० वर्ष के जीवन-काल में उर्दू से बराबर सहयोग किया है और उसके सामयिक पत्रों में उर्दू की रचनाओं का सदैव आदरपूर्ण चर्चा रही है। परन्तु क्या कभी उर्दूवालों ने भी ऐसा किया है? यदि उर्दूवालों ने हिन्दीवालों की अपेक्षा अपना आधा हाथ भी उनकी ओर बढ़ाया होता तो सप्रू साहब को आज इस तरह शिकायत करने का मौक़ा क्यों मिलता? ख़ैर, हिन्दीवालों को अब दक्षिण के राष्ट्रभाषा के प्रचारकों की असाधारण सहायता प्राप्त हुई है और उन्हें कार्य करने को विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होगया है। दक्षिण के इस प्रबल सहयोग से हिन्दी के क्षेत्र से उर्दू या व्रज-भाषा के संकुचित दृष्टिकोण अपने आप दूर हो जायँगे। हम यहाँ अपने दाक्षिणात्य हिन्दी-प्रेमियों का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि राष्ट्र-भाषा का उनके सहयोग से अब सरलता से व्यापक प्रचार हो जायगा। उनकी इस टोली का उत्तर-भारत के साहित्यिकों ने जिस प्रेम-भाव से आदर-सत्कार किया है उससे राष्ट्र-भाषा का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। हमें विश्वास है कि भविष्य में ऐसी साहित्यिक टोलियाँ भारत के इन दोनों भागों से नियमपूर्वक आती-जाती रहती हुई इस सम्बन्ध को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाती रहेंगी।

महात्मा जी और सनातनियों की पशुता

पिछले कई महीनों से महात्मा गान्धी अछूतोद्धार के सम्बन्ध में अपना प्रसिद्ध भारत-व्यापी दौरा कर रहे हैं और यह दौरा उन्होंने उसी दक्षिण-भारत से प्रारम्भ किया था जहाँ अछूतों के समुद्धार के सम्बन्ध में सबसे अधिक विरोध है। परन्तु दक्षिण के उन्हीं प्रान्तों में महात्मा जी को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है और वहाँ उनके विरोधियों ने ज़रा भी महात्मा जी की अवमानता नहीं की। यह अत्यन्त खेद की बात है कि जिस उत्तर-भारत में अछूतों की समस्या वैसा महत्त्व भी नहीं रखती उसी के उस बिहार-प्रान्त में जहाँ महात्मा गान्धी ईश्वरावतार की तरह पूजे जाते हैं वहीं कुछ सनातनी कहे जानेवालों ने महात्मा जी पर कायरतापूर्ण आक्रमण करके स्वयं अपने धर्म को कलंकित किया है। धर्म-सम्बन्धी मसले में घोर विरोध रखते हुए भी क्या कोई सनातनधर्मावलम्बी इस तरह महात्मा जी पर पशुता-पूर्ण आक्रमण कर सकता है? परन्तु जो बात किसी धर्मान्ध विधर्मी-द्वारा होनी नहीं सम्भव थी उसी को सनातनियों ने कर दिखाया है। हम क्या, सभी लोग जानते हैं कि अछूतोद्धार के विरोधी सनातनियों की संख्या नगण्य है और वे अब हारकर ऐसे कार्यों-द्वारा महात्मा जी के अछूतोद्धार के आन्दोलन में विघ्न डालना चाहते हैं। परन्तु ऐसी बातों से इस महान् आन्दोलन का कार्य तो न रुकेगा, हाँ, इनसे सनातनधर्म की बची-खुची सत्ता अलबत्ता हवा हो जायगी। सनातनधर्म के बड़े-बूढ़ों को अपने धर्मान्धों की नकेल थामनी चाहिए, अन्यथा इसका परिणाम देश और धर्म दोनों के लिए बुरा होगा। उन्हें समझ लेना चाहिए कि सूर्य पर धूल उड़ाने से वह उन्हीं पर आकर गिरेगी।

महामना मालवीय जी और मन्दिर-प्रवेश

महामना मालवीय जी सनातनधर्म के अभ्युदय के लिए सदा यत्नवान् रहे हैं। वे सनातनधर्मियों के एक प्रबुद्ध दल के सर्वप्रधान नेता हैं और सुधारवादी सनातनी उन्हें ऋषि-तुल्य मानते हैं। समय समय पर उन्होंने धर्म-सम्बन्धी जो नई व्यवस्थायें जारी करने का यत्न किया उन सबका सनातनधर्मियों ने हृदय से स्वागत किया है। अछूतोद्धार की समस्या हल करने के सम्बन्ध में उन्होंने मंत्रदीक्षा का जो कार्य प्रारम्भ किया था उससे यह जान पड़ने लगा था कि उनके एक बार भारत-व्यापी दौरा करके अछूतों को दीक्षित कर आने से यह मसला बहुत कुछ हल हो जायगा। परन्तु वे अपने उस पुनीत कार्य को आगे न बढ़ा सके और वह जहाँ का तहाँ रह गया। इस समय सनातन-धर्म नाम का उनका एक साप्ताहिक पत्र निकलता है, इसके सिवा वे इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि सनातनी विद्वन्मंडल-द्वारा इस बात की घोषणा हो जाय कि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में कौन कौन ग्रन्थ प्रामाणिक माने जायँ। निस्सन्देह मालवीय जी का यह कार्य अत्यन्त महत्त्व का होगा। परन्तु इधर रावलपिंडी के पंजाब-प्रान्तीय सनातन-धर्म-सम्मेलन के अधिवेशन में पूज्य मालवीय जी ने मन्दिर-प्रवेश-बिल का जो विरोध किया है उससे अनेक लोगों को आश्चर्य हो सकता है। मालवीय जी को धर्म-सम्बन्धी मामलों में क़ानून बनवाना अभीष्ट नहीं है। और न वे कोई ऐसा प्रयत्न करते दिखाई देते हैं कि अछूत देवदर्शन कर सकें। यह कितने आश्चर्य की बात है कि मालवीय जी नन्हकू चमार और धिंगई पासी को मंत्रोपदेश तो कर देंगे, परन्तु किसी देव-मन्दिर में वे अपने इन शिष्यों को दर्शन करने न जाने देंगे। ऐसी दशा में यदि नन्हकू और धिंगई ईसाई, मुसलमान या बौद्ध हो जायँ तो यह उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक होगा, क्योंकि वहाँ वे चमार या पासी न माने जायँगे, किन्तु वे एक ईसाई, मुसलमान या बौद्ध माने जायँगे और वहाँ उनके साथ कम-से-कम मनुष्यत्व का तो व्यवहार होगा। हमारे यहाँ के जब महामना मालवीय जी जैसे नेता धर्म-क्षेत्र में भी, परमात्मा के दरबार में भी, भेदभाव बनाये रखना चाहते हैं तब सनातनधर्मियों का रक्षक भगवान् ही है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का योरप-प्रस्थान

बम्बई के प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सकों के अत्यन्त अनुरोध पर स्वामी सत्यदेव जी ने फिर योरप को प्रस्थान किया है। सरकार ने भी डाक्टरों की ताक़ीद तथा बिहार के बाबू गयाप्रसादसिंह जी के आग्रह पर स्वामी जी को इस बार बिना किसी शर्तबन्दी के पास-पोर्ट देने की उदारता की है। अब वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रत्येक स्थान में जा सकते हैं। 'सरस्वती' के पाठकों को योरप की वर्तमान नाज़ुक दशा का भले प्रकार ज्ञान है। ऐसे समय में 'सरस्वती' के हितैषी और लोकप्रिय लेखक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का योरप में रहना महत्त्व की बात है। स्वामी जी 'सरस्वती' के लिए योरप से प्रत्येक मास अत्यन्त उपयोगी सचित्र अप-टु-डेट शिक्षाप्रद लेख भेजते रहेंगे। स्वामी जी का विचार स्विटज़रलैंड की पहाड़ियों में धूनी रमाकर बैठने का है। वहीं से वे योरप की परिस्थिति अपने देशवासियों को बतायेंगे और साथ ही ग्रन्थ-रचना भी करेंगे। जब तक यह अंक हमारे पाठकों के हाथ में पहुँचेगा, तब तक स्वामी जी लालसागर की गर्मी का मज़ा चख रहे होंगे। ईश्वर से हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि स्वामी जी के नेत्र अच्छे हो जायँ और वे बराबर हिन्दी-साहित्य की सेवा करते रहें।

विश्व-लेखक-संघ

आक्टोबर सन् १९२१ में लंदन में मिसेज़ डासन स्काट नामक महिला ने एक विश्व-लेखक-संघ की स्थापना की थी। इस समय तक ३७ देशों में इस संघ की शाखायें स्थापित हो चुकी हैं। हाल में ही एक शाखा भारत के लिए भी बम्बई में खुली है, जिसके सभापति श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं और जिसके सदस्यों में श्रीमती

सरोजिनी नायडू, श्री रामानन्द चैटर्जी आदि हैं। विख्यात अँगरेज़ी उपन्यासकार जान गाल्सवर्दी इस संस्था के जन्म-काल से लेकर अपनी मृत्यु तक सभापति रहे थे और अपना ६००० पौंड का 'नोबेल प्राइज़' भी उन्होंने इसी संस्था को दान-स्वरूप दे दिया था।

इस संस्था का उद्देश साहित्य के द्वारा विश्व के मानवों का पारस्परिक भेदभाव दूर करना है। भारतवर्ष में इसकी जो शाखा खुली है उसका भी यही उद्देश है। इसके साथ ही साथ इस संघ की भारतीय शाखा भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों का विदेशियों से परिचय कराएगी ताकि वे भारत की आत्मा को समझ सकें। यह शाखा भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों को एक दूसरे के क़रीब लाने का प्रयत्न भी करेगी।

विश्व-लेखक-संघ की इस भारतीय शाखा का हम स्वागत करते हैं और चाहते हैं कि हिन्दी के कवि, लेखक और उपन्यासकार भी इस संघ के सदस्य बनकर इससे लाभ उठावें। इस संघ का प्रवेश-शुल्क १) और वार्षिक शुल्क भी इतना ही है। पत्र-व्यवहार का पता यह है—सेक्रेटरी पी० ई० एन०* हिलक्रेस्ट, पेडर रोड, बम्बई।

औचित्य का निर्णय

खानगी बातों को सार्वजनिक रूप देने के औचित्य या अनौचित्य के सम्बन्ध में लोग-बाग भीतर ही भीतर ख़ासी चर्चा किये हुए हैं। यह भी प्रकट हुआ है कि कतिपय चुने हुए साहित्यिकों के पास 'सत्यनारायण की जीवनी' भी सम्मति के अर्थ भेजी गई थी, पर उनमें से किसने क्या सम्मति दी है, एक भी अभी तक प्रकट नहीं हुई। महीनों बाद एक-मात्र 'सहेली' के सम्पादक श्री विजय वर्मा जी ने अपनी जो सम्मति दी है वह भी द्राविड़ी प्राणायाम के द्वारा। इस सम्बन्ध में वें इस तरह लिखते हैं—

"राम के एक साहित्यिक मित्र, श्याम की स्त्री अपने पति के सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो सकी और इस दम्पति का जीवन सुखपूर्ण नहीं रहा। अब श्याम के मर जाने पर राम महोदय ने श्याम का जीवन-चरित्र लिखा और उसमें उनकी पत्नी के तरह-तरह के दोषों को जनता के सामने लाकर उन्हें सत्य प्रमाणित करना चाहा। जब उनसे निवेदन किया गया कि ऐसा करना न तो उनके लिए गौरवप्रद है और न उनके स्वर्गीय मित्र के लिए। तब उन्होंने अपना निष्पक्षपातिता दिखलाते हुए यह विचित्र सिद्धान्त सामने रख दिया कि 'जीवनचरित्र कोई उपन्यास नहीं है, इसमें यदि हम इन बातों को न लिखेंगे तो अपने कर्तव्य का पालन न करनेवाले समझे जायँगे।' इसके साथ ही श्याम की स्त्री के कुछ ऐसे पत्रों के ब्लाक भी प्रकाशित कर दिये जो किसी के लिए लाभप्रद नहीं हो सकते। इस पर क्या कहा जावे? बड़े लोगों में एक बड़ी ज़िद भी रहती है, शायद यही इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हो।"

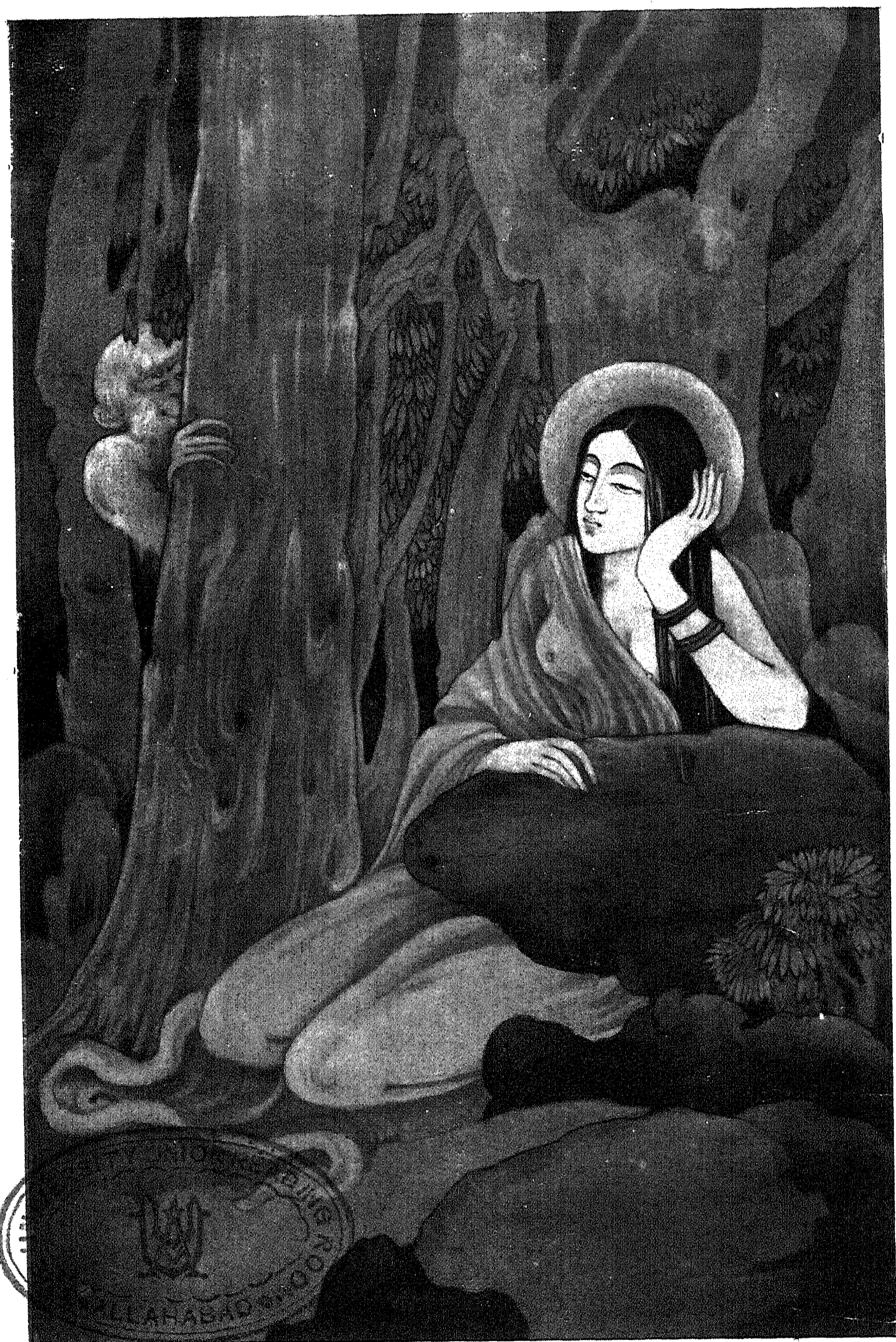
बड़े लोगों की ज़िद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए वर्मा जी ने बड़ा साहस करके उक्त पुस्तक पर अपनी सम्मति इस प्रकार दी है। आशा है, अन्य लोग भी अपनी सम्मतियाँ प्रकाशित करने का कष्ट स्वीकार करेंगे। ऐसा हो जाने से कम-से-कम लोगों की ज़िद का तो पता लग जायगा। औचित्य का निर्णय पाठक अपने आप कर लेंगे।

भट्ट जी का स्वर्गवास

हमें यह लिखते हुए दुःख होता है कि श्री बदरीनाथ भट्ट का लखनऊ में स्वर्गवास हो गया। इधर बहुत दिनों से आप अस्वस्थ थे, पर कोई इस दुखद समाचार को सुनने के लिए तैयार न था। भट्ट जी के ही सम्पादकत्व में पहले-पहल 'बाल-सखा' निकलना आरम्भ हुआ था और 'सरस्वती' के सम्पादन में भी आपने कुछ समय तक योग दिया था। भट्ट जी कवि, सुलेखक और बड़े ही हँसमुख थे। आपके इस असामयिक निधन से हिन्दी की बहुत भारी हानि हुई है परिचय हम आगामी अङ्क में प्रकाशित करेंगे।

* पी० ई० एन० पोएट्स, एडीटर्स और नावेलिस्टस का संक्षिप्त स्वरूप है।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.



वन्दिनी सीता

[चित्रकार—श्रीयुत रामगोपाल विजयवर्गीय



सचित्र मासिक पत्रिका

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल श्रीनाथसिंह

जून, १९३४ | भाग ३५, खंड १ | ज्येष्ठ, १९९१
सं० ६, पूर्ण संख्या ४१४

भिखारी

श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद'

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।

सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदु गात।

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

गूँज उठी तेरी पुकार "कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना"।

दुख सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात।

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन! छोड़ करुण स्वर अपना,
सोनेवाले जग कर देखें अपने सुख का सपना!



निश्चे की फ़िलासफ़ी—४

क्या मैं कर्म करने में स्वतन्त्र हूँ ?

श्री भाई परमानन्द जी, एम० ए०, एम० एल० ए०

वर्णव्यवस्था रहे या जाय ? यह इस समय हिन्दुओं का सबसे अधिक पेचीदा धार्मिक प्रश्न है। श्री भाई जी ने, प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक निश्चे—जो मनुस्मृति में वर्णित वर्णाश्रमधर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताता है—की फ़िलासफ़ी के आधार पर इस लेख में यह सिद्ध किया है कि वर्णव्यवस्था रहे। इस समस्या के दूसरे पहलू पर प्रकाश डालनेवाले लेख भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।



दैव और बुद्धि, तक़दीर और तदबीर की समस्या प्राचीन काल से विवादग्रस्त चली आती है। यदि यह मान लिया जाय कि जो कुछ हमारी तक़दीर में लिखा है वही होता है तो मनुष्य की काम करने की स्वतन्त्रता वहीं ख़त्म हो जाती है। यदि कर्म की स्वतन्त्रता न रहे तो मनुष्य की सारी ज़िम्मेदारी का अन्त हो जाता है और जब ज़िम्मेदारी न रही तब अच्छे और बुरे का विभाजन भी मिट जाता है। जब मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं तब उसे अच्छे और बुरे कामों की सज़ा और जज़ा (या इनाम) क्यों मिले ? हमसे कर्म करानेवाला चाहे ख़ुदा है या शैतान उन कर्मों के लिए हमको ज़िम्मेदार ठहराना सर्वथा निरर्थक है।

इस प्रकार तर्क करनेवाले दैव को अस्वीकार करते हैं, बुद्धि को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य जो कुछ करता है, सोच-विचार कर अपनी तदबीर से करता है। उसमें निश्चय करने की शक्ति है जो उसके लिए अच्छा या बुरा रास्ता इख़्तियार करने का निर्णय करती है। कुछ हिन्दू-शास्त्र प्रारब्ध को मानते हैं। अर्थात् मनुष्य पिछले कर्मों का फल भोगता है और आगे करने को स्वतन्त्र है। इस्लाम, मज़हब के तौर पर, तक़दीर को मानता है। ईसाइयों का एक बड़ा सम्प्रदाय जो काल्विन का अनुयायी है, तक़दीर को स्वीकार करता है। दैव या तक़दीर को अँगरेज़ी में 'प्रिडेस्टीनेशन' कहते हैं। (नेपोलियन भी इसे स्वीकार करता था।)

यदि हम मानव-मनोविज्ञान को देखते हैं तो मालूम होता है कि मनुष्य की सारी क्रियाओं का स्रोत मनुष्य की नैसर्गिक बुद्धियाँ हैं जिन पर हमारा कोई बस नहीं। इस अवस्था में भी हमारी कर्म-स्वतन्त्रता ख़त्म हो जाती है। इसलिए अब हमें यह देखना है कि इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के होते हुए मनुष्य में आत्म-ज्ञान या ख़ुदी का भाव कैसे उत्पन्न होता है और किस अवस्था में पहुँचकर उसे आत्म-निरोध प्राप्त होता है ताकि वह अपने कर्मों का उत्तरदायी ठहराया जा सके। हमने देखा है कि निश्चे नैसर्गिक बुद्धियों को सभी मानव-क्रियाओं का स्रोत मानता है। वह कहता है कि हमारा आत्म-ज्ञान हमारे जीवन की चमकती हुई सतह के सदृश है, यद्यपि जीवन का वास्तविक कार्य नीचे की छिपी हुई लहरों में

होता है। आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति मनोविज्ञान में एक वैसी ही क्रिया है, जैसी जीवनशास्त्र के वंशानुगत संक्रमण की उत्पत्ति की घटना। हमारे तर्क तथा उसकी सारी युक्तियाँ और हमारी क्रियाओं पर उसके बाह्य प्रभुत्व के बावजूद शारीरिक आवश्यकतायें हैं जो हमारे जीवन को ख़ास तरीक़े पर चलाती हैं। निश्चे अपनी बात सूत्रों में बताता है। वह उसके लिए कोई युक्ति देना पसन्द नहीं करता। अपनी पुस्तक 'ज़रथुश्त' में वह कहता है—"आप मुझसे पूछते हैं, क्यों? मैं उन मनुष्यों में नहीं हूँ जिनसे 'क्यों?' पूछा जा सके!" उसका विचार था कि प्रकृति स्वयं मनुष्य के द्वारा बात करती है और उसकी आन्तरिक शक्तियाँ उसके फल पैदा करती हैं। इसको समझने के लिए दर्शनाचार्य मिल का एक दृष्टान्त है। वह कहता है—"एक मनुष्य जिसमें सामयिक बुद्धि पर्य्याप्त थी, न्यायाधीश नियत किया गया। अपने नवीन कर्त्तव्य-पालन करने का उसे यथेष्ट अनुभव न था। इसलिए उसको परामर्श दिया गया कि वह अपने निर्णय लिखता जाय, किन्तु उनके लिए कोई युक्ति न दे। फलतः वह इस पर आचरण करने से सफल हो गया।" इसी पक्ष को सूफ़ी या भावयोगी और प्रत्यक्ष ज्ञानवादी पेश करते हैं। महात्मा गान्धी इसी को ईश्वरादेश कहते हैं। परन्तु इस पक्ष में बड़ा ख़तरा यह है कि हम उस क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं जहाँ पर एक तरफ़ बहुत गहन और दूसरी तरफ़ बिलकुल बेहूदा बात में अन्तर नहीं किया जा सकता। यह तो एक प्रकार से दैव पर विश्वास या भवितव्यतावाद हो जाता है।

निश्चे इस विचार का मुक़ाबला करने के लिए अपने नये विचार 'शक्ति की इच्छा' को पेश करता है और फ़ैसला करता है कि मनुष्य को निश्चय की परिमित स्वतन्त्रता प्राप्त है, जिस पर उसकी जीवन-कल्पना का आश्रय है। वह कहता है कि मनुष्य अपने आवेगों या मैलानों के लिए माली का काम करता है। जिस प्रकार बाग़ का माली अपने पौधों और फूलों को प्रकृति पर छोड़ सकता है या जिनको बाक़ायदा बोता है उनकी काँट-छाँट करता है और पालन करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपने आवेगों या मैलानों को ख़ास तरह साध सकता है या उनको प्रकृति पर छोड़ सकता है। वह लिखता है—"तू कहता है कि तुम्हारा भोजन, तुम्हारा देश, जलवायु और समाज तुम्हारे निश्चय को बनाते और तुमको ढालते हैं। अच्छा; परन्तु तुम्हारी सम्मतियाँ इनसे कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं, क्योंकि वे तुम्हारे लिए तुम्हारा भोजन, तुम्हारा बनाया वास, तुम्हारा वातावरण और तुम्हारा समाज तजवीज़ करती हैं।"

निश्चे की सम्मति के अनुसार मनुष्य अपनी आत्म-संस्कृति का ख़ुद ज़िम्मेदार है। वह स्वयं अपने निश्चय को, अपने दैव को बना सकता है। इस कारण मनुष्य के लिए जीवन का प्रश्न एक वास्तविक प्रश्न है, जिसको उसे हल करना है। आइए, ज़रा और विचार करके देखें कि किस प्रकार एक बालक जिसमें सभी क्रियायें, पशुओं के समान, सर्वथा आवेगों या मैलानों के प्रभाव से होती हैं और जिसका आचरण अभी बिलकुल अनैतिक होता है, किस प्रकार बड़ा होकर एक ऐसा मनुष्य बन जाता है जो अपनी इन्द्रियों की इच्छाओं को रोकता है और उनके विरुद्ध चलकर उलटा आचरण करता है। उसमें निश्चय की शक्ति है, प्रतिरोध है और उसका आचरण नैतिक बन जाता है। यह एक क्रिया है जिसका हमें अध्ययन करना है।

बालक एक क्रिया करता है। इससे उसे ख़ुशी हासिल होती है। उसकी सफलता उससे बार बार वह क्रिया करवाती है। बच्चे को भूख लगी है। वह कटोरी में कोई चीज़ देखता है। उसे उठाकर वह खा लेता है। उसको ख़ुशी होती है। अनुमान कीजिए, वह कटोरी किसी ऊँची जगह रक्खी है। वह बच्चा चौकी या स्टूल लाकर उस पर चढ़ जाता है और वही क्रिया करता है। अब अनुमान कीजिए, कोई बड़ा आदमी उसे देख लेता है और पीटता है। फिर भूख लगने पर बच्चे के अन्दर भूख और भय की अनुभूतियों में कशमकश होती है। अब वह एहतियात करने लगता है जिससे उसके अन्दर 'स्व' के भाव का श्रीगणेश होता है।

'स्व' का भाव सर्वथा सामाजिक है जो 'स्व' और समाज के प्रभावों की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न होता है और जो दूसरों से सम्बन्ध के बग़ैर नहीं उत्पन्न हो सकता। दूसरों के मुक़ाबले पर 'स्व' के ख़याल का होना ही आचारनीति की वास्तविक जड़ है। इस ख़याल की उत्पत्ति और उन्नति की चार अवस्थायें हैं। पहली अवस्था तो स्वाभाविक क्रियाओं की है जिसमें बालक आराम और तकलीफ़ के प्रभाव के अधीन होकर क्रिया करता है। इसे नैसर्गिक आचरण कहते हैं। ज्यों-ज्यों बालक बाहर की दुनिया और उसकी चीज़ों को देखता है, त्यों-त्यों विचार करने लगता है कि स्वयं वह उनके अतिरिक्त कुछ और है। धीरे-धीरे वह स्व के भाव को उनके अंदर डालता है। एक उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है। बालक माता को, इसलिए नहीं प्यार करता कि वह स्त्री माता है, बल्कि इसलिए कि वह उसकी माता है। वह अपने आपको माता के अन्दर देखता है। माता की आवाज़ उसके लिए विशेष आकर्षण रखती है। धीरे धीरे वह दूसरों की मुसकुराहट देखकर ख़ुश होता है। बाद में वह दूसरों की नक़ल करता है, और उनके जैसे काम करने के लिए वह वैसे ही तरीक़े इख़्तियार करता है जैसे दूसरे उसकी तरफ़ इख़्तियार करते हैं। इससे उसको अपना, दूसरों का और पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान होने लगता है।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें बालक के भाव दूसरों की दी हुई सज़ा या जज़ा (इनाम) के प्रभाव से परिवर्तन ग्रहण करते हैं—'उसे क्या करना चाहिए? क्या न करना चाहिए?' दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व की अनुभूति से उसका सामाजिक अस्तित्व बनता है और थोड़े-बहुत आत्म-निरोध का आरम्भ होता है। पाठशाला में जब बालक नया भया जाता है तब वह सबसे डरता है। उसे उनका ख़ास रोब नज़र आता है। वहाँ रहते-रहते वह कइयों से बड़ा हो जाता है और उसमें आत्म-सम्मान का भाव बढ़ने लगता है। यह आत्म-सम्मान उस घमण्ड से सर्वथा भिन्न है जो राजाओं या अमीरों के लड़कों में पाया जाता है और जो लगातार ख़ुशामद और झूठी बड़ाई से उत्पन्न होता है। एक लड़के के लिए सबसे बड़ी सज़ा शायद यह है कि दूसरे लड़के उसे अपने साथ खेलने न दें।

तीसरी अवस्था वह है जहाँ पहुँच कर सज़ा और जज़ा (इनाम) का ख़याल समाज की ओर से प्रशंसा या निन्दा में बदल जाता है। प्रशंसा से प्रसन्नता का और निन्दा से भय का होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक बात है। यही सार्वजनिक मत (पब्लिक ओपिनियन) का प्रभाव कहा जाता है। कौन-सा मनुष्य है जो अपनी नेकनामी नहीं चाहता और सार्वजनिक मत से नहीं डरता! बड़े आदमियों की अन्तिम कमज़ोरी प्रसिद्धि की इच्छा मानी गई है। यह कैसे? इसके कई कारण हैं। प्रथम यह कि दण्ड का भय बचपन से ही हमारे स्वभाव का अंश बन जाता है। बड़े होने पर केवल धमकी का डर वैसा ही ज़ोरदार हो जाता है। आगे चलकर रोष-प्रकाश वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करता है और इसके प्रतिकूल हर्ष-प्रकाश बहुत अच्छा लगता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य दूसरों की सक्रिय सहानुभूति का इच्छुक रहता है। वह चाहता है कि दूसरे भी वही कुछ चाहें जो वह चाहता है, वैसा ही सोचें जैसा वह सोचता है और उस-जैसे ही काम करें। तीसरा कारण यह है कि मनुष्य के अन्दर आत्म-प्रदर्शन की इच्छा स्वाभाविक ही पाई जाती है।

चौथी अवस्था यह है कि जब मनुष्य का आचरण समाज के भय और उसके रोष या हर्ष से ऊपर हो जाता है और वह यथार्थता ('राइट') के ख़याल पर चलता है। पहली अवस्थाओं में इंद्रियों के भाव बहुत ज़बर्दस्त होते हैं और नैतिक इच्छायें, जो नीचे दबी रहती हैं, बहुत कमज़ोर। नैतिक उन्नति का बड़ा चिह्न यह है कि ये निर्बल नैतिक इच्छायें मनुष्य के आचरण को अपने अनुसार बनायें। इस संघर्ष के बीच निश्चय शक्ति दख़ल देती है और निर्बल भावों की सहायता करती है। इस रहस्य को भली भाँति समझ लेना मानव-जीवन के वास्तविक रहस्य को समझना है। निश्चय-शक्ति बनाने में महापुरुषों के उदाहरण बड़ा काम करते हैं। नवयुवकों

के हृदय में महापुरुषों के प्रति श्रद्धा होती है। उनके लेखों तथा विचारों का नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव होता है और उनके सामने पूर्णतः नैतिक जीवन के आदर्श का भाव खड़ा हो जाता है। यथार्थ को अच्छी तरह पहचान कर मनुष्य उस अवस्था में पहुँच जाता है जहां स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाते हैं।

निश्चय-शक्ति की उत्पत्ति हम एक और तरह से देखते हैं। प्रायः कहा जाता है कि यदि कर्म करने की स्वतंत्रता न हो तो सारी ज़िम्मेदारी उड़ जाती है; न कोई नैतिक क़ानून रहता है, न कोई सज़ा या जज़ा। प्रश्न यह है कि सज़ा का अर्थ और उद्देश क्या है। कर्म की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि कुकर्म करनेवाले पर गुस्सा निकाला जाय। सज़ा का यदि कोई सच्चा उद्देश हो सकता है तो केवल सुधार का भाव। हम बालक को सज़ा देते हैं, पागल को नहीं। बालक का सुधार हो सकता है, पागल का नहीं। इस दृष्टि से सज़ा का अर्थ उन भावों पर दबाव डालकर क़ाबू में लाना है जो बालक से अनुचित कर्म करवाते हैं। संयम का यह प्रयत्न ही निश्चय-शक्ति या कृति-शक्ति उत्पन्न करती है।

जो मनुष्य यह शक्ति उत्पन्न करना पसंद नहीं करता वह कहता है—"यदि मुझे यही कुछ करना है जो पहले स्वभाव में वर्तमान है या यदि बाह्य परिस्थिति मुझसे मजबूरन काम करवाती है तो मुझे प्रयत्न करने की ज़रूरत ही क्या है?" यह प्रश्न वास्तव में बड़ा कठिन है। मनोविज्ञान इसका भी हल पेश करता है। हमें याद रखना चाहिए कि हमारी चिकीर्षायें दो प्रकार की हैं—एक नैसर्गिक बुद्धि से उत्पन्न होनेवाली, दूसरी सुख-दुःख के प्रभावाधीन आंतरिक स्वभाव को बदलनेवाली।

शापनहावर और कुछ दूसरे दर्शनाचार्य सारी क्रियाओं को इच्छा या कृति-शक्ति से उत्पन्न हुई बताते हैं। बेन इनको सुख-दुःख के प्रभाव से उत्पन्न हुई बताता है। विचार करने पर मालूम होता है कि क्रियायें दो प्रकार की होती हैं—एक इच्छा-सहित, दूसरी इच्छा-रहित। निश्चय और इच्छा में बड़ा अंतर है। मनुष्य जब निश्चय कर लेता है तब अपने आपको, अपने दिल-दिमाग़ को उधर लगा देता है। हम एक वस्तु को सामने देखते हैं और उसे मज़बूती से पकड़ लेते हैं। दूसरे शब्दों में हम अपने आपको शारीरिक और बौद्धिक रूप से उसके साथ एक कर लेते हैं।

उपरि-लिखित उदाहरण को लेकर हम कह सकते हैं कि जब बच्चा भूख से तंग आकर किसी चीज़ को उठाता है या डर के मारे उसे नहीं उठाता तो वहां कोई निश्चय नहीं पाया जाता। यदि वह बच्चा ख़याल करता है कि मैं वह चीज़ ले आऊँ अथवा मेरी माता मुझे बुरा-भला कहेगी या मेरे मित्र मुझे भीरु कहेंगे तो उस अवस्था में यह दूसरों के प्रभाव से उत्पन्न हुआ स्व का भाव है। यदि वह कहता है कि मैं अमुक वस्तु उठा लाऊँ अथवा मैं अपनी ही नज़र में भीरु बनूँगा तो उसके अंदर आत्म-सम्मान का भाव काम करता है।

ऐसे ही हम एक और उदाहरण लेते हैं। एक मनुष्य देखता है कि उसके सामने आग लगी है और एक बालक के जल जाने का भय है। यदि वह उसे बचाने का प्रयत्न करे तो उसे अपने प्राणों का भय है। यहाँ केवल नैसर्गिक बुद्धि है, कोई निश्चय नहीं। वह कहता है, यदि मैं अपने आपको ख़तरे में डालूँगा तो लोग मुझे मूर्ख कहेंगे। यहाँ उस पर दूसरों का प्रभाव है और साथ ही स्व का भाव। परंतु वह कहता है—"यदि मैं साहस करूँगा तो अमुक मनुष्य (जिसका वह मान करता है) बहुत प्रसन्न होगा।" यहाँ उसकी अपनी नैसर्गिक बुद्धि और दूसरे के ख़याल मिले हुए हैं। यदि वह कहता है कि मुझे किसी एक या अनेक की परवा नहीं; मैं तो यह कुर्बानी करूँगा क्योंकि मैं इसे उचित समझता हूँ तो यह वह अवस्था है जिसमें कहा जाता है कि उसने निश्चय-शक्ति को पूर्णता तक पहुँचा दिया।

पेगन या क्रिश्चियन नीति ?

हमने समाज के द्वारा आचार-नीति की उत्पत्ति को देखा है। जिस प्रकार का समाज होगा उसी प्रकार की आचार-नीति होगी और उसी प्रकार की निश्चय-शक्ति। समाज के अन्य रूपों को परे छोड़कर दो प्रकार का समाज और दो प्रकार की ही आचार-नीति है, जिनको सभ्य-संसार

का इतिहास हमारे सामने पेश करता है। इस पत्र में योरप और भारतवर्ष के इतिहास में बहुत समता पाई जाती है। गौतम बुद्ध से पहले का भारत ईसा से पहले के योरप से कई बातों में मिलता-जुलता है। दोनों में समाज का आदर्श कोई मज़हब न था। या यों कहिए कि बौद्ध-मत के प्रचार से पूर्व वर्तमान अर्थ में मज़हब बना ही न था। भारत में आर्य-संस्कृति थी, योरप में पेगन संस्कृति। दोनों भूखंडों के रहनेवाले लोग मौत के बाद की किसी काल्पनिक दुनिया या लोक में विश्वास न रखते थे। इस कारण वर्तमान जीवन और इस संसार को ही वे अपना निर्दिष्ट स्थान समझ कर उससे प्रेम और प्रकृति तथा प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करते थे।

वैदिक काल का समाज बौद्ध-काल के समाज से सर्वथा विपरीत था। वैदिक साहित्य में कहीं भी संसार से घृणा नहीं सिखाई गई, परन्तु बौद्धमत के अंदर हम उसे पाते हैं। बौद्धमत ने प्रचार किया—यह संसार दुःख का स्थान है, इसे छोड़ दो और इसके साथ बाँधनेवाली इच्छा को मिटा दो; तभी तुमको निर्वाण का सुख प्राप्त होगा। इस मत के प्रचार का प्रभाव यह हुआ कि भारतीय स्त्री-पुरुषों का एक बड़ा भारी भाग संसार को तिलांजलि देकर भिक्षुणी और भिक्षु बन गया। संसार से वैराग्य और उसका त्याग दो ऐसे सिद्धांत थे जिनकी नींव पर बौद्धमत का भवन खड़ा किया गया। वेद की शिक्षा इसके विपरीत थी। प्राचीन आर्यों का आदर्श संसार से घृणा या उसका त्याग न था, प्रत्युत भोग और संसार के संघर्ष को पवित्र समझ कर उससे आनंद लाभ करना था। उदाहरण-स्वरूप एक वेद-मंत्र में कहा गया है—तू बल है, मुझे बल दे। तू वीर्य्य है, मुझे वीर्य्य दे। तू तेज है, मुझे तेज दे। तू ओज है, मुझे ओज दे।

ठीक ऐसा ही चित्र हमें योरप में नज़र आता है। ईसाईमत के प्रचार से पहले यूनान और रोम के पेगन अपने आर्य-भाइयों के समान प्रकृति का अध्ययन करते और प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं के भोग से आनंद लाभ करते थे। परंतु ज्यों-ज्यों ईसाईमत ने उनके अंदर प्रवेश किया, त्यों-त्यों उनका ध्यान संसार से हट कर प्रलय और स्वर्ग की ओर जाने लगा। जहाँ जहाँ ईसाईमत फैलता गया और चर्च खड़े होते गये, वहाँ वहाँ पादरियों ने लोगों का दिमाग़ अगली दुनिया के चक्कर में फँसा दिया। जो कोई नया 'आर्डर' या संघ बना, भिक्षु और भिक्षुणियाँ ही पैदा करने लगा। एक हज़ार वर्ष तक समस्त योरप इस नये अज्ञान का शिकार होकर अँधेरे में भटकता रहा। अन्त में यूनानी विद्याओं के प्रसार ने योरप की विभिन्न जातियों के रुख़ को बदला और वहाँ मानवत्ववाद-आन्दोलन जारी हुआ।

निश्चे अपने आपको जीवन के आरम्भ से ही प्राचीन यूनान की संतान समझता था; अपने काल की नहीं। यूनानियों को वह सबसे ऊँची कोटि के मनुष्य समझता था। यद्यपि योरप ने अपने रोम के प्रभाव एवं प्रभुत्व में आकर ईसाईमत स्वीकार कर लिया, तथापि यूनानी विचार ऊपर से दबाये जाने पर भी बार बार उठने का प्रयत्न करते रहे। योरप में यूनानी और ईसाई आदर्श के बीच यह संघर्ष साहित्यिक जागरण से पूर्व ही जारी था। ईसाई चर्च संसार के त्याग की शिक्षा देता था। वह संसार को नरक की एक दर्मियानी मंज़िल बताता था, जहाँ मनुष्य को अपवित्र इच्छाओं से लगातार युद्ध करना पड़ता था। एक सच्चा ईसाई अपनी नज़र हर समय संसार से हटाकर स्वर्ग की ओर लगाये रखता था। परन्तु मनुष्य की नैसर्गिक बुद्धियाँ इस दबाव के विरुद्ध बार-बार उठती थीं। फलतः ग्रीक तथा लैटिन साहित्य का अध्ययन बुद्धिमान् मनुष्यों को मुग्ध कर लेता था। यहाँ तक कि ऐसे लोग कृत्रिम और झूठे मज़हबी जीवन से प्राकृतिक जीवन तथा प्राचीन स्वतन्त्र संस्कृति को कहीं बेहतर समझते थे। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे बाहर से डाली गई ज़ंजीरों से—चाहे वे ज़ञ्जीरें सामाजिक रीति-रवाज की हों, चाहे अगली दुनिया के मूढ़ विश्वासियों की—मुक्त हो जायँ, तनिक वे अपने स्वाभाविक नियमों का पालन करते हुए आगे बढ़ सकें। वे ऐसी ज़बर्दस्ती को सहन नहीं कर सकते जो

उसको मशीन की बनाई हुई चीज़ों के समान एक-सा बना दे।

इन बातों को अपने सामने रखते हुए यह ज़रूरी था कि निश्चे आचार-नीति का दर्शन या फ़िलासफ़ी मालूम करता। वह जानता था कि बहुत-से दर्शनाचार्य हैं जिन्होंने ईसाइयत की समस्याओं पर कड़ी से कड़ी आलोचना की है, परन्तु उनमें से किसी ने क्रिश्चियन (ईसाई) आचार-नीति पर आपत्ति नहीं की। उन्होंने इस नीति को न केवल अच्छा स्वीकार किया है, बल्कि ठीक बतलाया है। वह कहता है—"मैंने ऐसा कोई मनुष्य नहीं देखा जिसने आचार-नीति का मूल्य आँकने के लिए इसकी आलोचना करने का साहस किया हो। बड़ी मुश्किल से मैंने सामग्री इकट्ठी की है ताकि इस नीति का मूल्य और इसकी अनुभूति का प्रारम्भिक इतिहास मालूम किया जा सके।......नीति के इतिहासकारों से इसका कुछ पता नहीं लग सकता क्योंकि वे तो ख़ुद किसी-न-किसी नीति के प्रभावाधीन होकर काम करते हैं और उसके पथप्रदर्शक हैं। अभी तक किसी ने नीति का मूल्य आँकने का विचार ही नहीं किया। इसलिए ज़रूरी है कि कोई तो ऐसा हो जो इस पर संदेह करके इस प्रश्न को उठाये। अच्छा, तो मैंने यह काम अपने ज़िम्मे लिया है।" निश्चे समझता था कि सच्चा दर्शनवेत्ता वह है जो किसी प्रमाण या परम्परा पर भरोसा न रखकर जीवन की समस्या के हल की स्वतंत्र रूप से खोज करे।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार छुटपन में ही निश्चे को बुराई की समस्या घबराती थी, किस प्रकार थियागन्स की पुस्तक पढ़कर उसने यह निर्णय किया कि हर एक मनुष्य अपने आपको या अपनी श्रेणी को मर्यादा या मीयार समझ कर नीति के अच्छे या बुरे होने का अनुमान करता है। थियागन्स का रियासत मेगारा की धनी श्रेणी से सम्बन्ध था। उसे धनवान् लोगों की हर एक बात प्रशंसनीय और निर्धन श्रेणी की हर एक बात निंद्य दिखाई देती थी। इसी प्रकार यह भी समझना आसान है कि वहाँ के निर्धनों को अमीरों की हर एक बात कैसी नज़र आती होगी। निश्चे इस परिणाम पर पहुँचा कि संसार में नीति दो प्रकार की है—एक दासों की, दूसरी मालिकों की। इन दो प्रकार की नीतियों में वैसा ही अंतर है जैसा पशुओं में बकरी और शेर की नीतियों में। बकरी ख़ूराक है, शेर खानेवाला। बकरी निर्बल है, शेर बलवान्। बकरी किसी दूसरे को दुःख नहीं दे सकती, शेर अपना प्रभुत्व दूसरों पर जमा सकता है। बकरी से पूछिए—"तुम्हें कौन-सी बातें अच्छी मालूम देती हैं ?" स्वाभाविकतया उसका उत्तर होगा—"किसी को दुःख देना बुरा है; छोटे-बड़े, निर्बल-बलवान् सबको प्रेम-पूर्वक रहना चाहिए।" यही सवाल शेर से करिए। उसका उत्तर बकरी के उत्तर के ठीक उलटा होगा। वह कहेगा—"संसार में बल ही सर्वोत्तम है। बलवान् को अधिकार होना चाहिए कि चाहे जिसे मारकर अपनी ख़ूराक बना ले। इससे बढ़कर और ख़ुशी ही क्या हो सकती है कि दूसरों पर शासन करने का अवसर मिले!" नीति की मर्यादा या मीयार न बकरी की राय है, न शेर की। न बकरी के कहने से बल का प्रयोग बुरा बन जाता है, न शेर के कहने से दूसरों को मारकर खाना अच्छा हो जाता है। नीति का अच्छा या बुरा होना सापेक्ष बात है। जो बात किसी श्रेणी या समाज को अपने लिए लाभदायक मालूम होती है वह उसके लिए अच्छी और जो उसे हानिप्रद मालूम देती है वह उसके लिए बुरी कहलाती है। इसलिए नीति का मीयार यही ठहरा कि वह जीवन को आगे की ओर ले जाती है या नहीं।

इसी प्रकार हम दो और गुणों को लेते हैं—दया और न्याय। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। यदि दया ठीक है तो न्याय ठीक नहीं रह सकता और यदि न्याय ठीक समझा जाय तो दया के लिए कोई स्थान नहीं रहता। यह समस्या प्राचीन काल से विवादग्रस्त चली आती है। इसका हल भी इसी प्रकार हो सकता है कि हम समझ लें कि दोनों में से कोई भी न बुरा है, न अच्छा। बकरी-जैसी अवस्था में दया अधिक अपील करती है और शेर-जैसी अवस्था में न्याय। दोनों ठीक भी हैं और ग़लत भी।

जैसा कि पीछे कहा गया है, आर्य और पेगन नीतियां एक ही प्रकार की हैं। वे एक ओर हैं, दूसरी ओर बौद्ध और क्रिश्चियन (ईसाई) नीतियां हैं। बिलकुल ये दूसरी प्रकार की हैं। निश्चे कहता है कि क्रिश्चियन नीति दासों की नीति है। यह संसार से घृणा करना सिखाती है। कहा जाता है कि जब सेंट पाल ने यूनान के एथिंज नगर में व्याख्यान दिया तब सबसे पहले उसने मसीह के शूली पर चढ़ाये जाने की कथा का उल्लेख किया। तत्पश्चात् उसने परलोक की कहानी प्रारम्भ की। इस पर सभी सुननेवाले उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—"ये बातें हम फिर कभी सुनेंगे; इस समय नहीं। इन काल्पनिक बातों से जिन पर विश्वास करना ईसाइयों के लिए साधारण बात है, यूनानी इस क़दर घृणा करते थे! ईसा उस समाज में उत्पन्न हुआ जो रोमवासियों का दास था। दासों को यह अच्छा लगता है कि कोई उन पर शासन करे। उनमें बल नहीं होता कि वे दासत्व के जूए को उतार फेकें, इसलिए उनके मन में इन विचारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक होता है। दूसरों को दुःख देना पाप है; शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए—यहाँ तक कि अगर वह तुम्हारे एक गाल पर तमाँचा मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।" यह शिक्षा बकरी की नीति से मिलती-जुलती है।

उनकी दूसरी बात यह है कि सभी मनुष्य बराबर हैं। दासों को यह स्वाभाविकतया अच्छी मालूम देती है। वे अपने से बड़ों को देखते हैं तो उन्हें दुःख होता है। बस, उनकी यही इच्छा होती है कि मनुष्यों की सारी असमानता दूर हो जाय। आगे चलकर यह कहा गया है कि यह संसार गर्ह्य है क्योंकि यहाँ पर अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं। यहाँ जो छोटे हैं परलोक में वे बड़े बन जायँगे। यहाँ जो ग़रीब हैं, परलोक में वे अमीर बन जायँगे। छोटों और ग़रीबों के लिए ये विचार बड़े आनन्ददायक होते हैं और वे इनको स्वीकार करके संतोष का लाभ करते हैं। वही विचार ईसाई-मज़हब की नींव हैं। इसमें कुछ संदेह नहीं कि यदि योरप में इन विचारों का प्रभुत्व रहता और यूनानी विद्याओं के फिर फैलने से प्रकृति-प्रेम का भाव पुनः जागृत न होता तो योरप का समाज खोखला होकर कब का पतन को पहुँच चुका होता।

जब भारत में इस्लाम का प्रभुत्व था तब यहाँ के लोगों को भी इसी प्रकार के विचार अच्छे मालूम देते थे। उदाहरणार्थ—

दया धर्म का मूल है, नरक मूल अभिमान,

और—

"दादू दुखवा दूर कर; बिन दुखवे दिन कट्ट"

जैसे विचार बहुत सर्वप्रिय हो गये थे। गुरु गोविन्दसिंह ने देश में जीवन-संचार करने का निश्चय किया था इसलिए उन्होंने दादू को उत्तर दिया—

"दादू दुखवा बन्हके सब नूँ लइए लुट्ट।"

दादू के समान गुरु नानक ने कहा था।

नीले वस्त्र-कपड़े पहिरे, तुर्क-पठानी अमल भया।

गुरु गोविंदसिंह ने इसको बदल दिया और कहा—"नहीं यह इस प्रकार होना चाहिए—

"नीले वस्त्र-कपड़े फाड़े, तुर्क-पठानी अमल गया।"

योरप में ईसाईमत के सिद्धान्तों ने पूरा-पूरा घर न किया था इसलिए योरप बच गया। इसके मुक़ाबले पर बौद्ध-मत का प्रभाव भारत पर ऐसा व्यापक हुआ कि हिन्दू-जाति मृत-प्राय-सी बन गई। जो लोग आज हैरान होकर पूछते हैं कि कौन-से ऐसे कारण हैं जिनसे हिन्दुओं का पतन हुआ उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह बौद्ध-मत की बकरी-नीति थी जिसने हिन्दुओं को सबसे निचले तल तक पहुँचा दिया। बौद्धों को ब्राह्मण-क्षत्रियों के अनुचित प्रभुत्व और यज्ञों में पशु-बलि से घृणा हुई। उन्होंने घड़ी के लटकन को दूसरे सिरे पर पहुँचा दिया—पूर्ण वैराग्य तथा त्याग की शिक्षा दी। इच्छा को मिटा दो; इससे निर्वाण प्राप्त होगा। हिंसा सबसे बड़ा पाप और अहिंसा सबसे बड़ा पुण्य है। शत्रु का मुक़ाबला छोड़ दो, शत्रु से प्रेम करो; तभी शत्रुता दूर होगी। इस अहिंसा और प्रतिरोध या मुक़ाबला न करने की शिक्षा के प्रचार ने हिन्दुओं के अन्दर से जीवन-शक्ति निकाल दी। विकास का सिद्धान्त है कि विरोधी शक्तियें

के विरुद्ध प्रतिरोध का बल जितना अधिक होता है उतनी ही अधिक जीवन-शक्ति पैदा होती है। व्यक्ति या जाति से प्रतिरोध-भाव मिटा देना उस व्यक्ति या जाति का जीवन मिटा देना है।

जहाँ श्रीकृष्ण ने, भगवद्गीता में, उपदेश दिया कि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध करना ही बड़ा धर्म है, युद्ध-क्षेत्र में विजय पृथ्वी का राज दिलाती है और युद्ध-क्षेत्र में मौत स्वर्ग को ले जाती है, वहाँ बौद्धमत के व्यापक प्रचार ने क्षत्रियों का एक प्रकार से इस देश में अन्त कर दिया और इस जाति की नस नस में यह भाव भर दिया—शत्रु का मुक़ाबला मत करो; प्रेम के द्वारा उस पर विजय लाभ करो। व्यक्तिगत दृष्टि से यह उपदेश संभवतः ठीक हो, परन्तु जातीय दृष्टि से इसने विष का काम किया। जब मध्य-एशिया से भारत पर बर्बरों के आक्रमण होने आरम्भ हुए तब तलवारधारी क्षत्रियों के बजाय मालाधारी भिक्षु उनके मुक़ाबले पर आये। एक ओर माला, दूसरी ओर तलवार! मुक़ाबला क्या होता ? भिक्षुओं की सेना की गर्दनें कट गईं।

जिस जाति में तेज और बल के स्थान में अहिंसा, दया और वैराग्य आकर डेरे लगा देते हैं उस जाति के जीवित रहने की कोई आशा नहीं रहती। इन गुणों का प्रसार इस संसार को एक बड़ा अस्पताल बना देता है, जिसमें हर एक मनुष्य दूसरे के लिए 'नर्स' का काम करता है और उसकी संस्कृति वास्तविक मानवीय जीवन को छिपाकर उसे कुरूप, झूठी और कृत्रिम बना देती है। निश्चे कहता है कि ऐसी पतनशील और घृणास्पद जाति के लिए युद्ध ही एक-मात्र उपाय और आशा है। मनुष्य की उन्नति के मार्ग में विकास-सिद्धान्त के अनुसार योग्यतम-अवशेष का क़ानून काम करता है। जिन लोगों ने विशेष प्रकार की नीति को आदर्श समझ रक्खा है उन्हें यह क़ानून बहुत निर्दय मालूम देता है। वे इससे इतनी घृणा करते हैं कि इसका सत्य होना स्वीकार नहीं कर सकते। यह क़ानून उनके प्रिय आदर्श के अनुकूल हो या न हो, वे इसे अच्छा कहें या बुरा, इस संसार में यह क़ानून ही काम करता है! और जब तक यह चलता रहेगा बकरी की आचार-नीति नीचे ही दबी रहेगी।

'सुपरमैन' या पूर्ण जीवन

सबसे पहला प्रभाव निश्चे पर शापनहावर का हुआ। शापनहावर अपने निराशावाद के लिए प्रसिद्ध है। निश्चे भी जीवन का अन्धकारमय पक्ष देखने लगा और अपना मन-बुद्धि उसने कला में लगा दिया। परन्तु शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि ऐसा करने से जीवन-समस्या हल नहीं हो सकती। इसका अर्थ तो यह है कि हम इस समस्या का हल ढूँढ़ने से घबराते हैं और अपने दिल को बहलाकर जीवन गुज़ार देना चाहते हैं।

कला से हटकर उसने विज्ञान की ओर ध्यान दिया। परन्तु यहाँ भी उसे निराशा हुई। उसने विज्ञानाचार्यों के सूखे चेहरों को देखा तब अनुभव किया कि ये लोग जीवन को ऊपर से देखते हैं। वे जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं, परन्तु जीवन को भोगना नहीं जानते। क्लासिक—ग्रीक और लैटिन—साहित्य पढ़ते हुए वह इस परिणाम पर पहुँचा कि जीवन का अध्ययन करना ही पर्याप्त नहीं है, इसे भली भाँति खोलने की भी ज़रूरत है।

तब वह महापुरुषों की तरफ़ फिरा। कार्लाइल के समान निश्चे भी महापुरुषों का पुजारी था। उसे साधारण जीवन तथा विचारों से घृणा थी। वह समझता था कि साधारण जीवन तो गधा भी बिता लेता है। महापुरुषों में उसे यही बात अच्छी लगती थी कि उनके जीवन पूर्ण थे। जीवन-सम्बन्धी उसके विचारों ने उसे नई फ़िलासफ़ी निकालने पर बाध्य किया और इस फ़िलासफ़ी ने उसके विचारों को दृढ़ किया। अपने जीवन-दर्शन में उसका सबसे बड़ा और पहला प्रश्न यह है—"तुम जीवन को क्या कहते हो ? हाँ या न ?"

इससे पूर्व कि हम इस प्रश्न के महत्त्व को समझें, हमें एक अन्य प्रश्न की बेहूदगी के समझने की ज़रूरत है। आम तौर पर यह पूछा जाता है—"क्या यह जीवन रहने के योग्य भी है ?" इस प्रश्न का अर्थ यह है कि हम जीवन का मूल्य किसी अन्य वस्तु से आँक सकते हैं।

निश्चे कहता है—यह बात ग़लत है। जीवन का मूल्य किसी अन्य वस्तु से नहीं आंका जा सकता। जीवन तो हमारे सभी मूल्यों को परखने का मीआर या मर्यादा है। हमारा बड़े से बड़ा मन्तव्य तभी सत्य हो सकता है जब कि वह जीवन के लिए लाभदायक और उन्नतिप्रद हो। यदि जीवन ही हमारी अन्तिम मर्यादा है तो यह मर्यादा किसी अन्य वस्तु से नापी-तोली कैसे जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। मानव-जीवन स्वयं ही अपना मूल्य नहीं जान सकता। उसका मूल्य जानने के लिए किसी अन्य अस्तित्व की आवश्यकता है जो मानव-जीवन से ऊपर हो।

"हाँ" और "न" से हमारा अभिप्राय इतना ही है कि हम जीवन को बढ़ाना चाहते हैं या उससे घृणा करते हैं। हम 'हाँ' इसलिए नहीं कहते कि जीवन को लाभदायक पाते हैं, बल्कि जब पहले 'हाँ' कहते हैं तब जीवन का आनन्द तथा लाभ हमारी समझ में आता है। और जब हम उसे 'न' कहते हैं तब हमारे लिए जीवन घृणास्पद और बोझ के समान हो जाता है। ऐसी अवस्था में यह मनोवृत्ति निर्बलता तथा पतनशीलता प्रकट करती है। तब अन्दर से एक नैसर्गिक बुद्धि जीवन को कहती है—'तू ख़त्म क्यों नहीं होता?'

निश्चे की सम्मति में उन्नतिशील जीवन ही आदर्श जीवन है। परन्तु इसके साथ ही यह भी समझना आवश्यक है कि इस जीवन के समस्त रूप न एक प्रकार के होते हैं, न एक-सा मूल्य रखते हैं। हर एक रूप का मूल्य कुछ-न-कुछ अवश्य होता है, जिसका परिमाण उसकी उन्नति के दर्जे पर अवलंबित होता है। उसका अन्तिम दर्जा वह पूर्णता है जहाँ तक पहुँचना जीवन के लिए सम्भव हो सकता है, अर्थात् अधिक से अधिक पूर्णता। तब मनुष्य अतिमानव ('सुपरमैन') हो जाता है।

जर्मन दर्शनाचार्य कांट भी इसी विचार की पुष्टि करता है। वह कहता है कि किसी उद्देश को प्राप्त करने के लिए मनुष्य साधन नहीं है, बल्कि स्वयं उद्देश है। यह संसार नरक की दर्मियानी मंज़िल नहीं है। वह नैतिक सिद्धान्त जो इस जीवन या लोक को इसलिए नष्ट करता है कि परलोक सुधर जाय, सर्वथा निरर्थक है।

अच्छाई और बुराई का अन्तिम निर्णय जीवन की मर्यादा पर परखा जायगा। प्राचीन काल की बहुत-सी बुराइयाँ हैं, जो इस समय अच्छाइयों के रूप में प्रकट हो रही हैं। जिस किसी ने पर्वत की उन चोटियों को देखा है जहाँ बर्फ़ पड़ी है, उसे मुश्किल से इस बात पर विश्वास होगा कि कभी उनका स्थान सुन्दर नदियाँ, तराइयाँ और चरागाह ले लेंगे। प्रकृति की विध्वंसकारी शक्तियाँ जो किसी समय बहुत बुरी और भयानक मालूम देती हैं, मनुष्य के लिए बड़े भारी इंजीनियर और मार्ग साफ़ करनेवाले के समान सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल की ईर्ष्या और निर्दयता भी मानवीय उन्नति के मार्ग में लाभदायक सिद्ध हो रही हैं।

निश्चे का सुपरमैन दूसरों को डरानेवाला मनुष्य नहीं है जिससे लोग भय खाते हों। उसके विचार में मनुष्य ऐसी नैसर्गिक बुद्धियों का एक संग्रह है जो थोड़ी-बहुत क्रम-बद्ध हैं। अतएव जितनी अधिक नैसर्गिक बुद्धियाँ एक मनुष्य में होंगी और जितनी ज़ियादा वे सुसंगठित होंगी, उतना ही ज़ियादा उसका जीवन उन्नत होगा। कारण, निश्चे का विचार है कि हर एक नैसर्गिक बुद्धि शक्ति का केन्द्र है जो आगे ही आगे बढ़ना चाहता है। इसलिए जिस मनुष्य में ऐसे केन्द्र सबसे अधिक हैं, और वे ऐसे अनुपात में काम करते हैं कि वह नियम-पूर्वक चलनेवाला संगठन बन जाता है, वह निश्चे के आदर्श को पूरा कर सकता है। निश्चे के मतानुसार अतिमानव या सुपरमैन की परिभाषा यह हो सकती है—'वह मनुष्य जिसमें बहुत-सी योग्यताओं का बड़ा भारी संग्रह सुसंगठित पाया जाय।' इसी जीवन को निश्चे पूर्ण जीवन कहता है।

निश्चे का कथन है कि ऐसे संपूर्ण मनुष्य का मिलना बहुत कठिन है। अधिकतर मनुष्यों में एकांगी उन्नति पाई जाती है। किसी के कान नहीं होता, किसी के आँख नहीं होती; किसी के जिह्वा नहीं है और किसी का मस्तिष्क ही नहीं मिलता। "नहीं, नहीं," वह

कहता है—"मैंने इन लूलों से बढ़कर ख़राब आदमी भी देखे हैं। ऐसे मनुष्य जिन में शेष सब कुछ छोड़ कर केवल एक ही गुण पाया जाता है। वह असाधारण रूप में। अर्थात् ऐसे मनुष्य जो केवल एक बड़ी आँख हैं, या बड़ा मुख हैं या बड़ा पेट; इसके सिवा कुछ नहीं।...मैंने एक कान देखा जो आदमी के बराबर बड़ा था और एक पतली डंडी के साथ जुड़ा हुआ था। वह डंडी मनुष्य था। लोग कहते थे कि वह बड़ा कान न केवल मनुष्य है प्रत्युत अलौकिक बुद्धि भी। वास्तव में वह एक लूला था जिसमें एक ही गुण था; और कुछ न था।......मैं संसार में मानवीय अंगों के पृथक् पृथक् टुकड़े देखता हूँ, उसी प्रकार जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में वे कटे पड़े हों। यहाँ अलग-अलग अंग हैं, टुकड़े हैं। कहीं कोई संपूर्ण मनुष्य नहीं मिलता।"

संपूर्ण मनुष्य नहीं मिलता, इसका कारण क्या है? कारण यह है कि संपूर्ण मनुष्य उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस त्रुटि के लिए ईसाइयत सबसे बढ़कर उत्तरदायी है। उसने शरीर और संसार के लिए घृणा की शिक्षा देकर सभी मनुष्यों को रुग्ण एवं रक्तहीन बना दिया है। निश्चे समझता है कि ईसाइयत की शिक्षा ने यह बड़ा भारी पाप किया है जो संपूर्ण मनुष्य का उत्पन्न होना असंभव बना दिया है। दूसरी तरफ़, संसार में यदि किसी ने संपूर्ण मनुष्य पैदा करने का प्रयत्न किया है तो वह हिन्दुओं का क़ानून बनानेवाला मनु है जिसने वर्णाश्रम के तरीक़े को प्रचलित किया।

निश्चे का कथन है—"यह ग़लत है कि सभी मनुष्य बराबर हैं। साम्यवादी और जनसत्तावादी लोगों की यह शिक्षा गुमराह करनेवाली है।" वह मानता है कि मनुष्यों में स्वाभाविक दर्जे हैं। हर एक मनुष्य, एक प्रकार से, अपना-अपना दर्जा लेकर उत्पन्न होता है, इसलिए विभिन्न दर्जों के लोगों के लिए क़ानून का ज़ाब्ता भी विभिन्न होता है और उनकी आचार-नीति भी भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु निचली श्रेणियों की नीति सीढ़ी के समान है जो उन्हें अगले दर्जे में ले जाती है। और, जब तक कोई मनुष्य ऊँचे दर्जे के योग्य नहीं होता, उसे अपने दर्जे से हटाना उसके विनाश का कारण होगा। इस तथ्य को विस्मृत करके सभी मनुष्यों को एक ही ज़ाब्ते की रस्सी से बाँधने का परिणाम यह होगा कि एक प्रकार का मकर या फ़रेब फैल जायगा।

सुपरमैन वास्तव में वही कुछ होता है जो वह प्रकट होता है; और जैसा वह प्रकट होता है वैसा ही वह है। वह बुराई से परहेज़ करता है। इस कारण कि स्वभावतः वह अच्छाई की तरफ़ जाता है। वह दूसरों का हित इसलिए नहीं करता कि इससे कोई प्रसन्न होगा, बल्कि इसलिए कि भला करना उसके स्वभाव का अंग बन चुका है।

सांसारिक लोगों की अवस्था इससे भिन्न है। उनके लिए समाज का ज़ाब्ता आवश्यक है। सांसारिक जो कुछ करता है समाज के भय से करता है। सामाजिक पाबन्दियाँ उसे सदा रोक कर रखती हैं। इस विषय में एक उदाहरण दिया गया है। एक लड़की से पूछा गया—"तुम्हारा नाम क्या है?" उसने उत्तर दिया—"मेरी।" प्रश्न किया गया—"मेरी? कौन मेरी?" लड़की बेचारी सोच में पड़ गई। फिर कहने लगी—"मेरी मत।" प्रश्न हुआ—"अरी, यह क्या?" उसने उत्तर दिया—"मेरी माता जब मुझको बुलाती है तब "मेरी मत" कहती है।" (अर्थात् हर बार माता उसे, 'मेरी, ऐसा मत करो!' कहती रहती है।) यही ज़ाब्ता है जो यहूदी और ईसाई-मज़हब के लिए तब से नियत किया गया जब से बाबा आदम फल न खाने का आदेश न मानने के कारण स्वर्ग से निकाल दिया गया।

निश्चे कहता है कि जब तक लोगों का इस निचले दर्जे से संबंध है तब तक उनके लिए यही अच्छा है कि वे अपने सामाजिक रीति-रवाजों में बँधे रहें। परंतु निश्चे वंशपरंपरा या विरासत के आधार पर दर्जे नियत नहीं करता। वह कहता है—"मनुष्य के दर्जे का इस बात से निर्णय किया जाता है कि वह ख़ुद क्या है, न कि इस बात से कि उसके बाप-दादा क्या थे। इसलिए तुम्हें इस बात पर घमंड न होना चाहिए कि तुम इस घराने

में उत्पन्न हुए हो, बल्कि इस बात में कि तुम किधर जा रहे हो।" इसलिए वह साम्यवाद और जनसत्तावाद को इस अर्थ में ठीक समझता है कि उनसे मनुष्य को अपना काम तथा आदर्श चुनने में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है और उनको क्रियात्मक रूप देने में उसे पूरा-पूरा अवसर मिलता है। परन्तु जब कोई मनुष्य पुराने रवाज और मज़हबी बंधन को तोड़ता है तब उसे सिद्ध करना होगा कि ऐसा वह किसलिए करता है। अपनी पुस्तक 'ज़रथुश्त' में निश्चे लिखता है—"क्या तुम अपने आपको स्वतन्त्र कहते हो ? मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम्हारा वास्तविक विचार क्या है, न कि यह कि तुमने पाबन्दी तोड़ दी है। मैं देखना चाहता हूँ कि आया तुम इस पाबंदी को तोड़ने के अधिकारी भी हो। बहुत-से लोगों ने अपनी असली क़द्र भी खो दी जब उन्होंने पाबंदियों को परे फेंक दिया।"

इस आदर्श पर पहुँचने का रास्ता ज़रा लम्बा है। मनु ने हर एक मनुष्य के लिए जीवन के चार भाग नियत किये हैं। हर भाग के कर्तव्य भिन्न हैं। इसी प्रकार समाज के व्यक्तियों की योग्यता को देखकर वह चार भागों में विभक्त किया गया। बहुत-से लोगों का कर्तव्य तो केवल सेवा ही नियत किया गया। उनसे अगला दर्जा धन कमानेवालों का आया। तीसरा दर्जा शक्तिशाली लोगों का जो शासन करें, और चौथा ब्राह्मणों का जिनका काम ज्ञान-प्रसार था। ब्राह्मण की स्थिति समाज में प्रकाश फैलानेवाले दीपक के समान थी। वे पाप और अपराध से ऊपर थे, इसलिए उनको कोई दंड न दिया जा सकता था। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि किसी गाँव में आग लग जाय तो सबसे पहले ब्राह्मण को बचाना आवश्यक है। ये सब क़ानून इसलिए नहीं बनाये गये थे कि मनु ब्राह्मणों के साथ रिआयत करना चाहते थे, बल्कि इसलिए कि ब्राह्मण सचमुच सुपरमैन के दर्जे तक पहुँच चुका था। ब्राह्मण पिरामिड की उस शानदार चोटी के समान था जिस पर आँधियाँ और बादल आते हैं, परन्तु वह सबको अपनी निराली शान के साथ सहन करता है और साथ ही अपनी चमक दिखाता रहता है। इस पिरामिड की नींव बहुत विस्तृत थी। इस संस्थान को वर्णाश्रमधर्म-नाम दिया गया। यह संस्थान हिन्दू-संस्कृति का प्राण है, उसकी शान है।

यह संपूर्ण जीवन है जो निश्चे का आदर्श है। इसी जीवन का उल्लेख करते हुए वह लिखता है—"ऐसा अच्छा जीवन व्यतीत करो कि पुनः जीवन प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो। यह इच्छा एक बार के लिए ही न हो, प्रत्युत असंख्य बार के लिए।" यहाँ पर हमारे सामने निश्चे की फ़िलासफ़ी का नैतिक पक्ष आ जाता है। वह इस जीवन की इतनी क़द्र करता है कि चाहता है, इस संसार में हम बार बार आयें और जीवन को संपूर्ण बनायें। यह निश्चे का शाश्वत पुनरावृत्ति का सिद्धांत है। यही हिन्दू तथा बौद्ध दर्शनों का आवागमन है।





भारत में ब्रिटिश व्यापार

इस लेख में बाबू सीतलासहाय जी ने अँगरेज़ी व्यापार के पिछले २५ वर्ष के इतिहास पर साधारण दृष्टि डालते हुए यह सिद्ध किया है कि इँगलैंड धीरे धीरे भारतवर्ष पर से अपनी व्यापारिक प्रभुता खोता जा रहा है। आगे ब्रिटिश व्यापार की भारत में क्या अवस्था होगी इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है।

श्रीयुत सीतलासहाय



ब्रिटिश राज्य के आगमन के साथ साथ हिन्दुस्तान में ब्रिटिश व्यापार की भी अनुपम उन्नति हुई। अरबों रुपये का ब्रिटिश माल प्रतिवर्ष हिन्दुस्तान में आया और आता है और अरबों रुपया प्रतिवर्ष इस व्यापार की मद में इँग्लिस्तान को गया और जाता है। भारतवर्ष यों तो सैकड़ों छोटी मोटी चीज़ें इँग्लिस्तान से ख़रीदता है, लेकिन आज से २५ वर्ष पहले वह कपड़ा और लोहे की चीज़ें सबसे अधिक मात्रा में उस देश से ख़रीदा करता था। हिन्दुस्तान का कपड़े और लोहे का बाज़ार पूर्णतया इँग्लैंड के हाथ में था। इन वस्तुओं के सम्बन्ध में इँग्लिस्तान का हिन्दुस्तान पर एकाधिपत्य था और इस प्रकार का प्रबल एकाधिपत्य भारतवर्ष की तो बात जाने दीजिए, संसार का कोई अत्युन्नत राष्ट्र भी हिलाने का साहस नहीं कर सकता था। किन्तु योरपीय महायुद्ध के बाद इँग्लैंड का भारतवर्ष पर से व्यापारिक प्रभुत्व घटने लगा और वर्ष प्रतिवर्ष घटता ही गया। ५० करोड़ रुपये के कपड़े का वार्षिक व्यापार आज १४ करोड़ रुपये का रह गया और ७ करोड़ रुपये का लोहे का व्यापार घट कर २½ करोड़ रुपये पर आ गया है। १९०९-१४ में भारत के वैदेशिक व्यापार का ६३ प्रतिशत इँग्लैंड के हाथ में था। १९१४-१९ में केवल ५६ प्रतिशत उसके हाथ में रह गया था। १९३०-३१ में यह मात्रा घट कर ३७ रह गई थी और १९३२-३३ में भी ३७ ही है। नीचे लिखे अंक इँग्लैंड की इस व्यापारिक अवनति को प्रकट करते हैं—

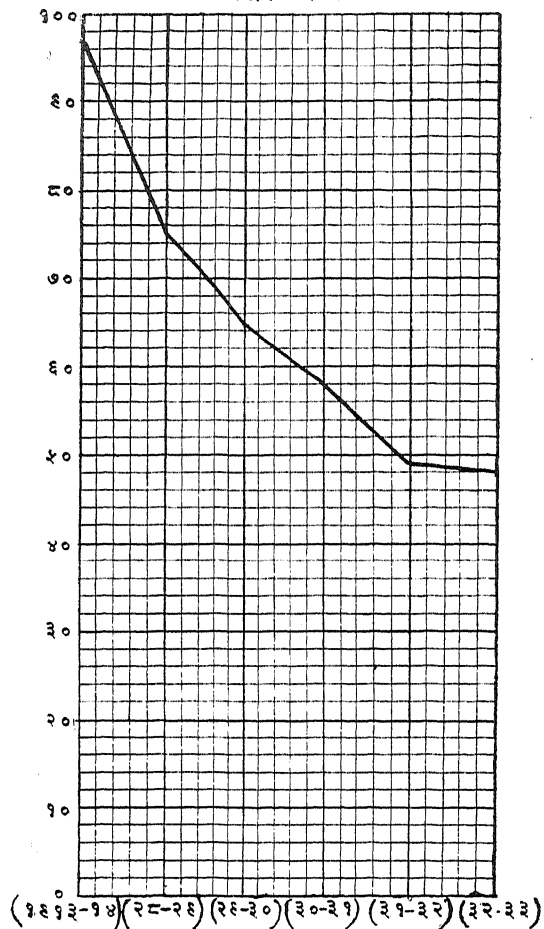
विदेशी माल और उसमें इँग्लैंड का हिस्सा

नाम वस्तु	१९१३-१४ लाख रुपये	इँग्लैंड का अंश	१९३१-३२	इँग्लैंड का अंश	१९३२-३३	इँग्लैंड का अंश	
कपड़ा	६,६३०	९०·१	१,९१५	५१·६	२,६३८	५३·०	ये अंक लाख रुपये में हैं।
लोहा और फ़ौलाद	१,६०१	९९·९	६३२	५३·८	५३०	५१·१	
मशीन और मिलें	७७६	८९·८	१०९	७०·८	१,०५४	७४·१	
शराब	२२४	६२·९	२२७	६०·८	२२६	६२·१	
लोहे की फुटकर चीज़ें	२९५	५७·२	२६१	३६·८	२९९	३०·६	
औज़ार	१८२	७५·३	३९९	४९·६	३८५	५०·५	
मोटरकार, साइकिल, लारी इत्यादि	१५३	७१·३	२८९	३१·३	२४३	४७·६	

इँग्लेंड के इस अपूर्व व्यापारिक पराभव से अँगरेज़ व्यापारी बहुत चिन्तित हैं। और ओटावा कान्फ़रेंस आदि को इसी चिन्ता-निर्वाण की औषधि समझना चाहिए। पश्चिमी राष्ट्रों में अँगरेज़-जाति ही प्रथम जाति थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ओर पहले-पहल ध्यान दिया और सफल रही। जब सारा संसार सो रहा था, इस राष्ट्र ने सारी दुनिया पर अपना व्यावसायिक प्रभुत्व जमा लिया। जब दुनिया जागी तब अन्य राष्ट्रों का ब्रिटिश व्यावसायिकों के साथ व्यापारिक संघर्ष आरम्भ हुआ और परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश व्यापार का संसार में और विशेषकर भारतवर्ष में आज वह स्थान नहीं रहा जो २५ वर्ष पहले था। अतएव अँगरेज़ राजनीतिज्ञों और देशभक्तों के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि इँग्लिस्तान का व्यापार कैसे बढ़ाया जाय और उसे उसके पूर्ववत् गौरव के स्थान पर कैसे पहुँचाया जाय।

कपड़े का व्यापार

भारतवर्ष इँग्लिस्तान के कपड़े का बहुत पुराना ग्राहक है। पिछले १०० वर्ष में इस मद में भारतवर्ष ने इँग्लिस्तान को जितना रुपया दिया है, अगर उसकी एक दीवार बनाई जाती तो उससे २ फुट चौड़ी ८ फुट ऊँची ५ मील लम्बी दीवार तैयार होती। लेकिन यह लेख हम चाँदी या सोने के महल बनाने के लिए नहीं लिख रहे हैं। इसमें हम अँगरेज़ी व्यापार के पिछले २५ वर्ष के इतिहास पर साधारण दृष्टि डालना चाहते हैं। आज से २५ वर्ष पहले अर्थात् योरपीय महायुद्ध के पूर्व हिन्दुस्तान अन्य विलायतों से ३१ अरब ५६ करोड़ ३० लाख गज़ कपड़ा जिसके दाम क़रीब ४८ करोड़ रुपये होते हैं, और ४ करोड़ १७ लाख ६३ हज़ार पौंड सूत जिसके दाम ५ करोड़ रुपये होते हैं, प्रतिवर्ष ख़रीदता था। इस व्यापार में इँग्लेंड का ६७ प्रतिशत हिस्सा था, क्योंकि उस समय इँग्लेंड का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, और यह कह सकते हैं कि भारतवर्ष के कपड़े के बाज़ार पर इँग्लेंड का पूरा पूरा इजारा था। उस समय इस देश में जापान केवल ०·३ प्रतिशत माल बेचा करता था और इतना ही अमरीका। अन्य देशों का हिस्सा २·३



प्रतिशत हुआ करता था। किन्तु पिछले २५ वर्ष में इँग्लेंड के कपड़े के व्यापार के दो प्रतिद्वन्द्वी इस देश में पैदा हो गये। एक जापान और दूसरा स्वदेशी मिलें। इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों ने कपड़े के अँगरेज़ी व्यापार को क़रीब क़रीब आधा कर दिया। सन् १९३१-३२ के आँकड़ों के अनुसार हिन्दुस्तान में विदेशों से कुल ७ अरब ५२ करोड़ ३० लाख गज़ कपड़ा आया जिसके दाम १४ करोड़ ६६ लाख रुपये हुए और सूत ३ करोड़ १५

लाख ७५ हज़ार पौंड आया जिसके दाम ३ करोड़ रुपये हुए। लेकिन इसमें इँग्लेंड का माल केवल आधा था। इसका मतलब यह निकला कि युद्ध के पूर्व इँग्लेंड ने ५० करोड़ रुपये का कपड़ा और सूत हिन्दुस्तान के हाथ बेचा था और १९३१-३२ में केवल १० करोड़ का ही बेच सका। अर्थात ८० प्रतिशत की कमी हो गई। १९१३-१४ में ९७.१ प्रतिशत भारत की कपड़े की माँग इँग्लिस्तान पूरी करता था। किन्तु १९२८-२९ में ७५.२ ही प्रतिशत माल इँग्लेंड दे सका और १९२९-३० में यह मात्रा घटकर ६५% प्रतिशत रह गई। और १९३०-३१ में ५८.८, १९३१-३२ में ४९.४ और १९३२-३३ में केवल ४८.७ हो गई। ब्रिटिश ऊनी कपड़ा लड़ाई के पहले १ करोड़ ८५ लाख २४ हज़ार रुपये का हिन्दुस्तान में आया करता था, किन्तु १९३०-३१ में वह ६७ लाख का, १९३१-३२ में ४० लाख ५३ हज़ार का और १९३२-३३ में ७१ लाख ७८ हज़ार का ही आया है। अर्थात् युद्ध के पूर्व के काल से क़रीब ६० प्रतिशत घटी हुई।

निम्नलिखित अंक स्थिति को बिलकुल स्पष्ट कर देंगे।

(अंक हज़ार में हैं)

माल	युद्ध के पूर्व	(१९३०-३१)	(१९३१-३२)	(१९३२-३३)
कच्ची रुई	५,८६७	२,७४२	४१६	४६०
सूत	३३,५१८	१२,६५७	१२,१८२	१३,१८०
कोरा कपड़ा	२,०७,३५५	२८,१२८	९,५५४	१७,५९५
सफ़ेद धुला	१,०८,७३८	५२,२९४	४०,२०२	५२,६७९
रंगीन	१,१२,९७२	४४,७५६	२८,५३६	४८,७६३
अन्य कपड़े	१४,०२५	८,५९७	८,३०१	९,९७८
	४,८२,४७५	१४,९१,७४	९९,१९१	१,४२,५२५
ऊनी कपड़ा	१८,५२४	६,७३२	४,०५३	७,१७८
व सूत	५,००,९९९	१,५५,९०६	१,०३,२४४	१,४९,७३३

प्रश्न यह हो सकता है कि कपड़े का भाव घट गया है। इसलिए इँग्लेंड के व्यापार में ८०% प्रतिशत की कमी दिखाई देती है। यदि इँग्लेंड के कपड़ों की माप गज़ों-द्वारा हो तो शायद कोई कमी न मिलेगी। लेकिन यह शङ्का भी निराधार है। युद्ध के पहले हिन्दुस्तान में ३ अरब २० करोड़ गज कपड़े में से ३ अरब १० करोड़ गज़ कपड़ा इँग्लेंड से आता था। १९३१-३२ में ७ अरब ५२ लाख गज़ कपड़े में से केवल ५३ करोड़ गज़ कपड़ा इँग्लिस्तान से आया। निम्नलिखित आँकड़े देखिए—

कुल विलायती कपड़ा

			इँग्लेंड से आया	
१९१३-१४ में	३१,९७०	लाख गज़	३१,०४०	लाख
१९१८-१९ में	११,२२०	,,	८,६७०	,,
१९२७-२८ में	१९,७३०	,,	१५,४३०	,,
१९२८-२९ में	१९,१९०	,,	१२,४८०	,,
१९३१-३२ में	७,५२३	,,	३,७२९	,,

इँग्लेंड का कपड़े का व्यापार ३ अरब १० करोड़ गज़ से घटकर १९३१-३२ में केवल ३७ करोड़ २९ लाख गज़ रह गया अर्थात् क़रीब ८७ प्रतिशत कम पड़ गया। १९३०-३१ की 'इण्डिया' नाम की गवर्नमेंट रिपोर्ट में लिखा है—

"कपड़े के व्यापार में इँग्लेंड के हिस्से का १९१३-१४ की अपेक्षा ३१,०४० लाख गज़ से घट कर १९२९-३० में १२,४८० लाख गज़ का आ जाना दो कारणों पर निर्भर है। एक तो यह कि हिन्दुस्तान की मिलों ने १२,५५० लाख गज़ पकड़ा बना लिया और ५,५०० लाख गज़ से ज़्यादा कपड़ा जापान से आया।" (पृ० ३१०)

१९३२-३३ में अँगरेज़ी कपड़े का व्यापार कुछ बढ़ा है। पिछले वर्ष की अपेक्षा हिन्दुस्तान ने इस वर्ष इँग्लिस्तान से २,१०० लाख गज़ कपड़ा जिसके दाम ४ करोड़ रुपये होते हैं, ज़्यादा ख़रीदा है। इसका कारण

जैसा १९३२-३३ की गवर्नमेंट की व्यापारिक रिपोर्ट में बताया गया है, यह था कि "ब्रिटिश माल-बहिष्कार-आन्दोलन के सम्पूर्णतया बन्द हो जाने के कारण और कांग्रेस के आन्दोलन के धीरे धीरे रुक जाने की वजह से जिससे १९३०-३१ में व्यापार को इतना भारी धक्का पहुँच गया था, विलायती माल की ख़रीद में तेज़ी आ गई और जो व्यापारी अँगरेज़ी माल बेचा करते थे उनकी नई तौर से हिम्मत बँध गई। इन बातों का अँगरेज़ी व्यापार पर विशेष रूप से बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। और इँग्लेंड से इस वर्ष ४ करोड़ रुपये का कपड़ा और आया" (पृ० २३)

जापान और इँग्लेंड

जैसा ऊपर कहा गया है, इँगलिस्तान के कपड़े के व्यापार को जापान और स्वदेशी मिलों ने मिलकर बहुत धक्का पहुँचाया है। जापान की प्रतिस्पर्धा इँग्लेंड इस समय सारे संसार में अनुभव कर रहा है। १९१० में जिस प्रकार की व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता जर्मनी और इँग्लेंड में पाई जाती थी, उसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा आज जापान और इँग्लेंड में दिखाई दे रही है। लंदन के टाइम्स ने एक दफ़ा लिखा था—"लङ्काशायर को सबसे बड़ा प्रत्यक्ष भय जापान से है, जिसकी प्रतिस्पर्धा हमारे पुराने बाज़ारों में दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति के साथ बढ़ती जा रही है। दस वर्ष पहले जापान की प्रतिद्वन्द्विता महत्त्व-शून्य थी। पाँच वर्ष हुए हमने इस प्रतिद्वन्द्विता का चन्द बाज़ारों में अनुभव करना शुरू किया। आज संसार में कोई बाज़ार ऐसा नहीं जहाँ जापान का प्रवेश हो और वह सबको नीचा न दिखा रहा हो। केवल ६० लाख तकुओं से जापान जितने कपड़ों का वैदेशिक व्यापार कर लेता है, लंकाशायर उतना पाँच करोड़ तकुओं को चलाकर भी नहीं कर पाता। अगर यही दशा रही तो पाँच वर्ष में सम्भव है जापान हमारा ख़ात्मा कर दे।" (२३ नवम्बर १९३३)

जापान की इँग्लिस्तान के प्रति यह प्रतिद्वन्द्विता शान्त होती हुई नहीं दिखाई देती। हिन्दुस्तान में जो इस सम्बन्ध में लाग-डाँट थी, पिछले महीने के समझौते से उसमें ज़रूर कमी आई है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि संसार के और बाज़ारों में यह प्रतिस्पर्धा अभी कुछ दिन क़ायम रहेगी। जापान ने संसार के जिन जिन बाज़ारों में अपना क़दम जमा लिया है वहाँ से हटाना नहीं चाहता। जापान इस बात के लिए ज़रूर तैयार है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत जो देश हैं उनके बारे में ब्रिटिश शासकों से कुछ समझौता कर ले। क्योंकि वह समझता है कि इन देशों में जापानी माल पर वे लोग मनमाना कर लगा सकते हैं। लेकिन जो देश ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर हैं उनके सम्बन्ध में जापान किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं।

निस्सन्देह लंकाशायर इस स्थिति से प्रसन्न नहीं। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और देश-भक्त जापान की इस प्रतिस्पर्धा को अपने देश के लिए घातक समझते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन की राष्ट्रीय सम्पत्ति और शक्ति उसके व्यवसाय और विदेशी व्यापार पर ही निर्भर है। कपड़े का व्यापार ब्रिटिश व्यापार का मुख्यांग है। जो राष्ट्र इस व्यापार के नष्ट करने में सहायक होंगे, अँगरेज़ देश-भक्त उस राष्ट्र के कट्टर दुश्मन होंगे। अर्वाचीन युग में व्यापार और व्यवसाय की उन्नति और राष्ट्र की उन्नति पर्यायवाची शब्द समझे जाते हैं। दोनों साथ साथ चलते हैं। इँग्लेंड के इतिहास में तो यह सिद्धान्त बिलकुल सत्य प्रमाणित हुआ है। इसलिए अँगरेज़ी कपड़े के व्यवसाय को जापान-द्वारा इस प्रकार आक्रान्त होते देखकर अँगरेज़ राजनीतिज्ञों का सशंक होना स्वाभाविक ही है।

हिन्दुस्तान के बाज़ार में जापानी व्यापार की अपूर्व उन्नति हुई है। १९१३-१४ में अर्थात् युद्ध के पहले हिन्दुस्तान में यदि इँग्लिस्तान का माल २९०) का बिकता था तो जापान का केवल १) का। १,०००) के विदेशी कपड़े में ९७८) का कपड़ा इँग्लिस्तान का होता था, केवल ३) का जापान का। आज दशा यह है कि १००) के विदेशी कपड़े में ४७) का जापान का होता है और ४८) का इँग्लिस्तान का। २० वर्ष के अन्दर प्रतिहज़ार में ३) से बढ़ कर ४७८) तक पहुँच जाना निस्सन्देह जापान की अनुपम उन्नति का प्रमाण है। भारत और सीलोन के ट्रेड

कमिश्नर अपनी १९३२-३३ की व्यापारिक रिपोर्ट में लिखते हैं—

"इस वर्ष विलायती सूत की आमद ३,१५,७५,१०० पौंड से बढ़ कर जो २९९ लाख रुपये का होता है, ४,५१,०३,३४२ पौंड हो गई जिसकी क़ीमत ३३७ लाख रुपये हुए। इसके दो कारण थे। एक यह कि राजनैतिक आन्दोलन के दब जाने की वजह से व्यापार में सुविधायें पैदा हो गईं, दूसरे यह कि सोने के महँगे हो जाने के कारण जुलाहों ने अपनी पुरानी बचत का सोना और ज़ेवर बेच कर सूत ख़रीदने की अधिक शक्ति प्राप्त कर ली। किन्तु इस सन्तोषजनक व्यापारिक उन्नति का फ़ायदा ख़ास कर जापान ने ही उठाया, जिसने इस वर्ष पिछले वर्ष से वज़न में तिगुना सूत बेचा और क़ीमत में दुगुना। जापान ने १९३१-३२ में ६२,०६,१९७ पौंड का सूत बेचा था। १९३२-३३ में १,८१,४८,२०९ पौंड का सूत बेचा। १९३१-३२ में ८३ लाख रुपये का सूत बेचा था। १९३२-३३ में १६१ लाख रुपये का बेचा (पृष्ठ ११९)

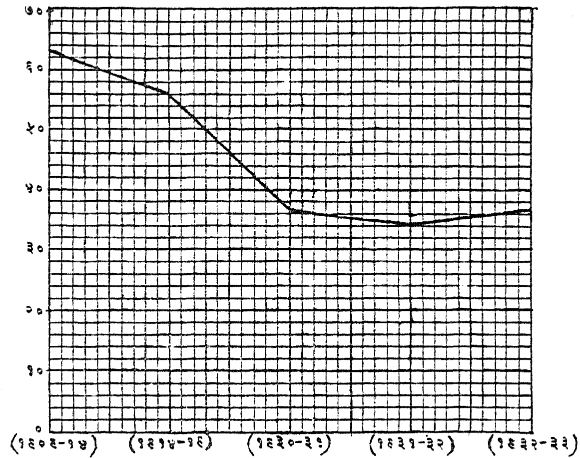
निम्नलिखित आंकड़े ऊपर की बातों को अधिक स्पष्ट करते हैं—

जापान की व्यापार-उन्नति

१९१३-१४	०·३	प्रतिशत
१९२८-२९	१८·४	,,
१९२९-३०	२९·३	,,
१९३०-३१	३६·१	,,
१९३१-३२	४३·८	,,
१९३२-३३	४७·८	,,

अँगरेज़ी व्यापार और स्वदेशी मिलें

यद्यपि स्वदेशी मिलें अँगरेज़ी व्यापार के शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं और न हो ही सकती हैं, तो भी पिछले २० वर्ष में राष्ट्रीय आन्दोलन की सहायता से जो उन्नति हिन्दुस्तान की मिलों ने की है वह आशाजनक और प्रशंस-



नीय है। १९१३-१४ में ७५ प्रतिशत मशीन का बना हुआ कपड़ा विलायत से आता था और २५ प्रतिशत हिन्दुस्तान की मिलें बनाती थीं। १९३१-३२ तक पहुँचते पहुँचते हिन्दुस्तान की मिलों ने इतनी उन्नति कर ली कि स्थिति बिलकुल पलट गई। आज-कल हिन्दुस्तान में ८० प्रतिशत माल हिन्दुस्तानी मिलों का खपता है और केवल २० प्रतिशत विलायती मिलों का। इस २० प्रतिशत में इँग्लेंड का क़रीब क़रीब दस प्रतिशत का हिस्सा है और बाक़ी १० प्रतिशत में जापान और अन्य देश हैं। १९१३-१४ में साढ़े चार करोड़ पौंड सूत विलायत से हिन्दुस्तान में आता था। आज भी क़रीब उतना ही आ रहा है। उस समय हिन्दुस्तानी मिलें ६८ करोड़ पौंड सूत बनाती थीं। लेकिन आज एक अरब पौंड बना रही हैं। अर्थात् पहले से अब १५० प्रतिशत उन्नति हुई है। यही दशा कपड़े की भी है। १९१३-१४ में ३ अरब गज़ कपड़ा विलायत से आता था और १ अरब गज़ हिन्दुस्तानी मिलें बनाती थीं। १९३२-३३ में विलायती कपड़े की मात्रा घट कर १ अरब गज़ हो गई है और स्वदेशी कपड़े की बढ़ कर ३ अरब। अग्र-लिखित आंकड़े स्वदेशी सूत और कपड़े दोनों की उन्नति को प्रमाणित करते हैं।

सूत (पौंड वज़न)

	१९१३-१४	१९२९-३०	१९३०-३१	१९३१-३२	१९३२-३३
विलायती सूत	४४,१७१ हज़ार १००%	४३,८८२	२९,१४०	३१,५७५	४५,१०३ १००%
स्वदेशी सूत	६,८२,७७७ १००%	८,३३,५६०	८,७६,२७९	९,६६,४०७	१०,१६,४१८ १५०%

स्वदेशी और विलायती कपड़ा (लाख गज़)

	१९१३-१४	१९२८-२९	१९२९-३०	१९३०-३१	१९३१-३२	१९३२-३३
स्वदेशी	११,६४३	१८,९३३	२४,१९०	२५,६११	२९,८९९	३१,६९९
विलायती	३१,९७१	१९,३६८	१९,१९३	८,९००	७,७५६	११,२५३

लोहे और फ़ौलाद का व्यापार

कपड़े के बाद लोहे और फ़ौलाद का नम्बर आता है। युद्ध के पहले भारतवर्ष इँग्लेंड से क़रीब क़रीब सात करोड़ रुपये का लोहा और फ़ौलाद ख़रीदता था। लेकिन इँग्लेंड का यह व्यापार भी धीरे धीरे मन्द पड़ रहा है। १९३२-३३ में केवल २$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये का इँग्लेंड का लोहा और फ़ौलाद हिन्दुस्तान में आया है। लोहे की छोटी-मोटी चीज़ें कील, कांटे, सिटकनी इत्यादि युद्ध के पहले क़रीब क़रीब २ करोड़ के इँग्लिस्तान से हिन्दुस्तान में आया करती थीं, लेकिन १९३२-३३ में केवल ९ लाख रुपये का इस क़िस्म का सामान इँग्लेंड से आया है।

इस व्यापार में बेल्जियम इँग्लेंड के आड़े आ गया और इस व्यापार का काफ़ी अंश उसने इँग्लेंड से छीन लिया। मुख्य बात तो यह हो गई कि लोहे और फ़ौलाद के वैदेशिक व्यापार में ही बहुत कुछ कमी आ गई। हिन्दुस्तान में टाटा की लोहे की मिल खुल गई, जो हर क़िस्म का लोहा और फ़ौलाद बना रही है। गवर्नमेंट भी उससे लाखों टन रेलें प्रतिवर्ष ख़रीदती है और इसके अलावा प्रतिवर्ष लाखों टन हर क़िस्म का लोहा और फ़ौलाद बनता और बिकता रहता है। १९३२-३३ में उसने ६ लाख टन पिग आइरन और ४ लाख टन फ़ौलाद बनाया था। इसके अलावा कई लाख टन लोहे की चद्दरें और अन्य लोहे के सामान बनाती रही है। १९१३-१४ में १० लाख १८ हज़ार टन विदेशी लोहा हिन्दुस्तान में आया था। लेकिन १९३२-३३ में केवल ३ लाख २६ हज़ार ही टन आया, अर्थात् यह व्यापार रुपये में केवल पाँच आना रह गया। १९१३-१४ में लोहे के वैदेशिक व्यापार में इँग्लेंड का ६० प्रतिशत भाग रहता था। अब १९३२-३३ में केवल ४३% भाग रह गया है। अर्थात् पहले से क़रीब ३५ प्रतिशत कम हो गया है। बेल्जियम हिन्दुस्तान के लोहे के वैदेशिक व्यापार के तृतीयांश पर पिछले पाँच वर्षों से बराबर अधिकारी हो रहा है। आगे अङ्क दिये जाते हैं स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं—

लोहे और फ़ौलाद का व्यापार (टनों में)

वर्ष	इँग्लेंड		जर्मनी		बेल्जियम		अन्य देश		कुल	
	टन	प्रतिशत हिस्सा	टन	प्रतिशत हिस्सा	टन	प्रतिशत हिस्सा	टन	प्रतिशत हिस्सा	टन	
१९१३-१४	६०९	५९·८	२००	१९·६	१७३	१७·०	३६	३·६	१,०१८	टन हज़ार में है
१९२९-३०	४८६	४९·९	५८	६·०	३१२	३२·१	११७	११·०	९७३	
१९३०-३१	२६९	४३·८	४४	७·२	२०७	३३·७	९४	१५·३	६,१४	
१९३१-३२	१६४	४४·२	२६	७·०	११८	३१·८	६३	१७·०	३७१	
१९३२-३३	१४०	४३·०	२२	६·७	१०४	३१·९	६०	१८·४	३२६	

लोहे का वैदेशिक व्यापार (रुपयों में)

	लोहा और फ़ौलाद			लोहे की फुटकर चीज़ें			
	१९१३-१४	१९३१-३२	१९३२-३३	१९१३-१४	१९३१-३२	१९३२-३३	
इँग्लेंड	६९·९	५३·८	५१·१	५७·२	३६·८	३०·६	प्रतिशत
अमरीका	२·६	२·२	१ २	९·७	१०·३	५·६	,,
जर्मनी	१४·५	७·३	८·६	१८.२	२९·१	३६·१	,,
बेल्जियम	११·५	२४·२	२३·२	×	१·१	१·१	,,
अन्य देश	१ ५	१२·५	१५·९	१४·९	२७·७	२६·६	,,
कुल व्यापार (लाख में)	१६·१	६३२	५३०	३९५	२६१	२९९	,,

मशीन का व्यापार

मशीनों का व्यापार हिन्दुस्तान में युद्ध के पूर्वकाल की अपेक्षा आज-कल बहुत उन्नति पर है और उस समय से आज ड्योढ़ा है। लेकिन इँग्लेंड का हिस्सा इस व्यापार में इसी अंश से नहीं बढ़ा बल्कि घटा है। १९१३-१४ में पौने आठ करोड़ रुपये की मशीनें हिन्दुस्तान में विदेशों से आई थीं। १९३२-३३ में १५½ करोड़ रुपये की आईं। लेकिन इसमें इँग्लेंड का हिस्सा १९३२-३३ में केवल ७४· प्रतिशत था, हालाँ कि युद्ध के पूर्व मशीनों के व्यापार में इँग्लेंड का भाग ९० प्रतिशत हुआ करता था।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अङ्क देखिए—

मशीन का व्यापार

	१९१३-१४	१९३१-३२	१९३२-३३
इँग्लेंड का हिस्सा	८९·८	७०·८	७४·१
अमरीका ,,	३·३	११·१	७·७
जर्मनी ,,	५·६	१०·३	९·३
बेल्जियम ,,	—	२·५	३·७
अन्य देश ,,	१·३	५·३	५·२

कुल व्यापार ७ करोड़ ७६ लाख, १० करोड़ ९२ लाख, १५ करोड़ ४ लाख

१९३१-३२ तक हिन्दुस्तान में अँगरेज़ी मोटरगाड़ियाँ अन्य देशों की अपेक्षा ज़्यादा नहीं बिकीं और युद्ध के पहले इस व्यापार की जो स्थिति थी इँग्लेंड उसे क़ायम नहीं रख सका, लेकिन १९३२-३३ में इँग्लेंड का मोटर-व्यापार हिन्दुस्तान में उन्नति कर गया। जैसा निम्न-लिखित अङ्कों से प्रकट होगा—

मोटरकार

	कुल	इँग्लेंड से	
१९१३-१४	२८८०	१६६९	५८%
१९२९-३०	१७३९९	३७५८	२२%
१९३०-३१	१२६०१	२८५५	३१%
१९३१-३२	७२२०	२१७८	३०%
१९३२-३३	६२०१	३९५८	६६%

मोटरकार, मोटरसायकिल आदि

	१९१३-१४	१९३१-३२	१९३२-३३
इँग्लेंड	७१·३	३१ १	४७·६
अमरीका	१५·१	४८·४	३६·५
अन्य देश	१३·६	२०·५	१५·९

कुल व्यापार १ करोड़ ५३ लाख, २ करोड़ ८९ लाख, २ करोड़ ४३ लाख

इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेज़ी व्यापार दिन प्रतिदिन कमज़ोर होता जाता है। दुनिया आज-कल इतनी उन्नति कर गई है कि हिन्दुस्तान की कौन कहे, इँग्लेंड भी अनेक देशों से व्यावसायिक कुशलता में कमज़ोर पड़ता जाता है। व्यावसायिक विज्ञान में पश्चिमी संसार में इँग्लेंड का प्रथम स्थान अब नहीं रहा। व्यावसायिक दृष्टि से इँग्लेंड संसार का प्रमुख राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। पिछले २५ वर्ष का भारत का व्यावसायिक इतिहास यही दिखाता है कि इँग्लेंड धीरे धीरे भारतवर्ष पर से अपनी व्यापारिक प्रभुता खोता जा रहा है। इँग्लेंड के व्यापारिक प्रभुत्व का यह ह्रास इसी गति से आगे बढ़ेगा या ब्रिटिश व्यापार भारत में फिर से वृद्धिंगत होगा, इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ भारतवर्ष और इँग्लेंड के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है और इसका निर्णय ईश्वर के हाथ में है।

श्वास

श्रीयुत उमेश

उन्मद होकर अरी श्वास तू,
अधिक न उपजा उर में शूल।
तू तो पवनमयी है फिर क्यों,
हुई हाय! मेरे प्रतिकूल?

किया धूल तन जिन पर मैंने,
ले चल उड़ा उन्हीं के पास—
सजनि! चढ़ा दूँ मैं भी उनके,
चरणों पर यह जीवन-फूल॥

नाटक-समस्या

श्रीयुत सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और सुलेखक हैं। आपको नाटक का व्यावहारिक ज्ञान भी है। अतएव 'नाटक-समस्या' के सम्बन्ध में उनके विचार ध्यान देने योग्य हैं।





आकाश की नील नीलम-ताराओं से टँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य शैल-शिखरों, समुद्ररश्मियों, अरण्य-शीर्षों पर छायालोक पात करते प्रति पल बदलते हुए, दिन और रात धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते-गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुनः अज्ञाततम में अन्तर्धान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नव-रसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्‌गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए, यह ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।

चिर काल से अनुकरणशील मनुष्य-समुदाय इसी की सार्थकता करता जा रहा है। सृष्टि की भिन्नता, भावों के मिश्रण और कला की गति-भंगियों के भीतर चलकर एक इसी आदर्श की पुष्टि उसने की है। केवल सत्य के नाम और परिणाम भिन्न भिन्न रख दिये हैं। कहीं वह प्रेम है, कहीं अनादि दर्शन; कहीं सामाजिकता, सुधार या परिवर्तन, कहीं प्रतिकूल वैराग्य और त्याग, कालिदास और भवभूति, शेक्सपीयर और गेटे इन्हीं कारणों से पृथक् पृथक् हैं।

परन्तु एक प्रतिकूल शक्ति भी है, इसी लिए मनुष्य और पशु में भेद है। आँखों की दिव्य ज्योति की तरफ़ न देखकर महिलाओं के अंगों की तरफ़ देखते हुए मुग्ध मनुष्य क्रमशः पतित होने लगे। इसी गिरी निगाह का परिणाम मनुष्येतर प्राणियों में प्रत्यक्ष होता है। बौद्धकाल के पहले से ही यह जाति गिरने लगी थी। अनेकानेक

धर्म्माचार्य्यों तथा साहित्यिकों ने उठाने के प्रयत्न किये, पर असफल रहे। क्योंकि जाति ने जल की तरह क्रमशः निम्नतर भूमि से होकर ही बहना पसन्द किया। शंकर पर रामानुज और भवभूति पर कालिदास का जो आज देश के जन-समूह में आधिपत्य है, इसका यही कारण है। क्रमशः ब्रजभाषा-साहित्य तक कृष्ण और गोपियों के दिव्य प्रेम की भावना सूर्य्य से च्युत पृथ्वी की तरह पंकिल हो गई। हमारे पतन के नाटक का प्राकृत परिणाम यहीं तक नहीं, और कठिन पत्थर के रूप में बदल गया।

पहले बौद्धों के विरुद्ध वर्णाश्रम-धर्म्म की चिरन्तन रक्षा के विचार से पुराणों तथा राम, कृष्ण आदि आदर्श-चरित्रों की कल्पक-सृष्टि के साथ-साथ संस्कृत के बाँधों के भीतर सागर का उल्लेख करते हुए जो सरोवर इस जाति की भूमि पर लहराया गया था, वह अपनी ही कृत्रिमता के कारण सूखने लगा। उन भावों की अधिकांश जलाशयता पीड़ित द्विजेतर जनों के दुख की गर्म साँसों से सूख गई। आज वही भूमि रेगिस्तान की तरह तप रही है।

वर्णाश्रम-धर्म के इन्हीं कारणों से जीर्ण जातीय शक्ति का राज-प्रासाद मुसलमानों के वज्र-प्रहारों से भू-लुण्ठित हो गया। इसके बाद शासन के साम्य-दर्शन का प्रचार कर अँगरेज़ों ने इस टूटी इमारत के बचे हुए छोटे-बड़े पिण्डों से भी एक एक ईंट अलग कर दी।

इस विवर्तन के साथ कितना इतिहास, कितनी संस्कृति, कितना त्याग और कितनी तपस्या है, ख़िज़ाँ के इस समय बहार के उन दिनों की कल्पना-जल्पना जगकर स्वप्न देखने की आदत या धार्म्मिक अफ़यून-सेवन का परिणाम पिनक कही जायगी। पुनः जहाँ तक इतिहास की गति है अथवा १६६० वर्ष पहले या चार-छः सौ साल और दूर अतीत तक, मुमकिन है, बहार न मिलकर मुरझाते हुए जातीय तथा धार्म्मिक पद्मवन का हेमन्त प्राप्त हो, और डाल पर कोयलों की जगह ताल के किनारे बगले मिलें।

इसलिए हमें आज से विचार करना है। विचार की शुद्धि तब हो सकती है जब वह हवा की तरह सबके हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सबकी आँखें ठंडी कर दे। आज राष्ट्रभाषा के भीतर से जिस राष्ट्र का उत्थान अपेक्षित है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों या अपर किसी भारतीय जाति अथवा धर्म का राष्ट्र नहीं, उसके आराध्य राम या कृष्ण नहीं—विशेषतः उन रूपों से जिनका अधिकांश जनों में आज तक समादर रहा है। जिस प्रकृति ने हिन्दुओं के प्राचीन हाथीचिंग्घाड़-सम्मेलन का एक एक तार सहस्रों संघातों से कूट कूटकर अलग कर दिया है, वही उसकी बनी रस्सी से स्वार्थ-मुखर स्वर-पशुओं के बाँधने की ओर पुनः पुनः इंगित भी कर रही है। अब इन कूटे हुए तारों में ब्राह्मण-तार और क्षत्रिय-तार चुन चुनकर रस्सी बटना अस्वाभाविक है और मूर्खता भी। तारों की गुण-धर्म-समता को समझनेवाला ऐसा नहीं कर सकता। यह समय का व्यर्थ व्यय होगा। यही भावना राष्ट्रभाषा के सच्चे सेवक की होनी चाहिए। यहीं वह ठहरता और यहीं से चित्रण करता है।

अभिनय के व्यापक अर्थ में साहित्य के सभी विषय आ जाते हैं। भावना या किसी भी प्रकार की मानसिक सृष्टि हो, ख़ून की एक एक बूँद उसकी गति पर ताल देती हुई देह के रंगस्थल पर अभिनय करती रहती है, बाहर शब्द शब्द, वाक्य वाक्य और विषय विषय। किसी जीवन के भिन्न-भावानुसार एक अभिनय की तरह साहित्य का भी जीवन उसकी पूर्ति के भावों से भरकर एक ही नाटक है।

जिस प्रकार मेघ-मुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही सा निर्म्मल और दोषरहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुए सूक्ष्माति-सूक्ष्म दूषित बीजों का मिश्रण छोड़ दें, उसी प्रकार एक-मात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करनेवाला—मनुष्य-मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर दूसरी शुद्धि नहीं हो सकती।

इसी शुद्धि के स्नात, शिक्षा की अग्नि में पूर्व-संस्कारों का हवन कर तेजस्वी, विश्व-प्रकृति के पुत्र प्रज्ञाचक्षु युवकों की हमारे साहित्य को आवश्यकता है। जनता इनकी रुचि के अनुसार आप तैयार होगी। इनकी रुचि,

ऋतु की तरह अपने ही प्रभाव में समाज को ढँक लेगी। तभी हमारे साहित्य का सर्वांग नाटक पूरा होगा, जनता युग के अनुकूल होगी। आज जिस प्रभाव से हमारा साहित्य, हमारा समाज जीवन्मृत हो रहा है, आज की रात में वह जिन दिवा-संस्कारों के स्वप्न देख रहा है, वह प्रभाव दो हज़ार वर्ष से भी पहले डाला गया था, वे दिवस-संस्कार तभी के निर्म्मित हैं। हज़ार वर्ष से तो यहाँ रात ही रात है। समस्त पुराण, अधिकांश स्मृतियाँ तथा भास, कालिदास, श्रीहर्ष आदि आदि कवि जिस संस्कृति के द्वारा देश को बौद्धों के विरुद्ध एक दूसरे जीवन से प्रबुद्ध कर गये हैं, हमारे साहित्यिक, हमारा समाज, हमारे वर्ण-धर्मवाले आज उसके स्वप्न देख रहे हैं। नवीन जाग्रति की क्रियाशीलता वहाँ कहाँ? वहाँ तो तमोवृत केवल संस्कार ही संस्कार हैं, जहाँ केवल मस्तिष्क-दौर्बल्य की सूचना प्राप्त होती है। जिन कवियों ने आज राम और कृष्ण पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने राम और कृष्ण के प्रचलित संस्कारों की ही पुष्टि की है, राम और कृष्ण को ठीक ठीक समझकर नहीं लिखा। वे समझते भी नहीं। मुझे इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं। जहाँ संस्कारों के पीछे कवि और लेखकों का ही मनोविज्ञान अन्धकार में डूब रहा हो, वहाँ जनता के लिए क्या कहा जाय? उसे तो मुक्ति बाद को मिलती है। किसी पुस्तक की पचास हज़ार प्रतियाँ बिक गईं, इसके ये मानी नहीं कि उससे साहित्य के उद्धार को भी सहायता मिली। संस्कारों के वश समाज होता ही है। वह अपनी रुचि के अनुसार चलता है, पर साहित्य का सच्चा स्थान वहाँ है जहाँ रुचि बदलती है, पहले से पृथक् होकर भी सब तरह अच्छा, ज़ोरदार, सहृदय, संस्कृत, वैज्ञानिक चित्र सामने रखती है। जनता या समाज के मन में संस्कारों के अलावा एक सत्ता और है जो सच और झूठ का निर्णय करती है। वही सत्ता ऐसे चित्र की तरफ़ खिंचती है, इसी प्रकार धीरे धीरे नवीन प्रकाश अँधेरे के भीतर से फैलता है। साहित्य जाति में जाग्रति का युग पैदा कर देता है। तब चारों ओर से विशद विचारों के स्वाधीन चित्र देखने को मिलते हैं। यही साहित्य का व्यापक सच्चा नाटक है।

नाटक की व्यापकता पर जैसा कहा गया, वैसा ही प्रचलित नाटक के लिए भी कहा जा सकता है। केवल नाटक में वे सभी गुण सन्निहित होते हैं जो पूर्ण साहित्य के लिए आवश्यक हैं। काव्य, संगीत, साहित्य, नृत्य, कला-कौशल, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, समाज, राजनीति, धर्म आदि जितने विषय सभ्यता के अंग हो रहे हैं जिनके आधार पर बड़े बड़े राष्ट्रों को सिर उठाकर देखने का गर्व है, वे सभी नाटक-समस्या की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। जितने भाव सम्पूर्ण विश्व पर बदलते हैं, समस्त संसार शीत-ताप, जल-वायु आदि से ऋतुओं के जितने दृश्य देखता है, जितने उपद्रव, झोंके आदि सहता है, उतने ही एक कण भी देखता और सहता है। अतः साहित्य के सर्वाङ्ग उत्कर्ष के कारण केवल नाटक-साहित्य में भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। यह ठीक है कि वर्गीयता के समय नाटक अपने ही विभाग में रहेगा, पर यह निश्चित है कि उसमें सभी साहित्यिक गुणों की गणना हो जायगी।

यौवनोपगम के समय जिस तरह कण्ठ-स्वर बदल जाता है, उसी तरह नाटकोंद्वारा जाति का सम्पूर्ण जीवन पुष्ट होता है। उस समय अपनी शक्ति, अपने सौन्दर्य, भाव, भाषा, चाल-चलन, आचार-विचार सभी नये अक्षरों से छपे हुए ग्रन्थों की तरह स्पष्ट तथा मनोहर होकर अपनी सत्ता से दूसरों को प्रभावित करते हैं। यह नवीनता एक ही तरफ़ की नहीं, पतझड़ के बाद के वसन्त की तरह सभी तरफ़ की है; जाति की आत्मा के भीतर से संस्कृत कर देती है। तब बाल्य का स्वर पहचाननेवाले मनुष्य उस स्वर को एकाएक सुनकर नहीं समझ पाते कि यह उसी साहित्य का कण्ठ-स्वर है, जिसे वे कुछ दिन पहले तक सुन रहे थे; इन आँखों की अपराजिता ज्योति को देखकर वे नहीं समझ सकते कि ये वही आँखें हैं जो बाल्य के कोमल अक्षय सारल्य से सजी थीं—यह वही देह है जो दूसरे की सहायता से न चलकर स्वयं रास्ता पार करने को उद्यत है।

यह स्वर काव्य आदि के भीतर से तो कुछ हद तक हमारे साहित्य में सुन पड़ा, पर रङ्गमञ्च के ऊपर से

बिलकुल नहीं सुन पड़ा। इसका एक कारण यह भी है कि जब तक किसी भाव का बहुत काफ़ी प्रचार नहीं हो जाता, उसकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता। लोगों के कहने के अनुसार इधर दस-बारह साल से हिन्दी में नवीनता का प्रवाह है। इतने ही समय के अन्दर यह आशा करना कि नाटकों से नवीन भावों को सुनकर समझने के लिए जनता तैयार हो चुकी है, दुराशामात्र है। अभी तो पढ़े-लिखे भी बहुत कम लोग नवीनता को समझ सके हैं। इतना कहा जा सकता है कि क्षेत्र अब बहुत कुछ तैयार हो आया है।

आज तक जो नाटक हिन्दी के रङ्गमञ्च पर खेले गये हैं, वे किसी भी तरफ़ से साहित्य को उठानेवाले नहीं रहे। उनका उद्देश जनता की गिरी रुचि के अनुकूल रहना रहा है। वे जिन नाटक-लेखकों के लिखे हुए हैं, वे लेखक स्वयं ईश्वर, धर्म, समाज और साहित्य की सचाई तक नहीं पहुँचे हैं। आदर्श के पीछे अस्वाभाविक, ईश्वर के नाम पर अभूतपूर्व, धर्म के विचारों में न धृत होनेवाले, समाज को उठाने के चित्रों में कल्पित शक्ति से गिरानेवाले और साहित्य के विचार से एक सदी उसे पीछे ले जानेवाले चित्रण, भाव और भाषा का उनके नाटकों में समावेश होता आया है। इसी लिए इनके रङ्गमञ्चों पर मौसमी फूलों की तरह केवल दृश्यों की शोभा रहती है, साहित्य की सुगन्ध का कहीं नाम भी नहीं रहता। जगह जगह ईश्वर के दर्शन होते हैं, मुग्धमय जनता तारीफ़ करती है, पैसे देती है। इतिहास तथा समाज के जिन नाटकों से जनता को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है, उसे अतीत और वर्तमान के सच्चे रूप देखने को मिलते हैं, एक सत्य-फल की कल्पना होती है, उन नाटकों का कहीं छायापात भी नहीं हो पाता। कम्पनियाँ रुपयों के लिए नाटक लिखवाती हैं, कुछ और भी उनके उद्देश हैं जिनके शैथिल्य के भय से वे तीव्र ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक नहीं लिखवातीं, उन्हें रुपये मिलते हैं, उनका नाटक-व्यवसाय सफल होता है। जहाँ यह व्यावसायिक बुद्धि काम करती है, वहाँ साहित्य नहीं रहता। इन नाटकों पर इतना ही दोष काफ़ी नहीं कि इनसे साहित्य की वृद्धि नहीं हुई, बल्कि यह भी है कि इनसे जनता धार्मिक अज्ञान के कूप में और गहरे अन्धकार तक चली गई है, उसके विचार इतने कलङ्कित हो गये हैं कि स्वप्न के दाग को मिटाकर उसे धवल जागृति के जीवन में ले आना दुष्कर हो गया है। इन नाटकों ने जो त्रुटियाँ चित्रण के सम्बन्ध में की हैं, वही संगीत के सम्बन्ध में भी हैं। इनके गीतों से संगीत का जो सत्य तत्त्व मन को ऊँचा उठाते हुए लोकोत्तरानन्द में लीन करना है, वही नष्ट हो गया है। बिहारी की कविता की तरह वासना के वशीभूत कर मनुष्यों को वे स्वर क्रमशः पतित करते रहते हैं।

हिन्दी में केवल 'प्रसाद' जी के नाटक हैं जिन्हें आधुनिक महत्त्व प्राप्त है। पर उनमें काव्य के गुण अधिक और भाषा ऐसी है कि रङ्गमञ्च पर उनकी उतनी प्रभा नहीं फैल सकती जितनी एकान्त पाठ के समय। कुछ हो, मैं जिस भाषा को नाटक के लिए आदर्श मानता हूँ, उसका अभी तक हिन्दी में आविर्भाव नहीं हुआ। पंडित गोविन्द वल्लभ जी पन्त तथा 'उग्र' जी की भाषा काफ़ी अच्छी है। दृश्य काव्य में इन्हें सफलता मिल सकती है। पर कथोपकथन के लिए उनकी भाषा भी वैसी तन्वङ्गी नहीं जो सहज सञ्चरित हो। पुनः नाटक के लिए जो प्रौढ़ता थोड़े शब्दों में व्यञ्जित की जाती है या मनोभाव के वर्णन के लिए निशाने पर तीर-सी चलती है अथवा चित्र को स्पष्ट करनेवाली ज्योति की तरह, किरणों की सहस्रों रेखा-तरङ्गों के साथ ही स्वच्छ, जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह उनमें नहीं। प्रथमोक्त में चित्र के फूलों पर रनों-सी सुकुमार भाषा कविता एक आकर्षण पैदा करती है, सुगन्ध की तरह आत्मा तक पैठकर अपने विषद अस्तित्व का परिचय नहीं देती, दूसरे में भावना सुन्दर है, पर अधिकांश वर्णन में बाल-प्रयास ही दृष्ट होता है। पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी कुछ हद तक सफल हुए हैं। कहीं कहीं उनकी लपेट अच्छी लगती है। अगर कोई कलाजङ्ग बाँधकर ही छोड़ दे तो उसे पूरा दाँव नहीं कहते। चलाना पड़ता है। चलने पर भी देखना पड़ता है, कैसा चला—ज़ोर से गया या सचमुच पूरे घाट उतरा। किसी बात के कहने में यही सिद्धि कला की सिद्धि होती

है। माखनलाल जी में मुझे लपेट की कोशिश ज़्यादा मिली। पुनः उनकी भी भाषा में नाटकीय दोष हैं। इसलिए उनका नाटक भी स्टेज पर नहीं चल सकता। गीत सभों के अच्छे हैं। आज-कल हम लोग जिस तरह के गीत लिख रहे हैं, इस तरह के 'प्रसाद' जी के नाटकों में ही प्रत्यक्ष होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' जी खड़ी बोली के मौलिक-साहित्य-निर्माण के चतुरङ्गी प्रथम श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। श्री सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' भी मैंने देखी है। वे जैसे प्रतिभाशाली सुकुमार कवि हैं, 'ज्योत्स्ना' उनके अनुरूप ही है। काव्य और विचार दोनों का उत्कृष्ट सामञ्जस्य इसमें है। दोष तो सभी में होते हैं; मुमकिन है, इसमें भी हों; पर मुझे 'ज्योत्स्ना' की धवल रूप-राशि की ओर प्रिय दृष्टि से देखते रहना ही पसन्द है। 'ज्योत्स्ना' स्वयं एकान्त दर्शन की चीज़ है। रङ्गमञ्च पर उसका उतरना रूपकमात्र है। इसलिए वह हिन्दी-भाषियों के साथ तो रहेगी, पर रङ्गमञ्च पर दर्श नहीं दे सकती। क्योंकि मनुष्याकार झींगुर महाशय का रङ्गमञ्च पर आकर संस्कृत हिन्दी में अलापना मामूली मज़ाक नहीं। इन नाटकों से इतना हुआ कि एक एक तरफ़ की पुष्टि हो गई। आगे के स्वाभाविक नाटक लिखनेवालों को इनकी रूह से रङ्गमञ्च के लायक़ नाटक लिखने का सुभीता हो गया।

'पुराण, इतिहास और समाज तीन मुख्य आधार नाटकों के लिए हैं। पौराणिक नाटकों की भाषा प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। प्राचीन युग का तभी पूरा रूप उतरता है। भाषा इतनी क्लिष्ट न हो कि जनता समझ न सके, पर ऐसी सीधी और शिथिल भी नहीं कि प्राचीनता का गम्भीर वातावरण नष्ट हो जाय। मेरा लिखा हुआ स्वच्छन्द छन्द ऐसे ही नाटकों के लिए उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे मिल्टन की तरह क्लिष्ट-भाषापूर्ण कर दिया था, पर मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था। 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' की अवतारणा का यही कारण है। इसका उदाहरण पेश करने के लिए मैंने तो अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में इसका समावेश कर दिया था और वह पार्ट कलकत्ता-स्टेज पर मैंने खुद खेला था। मैंने गिरीशचन्द्र, डी० एल० राय आदि के बीसियों बँगला-नाटक पब्लिक-स्टेज पर खेले हैं। अतः रङ्गमञ्च तथा नाटक के ज्ञान पर सविशेष लिखना व्यर्थ समझता हूँ। अनेकानेक कारणों से हिन्दी में मुझे दूसरी ओर से होकर चलना पड़ा था, नाटक-साहित्य को लेकर नहीं उतर सका। इधर कुछ दिनों से निश्चय कर रहा हूँ। नाटकीय सफलता मुझे कहाँ तक होती है, मेरे उतरने के बाद लोग स्वयं आलोचना करेंगे।

ऐतिहासिक नाटकों की भाषा ज़ोरदार, थोड़े में अधिक भाव व्यञ्जित करनेवाली होनी चाहिए और सामाजिक नाटकों की प्रचलित, बामुहाविरा। चरित्रों का ऊहापोह सभी में रहता है। उनके विकास की ओर काफ़ी ध्यान रखना चाहिए। वे दोनों प्रकार के होते हैं—ऊपर से नीचे गिरनेवाले, नीचे या बराबर ज़मीन से ऊपर चढ़नेवाले। मिश्र चरित्र भी होते हैं जो कभी भला और कभी बुरा करते हैं। यों चरित्रों की गणना नहीं हो सकती; पर नाटक में वे जिस जिस रूप में आयें, उनका वैसे ही वैसे विकास होना चाहिए। भाषा सबकी एक-सी नहीं होती। हिन्दी में भाषा-चयन के लिए अनेक प्रकार की अड़चनें हैं, फिर भी उन्हें पार करना होगा। आदर्श एक रहता है, पर वह स्वाभाविक हो। भिन्न चरित्रों के भिन्न आदर्शों के मिश्रण से तैयार एक पूर्णादर्श ही—वह व्यक्त किया गया हो या न किया गया हो—उस नाटक का परिणाम है। कभी कभी इङ्गितों-द्वारा भाव स्पष्ट किये जाते हैं। गीत के औचित्य पर ध्यान रहना चाहिए। यह नहीं कि राजा सिंहासन पर बैठा हुआ गा रहा है। रङ्गमञ्च का पूरा ज्ञान हुए बिना दृश्यों की स्थापना ठीक ठीक नहीं हो सकती। गीत-वाद्य आदि की भी कुछ समझ लेखक को रहनी चाहिए। नाटककार की साहित्य के सभी अङ्गों में थोड़ी-बहुत गति होनी चाहिए और समाज के लिए किस प्रकार की प्रकृति आवश्यक है, इसका सच्चा अनुभव।

जर्मन क़ैसर के विरुद्ध एक षड्यंत्र की कहानी एक अँगरेज़ जासूस की ज़बानी

रहस्य-भेद

श्रीयुत धरणीधर

(१)



हान्सबर्ग में विद्रोह होने की आशंका से सारा इँग्लेंड ही नहीं, सारा योरप चञ्चल हो उठा था। बोअर लोग उस नगर के पास अपनी सेनायें एकत्र कर रहे थे। सीमा पार कर डाक्टर जेम्सन अपने पाँच सौ साथियों के साथ आक्रमण भी कर चुके थे। इस घटना को ब्रिटिश सरकार ने असत्य घोषित कर दिया था। परन्तु इसके बाद ही जब अख़बारों में यह छपा कि जेम्सन गिरफ़्तार हो गये तब सारे लंदन में उदासी छा गई और फिर जब यह ख़बर छपी कि महारानी विक्टोरिया के पौत्र जर्मन-सम्राट् विलियम ने बोअरों के प्रेसीडेंट क्रूगर को बधाई का तार भेजा है तब तो सारे ब्रिटन लोग क्रोध से पागल हो उठे, और इसी समय से बोअरों के भाग्य का फ़ैसला हो गया।

जिस दिन जर्मन-सम्राट् के तार भेजने की बात योरप के अख़बारों में प्रकाशित हुई थी उसी दिन मुझे बर्लिन से जर्मन-सरकार के खुफ़िया-विभाग के प्रधान का एक तार मिला। उस समय मैं ख़ाली था, अतएव तार पाते ही मैं बर्लिन को चल पड़ा। मार्ग में अख़बारों के पढ़ने से मुझे मालूम हुआ कि उस बधाई के समाचार से इँग्लेंड-वाले जर्मन-सम्राट् से बेतरह नाराज़ हो गये हैं। ज्यों ही मैंने जर्मन-सीमा में प्रवेश किया, मुझे वहाँ ऐसे लक्षण दिखाई दिये जिनसे मालूम हुआ कि जर्मन लोग उस बधाई के तार से प्रसन्न हैं और अपने सम्राट् की तन-मन से सहायता करने को उत्सुक हैं। मैं जान गया कि हो न हो, मैं इसी सम्बन्ध में बुलाया गया हूँ। परन्तु मुझे क्या करना होगा, यह नहीं समझ सका।

बर्लिन पहुँचने पर स्टेशन में मुझसे खुफ़िया-विभाग के डायरेक्टर का एक आदमी मिला। वह मुझे डायरेक्टर के ख़ानगी घर पर लिवा ले गया। वहाँ ज्यों ही मैं डायरेक्टर से हाथ मिलाकर एक कुर्सी पर बैठने को हुआ, उन्होंने मुझसे कहा—बैठिए नहीं, मेरे साथ कपड़ा पहनने के कमरे में आइए, और जल्दी से जल्दी बर्लिन-पुलिस के अधिकारी की पोशाक पहन कर तैयार हो जाइए। मैं तुमको राजमहल ले चलूँगा। सम्राट् तुमसे अकेले में भेंट करेंगे।

मैं डायरेक्टर साहब के साथ उनके कपड़ा बदलने के कमरे में गया। वहाँ एक वर्दी मेरे लिए पहले से ही रक्खी थी। मैंने डायरेक्टर साहब से पूछा—मामला क्या है? कुछ बताओगे?

डायरेक्टर ने कहा—सो यह सब मुझे कुछ नहीं मालूम है। क़ैसर ने मुझसे यही कहा है कि बर्लिन में तुम्हारा आना किसी को मालूम न होने पावे।

डायरेक्टर की ओर मैंने सन्देह की दृष्टि से देखते हुए कहा—मैं जानता हूँ कि तुम मुझे वही बताओगे

जितना बताना उचित समझोगे। सम्राट् का आदेश मिलने पर निस्सन्देह मैं भी ऐसा ही करूँगा। ठीक भी यही है।

मेरी चाल कारगर हो गई। खुफ़ियावालों में सब कुछ जानने की उत्सुकता की भारी कमज़ोरी होती है। डायरेक्टर साहब ने तुरन्त कहा—प्रिय मित्र, यदि हम एक दूसरे का विश्वास नहीं करेंगे तो फिर किसका करेंगे? विश्वास रक्खो, मैं तुम्हारा पूरा विश्वास करता हूँ। सचमुच क़ैसर ने मुझे कुछ नहीं बताया है। परन्तु तुम्हारा आगमन गुप्त रखने की बात से यह स्पष्ट है कि वे किसी को अन्धकार में रखना चाहते हैं।

मैंने झट कहा—अपने चैंसलर को ही न।

डायरेक्टर ने स्वीकार किया।

मैंने कहा—कदाचित् तुम समझते हो कि क़ैसर मुझे चैंसलर के पीछे लगायँगे।

"जान तो ऐसा ही पड़ता है।" उन्होंने डरते डरते कहा।

"तुमको यह काम क्यों नहीं दिया गया?"

"मैं हनोवर का निवासी हूँ। क़ैसर मुझे अपने घराने का राजभक्त सेवक नहीं समझते। वे मुझे राज्य का एक अधिकारी-मात्र समझते हैं।"

"अर्थात् वे तुमको चैंसलर का आदमी समझते हैं।" मैंने उजड्डता से कह दिया।

डायरेक्टर ने प्रसन्नता-सूचक मुसकराहट व्यक्त करने की कोशिश की। उन्होंने कहा—मैं तुमसे शपथपूर्वक यह कह सकता हूँ कि सम्राट् मुझ पर उतना ही भरोसा कर सकते हैं जितना वे प्रूशियावालों का करते हैं। यह आपकी कृपा होगी, यदि आप सम्राट् को इस बात का विश्वास करा दें।

"इसके कहने का अवसर हाथ से नहीं जाने दूँगा"। मैंने दोहरे अर्थों में कहा। पर डायरेक्टर साहब नहीं समझ सके।

पोशाक बदल लेने पर मैं सोलहो आने एक प्रूशियन अधिकारी बन गया। तैयार होकर हम दोनों राजमहल को शीघ्रता से रवाना हुए। राजद्वार पर पहुँचकर मेरे साथी ने द्वारपाल से कहा—सम्राट् से निवेदन करिए कि डायरेक्टर फ़िनकेलस्टीन और इंस्पेक्टर वीम हाज़िर हैं।

एक नौकर आगे बढ़ आया। उसने दृढ़ता से कहा—इन्स्पेक्टर साहब इसी समय श्रीमान् सम्राट् के पास पहुँचाये जायँगे।

यह सुनकर डायरेक्टर साहब अनिच्छा से अपनी गाड़ी की ओर लौट गये और मैं उस नौकर के पीछे हो गया।

विलियम (द्वितीय) ने मुझे सत्कार के साथ लिया। हम एक दूसरे से पहले से ही परिचित थे। उनके सिंहासन पर बैठने के समय मैंने उनके विरुद्ध जासूसी की थी, जिसमें वे विफल-मनोरथ हुए थे। और कोई होता तो कभी न क्षमा करता। सौभाग्य से क़ैसर में यह विशेषता है कि वे शत्रु के भी गुण की क़द्र करते हैं। वे जानते थे कि जैसे मैंने उनके विरुद्ध ईमानदारी से काम किया है, वैसे ही समय पड़ने पर उनके पक्ष में भी करूँगा।

उनके कृपापूर्ण आदेश से बैठ जाने पर सम्राट् ने सबसे पहले मुझसे यह पूछा—तुमसे फ़िनकेलस्टीन ने क्या कहा है?

"श्रीमान्, केवल यही कि वे कुछ नहीं जानते हैं।"

सम्राट् ने सन्देह की दृष्टि से मेरी ओर देखा।

मैंने यह भी कहा—वे दुःख प्रकट कर रहे थे कि श्रीमान् ने उनसे सेवा नहीं ली। उन्होंने मुझसे यह कहने को कहा है कि श्रीमान् उन पर उतना ही भरोसा कर सकते हैं जितना कि वे अपने ख़ानदानी राज्य के निवासी पर करते हैं।

"इस सम्बन्ध में तुम क्या कहते हो?" सम्राट् ने गहरी दृष्टि से देखते हुए पूछा।

"मैं समझता हूँ कि श्रीमान् जिस पर विश्वास करते हैं उससे निश्चिन्त हो जाते हैं।"

विलियम (द्वितीय) गंभीरता से मुसकराने लगे। उन्होंने कहा—श्री वीम, तुम बुद्धिमान् आदमी जान पड़ते हो। यदि श्री फ़िनकेलस्टीन होहेनज़ोलर्न लोगों के प्रति अपनी भक्ति का विश्वास कराना चाहता है तो उसे यह काम.........के ड्यूक से गुप्त रूप से पेंशन लेना बन्द

करने से शुरू करना चाहिए। सम्राट् ने जिस नाम का उल्लेख किया था वह उस समय के एक सिंहासनच्युत राजा का नाम था। फ़िनकेल्स्टीन के इस दोहरे व्यवहार की बात सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हो गया।

क़ैसर ने कहा—जो खोज मैं तुमसे करवाना चाहता हूँ, यदि मैं कहूँ कि उसका भेद इसे न मालूम होने पावे तो यह सुनकर अब आश्चर्य न होगा।

मैंने विनम्रता से सिर झुकाकर अभिवादन किया और आदेश मिलने की प्रतीक्षा करने लगा।

क़ैसर ने कहा—बिना किसी से कहे मैं तुम्हें नहीं बुला सकता था। मामले को यथासम्भव ख़ानगी या घरेलू रूप देने के लिए मैंने फ़िनकेल्स्टीन को ही उपयुक्त समझा। वास्तव में जिस काम पर मैं तुमको नियुक्त करना चाहता हूँ वह बहुत गम्भीर कार्य है।

क़ैसर ने एक दिन पहले का बर्लिन का एक अख़बार उठा लिया। वह अख़बार उनके सामने रक्खा था। उन्होंने एक स्तम्भ की ओर संकेत किया, जिसमें बड़े बड़े टाइपों में वह तार छपा हुआ था जिसने सारे योरप और अमरीका में खलबली मचा दी थी। यहाँ तक कि लार्ड सैलिस्बरी ने अपने जंगी बेड़े तक को लड़ाई के लिए तैयार हो जाने की आज्ञा दे दी थी।

क़ैसर ने कहा—मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम इस तार भेजनेवाले को खोज निकालो।

अनेक गुप्त षड्यंत्रों का मुझे अनुभव होते हुए भी मैं क़ैसर का कथन सुनकर चक्कर में पड़ गया। मैंने कहा—वही तार जिसे श्रीमान् ने प्रेसीडेंट क्रूगर को भेजा है।

गम्भीरता से विलियम (द्वितीय) ने कहा—मैंने कोई तार नहीं दिया। यह तो कोरा जाल है।

एक क्षण तक मैं अपनी कुर्सी पर चुप बैठा रहा। मैं कोई बात ही नहीं सोच सका। अन्त में लड़खड़ाती हुई आवाज़ में मैंने कहा—तब किसने...

क़ैसर ने कहा—उसी की तो तुम्हें मेरे लिए खोज करनी होगी। अच्छा जो मैं जानता हूँ, सुनिए। मैंने उस तार को पहले-पहल अख़बार में ही छपा देखा। उसी समय मैंने चैंसलर को बुलाया। वह आकर शिकायत करने लगा कि बिना उसको बताये मैंने वह काम क्यों किया। जब मैंने कहा कि यह सब जाल है, उसने मेरी बात का मुश्किल से विश्वास किया और कुछ समय तक यही समझता रहा कि मैं राजनैतिक भाव से इनकार कर रहा हूँ।

मैंने साहस करके क़ैसर की आँखों से आँख मिलाकर कहा—क्या श्रीमान् ने अपनी इनकारी जनता पर प्रकट करने की कोई कार्रवाई की है?

क़ैसर गरम हो उठे। उन्होंने उत्तर दिया—यही तो कठिन समस्या है। यह दिखलाने को कि मैं उसके साथ हूँ, क्रूगर ने उस तार की प्रतिलिपियाँ दोनों गोलार्द्धों के अख़बारों के पास पहुँचा दीं। उन सबमें वह तार छपा और उस पर टीका-टिप्पणी भी की गई। इसके बाद वह मेरी निगाह में पड़ा। अँगरेज़ लोग युद्ध की धमकी देते हैं। हमारे प्रजाजन भी इतना उत्साह से भर गये हैं कि अब तक के मेरे किसी भी कार्य से उनमें इतना उत्साह कभी नहीं उत्पन्न हुआ था। देखिए, मैं कैसी स्थिति में पड़ गया हूँ। यदि मैं तार भेजने से इनकार करता हूँ तो सभी लोग वही समझेंगे जो मेरे चैंसलर ने समझा है। अँगरेज़ बाज़ी मार ले जायँगे और मेरे प्रजाजन मुझे कभी नहीं क्षमा करेंगे और यही समझेंगे कि अँगरेज़ों से डरकर मैंने आत्मसमर्पण कर दिया है।

मैं चुप बैठा रहा। मुझे क़ैसर की नाज़ुक स्थिति का ज्ञान हो गया।

सम्राट् ने कहा—इस अवस्था का प्रतीकार करने के पहले मैं यह जान लेना चाहता हूँ कि यह किसकी करतूत है। जब प्रमाणों के सहित उसका भेद मालूम हो जायगा तभी मैं अँगरेज़-सरकार को सन्तुष्ट कर सकूँगा। यदि उन प्रमाणों को प्रस्तुत कर देने में तुम सफल होगे तो तुम जानोगे कि जीवन में कोई काम करके तुमने क्या पाया है।

एक मिनट तक स्थिति पर विचार करने के बाद मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि आख़िर यह जाल किया गया तो कैसे।

"नहीं, मुझे विश्वास है कि हमें इस राजद्रोही को अपने नज़दीक ही ढूँढ़ना चाहिए।"

मैंने साहस करके कहा—यदि आप उस व्यक्ति का कुछ संकेत करने की कृपा करें—

सम्राट् ने जमी हुई दृष्टि से देखते हुए उत्तर दिया—क्या तुम्हारे मन में यह बात नहीं आती है कि हमारे साम्राज्य में एक शक्तिशाली घराना है। उस घराने के प्रधान लोग किसी समय यह विचार रखते थे कि होहेन-ज़ोलर्न लोग बिना उनकी सहायता के शासन नहीं कर सकेंगे।

"निस्सन्देह श्रीमान् का संकेत बिस्मार्क लोगों से है।"

"एक जाली तार-द्वारा मेरा पितामह फ़रासीसियों से लड़ने को बाध्य किया गया था। यदि उसी दिशा से मैं अँगरेज़ों से युद्ध करने को बाध्य किया जाऊँ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न होगी।"

इस तर्क का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था।

यह तो स्पष्ट ही था कि उक्त संवाद साधारण मार्ग से नहीं जा सकता था। मैंने क़ैसर से पूछा कि शाही तार कैसे भेजे जाते हैं।

"इस बात को तुम मेरी अपेक्षा चैंसलर से कहीं अधिक जान सकोगे। विदेशों को तार आदि उन्हीं के दफ़्र के द्वारा भेजे जाते हैं। वहाँ से सेंट्रल टेलीग्राफ आफ़िस को तार किया जाता है, जहाँ से वह समुद्री तार कम्पनी को प्राप्त होता है।"

"तब यह जाली तार चैंसलर के दफ़्र से ही भेजा गया होगा। सेंट्रल टेलीग्राफ आफ़िस को वह और कहीं बाहर से नहीं मिल सका होगा।"

"असम्भव है। वे लोग मेरे नाम के तार को जो उन्हें सरकारी मार्गों में से किसी एक से न मिला होगा, भेजने का साहस नहीं कर सकते।"

यही उत्तर मिलने की मुझे आशा थी। मैंने तुरन्त पूछा—चैंसलर के दफ़्र के सिवा उन लोगों के पास तार के पहुँचने का क्या कोई दूसरा मार्ग नहीं है। महल में श्रीमान् का भी तो अपना निजी तारघर है।

क़ैसर कुछ चकित-सा हुए। उन्होंने कहा—हाँ, है तो, परन्तु उससे केवल मेरे निजी तथा राजघराने के दूसरे लोगों के ही तार भेजे जाते हैं।

"तो भी यदि यहाँ से आपके नाम का तार बड़े तारघर को भेजा जायगा तो क्या वह वहाँ नहीं लिया जायगा।"

"ज़रूर। परन्तु महल का तारबाबू मेरे सेक्रेटरी के सामने ही तार भेजता है। मेरे साथ ऐसी चाल चलने का उसे साहस न होगा। वह जानता है कि उसका भेद तत्काल खुल जायगा। मेरी सलाह मानिए, इधर-उधर की बातों में न पड़िए, चैंसलर के दफ़्र में जाकर अपनी जाँच वहाँ के कर्मचारियों से कीजिए।"

मैंने सम्मानपूर्वक सिर झुका दिया, मानो आदेश के अनुसार कार्य करना स्वीकार कर लिया हो। क़ैसर के कमरे से बाहर आते ही मुझे इस बात का सन्देह हो गया कि मेरे साथ चाल तो नहीं चली जा रही है। मुझे आशा थी कि वहाँ पहले से ही अपराधी का पता लगाने का प्रबन्ध ठीक होगा और उसे जो सिखला दिया गया होगा वह सब मेरे आगे बयान कर देगा। मैं क़ैसर के इच्छानुसार कार्य करने को तैयार था, परन्तु मैं अपनी आँखें खुली रखना चाहता था और उस धोखे में नहीं पड़ना चाहता था जो अँगरेज़ों को दिया जाने को था।

यही सब सोचते-विचारते मैं चैंसलर के सामने जा उपस्थित हुआ। मेरे परिचय का शाही परवाना जब उन्होंने देखा तब अपनी सारी गम्भीरता अलग कर दी या उसे अलग कर देने का बहाना किया। वे बोले—यह जानकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ कि सम्राट् ने इस काम को तुम्हें सौंपा है। तुम्हारी कीर्ति मैंने सुनी है। सम्राट् अपनी मूर्खता के कार्य का परिणाम देखकर चक्कर में पड़ गये हैं और अब उसकी ज़िम्मेदारी से मुक्त होना चाहते हैं। मैं उनकी सहायता करने को तैयार हूँ, पर अपनी हानि करके नहीं।

मैंने बिस्मार्क के घर के लोगों की ओर संकेत किया। इस पर उन्होंने घृणा के साथ कहा—वह सब असम्भव

है। उस घराने के सम्बन्ध में सम्राट् का सन्देह भ्रमपूर्ण है। इस समय उन लोगों का कुछ भी प्रभाव नहीं है। यदि श्रीमान् सम्राट् इसके लिए किसी को शिकार बनाना चाहते हैं तो उन्हें अपने कर्मचारियों में किसी एक को बनाना चाहिए। मैं योरप की निगाह में अपने कार्यालय को बदनाम नहीं होने दूँगा।

मैंने जो सोचा था, स्थिति को उसके विपरीत पाकर सोचा कि मेरा कार्य उतना सरल नहीं है। चैंसलर से थोड़ी बात-चीत करने के बाद यथाविधि कार्य करने का निश्चय किया। मैंने अपने मन में कहा कि बड़े तारघर में मुझे पहले यह पता लगाना चाहिए कि उक्त तार उन्हें कहाँ से मिला था।

चैंसलर ने इसकी सुविधा मेरे लिए कर दी। उन्होंने बड़े तारघर के प्रधान अधिकारी को लिख दिया कि मैं उक्त तार के संवाद के वास्तविक शब्दों की जाँच करना चाहता हूँ, अतएव यह सब जानने के लिए वे सुविधा कर दें।

बड़े तारघर में अपना कार्य करके मैं १५ मिनट में ही बाहर निकल आया। मुझे वहाँ मालूम हो गया कि उक्त संवाद कैसर के ख़ानगी तारघर से मिला था। अब मुझको यह बात स्पष्ट हो गई कि या तो कैसर मुझसे चाल चल रहे हैं या उनके साथ बहुत बड़ी दग़ा की गई है। खोज करने की ओर मैं उत्सुकतापूर्वक आकृष्ट हो गया।

तारबाबू से मिलने के लिए मैं महल को दूसरी बार गया। महल के नौकर इसके पहले मुझे कैसर से एकान्त में मिलते देख चुके थे, अतएव तारघर तक पहुँचा देने के लिए मुझे नौकर के मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वहाँ पहुँचने पर मुझे तारघर ख़ाली मिला। नौकर को तारबाबू को बुला लाने को भेजकर मैंने यंत्र के पास जाकर उसके द्वारा यह संवाद भेज दिया—

जर्मन राजदूत, लंदन, को—

तुरन्त लार्ड सैलिसबरी से एकान्त में भेंट करो और उनसे कहो कि अँगरेज़-सरकार को मेरे विचारों के सम्बन्ध में बिलकुल धोखा दिया गया है। शीघ्र ही प्रमाण भेजे जाते हैं।

विलियम, कैसर

यंत्र से मैंने अँगुली हटाई थी कि दरवाज़ा खुला और तारबाबू भीतर घुस आया। बड़े तारघर में उसका नाम मुझे ज़ीस मालूम हुआ था। ज़ीस मुझे एक सीधा-सादा आदमी जान पड़ा। मैंने उससे कुछ कड़ाई के साथ पूछा—क्यों साहब, इस यंत्र को इस प्रकार अरक्षित अवस्था में छोड़ जाने की तुम्हें आज्ञा मिली हुई है? ऐसी दशा में तो कोई भी इस तारघर से अपना संवाद जहाँ चाहे भेज सकता है।

मिश्रित आश्चर्य और डर के साथ तारबाबू ने मुझे घूर कर देखा। उसने कहा—मैं नहीं समझता कि तुमको किसने अधिकार दिया है कि—

मैंने बात काटकर कहा—तो क्या मैं सम्राट् के पास जाकर पूछूँ कि तारबाबू अपना यंत्र अरक्षित दशा में छोड़कर क्या जा सकता है?

ज़ीस ने तुरन्त अपना स्वर बदल दिया। उसने कहा—मैंने यह अपराध आज तक नहीं किया है।

"यह अपराध तो तुमने अभी किया था।"

"मैं तो दो मिनट भी बाहर नहीं रहा। इतने अल्प समय में मेरी अनुपस्थिति का लाभ कोई नहीं उठा सकता।"

"तुम्हारी अनुपस्थिति का लाभ उठाया जा चुका है।"

"मैं नहीं विश्वास करता।"

"तब तुम बड़े तारघर से कहो कि जो तार तुमने अभी किया है उसे दुहरा दें।"

भय की दृष्टि से मेरी ओर देखकर उस आदमी ने मेरे कहे अनुसार तार किया।

मेरे भेजे हुए संवाद का शब्द प्रतिशब्द और अन्त में सम्राट् का नाम तार-द्वारा उसे प्राप्त हुआ। यह सब देखकर उसके चेहरे पर आश्चर्य और भय का ऐसा गहरा भाव व्यक्त हो आया जैसा मैंने पहले शायद ही कभी किसी के मुँह पर देखा हो। वह तत्क्षण चिल्ला पड़ा—हे ईश्वर, यह किसने किया? मेरा तो विनाश हो जायगा।

मैंने तीक्ष्णता से कहा—तुम्हारा नाश होगा या नहीं, यह स्वयं तुम्हारे ऊपर निर्भर है। मैं तुमको बचा सकता हूँ, किन्तु केवल एक शर्त पर।

ज़ीस ने मेरी ओर मूक आवेदन की दृष्टि से देखा।

मैंने कहा—तुमको सब सच सच बताना होगा। पिछले दो दिनों में तुम यह कमरा खाली छोड़कर कितनी बार बाहर गये हो?

ज़ीस ने क्षण भर सोचा। इसके बाद उसका चेहरा दमक उठा। उसने कहा—एक बार भी नहीं। इन्स्पेक्टर साहब, मेरी बात मानिए।

यह बात इतने विश्वास के साथ कही गई थी कि मेरी विचारधारा को गहरी ठेस पहुँची।

मैंने उसकी ओर कठोरता से देखकर बनावटी विश्वास के साथ कहा—मैं ठीक कहता हूँ कि तुम भ्रम में हो। इस तार-यन्त्र का दुरुपयोग किया गया है और मैं जानना चाहता हूँ कि वह कौन है?

ज़ीस का चेहरा एक बार फिर मुरझा गया।

मैंने कहा—फिर सोचो। ऐसे अवसरों की तुम याद करो जब तुम एकाएक बुलाये गये होओ और कमरे में ताला लगाना भूल गये होओ।

"परन्तु ऐसा तो कोई अवसर नहीं पड़ा। मैं तुमसे शपथपूर्वक कहता हूँ कि बिना समुचित सावधानी रक्खे मैंने इस कमरे को एक बार भी नहीं छोड़ा।"

मुझे उसके स्वर में कुछ हिचकिचाहट जान पड़ी। मैंने कहा—अधिक साफ़ साफ़ कहो। सावधानी रखने से तुम्हारा क्या मतलब है?

"या तो ताला लगाया या किसी दूसरे..."

इस बार हिचकिचाहट अधिक स्पष्ट थी। मैंने पूछा—किसी दूसरे से तुम्हारा क्या मतलब है?

"किसी विश्वासी आदमी को सौंपकर गया।"

"और वह विश्वासी आदमी कौन था?" और यह प्रश्न करते समय मैं मुश्किल से अपनी उत्तेजना को दबा सका।

"जो शीघ्र ही मेरा बहनोई होगा।"

"अरे। तो क्या यह आदमी तुम्हारे ही विभाग में नौकर भी है?"

"नहीं साहब! वह तो सैनिक कालेज में शिक्षक है। उसे तारबर्की का ज़रा भी ज्ञान नहीं है। कभी कभी तो उसने मुझसे इस सम्बन्ध में ऐसे ऐसे प्रश्न पूछे कि वह मुझे विद्युत् के बारे में निरा मूर्ख ही जान पड़ा।

"ज़रूर। अच्छा तो अपने इस मूर्ख का कृपया नाम तो बताइए।"

"श्री सेवेरेंस्की।"

"वह पोल है।"

"नहीं रूसी है। राजनैतिक विचारों के कारण उसका सैबेरिया को कालापानी हो गया था, किन्तु वहाँ से भाग आया है। सैनिक कालेज में वह रूसी भाषा पढ़ाता है।"

"यह कमरा उसके सिपुर्दगी में कैसे हुआ?"

"वह परसों शाम को यहाँ आया था। मेरी बहन के साथ अपनी शादी की बात करने आया था। कुछ समय से वे दोनों इंगेज हैं। जब वह यहाँ बैठा तब मुझे अपनी बहन का एक पुर्ज़ा मिला। उसने मुझे महल के बाहर मिलने को बुलाया था। अपने बहनोई को यहाँ छोड़कर मैं बाहर चला गया था। मेरी बहन ने मुझसे यही कहने को बुलाया था कि मैं उसके किसी प्रस्ताव का विरोध न करूँ। मेरे लौटने पर सेवेरेंस्की बैठा जँभाई ले रहा था। मैंने उससे पूछा और उसने मुझे विश्वास दिलाया कि मेरी अनुपस्थिति में कमरे में कोई नहीं आया था।"

मैं मुश्किल से अपनी मुसकराहट दबा सका। सारा षड्यंत्र स्पष्ट हो गया था। अब मुझे इस बात की चिन्ता हुई कि वह इस भेद को न जानने पावे। वह बेचारा अनजान में ही उस षड्यंत्र का शिकार हुआ था।

मैं उसे महल से अपने साथ ही लिवा ले चला। अब हम दोनों उस रूसी के घर को चले। वह रूसी अध्यापक अपने चेले के साथ बर्लिन के पुलिस-इन्स्पेक्टर को देखकर ज़रा भी चंचल नहीं हुआ। मैंने ऐसे ढंग से सारी स्थिति सेवेरेंस्की को समझा दी कि ज़ीस तो

कुछ भी न जान सका, पर वह जान गया कि मैं उसके षड्यंत्र का सारा भेद जान गया हूँ।

मैंने कहा—परसों श्री ज़ीस तुमको महल के तारघर में अकेले छोड़कर चले गये थे। इस अवसर से लाभ उठाकर तुमने सम्राट् के नाम से एक तार दे दिया। उस तार का संवाद मुझे ज्ञात है। इस अपराध के लिए तुम और ज़ीस दोनों कठोर दण्ड दिये जाने के पात्र हो। अच्छा होता यदि तुम अपराध स्वीकार कर लेते। मैं तुमसे वादा करता हूँ कि अपराध स्वीकार कर लेने पर तुमको कोई दण्ड नहीं दिया जायगा, केवल नौकरी से निकाल दिये जाओगे।

सेवेरेंस्की ने भेदभरी दृष्टि से देखकर कहा—तुम मुझसे क्या किसी का भंडाफोड़ करवाना चाहते हो।

मैंने भी उसी भाव से उत्तर दिया—जो बात सबको विदित है उसकी स्वीकारोक्ति मैं तुमसे नहीं करवाना चाहता।

यह बातचीत सुनकर बेचारा ज़ीस घबरा गया। उसका अपराध खुल जाने पर ज़ीस के हृदय को चोट पहुँची। उसने यह कहकर कि वह तो तार देना आदि जानता ही नहीं है, मामले को ठंडा कर देने का प्रयत्न किया। इस पर मैंने उसे वहाँ से चले जाने को कह दिया।

जब हम दोनों अकेले रह गये तब उस रूसी ने दृढ़ता से कहा—मैं यह बयान देने को तैयार हूँ कि मैंने ही तार किया है। परन्तु इसके सिवा मैं और कुछ नहीं बताऊँगा। तुम्हें जान लेना चाहिए कि मैं अनारकिस्ट हूँ।

मैंने घृणासूचक ढंग से हाथ हिलाकर कहा—अध्यापक सेवेरेंस्की, यदि मैं तुम्हारे सत्य बात के दबाने से सहमत हूँ तो इसका मतलब यह नहीं है कि मैं तुम्हारी झूठी कल्पित बातें सुनने को तैयार हूँ। इस षड्यंत्र में जो भाग आपने लिया है, कृपापूर्वक उसका विवरण लिख डालिए और उस पर अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। इसकी ज़िम्मेदारी मुझ पर है कि आज की रात भी तुम्हें जेल में न बितानी पड़ेगी।

उस रूसी में काफ़ी समझदारी थी और उससे जो कहा गया था उसके अनुसार उसने अपना बयान लिख दिया। आशा से अधिक मुझे उससे बातें मालूम हुईं। वह यह बात लिख देने को राज़ी हो गया कि फ़्रालीन ज़ीस से सगाई होने के बाद उससे कैसर के निजी तारघर का उपयोग करने को कहा गया था। घूँस की जो बहुत बड़ी रक़म उसे ट्रांसवाल के प्रेसीडेंट को शाही साधुवाद का तार भेज देने को दी गई थी उसका भी उसने उल्लेख कर दिया। अब हम लोगों में मित्रता-सी हो गई थी। वह अपनी सफलता पर गर्व कर रहा था। वह और भी गुप्त बातें मुझको बताता जा रहा था।

मैंने कहा—अगर तुम मुझसे यह कहोगे कि तुम किसी महाशक्ति के एजेंट हो तो मुझे वह सब कैसर से बता देना होगा। तब दो में से एक बात होगी। या तो तुम्हारी सरकार तुम्हारे काम को स्वीकार करेगी और उस दशा में तुम जासूस समझे जाकर फाँसी पर चढ़ा दिये जाओगे या वह तुम्हारे कार्य से इनकार कर देगी और तब तुम अपराधी पागल के रूप में आजीवन जेल में बन्द रहोगे।

इस धमकी का पूरा प्रभाव पड़ा और मुझे भी सन्तोष हुआ कि अब वह रूसी चुप रहेगा।

उससे अभिवादन कर—मैं मानता हूँ कि उसकी ढिठाई से उसके प्रति कुछ प्रशंसा का भाव हो आया था—मैं शीघ्र ही महल को लौटा। विलियम (द्वितीय) के पास पहुँचकर मैंने कहा—श्रीमान् एक गुप्त एजेंट के शिकार हुए हैं। उसके प्रभुओं की इच्छा थी कि ग्रेट-ब्रिटेन और जर्मनी में यदि युद्ध न छिड़े तो कम से कम मनोमालिन्य ज़रूर हो जाय। परसों यह एजेंट जिसका नाम सेवेरेंस्की है और जो रूसी भाषा पढ़ाने को—कैसर चौंक पड़े—बर्लिन के सैनिक कालेज में नौकर है, श्रीमान् के निजी तार बाबू से मिलने आया। उसने पहले से ही ऐसा प्रबन्ध कर लिया था कि उसके वहाँ पहुँच जाने पर कुछ देर के लिए वह वहाँ से बाहर चला जाय। फलतः उसकी अनुपस्थिति का उसने लाभ उठाकर उक्त तार दे दिया।

कैसर ने तब तक कोई उत्तर नहीं दिया जब तक मेरे उपस्थित किये हुए सारे प्रमाण उन्होंने पढ़ नहीं लिये।

गहरी दृष्टि से मुझे देखते हुए कैसर ने मुझसे पूछा-- और तुमने इस सेवेरेंस्की से यह नहीं पूछा कि तुम किस गवर्नमेंट के एजेंट हो।

मैंने सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा--मैं नहीं जानता था कि श्रीमान् मुझसे यह जानना चाहेंगे।

कैसर ने कहा--तुम ठीक कहते हो। जब तक उन लोगों को इस बात का सन्देह है कि मैं नहीं जानता कि यह किसकी चाल है तब तक मैं फ़ायदे में रहूँगा और वे लोग भी अपने लिए चुप रहेंगे।

एक क्षण तक गहरी चिन्ता में रहकर सम्राट् ने शीघ्रता से मेरी ओर देखकर कहा--क्यों श्रीमान्, क्या तुम्हारा लार्ड सैलिस्बरी से परिचय है ?

"यह सौभाग्य, श्रीमान्, मुझे प्राप्त है। एक बार"--

"इतना काफ़ी है। एक क्षण भी गँवाना ठीक नहीं है। तुमको बर्लिन पहली गाड़ी से छोड़ना होगा और लंदन में सीधा हमारे राजदूत के घर जाना होगा। वह तुम्हें प्रधान मंत्री के पास ले जायगा। उनको तुम्हें ये सब प्रमाण जो मुझे अभी दिये हैं, देना होगा, साथ ही उन्हें यह भी समझाना होगा कि दोनों देशों की जनता के उत्तेजित रूप के कारण मैं इस मामले में प्रकट रूप से कोई कार्रवाई नहीं कर सका।"

मैंने सिर झुकाकर अभिवादन किया, और दरवाज़े की ओर सरका।

कैसर ने पुकार कर कहा--तुम्हारी राह देखने के लिए मैं लंदन के राजदूत को तार कर दूँगा।

"क्षमा कीजिएगा। श्रीमान् ऐसा पहले ही कर चुके हैं।"

"कैसे ?"

"श्री ज़ीस के कमरे में पाँच मिनट मैंने भी अकेले में बिताये हैं।"

इस घटना के बाद से विलियम (द्वितीय) वर्षों तक ब्रिटन लोगों को अपनी मैत्रीभाव का परिचय देने का बराबर प्रयत्न करते रहे।



गीत

श्रीयुत प्रणयेश शुक्ल

कितना मृदुतर भार लिये !

तरलित जीवन का प्रवाहमय
वह मधु-सिन्धु अपार लिये !

इन्द्रधनुष जिसका निर्मित-पथ,
अजल-जलद का बहुरंगा रथ ॥
जिसकी चिर-संगिनी कल्पना,
एक अधर इति, एक अधर अथ !

द्रुतगति परिचालन में अविरल,
विद्युत का संचार लिये !

नव-प्रभात की गह अरुणाई,
हाँ, नव यौवन की तरुणाई।
जाने किस अज्ञात लोक से,
कैसे इस मधुवन में आई ॥

वितरित करती मादक परिमल,
फूलों का संसार लिये !

हमारा राजनैतिक कार्य्य-क्रम

आनरेबुल पंडित प्रकाशनारायण सप्रू
एम० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-ला,
मेम्बर, कौंसिल आफ़ स्टेट



इस लेख में पंडित प्रकाशनारायण सप्रू ने देश की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति पर बड़े महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। वे चाहते हैं कि कांग्रेस दलबन्दी में न पड़कर सर्वमान्य संस्था के रूप में कार्य्य करे और भारतीय दिखा दें कि उनके दिलों में कांग्रेस के लिए प्रेम है। आपका यह चित्र हमें श्री सेंट निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ है।



बड़े हर्ष की बात है कि कांग्रेस अब लेजिस्लेटिव असेम्बली के चुनाव में शरीक होगी। इस चुनाव में कांग्रेस ख़ुद शरीक होगी या उसकी कोई पार्टी, मैं इस भेद को उतना महत्त्व नहीं देता। असल चीज़ कांग्रेस की सहायता है। कांग्रेस के शरीक होने से देश की राजनैतिक स्थिति में फिर नव जीवन आ जाने की आशा है। इस वक्त हमारी स्थिति बहुत धीमी हो गई है। हमको इन चुनावों के द्वारा अवसर मिलेगा कि हम अपने लाखों भाइयों के पास पहुँचें और उनकी राजनैतिक शिक्षा में कुछ भाग लें। अगर ठीक तौर से ये चुनाव लड़े जायँ तो हम बहुत कुछ राजनैतिक शिक्षा उनके द्वारा अपने मुल्क के भाइयों को दे सकते हैं। शिक्षा ही नहीं, बल्कि शक्ति भी पैदा कर सकते हैं।

यह तो साफ़ ज़ाहिर है कि जैसा स्वराज्य हम चाहते हैं, वैसा बहुत ज़ोर लगाये बिना अभी कुछ दिनों तक हमको नहीं मिल सकता। कारण यह है कि हममें पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की अभी शक्ति नहीं है। सरकार का ख़याल यह है कि हमारी धमकियों में कोई बल नहीं है। इस बल का प्राप्त करना ही केवल हमारा मुख्य कार्य्य होना चाहिए और इस बल के प्राप्त करने में कांग्रेस की नई स्वराज्य पार्टी देश की बहुत मदद कर सकती है।

स्वराज्य-पार्टी के कार्य्य-क्रम में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे कोई शख़्स जो अपने तईं राष्ट्रीय और उन्नतिशील कहता है उससे भड़के। मेरे ख़याल में जिन तरीक़ों के ऊपर स्वराज्य-पार्टी चल रही है वह तरीक़ा मुल्क की बेहतरी के लिए होगा। हमको कौंसिलों में एक प्रभावशाली और जोशीले प्रवृत्ति में जाना चाहिए। इसके मानी ये नहीं हैं कि हम हर चीज़ का चाहे वह मुल्क की बेहतरी के लिए हो या न हो, सिर्फ़ विरोध के भाव से विरोध करेंगे। मगर इसके मानी ये ज़रूर हैं कि हम अपने उसूलों के ऊपर पूरी तौर से क़ायम रहेंगे। और उनके हासिल करने में विरोध की पूरी तौर से ज़रूरत होगी तो हम विरोध करने से डरेंगे नहीं और जिन बातों

को हम मुल्क की बेहतरी के लिए ज़रूरी समझते हैं उनसे एक पग भी नहीं हटेंगे।

मैं स्वराज्य-पार्टी के कार्य्य-क्रम के यही माने समझता हूँ। मेरी राय में यह ठीक मार्ग पर है और ठीक दिशा की ओर है। पहली चीज़ तो यह है कि हम इस बात को स्पष्टरूप से प्रकट कर दें कि हमारे विचार में स्वराज्य और 'ह्वाइट पेपर' दो अलग चीज़ें हैं। हम जब स्वराज्य चाहते हैं तब वैसा नहीं चाहते जैसा सर सैमुअल होर और ब्रिटेन की नेशनल गवर्नमेंट हमें देना चाहती है। हम असली स्वराज्य चाहते हैं। नक़ली में हमारी दिलचस्पी नहीं है। ह्वाइट पेपर के बारे में कांग्रेस को लिबरलों की सहायता मिलेगी और मिलनी चाहिए। दलबन्दी की राजनीति की बात को छोड़कर सच्चे तौर से देखा जाय तो उन हिन्दुस्तानियों ने जो राउन्डटेबुल कान्फ़रेंस में गये थे, यह बात ज़ाहिर कर दी है कि ह्वाइट पेपर जिस रूप में है उस रूप में देश को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उन्होंने उसमें बहुत कुछ सुधार और परिवर्तन के प्रस्ताव किये हैं, जो यदि पूरी तौर से मान लिये जायँ तो ह्वाइट पेपर को एक ऐसी चीज़ बना सकते हैं जिसको हम पूर्ण स्वराज्य की ओर एक क़दम बढ़ाना समझ सकते हैं। मेरे ख़याल में भारतीय दलों को इस झगड़े में पड़ने की ज़रूरत नहीं है कि हम ह्वाइट पेपर को तिरस्कृत करना चाहते हैं या उसमें सुधार चाहते हैं। यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि हम जैसे सुधार चाहते हैं वैसे सरकार या ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी कदापि नहीं स्वीकार करेगी। अगर यह बात सच है तो प्रश्न यह है कि हम ह्वाइट पेपर को जैसा कि वह अपने वर्तमान रूप में है, स्वीकार करने को तैयार हैं या नहीं। इसका केवल एक उत्तर हो सकता है और वह यह है कि वर्तमान रूप में ह्वाइट पेपर हमको मंज़ूर नहीं है और वह हमको सन्तुष्ट नहीं करेगा।

कोई कारण नहीं कि इस छोटे से फ़र्म के ऊपर देश के उन्नतिशील दलों और कांग्रेस में झगड़ा हो। दूसरा प्रश्न जिसके ऊपर सब दलों में एकता होनी चाहिए और होगी, दमन का है। हमको अपने उन युवक भाइयों को जिन्होंने देश की सेवा में जेल के कष्ट भोगे हैं, छुड़ाने की पूरी तौर से कोशिश करना अपना परम धर्म समझना चाहिए। न सिर्फ़ यह बल्कि हमको उन क़ानूनों के जो सरकार को बड़े विस्तृत अधिकार देते हैं, हटाने की कोशिश पूरी तौर से करनी आवश्यक है, क्योंकि इस बात के बिना देश में कभी शान्ति नहीं हो सकती। हमको स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए कि जो कांग्रेस का लक्ष्य है वही हर एक भारतीय का लक्ष्य है और कांग्रेस को देश में पार्लियामेंटरी संस्था के तौर पर कार्य्य करने का उतना ही अधिकार है जितना और संस्थाओं को है। हमको यह भी दिखलाना है कि कांग्रेस के लिए लोगों के दिलों में प्रेम है और यदि सरकार लोगों की मदद से इस देश में राज्य करना चाहती है तो वह कांग्रेस के साथ मनुष्यता और शराफ़त का बर्ताव करे।

मैं कोई कारण नहीं देखता कि हम जो उन्नतिशील समझे जाते हैं, मेल से काम न करें। सविनय अवज्ञा का प्रश्न अब नहीं है। यह प्रश्न कि सविनय अवज्ञा का प्रश्न उचित है या अनुचित, केवल पंडिताऊ प्रश्न है। हमें अपनी वर्तमान स्थिति से मतलब है। दस वर्ष के बाद देश में सत्याग्रह की आवश्यकता होगी या नहीं, यह वही लोग तय करेंगे जिनके ऊपर उस समय उत्तरदायित्व होगा। ग़ैर कांग्रेसवालों के लिए यह हर्ष की बात होनी चाहिए कि सत्याग्रह आन्दोलन इस समय स्थगित कर दिया गया है और इसके न होने से कांग्रेस-वालों और ग़ैर कांग्रेसवालों में मेल की सम्भावना अधिक हो सकती है।

स्वराज्य-पार्टी के आर्थिक प्रश्न से कम से कम मेरा तो मतभेद नहीं है और न मेरे ख़याल में किसी ऐसे व्यक्ति को जो अपने तईं उन्नतिशील कहाता है, मतभेद हो सकता है। इस पचास वर्ष में योरप के आर्थिक विचारों में बड़े परिवर्तन हो गये हैं और यह मानी हुई बात है कि यदि हम अपने देश को अर्थ-संकट से बचाना चाहते हैं तो हमको आर्थिक-व्यवस्था में बड़े ज़ोरदार और व्यापक सुधार करने होंगे। हमको देश की भलाई के प्रश्न को हल करना है और यह हम सबके मत से ही हल

हो सकता है। मुझे स्वराज्य-पार्टी के प्रोग्राम में कोई बात साम्यवादी (communistic) नहीं जान पड़ती और धनी व्यक्तियों को उससे डरने की ज़रूरत नहीं है। उनमें बहुत-सी बातें हैं जो न सिर्फ़ लिबरल बल्कि सभ्य अपरिवर्तनवादी भी स्वीकार कर रहे हैं। हमारी पार्टियों में दलबन्दी का भाव नहीं होना चाहिए और जो लोग दलबन्दी के तू-तू मैं-मैं के वायु-मण्डल में निवास नहीं करते उनका यह परम धर्म है कि वे इस बात का प्रयत्न करें कि एक ऐसा समाज क़ायम हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय हो।

ऊपर जो कुछ मैंने लिखा है उससे प्रकट होगा कि मेरी राय में उन्नतिशील जनों को कांग्रेस की सहायता अगले चुनाव में करनी चाहिए। अगर ग़ैर कांग्रेसी का यह धर्म हो तो कांग्रेसवालों का भी ग़ैर कांग्रेसवालों के प्रति एक धर्म है। कांग्रेस अधिक बलवान् दल है और उसको उन लोगों का जिन्होंने देश की सेवा अन्य उपायों से की है मगर जिनका सत्याग्रह में विश्वास नहीं था सिर्फ़ इस बिना पर कि वे कांग्रेसवाले नहीं हैं, विरोध नहीं करना चाहिए। कांग्रेस को दलबन्दी में न पड़ना चाहिए। उसको सर्वमान्य संस्था के रूप में ही चलना चाहिए। यदि हमारी नई कौंसिलों में ऐसे लोग जैसे मिस्टर सी० वाई० चिन्तामणि, पंडित हृदयनाथ कुंजरू या मुंशी ईश्वरशरण जिन्हें व्यवस्थापिका सभाओं का अनुभव है, न हुए तो यह दुःख की बात होगी। मुझे आशा है कि स्वराज्य-पार्टी जिसमें डाक्टर अनसारी, श्री भूलाभाई देसाई और डाक्टर विधानचन्द्र राय हैं, पार्टी की इन छोटी-मोटी भेदभावनाओं के कारण उन लिबरलों और उन्नतिशील लोगों का विरोध न करेगी कि जिन्होंने बड़ी कठिनाइयों से इस देश में तीन वर्ष में प्रजातान्त्रिक आन्दोलन को जीवित रखने का प्रयत्न किया है। हम लोग विजय सम्मिलित कार्य्य से ही प्राप्त कर सकते हैं और मैं तो यह समझता हूँ कि जितने उन्नतिशील व्यक्ति हैं उन्हें, अपने छोटे छोटे झगड़ों को छोड़कर एक मन से ऐसी शक्ति पैदा करनी चाहिए जो सरकार के हिलाये न हिल सके।

प्रस्थान

श्रीयुत गिरीशचन्द्र पन्त

लो, महासिन्धु को चली आज
मैं अमर अमृत घट भरने!
अलि, हँस-हँस गाती आओ,
द्रुत नव-नव साज सजाओ,
अब मंगल वेणु बजाओ,
लो, ज्योति-सिन्धु को चली पुलक
मैं तिमिर-हृदय-घट भरने!
री, आँसू के दिन बीते,
अब भाग जगे चिर रीते,
ओ चटुल स्वप्न, तुम जीते,
अब सत्य-सिन्धु को चिर हतभागिनि
चली रिक्त घट भरने!
थी विपदाओं में सोई,
जग भ्रमित-भँवर में खोई,
री फूट-फूट कर रोई,
आनन्द-सिन्धु को चली आज
अब अमर प्राण-घट भरने!
थी समझ न पाती माया,
अज्ञान चतुर्दिक छाया,
नित रोई, भेद न पाया,
लो, ज्ञान-सिन्धु को चली आज
अक्षय जीवन-घट भरने!
अलि, हँस दूँ, रोऊँ गाऊँ,—
चल नृत्य करूँ, अकुलाऊँ;
जगती पर बलि-बलि जाऊँ,
अब विश्व-सिन्धु को चली बावरी
शून्य प्रेम-घट भरने!

गजेन्द्र-मोक्ष

कविवर अनूप शर्मा, एम० ए०, एल्-टी०

कुछ-कुछ तीव्रता बढ़ी थी भानु-भानुओं में,
वर्तमान प्रहर द्वितीय ताप-कारी था।
दीन के अदीन अश्रुओं से ओस-बिन्दुओं का,
होता व्योम-विलय नितान्त शान्तचारी था॥
द्विविध सितासित त्रिवेणी की तरङ्ग-सम,
शीताशीत पवन प्रशस्ति-अधिकारी था।
बहुविध विभव-विमंडित विहंग-वृन्द,
विपुल विनोद-वाह विपिन-विहारी था॥१॥
ऐसे वारिजों से था समावृत तड़ाग-नीर,
मंजु मकरन्द-बुन्द जिनके चुके हुए।
कंज-कोष-मुक्त छोड़ भ्रामरी दशा को भृंग,
धीर थे सरोज-पंखड़ी पर रुके हुए॥
होड़ तरु-शिखर-विहार की खगों में लगी,
सघन गुफाओं में उलूक थे लुके हुए।
आश्रय प्रदान किये, छाया-ग्राहकों के लिए,
विनय-विनम्र बने विटप झुके हुए॥२॥
एकाएक पक्षी उड़े, दौड़े मृग, भागे व्याघ्र,
शरभ स-संभ्रम पलायमान होने लगे।
सहज स-शंक आशीविष कतराने लगे,
भारी भीति-भार भी गवय-गण ढोने लगे॥
सिंह घबराये अन्य वन्य अकुलाये बहु,
सारे हिंस्र-जीव अविराम किसी कोने लगे।
किन्तु वृक, महिष, वराह, श्वान, शल्य, भालु,
कीश, शश आदिक प्रसन्न-चित्त होने लगे॥३॥
उतर त्रिकूट से प्रवेश कर कानन में,
यूथ गजराज का निनाद करता हुआ।
आया उसी काल में असेत गिरि-जंगम-सा,
दश-विदिशाओं में प्रकम्प भरता हुआ॥
शाल कर शाल को विदार कोविदार-वृन्द,
पाटल प्रियाल पर पांव धरता हुआ।
ताल तोड़ता हुआ, मरोड़ता हुआ तमाल,
आया वारणाधिप प्रकाम चरता हुआ॥४॥

शुंडी संग अपने भुशुण्डिनी अनेक लिये,
करभ-कलाप-हेतु वृक्ष तोड़ने लगा।
मुंड को हिलाता, वीर शुंड को घुमाता हुआ,
शुंडादण्ड-वात से अरिष्ट मोड़ने लगा॥
परम प्रमत्त एकछत्र काननाधिप-सा,
धारा के समान दान-वारि छोड़ने लगा।
विपुल विशाल कच्चे कलश-समान शीघ्र,
व्योम में उछाल शैल-खंड फोड़ने लगा॥५॥
हुआ इतने ही में प्रचंडतर चंडकर,
आतप को अटवी समवराधने लगी।
होकर विशाख फल-रहित प्रसून-हीन,
मानों वृक्ष-मंडली तपस्या साधने लगी॥
कुंजर-करभ-करिनी की घटना हो स्वस्थ,
श्रान्ति-सुख पाने का विचार नाधने लगी।
दारु-उपलों से छिले चंचल करों के, वह,
नासापुट फड़के पिपासा बाधने लगी॥६॥
सामने दिखाई पड़ा सुन्दर सरोवर जो,
अपनी प्रभा में बिज्जु-राशि का विजेता था।
नीप, नल, इंगुदी, अशोक, बेत, जालक से,
चारों ओर कुन्द से घिरा था सुख देता था॥
कंज को, कुमुद को, निरंतर तड़ाग-मध्य,
संचरण-शील राज-हंस-वृन्द सेता था।
घोर पारावार-सा विभोर बना आनँद में,
शोर कर तट में हिलोर नीर लेता था॥७॥
सत्य, तृषितों को एक जीवन ही जीवन है,
दौड़ी गज-मंडली तुरन्त उसी सर को।
दौड़ा गन्ध-वाह बन मुग्ध करने के लिए,
दौड़े हंस सारस-समेत भूमि-धर को॥
हस्तिनीगणों का झुण्ड त्वरित स-वेग दौड़ा
दौड़े कर करभ चलायमान कर को।
दान-वारि-घ्राण से मिलिन्द इस ओर दौड़े,
दौड़ा कंज-गंध से गजाधिप उधर को॥८॥

गज घटना की घटा भिड़ने बलाहकों से,
मानों आज स-मद स-मोद चढ़ आई है।
दन्तावली बिज्जु के समान चमकी जो यहाँ,
तो वहाँ अमन्द ध्वनि पड़ती सुनाई है॥
प्राकृत प्रसंग इसी भाँति से अप्राकृत हो,
द्वन्द्वातीत भाव यों बढ़ाता सुखदाई है।
चंचरीक-वृन्द में गजेन्द्र ही समाया, या कि,
गज-गंड ही में भृंग-मंडली समाई है॥९॥

आगे चल, आगे बढ़, आगे दौड़ दन्ति-यूथ,
तृषित तो था ही द्रुत कूद पड़ा सर में।
तुंगतर और भी तरंग-राजि होने लगी,
हहर-हहर ध्वनि लहर-लहर में॥
भृंग भागे सकल भुशुण्ड नीर-मग्न देख,
मीन-मच्छ भागे छिपे पंकिल विवर में।
विमल-विमल स्नान करने गजेन्द्र लगा,
करिनी करभ नीर लेने लगे कर में॥१०॥

देखो, करि-करिनी-करभ का कलाप क्या ही,
स्नान करता है, डूबता है, उतराता है।
एक यदि एक के गले में सूँड मेलता तो,
दूसरा भी दृश्य जल-यन्त्र का दिखाता है॥
ले ले पलथी यों नीर-क्रीड़ा में निमग्न होते,
देखते ही चित्त में विचार नव्य आता है।
मानों पुल टूटने से इञ्जिन-समेत रेल,
सरि में गिरी हो, यही दृश्य दृष्टि आता है॥११॥

सारी नाग-मंडली प्रकाम पूर्ण-काम हुई,
ऐहिक विभव देखो कुंजराधिराज का।
दारा, पुत्र, पुत्र-वधू, पौत्र, पौत्र-वाम साथ,
जाल-सा बिछा है चारों ओर सुख-साज का॥
तुष्ट हो चुकी है भूख, तृप्त हो चुकी है प्यास,
भाव न अपूर्ण कोई पील-सिरताज का।
स-फल, स-उन्नति, स-गौरव गृहस्थ-सम,
लेखिए अनूप अहोभाग्य गजराज का॥१२॥

दंड युग यों ही स्नान करते कराते गये,
स्वस्थ हुए सकल, परन्तु उस काल में।
जाग उठीं पाशव प्रवृत्तियाँ भुशुण्डियों की,
खेल खेलने लगे तुरन्त उसी ताल में॥
डुबकी लगाते, उतराते, फिर डूब जाते,
लुब्ध करते थे वारि उछल उछाल में।
कच्छ भागे, मच्छ भागे, अन्य जीव-जन्तु भागे,
व्यापी अस्त-व्यस्तता समस्त कंज-जाल में॥१३॥

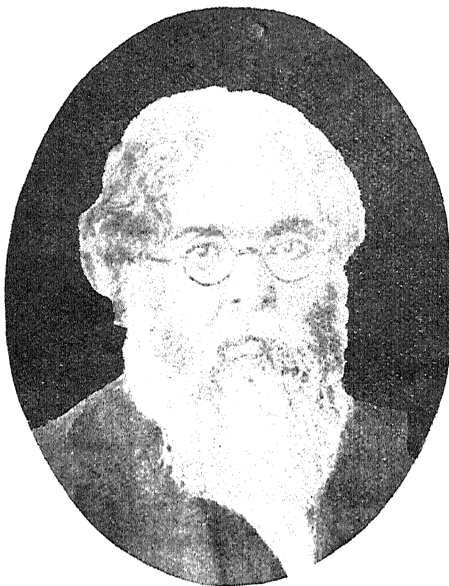
तुंग उठने लगीं तरंगें सलिलाशय की,
फेनिल सलिल अति पंक-मय हो गया।
चूर्ण शुक्ति कम्बुक उपँड़ उतराने लगे,
नील पय अधिक अनील पय हो गया॥
टूट-फूट स-बिस सरोज गये सत्वर ही,
कुमुदादिकों में शीघ्र व्याप्त क्षय हो गया।
द्विरद-वरूथ में विलीन हुआ तोय या कि,
कुंजर-कलाप नीर ही में लय हो गया॥१४॥

दैवी-भाव-प्रेरित उसी क्षण गजाधिप का,
अग्रिम चरण पड़ा पूछ पर ग्राह की।
आहत अहीश-सम होकर जलाधिराज,
क्रोधित गजेन्द्र-पाद खींचने की चाह की॥
विपुल निनाद कर पकड़ तुरन्त उसे,
चाहा नाप जाना थाह सलिल अथाह की।
चित्त में द्विरद के समाई पाँव खींचने की,
नक्र को लगी धुन तड़ाग-अवगाह की॥१५॥

दोनों मुठभेड़ लगे लड़ने जलाशय में,
नाग जो कभी तो कभी ग्राह खींच लेता था।
गज जो इधर एक नायक था हाथियों का,
नक्र भी उधर मकरों का एक नेता था।
एक ने इधर खींचा खटके से दूसरे को,
दूसरा उधर झटके से डुबो देता था।
घोर-युद्ध-व्यस्त उन दोनों में कदापि कोई,
होता न विजित और होता न विजेता था॥१६॥

अन्धाधुन्ध होने लगा युद्ध युग जन्तुओं में,
देख पड़े हींसते, हुँकरते झगड़ते।
क्रुद्ध-भाव-ईरित, विरुद्धता-समीरित-से,
गिरते घनों-से शैल-खंड-से उभड़ते॥

ग्रस्त एक दन्त से तो ध्वस्त एक सूँड से था,
व्यस्त हुए एक-दूसरे को यों रगड़ते ।
दोनों मेरु-मंदर-से, बाये मुख कंदर-से,
बन्दर-से अंदर धुरंधर थे लड़ते ॥१७॥
यों ही युद्ध तुमुल सहस्र वर्ष होता रहा,
दोनों में न जीता कोई, हारा भी न बल से ।
कुंजर-करभ-करिणी-गण इतर सभी,
देते रहे विपुल सहायता स्व-बल से ।
किन्तु गज का सब पराक्रम शिथिल हुआ,
सूझा मुक्ति-मार्ग नहीं मकर प्रबल से ।
अन्तिम पुकार आर्त होकर मचाने लगा,
जाने लगा नीचे को गजेन्द्र जल-तल से ॥१८॥
"ए हो भगवान ! ए हो दीनबन्धु ! दीनानाथ !
अब न बचूँगा दुष्ट प्राण पिये जाता है ।
दारा, सुत, बन्धु, और बान्धव खड़े हैं सभी,
इनको सदा को नीच ठेस दिये जाता है ॥
डूबा, अब डूबा, अब डूबा, न बचूँगा हाय !
घात पर घात झखराज किये जाता है ।
आओ नाथ ! आओ नाथ ! अब तो बचाओ नाथ !
हाय ! हाय ! ग्राह मुझे खींचे लिये जाता है ॥१९॥
"हे हे देव-देव ! हे जगन्निवास ! मुक्ति-धाम !
अमित ! अहेतु ! जगदेकहेतु ! आओ नाथ !
केशव ! मुकुन्द ! घनश्याम ! करुणानिधान !
द्रौपदी के रक्षक ! मुझे भी तो बचाओ नाथ !
दौड़ो हे हिरण्य-वपु-हृदय-विदारी ! अब,
दीन-प्रतिपालक ! तुरन्त उठ धाओ नाथ !
डूब ही गया मैं अरे ! खिसका रसातल को,
अब तो प्रभो ! मैं अभी डूबा, अभी आओ नाथ !" ॥२०॥
एकाएक तीनों पाँव खिसके रसातल को,
पुच्छ हुई व्याकुल, भुशुण्ड काँपने लगा ।
क्षण में सहस्र हस्तियों का बल चूर्ण हुआ,
अन्तिम उसासें ले गजेन्द्र हाँफने लगा ॥
द्विगुण प्रवेग से तुरन्त ग्राह भीषण हो,
चरण गजेन्द्र का पकड़ चापने लगा ।
वारण वराक निज देह न सम्हाल सका,
होकर विपन्न मृत्यु-पथ नापने लगा ॥२१॥
किन्तु ईश-चरणानुराग उस वारण का,
बल घटने से एक पल भी घटा नहीं ।
लेकर सरोज देव-देव को पुकार उठा,
किस दुखिया ने नाम प्रभु का रटा नहीं ॥
चक्र चक्रपाणि का प्रवृत्त हुआ रक्षण को,
गज ने कहा नहीं कि वह प्रकटा नहीं ।
नक्र के गले को वक्रगति से उड़ा ही दिया,
दैवी-शक्ति देखो गज-चरण कटा नहीं ॥२२॥
चंक्रमित होने लगा चक्र नक्र-ग्रीवा काट,
उज्ज्वल अलात-सा प्रकाश करने लगा ।
एक क्षण सम्मुख गजेन्द्र के उपस्थित हो,
चारों ओर दिव्य प्रकाश भरने लगा ॥
ऊँचे उमथाकर गजेन्द्र ने विलोका जभी,
वह हरि-आयुध त्रिताप हरने लगा ।
एक-टक दिव्य द्युति उसकी विलोक शीघ्र,
परम अधीर गज धीर धरने लगा ॥२३॥
देखा तदनन्तर प्रकाश में स्वरूप दिव्य,
काम-अभिराम छवि-धाम स-प्रभा ललाम ।
शंख-चक्र-पद्म-गदा-भूषित भुजायें चार,
वलयादि-संयुत सुखावह सरोज-दाम ॥
शरदेन्दुनिन्दक मुखारविन्द मंजु अति,
श्रवण स-कुंडल किरीट-युक्त केश श्याम ।
पीत-परिधान-युक्त देख करुणानिधान,
जाना धन्य निज को विलोका जभी घनश्याम ॥२४॥
करि ने बढ़ाया कर चरण-ग्रहण हेतु,
ग्राह भी सिधाया जहाँ शाश्वत समाज था ।
हरि ने बढ़ाया पद ऐसी शीघ्रता से तभी,
सहसा पिछड़ता दिखाता पक्षिराज था ॥
जाते लखा किसी ने न आते लखा उन्हें, किन्तु,
सारे देव-लोक में अचम्भा यही आज था ।
दीनानाथ-साथ था अदेह झखराज एक,
और एक संग में सदेह गजराज था ॥२५॥



पंडित मोतीलाल नेहरू (२)

श्रीयुत सेंट निहालसिंह

इस लेख में श्रीयुत सेंट निहालसिंह ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से पंडित मोतीलाल नेहरू के महान् त्याग और उनके जीवन के अत्यन्त भड़कीले भाग का बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया है।



पंडित मोतीलाल के जिस 'आनन्द-भवन' का मैंने अपने पिछले लेख में वर्णन किया है वह उन दिनों (सन् १९१०) केवल नाम को ही नहीं वास्तव में आनन्द-भवन था। उसके प्रधान निवासी और स्वामी को जीवन के समस्त आनन्द प्राप्त थे और उनका वे स्वजनों, मित्रों, परिचितों और अपरिचितों के साथ भी उपभोग कर रहे थे। निःसन्देह उन्होंने इस शर्त को समझ लिया था कि आनन्द देने से आनन्द प्राप्त होता है।

इसमें वे कभी नहीं चूकते थे। आतिथ्य सत्कार करने में कोई राजा भी उनसे अधिक उदार नहीं था। मैं एक उदाहरण दूँगा।

महाराज गायकवाड़ की प्रेरणा से मुझे इलाहाबाद दुबारा जाने का अवसर मिला। यह सन् १९११ की जनवरी के आख़िर या फ़रवरी के शुरू की बात होगी। मिसेज़ सेंट निहालसिंह और मैं बड़ोदा में थे और वहां के लक्ष्मीविलास महल में ठहरे हुए थे। हिज़ हाइनेस ने हमसे एक महत्त्वपूर्ण प्रदर्शिनी का ज़िक्र किया जो इलाहाबाद में होने जा रही थी। डाक्टर आनन्द-कुमार स्वामी ने जो एक प्रसिद्ध तामिल के पुत्र थे और जो सीलोन में एक सुसंस्कृत और सभ्य अँगरेज़ महिला से जन्म ग्रहण कर लालित-पालित हुए थे, ने दूर दूर की कला की वस्तुओं का प्रदर्शिनी में रखने के लिए संग्रह किया था। हिज़ हाइनेस ने अपने सरल और आडम्बर-हीन ढङ्ग से कहा—"मिसेज़ सेंट निहालसिंह और आप इन वस्तुओं को देखने के लिए उतने ही उत्सुक होंगे जितना कि मैं हूँ। मैं वहां जा रहा हूँ और मुझे प्रसन्नता होगी यदि आप भी चलें।"

उन्होंने अपने अफ़सरों में से एक को आवश्यक प्रबन्ध करने की आज्ञा दी, मानो हमारी स्वीकृति का उन्हें पूरा निश्चय हो।

महाराज और महारानी अपने स्टाफ़ के कुछ सदस्यों के साथ इलाहाबाद में एक बँगले में ठहरे। जहाँ तक मुझे स्मरण है यह बँगला एक धनी ज़मींदार—प्रतापगढ़

के महाराज का था। वहाँ कुछ तम्बू लगाये गये थे, तो भी स्थान की कमी थी। इसलिए हम लोगों के ठहरने के लिए एक होटल में प्रबन्ध किया गया था। व्यय-साध्य लक्ष्मीविलास महल में ठहरने के बाद कोई भी होटल हमें फीका लगता, परन्तु मैं इस बात को कृतज्ञता के भाव से स्मरण करूँगा कि प्रदर्शिनी के कारण यात्रियों से भरे होने पर भी होटल के मैनेजर ने हमें सुख पहुँचाने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा।

प्रयाग में उस समय हमारे थोड़े-से जो दिन बीते वे विविध कार्यों और जलसों से पूर्ण थे। उनमें से दो मेरे स्मृति-पट पर अब भी बड़े चटकीले रङ्गों में अङ्कित हैं। एक थी दावत और दूसरी थी गार्डन पार्टी। ये दोनों पंडित मोतीलाल नेहरू ने महाराज और महारानी के सम्मान में किये थे।

सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बुलाये गये थे। हाईकोर्ट के जज और उच्च कोटि के सरकारी कर्मचारी विभिन्न धर्मों के भारतीय पत्रकारों में मिल गये थे। इच्छानुकूल भोजन की वस्तुएँ बड़े उदार पैमाने पर उपस्थित की गई थीं और निपुण भोजन परोसने वाले बिना दाग़ की सफ़ेद पोशाक में उन्हें परोस रहे थे। कुछ खाद्य सामग्री बाहर से मँगाई गई थी और निःसन्देह उसमें बहुत दाम लगे होंगे। पंडित मोतीलाल नेहरू अपने बहुसंख्यक मेहमानों के बीच में बड़ी नम्रता, सरलता और शिष्टाचार-पूर्ण ढङ्ग से घूम-फिर रहे थे। उनका मुख-मण्डल मधुर मुस्कान की माला से अलंकृत था और उनके भाषणों और आँखों से आनन्द टपकता था।

उस रूप में उन्हें मैंने फिर कभी नहीं देखा। मेरे दुबारा उनसे मिलने से पहले ही भारत का राजनैतिक गगन धुँधला हो उठा था। पंडित मोतीलाल की भौंहें मेघाच्छादित हो उठी थीं। और उन्होंने मातृ-भूमि के लिए अपने ऐश व आराम को छोड़कर कष्ट सहने और बलिदान को अपना लिया था।

[२]

इस महान् और उग्र परिवर्तन का मैं यहाँ उल्लेख कर देना चाहता हूँ। इसने लोगों को बड़े चक्कर में



[पंडित मोतीलाल नेहरू—सन् १९२९ में असेम्बली के विरोधीदल के नेता के रूप में]

डाल दिया था और वह चक्कर व्यापक था। पर मुझ पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। कारण यह था —

१९१० और १९११ की इलाहाबाद की अपनी दोनों यात्राओं में मैंने देखा कि पंडित मोतीलाल जी के जीवन-स्वभाव का एक ऐसा भी पहलू है जिसका जनता को और उनके बहुत-से मित्रों को भी कोई ज्ञान नहीं है। उनके बाह्य कार्यों से वे इस क़दर चकित हो उठे थे कि वे इस बाहरी सतह के भीतर देखने में सर्वथा असमर्थ थे। इसी लिए वे उनके सच्चे स्वभाव से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

मेरे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि उनका हृदय उस वैभव से विरक्त था जो उन्होंने अपने चारों ओर जुटा रक्खा था। यह भी नहीं कि उस वैभव में उन्हें आनन्द नहीं मिलता था। यह सब कहना मिथ्या होगा।

परन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने जीवन के इस काल में भी जब कि वे आनन्द के अतिरिक्त और किसी देवता को न जानते थे, वे जीवन की अधिक गम्भीर, सुन्दर और स्थायी बातों को सर्वथा भुलाये हुए नहीं थे। सन् १९१० ईसवी में उनकी छत के नीचे मैंने

जो १० दिन बिताये थे वे दिन मेरे लिए आज बहुत मूल्यवान् हैं। उन्हीं दिनों में उनसे एकान्त में वार्तालाप करते समय उनके स्वभाव के इस पहलू का मैंने ज्ञान प्राप्त किया था।

[३]

इस सिलसिले में मैंने सबसे पहले यह मालूम किया कि पूर्व की सभ्यता के लिए उनके हृदय में अगाध प्रेम है। हमारे वार्तालाप का प्रवाह उर्दू और फ़ारसी कविता की ओर कैसे हो गया, इसका मुझे ठीक ठीक स्मरण नहीं रहा। परन्तु इतना तो मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होंने अपने बाल्यकाल और युवावस्था में परिश्रम के साथ इन भाषाओं के सीखने की बात कही थी।

उन्होंने मुझे कुछ ऐसी पंक्तियाँ सुनाईं जो बहुत पहले उनके स्मृति-पट पर अङ्कित हो गई थीं और जो वर्षों की उपेक्षा के बाद भी अमिट थीं। मैंने उनकी रुचि की प्रशंसा की। उनमें यह रुचि उनके एक यात्री ने उत्पन्न की थी और उसी ने उन्हें पूर्व की सर्वोत्तम कविता से परिचित कराया था।

दूसरी बातों में भी मैंने देखा कि उनके आमोद-प्रमोद के नीचे एक गम्भीर अन्तर्नाद हो रहा था। पंडित जी उस कष्ट से असावधान नहीं थे जिसके बीच से उस समय हमारी मातृभूमि गुज़र रही थी।

देश की राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध का प्रत्येक समाचार वे बहुत व्यग्रता-पूर्वक पढ़ते थे। मुझे कुछ कुछ स्मरण है कि उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था कि गम्भीर परिस्थितियों से सम्बन्ध रखनेवाले तार 'लीडर' के कार्यालय में पहुँचते ही उनके पास पहुँच जाते थे। मालवीय जी, सप्रू, सच्चिदानन्दसिंह और अन्य व्यक्तियों के साथ वे बराबर परामर्श करते रहते थे। सम्पादकीय नीति और अधिकारियों के गर्हित कार्य्यों का विरोध करने के ढङ्ग में इनमें से कुछ से उनका मत नहीं मिलता था। परन्तु मातृ-भूमि के हित के लिए वे यथाशक्ति उनसे सहयोग करने का प्रयत्न करते थे।



[देशबन्धु सी० आर० दास—स्वराज्य-पार्टी की स्थापना करने में मोतीलाल नेहरू के सबसे बड़े सहयोगी]

[४]

उस समय के वायसराय और गवर्नर जेनरल (लार्ड मिन्टो), सेक्रेटरी आफ़ स्टेट (लार्ड मारले) के सहयोग से नहीं, तो कम से कम उनकी मौन-सम्मति से जिस नीति का अवलम्बन कर रहे थे वह उन्हें बहुत बुरी लगती थी। इस नीति का उद्देश एक ओर तो जनता को संतुष्ट करने के लिए ऐसे विधानात्मक सुधार देना था जिनसे अधिकारियों की शक्ति पूर्ववत् बनी रहे और दूसरी ओर राजनैतिक असन्तोष का दमन करना था। नेहरू जी उस समय माडरेट राजनीतिज्ञ और उच्च वर्ग की सुविधाओं के हामी थे। उन्हें मार्ले-मिंटो-सुधार की आवश्यकता न थी और जिस ढङ्ग से देश का शासन हो रहा था वह उन्हें और भी कम पसन्द था। समाचार-पत्रों और भाषणों की स्वाधीनता के नियन्त्रण ने उन्हें विशेषरूप से उग्र बना दिया था।

मुझे स्मरण है कि एक बार जब हम इन मामलों पर बातें कर रहे थे तब उन्होंने तीव्र दृष्टिपात करते हुए मेज़ पर घूँसा मार कर कहा था—

"जब तक इस मकान में एक भी ईंट दूसरी ईंट के ऊपर शेष रहेगी तब तक मैं स्वाधीनता के लिए 'लीडर'

के युद्ध करने के अधिकार की रक्षा करूँगा।" पंडित जी उस समय 'लीडर' के साझीदारों में एक थे। परन्तु कुछ वर्ष बाद मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण वे उससे अलग हो गये और उन्होंने इलाहाबाद में दूसरे दैनिक पत्र "इंडिपेंडेंट" की स्थापना की, जिसने कुछ ही समय में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली।

मोतीलाल जी से जब मैं प्रथम बार मिला था तब मैं नवयुवक था और अमरीका से जहां लोग दिल खोल कर बातें करते थे, ताज़ा लौटा था। उनके स्वाधीनता के प्रेम और हमारे देशवासियों के साथ होनेवाले अन्याय के प्रति उनके घृणाभाव का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

[५]

जब मैं १९११ में उनसे मिला तब मैंने उन्हें शासन-प्रणाली की १९१० की अपेक्षा और भी तीव्र आलोचना करते पाया। उस समय यह घटना घटी थी—

अधिकारियों ने बलपूर्वक 'सेडीशस मीटिंग्स बिल' को इम्पीरियल या सुप्रीम लेजिसलेटिव कौंसिल से—उन दिनों इसका यही नाम था—पास कराया था। दमन आन्दोलन को गुप्त दिशा की ओर लिये जा रहा था और कुछ लोगों का नैतिक पतन भी इसी से हो रहा था। नौकरशाही के पास यह देखने के लिए आँखें नहीं थीं कि वह अपने ही पक्ष को किस प्रकार गिरा रही है।

इस परिस्थिति पर मुझसे वाद-विवाद करते हुए उन्होंने यह राय प्रकट की कि असन्तोष का कारण है अधिकारियों-द्वारा जनता की मांगों का ठुकराया जाना। उन्होंने कहा कि इसका एक ही इलाज है और वह यह है कि भारतीयों को अपना प्रबन्ध अपने आप करने का अधिकार प्राप्त हो। यह उनकी महत्त्वाकांक्षा ही नहीं, उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

जैसे निपुण वकील वे थे, वैसे ही उन्होंने इस बात को सफ़ाई, ज्ञान और अकाट्य प्रमाणों के साथ रक्खा। परन्तु वकील के वक्तव्य में और उनके इस वक्तव्य में एक भेद था। उन्होंने जिस सचाई और विश्वास के साथ अपनी बात कही थी उसका वकील के वक्तव्य में सर्वथा अभाव होता है।

यह सब होते हुए भी उनके शब्दों में द्वेष का स्पर्श न था। अधिकारियों में बहुत-से उनके मित्र थे जिनके साथ वे सदैव दिल खोल कर बातें करते थे। परन्तु उनकी राजनैतिक सम्मतियों के कारण कोई उनसे कम प्रेम न करता था, और न कोई उन्हें जातिगत द्वेष रखनेवाला समझता था।

[६]

सन् १९११ के ग्रीष्मकाल में मैं लन्दन गया और अपने जीविकोपार्जन और वहां के सार्वजनिक कार्यों में लग गया। तब से सन् १९२० तक पंडित मोतीलाल से मेरा विशेष सम्बन्ध न रह गया। परन्तु समाचार-पत्रों में उनका ज़िक्र होता रहा और मैंने यह नोट किया कि जैसे वे वकालत में प्रसिद्ध थे वैसे ही राजनीति के मैदान में भी क्रमशः प्रसिद्ध होते जा रहे थे। पर उनका झुकाव नर्मदल की ओर अधिक था और उस समय के समाचार-पत्रों की रिपोर्टों से जान पड़ता था कि वे गर्मदलवालों को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं।

राजनैतिक विचार रखनेवाले जो भारतीय मित्र उन दिनों इँग्लैंड आये उन सबने मेरी इस राय का जो मैंने ६,००० मील के फ़ासले से उनके सम्बन्ध में क़ायम की थी, समर्थन किया। उनमें से कुछ की यह भी धारणा थी कि नेतृत्व ग्रहण करने की अपेक्षा उन्हें वकालत करना और उसके द्वारा ख़ूब धन कमाना अधिक पसन्द है। परन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि उनमें ऐसी प्रतिभा है कि वे चाहें तो राजनैतिक गगन में बहुत अच्छी तरह चमक सकते हैं।

[७]

सन् १९२० में ऐसी घटनायें घटीं कि नेहरू जी से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भ्रम दूर हो गये। उनसे ज्ञात हुआ कि उनके सम्बन्ध में मेरे मूल विचार ही—कि उनके आनन्द की खोज के नीचे एक उच्च और देशभक्ति की भावना प्रवाहित हो रही है—ठीक थे।

हमारे हृदय प्रायः ग्रीष्मकाल की टहनियों और पत्तियों की भांति होते हैं। जोश उनमें होता है और वह भड़क उठने के लिए तैयार रहता है, परन्तु उस हवा

का अभाव रहता है जो कहीं से चिनगारी उड़ा लाकर उनमें आग लगा दे।

१६१६ के अमृतसर और पंजाब के अन्य स्थानों के अमानुषिक काण्डों और भोले-भाले प्रतिष्ठित पञ्जाबियों पर किये गये अपमानों के बिना कदाचित् मोतीलाल जी की देशभक्ति उस चमकदार और शुद्ध ज्वाला के रूप में कभी न भड़कती जिसमें वह उस समय भड़क उठी।

मेरे मित्र ने इन गर्हित कार्यों के करनेवालों को दण्ड दिलाने के लिए जो परिश्रम किया था यदि केवल उसी के विवरण पर मैं विचार करता तो भी पददलितों के लिए उनकी सच्ची सेवाओं की मैं बिना प्रशंसा किये न रहता। परन्तु विधाता के अज्ञेय विधान में कुछ और ही था।

इस अवसर पर मेरी एक अँगरेज़ वकील से भेंट हुई। ये महाशय इन दुर्घटनाओं के पूर्व मोतीलाल नेहरू से पत्र-व्यवहार रखते थे, पर यह पत्र-व्यवहार उनके पेशे से ही सम्बन्ध रखता था। प्रिवी कौंसिल में दायर होनेवाली अपीलें नेहरू जी तथा भारत के अन्य वकील इन्हीं के पास भेजते थे और ये बैरिस्टर आदि नियुक्त करते थे और अन्य प्रकार के प्रबन्ध करते थे। इन महाशय श्रीयुत रेजीनाल्ड नेविली को नेहरू जी प्रायः भारतवर्ष बुलाते थे, क्योंकि इन अपीलों में से कुछ ऐसी होती थीं जिनमें बहुत बड़ी नक़द पूँजी या विस्तृत भूमि या गृह आदि का प्रश्न होता था। जब मिस्टर नेविली स्वयं नहीं आ सकते थे तब वे अपने विश्वास-पात्र क्लर्क को समुचित परामर्श लेने भेजते थे।

जिन दिनों पञ्जाब में मार्शल ला सम्बन्धी दुर्घटनायें घटी थीं, उन्हीं दिनों मिस्टर नेविली अपने अदालती कार्य्य से भारतवर्ष आये हुए थे। अमृतसर के क़रीब होने के कारण उन्होंने सिक्खों का स्वर्ण-मन्दिर जिसके सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ चुके थे, देख आने का विचार किया।

जब वे वहाँ पहुँचे, उन्होंने मार्शल ला शासन को उसके नग्न रूप में देखा। उससे उनके हृदय में विद्रोह के भाव जागे। एक बेधड़क और स्पष्ट वक्ता अँगरेज़ होने के कारण उन्होंने जो कुछ देखा उसका सार्वजनिक रूप से प्रतिवाद किया।

उनका यह कार्य्य उनके कुछ देशवासियों को जो उस समय अमृतसर में थे, बहुत बुरा लगा। वे इस विश्वास में पले थे कि मेरा देश मेरा देश है, ठीक हो या ग़लत, हमें उसका साथ देना चाहिए। इसलिए उन लोगों ने सोचा कि मिस्टर नेविली को अपने देशवासियों के पक्ष का ही समर्थन करना चाहिए था। उनके कार्यों के सम्बन्ध में उनकी व्यक्तिगत राय चाहे जो हो, पर सार्वजनिक रूप से उन्हें निन्दा न करनी चाहिए थी।

ऐसे अँगरेज़ों का एक दल अमृतसर के एक होटल के उस कमरे में बलपूर्वक घुस गया जिसमें मिस्टर नेविली ठहरे हुए थे और उनके साथ वह भद्दा व्यवहार किया जिसे वे जीवनपर्यन्त नहीं भुला सकेंगे। ये नवयुवक इस क़दर क्रोधान्ध हो रहे थे कि यह नहीं कहा जा सकता था कि वे किस सीमा तक जा सकते हैं।

ये अँगरेज़ वकील महाशय सौभाग्यशाली थे। उन्हें कोई शारीरिक चोट नहीं पहुँची, परन्तु उनके ज्ञान-तन्तुओं को ऐसा धक्का लगा कि उन्हें सँभलने में लम्बा समय लगा।

इस घटना का ज़िक्र मुझसे एक अँगरेज़ पत्रकार-मिस्टर मैसिङ्घम ने जो उस समय 'नेशन' के सम्पादक थे, किया था। 'नेशन' साप्ताहिक पत्र था और सामयिक विषयों पर स्पष्ट टिप्पणियाँ लिखने और उच्च कोटि की साहित्यिक सामग्री देने के कारण उदार विचार के शिक्षित व्यक्तियों में इसका बड़ा मान था। जिस अँगरेज़ में यह साहस था कि उसने अपनी जाति के लोगों के दुष्कार्यों की भी इस प्रकार निन्दा की उसके प्रति मेरे हृदय में तुरन्त ही आत्मीयता का भाव जाग्रत हो उठा।

[६]

एक या दो दिन पश्चात् जब मैं मिस्टर नेविली से मिला तब मैंने देखा कि वे पंडित मोतीलाल नेहरू से पत्र-व्यवहार करने और मार्शल ला के शिकार हुए व्यक्तियों के साथ न्याय कराने के प्रयत्न में व्यग्र हैं। इस सम्बन्ध में वे अपनी सारी शक्ति और प्रभाव का उपयोग

कर रहे थे। शीघ्र ही मेरी उनकी मित्रता हो गई। उन्होंने मुझे पंडित मोतीलाल नेहरू के तार और चिट्ठियां दिखलाईं और हमने अँगरेज़-जाति का ध्यान इस अन्याय की ओर जागृत करने का परिश्रमसाध्य उपाय निश्चित किया।

इन पत्रों से पता चलता था कि इन भयानक घटनाओं का मोतीलाल जी पर कैसा गहरा प्रभाव पड़ा है, पंजाब के पीड़ितों के लिए उनके हृदय में कितना दर्द है और उनके साथ न्याय कराने के लिए वे कितने चिन्तित हैं।

पंजाब के इन अत्याचारों की ओर पार्लियामेंट के मेम्बरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मैंने एक पुस्तक लिखी थी। पंडित मोतीलाल जी ने मिस्टर नेविली को तार दिया था कि इस पुस्तक की छपाई का बिल वे चुकावें। मेरे पास भी उन्होंने एक लम्बा तार भेजा जिसमें हंटर कमेटी की रिपोर्ट का संक्षिप्त विवरण और हिज़ मैजिस्टी की गवर्नमेंट ने उस पर जो कार्रवाई की थी उसका ज़िक्र था। मिस्टर नेविली ने मुझसे बताया कि यह 'इंडिपेंडेंट' में प्रकाशित होने के लिए तैयार किया गया था। 'इंडिपेंडेंट' को नेहरू जी ने 'लीडर' से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेने पर इलाहाबाद से निकलवाया था।

[१०]

कुछ महीने पश्चात् मैंने अपने मित्र को फिर साक्षात् अपने सामने देखा। परन्तु अब उनमें कितना घोर परिवर्तन हो गया था। उन्होंने अपनी खर्चीली विदेशी वस्त्रों की पोशाक उतार दी थी और शुद्ध खद्दर धारण किया था। आनन्द-भवन में शराबों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया था। मेहमानों की खातिरदारी पूर्ववत् जारी रही, पर उन्होंने अपना रहन-सहन बड़ा सादा बना लिया था।

पंडित जी उस विशाल भवन के, जहाँ पहले जीवन इतना आनन्दमय था, एक कोने में रहने लगे। बाद को वे एक छोटे बँगले में रहने लगे जिसे उन्होंने उसी हाते में बनवाया था और आनन्द-भवन स्वराज्य-भवन—स्वराज्य-आन्दोलन का प्रधान केन्द्र बन गया।

जब वे अपनी लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर थे तभी उन्होंने वकालत के पेशे का परित्याग कर दिया। उन दिनों उनकी आय प्रतिवर्ष ३,००,००० रुपये से ४,००,००० रुपये तक रही होगी। मुझसे यही बताया गया था।

इन बलिदानों के करने में पंडित जी को बड़े कुटुम्ब का स्वेच्छा-पूर्ण और उत्साह-पूर्ण सहयोग प्राप्त था। मिसेज़ नेहरू और बालक सदैव उनके साथ रहे। फलतः पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आनन्द-भवन को राष्ट्र के हवाले कर दिया।

आनन्द-भवन की बहुत-सी आलमारियों में बन्द सुन्दर और बहुमूल्य वस्तुओं का जब उसके अहाते में ढेर लगाकर उसमें आग लगाई गई थी तब स्वर्ग की ओर कैसी तेज़ लपट उठी होगी! उनके इस बलिदान का मेरे ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। जिनके लिए मज़ाक उड़ाना सबसे सरल काम था, इस घटना ने उनके भी मुँह बन्द कर दिये थे।

जैसा कि मैं पहले कह भी चुका हूँ, मैं यह नहीं कह सकता कि मोतीलाल जी के जीवन का यह परिवर्तन मुझे सर्वथा आश्चर्यमय प्रतीत हुआ। १९१० और १९११ में उनकी आत्मा की मैंने जो झलक देखी थी, उसने मुझे उनका यह सर्वोत्कृष्ट कार्य्य देखने के लिए तैयार करना शुरू कर दिया था।

उनके रहन-सहन का ढङ्ग बदल गया था, परन्तु वे नहीं बदले थे। उनकी आत्मा जब वे माडरेट थे तभी बहुत ऊँची उठ चुकी थी। उसका मैं प्रमाण ऊपर दे चुका हूँ।

[११]

इस बार मैं कलकत्ता में पंडित जी से मिला। मेरी उनकी भेंट देशबन्धु चितरञ्जन दास—भारतवर्ष की दूसरी महान् आत्मा—के घर पर हुई थी। उन्होंने मुझे गपशप करने के लिए बुलाया था।

मेरे वहाँ पहुँचने से कुछ घंटे पहले ही पंडित जी आये थे। मेरे कमरे में प्रवेश करने के समय वे जब

अपनी कुर्सी पर से उठे तब मैंने देखा कि उनकी खद्दर से ढँकी हुई प्रतिमा अब भी सीधी है और दूसरों के लिए चिन्तित होते हुए भी उनका चेहरा उसी प्रकार सुन्दर है। भारतवासियों के लिए वे जो त्याग और बलिदान कर रहे थे उसके ज्ञान की एक लहर मेरे ऊपर से निकल गई। मैंने इसके सम्बन्ध में कुछ कहा जो उनके त्याग को देखते हुए कुछ नहीं था।

पर मोतीलाल जी चुप रहे। बड़ी गम्भीरता के साथ उन्होंने दूसरे विषयों की चर्चा छेड़ी। उन्होंने मेरी पत्नी के बारे में और अन्तिम बार जब मैं उनसे मिला था तब से उस समय तक की घटनाओं के बारे में पूछा। उसके पश्चात् मेरे आग्रह करने पर उन्होंने असहयोग-आन्दोलन की आरम्भ से लेकर उस समय तक की कहानी कही।

[१२]

मोतीलाल जी से मेरी वह अन्तिम भेंट थी। मेरे दुबारा मिलने से पहले ही वे गिरफ़्तार होकर जेलख़ाने में बन्द हो गये थे। तब मैं भारतवर्ष से चला गया और आठ वर्ष तक बाहर रहा। फिर मेरे मातृभूमि में वापस आने के बहुत पहले ही वे चितरञ्जन दास और लाजपतराय के पथ के पथिक बन गये थे।

डिस्ट्रिक्ट, म्युनिसिपल, प्रान्तीय और केन्द्रीय कौंसिलों में उन्होंने क्या किया, यह बतलाना दूसरों का काम है। कांग्रेस के गूढ़ विषयों पर उन्होंने कांग्रेसमैनों को क्या सलाह दी, यह बताना भी दूसरों का काम है। इन मामलों का मुझे कोई व्यक्तिगत ज्ञान नहीं है।

मैं उन्हें एक मित्र और एक देशभक्त के रूप में जानता था। दोनों बातों में वे अनुकरणीय थे।

यद्यपि मेरे ये नश्वर नेत्र विदेशी पोशाक में या खादी की पोशाक में अब उन्हें नहीं देखेंगे, तथापि जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक वे मेरी स्मृति में अमर रहेंगे। मेरी कल्पना में वे एक ऐसे पुरुष थे जिन्हें भारतीय स्वाधीनता की कोई सीमा स्वीकार नहीं थी और जिन्होंने अपने सर्वस्व की इसलिए बलि कर दी कि हम लोग जिनके बीच में वे रहते थे, इस दोषदर्शी संसार में अकड़ कर चल सकें।

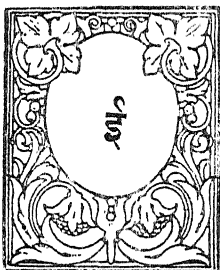


श्री चलप्पा शेट्टी (चिक्क मगलूर मैसूर) और उनका बृहत् परिवार—इस परिवार की संख्या इस समय ६५ है। आपने अपने पंती को सोने की सीढ़ी पर चढ़कर देखा है। आपकी उम्र इस समय ८२ वर्ष की है, आपके पुत्र की अवस्था ४८, नाती की २१ और पंती की १ वर्ष है। —जमुनाप्रसाद श्रीवास्तव (बँगलोर)

रोग और उसकी प्राकृतिक चिकित्सा

श्रीयुत केदारनाथ गुप्त, एम० ए०, सी० टी०





ईश्वर ने हमारे इस देहरूपी मशीन को अत्यन्त पूर्ण बनाया है। इसका काम यदि सुचारुरूप से चलता जाय तो यह जल्दी बिगड़ नहीं सकती। आहार और विहार में जब त्रुटि पड़ने लगती है तो इस मशीन के बिगड़ने का प्रारम्भ होने लगता है। मिथ्या आहार और विहार से शरीर के भीतर एक प्रकार का मल संचित होता रहता है जो शरीर के कार्य्य में रुकावट डालता है जिससे रोग उत्पन्न होता है। इस रुकावट डालने वाले मल का नाम "विजातीय द्रव्य" है।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि शरीर में विजातीय द्रव्य के उपस्थित रहने ही का नाम रोग है। दो दरवाज़े ऐसे हैं जिनके द्वारा विजातीय द्रव्य शरीर के अन्दर पहुँचता है, नाक के द्वारा फेफड़ों में और मुँह के द्वारा मेदे में। इन दोनों दरवाज़ों में सन्तरी पहरा देने के लिए खड़े होते हैं। ये दोनों संतरी नाक और जिह्वा हैं।

हमारे ये दोनों सन्तरी अब किसी काम के नहीं रह गये। नाक बिना रोक-टोक हर प्रकार की वायु फेफड़ों में जाने की आज्ञा दे देती है। जिह्वा हर प्रकार का भोजन मेदे में पहुँचा देती है। एक मनुष्य तम्बाकू के धुएँ को सुड़कता चला जाता है और उसे कुछ भी परेशानी नहीं होती। जिह्वा कड़ुआ, खट्टा सब प्रकार का भोजन पेट में डालती चली जाती है और हम उसकी परवा नहीं करते।

उपर्युक्त सन्तरियों की असावधानी से और विशेषकर जिह्वा की असावधानी से विजातीय द्रव्य शरीर के अन्दर पहले पेड़ू में जमा होता जाता है जिससे कब्ज़ उत्पन्न होता है। पेड़ू से वह ऊपर और नीचे शरीर के सब अङ्गों में प्रवेश करता और जहां उसे स्थान मिलता है, वहीं एकत्र हो जाता है। गांठों में, फेफड़ों में, मल निकालनेवाली इन्द्रियों में और गरदन में विजातीय द्रव्य ख़ास तौर पर अपना घर बनाता है।

कितने शोक की बात है कि इस विजातीय द्रव्य से भरे हुए शरीर को लोग नीरोग समझते हैं। जो मनुष्य देखने में ख़ूब मोटा ताज़ा होता है, जिसकी गरदन मोटी होती है, जिसके तोंद निकली होती है, लोग उसी को स्वस्थ समझते हैं। यदि ऐसे मनुष्य से कहिए कि जनाब आप बड़े तन्दुरुस्त हैं, तो वह फूला नहीं समाता। मारे ख़ुशी के वह उछलने लगता है। तन्दुरुस्ती के वास्तविक अर्थ को अनर्थ करने से ही लोग शरीर को

मोटे करने की चिन्ता में दिन-रात डूबे रहते हैं। हलुआ, रबड़ी, मिठाई, मालपुआ आदि विजातीय द्रव्य उत्पन्न करनेवाले पदार्थों का अधिकता से सेवन करते हैं। उनका उद्देश्य केवल यही रहता है कि हम मोटे हों और तन्दुरुस्त बनें।

क्या आपने कभी पहलवानों का साथ किया है? यदि किया है तो स्वयं आप जानते होंगे। नहीं तो उनमें से अधिक पहलवानों की दिनचर्या मुझसे सुनिए। दिन-रात उन्हें शरीर को मोटे करने की चिन्ता रहती है। सेरों बादाम छानते हैं और सेरों घी पीते हैं और उनको पचाने के लिए हज़ार-हज़ार दो-दो हज़ार दण्ड बैठक लगाते हैं। वे मोटे तो अवश्य होते हैं किन्तु इस मोटाई के अन्दर जो वास्तविक तत्व होता है उसे वे पहलवान ही जानते हैं।

प्रयाग जी के एक बड़े मोटे पहलवान थे। २० वर्ष की बात होगी मुझे भी कुश्ती का शौक़ पैदा हुआ। मैं सायंकाल उनके साथ कुश्ती लड़ने को जाया करता था। एक सप्ताह के पश्चात् पहलवान महोदय ने कहा, मास्टर साहब, मुझे बवासीर का रोग है, क़रीब आध सेर या तीन पाव ख़ून रोज़ पाख़ाने के साथ जाता है, नहीं तो हम लोग और न मालूम कितने तन्दुरुस्त हो जायँ। मैं २०० बादाम रोज़ खाता हूँ और एक हज़ार दण्ड और एक हज़ार बैठक लगाता हूँ नहीं तो मेरे शरीर की इस समय तक न मालूम कैसी हालत हुई होती।

पहलवान जी की यह दशा सुनकर मैं अवाक् रह गया। मुझे आश्चर्य होने लगा कि ऐसा हट्टा कट्टा आदमी बवासीर से किस प्रकार पीड़ित हो सकता है। मैंने खोज करनी शुरू की। कई पहलवानों का साथ किया और अन्त में मुझे कोई ऐसा पहलवान न मिला जिनमें से अधिकांश में बवासीर का रोग न मिला हो।

वास्तव में अधिक पहलवानों की यही दशा होती है। कुछ ऐसे पहलवानों की दशा देखकर रोना आता है जो देखते देखते डाक्टर के बुलाने के पहले हैज़े से बीमार हुए और इस संसार से चल बसे। उनके शरीर में इतनी शक्ति नहीं कि बीमारी का कुछ समय तक तो सामना करें।

पहलवानों की बात छोड़कर यदि आप जनसाधारण की ओर दृष्टिपात कीजिए तो उनमें भी वही मोटेपन का भारी भ्रम फैल रहा है। वहाँ भी नीरोग होने की वही धारणा है जो धारणा पहलवानों में फैली हुई है। मोटेपन को ही लोग तन्दुरुस्ती समझे बैठे हैं। बहुत-से अभिभावक अपने बच्चों को अपने सामने आध आध पाव, पाव पाव भर घी दाल में डलवाकर पिलाते हैं। अमीर लोग तो प्रायः दिन भर कुछ न कुछ टूँगा ही करते हैं।

ऐसे लोगों को स्वास्थ्य का सुख नहीं मिलता। मलावरोध उनका गला पहले पकड़ता है। बार बार उनको वैद्यों से चूरन की गोली माँगने की ज़रूरत पड़ती है। बार बार उनको एनिमा लेना पड़ता है और बार बार पेट को साफ़ करने के लिए उन्हें कुछ-न-कुछ चिकित्सा करनी पड़ती है। प्रकृति अपना बदला लिये बिना नहीं छोड़ती। जिस क़दर उन्होंने खान-पान में असंयम किया है, उसी क़दर जब वे खाने-पीने में संयम करते हैं तब कहीं वे स्वस्थ हो पाते हैं।

अब यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि वास्तव में स्वस्थ पुरुष है कौन? इसका उत्तर जितना कठिन है उतना ही सरल भी है। स्वस्थ पुरुष वह है जिसकी सब इन्द्रियाँ अपना अपना काम करती हों। नाक अपना काम करती हो, आँखों में चश्मा लगाने की ज़रूरत न हो, दिमाग़ अपना काम करता हो, ख़ून साफ़ हो, पाख़ाना साफ़ होता हो, शरीर फुर्तीला मालूम होता हो, शरीर में हमेशा तेज़ी हो, सुस्ती कभी न मालूम होती हो और काम, क्रोध आदि विकारों से दूर रहे। जब मनुष्य इस प्रकार का हो तब उसे हम स्वस्थ कह सकते हैं।

मनुष्य के अंग-प्रत्यंग सब दुरुस्त हों लेकिन यदि चश्मा लगाना पड़े तो उसे हम स्वस्थ नहीं कह सकते। उसकी आँखें दुरुस्त हों, उसका दिमाग़ दुरुस्त हो, किन्तु यदि वह बहरा हो तो उसकी गिनती तन्दुरुस्त मनुष्यों में नहीं हो सकती। तन्दुरुस्त मनुष्य में वे सब अवस्थायें होनी चाहिए जो ऊपर कही जा चुकी हैं।

जल-चिकित्सा के प्रवर्तक लुई कूने साहब ने तन्दुरुस्त होने की एक पहचान और बतलाई है और वह यह है

कि उसका पाख़ाना बँधा हुआ हो और मनुष्य जब मल त्याग कर चुके तब उसके मलद्वार पर मल चिपका न रहे। पशुओं की ओर ध्यान देकर देखने से मालूम हो सकता है कि उनका पाख़ाना बँधा होता है और उसमें चिपचिपाहट नहीं होती। मनुष्य यदि प्राकृतिक भोजन करे, उसका रहन-सहन यदि प्राकृतिक हो, तो ऐसा होना कुछ कठिन नहीं है। कोई भी कुछ दिन नियम से रहकर अनुभव कर सकता है।

नीरोग मनुष्य का एक लक्षण और भी है और वह है उसका सुन्दर रूप। जितने नीरोग स्त्री-पुरुष हैं उन्हें ख़ूबसूरत होना चाहिए। जंगल में प्राकृतिक ढंग से विचरण करनेवाले स्त्री और पुरुष कितने सुन्दर और मोहक होते हैं! जब मनुष्य के शरीर में विजातीय द्रव्य इकट्ठा हो जाता है तब वह कुरूप हो जाता है। आपने प्रायः देखा होगा कि किसी की गर्दन मोटी हो जाती है, किसी के पैर फूल जाते हैं, किसी का पेट सामने निकल आता है और किसी का मुँह भभराया होता है। यह सब विजातीय द्रव्य सञ्चित होने के चिह्न हैं।

जिसमें विजातीय द्रव्य जितना अधिक होगा वह उतना ही अधिक रोगों का शिकार होगा। विजातीय द्रव्य जब धीरे धीरे बढ़ जाता है तब उससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ जैसे सिर-दर्द, ज़ुकाम, खाँसी, दाँत में पीड़ा आदि रोग हमेशा के लिए पैदा हो जाते हैं। कान से कम सुनाई पड़ता है और आँखों से कम दिखाई पड़ता है। पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और भोजन बिना पचे दस्त के रूप में बाहर निकल जाता है।

उपर्युक्त कथन से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि सब रोगों की जड़ केवल विजातीय द्रव्य है। यदि सब रोगों की जड़ एक ही है तो उन सबकी चिकित्सा भी एक ही है और वह चिकित्सा है प्राकृतिक चिकित्सा। यदि हम शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य न पैदा होने दें और यदि भीतरी विजातीय द्रव्य को निकाल दें तो फिर हम रोगी नहीं हो सकते। हम कम-से-कम १०० वर्ष तो अवश्य ही जी सकते हैं।

नवीन विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति रोकने के लिए प्राकृतिक आहार करना अत्यन्त आवश्यक है। फलाहार वास्तव में मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है। प्राचीन समय में, अर्वाचीन सभ्यता के पूर्व, खुली हवा में गङ्गा जी के किनारे अथवा पहाड़ों की खोह में रहनेवाले वल्कल-धारी ऋषि केवल फलाहार करते थे। आज जो वेद, उपनिषद्, शास्त्र और पुराण वर्तमान हैं वे उन्हीं मस्तिष्कों से निकले थे जो फलाहार और योगाभ्यास के द्वारा शुद्ध किये गये थे।

फलाहार के महत्त्व को पाश्चात्य देशों के निवासी भी मानने लगे हैं। सन् १९०८ ईसवी में प्रसिद्ध विद्युत्-शास्त्रज्ञ श्री ए० ई० वेनिस ने २५ वर्ष लगातार अपनी प्रयोग-शाला में परिश्रम करके सिद्ध किया था कि सब प्रकार के फल और मेवों में एक प्रकार की बिजली भरी हुई है, जिससे शरीर का पूर्ण रूप से पोषण होता है।

फल खाने से जितनी फुर्ती शरीर में आती है, उतनी फुर्ती और किसी प्रकार के भोजन करने से नहीं आती। सन् १९०२ ईसवी में जर्मनी के ड्रेस्डेन और बर्लिन शहरों के बीच एक दौड़ की गई। फ़ासला १२४ मील का था और दौड़नेवालों की संख्या ३२ थी। ये सब ड्रेस्डेन से ७½ बजे सवेरे रवाना हुए। कार्लमन्न नाम का पुरुष २७ घंटे में बर्लिन पहुँचा और वह फलाहारी था। शेष पीछे रह गये।

फलाहार से उतर कर अन्नाहार है। अन्न जितना सादा होगा उतना ही लाभदायक होगा। खेत में लगी हुई गेहूँ की बालियों का गुण सबसे अधिक है, उससे उतर कर भिगोये हुए गेहूँ का, उससे उतर कर रोटी का, उससे उतरकर पूड़ी का और उससे उतरकर पकवानों का। कहने का तात्पर्य्य यह कि असली अन्न का जितना रूपान्तर होता जायगा उतना ही उसका गुण कम होता जायगा।

दाल भूसी-सहित खानी चाहिए। तरकारी ख़ूब खाना चाहिए, क्योंकि वह पेट और ख़ून को साफ़ करती है। परवल और लौकी की तरकारी सर्वोत्तम है। आलू, नेनुआ, भिंडी, सब प्रकार की गोभी दूसरे दर्जे की

तरकारी है। सब प्रकार के शाक जैसे चौराई, पालक आदि सब तरकारियों से अधिक गुणकारी हैं, अतएव इनका व्यवहार अधिक करना चाहिए। तरकारी और दाल में अधिक मिरचे और मसाले नहीं डालना चाहिए। ये हाज़मे को ख़राब करते हैं।

दूध एक अच्छा पेय पदार्थ है। प्रायः सब डाक्टरों ने इसकी प्रशंसा की है। इसमें वे सब पदार्थ मौजूद हैं जिनसे शरीर का पोषण होता है। दूध धीरे धीरे पीना चाहिए। घी का अधिक व्यवहार न करना चाहिए। अधिक घी खाने से विजातीय द्रव्य बढ़ता है।

मांसाहार सबसे निकृष्ट भोजन है। मनुष्य मांसाहारी नहीं है। हम लोग ज़रा मांस खानेवाले पशुओं के आमाशय की ओर देखें। उनका आमाशय छोटा और गोल होता है और आँतें शरीर से तिगुनी या पँचगुनी लम्बी होती हैं। शाक-पात खानेवाले पशुओं का पेट बड़ा और विधिपूर्वक बना होता है और उनकी अँतड़ियाँ शरीर से १० या १२ गुना लम्बी होती हैं। मनुष्य की आँतों की लम्बाई १६ से २८ फुट तक उसके देह की लम्बाई के अनुसार हुआ करती है और देह की लम्बाई सिर से रीढ़ की अन्तिम सीमा तक १॥ फुट से २॥ फुट तक है। इसका भाग देने से १० या ११ भजनफल होता है। अतएव मनुष्य फलाहारी है, मांसाहारी नहीं।

अब हम ज़रा दूसरी ओर देखें। मांसाहारी पशुओं में दो बड़े बड़े दाँत होते हैं, जिनसे वह मांस काट काट कर खाता है। ये दाँत मनुष्य में नहीं होते। उसके दाँत बन्दर के दाँतों से बहुत मिलते-जुलते हैं। बन्दर मांस नहीं खाता, अतएव मनुष्य का भी स्वाभाविक भोजन मांस नहीं है।

अब हम तीसरी परीक्षा की ओर आते हैं। इस विषय में हम अपनी इन्द्रियों से पूछें। नाक और रसना से ही प्रेरित होकर जानवर अपना भोजन खोजते हैं और खाते हैं। मांसाहारी पशु को जब अपने शिकार की महक मिलती है तब उसकी आँखें चमकने लगती हैं और वह बड़े भाव से उस गन्ध की ओर जाता है। वह अपने शिकार पर झपटता है और गरम गरम ख़ून पीता है। ऐसा करने से उसे बड़ा आनन्द आता है। उसी प्रकार शाक-पात खानेवाले पशु की घ्राण इन्द्रियाँ मांस खाने के लिए उसको कभी प्रोत्साहित नहीं करतीं। यदि उसके स्वाभाविक भोजन में ख़ून पड़ा हो तो वह उसे भी छोड़ देता है। उसकी आँखें और उसकी घ्राणेन्द्रिय उसे घास-पात की ओर ले जाती हैं और उसी से उसकी तृप्ति होती है। उसकी इन्द्रियाँ उसे फल खाने के लिए पेड़ों पर ले जाती हैं।

परन्तु मनुष्य की इन्द्रियाँ किस प्रकार काम करती हैं? वध करने का विचार ही हमारी इन्द्रियों को घृणित मालूम होता है, और कच्चा मांस न तो आँख को सुहाता है और न नाक को। क़साई-घर हमारे शहरों से दूर क्यों बनवाये जाते हैं। अनेक नगरों में इस बात के लिए क़ानून क्यों बनाये जाते हैं कि खुला हुआ मांस सड़कों में न गुज़रे? ऐसा होते हुए क्या मांस को आप प्राकृतिक भोजन कह सकते हैं? नाक और जिह्वा को अच्छा लगे, इसके लिए मांस में नाना प्रकार के मसाले डाले जाते हैं। अभ्यास से नाक और जिह्वा मुर्दा हो जाती हैं और हम गपागप मांस खाने लगते हैं। दूसरी ओर ज़रा देखिए। फलों की महक हमको कितनी बढ़िया मालूम होती है! फलों की प्रदर्शनी देखकर पत्रों के संवाददाता लिखा करते हैं कि "फलों के देखने ही से मुँह में पानी भर आता है।"

उपर्युक्त कतिपय दलीलों से यह स्पष्ट है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। चाय, क़हवा, मादक वस्तुएँ, शराब आदि पदार्थ भी शरीर को भारी हानि पहुँचाते हैं। अतएव जो पुरुष शरीर में विजातीय द्रव्य को एकत्र होने से रोकना चाहता है उसे अल्प और सादा अन्नाहार करना चाहिए और फल अधिक खाना चाहिए। भोजन समय पर थोड़ी तादाद में करना चाहिए, गरिष्ठ पदार्थों का, जैसे रबड़ी, मलाई, हलुआ, सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

यह तो बात हुई सुरक्षितता की। अब जो विजातीय द्रव्य शरीर में पहले से भरा हुआ है उसे हम कैसे

निकालें। उसके लिए लुई कूने-द्वारा निकाले हुए अनेक प्रकार के स्नान हैं। वे इस प्रकार हैं--

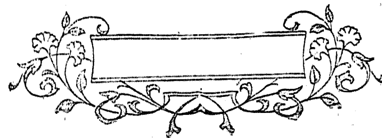
(१) वाष्प-स्नान--इसके लिए बेंत की बिनी हुई एक बेंच चाहिए। बेंच न मिले तो चारपाई से भी काम चल सकता है। उस पर रोगी को लिटा दीजिए और ऊपर से चारपाई-सहित मोटे कपड़े (कम्बल, रज़ाई आदि) से ढँक दीजिए। ऐसा ढँकिए कि उसके भीतर हवा न जाने पावे। बीमार का मुँह भी ढँका रहना चाहिए। खौलते हुए पानी के दो बर्तन लाकर एक पैर के नीचे और दूसरा पीठ के नीचे रखिए। एक तीसरे बर्तन को चूल्हे पर चढ़ा रहने दीजिए। दोनों बर्तनों में से जब किसी से भाफ निकलना कम हो जाय तब उसे चूल्हे पर चढ़ा दीजिए और तीसरे बर्तन को उसके स्थान पर रख दीजिए। बदलने का क्रम इस प्रकार जारी रखिए। १०-१५ मिनट में रोगी पसीने से तर हो जायगा। उस पसीने को बराबर पोंछते जाइए। जिन भागों में विजातीय द्रव्य अधिक हो उनमें भाफ अधिक पहुँचाते रहिए।

(२) उदर-स्नान—इसके लिए एक टब की आवश्यकता है। उसमें इतना पानी भरिए जिससे नाभि के नीचे का भाग और जाँघें डूबी रहें। नाभि के ऊपर का भाग और पैर पानी के बाहर रहना चाहिए। स्वाभाविक रीति से जितना ठंडा पानी मिल सके उतना ही ठंडा पानी काम में लाना चाहिए। ठंडे पानी से भरे हुए टब में उपर्युक्त ढंग से बैठकर एक मोटे तौलिये या अंगौछे से नाभि के निचले प्रदेश को ऊपर से नीचे और एक ओर से दूसरी ओर रगड़ना चाहिए। नीचे से ऊपर नहीं रगड़ना चाहिए। पहले ५ मिनट से १० मिनट तक उदर-स्नान करना चाहिए और फिर आवश्यकतानुसार आध घण्टे तक बढ़ा देना चाहिए।

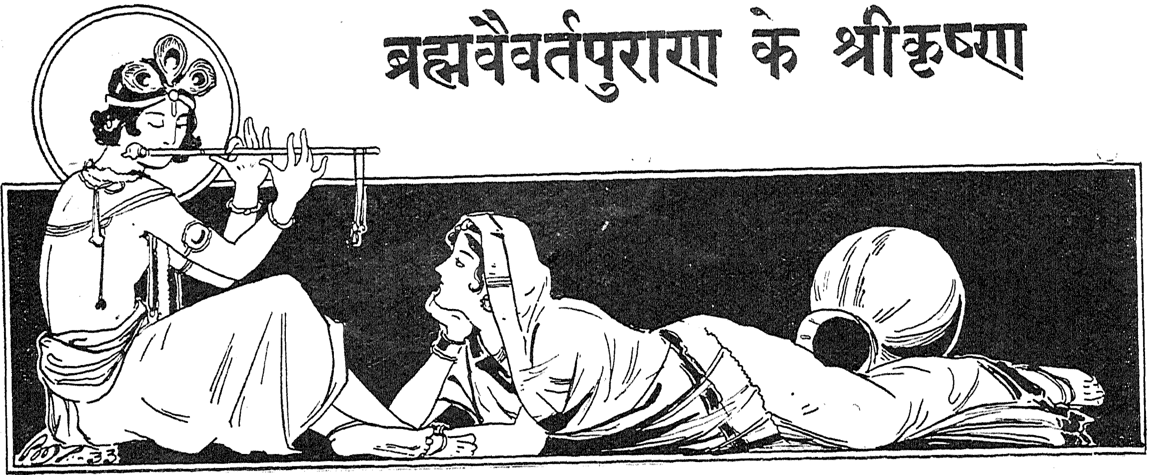
(३) मेहन-स्नान—इसमें एक टब और एक चौकी की आवश्यकता होती है। चौकी टब के बीच में रख दी जाती है और ठंडा पानी टब में भर दिया जाता है। पानी इतना भरना चाहिए कि चौकी का ऊपरी भाग सूखा रहे। नहानेवाला नग्न होकर इसी चौकी में बैठ जाता है और निश्चित विधि के अनुसार जल का प्रयोग करता है। यह स्नान १० मिनट से एक घंटे तक किया जा सकता है।

धूप-स्नान—रोगी को बहुत पतला कपड़ा पहनकर चटाई या ऊनी कम्बल पर लेट रहना चाहिए जहाँ धूप तो आती हो, लेकिन हवा न लगती हो। जूते और मोज़े एक भी न रहें। सिर और चेहरे को बड़े बड़े पत्तों-द्वारा धूप से बचाना चाहिए। इसके लिए केले के पत्तों से अच्छा काम चल सकता है। पेड़ू को भी पत्तों से ढाँक रखना चाहिए। यह स्नान आध घण्टे से डेढ़ घंटे तक आवश्यकता के अनुसार किया जा सकता है।

इस प्रकार आवश्यकतानुसार उपर्युक्त स्नानों-द्वारा कुछ महीनों में विजातीय द्रव्य शरीर के बाहर निकाला जा सकता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ हो सकता है। उपर्युक्त स्नान किसी जानकार से पूछ कर करना अच्छा है। कितने शोक की बात है कि डाक्टरी के अस्पताल न मालूम कितने देश में खुले हुए हैं, देशी औषधालयों की भी कमी नहीं है, किन्तु जल-चिकित्सा के सैनीटोरियम बहुत ही कम हैं। हर्ष का विषय है कि लोगों का ध्यान इस प्राकृतिक चिकित्सा की ओर जा रहा है और इसके अनुयायियों की संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है। जब तक लोग अप्राकृतिक चिकित्साओं की ओर से अपने ध्यान को हटाकर प्राकृतिक चिकित्सा की ओर न लगावेंगे तब तक वे नीरोग नहीं हो सकते।



ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्ण



पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी

इस लेख में तिवारी जी ने ब्रह्मवैवर्तपुराण के आधार पर श्री राधा-कृष्ण की प्रचलित कथा पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है—"इस विषय की चर्चा से हम लोगों के कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा और साथ ही अनेक विवादग्रस्त शङ्काओं का यदि पूरी तौर से समाधान न होगा तो उनके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तो हमें अवश्य ही हो जायगा।"



आज शाम के वक्त, * जब मैं इस लेख को लिखने जा रहा हूँ, मेरे अल्पवयस्क पुत्र ने पूछा, 'इस बार आप किस विषय पर लेख लिखने जा रहे हैं?' मैंने कहा, 'ब्रह्मवैवर्तपुराण की श्री राधा रानी पर।' श्री राधा का नाम सुनते ही वह बोला, 'जब मैं आपसे बाराबंकी जेल में मिलने के लिए लखनऊ गया था तब मैंने एक 'वंशीवाला' नामक खेल सिनेमा में देखा था। उसमें श्रीकृष्ण और राधा रानी की लीलायें दिखाई गई थीं'। इतना कहने के बाद, वह रुक गया। थोड़ी देर चुप रहने के बाद, उसने बड़े सरल भाव से कहा, 'राधा तो बहुत बड़ी थीं और कृष्ण थे छोटे। उन दोनों का ब्याह हुआ था। क्या सचमुच ब्याह हुआ था?' मैंने पूछा, 'क्यों, क्या ब्याह नहीं हुआ था? तुम्हीं तो कहते हो कि दोनों का ब्याह हुआ था।' उसने कहा, "इसलिए पूछता हूँ कि ब्याह हुआ था या नहीं, क्योंकि राधा के पहले ही से सास-ननँद थीं। वे राधा को ख़ूब डाँट-फटकार बताया करती थीं। कृष्ण से मिलने थोड़े ही देती थीं?' (यह घटना मई, सन् १९३१, की है।) मैंने इस विषय पर उस अबोध बच्चे से अधिक बात करना उचित न समझा। चुप हो रहा। परन्तु इस बातचीत का एक पहलू मुझे खटकने अवश्य लगा। वह यह है कि जब मैं ब्रह्मवैवर्तपुराण के आधार पर श्री

---

* मई १९, १९३४

राधा रानी को परकीया कहता हूँ तब छोटे-बड़े सभी सनातनी विद्वान् 'अब्रह्मण्यम्' 'अब्रह्मण्यम्' के कलरव से आकाश को हिला देते हैं। मैं मानता हूँ कि इससे उनके धार्मिक भावों को चोट पहुँचती है। उनकी आस्तिकता, ईश्वरभक्ति और सात्विकता में जैसे मेरी पूर्ण श्रद्धा है, वैसे ही मैं उनके पांडित्य और असाधारण बुद्धिमत्ता का क़ायल हूँ। इसी कारण उनको मेरे लेखों से पीड़ा होती है। लेकिन, फिर, क्या वजह है कि इन आस्तिक हिन्दुओं में से किसी ने भी इस वंशीवाले खेल के विरुद्ध एक हलकी-सी आवाज़ भी न उठाई? इस खेल को हज़ारों, लाखों हिन्दुओं ने हिन्दुस्तान के विभिन्न नगरों में देखा, लेकिन कहीं से भी न तो बलवों की ख़बरें मिलीं और न सिनेमा-हाउसों के जलाये जाने के समाचार आये। देखनेवालों ने खेल देखा और जार-प्रेमिका राधा के अभिसार-अभिनय के आस्वादन से वही आनन्द लूटा, जो उन्हें किसी मामूली नायिका की प्रेम-लीला के देखने से मिलता। किसी ने भी यह आपत्ति न की कि इस 'वंशीवाला' ने उनके धर्म्म पर कुठाराघात किया, और न किसी ने किसी थाने में यही रिपोर्ट दर्ज करना उचित समझा कि उसके कारण हिन्दुओं के धार्मिक भावों को धक्का पहुँचता है, इसलिए यह खेल बंद कर दिया जाय। वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ या सनातनधर्म महासभा ने भी इस मामले में एक अजीब उदासीनता दिखाई। खेल जगह जगह होता गया; पर किसी के जूँ तक न रेंगी। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने भी निन्दा का कोई प्रस्ताव नहीं मंज़ूर किया। विश्वविद्यालयों के ज़बांद-राज़ प्रोफ़ैसरान भी अपनी मोटरों पर बैठ कर यह खेल देख आये, लेकिन इसके ख़िलाफ़, धर्म्म के नाम पर, कुछ झूठा-सच्चा आन्दोलन खड़ा करने की नीयत से उन्होंने भी कोई षड्यन्त्र न रचा। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर क्या वजह है कि मेरे लेखों के ख़िलाफ़ इतना शोर-गुल मच रहा है? जन-साधारण ने तो इस लेख का स्वागत किया। उन्हें इसमें हिन्दू धर्म्म के विरुद्ध कोई बात न मालूम हुई। मालूम होती भी कैसे? उनकी धारणा भी तो वही है, जिसको मैं इन लेखों में चित्रित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

× × × ×

मैंने अपने पिछले लेख में* पाठकों को ब्रह्मवैवर्तपुराण के आधार पर श्री राधा-कृष्ण की कथा सुनाने की प्रतिज्ञा की थी। आइए, आपकी अनुमति से, मैं अपने इस प्रण को आज पूरा करना शुरू कर दूँ। इस विषय की चर्चा से हम लोगों को कई महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा; और साथ ही, अनेक विवाद-ग्रस्त शङ्काओं का यदि पूरी तौर से समाधान न होगा तो उनके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तो हमें अवश्य ही हो जायगा। इसकी ज़रूरत भी बहुत बड़ी है। इधर जब से मैंने ब्रह्मवैवर्तपुराण के आधार पर श्री राधा रानी के परकीयत्व की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, तब से लोगों में बेतरह खलबली मच गई है। कोई कोई परकीया श्री राधा का खंडन यह कहकर करना चाहते हैं कि ब्रह्मवैवर्तपुराण क्षेपकों से भरा पड़ा है। इस तर्क-शैली के विषय में मुझे जो कुछ निवेदन करना था, वह मैं पिछले लेख में कर चुका हूँ। उसकी मुख्य मुख्य दलीलों को यहाँ पर संक्षेप से दोहरा देना अनावश्यक न होगा। पहली दलील तो यही है कि पिछले ४००-५०० वर्षों से लोग इस पुराण के मौजूदा संकलन ही को वेदव्यास का बनाया हुआ मानते चले आये हैं। अतएव, इन चार सौ शताब्दियों के भक्त-साहित्य के विवेचन में इस संकलन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर, क्षेपकों के निर्णय की कसौटी क्या होगी? इस पुराण की मूल पांडुलिपि आज-कल अप्राप्य है। किसी भी पुराण की असली प्रति-लिपि का पता नहीं चलता। उन सबमें क्रमशः उलट-फेर होते चले आये हैं। ऐसी दशा में अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि किसी पुराण-विशेष के अंश-विशिष्ट सम्भवतः फ़लां युग में रचे गये होंगे। तीसरी दलील यह है कि गौड़ीय वैष्णव-समाज ब्रह्मवैवर्तपुराण-द्वारा प्रतिपादित रायाण की पत्नी, श्री

*मई, सन् १९३४, की सरस्वती में प्रकाशित।

राधिका जी, के कथानक को अपने मत-विशेष का मूल आधार मानता है। इस पुराण का अंतिम संकलन अनुमान से सोलहवीं सदी के आस-पास हुआ था। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसके पहले बङ्गाल का वैष्णव-समाज श्री राधा जी को स्वकीया कहकर पूजता था। उदाहरण के लिए, बङ्गाल के भक्त कवि चण्डीदास को लीजिए। ब्रह्मवैवर्त-पुराण के अंतिम संकलन के तैयार होने के दो सौ वर्ष पहले इन्होंने अपने राधा-कृष्ण-सम्बन्धी काव्य की रचना की थी। उन्होंने भी श्री राधा जी का जार-प्रेमिका के रूप ही में वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, उनके दो पद मैं नीचे उद्धृत करता हूँ :—

(१) 'कहिओ बंधुरे नति कहिओ बंधुरे।
गमन विरोध हैल पाप शशधरे॥
गुरुजन संभाषिते कैल जत भीति।
निज पति संभाषिते गेल आध राति॥
यदि चाँद क्षमा करे आजुकार राति।
तबे त पाइब आमि बंधुर संहति॥
अमावस्या प्रतिपदे चांदेर मरण।
से दिन बंधुर सने हइबे मिलन॥*

—पृष्ठ ५४

यह सखी के प्रति श्री राधा की उक्ति है। इसकी चौथी पंक्ति में वह श्री कृष्ण के पास दूती-द्वारा स्वयमेव यह कहलाती हैं कि आधी रात तो 'निज पति' से बात-चीत करने ही में बीत गई; अन्य कारणों के साथ एक यह भी कारण था, जिनकी वजह से वे मिलने के अपने वादे को पूरा न कर सकीं। अपनी असमर्थता के लिए खेद प्रकट करती हुई वे 'यदि चाँद क्षमा करे तो आजुकार राति', नहीं तो अमावस्या की तिथि पर—जब 'चांदेर मरण' होगा—वे उनसे अवश्य ही मिलने की कोशिश करेंगी। इसी तरह, दूसरे पद में भी श्री राधा जी दूती के द्वारा श्री कृष्ण के पास निम्न संदेश भेजती हैं :—

(२) कहिओ ताहार ठांइ, जेते अवसर नाइ,
अफुरान ह'ल गृह-काजे।
शाशुड़ी सदाइ डाके, ननदी लहरी थाके,
ताहार अधिक द्विजराजे।*
सजनि, कोप करेन दुरन्त॥
गृह-कर्म करि छले, विपिने जाइबार बेले,
आकाशे प्रकाश भेल चन्द्र॥
जे कुले बिच्छेदेर भय, ए कुले नहिले नय,
सुसारिते निशि गेल आधा।
आसिया मदन सखा, हेन बेले दिले देखा,
कह दूति कि करिबे राधा॥
लोहार पिंजरे थाकि, बेर ह'ते चाहे पाखी,
तार हैल आकुल पराण।
द्विज चण्डिदासे कय, आर कि विरह सय,
तुरिते मिलब वर कान''॥

—पृष्ठ ५५

इस पद में तो न केवल श्री राधा रानी के पतिदेवता—'द्विजराजे'—ही मौजूद हैं; किन्तु उनकी सास और ननँद का भी उल्लेख किया गया है। 'शाशुड़ी सदाइ डाके, ननदी लहरी थाके'—श्री राधा की सास, अन्य सासों के समान ही, बार बार पुकारा, और उनकी ननँद—लहर की तरह चंचल—इधर से उधर डोला करती थीं। तिस पर पतिदेवता भी महाक्रोधी थे। ऐसी दशा में इन जार-प्रेमिका देवी को यदि अपने प्रेमी से मिलने में कठिनाइयाँ हों तो कौन-सी अचरज की बात है?

ऊपर की तीन दलीलों के अलावा एक यह भी दलील दी गई थी कि हिन्दुओं को क्या मानना चाहिए, यह एक बात है। वे पिछले ४००, ५०० वर्षों से क्या मानते चले आये हैं, यह एक-दम भिन्न बात है। भूत के अध्ययन में वर्तमान और भविष्य की विचार-परम्परा का आश्रय लेना सर्वथा अनुचित होगा। इसलिए मैंने अपने मई वाले लेख में लिखा था—'इसका अर्थ यह कभी न होगा कि भूतकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के अध्ययन

* वैष्णव-महाजन-पदावली (प्रथम खंड)—महाकवि चंडीदास-पदावली।

* द्विजराज = पति।

में हम या कोई दूसरा विद्यार्थी पुराणों के उन संकलनों को भुला दे, जो आज दिन प्रचलित हैं। उन्हीं की छत्रच्छाया में तो मध्यकालीन साहित्य की सृष्टि हुई थी। उन्हीं के अध्ययन से उस युग की मनोवृत्तियों का हमें सही सही ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से ब्रह्मवैवर्तपुराण की प्रामाणिकता अक्षुण्ण है, और वह सदा अक्षुण्ण ही बनी रहेगी।' जो बातें चंडीदास या उनके पूर्ववर्ती बंगाल के वैष्णव-समाज में प्रचलित थीं, उन्हीं को श्री चैतन्य, आदि, धर्म्माचार्यों ने ठीक माना। जिस रूप में श्री राधा का चित्रण चंडीदास ने अपने काव्य में किया है, उसी को धर्म्म की छाप लगाकर ब्रह्मवैवर्तपुराण ने पौराणिक शैली से अंकित किया है। आज दिन भी लोग इसी लोक-प्रचलित और समाज-द्वारा समादृत कथानक को सिनेमा-हाउसों में जाकर चित्रपटों के रूप में देखते और उसका स्वागत करते हैं। इस पर भी कुछ महोदय, जो समालोचक होने का दम भरते हैं, 'राधा' के 'रायाण' के अस्तित्व को मिटाने की चेष्टा कर रहे हैं। भले ही जनसाधारण का यह विश्वास ग़लत हो, लेकिन यदि कोई यह लिखे कि उनका यह विश्वास है तो आपको इससे इनकार करने की क्या ज़रूरत है? 'वंशीवाला' खेल परकीया और जार-प्रेमिका श्री राधा का एक ऐसा प्रमाण है, जिससे इस परकीयावाद की व्यापकता और प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। साधारण जनता 'राधा' की इस मूर्ति का हृदय से स्वागत करती है। उसे देखकर वह न विचलित होती है, और न उससे उनके धार्मिक विश्वासों को चोट ही पहुँचती है। मेरे ख़िलाफ़ शोर-गुल मचानेवाले समालोचकों का आंदोलन, वास्तव में, कुलिहा में तूफ़ान उठाना है।

श्री राधा के इस परकीयारूप को बंगाल के वैष्णव कवि अपनी चमत्कारिणी कविता द्वारा सदियों से चित्रित करते आ रहे हैं। लेकिन दुराग्रह और पक्षपात ने विद्वान् लेखकों को इन प्रत्यक्ष बातों पर भी लीपा-पोती करने के लिए विवश कर दिया है। उदाहरण में, मई की 'माधुरी' को ले लीजिए। उसमें एक लेख है वैष्णव-भावना और राधा रानी। उसके लेखक हैं कोई बंगाली महाशय, जो हिन्दी, अँगरेज़ी और उर्दू में परीक्षायें देने के कारण तिहरे एम० ए० हैं। मेरे लेखों के उत्तर में आपने यद्यपि उस पत्रिका के आठ पेज रँगने की कृपा की है, लेकिन इस बात का कोई साफ़ साफ़ उत्तर उन्होंने नहीं दिया कि बंगाल के वैष्णव श्री राधा को परकीया मानते हैं, या नहीं। आपने बंगाली कवियों के कुछ पद उद्धृत कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि राधा-कृष्ण-सम्बन्धी काव्य विशुद्ध अध्यात्म-वाद है। ख़ूब रही! इसी तरह ऐतिहासिक शैली को तिलांजलि देते हुए, वह श्री राधा की आधुनिक कल्पना के प्रश्न को निस्सार सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। बाबू साहब को आज़ादी है कि वह तर्क और ऐतिहासिक शैली का अनुसरण करें या न करें। परन्तु उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि अंध-विश्वास से न तो तर्क का खंडन सम्भव है, और न फ़तवे से सत्य असत्य सिद्ध हो सकता है। उन्हें तो सुकरात और गैलिलो की कथायें मालूम हैं। यदि वे गैलिलो के विरोधियों का अनुकरण करना चाहते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। हाँ, मैं तो सुकरात और गैलिलो के प्रदर्शित पथ का अनुसरण करने ही में अपना परम सौभाग्य समझूँगा। इन्हीं बंगाली महोदय के समान, गैलिलो को दंड देनेवाले भी बहुश्रुत और बहुपठित थे। आज दिन भी श्री गांधी जी और श्री मालवीय जी के विरोधी पंडित-दल में बड़े बड़े दिग्गज शास्त्रज्ञों का जमघट है। भारतधर्ममहामंडल में भी विद्वानों की कमी नहीं है। लेकिन उनकी तर्क-शैली का कौन निष्पक्ष विद्वान् आदर करेगा? क्या यह ग़लत है कि महाभारत से लेकर भागवतपुराण तक के १५०० वर्षों की अवधि में श्री राधा का कहीं साहित्यिक उल्लेख नहीं मिलता? ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में पहले-पहल इस पूजनीया नायिका का साहित्य-गगन में उदय हुआ है? क्या ब्रह्मवैवर्तपुराण का मौजूदा संकलन सोलहवीं सदी में नहीं हुआ? श्री सीता जी का जिस तरह ज़िक्र वाल्मीकि ने श्री रामचन्द्र के साथ ही अपनी रामायण में किया है, क्या उसी तरह महाभारत में भी श्री राधा का श्री कृष्णचन्द्र के साथ ही साथ उल्लेख हुआ है? महाभारत

जब बनाया था तब से भागवत के अंतिम संकलन के तैयार होने में १५०० वर्ष का अंतर है। इस विस्तृत युगान्तर में कहीं भी श्री राधा का नाम तक नहीं मिलता। फिर, उन्हें श्री कृष्ण की समकालीन कैसे कोई मान ले? जिस समय महाभारत की रचना हुई थी, उस समय के किसी समकालीन लेखक या ग्रन्थ का नाम तो बताइए, जिसने श्री कृष्ण के साथ श्री राधिका का भी वर्णन किया हो? न तो हरद्वार और न लखनऊ से इन प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। चेष्टा की जाती है सिर्फ़ फ़तवों के द्वारा खंडन-मंडन की। कठमुल्लों के हथकंडों से, वे भूल जाते हैं, कोई पक्ष गिराया नहीं जा सकता।

'यहाँ कुमड़ बतिया कोउ नाहीं।
देखि तर्जनी जे मुरझाहीं ॥'

जाने दीजिए इन विद्वानों की अशास्त्रीय विवेचना-शैली को। आइए, हम लोग ब्रह्मवैवर्तपुराण के मनोहर और पापनाशक कथानक को सुनें-सुनावें। देखिए, इस पुराण ही में इसके माहात्म्य के सम्बन्ध में क्या कहा गया है? ब्रह्मखंड* के प्रथम अध्याय में महामुनि सौति शौनक जी के प्रश्न करने पर कहते हैं कि जिन जिन प्रश्नों को आपने पूछा है, उन सबका विस्तार के साथ वर्णन ब्रह्मवैवर्त नामक पुराण में है। सौति जी के शब्दों में, ब्रह्मवैवर्तपुराण सब पुराणों का सार है। 'सार-भूत-पुराणेषु ब्रह्मवैवर्तमुत्तमम्।' (अ० १७, श्लो० ४२।) इसके द्वारा अन्य पुराणों, उपपुराणों और वेदों तक की भ्रमोत्पादक बातों का निराकरण हो जाता है। 'पुराणोप-पुराणानां वेदानां भ्रमभञ्जनम्" (अ० १, श्लो० ४३।) सुन लिया आपने। वेदों के भ्रम का भंजन जो पुराण कर सकता है, उसके मुक़ाबिले में दूसरे पुराणों और उपपुराणों की, भला, क्या गिनती हो सकती है? इसी लिए सौति जी ने फिर आगे चलकर एक बार दोहराया है कि यही पुराण अन्य सब पुराणों में श्रेष्ठ है, यही वेद-सम्मत है, यही सब अभीष्टों को पूरा करने में कल्पतरु के समान है। इसे गोलोक-धाम में पहले-पहल परमात्मा श्री कृष्णचन्द्र ने साक्षात् श्रीमुख से ब्रह्मा जी को सुनाया, जिनसे धर्म (बौद्ध शून्यपुराण के धर्म देव की छाया प्रत्यक्ष है) ने सुना। उनसे उनके पुत्र नारायण को प्राप्त हुआ। नारायण से नारद और नारद से व्यास को यह मिला। इन्होंने सौति को इसे बताया। क्या इस वंशावली के बाद भी कोई आस्तिक हिन्दू इस परम सात्त्विक वैष्णव पुराण की प्रामाणिकता में सन्देह करने की धृष्टता करेगा?

ऊपर गोलोकधाम का ज़िक्र आया है। यह गोलोक है क्या? और श्री कृष्ण परमात्मा कैसे कहे गये हैं? विष्णुपुराण में तो विष्णु भगवान् के एक बाल ने श्री कृष्ण के रूप में अवतार लिया था। वहाँ तो गोलोक का नाम तक नहीं आया; सिर्फ़ वैकुण्ठधाम में विष्णु के रहने का ज़िक्र है। इस अन्तर का क्या कारण है? विष्णुपुराण का अन्तिम संकलन चौथी सदी में हुआ था। तब विष्णु ही को परमेश्वर वैष्णव कहते थे; और उनके लोक का नाम उस सदी में वैकुण्ठ ही माना जाता था। धीरे धीरे यह धारणा बदलने लगी। बौद्ध तथा अन्य सम्प्रदायों के सम्पर्क और संघर्ष से वैष्णवों के मत और सिद्धान्तों में निरन्तर उलट-पुलट होती गई। चौथी सदी से लेकर १६ वीं सदी तक के १२०० वर्ष के बहुत बड़े ज़माने में वैष्णवों का मत बहुत कुछ बदल गया। चौथी सदी के 'ईश्वराणाम् परमेश' विष्णु थे, जो अंशांशेन कृष्ण के रूप में अवतरित हुए। सोलहवीं सदी में यही विष्णु कृष्ण के एक अंश-मात्र रह गये। उनका वैकुण्ठ भी एक निम्न श्रेणी का धाम बन गया। उससे भी ऊँचा और हर प्रकार से श्रेष्ठ गोलोकधाम की धूम मचने लगी। प्रलय में सब कुछ विलीन भले ही हो जाय, लेकिन गोलोक उस समय पर भी मौजूद रहता है, और उसमें श्री कृष्णचन्द्र अपनी रास-लीला किया करते हैं। प्रभु की माया अपरम्पार है। प्रभु को रास-विलास को छोड़कर और कोई काम नहीं भाता है। इसी लिए सर्वदा, अनादि काल से अनन्त काल तक,

* इस पुराण में चार खंड हैं—(१) ब्रह्मखंड, (२) प्रकृतिखंड, (३) गणेशखंड और (४) कृष्णजन्म-खंड। कुल मिला कर, इसमें १३३ अध्याय हैं।





श्रीकृष्ण का द्वारका-प्रवेश

[चित्रकार—श्रीयुत सुधीन्द्रनाथ साहर

इसी रास में वे मग्न रहते हैं। इन श्री कृष्णचन्द्र और गोलोक में उनकी लीलाओं* का भी संक्षेप से हाल जान लेना अनुचित न होगा, क्योंकि तभी उनके अवतार की कथा हमारी समझ में पूरी तौर से आएगी।

पहले गोलोक का हाल सुन लीजिए। ब्रह्मखंड के दूसरे अध्याय में इसका संक्षिप्त वर्णन है। प्रलय में, जब तीन लोक परब्रह्म में लय हो जाते हैं, गोलोक क़ायम रहता है। उसे योगिराज भी अपने योगबल से नहीं देख सकते। स्वप्न में भी उसका दर्शन उन्हें नसीब नहीं हो सकता। सिर्फ़ वैष्णव ही उसे देखने या प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। उसमें निवास है श्री कृष्ण का। प्रलय के समय वे केवल एक ज्योति के समूह के रूप में शेष रह जाते हैं। करोड़ों सूर्य की ज्योति भी इनके सामने मलिन है। वे नित्य और अनंत विश्वों के आदि कारण हैं। यही कृष्ण हैं। प्रलय की अवधि में केवल ज्योतिर्मय कृष्ण ही गोलोक में स्थित रहते हैं, लेकिन जब फिर सृष्टि होती है तब वे धाम गोप-गोपियों से फिर भर जाता है। वह तीनों लोकों से परे है। इसका विस्तार ३ करोड़ योजन है। 'ईश्वरवत्' नित्य यह धाम है— 'गोलोकं नित्यमीश्वरवद् द्विज'। (१-२-६।) इस गोलोक से १५ करोड़ योजन नीचे, दाहिनी ओर वैकुण्ठ और बाईं ओर शिवलोक हैं। दोनों ही का विस्तार, गोलोकधाम के विस्तार की तुलना में, सिर्फ़ एक तिहाई है। जहाँ गोलोक ३ करोड़ योजनों में फैला हुआ है, वहाँ ये दोनों लोक महज़ एक एक करोड़ योजन विस्तार में हैं। वह नित्य है; ये दोनों लोक प्रलय के समय, अपने अपने स्वामियों के साथ, श्री कृष्णचन्द्र में लय हो जाते हैं। 'लये शून्यम्' जैसे वैकुण्ठ, वैसे ही शिवलोक भी 'लये शून्यम्' हो जाता है।

गोलोक के मध्य में 'अतीव सुमनोहरम्' ज्योति, जो परमानन्दकारक है, विद्यमान है। योगियों से भी अदृष्ट इस ज्योति के भीतर दिव्य परमेश्वर विराजमान हैं, जिनके रूप का निम्न साकार और समूर्त वर्णन इस पुराण के रचयिता ने दिया है:—

> नवीननीरदश्यामं रक्तपङ्कजलोचनम्।
> शारदीयपार्वणेन्दुशोभितं चामलाननम् ॥१६॥
> कोटिकन्दर्पलावण्यं लीलाधाम मनोरमम्।
> द्विभुजं मुरलीहस्तं सस्मितं पीतवाससम् ॥१७॥
>
> ... ...
>
> किशोरवयसं शश्वद् गोपवेषविधायकम् ॥२१॥
>
> ... ...
>
> रासमंडलमध्यस्थं शान्तं रासेश्वरम् वरम्।
> माङ्गल्यं मङ्गलार्हं च मङ्गलं मङ्गलप्रदम् ॥२३॥
> एवं रूपं परं बिभ्रद्‌भगवानेक एव सः ॥२४॥*

श्री कृष्ण की उपासना आज हम जिस साकार और स्थूल रूप में करते हैं, गोलोक में भी उनका वही स्वरूप बताया गया है, यद्यपि, साथ ही साथ, उन्हें 'अव्यक्तम्' 'अक्षरम्' और 'अव्ययम्' भी कहते जाते हैं। निराकार और साकार परस्परविरोधी विशेषण हैं, लेकिन पुराणकार ने इस विरोध को यह कहकर मिटा दिया कि योगी जिसको योग से केवल ज्योति समझता है, उसी को वैष्णव भगवान् के अनुग्रह से गोलोक में साक्षात् साकार रूप में देख लेते हैं! वहाँ पर मुरली हाथ में ले और रासमंडल के बीच में खड़े होकर रासलीला करते हुए वे 'रासेश्वर' उपाधि को सार्थक करते हैं। इन्होंने जब प्रलय के कारण विश्व को

* 'सरस्वती' के अगले अङ्क में प्रकाशित होने वाले लेख को देखिए।

* वर्षाकाल के नये मेघ की तरह काले शरीरवाले, लाल कमल की भाँति नेत्रवाले, कार्त्तिक पूर्णिमा की तरह शोभायमान, स्वच्छ मुखवाले, करोड़ों कामदेव की तरह सुंदर, लीलाधाम, चित्त को लुभानेवाले, दो हाथ वाले, वंशी हाथ में लिये हुए, हँसमुख, पीताम्बर धारण करनेवाले, किशोर सदा गोपों के वेष को धारण करनेवाले, रासमंडल के बीच में रहनेवाले; शांत, रास के मालिक, श्रेष्ठ, कल्याणरूप, मङ्गल के योग्य मंगल, कल्याण देनेवाले, इस तरह के अद्भुत 'रूप' को धारण करनेवाले वह भगवान् एक ही हैं।

शून्यमय और गोलोक को भयंकर देखा तब अपनी इच्छामात्र से सृष्टि की रचना आरम्भ कर दी। इनसे आदि में तीन गुण उत्पन्न हुए। फिर महान्, अहंकार, तन्मात्र, आदि, की उत्पत्ति हुई। इनसे चतुर्भुज नारायण पैदा हुए। उनके बाद, महेश, ब्रह्मा, धर्म, आदिक, देवताओं की सृष्टि हुई। सभी ने उत्पन्न होते ही भगवान् कृष्ण की वन्दना की। देवियों की भी साथ ही साथ सृष्टि होती जाती थी। सरस्वती, दुर्गा, सावित्री, लक्ष्मी और राधा की उत्पत्ति की कथायें बड़ी रोचक हैं। इनमें से कुछ की कथाओं का उल्लेख हम आगे करेंगे। यहाँ पर इसी बात पर ज़ोर देना मैं चाहता हूँ कि इस पुराण में कृष्ण की महत्ता अन्य सब देवी-देवताओं के ऊपर सिद्ध की गई। जैसे, दुर्गा ने उत्पन्न होते ही कृष्ण की वन्दना करते हुए कहा कि श्री कृष्ण करोड़ विष्णुओं को पल भर में रच सकते हैं, और उनकी पलक गिरते ही अनेक ब्रह्मा नष्ट हो जाते हैं। विष्णुपुराण के विष्णु को कितना गौण पद इस ग्रन्थ में दिया गया है! यह विचारणीय बात है, यद्यपि दोनों ही वैष्णव पुराण हैं। निम्न दो पदों को पाठक ध्यान से पढ़ लें:—

(१) निमेषकाले च ब्रह्मणः पतनं भवेत् ॥७९॥
(२) भ्रूभंगलीलामात्रेण विष्णुकोटिं सृजेत्तु यः ॥८०॥
—ब्रह्मखंड, अध्याय ३।

इसी तरह, सृष्टि होने के समय पर जब श्री कृष्ण के अंग से चतुर्भुज विष्णु का आविर्भाव हुआ, तब 'स्वयम् नारायणः प्रभुः'—अर्थात्, विष्णु भगवान्—श्री कृष्ण के सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए। 'श्रीकृष्णपुरतः स्थित्वा तुष्टाव तं पुटाञ्जलिः'। करबद्ध उन्होंने उनकी इन शब्दों में वन्दना की—'वरं वरेण्यं वरदं वरार्हं वरकारणम्। कारणं कारणानाञ्च कर्म तत्कर्मकारणम् ॥१०॥ तपस्तत्फलदं शश्वत्तपस्वीशं च तापसम् ॥ वन्दे नवघनश्यामं स्वात्मारामं मनोहरम् ॥११॥ निष्कामं कामरूपं च कामघ्नं कामकारणम् ॥ सर्वं सर्वेश्वरसर्वबीजरूपमनुत्तमम् ॥१२॥ वेदरूपं वेदभवं वेदोक्तफलदं फलम् ॥ वेदज्ञं तद्विधानञ्च सर्ववेदविदांवरम् ॥१३॥

इस वन्दना का विशेष महत्त्व है। एक तो श्री कृष्ण के सामने विष्णु की लघुता और पराधीनता इस ढंग से घोषित की गई है कि राह चलते हुए आदमी को भी वह साफ़ साफ़ दिखाई देती है। ऊपर की प्रार्थना में एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिससे विष्णु भगवान् की श्री कृष्ण के साथ बराबरी की भ्रान्ति भी हो सके। इसी तरह सारे पुराण में अनेक स्थलों पर श्री कृष्ण की महत्ता और श्रेष्ठता पर ज़ोर दिया गया है। श्री कृष्ण एक ही हैं; लेकिन ब्रह्मा, विष्णु, महेश और उनसे भी बड़े महाब्रह्मा, महाविष्णु आदि, अनेक हैं, जिनका अस्तित्व परिमित अवधि ही तक क़ायम रहता है। ये सब श्री कृष्ण के आज्ञाकारी अनुचरमात्र हैं। इनका पद गौण है। दूसरी बात पर भी एक नज़र डाल लीजिए। वह है यह कि गोलोक में भी श्री कृष्ण का वही रूप और वेषभूषा है, जिस रूप में वे इस लोक में व्रजमंडल में विहार करते थे। यहाँ भी वे घनश्याम थे, स्वर्ग में भी वे घनश्याम ही हैं। परब्रह्म परमेश्वर का इतना स्थूल वर्णन देखकर आश्चर्य अवश्य होता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्रजमंडल के नन्दनन्दन ही के प्रतिबिम्ब गोलोकस्थ श्री कृष्ण क़रार दे दिये गये हैं! अधिक टीका-टिप्पणी करना मेरे लिए सर्वथा अनधिकार चेष्टा होगी।

केवल एक बार चतुर्भुज विष्णु ने गोलोक में श्री कृष्ण से बराबरी का दावा किया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के कृष्ण-जन्मखंड के चौथे अध्याय में इसका उल्लेख है। जब वराहकल्प में कृष्णावतार के पहले पृथ्वी पापियों के अत्याचार से पीड़ित होकर ब्रह्मा जी के पास रोती हुई गई और वे उसी की करुण-कहानी को सुनकर शिव तथा अन्य देवताओं के साथ वैकुण्ठ में विष्णु के पास गये, तब विष्णु ने जो उत्तर दिया उसका सार यह है—'आप लोग गोलोक को जाइए। वहाँ मैं ही राधा और गोपियों के सहित द्विभुज कृष्ण के रूप में विद्यमान हूँ। यहाँ मैं

कमला के साथ और सुनन्द आदिक पार्षदों-द्वारा आवृत रहता हूँ। श्वेत द्वीप का नारायण मैं ही हूँ। ब्रह्मादिक सारे देवता मेरी ही कला से उत्पन्न हुए हैं।' इतना सब होने पर भी श्री विष्णु भगवान् पृथ्वी की कुछ भी सहायता न कर सके। अपने ऐश्वर्य और प्रताप का सविस्तर वर्णन करने के बाद, विवश होकर उन्हें अन्त में यही कहना पड़ा कि आप लोग गोलोक को चलिए। पीछे से मैं भी आता हूँ।' समानता का मौखिक दावा करने के बाद, श्री विष्णु को पृथ्वी और देवताओं को श्री कृष्ण की शरण में जाने की सलाह देने के लिए मजबूर होना पड़ा। सब देवगण गोलोक पहुँचे। वहाँ श्री कृष्ण की वन्दना देवताओं की ओर से ब्रह्मा ने की। वह काफ़ी बड़ी है। इसलिए उसके एक-आध पद्यों ही का यहाँ पर उल्लेख करना उचित होगा। ब्रह्मा जी ने श्री कृष्ण से कहा कि आप ही सबके ईश हैं, आपके ऊपर कोई दूसरा ईश नहीं है; सबके पहले आप ही थे, आपसे पहले कोई दूसरा न था; आप ही सबकी आत्मा हैं, आपकी आत्मा कोई दूसरी नहीं है।* आगे चलकर आपने कहा कि जिन महाविष्णु के एक एक रोम पर एक एक ब्रह्मांड स्थित है, वह भी आपकी कला के १६ वें अंश-मात्र हैं। 'एकैकलोमविवरे ब्रह्मांडमेकमेककम्। यस्यैव महतो विष्णोः षोडशांशस्तवैव सः ॥११०॥ (ब्रह्म० अध्या० ४।) यहाँ पर, फिर, एक बार विष्णु की कौन कहे, महाविष्णु तक को श्री कृष्ण की कला का १६ वाँ अंश कह दिया है। बोधिसत्व की छाया में श्री कृष्ण की प्रधानता प्रतिपादित की गई है।

विष्णु के इस 'पराभव' को देखकर किस वैष्णव को क्षोभ और संताप न होगा? 'ईश्वराणां परमेश' विष्णु के भी परमेश वही श्री कृष्ण हो गये, जो चौथी सदी में केवल अंशांशेन विष्णु के अवतार माने जाते थे। सोलहवीं सदी के कृष्ण-सम्प्रदाय का असली रूप तभी हम समझ सकते हैं, जब हम विष्णु और कृष्ण के इस पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उलट-पलट को अपनी आँखों के सामने रक्खें। जहाँ इससे इस बात का पता चलता है कि वैष्णव-समाज के सिद्धान्तों और धार्मिक विचारों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है, वहाँ भविष्य के लिए यह भी आशा बँधती है कि जो समाज इतना प्रगतिशील भूत-काल में रह चुका है, वह भविष्य में आगे बढ़ने के लिए तैयार होगा। किसी ने सच ही कहा है कि वैष्णव-धर्म्म हिन्दू-समाज में बग़ावत का झंडा लेकर पैदा हुआ है। यह मत बाग़ियों का मत है, और इसके सफल बाग़ी आचार्य के पद को प्राप्त कर आज जन-साधारण की भक्ति और उपासना के पात्र हो रहे हैं। एक धार्मिक क्रान्ति का नाम वैष्णव-धर्म्म है। लेकिन क्रान्ति का रूप होते हुए भी वह विभिन्न युगों और पृथक् पृथक् प्रान्तों में स्वयमेव क्रान्ति की शक्तियों से निरन्तर प्रभावित होता आया है। उसके अन्दर विप्लव पहले हुए, बाद में उन्होंने अपना असर दूसरों पर डाला। लेकिन कृष्ण का विष्णु के आंशिक अवतार से साक्षात् परमात्मा तक बन जाना और विष्णु का परमात्मा के पद से गिर कर एक गौण देवता के पद पर स्थापित होना हिन्दू-समाज में एक अद्भुत विप्लव का नाम है। बारहवीं सदी से सोलहवीं सदी के इस विचार-विप्लव ने अपना पूरा काम कर डाला। चौदहवीं सदी से इसका जन-साधारण में मान बढ़ने लगा, और १६वीं सदी में तो उसके तेज के सामने किसी की हिम्मत ही न पड़ी कि वह उसका मुक़ाबिला कर सके। चैतन्य, वल्लभ, आदि, इसी अंतिम विजय के सफल सेनापति हैं। उन्हीं की संगठन-शक्ति और प्रचार-पटुता से इस क्रान्ति को चिरस्थायी सफलता प्राप्त हुई। हमारा मध्यकालीन युग का साहित्य इस क्रान्ति का अमर स्मारक है। हिन्दुओं के विष्णु जहाँ गौण पद को पहुँच गये, वहाँ १०वीं सदी के बौद्धों के धर्म्मदेव को भी सोलहवीं सदी में परम पद से गिर कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश से नीचे की पदवी पाकर संतुष्ट रहना पड़ा। यह सब हुआ; लेकिन इतनी चतुरता के साथ यह व्यापक परिवर्तन हुआ कि हिन्दू-समाज को आज तक इसका संदेह तक न होने पाया कि वे एक विचार-धारा को त्याग कर नये

* स्ववशं यदनीशं यत् सर्वादि यदनादि यत्।
सर्वात्मकमनात्मं यत्तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥६७॥

...त को ग्रहण कर रहे हैं। बोतलों में रस बदल दिये गये, पर चलन उनका जारी रहा उन्हीं पुराने नामों से। शब्दों की महिमा इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि पुराने नामों के कारण पुराने रसों को पीनेवालों ने यह भी न जान पाया कि अब वे दूसरे ही रसों का पान कर रहे हैं। परिवर्तन पुरातन के वेष को चुराकर समाज में घुसा, और ऊपरी वेष-भूषा को चिर-परिचित समझकर नये आगन्तुक का भी स्वागत लोगों ने पूर्वपरिचित के रूप ही में किया। राधा रानी की साहित्यिक महिमा की पहेली की कुंजी श्री कृष्ण के इस नवीन उत्थान को समझना चाहिए।

× × × ×

'मुरलीवाला' भी एक फ़िल्म या चित्रपट का नाम है। लेख के आदि में 'वंशीवाला' नामक खेल का ज़िक्र मैंने किया है। इसका अंत 'मुरलीवाला' के सम्बन्ध में एक घटना के उल्लेख से होना उचित है। 'अभ्युदय' आफ़िस में, एक हफ़्ता हुआ, हम कई मित्र बैठे थे। 'वंशीवाला' की चर्चा चल पड़ी। बात काटकर, एक सज्जन कहने लगे, 'कई महीने हुए, प्रयाग में 'मुरलीवाला' नाम का एक फ़िल्म आया था, शहर के हज़ारों हिन्दू उसे देखने गये थे। प्रयाग-विश्वविद्यालय के कई आचार्यों ने सपरिवार उसे देखा था। यूनिवर्सिटी के आस्तिक हिन्दू विद्यार्थियों का भी जमघट रहता था। परन्तु किसी ने भी इस चित्रपट के विरुद्ध आवाज़ न उठाई।' इस पर मैंने पूछा, 'क्यों, क्या उसमें कुछ आपत्तिजनक बात थी?' उत्तर मिला, 'हाँ, परकीया राधा और श्री कृष्ण की लीलाओं का इस चित्रपट में भी चित्रण था।' लेकिन कोई हिन्दू इसके ख़िलाफ़ आवाज़ क्यों उठाता या उठाये? परकीया के रूप में श्री राधा का चित्र हिन्दू-समाज में बहुत दिनों से पुजता आया है। फिर, कुछ लोग चिढ़ते क्यों हैं? मैं भी तो अचरज के साथ पूछता हूँ, 'फिर, कुछ लोग चिढ़ते क्यों हैं, जब मेरे लेखों में वे इस समाज-समादृत कथानक की विवेचना को पढ़ते हैं? परकीया राधा की भव्य मूर्ति इतनी हृदय-ग्राहिणी है, उसमें इतनी मिठास और साहित्यिक सचाई कूट कूट कर भरी है कि उसे देखकर हिन्दू-जनता भक्ति और श्रद्धा से पुलकित हो उठती है। इसी लिए, मैं कहता हूँ कि यदि आप मेरे लेखों के विरुद्ध किसी पंडितंमन्य आचार्य या प्रोफ़ेसर की कोई व्यवस्था देखें तो 'वंशीवाला' या 'मुरलीवाला' की याद कर लीजिएगा। मेरी या मेरे सम्मानित समालोचकों की सचाई आपसे आप प्रकट हो जायगी। हिन्दू-संस्कृति से अछूत आलोचक, भले ही, कपोल-कल्पित तर्कों-द्वारा असलियत को मूँदने-ढाँकने की कोशिशें करते फिरें।

गीत

श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०

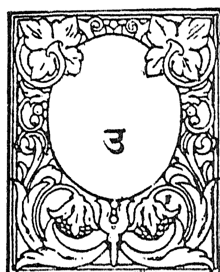
घन बनूँ बर दो मुझे प्रिय!
जलधि-मानस में नव जन्म पा,
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
तरल-अश्रु विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय!

एक सामाजिक कहानी

मूक वाणी अर्थात् गृहिणी

पण्डित मोहनलाल नेहरू

[१]



सकी शिक्षा ही वैसी थी। वह क्या करती? उसने अपने बचपन में कई दफ़े मित्र-मंडली के बीच पिता जी को अपनी माता की बड़ाई करते सुना था। वे कहा करते कि 'वह स्त्री-रत्न' थी! अजी! कभी हवा तक को अपने दर्शन नहीं होने देती थी, पर-पुरुष की कौन कहे, मेरा तो वह इतना ख़याल रखती थी कि किसी की मा भी क्या रक्खेगी। और फिर किसी बात की पूछ-ताछ नहीं। मेरे जो जी में आवे करूँ, सिनेमा जाऊँ या नाच-रंग में सम्मिलित होऊँ, वे साधारण कवि भी थे, कभी कभी आनंदमग्न होकर कविता की भाषा में कह उठते थे—"मेरी गृहिणी! भाई साहब! वह अनंत है, मूक वाणी है, प्रकाशमय अन्धकार है, रूपराशि है, तुमुल है, तिमिर है" इत्यादि। मित्र-मंडली वाह! वाह! कह उठती, सुखदेई की यही बाल्यकाल की शिक्षा थी। स्त्री के वास्ते वह यही 'धर्म' या जिसका दूसरा नाम 'फ़ैशन' है, समझती थी।

हर तीज-त्योहार पर सुखदेई के माता-पिता गंगा-स्नान को ज़रूर जाते और ताँगे में पीछे की तरफ़ पर्दा बाँध कर आधे दर्जन बच्चों को जो उनकी घरेलू फ़ैक्टरी की मशीन से निकल चुके थे, किसी न किसी तरह उसमें ठूँस ले जाते। नहाते या कपड़े बदलते समय भी सुखदेई ने अम्मा का घूँघट हटते कभी नहीं देखा था। गीले कपड़े बदन पर भले ही चिपक जायँ उसकी उन्हें परवा न थी। बदन तो सभी का एक-सा होता है, मगर पहचान तो मुँह से ही हो सकती है। पंडे तक से उन्होंने कभी बात न की थी, दक्षिणा देते समय एक मैली-सी साड़ी के बाहर एक पंजा निकल आता और तुरंत ही फिर भीतर दाख़िल हो जाता। उस हाथ के देखने से मालूम पड़ता था। वे न तो काली हैं न गोरी, उनका रंग श्याम कहा जा सकता था। वे सुंदर हैं या कुरूपा, यह कहना मुश्किल था। मगर हाँ यदि नौकरों का कहना ठीक माना जा सकता है तो हम कहेंगे कि न वे सुन्दर थीं, न कुरूपा, मध्यम श्रेणी की स्त्री थीं।

पुरुषों से उन्हें घृणा न थी। मगर वे बचपन से सिवा नौकरों के किसी पुरुष से बोली न थीं। यही सच्चरित्र स्त्री के वास्ते फ़ैशन था। कभी-कभी सुखदेई के बाबा तक उनसे कह बैठते कि 'तुम तो ग़ज़ब करती हो। अपने रिश्तेदारों तक से नहीं बोलतीं। उनका यही उत्तर होता कि 'अब अगर बोलूँ तो लोग क्या कहेंगे'। क्या ससुराल के रिश्तेदार, क्या पतिदेव के मित्र, उन्हें गूँगी ही समझते थे। उनकी देखा-देखी सुखदेई भी पुरुषों से कम बात करती थी। अधिकतर तो यही होता कि एक भी पुरुष घर पर आ जाय और वह बाहर बरामदे में खेल रही हो तो वह छोटी बहनों और भाइयों को छोड़ कर भीतर भाग जाती, जैसे शिकारी को देखकर शिकार भाग जाता है। सात-आठ वर्ष की लड़की थी। भला कैसे पर-पुरुष से बात करती? अभी से उसकी साड़ी माथे तक पहुँच चुकी थी, पूरा घूँघट का समय नहीं आया था।

परमात्माशरण अपनी अर्द्धांगिनी की दिनचर्या और उनकी पतिभक्ति से बड़े ही संतुष्ट रहते थे। क्यों न होते? छः बच्चों की माता हो जाने पर भी गृहिणी ने उनसे कभी उनकी दिनचर्या या रात्रिचर्या पर प्रश्नोत्तर नहीं किया था। वे अपनी गृहस्थी, अपने बाल-बच्चों की सेवा, अपनी पति-भक्ति में मस्त रहती थीं; और ये उनके संतोष पर मुग्ध रहते थे। उन्हें बचपन से ही सिवा 'घरेलू जीवन के

पाठ' के दूसरा कोई पाठ ही नहीं पढ़ाया गया था, और तीस वर्ष की अवस्था में जिसे वे बहुत ज़्यादा समझती थीं जैस अधिकतर गृहिणियाँ समझती हैं, वे क्या बदल सकती थीं ? 'गृहलोक में लीन' होना कोई बुरी बात नहीं, किंतु वे ऐसा लीन रहती थीं कि चारों तरफ़ क्या हो रहा है, वे न देख सकतीं, न सुन सकती थीं। पतिदेव डिप्टी कलेक्टर थे। उन्हें अपनी स्थिति पर संतोष था, भूत-भविष्य से उन्हें कुछ वास्ता नहीं था और न पहली तारीख़ का अधिक इंतज़ार रहता था, क्योंकि पिछली पहली तारीख़ की तनख़ाह से ही कुछ न कुछ बच रहता था।

[२]

लोग चाहे जो कुछ भी समझते हों, हमारी 'गृहिणी' गर्मी के मौसम में पाँच बजे से और सर्दी में साढ़े छः बजे से घर-गृहस्थी का इंजन चलाना शुरू कर देती थीं। "घरेलू फ़ैक्टरी की मशीन" में सातवीं संतान ढल रही थी। सर्दी के दिन थे। तबीयत खराब होने से आँख ज़रा देर में खुली। मिश्रानी और कहारिन दरवाज़े पर ही बैठी थीं, मगर दरवाज़ा खुलते ही गृहिणी उन पर पिल पड़ीं।

"तुमने दरवाज़ा क्यों नहीं खटखटाया ? इतनी देर होगई, कब झाड़ू लगेगी, कब सीधा-पानी होगा ? बाबू जी के जाने तक रसोई कैसे बनेगी ?" मिश्रानी ने धृष्टता करके कहा—

मालकिन, अभी चटपट बनाती हूँ। कहारिन भी बोल उठी—तो मालकिन कुछ देरी थोड़े भई है। हम तो कब्बै से दरवाज़ा खुले का निहारित रहीं तो हमार का दोष बा।

गृहिणी का पारा १०० दर्जे पर पहुँच गया—बस टर टर मत करो। मुझे टर्रे नौकरों की ज़रूरत नहीं। जाओ अपने घर बैठो...न मालूम और क्या क्या कहना चाहती थीं कि छोटे बच्चों की आँखें खुल गईं और रोने की आवाज़ कमरे से आने लगी। क्रोध चंपत होगया, वे भीतर चली गईं, मगर जाते हुए यह कहती गईं कि जल्दी जल्दी झाड़ू-बुहारू करो, आग जलाओ, मैं अभी आई।

उनकी पीठ फिरते ही महरी ने हलके से महराजिन से कहा—हमार बहू तो रोजी सुबेरे से हाय हाय मचाये रहत हैं, बाजी जून तो जी चाहत हैं कि छोड़ के भाग जाई।

महरा भी वहाँ आ पहुँचा था, बोला—का भवा कहत हैं तो कहने दो, हम है तो रोजी सुनत हैं, का हम यह नाहीं जानत हैं कि हमका का काम करे का है। मुदा वह रोजी कहत हैं तो चुप न करी तो का करी।

"तो हमका तो बाजी जून बड़ा गुस्सा लागत है। देखो न खुद ही तो देर तक सोवैं और हमका लगी बक्के।" महरी ने कहा।

"नौकरी करे माँ तो सभी बात सुने का होत है, रोजी आवत-आवत बीसों आवाजें पड़ जात हैं, अब उनकी आदत ही ऐसी है तो का करी।" कहार ने कहा। वह जाने ही को था कि गृहिणी आ पहुँचीं।

"तुम यहाँ क्या कर रहे हो ? झाड़ू लग चुकी क्या ? मेज़-कुर्सी पोंछ चुके।" उन्होंने तेज़ स्वर में पूछा।

"हाँ सरकार, झाड़-पोंछ कर चुका। बाबू जी हजामत को पानी माँगिन सो लेने आवा है। लाओ मिश्रानी जल्दी दो।" कहार ने कहा और एक गिलास आगे रख दिया।

"अच्छा मैं अभी आके देखती हूँ। ज़रा रगड़ के पोंछा करो। रोज़ मिट्टी लगी रहती है। मैं खुद झाड़ती हूँ।"

उस दिन नहाने ज़रा देर से गईं तब बाबू जी भोजन करने आ पहुँचे। दस बजे इजलास पर पहुँचना था। उनके कलक्टर साहब के कचहरी आने का दिन था, और वे ठीक दस बजे आ पहुँचा करते थे। गृहिणी नहा कर निकलने भी न पाई थीं कि वे कच्चा-पक्का खाकर चले गये, पान भी न खा सके। नहा-धोकर जब उन्हें मालूम हुआ तब फिर एक दफ़े मिश्रानी और महरी की पूजा हुई। "कमबख्तों ने उन्हें कच्चा-पक्का खिला दिया। बस, यही होता है नौकरों पर छोड़ने से। किसी दिन भी मैं ज़रा चूक जाऊँ तो ये ग़ज़ब ही कर डालते हैं।"

उस दिन बच्चों की भी शामत रही। सुखदेई को छोड़ कर सभी पर दो-दो चार चपत पड़ गये, मगर उसका नतीजा अच्छा ही हुआ। दो ही बजे से वे स्वयं रसोई में जा बैठीं और हलवा-पकौड़ी का इन्तज़ाम होने लगा। आज "बाबू जी बेचारे स्वादिष्ट भोजन न खा सके होंगे, मैं खुद बनाकर खिलाऊँगी।"

डिप्टी साहब ने कचहरी से लौट कर पूछा—आज तुम क्यों रसोई में बैठी हो? इतने नौकर किस लिए हैं?

"अगर नौकरों से काम चल सकता तो घरवाली की ही क्या ज़रूरत, आप यह तो समझ नहीं सकते, क्योंकि मैं हर समय सेवा में लगी रहती हूँ। एक दिन भी मैं न करूँ तो यही आफ़त आती है, रोज़ ही आपको कच्चा भोजन खाना पड़े।" गृहिणी ने गर्व से उत्तर दिया।

"यह तो सच कहती हो।"

"बस, मुझे यही तो हर दम खयाल रहता है कि मैं बीमार पड़ जाऊँगी तो क्या होगा। पिछले दफ़े तो तुम्हारी अम्मा थीं। वे भी अब चली गईं।"

"कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा।"

"मैंने कोठार में सब चीज़ें भरवा रक्खी हैं। सुखदेई अभी बच्चा है। ज़रा तुम भी देख लिया करना। नहीं तो ये लोग सब उड़ा देंगे, बड़े चोर होते हैं।"

नाश्ता करते समय बाबू जी ने सब चीज़ों की तारीफ़ की, मगर कहीं उनके मुँह से निकल गया कि आलू ज़रा ज़्यादा तल गये हैं। जले से मालूम होते हैं।

"कहीं भी नहीं। मैंने तो इतनी मेहनत से बनाये हैं। आपको पसंद ही नहीं आते। अब कभी न तलूँगी।"

इस बात पर गृहिणी बहुत दिनों तक क़ायम भी रहीं, इस अपमान का उनके हृदयपटल पर बड़ा असर हुआ। उनकी बनाई हुई चीज़ को जला हुआ कह दिया। उफ़!

[३]

डिप्टी साहब ने प्रस्ताव किया कि सुखदेई पाठशाला में भेजी जाय। यह ऐसी बात थी जिसमें बावजूद 'गृहलोक में लीन' रहने के गृहिणी की भी राय थी।

"मैं तो उसे पाठशाला भेजकर मिस नहीं बनाऊँगी।"

"वह तो मैं भी पसन्द नहीं करता, मगर कुछ तो सीखना ज़रूरी है। अब तुम्हारा ज़माना तो रहा नहीं, आज-कल के लड़के बेपढ़ी लड़कियों से विवाह नहीं करते और आगे चलकर तो शायद इसमें और ज़्यादती हो जाय।"

"वह तो हिन्दी पढ़ लेती है और क्या चाहिए? अँगरेज़ी पढ़ेगी तो सामनेवाली 'लेडी' की लड़की की तरह फुदकती फिरेगी। दस बरस की उसकी लड़की होगई और शर्म-लिहाज़ पास नहीं फटका। क्या मैं अपनी सुखदेई को बेशर्म बनाऊँगी?"

"नहीं, मगर क्या घर का प्रभाव उस पर वैसा नहीं पड़ेगा जैसा उसके घर का है? वे तो खुद ही साहब लोग बने रहते हैं। हम तो भाई देसी आदमी हैं, वैसी ही हमारी लड़की भी होगी।"

"मैं तो कहती हूँ, इन लोगों को क्या होगया है कि लोक-लाज का खयाल ही नहीं। शाम हुई और लेडी बनकर मोटर पर हवा खाने को चल दीं। मुझसे भी तो कहती थीं। मैंने कहा, क्षमा कीजिए, मुझे फ़ुर्सत कहाँ जो घर से निकलूँ। मरने तक की तो फ़ुर्सत नहीं।"

कुछ देर और इसी तरह की बातचीत होती रही। अख़ीर में विजय पतिदेव की हुई। दूसरे दिन से सुखदेई पाठशाला जाने लगी।

मुहल्ले में खबर फैल गई। 'लेडी' और 'पड़ोसिन' और 'मिसेज़' इत्यादि जो जो कभी भी गृहिणी से मिल चुकी थीं, मिलने आने लगीं। लेडी और मिसेज़ ने तो बधाई दी, मगर कुछ न कुछ नुक़्स उन्होंने एक दूसरे की लड़कियों में अवश्य बताये जो उनको आशा थी, सुखदेई में नहीं रहेंगे। वे अलग अलग आई थीं, ज़रा देर तक बैठ गईं। संध्या होने लगी थी। डिप्टी साहब के लौटने का समय हो चुका था। गृहिणी बात तो करती थी लेडी से, किंतु घड़ी घड़ी रसोई की तरफ़ देखने लगती। लेडी को बुरा मालूम हुआ और वे चली गईं।

उन्होंने दूसरे दिन मिसेज़ से शिकायत भी की—"कैसी फूहड़ औरत है? न मुझसे चाय पीने को कहा, न कोई खातिर की। घड़ी घड़ी दरवाज़े को देखती थी, मानो मेरा बैठना अच्छा ही न लगता था।" मिसेज़ ने

उनसे सहानुभूति दिखाते हुए कहा—मैं भी कल गई थी। ३ बजे के बाद उसका मेरे साथ भी यही बर्ताव रहा। साढ़े चार बजे उसके पति आते हैं। उनके खाने-पीने का इंतज़ाम भी तो करना था।

"तो क्या मैं नहीं करती हूँ या तुम नहीं करती हो? मगर हम मेहमान से माज़रत तो करती हैं।"

"उसे इसका पाठ नहीं पढ़ाया गया है। फिर वह हमारे सामने खाये-पिये कैसे?"

उधर पड़ोसिन और गृहिणी में ख़ूब खुल कर बातें हो रही थीं।

गृहिणी ने कहा—"बहन कल और परसों तो मुझे बड़ी घबराहट थी। लेडी कल आई थी और मिसेज़ परसों, हलवा-पूरी का सामान महरी से ही निकलवाना पड़ा। न जाने कितना उड़ा गई होगी। अब तुम हो, तुम्हारे सामने मैं सब काम कर सकती हूँ, उनके सामने तो बैठक से उठ भी न सकी। तुम जैसे पूरी बेलने तक लगती हो, वे भला क्या यह करतीं? उनके तो हाथ गंदे हो जाते। हमारी तुम्हारी तरह वे इन बातों की परवा थोड़े करती हैं कि नौकर के हाथ कोठार की चाभी न जाय।"

पड़ोसिन उनसे बिलकुल सहमत थी। चार बजते ही चकला-बेलन छोड़कर वह उठ खड़ी हुई कि बाबू जी आते होंगे, मैं अब जाती हूँ। गृहिणी ने दो-एक क़समें देकर उन्हें दो पूरियाँ और हलवा खिलाकर बिदाई दी।

नाश्ते के समय गृहिणी ने पड़ोसिन का हाल सुनाते हुए लेडी और मिसेज़ की कुल बातें दोहराई और यह नतीजा निकाला कि घर-गृहस्थी का ख़याल वे नहीं रखतीं और न पढ़ने-लिखने के बाद कोई स्त्री वह ख़याल रख ही सकती है।

डिप्टी साहब जानते थे कि घर-गृहस्थी के मामले में क्या लेडी और क्या मिसेज़; क्या गृहिणी और क्या पड़ोसिन सब ही एक मत की होती हैं; कुञ्जी का गुच्छा उन सबकी कमर में छन-छनाया करता है—उन्नीस-बीस का चाहे बल हो। किन्तु वे चुप ही रहे। सोचा कि कहीं गृहिणी अपमान न समझ जायँ।

[४]

गुड्डे-गुड़िया की शादी अपने बचपन में गृहिणी ने कई दफ़े की थी। अब समय था कि जीवित गुड्डे-गुड़िया ब्याहे जायँ, सुखदेई भी बारह-तेरह साल की हो चुकी थी। आर्य-कन्या-पाठशाला में चार बरस तक पढ़ी थी। अब गृहिणी किसी तरह आगे पढ़ाने को राज़ी न थीं। पड़ोसिन भी रोज़ ही उन्हें उसकाती रहती थीं। इन चार वर्षों में उसमें कुछ अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। हाँ, ज़रा लम्बी हो गई थी। और घूँघट ज़रा-सा आगे की तरफ़ आ चला था। पड़ोसिन कई दफ़े मुँह पर प्रशंसा कर चुकी थी कि वाह हमारी सुखदेई मोतियों में तोलने योग्य है। अजी पाठशाला में पढ़कर भी वह मिस नहीं बनी, सुखदेई गर्व से फूल जाती।

उसकी माता से मिलनेवालियों में घूँघट का फ़ैशन था। घूँघट न काढ़नेवाली बेशर्म समझी जाती थीं। कभी कभी लेडी और मिसेज़ के बच्चों को घूमते-फिरते, उचकते-कूदते देखकर उसका भी जी उनमें सम्मिलित होने को चाहता था। वह उन्हें अपने कोठे पर से घण्टों देखा करती और रात होते होते उसके मन में यह विचार फिर उठता कि कैसी बेशर्म लड़कियाँ हैं जो लड़कों के साथ खेला करती हैं। माता जी भी इस बेशर्मी पर एक लेक्चर झाड़ देतीं। यह सच है कि ज्यों ज्यों ज़माना आगे बढ़ता गया, उनकी लेक्चरबाज़ी में कमी होती गई, मगर वे फ़ैशन की लकीर को पीटे ही जातीं। "भूत-भविष्य से वास्ता" न रखते हुए भी उन्हें अपनी सुखदेई के भविष्य का बड़ा ख़याल था, वे सुयोग्य वर की खोज में रात-दिन रहतीं।

सुयोग्य वर वे केवल उसे समझती थीं जिसके घर में खाने को काफ़ी हो, स्त्री को कपड़ा अच्छा पहना सके और अगर सरकारी अफ़सर न हो तो कम से कम उसका लड़का तो ज़रूर हो। दो-एक ऐसे लड़के ध्यान में थे, किन्तु वे काफ़ी पढ़े-लिखे न थे, अतएव परमात्माशरण ने अस्वीकार कर दिया। सबसे अच्छा लड़का उन्हें मिसेज़ का ही मालूम होता था। मगर मिस्टर ख़ाली वकील थे, जो १९२२ में छः महीने असहयोग-आन्दोलन

में जेल में रह चुके थे और अब भी कांग्रेस-आन्दोलन में भाग लेते थे। पैसे की तङ्गी ने वकालत शुरू करने पर उन्हें मजबूर कर दिया था, मगर सरकारी कर्मचारियों को सन्देह बना रहता था, क्योंकि मिस्टर मिसेज़ और उनके बच्चे सभी खद्दर के सिवा किसी वस्त्र का व्यवहार न करते थे।

मिस्टर का सुयोग्य पुत्र कालेज में पढ़ाने की नौकरी पा गया था। मगर वह सरकारी नौकरी न होने से गृहिणी को संतोष न था। वे कहती थीं कि और नौकरियों से किसी दम भी निकाले जा सकते हैं, सरकारी से नहीं। यही तो अँगरेज़ी राज में फ़ायदा है। उन्हें इसकी क्या ख़बर थी या क्या परवा थी कि कोई भी सरकार आवश्यकता पड़ने पर हज़ारों आदमियों को काम से अलग कर सकती है। फिर भी डिप्टी साहब ने उन्हें राज़ी कर ही लिया। मिसेज़ और मिस्टर और उनका पुत्र भी राज़ी हो गये और विवाह हो गया।

सुखदेई की ससुराल का रंग ही दूसरा था। घूँघट पहले ही दिन उठा दिया गया। कौन लड़की मुँह पर से पर्दा उठाकर ख़ुश न होगी। घर में सभी को मोटे खादी के वस्त्र पहने देख उसे मायके के विलायती वस्त्रों के पहनने में लज्जा आती। गृहिणी ने बेटी के आग्रह पर कुछ खादी मँगवाई और उन्हें वह आँखों से देखते ही चुभने लगी। मोल तो ले ली, मगर बेटी को पहने देखकर बहुत ही दुखी हुईं।

"तू तो बिलकुल ही गांधी जी की चेली बनी जाती है। उन्होंने सारे शहर को गँवार बना रक्खा है। न जाने कहाँ ले जाकर झोंकेंगे"?

पिता जी बेटी को ख़ुश देखकर ख़ुद भी प्रसन्न थे। वे व्यंग्य से बहुधा कहा करते—तू तो खरबूज़े की तरह रंग पकड़ गई।

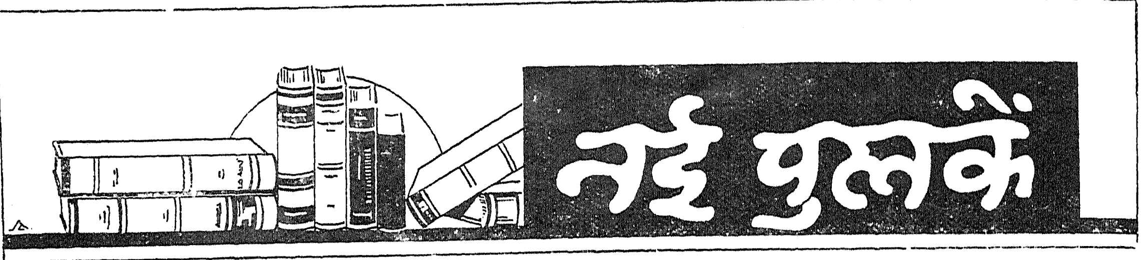
दो बरस तक 'मूक वाणी' ने जब कभी बेटी को देखा, खादी और गांधी जी को दो-चार कटु शब्द सुनाये बिना न रही। परन्तु बेटी और दामाद की खादी पर भक्ति देखकर उन्होंने खादीधारियों को कोसना छोड़ दिया।

१९३० का राजनैतिक आन्दोलन शुरू होने पर कांग्रेस ने उसमें स्त्रियों को सम्मिलित होने का आदेश किया। हर अवस्था और हर श्रेणी की स्त्रियाँ बाहर निकल पड़ीं। सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में जुलूस में सम्मिलित होने लगीं। कोई जुलूस ऐसा न होता जिसमें सुखदेई अपनी सास के साथ सबसे आगे न हो। उसने कई लाठी चार्ज भी अपनी आँखों देखे और दो-एक दफ़े उनकी चपेट में आकर चोट भी खा गई।

गृहिणी बेटी की करतूत सुन सुनकर बहुत घबराती थीं, मगर वह उनके डर की सदा हँसी ही उड़ाती। शुरू शुरू में वे रोज़ ही एक-दो दफ़े यह सोच कर कि बेटी लहू में सनी शाम को आवेगी, रो लेतीं, परन्तु उस पर असर ही न होता।

वह रोज़ ही माता से भी जुलूस में चलने को कहा करती। "अम्मा चल कर देखो तो कोई डर थोड़े ही है"। रोज़ कहने का असर कब तक न होता। पतिदेव की चोरी से जब वे कचहरी गये हुए थे, गृहिणी जुलूस में सम्मिलित होने को चल दीं—वे गृहिणी जो किसी भी स्त्री को घर से बाहर जाते देख न मालूम क्या क्या कह डालती थीं, न केवल स्वयं ही बेटी के आग्रह पर बेपर्द सड़कों पर फिरीं बरन पड़ोसिन को भी साथ पकड़कर ले गईं।

उस दिन से मिसेज़ और लेडी की तरफ़ से उनका भाव कुछ बदलने लगा और जिस दिन सुखदेई को पकड़कर पुलिस ने और स्त्रियों के साथ लारी में भरा उसी दिन से वे स्वदेशी का व्यवहार भी करने लगीं। बेटी का मुक़द्दमा भी देखने वे मिसेज़ के साथ गईं। लोगों ने देखा कि घूँघट हट गया था, तो भी माथे तक पहुँचा था। इस व्यवहार से उन लोगों के हृदयों में जो गृहिणी को मूक बनाये अन्धकार में ही रखना चाहते थे, घबराहट पैदा हो गई।



[प्रतिमास प्राप्त होनेवाली नई पुस्तकों की सूची । इनका परिचय यथासमय प्रकाशित होगा ।]

१—धर्म-ज्योति (थियोसॉफ़ी धर्म-सम्बन्धी)—लेखक, श्रीयुत जगतनारायण बी० एस्-सी०, एफ़्० टी० टी० एस०, प्रकाशक, बिहार प्रान्तीय थियोसोफ़िकल फ़ेडरेशन, पटना हैं। मूल्य केवल १।) है।

२—रत्नाभरणम् (ज्योतिष-सम्बन्धी एक संस्कृत पुस्तक है)—लेखक, श्री कन्हैयालाल शर्मा, महल्ला सिद्धेश्वरी, काशी हैं। मूल्य २) है। लेखक से प्राप्त।

३—लिली (कहानी-संग्रह) लेखक, श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", प्रकाशक, श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। मूल्य १) है।

४—विद्यार्थी (उपन्यास) लेखक—श्री रामदीन, प्रकाशक, श्री बलराम पाठक, वाणी-विभूषण-विद्यालय, राँची हैं। मूल्य ।॥) है।

५—शूल-फूल (कविता) लेखक, श्री नरेन्द्र बी० ए०। प्रकाशक साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद हैं। मूल्य ॥) है।

६—जापानी बाल-कहानियाँ—लेखक, कन्हैयालाल दीक्षित, प्रकाशक, श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य ॥) है।

७—अछूत (एक सामाजिक खंड-काव्य)—रचयिता, श्री बुद्धिनाथ झा "कैरव", प्रकाशक, हिन्दी-सेवा-मंदिर, देवघर, संथाल परगना हैं। मूल्य ।≈) है।

८—दुलारे-दोहावली (कविता)—लेखक, श्री दुलारेलाल भार्गव, प्रकाशक गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ हैं।

९—इंडियन रेलवेज़ (एक अँगरेज़ी की पुस्तक)—लेखक, आर० एन० किचलू बी० एस-सी०, प्रकाशक, आर० एन० किचलू०, ३७ कचहरी रोड, इलाहाबाद हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है।

१०—गीता-प्रवेशिका—लेखक, मोहनदास करमचन्द गांधी, प्रकाशक, सीताराम सेकसरिया, शुद्ध खादी भण्डार, १३२।१ हरिसन रोड, कलकत्ता है। मूल्य केवल एक पैसा है।

११—चारु चयन—(कविता) संग्रहकार, श्री हनुमान शर्मा, चौमूँ, जयपुर हैं। श्रीमान् ठाकुराँ देवीसिंह जी साहब चौमूँ की आज्ञा से बिना मूल्य वितरणार्थ प्रकाशित।

१—सुगम-ज्योतिष—लेखक, कूर्माचलीय पंडित देवीदत्त जोषी हैं। मूल्य ६॥) है, डाक-व्यय अलग। मोहल्ला गल्ली, अल्मोड़ा के पते पर ग्रन्थकार से प्राप्य।

यह पुस्तक प्रथम बार लगभग दस वर्ष हुए छपी थी और उस समय ज्योतिष के प्रेमियों ने इसका विशेष रूप से आदर किया था। अब पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो गया है। इस संस्करण में बहुत-से नवीन और लाभदायक विषय बढ़ाये गये हैं, यहाँ तक कि इसका आकार प्रायः दूना हो गया है। प्रथम और द्वितीय संस्करणों की तुलना करने से विदित होता है कि पिछले दस वर्षों में इस पुस्तक के विद्वान् रचयिता ने ज्योतिष शास्त्रों की ओर भी बहुत छानबीन की है तथा अनेक हस्तलिखित पुस्तकों से भी लाभ उठाया है जो अभी तक छपी नहीं हैं। ये पुस्तकें जोषी जी को अपने ही

वंश की पुस्तकशाला में मिलीं। इस वंश में ज्योतिष का प्रचार कई पीढ़ियों से चला आया है। आपके वृद्ध-प्रपितामह लखनऊ में अवध के नवाब वज़ीर दरबार के प्रधान ज्योतिषी थे। आपके और भी कई पूर्वजों ने राज-दरबारों में सम्मान लाभ किया था। जोषी जी ने इस नवीन संस्करण में प्रचलित ग्रन्थों ही का नहीं, किन्तु अपनी कुल-परम्परागत विद्या का भी उपयोग किया है। इस पुस्तक में ज्योतिष-सम्बन्धी प्रायः सभी विषय बड़ी सरल रीति से समझाये गये हैं। मूल के साथ साथ सरल हिन्दी अनुवाद भी है और आवश्यकतानुसार टिप्पणियाँ और उदाहरण भी दे दिये गये हैं। अतएव इस पुस्तक की सहायता से संस्कृत न जाननेवाले लोग भी जन्मपत्र और वर्षफल बना सकेंगे। पुस्तक केवल ज्योतिष-प्रेमियों ही के लिए नहीं, किन्तु ज्योतिष-व्यवसायियों के लिए भी लाभदायक होगी। इस नवीन संस्करण में इतनी नई और काम की बातें बढ़ाई गई हैं कि जिनके पास प्रथम संस्करण विद्यमान है उनके लिए भी इस नये संस्करण की एक प्रति मँगाना व्यर्थ न होगा। आशा है, इस पुस्तक के तीसरे संस्करण में छपाई और काग़ज़ की उत्तमता की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा।

२-४—तरुण-ग्रन्थावली, दारागंज, प्रयाग की तीन पुस्तकें

(१) **सरदार-बा** (नाटक)—लेखक, श्री 'कुमार-हृदय', मूल्य सजिल्द का १), पृष्ठ-संख्या ७९। 'कुमार-हृदय' जी का यह पहला ही नाटक है। कथानक साधारण और पुराना-सा है। सरदार-बा रानीपुर के अधीन जागीरदार खेमराज की सुपुत्री है। क्षत्रियाणी और राजपूतनी के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। गुजरात का सूबेदार रहमतखाँ लगान की वसूली के लिए रानीपुर पहुँचता है। उसकी दृष्टि सरदार-बा पर पड़ती है और वह उसे अपनी करना चाहता है। सरदार-बा का भाई मूलराज गिरा हुआ आदमी और शराबी है। रहमतखाँ नशा पिलाकर उसके साथ जुआ खेलता है और फिर खेमराज को पत्र भेजता है कि मूलराज अपनी बहन को बाज़ी में हार गया है, साथ ही लिखता है कि सरदार-बा को दे दो तो इस साल का लगान माफ़ कर दिया जायगा। खेमराज अपनी रक्षा और युद्ध के लिए तैयार होते हैं। युद्ध होता है। खेमराज और उनकी स्त्री क़ैद होते हैं। सरदार-बा रहमतखाँ के खेमे से उसे शराब पिला, बेहोश कर भाग जाती और जङ्गल में एक साधु की कुटी में शरण लेती है। चन्द्रावती के राजकुमार बैरीसिंह से उसकी भेंट होती है, दोनों में प्रेम पैदा होता है। राजकुमार फिर युद्ध करता है। रहमतखाँ हारता है। खेमराज वग़ैरह मुक्त होते हैं और सरदार-बा का विवाह बैरीसिंह से होता है। गुजरात के अधीन जागीरदार स्वतंत्र होते हैं, रहमतखाँ मारा जाता है। गुजरात के विद्रोह के दमन के लिए दिल्ली से सेना भेजी जाती है। सिपह-सालार खुशरूखाँ गुजरात पहुँचते हैं। भीषण युद्ध होता है, खेमराज का राज्य नष्ट होता है, कुमार बैरीसिंह युद्ध में मारे जाते हैं, सरदार-बा क़ैद होती और खुशरूखाँ के खेमे में पहुँचाई जाती है। वह कौशल से नशे में बद-होश कामुक खुशरूखाँ को शराब पिला कर बेहोश करती है और कटार से उसकी हत्या कर निकल भागती है और पति के समाधि-स्थल पर पहुँच कर आत्म-हत्या कर लेती है। 'कुमार-हृदय' जी होनहार कवि और नाटककार हैं, एक दिन वे बड़े भी हो सकते हैं यदि उन्होंने अपने ज्ञान-भाण्डार की वृद्धि की और इसी तरह से साहित्य-सेवा में लगे रहे।

(२)—**निशीथ**—लेखक, श्री कुमार-हृदय हैं, मूल्य ।॥) है। यह लेखक का दूसरा नाटक है। विधवाओं की हीन-दशा पर देश का ध्यान आकृष्ट करने के लिए, साथ ही समाज की क्रूरता और पाशविकता दिखाने के उद्देश से यह लिखा गया है। भाषा साहित्यिक और ओजपूर्ण है। नाटक के लिए भी और यों भी अगर लेखक हिन्दी को हिन्दी रहने दें और संस्कृत शब्दों से उसे न भरें तो अच्छा हो। लेखक होनहार प्रतीत होते हैं। कल्पना में कहीं कहीं लेखक असम्भव बातों को सम्भव कर गये हैं। सुन्दरी भागती है, एक-दो से अधिक साधु के चेले पकड़ने के लिए पीछा कर रहे हैं। फिर भी सुन्दरी दौड़ कर निकल जाती है और गंगा में कूद पड़ती है। यह बात

जल्दी समझ में नहीं आती। पहले ही दृश्य में एक भिखारिणी सुन्दरी से प्रश्न कर बातें शुरू करती है और फिर सुन्दरी के जवाब देते ही प्रश्न करने पर "मत पूछो, याद मत दिलाओ" की धुन लगाती है। अच्छा यह होता कि सुन्दरी स्वयम् ही भिखारिणी से बातें आरम्भ करती और प्रश्न करती।

(३)—**फूलवाली**—अनुवादक, पंडित देवीप्रसाद जी द्विवेदी हैं, पृष्ठ-संख्या ३२४ और मूल्य २) है।

बङ्गाल के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य के ग्रन्थ का यह अनुवाद है। तरुण-भारत-ग्रन्थावली कार्यालय ने इस उपन्यास को प्रकाशित कर अपना नाम सार्थक कर लिया है। बहुत ही सुन्दर उपन्यास है।

ग्रन्थकार ने जीवन के मोह के कारण जिस कौशल का उपयोग किया है उससे उपन्यास की उपयोगिता और महत्ता कुछ कम हो जाती है, फिर भी प्रत्येक भारतवासी को 'फूलवाली' की शिक्षा को हृदय पर अङ्कित कर लेना चाहिए।

५—**राष्ट्र-धर्म**—लेखक, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक, राष्ट्र-धर्म-ग्रन्थ-माला, कार्यालय; ३ सुखलाल जौहरी लेन, कलकत्ता हैं। पृष्ठ-संख्या १२६, मूल्य ।।) है।

पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और विचारणीय है, प्रत्येक बालक, बालिका, युवा और युवती को इसका पाठ करना चाहिए। सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की कितनी आवश्यकता है और उनके न होने से भारतीय नर-नारियों का कितना अहित हो रहा है, पुस्तक को पढ़ने से यह हृदयङ्गम हो जायगा। लेखक को उसके साहस और उपयोगी पुस्तक की रचना पर हम बधाई देते हैं। आवश्यक यह है कि इस ग्रन्थ का उर्दू में संस्करण किसी मौलाना के नाम से प्रकाशित हो, जिससे प्रत्येक मुस्लिम बालक और बालिका इसे पढ़ सकें और इसकी बातों पर विचार कर सकें। "ईश्वर और धर्म केवल ढोंग हैं" के लेखक को विद्यालङ्कार जी से उद्देश्य की सिद्धि के लिए शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, साथ ही जो लोग मुस्लिम-पक्षपात का तीर चला कर, हिन्दुओं को खरी-खोटी सुना कर, व्यर्थ ही हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का राग अलापा करते हैं उनको भी 'राष्ट्र-धर्म' से सबक़ सीखना चाहिए और सार्वभौमिक बन्धुत्व, साथ ही हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध के सच्चे ऐक्य का मंत्र सीखना चाहिए।

६—**ग्राम-सुधार**—लेखक, पंडित गणेशदत्त शर्मा गौड़ "इन्द्र", प्रकाशक, श्री मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर हैं। मूल्य १) है।

भारत में इस समय सर्वश्रेष्ठ आवश्यकता "ग्राम-सुधार" की है। ग्राम-संगठन के बिना स्वराज्य केवल स्वप्नमात्र है। भारत का तब तक भाग्योदय असंभव है जब तक पढ़े-लिखे लोग ग्रामों में जाकर बसना और उनके उद्धार का आयोजन शुरू नहीं करते। भारत-सदृश कृषि-प्रधान देश में ग्राम-संगठन-संबन्धी साहित्य का अभाव भी दुखदायी है। गौड़ जी ने इस पुस्तक की रचना कर अच्छा काम किया है। पुस्तक अपने ढंग की कदाचित् पहली ही पुस्तक है। ऐसी दशा में इसमें कमियों का होना स्वाभाविक ही है। फिर भी ग्रामों के प्रेमियों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए।

७—**जीवन-पथ**—अनुवादक—श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा "मुक्त"; प्रकाशक, उत्थान-ग्रन्थमाला कार्यालय, बाज़ार सीताराम, दिल्ली हैं। मूल्य ।।।) है। यह बँगला उपन्यास का अनुवाद है। अनुवाद अच्छा है, भाषा सरस और स्वाभाविक है। उपन्यास की कथा भी मार्मिक और अच्छी है।

८—**मीठी तानें**—रचयिता—श्री देवीदयाल "मस्त"; प्रकाशक, नर्मदा बुकडिपो, जबलपुर है। मूल्य ≶) है। 'बाल-साहित्य' की यह ४० पृष्ठ की पुस्तिका है। भूमिका 'सरस्वती' सम्पादक पं० देवीदत्तजी शुक्ल ने लिखी है। सोलह कहानियाँ सरल पद्य में हैं, बच्चों के पढ़ने और मनोरंजन की अच्छी चीज़ है। कहानियाँ सचित्र हैं।

—'एक पुस्तक-प्रेमी'

९-११— गौड़-पुस्तक भण्डार की ३ पुस्तकें !

(१) अश्रुकण लेखक, श्री पुरुषोत्तमदास जी गौड़ 'कोमल' हैं। मूल्य १) है। यह एक सामाजिक उपन्यास है जो पत्र-रूप में लिखा गया है। शैली कविता-मय है। कमला नाम की एक विधवा है। उसका

एक नवयुवक से अनुचित सम्बन्ध हो जाता है। उसके फलस्वरूप वह घर छोड़कर भागने को बाध्य होकर जब उस युवक से कहती है तब वह युवक निराशा-पूर्ण उत्तर देता है। अन्त में वह घर छोड़कर चली जाती है। उसे अपने बच्चे की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। और जब वह बालक मर जाता है, वह आत्महत्या कर लेती है।

विधवा के हृदय के उच्छ्वासों को प्रदर्शित करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है, किन्तु कहीं कहीं पर प्लाट में शिथिलता आ गई है। विधवा का चरित्र बड़ा निकृष्ट चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि पुस्तक किसी अंश में अश्लील हो गई है। मूल्य भी अधिक प्रतीत होता है।

(२) **स्वर्ग की सीढ़ी**—लेखक, श्री पुरुषोत्तमदास जी गौड़ हैं। मूल्य ।≡) है।

यह पुस्तक छोटी छोटी ६ कहानियों का संग्रह है। भाषा सरल है। बच्चों का चित्त पढ़ने में लगेगा। 'मुन्नू भिखारी' और 'गोबरा' शीर्षक कहानियाँ विशेष उल्लेख-नीय हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कहानियाँ—'उदयन', 'वनवासी राजा' आदि भी अच्छी हैं। पुस्तक सुन्दर है।

(३) **अन्तर्नाद**—लेखक, श्री अनन्तप्रसाद विद्यार्थी हैं, यह पुस्तिका विधवा के मुँह से कहलाई गई उसकी व्यथा की करुण कहानी है। भाषा ललित और कोमल है।

—केतकीदेवी गौड़ 'रश्मि'

१२—**जयन्त**—लेखक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग हैं। मूल्य ।।।), पृष्ठ-संख्या सवा सौ है।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और लेखक हैं। अब तक आपने 'कविता' और गद्य की सुन्दर पुस्तकों के लिखने में ही प्रवीणता दिखाई थी, परन्तु अब आपने नाटक-रचना की ओर भी क़दम बढ़ाया है। यह आपका प्रथम 'मौलिक नाटक' है। आपको इस पुस्तक के लिखने में केवल एक सप्ताह ही ख़र्च करना पड़ा है। नाटक का कथानक आपके 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' काव्य-ग्रन्थों के कथानकों से मिलता-जुलता है। साथ ही 'भोला शिकार' नामक फ़िल्म के कथानक से भी इसका कथानक टक्कर खा जाता है। पुस्तक का उद्देश पूँजीवाद और अर्थ-पिशाचों के विरुद्ध बग़ावत और निर्धनता तथा ग़रीबी के जीवन का प्रचार करना है। पुस्तक का जहाँ तक कथानक, भाषा और उद्देश्य से सम्बन्ध है वहाँ तक लेखक को सफलता मिली है।

किन्तु जब हम रङ्गमञ्च और नाट्यकला को सामने रखकर इसकी परीक्षा करते हैं तब यह खरा नहीं उतरता। अनेक दृश्य पुस्तक में ऐसे हैं जिनके रङ्गमञ्च पर अभि-नीत होने में बड़ी कठिनाई होगी। जयन्त (डाकू) के कई दृश्य ऐसे हैं जो रङ्गमञ्च पर अभिनीत नहीं हो सकते। फिर कुछ ऐसी बातें भी कहीं कहीं लिखी गई हैं जो अवसर के प्रतिकूल भी हैं।

नाटक का सबसे प्रधान गुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। किन्तु इस पुस्तक में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अभाव है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि लेखक ने एक कथानक तैयार करके जल्दी से जल्दी उसे अङ्कों और दृश्यों में विभाजित करके नाटक का रूप दे दिया है।

'जयंत' त्रिपाठी जी की पहली नाट्य-रचना है, इस-लिए त्रिपाठी जी को इस नवीन प्रयास के लिए बधाई है।

—ज्योतिःप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

१३—श्री काशी-ज्ञानमंडल का सौर पञ्चाङ्ग (संवत् १९९१ विक्रमी) और **रोज़नामचा**—'पञ्चाङ्ग' के सम्पादक पण्डित बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य्य, ज्योतिष-तीर्थ हैं। इसका मूल्य चार आने हैं।

अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी यह पञ्चाङ्ग तथा रोज़नामचा पूर्ववत् विशेषतायें लेकर प्रकाशित हुए हैं।

'पञ्चाङ्ग' में पञ्चशलाका तथा सप्तशलाका-चक्र, गृह-प्रवेश-मुहूर्त्त, वर्षा-ज्ञान, लाभ-हानि-बोधक चक्र, ग्रहण आदि आदि पञ्चाङ्ग-सम्बन्धी सभी बातें अत्यन्त उत्तमता से प्रकट की गई हैं। घड़ी, पल के सिवा घंटा, मिनट का भी प्रयोग हुआ है। दोपहर दिन बारह बजे के बाद '१', '२' बजे आदि की जगह सुभीते के लिए '१३' '१४'

आदि संख्यायें दी गई हैं। सौर-तिथि-पत्र बड़े अङ्कों में दीवारों पर लटकाने लायक़ दिया गया है। साथ ही साथ टाइप में ऊपर चान्द्र तिथि, पक्ष तथा नीचे अँगरेज़ी तारीखें दी गई हैं।

सौर-तिथि देश-भेद के कल्पनानुसार भिन्न भिन्न होती है, इस कारण इस पञ्चाङ्ग में सौर-तिथि की कल्पना ऐसी की गई है जिससे अनेक बातों में सुभीता होता है।

ज्योतिषियों तथा सर्व-साधारण के नित्य-प्रति के लिए यह पञ्चाङ्ग उपयोगी है।

रोज़नामचा का मूल्य ।।) है और यह भी 'ज्ञान-मण्डल' की एक ख़ासी उपयोगी चीज़ है।

—सुन्दरलाल शर्मा, द्विवेदी

१४—इटली का शहीद (महात्मा सावोनारोला)—लेखक, प्रोफ़ेसर बेनीमाधव अग्रवाल, एम० ए०, नालन्द कालेज, बिहार; प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-मंडल, भारत प्रिंटिंग वर्क्स, बाज़ार सीताराम, देहली हैं; पृष्ठ-संख्या २६६, सजिल्द का मूल्य २) है।

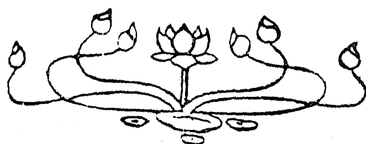
महात्मा सावोनारोला अब से ४५० वर्ष पहले इटली में हुए थे, किन्तु उनकी जीवनी हमारे लिए इस समय के सभी प्रश्नों पर प्रकाश डालनेवाली है। उस समय धार्मिकता के प्रति जैसी उदासीनता उत्पन्न हो रही थी, जिस प्रकार कला, मानवत्ववाद, सौंदर्य आदि के नाम पर उच्छृंखलता, विलासिता और व्यसन को स्थान मिल रहा था, प्रायः उसी प्रकार इस समय भी हो रहा है और सौभाग्य से इस समय भी महात्मा सावोनारोला जैसा महान् पुरुष हमारे देश में इन कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध सिंहनाद कर रहा है। पर हमारी आँखें चौंधियाई हुई हैं और हमारे हृदय इतने अधिक समय की पराधीनता के कारण जीवन-हीन से हो गये हैं, इसी लिए हमें न उसके कर्म प्रभावित करते हैं, न उसकी वाणी। ऐसे समय में इटली के शहीद की यह जीवनी हमें अपने समय के और अपने देश के महात्मा को पहचानने में और उसका अनुयायी बनने के लिए सच्चा प्रयत्न करने में बहुत बड़ी सहायता दे सकती है।

इटली के उस समय के शासनकर्ता लारेन्ज़ो के दरबार में जो कवि थे उनमें से अधिकांश में काव्यप्रतिभा थी, किन्तु संयम न था। अतः वे अपनी प्रतिभा का सदुपयोग न कर सकते थे। वे तो कवि का ऐसा होना शायद आवश्यक समझ बैठे थे। उनकी कविता से कामुक विचारों को उत्तेजना मिलती थी। सावोनारोला कला का—सच्ची कला का—प्रेमी था, स्वयं एक अच्छा कवि था। वह इन असंयमी कवियों को झूठे कवि कहता था।

जब लारेन्जो मृत्युशय्या पर पड़ा था तब उसने इस महात्मा को बुलवाया। उसने अपने पापों की क्षमा चाही। पर जब सावोनारोला ने इसके लिए तीसरी शर्त यह पेश की कि प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी जाय; जिस एकाधिपत्य को उसने स्थापित किया था वह तोड़ दिया जाय, तब लारेन्ज़ो ने अपना मुँह फेर लिया। मरते समय भी वह सच्ची विजय न पा सका।

राजा के और पोप के—क्योंकि पोप भी, इस समय के कुछ रईसों और महन्तों की तरह कम विलासी न था—विरुद्ध उसने आवाज़ उठाई, कार्य किया, कठिनाइयों को झेला, अपमान और कष्ट को सहन किया और अन्त में सच्चे वीरों की तरह बलिवेदी पर—जो ऐसे सभी लोगों के सामने आती है—अपने प्राणों का बलिदान करके मृत्यु पर सदैव के लिए विजय पाई। यह विजय-गाथा प्रत्येक में साहस, उच्च अभिलाषा और संयम की इच्छा बढ़ाने में सहायता देती है।

—विजय वर्म्मा



हास-परिहास





"विवाह एक अलौकिक त्याग का क्षेत्र है।" यह बात किसी चन्द्रकला देवी ने 'चांद' में बड़े ज़ोर के साथ प्रकाशित कराई है। इधर बहुत दिनों से हम सोच रहे थे कि हमारे देश में विवाहितों में परस्पर अनुराग क्यों नहीं बढ़ता ? हम देवी जी के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने उस प्रश्न का उत्तर दे दिया।

× × × ×

हमारा देश त्यागियों का देश है। कदाचित् देश में बाल-विवाह का प्रचार भी इसी से खूब बढ़ा कि लोग बचपन से ही त्याग करना सीखें। अब साधुओं और संन्यासियों को जंगल में जाकर तपस्या करने की ज़रूरत नहीं। सच्ची तपस्या और अलौकिक त्याग तो ब्याह है। तब तो वे धड़ाधड़ ब्याह ही करेंगे।

× × × ×

कदाचित् यही कारण है कि हमारे समाज में कुमारी स्त्री का कोई स्थान नहीं है और विवाह अनिवार्य है। पता नहीं देवी जी उन लड़कियों से क्या कहेंगी जो आधुनिक ढङ्ग से पढ़ लिखकर विवाह करने से इनकार कर रही हैं। आधुनिक शिक्षा में यह अलौकिक त्याग कहाँ ?

× × × ×

अपने इसी लेख में देवी जी लिखती हैं—"यद्यपि हमारे यहां तलाक़ का दौर दौरा नहीं है, फिर भी हम लोगों का वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं है।" अरे ! अलौकिक त्याग से सुख का क्या सम्बन्ध ?

× × × ×

आदर्श स्त्री कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में देवी जी लिखती हैं—"आदर्श स्त्री वह है जो अपने आपको पुरुष की इच्छाओं और काम-वासनाओं पर बलिदान करती है।" धन्य है देवी जी को और धन्य है 'चांद' को जो भारत की स्त्रियों के लिए इस सुन्दर आदर्श का प्रचार कर रहा है !

× × × ×

इतने पर भी जो स्त्रियां 'समान अधिकार' की चर्चा करती हैं उन्हें क्या कहा जाय ? 'चांद' के एक दूसरे लेखक फ़रमाते हैं—"समान अधिकार की चर्चा करना जाल में फँसना है। खेद है कि हम भारतवासी भी उसी जाल में जकड़ते जाते हैं।" बेशक बेशक स्त्रियों को गुलाम बनाकर ही रखना चाहिए। और फिर जब 'चांद' में जो स्त्रियों का पत्र है, यह बात छपती है तब किसी अनुभव पर ही छपती होगी।

× × × ×

'चांद' के ये विद्वान् लेखक साहब लिखते हैं—"पश्चिमी लोगों का यह कहना कि तुम अपनी स्त्रियों को गुलाम समझते हो, उन्हें पशु की तरह रखते हो, ठीक है या नहीं यह प्रश्न अलग है।"

× × × ×

बेशक बिलकुल अलग, क्योंकि 'चांद' स्त्रियों को फिर से नायिका-भेद, पति की गुलामी और पर्दा आदि की ओर ले जाना चाहता है। नायिका-भेद पर नवीन ग्रन्थ रचने के लिए 'चांद' ने हरिऔध जी को बधाई दी है, क्योंकि उनकी कृपा से उसने देश-सेविका, जाति प्रेमिका, देश-प्रेमिका तथा लोक-सेविका आदि नई नई नायिकायें मालूम कर ली हैं।

× × × ×

(अगले पृष्ठ पर देखिए)

चिट्ठी-पत्री

क्या अम्भी ने सिकन्दर को सहायता की थी ?

शिवनिवास,
मिल्खीराम रोड, लाहौर।

प्रिय सम्पादक जी,

मैंने जिस लेख के सम्बन्ध में आपका ध्यान आकर्षित किया था वह है 'जाति की आन पर' इसे लेख कहिए या कहानी, किन्तु यह है ऐतिहासिक। इसके लेखक हैं श्री दुर्गादास भास्कर। यह जून १९३२ की सरस्वती में प्रकाशित हुई है। क्या आप कृपा करके इसके लेखक से इस कहानी की प्रामाणिकता का विवरण पूछेंगे? मुझे ग्रीक यात्रियों के सम्बन्ध में लिखी गई किसी पुस्तक में भी ऐसा विवरण नहीं मिला। बल्कि इसके विरुद्ध यह ज्ञात होता है कि पोरस से लड़ाई के समय अम्भी ने सिकन्दर की सहायता की। यदि यह लेख ठीक है तो अम्भी पोरस से युद्ध से पूर्व ही मर चुका था। केवल इसकी प्रामाणिकता चाहता हूँ।

लाहौर
१२—४—३४

—उदयशंकर

स्कूलों में क्यों पढ़ाये जाते हैं ?

प्रिय सम्पादक जी,

मैं पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी के साहस की प्रशंसा करता हूँ कि उन्होंने अपने साहित्यिक लेखों-द्वारा साहित्य के मुल्लाओं का ज़ोर कम कर दिया। मैंने अपनी एक लड़की को एक साहित्यिक परीक्षा देने से सिर्फ़ इसलिए मना कर दिया था कि उसे ऐसी किताबें पढ़नी पड़ती थीं जिनमें स्त्री-जाति का सरासर अपमान किया गया था और जो बहुत गंदी थीं। तिवारी जी का लेख पढ़ने से मुझे जान पड़ा कि मैंने उचित ही किया था। मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसे ग्रन्थ आज-कल के स्कूलों में क्यों पढ़ाये जाते हैं? जिनको शौक हो और जो गन्दी मनोवृत्ति रखते हों, वे बेशक जो चाहे पढ़ें, पर भोले-भाले बालकों और बालिकाओं पर यह गन्दगी क्यों लादी जाती है? क्या हिन्दी-साहित्य में इस गन्दगी के सिवा और कुछ है ही नहीं। पाठ्य पुस्तकों का नवीन दृष्टि से संशोधन होना अत्यावश्यक है। आशा है, इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले लोग मेरी प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

कानपुर
२३—४—३४

—गयाप्रसाद

हास-परिहास (५९९ पृष्ठ से आगे)

इनके अलावा भी 'चाँद' में नई नई नायिकाओं की रचना हो रही है। उदाहरण के लिए ईश्वर की प्रार्थना करती हुई एक स्त्री का चित्र छापकर उसने उस चित्र के नीचे एक कवि से लिखवाया है—

तेरा रूप देखकर अब तो, भूल गया मैं अपना ध्यान।
तेरा ध्यान लगाना लखकर करता हूँ मैं तेरा ध्यान॥

× × × ×

मतलब यह कि स्त्रियों को देखते ही 'चाँद' उन पर मुग्ध हो जाने, उन्हें नायिका समझने और उनसे कामुकता-पूर्ण प्रेम की प्रार्थना करने की सलाह देता है। माता, बहन, बेटी आदि शब्द शायद वह कोष से निकलवा देगा। क्या उन्नति की है!

× × × ×

थोड़े में भारत की स्त्रियों को उसका सन्देश यह है—

"भारत की स्त्रियो! अधिकार के भुलावे में मत पड़ो! अधिकार माँगना असभ्यता है। पर्दा मत छोड़ो। नहीं तो एक की नहीं, सैकड़ों-हज़ारों की गुलामी करनी पड़ेगी।" 'चाँद' के इस प्रचार-कार्य्य से प्रसन्न होकर उसके संस्थापक श्री रामरखसिंह सहगल हिमालय पहाड़ पर चढ़ने देहरादून चले गये हैं।

—सदानन्द

सन्देश

श्रीयुत पद्मकान्त मालवीय

पीलू बरवा



कह दो आ जायें एक बार,
बस एक बार उनको फिर से।
आँखें भर कर मैं लूँ निहार ॥

आकर वह जायें तुरत लौट,
होती होती हो जीत हार ॥

वे आयें बैठें चले जायँ,
बोलें या बिलकुल रहें मौन।
नैराश्य, कामनाभरी आँख,
मेरी लें उनका पद पखार ॥

निज से उतना ही हुआ दूर,
आये जितने ही वह समीप।
अब उर में मीठी टीस लिये,
रोता हँसता हूँ बार बार ॥

जीवित हूँ मैं संसार बीच,
अब तक केवल इस आशा में।
कुछ कह दें ये, वे भी सुन लें,
हो जायें आँखें अगर चार ॥

वह इतना अपमानित कर दें,
मिट जाये मेरा स्वाभिमान।
रह जाए अपना कुछ न शेष,
उर में बस उनका रहे प्यार ॥

तट से बिलकुल ही रहूँ दूर,
पर दिखलाई दें वह सदैव।
प्रेमोदधि में मैं आज डूब,
कर लूँगा निश्चय उसे पार ॥



मेरा योरप-प्रस्थान

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक



यह मेरी चौथी योरप-यात्रा है। पहली बार सन् १९११ के मई मास में मैं बोस्टन से मानचेस्टर गया था और योरप का पर्यटन किया था। दूसरी बार सन् १९२३ में फिर मई मास में ही आँखें सुधरवाने के लिए जर्मनी गया था। इस बार भी मैंने काफ़ी अनुभव प्राप्त किया था और फल-स्वरूप "मेरी जर्मन-यात्रा" नामक पुस्तक हिन्दी-संसार को भेंट की थी। फिर अक्टूबर सन् १९२७ में मैं तीसरी बार योरप गया और वहाँ तीन वर्ष तक रहा। हिन्दी मासिक पत्रिकाओं—ख़ासकर—'सरस्वती' में उस समय मेरे अनुभव-सम्बन्धी लेख बराबर निकलते रहे। उन अनुभवों का संग्रह—'मेरे योरप के अनुभव'—शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है, जो ला जर्नल प्रेस के स्वामी की कृपा से अभी तक मेरे प्रेमी पाठकों के सामने नहीं आ सका। नामुराद आर्डीनेंसों ने बाधायें उपस्थित कर दीं।

यह चौथी यात्रा पिछली सब यात्राओं से अनोखी है। इस बार मैं आँखों के इलाज के लिए तो जा ही रहा हूँ, पर मेरा इरादा जल्दी लौटने का नहीं। यदि मैं अपनी रोटी वहाँ कमा सका तो मैं वहीं धूनी रमाकर बैठ जाऊँगा ताकि सब पक्षपातों से अलग होकर एकान्त-सेवन कर सकूँ और अपनी स्वतन्त्रता की खोज को संसार के सामने धर सकूँ। जीवन की सभी समस्याओं पर मैंने पिछले तीस वर्षों में अपनी स्वतंत्र खोज की है। समय आ गया है कि पिछली रूढ़ियों के विरुद्ध न्यायपूर्वक विचार किया जाय। वर्ग-युद्ध की घोषणा करके घृणायुग लाने के इरादे से नहीं, बल्कि समाज को विकास-पथ पर आगे बढ़ाने के लिए।

मेरी विचार-धारा यूनानी संस्कृति के अनुकूल है और उसमें भारतीय अध्यात्मस्रोत का संगम है। मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि भारतीय अध्यात्मवाद यूनानी संस्कृति के बिना नपुंसक चीज़ है। उससे संसार का कुछ भी भला होनेवाला नहीं। भारतवर्ष में रह कर यदि मैं अपने देशवासियों के परम प्यारे लेकिन अत्यन्त हानिकारक पक्षपातों के विरुद्ध बोलूँगा तो लोग मेरे बहुत ख़िलाफ़ हो जायँगे और दुष्ट लोग जनता को बहकाकर मेरे पथ में अधिक बाधायें उपस्थित कर देंगे। अपने देशवासियों से दूर रहकर जब मैं इनके मिथ्या विश्वासों और लचर प्रमाण-वाद की धज्जियाँ उड़ाऊँगा तो इनकी आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा जल्द उठ सकेगा। नीरोग और ताज़ा विचारों के अभाव के कारण यह पुरानी आर्य-जाति विनाश के गढ़े में गिरी जा रही है। इसे बचाना हमारा कर्तव्य है।

योरप में रहकर काम करने का दूसरा बड़ा लाभ यह भी होगा कि कम्युनिज़्म का जो विष भारत के अबोध नवयुवकों में स्वार्थी और जल्दबाज़ लीडर फैला रहे हैं उसकी बुराइयाँ योरप में बैठकर अच्छी तरह से दिखलाई जा सकेंगी। साथ ही योरप के नये आन्दोलनों का सच्चा ज्ञान मिलते रहने से अपने देशवासियों को सच्ची सच्ची बातें बतलाई जा सकेंगी। हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन योरप के रंगमंच पर क्या गुल खिलाते हैं, इनकी कथा भी मेरे देशवासी मुझसे जान सकेंगे।

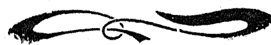
तीसरा लाभ योरप में रहने का यह होगा कि जो माता-पिता अपने लाड़ले बच्चों को जर्मनी में शिक्षा देना चाहेंगे वे मुझसे भरपूर सहायता पा सकेंगे। मैं अच्छा प्रबन्ध कर उनका डर दूर कर दूँगा, उनके बच्चे बिगड़ेंगे नहीं।

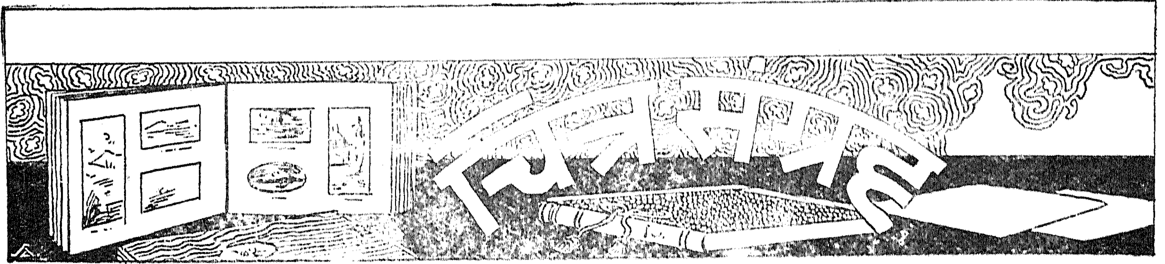
चौथे मेरी आँखें भारत के सूर्य्य की चमक-चौंध से बचेंगी। गर्द-गर्मी मुझे नहीं मारेगी और मैं बहुत वर्षों तक आँख से काम ले सकूँगा। डाक्टरों के अत्यन्त आग्रह पर सरकार ने मुझे पासपोर्ट देने की कृपा की है। इसमें भी ईश्वर का हाथ है। भारत रहकर मैं अपने मनोनुकूल कार्य्य नहीं कर सकता था, प्रभु ने मेरा द्वार खोल दिया। वही सर्वशक्तिमान् आर्थिक साधन भी जुटा देगा।

मैं २४ मई को लायड ट्रेस्टीगे कम्पनी के कोन्टे वरडे स्टीमर से वेनिस जा रहा हूँ। वहाँ से सबसे पहले आँखों के इलाज के लिए डाक्टरों के पास जाऊँगा। आँख के कष्ट से छूटने के बाद मैं अपना घोंसला तलाश करूँगा। जब घोंसला ठीक हो जायगा तब अपना पक्का पता समाचार-पत्रों में प्रकाशित करवाऊँगा। अभी कोई सज्जन मुझे पत्र न भेजें। मैं पत्र पढ़ नहीं सकता, इस कारण आँखों के सुधरे बिना सब काम बन्द रहेंगे। तीन मास तक तो कोई मुझे पत्र न भेजे। यदि भेजना अत्यावश्यक हो तो अँगरेज़ी में पत्र आना चाहिए, क्योंकि वह किसी से भी पढ़वाया जा सकेगा,—हिन्दी-पत्र यहाँ योरप में कौन पढ़ेगा।

'सरस्वती' के लिए सचित्र लेख बराबर भेजूँगा। पाठक 'सरस्वती' की ग्राहक-संख्या बढ़ाने की भरपूर कोशिश करें ताकि अधिक से अधिक उसे पढ़ सकें और लाभ उठावें। योरप इस समय ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है। कब आग की लपटें भभक उठें, कौन कह सकता है। ऐसे समय में मैं वहाँ मौजूद रहकर सब घटनाओं को भले प्रकार जान सकूँगा और लेखबद्ध कर सकूँगा। सचमुच यह मेरे सौभाग्य की बात है।

सहृदय पाठक, प्रभु से प्रार्थना कीजिए कि मेरी आँखें अच्छी हो जायें ताकि मैं अपने अनुभव आपको सुनाकर देश-सेवा कर सकूँ। आर्थिक सहायता के लिए भगवान् किसी के हृदय में प्रेरणा करेंगे और मैं निश्चिन्त होकर साहित्य-निर्माण कर सकूँगा।





नदरई का प्राचीन मन्दिर

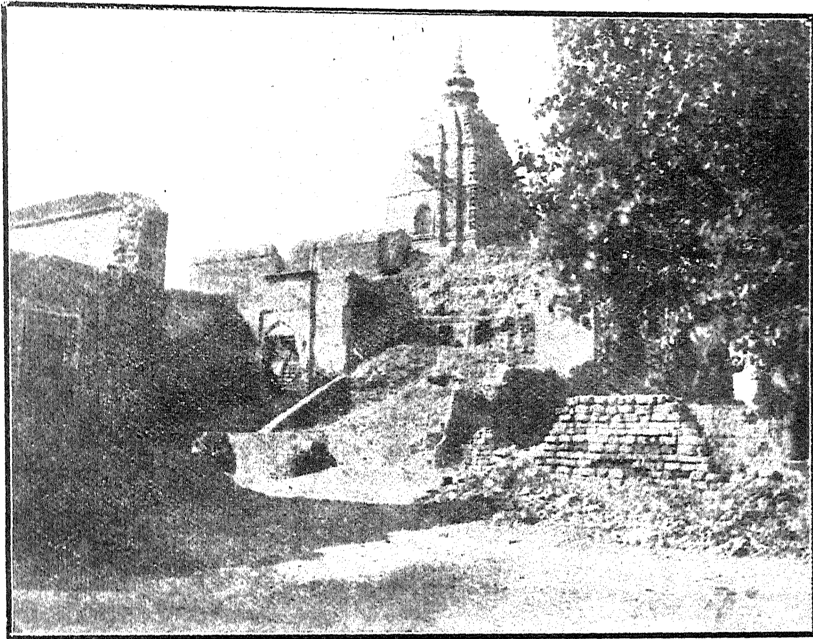
एटा-ज़िले के कासगञ्ज के पास नदरई नाम का एक गाँव है। किसी समय यहाँ के त्रिपाठियों का घराना बहुत सम्पन्न था। उनके वैभव का प्रमाण अब नदरई का उनका राजराजेश्वरी का टूटा-फूटा मन्दिर रह गया है। इस मन्दिर की गणेश और महावीर की मूर्तियाँ बहुत विशाल हैं। मन्दिर में एक बड़ा भारी घण्टा भी है जिसे उक्त त्रिपाठी-घराने के रिसालदार पण्डित भीमसेन जी ब्रह्मदेश से लाये थे। यह घंटा उन्हें अराकान-युद्ध



[ब्रह्मदेश का अष्टधातु का घंटा]

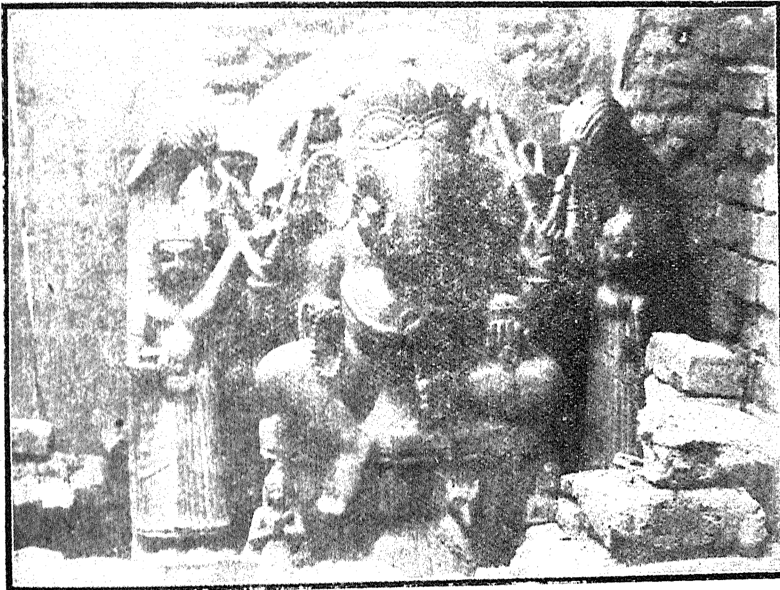


[हनूमान जी की विशाल मूर्ति]

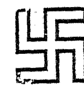


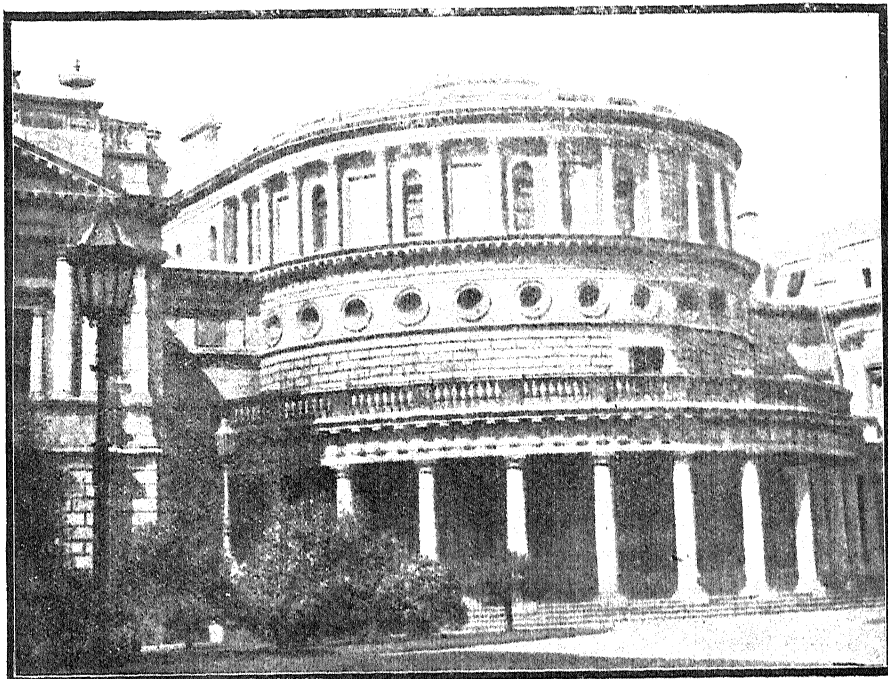
[राजराजेश्वरी का मन्दिर]

में पुरस्कार-स्वरूप मिला था। इसका वज़न ८४ मन कहा जाता है। घंटे में ब्रह्मदेश की भाषा में भी कोई लेख उत्कीर्ण है। हिन्दी और उर्दू में जो कुछ लिखा है उसकी नक़ल यह है—"सन् १८२१ ईसवी में भीमसिंह बहादुर रिसालदार रिजमिंट नं० २ हिन्दोस्तान की पल्टन ने क़िला अराकान फ़तेह किया और यह घण्टा सरकार कम्पनी अँगरेज़ बहादुर से अता हुआ कि निशान बहादुरी का बना रहे—गाँव नदरई ज़मीदारी अपनी में देवीजी राजराजेश्वरी के भेंट किया, गड़ा के आवेज़ाँ किया—जो कोई हाकिम या महकूम इरादा इस घंटे का करे कि अजायब वग़ैरा पर और नापाव है तो उसको यह इत्तिला (और कुछ साफ़ साफ़ नहीं पढ़ा गया)।



[गणेश जी की बड़ी मूर्ति]

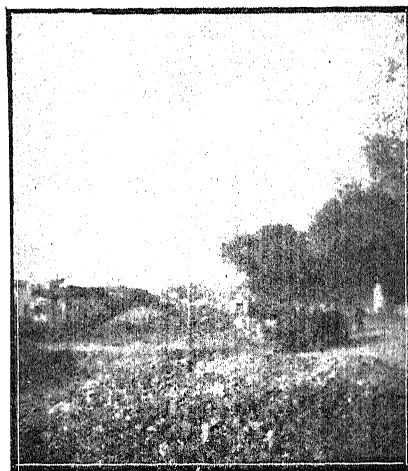




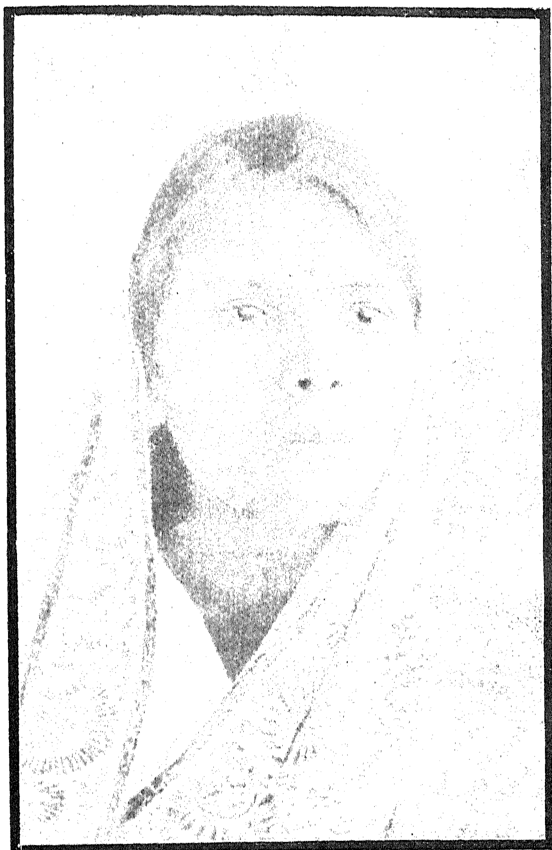
यही वह इमारत है जिसमें डबलिन में आयरलैंड के सिनेट की बैठकें हुआ करती हैं। प्रेसिडेंट डि वेलेरा को इस संस्था-द्वारा अपने कार्य्य में बाधा पहुँचती है, इसलिए उन्होंने इसको तोड़ देने का प्रस्ताव 'डेल' में उपस्थित किया है। इस सिनेट की स्थापना अल्पमत-वालों की रक्षा के लिए हुई थी, जिनमें बैंकर और बड़े व्यवसायी हैं। इससे आशा की जाती है कि प्रेसिडेंट डि वेलेरा का तीव्र विरोध होगा और सम्भवतः विरोध के नेता जेनरल 'ओ' डफ़ी अपने प्रयत्न में सफल होंगे।



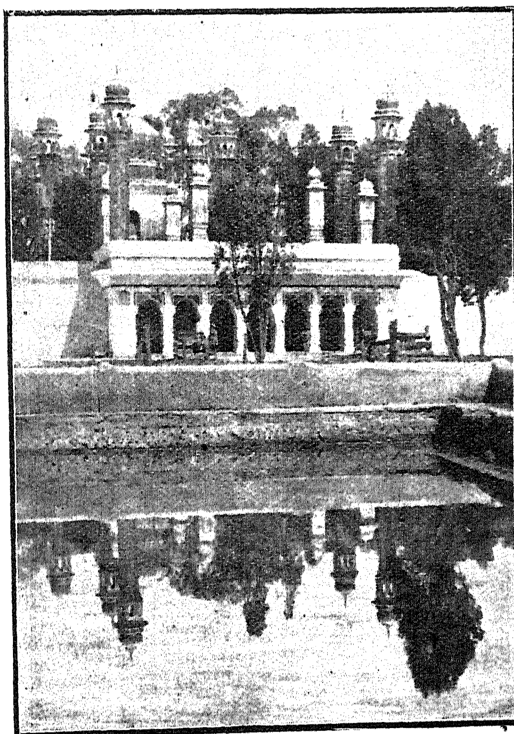
आचार्य्य रामदेव जी—गुरुकुल काँगड़ी को एक आदर्श संस्था बनाने के प्रयत्न में सफल होने के पश्चात् अब ये देहरादून में कन्या-गुरुकुल की स्थापना का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके लिए इन्होंने क़रीब पचास हज़ार रुपया भी जमा कर लिया है। इस संस्था-द्वारा ये बालिकाओं के लिए प्राचीन आर्यों जैसी शिक्षा की व्यवस्था कर रहे हैं।



[जमालपुर (मुँगेर)—भूकम्प से एक नष्ट सड़क]



श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०—गीत लिखने में इन्होंने हिन्दी में बड़ी ख्याति प्राप्त की है। 'सरस्वती' पर इनकी विशेष कृपा है और इनकी सर्वोत्तम रचनायें 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई हैं। हमें आशा है कि 'सरस्वती' के पाठकों को हम इनके गीत बराबर भेंट करते रहेंगे। इनका यह चित्र हमें श्री सेंट निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ है।



श्री रामराय का गुरुद्वारा (देहरादून)—श्री रामराय जी सिक्खों के सातवें गुरु के पुत्र थे। इन्हीं के नाम पर देहरा (डेरा) दून शहर का नाम पड़ा। इस स्थान पर मार्च में प्रतिवर्ष मेला लगता है, जिसमें इस गुरु के सैकड़ों भक्त जमा होते हैं। यह चित्र भी हमें श्री सेंट निहालसिंह से प्राप्त हुआ है।



श्रीमती शान्तादेवी—ये 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी की पुत्री हैं। इनका लालन-पालन पर्दे के बन्धन से मुक्त एक बौद्धिक वायु-मंडल में हुआ है। अँगरेज़ी पर इन्हें इतना अधिकार है कि ये अपनी बहन श्री सीता देवी की बँगला कहानियों का बड़ा सुन्दर अनुवाद अँगरेज़ी में करती हैं। इनका विवाह कलकत्ता-विश्वविद्यालय के डाक्टर कालीदास नाग के साथ हुआ है। ये एक आदर्श हिन्दू-ललना हैं।



डाक्टर कालीदास नाग—इन्होंने कलकत्ता और फ़्रांस में शिक्षा प्राप्त की है और प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया है और इस सम्बन्ध में इन्होंने योरप और अमरीका में बहुत से लेक्चर भी दिये हैं। पिछले अप्रेल में गुरुकुल-काँगड़ी में कन्वोकेशन एड्रेस देने के लिये निमंत्रित किये गये थे। पर अस्वस्थ हो जाने के कारण ये वहाँ न जा सके। इनका भाषण ही उस अवसर पर पढ़ा गया था।



जाग्रत महिलायें

लाहौर में लड़कियों की आफ़त



लाहौर में कालेज में पढ़नेवाली लड़कियों के साथ वहां के कालेज के लड़के कैसा बेहूदा और अशिष्ट व्यवहार करते हैं, यह बात हाल की 'सुधा' में प्रकाशित कुमारी शकुन्तलादेवी बी० ए० के एक लेख से भले प्रकार प्रकट हो जाती है। कुमारी जी के लेख से जान पड़ता है कि बाज़ार में, बाग़ में, नदी-किनारे जहां भी ये लड़कियाँ जाती हैं, वहीं ये लड़के जाकर उनसे छेड़-छाड़ करते हैं और उनका अपमान करते हैं। स्थिति वास्तव में शोचनीय है। यह सत्य है कि कुमारी जी ने दुःखी होकर और क्रोध के आवेश में लिखा है, परन्तु उनकी बातें विचारणीय हैं। इस सम्बन्ध में वे क्या कहती हैं, इसको उन्हीं के मुख से सुन लीजिए—

"पंजाब-प्रान्त की राजधानी लाहौर, जो शिक्षा का केन्द्र माना जाता है, आज निर्लज्ज लौंडों का डेरा बन रहा है। प्रतीत होता है, इनके घर में न किसी के बहन है, और न माता। ये दूसरों की बहन-बेटियों का धर्म भ्रष्ट करने के लिए सदा उतारू रहते हैं। माता-पिता से कहते हैं, हम शिक्षा प्राप्त करने जा रहे हैं। परन्तु समझ में नहीं आता कि वे यहां किस प्रकार की शिक्षा पाते हैं, जो न तो उन्हें अपने सहपाठियों को भाई और न सहपाठिकाओं को बहन समझना सिखाती है। ये जेन्टिलमैन सिर से पैर तक अपवित्रता ही से भरे पड़े हैं। इन्हें सिवा भ्रष्टाचार के और कुछ सूझता ही नहीं। स्कूल तथा कालेज से छुट्टी पाते ही लड़कियों की संस्थाओं के सामने धन्ना देकर बैठ जाते हैं। किसी पर कुदृष्टि डाली, किसी से मसख़री की, किसी पर अवाज़ा कसा। वहां से जूते खाकर निकले, तो अनारकली और मालरोड पर चक्कर काटने लगे। वहाँ भी कोई कुचेष्टा की, किसी को अपशब्द कहा। वहाँ कुत्ते की तरह दुत्कारे गये, तो लारेन्स गार्डन में आ धमके। जिस प्रकार मक्खी को एक स्थान से उड़ा देने पर वह झट दूसरे स्थान पर बैठ जाती है, उसी प्रकार ये बेमुहार नौजवान सारा दिन इधर से उधर घूमने में व्यतीत करते हैं।

"गत दीवाली के पर्व पर और इससे एक रात पहले अनारकली-बाज़ार में जो घटनाएँ हुईं, उनसे जनता की आँखें खुल जानी चाहिए। ये उन लोगों की करतूतें हैं, जिनको भारतमाता की भावी आशाएँ कहा जाता है! ऐसे ही सपूतों (कपूतों?) को देखने के लिए भारतमाता अभी तक जी रही है! धन्य है ऐसे कुल-कलंकों को, जिन्हें न अपनी माता की लाज की कुछ परवा है, और न बहन की लाज की! दीवाली के राष्ट्रीय पर्व के दिन हिन्दू-मात्र चाहता है कि नगर की सजावट देखे, पर अनारकली में पहुँचने पर कुछ और ही चांद चढ़ा दिखलाई पड़ता है। हम देखती हैं, कि पुरुष वास्तव में मनुष्य न रह कर मनुष्य-रूप में पशु बन गये हैं। न उन्हें धर्माधर्म का कुछ विचार है, और न कुल-मर्यादा का। वे लोग बाज़ार में त्यौहार की शोभा देखने नहीं आये, वरन् अपनी पापवासनाओं को खुला छोड़कर मातृशक्ति का अपमान करने आये। इनकी निर्लज्जता को देखकर

निर्लज्जता स्वयं भी लज्जित होती है। उसका वर्णन करते लेखनी काँपती है। जो भले स्त्री-पुरुष उस दिन अनारकली में गये थे, उन्होंने तो कान पकड़ा कि वे फिर कभी उम्र भर ऐसा मेला देखने नहीं जायँगे, जब तक उन लुच्चों को रोकने के लिए कोई विशेष स्काउट्स का कड़ा प्रबन्ध न किया जायगा।

"कहा जाता है, जिन टाँगों पर स्कूलों और कालेजों की लड़कियाँ और स्त्रियाँ बैठी थीं, उनके पीछे ये कालेजियट कुत्ते इस प्रकार लगे रहे, जिस प्रकार बुली कुत्ता शिकार के पीछे रहता है। कइयों का दुःसाहस तो यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने स्त्रियों को टाँगों पर से घसीट लिया और उनके कपड़े फाड़ डाले। उन बेचारियों को दूसरों के घरों में जाकर आश्रय लेना पड़ा। कई बदमाशों ने स्त्रियों की मोटर को चारों ओर से घेरकर उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। फिर अश्लील वचन बोलते हुए ताली बजाने लगे। चारों ओर इस प्रकार हाहाकार मच रहा था मानों वहाँ पागल कुत्ते आ गये हों। कोई लड़कियों पर आवाज़ें कस रहा था, तो कोई कन्धे मार रहा था। कोई वस्त्र खींच रहा था, तो कोई चुटकियाँ काट रहा था। निर्लज्ज छोकरे बे-लगाम होकर पागल की तरह प्रलाप कर रहे थे।

"यह दीवाली की ही बात नहीं, नित्य देखते हैं कि सड़क पर या बाज़ार में जहाँ दो-चार लड़कियाँ जाती दिखाई दीं, झट उनके आगे-पीछे हो लिये, और जो चाहा बकना आरम्भ कर दिया। कभी उनको दिखा दिखा कर एक दूसरे को धक्का दिया, और कभी गाली दी, जिससे लड़कियाँ कुछ बोलें। परन्तु लड़कियाँ तो उनकी बकवाद को ऐसा समझती हैं, मानो कुत्ते भूँक रहे हैं। वे समझती हैं कि हाथी को जाते देख कुत्ते भूँका ही करते हैं। क्या कुत्तों के डर से हाथी अपना घूमना बन्द कर सकता है? कदापि नहीं।

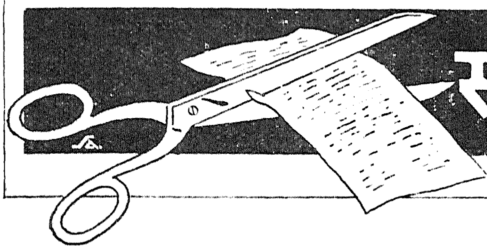
"लड़कियों को नाम के लिए स्वतन्त्रता है, परन्तु वास्तव में वे कहीं भी हँस-खेल कर अपना समय नहीं बिता सकतीं। जब कभी लड़कियाँ रात्री में नाव की सैर करने जाती हैं, तो बहुत-से शैतान अपनी नाव को उनकी नाव के साथ टकराते और एक दूसरे से ऐसे ऐसे अपशब्द कहते हैं कि सुने नहीं जाते। बेचारी लड़कियों के नाकोंदम आ जाता है। न तो वे आपस में हँस-बोल सकतीं, और न कोई आनन्द ही मना सकती हैं। उनके हृदय का आनन्द शोक तथा क्रोध में परिवर्तित हो जाता है।

"जहाँ भी जाओ, वहीं इन शैतानों के डेरे जमे हुए हैं। ये टोलियों की टोलियाँ बनाकर मँडराते फिरते हैं। समझ में नहीं आता, इनकी निर्लज्जता की भी कोई सीमा है या नहीं! हज़ारों बार धिक्कारने पर भी किसी तरह नहीं मानते।"

लाहौर के शिक्षित नवयुवक इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं, यह हमें अभी नहीं मालूम हुआ। परन्तु किन्हीं नाथूराम शुक्ल एम० ए० ने इस सम्बन्ध में जो कुछ प्रकाशित कराया है यदि वही लाहौर के शिक्षित नवयुवकों का उत्तर है तो हम कहेंगे कि अब लाहौर मनुष्यों के रहने लायक नहीं रह गया। एक स्त्री के इस प्रकार अभियोग लगाने पर ये महाशय अपनी करतूत पर खेद प्रकट न करके उलटा इस तरह लिखते हैं—

"भारतवर्ष के नवयुवकों की अवस्था कुछ त्रिशंकु सरीखी है। उनके सामने वासना की सब सामग्रियाँ हैं, परन्तु उन्हें युवतियों से मिलने की वह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं, जो पाश्चात्य देशों में है। अतएव सारी उद्दीपन सामग्री से उत्तेजित भावना को वे कहाँ तक दबाये रखें? कोई ऋषि-मुनि या देवता तो हैं नहीं। अतएव वे उस उद्दंडता को करने को तैयार हो जाते हैं, जिसे आप 'निर्लज्जता का नंगा नृत्य' कहती हैं।"

परन्तु हमारा ख़याल है, लाहौर के युवक अपने पक्ष में शुक्ल जी की यह बेहूदी वकालत पसन्द न करेंगे। लाहौर के नवयुवकों पर कुमारी शकुन्तलादेवी ने भारी अभियोग लगाया है। उन्हें सभ्य भारतीय नवयुवक के अनुरूप अपनी सफ़ाई देनी चाहिए और अपने चरित्र में समुचित सुधार करके अपनी बहनों की यह शिकायत दूर कर देनी चाहिए।



सामयिक साहित्य

महात्मा जी की पैदल-यात्रा

पाठकों को मालूम होगा कि महात्मा गांधी ने अपने हरिजन-सम्बन्धी दौरे में पैदल दौरा करना प्रारम्भ किया है। उन्होंने उड़ीसा के कुछ ग्रामों की पैदल-यात्रा की है। अन्य प्रान्तों में भी अब वे यही क्रम जारी रखना चाहते हैं। गांधी जी ने ऐसा निश्चय क्यों किया और इन पैदल-यात्राओं के द्वारा वे क्या करना चाहते हैं तथा इन यात्राओं में महात्मा जी का कार्य्यक्रम क्या रहता है, आदि बातों पर कुमारी मीरा बहन (मिस स्लेड) ने 'हरिजनसेवक' में एक लेख लिखकर बड़े सुन्दर ढङ्ग से प्रकाश डाला है। वे लिखती हैं—

रेल और मोटरगाड़ी की सवारी छोड़कर पैदल ही यात्रा करने का उस दिन गांधी जी ने एक-दम निश्चय कर लिया। और इस प्रकार उनके बाह्य जीवन का उनके आदर्शों के साथ सामंजस्य हो गया। हरिजन-प्रवास अब अधिक वास्तविक, अधिक सत्यमय हो गया है, क्योंकि धार्मिक भावना के साथ अब उसका और भी अधिक सम्पर्क हो गया है। अब न तो शहरों की दिन-रात की वह दौड़धूप है, न वह खर्च होता है और न स्वागत की अनावश्यक तैयारियाँ ही।

नहीं, अब यह सब नहीं है—अब तो हम लोग शान्तिपूर्वक एक गाँव से दूसरे गाँव में पैदल चल कर जाते हैं। अब बहुत ही कम भीड़भाड़ होती है, और गाँव के गरीब आदमी अक्सर हमारी यात्रा में मीलों हमारा साथ देते हैं। जब हम लोग गाँव की गलियों से गुज़रते हैं, तो वहाँ के निवासी उच्चवर्ण ब्राह्मण से लेकर ग़रीब से ग़रीब हरिजन तक, अपने-अपने दरवाज़े पर खड़े होकर गांधी जी को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि यह यात्रा पश्चात्तापियों की तीर्थ-यात्रा है। सभायें अब नये ही वातावरण में होती हैं। यद्यपि पास-पड़ोस के गाँवों से हज़ारों लोग सभाओं में उपस्थित होते हैं, तो भी पूर्ण शान्ति रहती है और भाषण का प्रत्येक शब्द सुनाई देता है।

प्रातः-प्रार्थना और थोड़ा जलपान करके, हम लोग नित्य ५॥ बजे सवेरे रवाना होते हैं, और तेज़ धूप निकलने के पहले ही ७॥ बजे तक जहाँ दिन को डेरा डालना होता है वहाँ पहुँच जाते हैं। कभी-कभी हम अपना डेरा किसी गाँववाले के घर और आँगन में डालते हैं, पर अक्सर तो आम या ताड़ के वृक्षों के सघन कुञ्जों में ही हमारा पड़ाव पड़ता है। डेरे का प्रबन्ध करने के लिए अपने एक-दो साथियों को आगे रवाना कर दिया जाता है। हमारे पहुँचने के पहले ही वे वहाँ सब इन्तिज़ाम कर लेते हैं। ख़ूब छायादार सघन वृक्षावली का स्थान डेरे के लिए चुना जाता है। गर्द-गुबार और लू से बचने के लिए वहाँ कुछ बाँस की टट्टियों या चटाइयों के पर्दे डाल लेते हैं। वहीं रसोई बनाने के लिए भट्टियाँ खोद लेते हैं, और कुछ दूर कूड़ा-कचरा डालने को एक बड़ा-सा गड्ढा। छोटी-छोटी खाइयाँ पाखाने के लिए खोद ली जाती हैं और आड़ के लिए चारों तरफ़ चटाइयाँ लगा दी जाती हैं। कहीं-कहीं गांधी जी और अन्य साथियों के लिए एक-दो तम्बू खड़े कर देते हैं और कभी-कभी पत्तियों और चटाइयों का छायादार मँड़वा बना लेते हैं। स्वच्छता की सख़्ती से पाबन्दी की जाती है। रसोई की तमाम जूठन व बचन-खुचन और दूसरा कूड़ाकचरा सब गढ़े में डाल दिया जाता है और फिर बाद को उस पर मिट्टी पूर दी जाती है। इसी तरह पाख़ानों में भी स्वच्छता व आरोग्यता के नियमों

का पूरा पालन किया जाता है। शाम को चलने के पहले भट्ठियों, गड्ढों व खाइयों को मिट्टी से भर देते हैं, ताकि बाद को कहीं गन्दगी दिखाई न दे। जिस किसी गाँव में हम जाते हैं, लोगों को नित्य इस तरह सफ़ाई व आरोग्यता का सरल पाठ मिल जाता है।

पड़ाव पर पहुँचते ही सबसे पहले गांधी जी तो उपस्थित जनता के आगे भाषण करते हैं, और इधर हम लोग जल्दी से नहा-धोकर व कपड़े साफ़ करके रसोई बनाने लगते हैं। सभा समाप्त होने के बाद गांधी जी चिट्ठी-पत्री लिखने बैठ जाते हैं। सारे दिन हम लोग अपने डेरे में ही रहते हैं, और शाम को फिर ठीक ५॥ बजे भोजन करने के पश्चात् रात के बसेरे के लिए दूसरी जगह चल देते हैं।

दिन भर किसानों की भीड़ लगी रहती है। ग्रामीण लोग बड़े ग़ौर से हमारा सब काम देखते हैं, और गांधी जी क्या कर रहे हैं, इस पर तो उनका ख़ास ध्यान रहता है। जब भीड़ बहुत अधिक हो जाती है तब गांधी जी बाहर आते हैं, लोगों से अपने पीछे-पीछे आने को कहते हैं और वहाँ से कुछ फ़ासले पर भाषण करते हैं। दोपहर बाद रोज़ ही ऐसा एक या दो बार हुआ करता है।

शाम को तो गाँवों के सैकड़ों लोग हमारे साथ-साथ पैदल चलते हैं, और सड़क के दोनों तरफ़ दर्शनातुर स्त्री-पुरुषों के झुंड के झुंड खड़े मिलते हैं। इनमें से कुछ लोग हमारे साथ हो जाते हैं, और जब हम रैनबसेरे की जगह पहुँचते हैं, तो वहाँ एक भारी जमात को गांधी बाबा के साथ देखते हैं।

सबेरे की तरह शाम को भी वहाँ सबसे पहला काम सभा का आयोजन होता है। संध्या की सभा में पहले तो आश्रम की प्रार्थना पूर्ण शांति से की जाती है, फिर गांधी जी का भाषण होता है। सभा समाप्त होने के बाद हम सब लोग आकाश के नीचे धरती माता की गोद में सो जाते हैं, और सबेरे प्रायः ३ और ४ बजे के बीच में उठ बैठते हैं।

अस्पृश्यता का यह पाप-कलंक यदि इस धर्म-यात्रा के आध्यात्मिक वातावरण में भी दूर न हुआ, तो फिर वह आगे आनेवाली कई सदियों तक किसी अन्य प्रयत्न से दूर होने का नहीं। ('प्रताप')

हमारे कवि-सम्राटों ने क्या किया?

गत १४ मई को जौनपुर-ज़िला के साहित्य-सम्मेलन में सभापति के आसन से भाषण देते हुए श्री सम्पूर्णानन्द जी ने हिन्दी के कवियों को अच्छी फिटकार बताई है। सचमुच यह दुःख की बात है कि हमारे बहुत-से कवियों ने पदवियाँ तो बहुत ऊँची ऊँची धारण कर ली हैं, पर कुछ करके वे दिखा न सके। क्या हम आशा करें कि श्री सम्पूर्णानन्द जी की बातों से हमारे कवि और कविता-प्रेमी कुछ लाभ उठाएँगे। वे कहते हैं—

साहित्य का एक प्रधान अङ्ग पद्य है। उसका महत्त्व इतना है कि उसके सम्बन्ध में कुछ पृथक् कहना ही चाहिए, पर मुझे ज़बान खोलने का साहस नहीं होता। यह नहीं कि मैं ऐसी सूखी प्रकृति का व्यक्ति हूँ कि मुझे पद्य का रस नहीं मिलता। संस्कृत, अँगरेज़ी और अँगरेज़ी के द्वारा अन्य योरपीयन भाषाओं की पद्य-रचनाओं को कभी कभी पढ़ता हूँ, हिन्दी के पुराने और नये कवियों की कृतियों को भी थोड़ा-बहुत यथावकाश देखता हूँ। पर बोलना इसलिए कठिन है कि इस समय यह क्षेत्र विस्तृत युद्धस्थली बना हुआ है और मुझे सैनिक होने की पात्रता नहीं है। बिना यह जाने हुए कि मेरे विचार किसी विशेष कवि-सैन्य के विचारों से टकराते हैं या नहीं, मैं अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के अनुसार दो-चार शब्द कहूँगा। उपासना, राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति, सदाचार, काव्य, संगीत आदि ललित-कला, इन सबका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, और सब युग-धर्म्म से प्रभावित होते हैं। आज से पहले—मोटे तौर पर मुग़ल और राजपूत-शासन-काल में—जैसी परिस्थिति थी, वैसी कविता थी। आज-कल की कविता न्यूनाधिक आज-कल की परिस्थिति की प्रतीक और प्रतिकृति है। यह क्रांति का समय है। राजनीति, आर्थिक विचार, आदर्श, आचार, उपासना यह सब भट्ठी में तपाये जा रहे हैं। इन सबकी परीक्षा हो

रही है। चारों ओर संकीर्णता और बन्धन की पुरानी दीवारें टूट रही हैं और मुक्ति, स्वाधीनता की खोज है। नई दीवारें बनेंगी—अन्य देशों के साहित्य के अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध है। पर तब तक स्वाधीनता उद्दण्डता का भी कभी कभी रूप धारण कर लिया करेगी। आज-कल की कविता में यह बात स्पष्ट है। छन्द, मात्रा, भाषा, भाव, प्रयोग, सब बातों में क्रान्ति, बन्धन तोड़ने की प्रवृत्ति देख पड़ती है। कवि नये नये विषय-क्षेत्रों में निर्भय होकर घुसता है। अपने और अपने द्वारा जनसाधारण के हृदय के अन्तस्तल में प्रवेश करना चाहता है, इस जगत् की पहेली को समझना चाहता है। इसमें उसको सफलता मिली है। प्राञ्जल भाषा और सूक्ष्म भाव के सुन्दर संयोग से निर्मित कृतियाँ चित्त को सहसा आकर्षित कर लेती हैं। साथ ही उच्छृङ्खलता भी है। और काफ़ी है। संस्कृत के शब्दों के समूहों और ऊटपटाँग छन्दों से भावों के अभाव को मिटाने का काम लिया जाता है और जो लोग गम्भीर विचार नहीं कर सकते उनसे पर्याप्त साधुवाद भी प्राप्त हो जाता है। कली को चटका देना, प्याली को ढुलका देना, अनन्त की ओर दौड़ पड़ना, उतना ही सुन्दर है जितना कि भ्रमर को कमल पर बैठा देना या बुलबुल को गुलाब के लिए रुला देना। पर इन बातों से न तो मनुष्य के अन्तःकरण की कुञ्जी हाथ आती है, न मूर्त्त और अमूर्त्त की। जीव और जगत् का रहस्य समझ में आता है। इसके लिए तपस्या करनी होती है। जिसकी ओर श्रुति कवि-पुराणम् कह कर संकेत करती है, उसकी कृति का समझना सबका काम नहीं और जो उसे बिना समझे दूसरे को समझाने का दुस्साहस करता है वह कला के साथ पाप करता है—उसकी रचना जन्मना शापित है। कविता के सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। मैंने आरम्भ में कहा था कि आज तक की कविता इस युग की न्यूनाधिक प्रतिकृति है। न्यूनाधिक शब्द मैंने सोचकर रखा। यदि हमारे कविगण ने अपने हवाई क़िलों के बाहर निकल कर वास्तविक जगत् की ओर दृष्टि डाली होती तो उनकी कविता सचमुच युग की प्रतिमा और अमरत्व की अधिकारिणी हो जाती। आज चार वर्षों में देश में जो हुआ है उसे कौन नहीं जानता; सहस्रों स्त्री-पुरुषों ने जिस प्रकार त्याग, धैर्य और शौर्य का प्रदर्शन किया है, उसे किसने नहीं देखा। पर हमारे कवि-सम्राटों ने कभी इस सम्बन्ध में कुछ लिखा? उन्होंने इस अवसर पर किसी अमर कृति की सृष्टि की? यह कोई न समझे कि यह तुच्छ विषय तुकबन्दों के लिए है। महाकवि टेनिसन 'चार्ज आव दि लाइट ब्रिगेड' भी लिख सकता था। रविबाबू ने बंगाल के पुराने आन्दोलन के समय स्वर्गीय शक्तियुक्त कविता की रचना की है। उनके—

यदि तोर डाक सुने के ओना आसे,
तबे एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे'—

ने लाखों हृदयों में जान फूँक दी है। उसके जोड़ की हिन्दी-रचना कहाँ है? यदि हमारे महाकवियों की लेखनी को भय और उपेक्षा ने पकड़ लिया तो यह निश्चय है कि वे अभी उस प्रदेश से बहुत दूर रहते हैं जहाँ सत्कवि रहते हैं।

सत्याग्रह-संग्राम क्यों रोका गया?

महात्मा गान्धी की प्रेरणा के अनुसार कांग्रेस ने अपना सत्याग्रह-संग्राम बन्द कर दिया है। इस बात की आवश्यकता क्यों हुई, यह महात्मा जी के उस भाषण से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने १९ मई को अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक में पटना में किया है। उनके भाषण का एक महत्त्वपूर्ण अंश यह है—

मेरा निर्णय निराशावादिता का नहीं बल्कि आशावादिता का परिणाम है। मुझे अहिंसात्मक युद्धों में पूर्ण विश्वास है। परन्तु युद्ध के समय और ढंग का निर्णय करने का अधिकार सेनापति को होता है। मैंने यह आवश्यक समझा है कि सत्याग्रह के अस्त्र को बदनामी से बचाने के लिए युद्ध को रोक दिया जाय। मेरी सलाह को मानने या न मानने का आपको अधिकार है। अहिंसात्मक संग्राम में सेनापति को सैनिकों को

निकाल देने का अधिकार नहीं होता, बल्कि सैनिकों को सेनापति को पदच्युत कर देने का अधिकार होता है।

जब मैं यह देखता हूँ कि हममें इतनी शिथिलता आ गई है कि उससे हमारे ध्येय की सिद्धि में बाधा पड़ सकती है तो मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि लोगों को यह चेतावनी दे दूँ कि संग्राम फिर से जारी करने के पहले अहिंसा का मन-क्रम-वचन से कहीं अधिक पालन करने की आवश्यकता है और पूर्वापेक्षा कहीं अधिक नियम-बद्धता की ज़रूरत है। अगर मैं ऐसा न करूँ तो मैं विश्वासघात का दोषी हूँगा।

मैं चाहता हूँ कि आप लोग जेल से बाहर रहें तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं यह चाहता हूँ कि आप सुख-चैन का जीवन बितावें। मैं तो चाहता हूँ कि आप जेल से बाहर और भी बड़े जेल में रहें। वह बड़ा जेल क्या है? आप लोग इच्छापूर्वक ग़रीबी का जीवन बितावें। अगले संग्राम में आप लोगों को या आप लोगों के आश्रितों के लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलेगी। जो सब कुछ सहन करने को तैयार हों उन्हीं को आगामी संग्राम में निमन्त्रण दिया जायगा। जेल से बाहर काम की कमी नहीं है। हिन्दू-मुसलमान ऐक्य का कार्य है, खादी का कार्य है, अछूतोद्धार का काम है। क्या इनके बिना स्वराज्य हो सकता है? इसलिए मैं कहता हूँ कि मैं तो जेल में चैन से रह सकूँगा। लेकिन आप लोगों के लिए जो जेल से बाहर रहेंगे, चैन न होगा। मैंने आप लोगों के सामने कोई ऐसा काम नहीं रक्खा है जो १९२० से कांग्रेस के कार्य-क्रम में सम्मिलित न रहा हो। आप इस कार्य-क्रम को पूरा करें, तभी आपको मुझसे यह कहने का अधिकार होगा कि जेल मत जाओ।

शिक्षा का आदर्श

गत १७ मई को कोलम्बो (सीलोन) के रोटरी क्लब में डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'भारतीय विश्व-विद्यालय के आदर्श' पर एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण भाषण किया था। भाषण का मुख्यांश यहाँ 'प्रताप' से दिया जाता है:—

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा का लक्ष्य भुला दिया जाता है। इसके बदले भवन, पुस्तकें, मस्तिष्क को दबाने वाले ठाठदार अन्य सामान एकत्रित कर दिये जाते हैं। संगीत को खोकर वाद्य-यन्त्र खरीदा जाता है—दृष्टि को खोकर चश्मे खरीदे जाते हैं। बहुत समय से मस्तिष्क को वृद्धि और विकास के लिए स्वतन्त्रता के स्वाभाविक भोजन से वंचित कर दिया गया है और इसके बदले में उसमें परीक्षा में सफल होने की अस्वाभाविक वासना—उत्पन्न कर दी गई है। कम ज्ञान प्राप्त कर अधिक से अधिक नम्बर लाने में ही सफलता समझी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क को नाश करनेवाली मानसिक बेईमानी, धूर्तता, आत्मवंचना आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार परीक्षा पास होने पर विद्यार्थी बहुत ख़ुशियाँ मनाते हैं और क्लर्क तथा पुलिस इन्सपेक्टर बनने की कोशिश करते हैं।

विश्व-विद्यालयों को केवल विद्यार्थियों को आराम के साथ जीविका कमाने के योग्य बनाने के लिए ज्ञान के संग्रह और वितरण करनेवाले कारख़ाने नहीं बना देना चाहिए। विश्वविद्यालयों के द्वारा संस्कृति का बीज सारे संसार में फैलाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण भारत में इस समय कोई ऐसा विश्व-विद्यालय नहीं है जहाँ भारतीय या विदेशी विद्यार्थी सर्वोत्कृष्ट भारतीय संस्कृति का अध्ययन कर उसका विकास कर सकें। वर्तमान विश्वविद्यालयों का कोई भी विद्यार्थी भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट स्रष्टा नहीं हो सकता। अपने इष्ट-पदार्थ की प्राप्ति के लिए भारतीय विद्यार्थियों को समुद्र पार कर इँग्लैंड, फ़्रांस, जर्मनी आदि के दरवाज़े खटखटाने पड़ते हैं। ऐसा करके उन्होंने अपना बौद्धिक आत्म-सम्मान खो दिया है। भारतीय विश्वविद्यालय बड़ी बड़ी डिगरियाँ दे डालते हैं जो दूसरों की नक़ल मात्र हैं। मनुष्य के मस्तिष्क की तो स्वाभाविक वृद्धि होनी चाहिए जो उसकी संस्कृति के गर्व का विषय हो। सांस्कृतिक लाभ की कसौटी उसका पूर्ण विकास है न कि बाह्य

सफलता। भौतिक लाभ का प्रलोभन अपने साथ मानव मस्तिष्क का अपमान लाता है। आधुनिक भारत को शिक्षा में असफल होने के कारण यह अपमान सहना पड़ा है। अगर भारत इसी रास्ते पर चलता रहा तो सिवा शिक्षित होने के भारत और कुछ प्राप्त नहीं कर सकेगा।

पाश्चात्य शिक्षा हमें रोटी भले ही दे सकती है, पर वह दूरस्थित प्रकाश की तरह संस्कृति-द्वारा जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए सत्य का कोई भी दृश्य हमें नहीं दिखला सकती। यही कारण है कि पाश्चात्य शिक्षा भारत में केवल कोरे पाठों को ही लाई है, संस्कृति को नहीं। उसने पाठ्य-पुस्तकों का ज्ञान हमें अवश्य दिया है, पर जीवन के रहस्य की सूक्ष्मता और सुन्दरता का ज्ञान हमें नहीं कराया है। जो उसके दृष्टि-पथ से दूर है। भारतीय संस्कृति का विकास करना चाहिए। ऐसा पाश्चात्य संस्कृति को रोकने के खयाल से नहीं बरन उसे सहायता पहुँचाने और उसे आत्मसात करने के लिए करना चाहिए, उसमें पारंगत होकर उसकी अच्छी चीज़ों को ग्रहण करना चाहिए। अनुकरण में हमने पाश्चात्य संस्कृति से जो कुछ सीखा है उससे बजाय लाभ के हानि ही हो रही है।

हमें मनुष्य के स्वभाव का भी अध्ययन करना चाहिए। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य केवल बौद्धिक शिक्षा की पूर्णता ही नहीं है, बरन उसका उद्देश्य मानव-जाति से प्रेम करना भी है। इसलिए मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान होना आवश्यक है। हमें अपने स्वभाव की सृजन-शक्ति का भी विकास करना चाहिए ताकि हम मनुष्य-जाति के प्रति उस भाव को न भूल जायँ जो सृष्टि के प्रारम्भिक काल से हममें दिया गया है।

चाँदी और भारत

'आज' लिखता है—

अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूज़वेल्ट ने अमेरिकन कांग्रेस को एक सन्देश भेजा है जिसमें कहा गया है कि कांग्रेस चाँदी के सम्बन्ध में एक क़ानून बना दे जिसके अनुसार मुद्रा के आधारस्वरूप जो स्वर्ण-भण्डार रखा जाता है उसका एक चौथाई अंश चाँदी का हो। सरकार तथा बैंक देश में नोटों का वितरण किया करते हैं। इन काग़ज़ी मुद्राओं के लिए निश्चित नियमानुसार सब सरकारों अथवा बैंकों को अपने ख़ज़ाने में कुछ स्वर्ण का भण्डार रखना पड़ता है। अर्थशास्त्रज्ञों का एक समूह इस बात का पक्षपाती है कि स्वर्ण के साथ साथ चाँदी भी सम्मिलित कर दी जाय और मुद्रा के आधारस्वरूप उसे भी ख़ज़ानों में स्थान मिले। इस प्रथा को द्विधात्विक मुद्रा-प्रणाली कहते हैं जिसकी स्थापना के लिए अमेरिका में ज़ोरदार आन्दोलन हो रहा था। इधर गत कई महीने से अमेरिका के चाँदी के समर्थक इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि अमेरिका की मुद्रा का आधार चाँदी भी बनाई जाय।

× × ×

अमेरिका को चाँदी का आधार बनाने से दूसरा लाभ यह होगा कि वह ऋणग्रस्त राष्ट्रों से, जिनके दिवाले निकल रहे हैं और जिनके स्वर्ण-भण्डार ख़ाली हो रहे हैं, चाँदी के रूप में अपना ऋण वसूल कर सकेगा। संभवतः इन बातों को ध्यान में रखकर ही राष्ट्रपति ने द्विधात्विक मुद्रा-प्रणाली को परिचालित करना निश्चय किया है। द्विधात्विक मुद्रा-प्रणाली से क्या लाभ है तथा उससे क्या हानि होती है इसकी विवेचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यदि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के कथनानुसार संसार के अन्य राष्ट्रों ने भी इस प्रणाली को स्वीकार कर लिया और इस सम्बन्ध में कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो गया तो सम्भव है कि संसार की बहुत-सी आर्थिक कठिनाइयाँ हल हो जायँ। इस सम्बन्ध में क्या होगा और संसार के विभिन्न राष्ट्रों का रुख़ इस ओर क्या होगा यह समय ही बतावेगा, किन्तु अमेरिका की इस नवीन चाँदी-नीति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव भारत पर पड़ेगा। हमें यह विचार करना है कि भारत का इस नवीन आयोजन से कहाँ तक लाभ होगा। भारत की विदेशी सरकार ने भारतीय रुपये को ब्रिटेन के काग़ज़ी पौंड का पुछल्ला बनाकर भारत की जो असीम हानि की है वह किसी से छिपी नहीं है। भारतीय रुपये की दर को

अस्वाभाविक रूप से ऊँची बनाये रखने के लिए तरह तरह के षड्यन्त्र रचे गये और ऐसा करने में भारतीय हितों की तनिक भी परवा नहीं की गई। रुपये की विनिमय दर आज कई वर्षों से १८ पेंस क़ायम कर दी गई है और ज़बर्दस्ती तथा अस्वाभाविक रूप से रुपये की क़ीमत बढ़ा देने के कारण भारतीय पदार्थों के मूल्य का इतना गहरा पतन हुआ कि भारत ऐसे कृषिप्रधान देश की रीढ़ टूट गई।

× × ×

अमेरिका का ऋण चुकाने के लिए गत वर्ष २ करोड़ औंस भारतीय चाँदी बिना भारतीय व्यवस्थापक सभा से राय लिये ब्रिटेन ने अमेरिका को ऊँची दर पर दे दी। ब्रिटेन को ५० पेंस फ़ी औंस की दर से दाम मिला और उसने भारत को क़रीब २१ पेंस फ़ी औंस के हिसाब से दिया। बीच का सारा मुनाफ़ा ब्रिटेन के भारत-हित-चिन्तक हज़म कर गये। आज जब अमेरिका चाँदी को मुद्रा का आधार बनाने के लिए तैयार है तो चाँदी की क़ीमत संसार के बाज़ारों में अवश्य बढ़ेगी। सम्भवतः ऋणग्रस्त राष्ट्र भी चाँदी की ख़रीद करेंगे। ऐसी अवस्था में यह आशङ्का निर्मूल नहीं है कि भारत की बची-खुची चाँदी पर भी हाथ साफ़ करने का यत्न किया जायगा। पूर्व के हमारे अनुभव हमारी इस धारणा को दृढ़ करते हैं। आवश्यकता है इस सम्बन्ध में सावधान रहने की।

हिन्दू-धर्म का मर्म

सेठ गोविन्ददास ने अपने हाल के एक भाषण में अन्य बातों के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म के वास्तविक रूप की बड़ी सुन्दर ढङ्ग से विवेचना की है। मारवाड़ियों की धर्म-भीरुता का ख़ास तौर से उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—

कौन-सी वस्तु मनुष्य को सच्चरित्र बनाती है, यह सदा से विवादग्रस्त विषय रहा है। एक विद्वान् ने इस सम्बन्ध में यदि एक बात कही है तो दूसरे ने उसके ठीक विपरीत। हमें शिक्षितों और अशिक्षितों, ईश्वर-भक्तों और नास्तिकों सभी में सच्चरित्र और दुश्चरित्र व्यक्ति दिखाई देते हैं। चरित्र-बल बढ़ाने का मेरे मतानुसार तो सबसे बड़ा उपाय मनुष्य का अपना सतत निरीक्षण करते रहना है। जो मनुष्य अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को स्वयं सदा ध्यान में देखता और उनका निरोध करने का प्रयत्न करता रहता है उसी को चरित्रबल प्राप्त हो सकता है। मेरे मत से शिक्षा और ईश्वर एवं धर्म्म में अनुराग भी चरित्रबल बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। हाँ, शिक्षा सुशिक्षा होनी चाहिए और इसी प्रकार ईश्वर एवं धर्म में अनुराग सच्चा अनुराग।

हमारा मारवाड़ी-समाज अपने को बड़ा ईश्वरभक्त और धर्मभीरु समाज मानता है। हमारे समाज के जितने व्यक्ति जप-पूजा करते और मन्दिरों में दर्शन करने जाते हैं, उतने भारतवर्ष के कदाचित् अन्य किसी समाज के नहीं, परन्तु मारवाड़ी-समाज क्या यह कह सकता है कि इसके कारण वह चरित्र में भी अन्य समाजों की अपेक्षा श्रेष्ठ है? यदि नहीं तो इसका क्या कारण है? इसका कारण है—न ईश्वर में हमारी सच्ची भक्ति और न सच्चे धर्म में सच्ची श्रद्धा। हम जो पूजा और देव-दर्शन करते हैं, वह बहुत दूर तक दिखावे के लिए। ईश्वर में भक्ति का सच्चा अर्थ—ईश्वर का ही साकार स्वरूप जो यह विश्व है, उसमें ईश्वर वर्तमान है, उसमें रहनेवालों को अपना बन्धु मानना है; उन्हें बन्धु मान उनकी सेवा में दत्तचित्त होना है; और इस कार्य में यदि अड़चनें और आपत्तियाँ आवें तो उन्हें साहस-पूर्वक दूर करना एवं सहना है। जहाँ तक मैंने हिन्दू-धर्म को जाना है, सच्चे हिन्दू-धर्म के यही सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों का ज्ञान और उस ज्ञान के अनुसार कर्म करने का वेद, उपनिषद्, महाभारत और पुराणादि सभी धर्म-ग्रन्थों में किसी न किसी प्रकार से उपदेश किया गया है।

स्वर्गीय पंडित बदरीनाथ भट्ट

अध्यापक पण्डित रामरत्न जी (आगरा) 'कर्मवीर' में लिखते हैं—

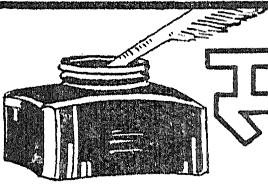
पंडित बदरीनाथ का अस्तित्व कितना मधुर था। आप से मिलने पर कितना चिन्तातुर व्यक्ति भी क्यों न हो,

आनन्द-विभोर हो जाता था। आप बड़े ही हँसमुख और मिलनसार थे। बात-बात में आप मधुर व्यङ्ग्य करते थे, आप बड़ी सूझ-बूझ के लोग थे। बनावट और आडम्बर आपको बिलकुल पसन्द न था। यदि कोई ऐसी बात कहता, जिसमें बनावट होती तो वह हँसकर उसी के सामने मखौल उड़ा देते थे। वर्तमान समय की कृत्रिम जीवन-चर्या इन्हें ज़रा भी पसन्द नहीं थी। इसीलिए आप प्रायः एकांत जीवन ही व्यतीत करते थे। आपके विचार, गोलमालकारिणी सभाओं के विवरणों में, 'प्रताप' में बहुत दिनों तक छपते रहे। वे 'प्रताप' से बड़ा अपनपो रखते थे और प्रताप-मण्डल के गण्य-मान्य सदस्य थे। आगरे में होनेवाली गोलमाल-कारिणी सभाओं की बैठकें कभी-कभी ५।७ घण्टे तक होती थीं। ये बैठकें कभी भट्ट जी के कमरे में, कभी बाबू वृन्दालाल वर्मा के प्रवास-स्थान पर, कभी पंडित हरिशंकर जी शर्मा की छत पर, कभी इन पंक्तियों के लेखक के निवास-स्थान पर होती रहती थीं। एक बार गोलमाल-कारिणी में सबके गाने का निश्चय हुआ। भट्ट जी ने यह पद गाया—

"गाना भी जानता हूँ, रोना भी जानता हूँ।
गाकर के धोबियों के, छक्के छुड़ा चुका हूँ॥"

कई वर्ष तक आप 'बाल-सखा' के सम्पादक रहे। उसमें 'इधड़-बिधड़' शीर्षक देकर मनोरञ्जन लिखा करते थे। 'सैनिक' के सुख्यात सम्पादक पंडित श्रीकृष्णदत्त पालीवाल उस समय उदीयमान साहित्य-सेवी के रूप में कभी-कभी 'गोलमालकारिणी' में सम्मिलित हुआ करते थे, उसी नाते से 'प्रताप' के पीछे उन्होंने 'सैनिक' को अपनाया और 'हल-चलकारिणी सभा' के विवरण उसमें छपने लगे। फुट-कर लेखों के अतिरिक्त भट्ट जी ने अनेक नाटक और प्रह-सन लिखे हैं। 'कुरु-वन-दहन' और 'चन्द्रगुप्त' नाटक ने अतीत के दिग्दर्शन के साथ वर्तमान का सुन्दर समन्वय किया है। 'चुंगी की उम्मीदवारी' में स्थानीय स्वराज्य का जीवित चित्र है। 'लबड़धोंधों' में आपके व्यङ्ग्यात्मक लेखों का संग्रह है। 'मिस अमरीकन' में कुछ परिचित लोगों का यथार्थ चरित्र-चित्रण है। 'राजपरिवर्तन-नाटक' में आपके राजकीय और 'तुलसीदास' में आपके सामाजिक विचारों का दिग्दर्शन है। 'दुर्गावती' नाटिका में ऐतिहासिक तथ्य के साथ वीर-नारी की आदर्श स्थापना है।

आप बड़े सुधार-प्रिय थे। आपने, बड़ी उम्र में, जब लखनऊ में हिन्दी प्रोफ़ेसर हो गये, अछनेरा-निवासी पंडित मूलचन्द जी की लड़की के साथ विवाह किया। पंडित मूलचन्द सनाढ्य ब्राह्मण थे, और आप नागर। विवाह वर-वधू की राज़ी से हुआ था। इससे उनके बड़े भाई पण्डित ऋषीश्वरनाथ भट्ट के हृदय को बड़ी ठेस पहुँची। बोल-चाल बन्द हो गई। बदरीनाथ जी ने आगरे आना छोड़ दिया। किन्तु उनकी माता जी, बहन तथा मँझले भाई पंडित केदारनाथ, उनके पास जाते और महीनों रहते थे। बड़े भाई पंडित ऋषीश्वरनाथ रुष्ट तो ज़रूर हो गये, पर अविरल प्रेम-धारा उनके हृदय से प्रस्फुटित होकर अन्तरिक्ष में विलीन होती रही। गत जाड़ों में एक बार पंडित ऋषीश्वरनाथ टहलते हुए मेरे मकान के सामने से गुज़रे। तब निर्मल कुटिया को देख गद्गद होकर कहने लगे—"चलो आगरे में एक आदमी की वजह से इतनी उन्नति हुई!" उसी सिलसिले में बदरीनाथ की चर्चा चल गई। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। पिछले तीन वर्ष से पण्डित बदरीनाथ जी बीमार थे। उनके समाचार के लिए बड़े भाई हर समय व्याकुल रहते थे। उनकी बीमारी का लखनऊ में ठीक निदान नहीं हुआ। वे घरवालों को तड़पते हुए छोड़कर स्वर्गधाम चले गये। उन्होंने लखनऊ में अध्यापकी के अवसर पर तीन स्वतन्त्र मकान बनवा लिये थे। दो किराये पर उठे हुए हैं। एक बड़ी कोठी बनारसीबाग़ में है, जिसमें स्वयं रहते थे।



सम्पादकीय नोट

पटना का निर्णय

पटना में १८वीं-१९वीं मई को अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने जो निर्णय किया है वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हुआ है। और उसमें सबसे अधिक महत्त्व की बात यह हुई है कि कांग्रेस में फूट नहीं हुई, साथ ही देश की राजनैतिक स्थिति में नवजीवन का संचार होने का मार्ग भी खुल गया। उसके पहले रांची में कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठक हुई थी। उसने स्वराज्य-पार्टी की वहाँ की कार्यवाही को स्वीकार करके कांग्रेसवादियों में हलचल पैदा कर दी थी जिससे ऐसा प्रकट हो रहा था कि कांग्रेस में इस बार फूट हो जायगी और देश राजनैतिक मतभेद के दलदल में पहले से भी अधिक गहरे धँस जायगा। परन्तु देश के सौभाग्य से महात्मा गांधी ने अपने प्रभाव तथा कार्य-नैपुण्य के द्वारा विरोधियों की नहीं चलने दी और ऐसी अनूठी व्यवस्था कर दी कि सबके सब देखते रह गये। इस अवसर पर महात्मा जी ने स्थिति को जिस प्रवीणता के साथ सँभाला है वह उन्हीं की वस्तु है। पटने के निर्णय के अनुसार स्वराज्यपार्टी का अब अपना पृथक् संगठन नहीं होगा, किन्तु उसके स्थान में डाक्टर अन्सारी तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में २५ सदस्यों का एक बोर्ड संगठित होगा, जो असेम्बली के लिए कांग्रेस की ओर से उपयुक्त उम्मेदवार खड़ा करेगा और उनके चुनाव के जीतने में आवश्यक सहायता करेगा। उधर कौंसिल-विरोधी दल कांग्रेस का पुनः संगठन करके रचनात्मक कार्य में संलग्न होगा। इस प्रकार अब कांग्रेस सरकार के दरबार और प्रजा के बीच में पहले की भाँति फिर अपने कार्य में लग जायगी।

देश की वर्तमान राजनैतिक दशा को देखते हुए कांग्रेस का यह निर्णय सर्वथा देशकाल के अनुरूप ही हुआ है। सत्याग्रह के स्थगित हो जाने से, आशा है, सरकार अपनी प्रतिज्ञा की ओर ध्यान देगी और कांग्रेस पर अभी तक जो क़ानूनी प्रतिबन्ध लगे हुए हैं उन्हें मंसूख़ कर, साथ ही सभी सत्याग्रही क़ैदियों को भी जेलों से छोड़ कर, अपनी उदाराशयता का समुचित परिचय देगी। इसी आशा से पटना में इस बात की भी घोषणा की गई है कि अगले आक्टोबर में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन होगा, जिसमें कांग्रेस का भावी कार्यक्रम निश्चित होगा। इसके लिए कांग्रेस-कार्यकर्ता अभी से प्रत्येक प्रान्त में कांग्रेस को संगठित करने के काम में मुस्तैदी से लग जाना चाहते हैं। सरकार को चाहिए कि वह कांग्रेस का कार्य पहले की ही भाँति फिर होने दे और उसके मार्ग में डाली हुई विघ्न-बाधाओं को हटा ले। निस्सन्देह यह अवस्था देश को बहुत दिन के बाद नसीब हुई है और इसका सारा श्रेय एक-मात्र महात्मा गांधी को ही है। विश्वास है कि अब देश में पहले जैसे ही शान्ति के साथ सारा राजनैतिक कार्य फिर होने लगेगा। क्योंकि इस समय इसी एक बात की सबसे अधिक आवश्यकता है।

धन्य कलकत्ता-कारपोरेशन!

गत १७ मई को कलकत्ता-कारपोरेशन में मेयर और डिप्टी मेयर के चुनाव के लिए कांग्रेस के दो दलों में जो झगड़ा हुआ वह कलकत्ता-कारपोरेशन के इतिहास में अभूतपूर्व कहा जायगा। इस चुनाव में कारपोरेशन के विद्वान् और सभ्य सदस्यों ने जो लड़कों का खेल कर दिखाया है वह जितना हास्योत्पादक है उतना ही दुःख का भी विषय है। चुनाव की कथा इस प्रकार है—

कलकत्ता-कारपोरेशन में कांग्रेस के जो दो दल हैं उनमें एक सेनगुप्त-पार्टी और दूसरा बोस-पार्टी के नाम

से विख्यात है। कौओं की काँव काँव की-सी पञ्चायत में इन दोनों दलों ने अपना अपना मेयर और डिप्टी मेयर चुना। इस चुनाव के बाद ही बोस-पार्टी के पुराने मेयर डाक्टर के० एस० राय ने जिनका चुनाव सरकार ने रद कर दिया था, आगे बढ़कर मेयर की कुर्सी पर आसन जमा लिया। इससे झगड़े में ज़रा और गरमाहट आ गई। बाहरी तमाशबीन भी ख़ूब एकत्र थे और पुलिस भी सतर्कता के साथ उपस्थित थी। ये सब लोग एक नये दृश्य की प्रतीक्षा करने लगे। डाक्टर राय के बाद मिस्टर फ़ज़लहक़ जो सेनगुप्त की पार्टी की ओर से मेयर चुने गये थे, आगे बढ़े और बोले—"जनाब, वास्तविक मेयर मैं हूँ, कुर्सी ख़ाली कीजिए।" मिस्टर राय ने उत्तर दिया—"नहीं जनाब, कुर्सी ख़ाली नहीं होगी, क्योंकि सरकार ने केवल चुनाव रद किया है, मुझे कुर्सी पर से नहीं हटाया।"

इस चख़चख़ के बाद जब कुर्सी ख़ाली न हुई तब फ़ज़लहक़ साहब सामने की मेज़ पर बैठ गये और कारपोरेशन की कार्रवाई आरम्भ करने लगे। उधर राय भी अपनी कार्रवाई आरम्भ किये हुए थे। अब एक तीसरे साहब मिस्टर मदनमोहन बर्मन आगे बढ़े और उन्होंने मेयर की कुर्सी के लिए अपना हक़ ज़ाहिर किया। पर वहाँ कौन सुनता था, वहाँ तो पहले से ही दो दो मेयर डटे थे। वे बेचारे लाचार होकर दोनों के बीच में खड़े हो गये और उन्होंने भी अपनी कार्रवाई आरम्भ की। बीच बीच में ये मेयर लोग एक दूसरे को हटाने का प्रयत्न भी करते जाते थे और उनके सहायक एक दूसरे के लिए चिल्ला रहे थे—"कुर्सी छोड़ दो, भाग जाओ, शर्म शर्म, हाय हाय।" बीच बीच में और भी प्रस्ताव हुए और अन्त में मिस्टर बसु यह तय करने के लिए कि मेयर कौन माना जाय, उस कमेटी के चेयरमैन बने। पर उन्हें किसी प्रकार हटाकर मिस्टर बर्मन ने कुर्सी पर क़ब्ज़ा कर लिया। फिर वही गड़बड़ मचा। फिर दो मेयर दो सभायें करने लगे। ये सभायें साढ़े ६ बजे ख़तम हो गईं, पर शायद ज़िद के कारण लोग अपनी अपनी कुर्सियों पर आधे घंटे तक चिपके रहे।

यह हाल है उस संस्था का जो नगर-प्रबन्ध के मामले में भारतवर्ष की सबसे बड़ी संस्था मानी जाती है। सार्वजनिक हित को ताक़ पर रखकर जब सभ्य और शिक्षित लोग अपनी अपनी पार्टियों के स्वार्थों के लिए आपस में लड़ना आरम्भ करते हैं तब उनकी अवस्था इसी प्रकार शोचनीय हो जाती है। कलकत्ता-कारपोरेशन एक प्रकार से स्वराज्य-प्राप्त संस्था है। ऐसी संस्था में सम्मिलित होनेवाले भारतीयों का, ख़ासकर कांग्रेस-मैनों का, जो स्वराज्य की लड़ाई में सबसे आगे हैं, इस प्रकार मूर्खता का प्रदर्शन करना वास्तव में हम सबके लिए बड़े लज्जा की बात है। खेद है, कलकत्ता-कारपोरेशन के सदस्यों को अपने आपको यहाँ तक हास्यास्पद बनाकर ही अभी सन्तोष नहीं हुआ। क्या वे यही सिद्ध करना चाहते हैं कि उनमें कुछ भी विवेकशक्ति नहीं रह गई है?

बङ्गाल के गवर्नर पर आक्रमण

दार्जिलिङ्ग में उस दिन घुड़दौड़ के समय बङ्गाल के गवर्नर पर दो बंगाली नवयुवकों ने जो घातक आक्रमण किया था उसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। सन्तोष और प्रसन्नता की यही बात हुई कि गवर्नर महोदय बाल बाल बच गये। वे दोनों युवक उसी क्षण वहीं के वहीं पकड़ लिये गये पर यह बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि बंगाल-सरकार के इतना सतर्क और सावधान रहते हुए भी ये आतंकवादी अपनी कर गुज़रने से नहीं चूकते। मेदनापुर और चटगाँव में सरकार ने आतंकवाद का उन्मूलन करने के लिए जो दुर्धर्ष आयोजन किया है उससे प्रकट हुआ था कि अब निःसन्देह इस 'वाद' से भारत को मुक्ति मिल जायगी। पर दार्जिलिंग की उक्त घटना ने लोगों की उक्त आशा को निराशा में परिणत कर दिया। इन आतंकवादियों के कारण देश की राजनैतिक अवस्था के सुधरने के मार्ग में बड़ी बाधा पड़ रही है। देखें, इस व्याधि से देश कब तक मुक्त होता है।

योरप की डाँवाँडोल दशा

महायुद्ध को समाप्त हुए पन्द्रह-सोलह वर्ष हो गये। हारनेवालों का नाम-निशान नहीं रहा, और जीतनेवाले पहले से भी अधिक प्रबल हो गये। परन्तु संसार को वह पहले की शान्ति और व्यवस्था अभी तक नहीं नसीब हो सकी। महायुद्ध का ऐसा ही प्रलयंकर परिणाम हुआ है। देखने में तो सभी राष्ट्र फिर पहले की तरह एक दूसरे से सन्धियों-द्वारा प्रेम-सूत्र में आबद्ध हैं, पर वे सबके सब एक दूसरे से चौकन्ने रहते हैं। इसका एक-मात्र कारण वहाँ की डिक्टेटरशाही है। योरप के ये डिक्टेटर युद्ध-जन्य आर्थिक दुरवस्था से पीड़ित नादान जनता को अपने हाथों में करके अपनी मनमानी कर रहे हैं। अपने सैनिक बल के द्वारा इन्होंने अपने हस्तगत देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में जो सफलता प्राप्त की है उससे उनके सिर फिर गये हैं और प्रजातान्त्रिक भावना का उन्मूलन करके वे अपने शासनाधीन देशों को उस मार्ग पर लिये जा रहे हैं जो उन्हें एक न एक दिन अत्यधिक भयंकर परिस्थिति में बिना डाले न मानेगा। ऐसी दशा में इस समय वहाँ जो शान्ति और व्यवस्था दिखाई दे रही है वह शासन-कर्ताओं के सैनिक बल के फल-स्वरूप ही अस्तित्व में है। अन्यथा ये डिक्टेटर वहाँ एक दिन भी नहीं टिक सकते थे। परन्तु इस समय योरप क्या, सारे संसार में ही जिसकी लाठी उसकी भैंस का मसला चरितार्थ होता हुआ दिखाई दे रहा है। तब इनका विश्वशान्ति की बातें करना सिवा पाखण्ड के और क्या हो सकता है? कौन कह सकता है कि पराजित राष्ट्रों के डिक्टेटर मौक़ा मिलने पर अपने देश के उन भू-भागों को पुनः अपने अधिकार में ले आने का प्रयत्न न करेंगे जो युद्ध में पराजित हो जाने से उनसे छीन लिये गये हैं। योरप का जो पिछला महायुद्ध हुआ था उसके घटित होने के कारणों में एक कारण यह भी था कि सन् १८७०-७२ के फ़्रांस-जर्मनी के युद्ध में जर्मनी ने फ़्रांस का एक भू-भाग उससे ले लिया था। और अब तो योरप में ऐसे कई देश अस्तित्व में आ गये हैं जिनके भूखण्ड उनके पड़ोसी राज्यों के अधिकार में चले गये हैं। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया आदि ऐसे देश हैं जिनके भूखण्ड उनसे लेकर दूसरों को दे दिये गये हैं और ये सभी राष्ट्र अपने देश के उन भू-भागों को वापस लेने के विचार को कभी नहीं भूल सकते। योरप की राजनैतिक विषम अवस्था का मूल कारण ऐसी ही बातें हैं। और जब तक इनका हल नहीं होता तब तक योरप की ऐसी ही डाँवाँडोल स्थिति रहेगी।

इस सम्बन्ध में जर्मनी के सार प्रदेश का प्रश्न सबसे ताज़ा उदाहरण है। अगले वर्ष लोकमत के आधार पर यह निर्णय किया जायगा कि सार जर्मनी को मिलना चाहिए या फ़्रांस को। हाल में सार के जर्मनों ने एक विशाल प्रदर्शन किया था। कोई पचास हज़ार जर्मन अपना दल बनाकर वहाँ से जर्मन-सीमा पार कर जर्मनी गये थे और इस प्रकार यह प्रकट किया था कि सार जर्मनी के साथ रहना चाहता है। परन्तु फ़्रांस सरलता से सार को जर्मनी के हाथ नहीं जाने देगा। कहा जाता है कि अगले वर्ष इस सम्बन्ध में जो लोकमत संग्रह किया जायगा वह एक एक ज़िले का अलग अलग संग्रह होगा। ऐसा करने से सार का कुछ न कुछ अंश फ़्रांस को भी मिल सकेगा। परन्तु इस प्रकार देश का बँटवारा जर्मनी या किसी अन्य राष्ट्र को तभी तक मान्य होगा जब तक वह सबल नहीं है। इतने पर भी जो लोग विश्वशान्ति आदि आदि की ऊँची बातों की चर्चा में निरत और अपने आदर्शवाद की डफली बजाने में ही मग्न रहते हैं उनसे क्या कहा जाय? आँख और कान के होते हुए भी वे न देखना चाहते हैं, न सुनना चाहते हैं। वास्तव में ये सब बातें राजनैतिक दाँव-पेंच के हथकंडों के सिवा और कुछ नहीं हैं।

इस सम्बन्ध का दूसरा उदाहरण लीजिए।

इसी १ली मई को आस्ट्रिया की प्रजातंत्र-सरकार के अधिपति डाक्टर डोलफ़ोस ने वायना में डिक्टेटरशाही के स्थापित होने की घोषणा बड़ी धूमधाम के साथ की थी और आज बल्गेरिया के बादशाह बोरिस भी वही करने को

बाध्य हुए हैं। योरप की इस समय जैसी राजनैतिक अवस्था है उसको देखते हुए ये दोनों घटनायें उतना आश्चर्यप्रद नहीं हैं। वास्तव में योरप के प्रायः सभी राज्यों में धीरे धीरे डिक्टेटरशाही की स्थापना होती जा रही है और जिस लोक-हितकारी प्रजातंत्र-भावना की वहाँ पहले तूती बोलती थी उसे धता बताया जा रहा है। फ्रांस और ब्रिटेन एवं स्विटज़लैंड को छोड़कर अब योरप में कहीं भी लोकमत का आदर नहीं रहा। और फ्रांस आदि में लोकतंत्र का जो थोड़ा-बहुत महत्त्व दिखाई दे रहा है वह भी अब वैसा नहीं रहा। इस समय योरप के सभी देशों में या तो राजाशाही या तानाशाही की ही धूम है। जो महायुद्ध राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़ा गया था और 'स्वभाग्य-निर्णय' के सिद्धान्त की घोषणा के साथ जिसकी समाप्ति हुई थी, उसी के प्रसाद-स्वरूप आज योरप में लोकमत का जिस ढंग से तिरस्कार हो रहा है, यह अनेक लोगों के लिए आश्चर्य की बात हो सकती है। परन्तु जो लोग मानव-स्वभाव को उसके सिवा और कुछ नहीं समझते वे जानते हैं कि पिछले महायुद्ध ने योरपीय प्रजातंत्रवाद के दम्भ का भंडाफोड़ कर दिया है, और उसने योरप को उसके असली रूप में संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। योरप के अधिकांश भू-भाग में इस समय एक व्यक्ति का या कुछ व्यक्तियों के समूह का ही शासन प्रचलित है। ऐसे देशों में स्वार्थमूलक राष्ट्रीयतावाद ने अपना अड्डा बना लिया है। तब वहाँ न्याय-मूलक लोकमत का महत्त्व कैसे स्थापित हो सकता है? और जब लोकमत की निर्बलता में वहाँ से प्रजातंत्र-भावना का बलपूर्वक उन्मूलन कर दिया गया है तब निरंकुशता तो प्रबल पड़ ही जायगी। योरप के अधिकांश में इस समय ऐसी ही निरंकुशता का प्राबल्य है, जिससे वहाँ का भविष्य भयावह दिखाई देता है।

ब्रिटेन और जापान का संघर्ष

ब्रिटिश सरकार से आख़िर जापान का व्यापारी समझौता नहीं हो सका। उस दिन लन्दन में इस बात की सरकारी तौर पर घोषणा ही नहीं हो गई है, किन्तु सरकार ने साम्राज्य के भिन्न भिन्न देशों को तट-कर-सम्बन्धी नये नियम जारी कर देने का भी हुक्म दे दिया है। ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय को जापान-सरकार ने पसन्द नहीं किया है। यहाँ तक कि उसके एक उच्च अधिकारी ने तो इसकी तुलना वज्रपात से की है। फलतः जापान को भी निराशा के स्वर में यह घोषित करना पड़ा है कि वह सन्धियों-द्वारा प्राप्त अपने अधिकारों की रक्षा करने का अवश्य प्रयत्न करेगा। जापान चाहे जो प्रयत्न करे। इस घटना से यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो गई है कि ब्रिटेन और जापान में घोर व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता है और ब्रिटेन जापान को अपनी हानि करके व्यापार नहीं करने देगा। भारत के व्यापारी समझौते में वह जापान के लिए काफ़ी त्याग कर चुका है, पर साम्राज्य के दूसरे भागों में वह अपने आगे उसके व्यापार को नहीं बढ़ने देगा। ब्रिटेन के इस निर्णय से जापान के आगे बहुत ही विकट समस्या उठ खड़ी हुई है। क्योंकि दूसरे सबल राष्ट्र भी उसके साथ अब ब्रिटेन का-सा ही व्यवहार कर सकते हैं। इटली, आस्ट्रिया और हंगरी ने जो व्यापारी समझौता हाल में किया है उससे उक्त आशंका सत्य प्रतीत होती है। यदि जापान इस तरह नाना प्रतिबन्धों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-क्षेत्र से निकाल बाहर किया जायगा तो इसका जो परिणाम होगा वह दूसरा महायुद्ध ही होगा। परन्तु क्या जापान ब्रिटेन से युद्ध करने को तैयार होगा? जापान इतना मूर्ख नहीं है कि वह ब्रिटेन से युद्ध करके अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मार लेगा। इस व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता में जापान के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को सीमित करे। जापान के राजनीतिज्ञों के लिए अब यही एक सुखकर मार्ग रह गया है। क्योंकि आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के लिए सभी राष्ट्र अपने उद्योग-धन्धों आदि की रक्षा करना अपना पहला धर्म समझते हैं। और ब्रिटेन के लिए इस धर्म का पालन करना तो जीवन-मरण का प्रश्न हो गया है। युद्ध में फँस जाने के

कारण उसका सारा व्यापार नष्ट हो गया है और वह संयुक्त-राज्य और जापान आदि के हाथों में चला गया है। उसे फिर हाथ में कर लेने का प्रयत्न करना ब्रिटेन के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। ऐसी दशा में यदि जापान या अमरीका कोई भी असन्तुष्ट हों तो उसका वैसा भाव प्रकट करना क्या राजनैतिक क्षेत्र में न्यायपूर्ण माना जायगा? चाहे जो हो, इस समय संसार के व्यावसायिक क्षेत्र में जापान सभी व्यावसायिक राष्ट्रों का प्रतिद्वन्द्वी हो रहा है।

कांग्रेस और असेम्बली

असेम्बली और कौंसिलों में अपने सदस्य भेजने का जो निश्चय सर्व-भारतीय कांग्रेस-कमिटी ने किया है उससे देश के राजनैतिक क्षेत्र में खलबली मच गई है। साम्प्रदायिक नेता कांग्रेस की इस प्रगति से चौकन्ने हो गये हैं। एक मुसलमान नेता ने तो कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कह कर उसका महत्त्व घटाना चाहा है और एक हिन्दू ने उनसे एक क़दम आगे बढ़कर यह घोषित किया है कि हिन्दू-सभा कांग्रेस के विरुद्ध अपने उम्मेदवार इसलिए खड़े करेगी कि कांग्रेस प्रधान मंत्री के साम्प्रदायिक समझौते की निन्दा नहीं कर रही है। हिन्दू सज्जन यह समझते हैं कि मुसलमानों के डर से वह ऐसा नहीं कर रही है और इसको वे कांग्रेस की कमज़ोरी समझते हैं। उक्त मुसलमान नेता महोदय ने अपने अभियोग का कोई कारण नहीं बताया है, अतएव उनकी बात पर विचार ही नहीं हो सकता। हाँ, हिन्दू नेता महोदय ने अपने विरोधी रुख़ का कारण दिया है और उनका वह कारण निराधार है। कौन नहीं जानता कि कांग्रेस ने प्रधान मंत्री के निर्णय को अस्वीकार किया है और वह सम्मिलित बालिग़ मताधिकार चाहती है। आश्चर्य है कि उक्त नेता महोदय कांग्रेस की इस स्थिति को नहीं स्वीकार करते हैं। ख़ैर, लक्षणों से यही जान पड़ता है कि इस बार चुनाव चुनाव की ही तरह होगा। कांग्रेस को कई दलों से मोर्चा लेना पड़ेगा। उचित तो यह था कि इस बार सभी दल चुप बैठ जाते और कांग्रेस के सदस्यों को ही चुनाव के लिए खड़ा होने देते। आख़िर इतने दिन तक वह उन्हें असेम्बली और कौंसिलें सौंपे ही रही है। परन्तु राजनीति में ऐसे सौजन्य को स्थान नहीं दिया जाता है और कांग्रेस को कई दलों से युद्ध करना पड़ेगा। ऐसा होना अनिवार्य भी है। कांग्रेस का संगठन बहुत प्रबल रहा है, अतएव चुनाव में उसकी विजय हो सकती है। क़ानूनी प्रतिबन्धों के उठते ही वह एक बार फिर अपना व्यापक संगठन करेगी और उसी के साथ साथ चुनाव भी लड़ा जायगा। निस्सन्देह कांग्रेस के इस रुख़ से देश के राजनैतिक क्षेत्र में नवजीवन का संचार हो गया है।

महायुद्ध का ऋण

योरप की राजनैतिक समस्या की स्थिरता का मूल कारण महायुद्ध के ऋण की विशाल राशि है। यदि योरप के सभी छोटे-बड़े राष्ट्र अमरीका के तथा आपस में एक दूसरे के ऋण से दबे न होते तो आज योरप इतना शान्त और चुप न बैठा होता। अमरीका के ऋण के भार से ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे सम्पन्न और सम्भ्रान्त राष्ट्र तक दबे हुए हैं और उस ऋण की रक़म इतनी भारी है कि फ़्रांस ने तो अपना टाट ही उलट दिया है और इधर दो वर्ष से वह अपने ऋण की क़िश्तें नहीं दे रहा है। गत वर्ष ब्रिटेन ने जिस कठिनाई से अपने ऋण की क़िश्त का भुगतान किया था वह सभी को ज्ञात है। यह हाल देखकर ही अमरीका को नादिहंद राष्ट्रों की क़लई खोल देने के लिए एक क़ानून तक बनाना पड़ा है। अब जून फिर सिर पर आ गया है और अमरीका अपने ऋण की क़िश्तें पाने का फिर तक़ाज़ा कर रहा है। इस बार जान पड़ता है कि ब्रिटेन भी जून की क़िश्त नहीं अदा करेगा। ऐसी ही आशंकाओं के कारण अमरीका इस मामले में कुछ कुछ कठोरता का भाव व्यक्त कर रहा है। ऋणग्रस्त राष्ट्र एक ज़माने से कह रहे हैं कि अमरीका को यह युद्ध-ऋण छोड़ देना चाहिए। परन्तु अमरीका ने ऐसा करने से बार बार इनकार किया है। वहाँ की सरकार यदि ऋण छोड़ भी देना चाहे

तो वह ऐसा नहीं कर सकती। इसी से ऋण की माँग करते समय वह कठोरता तथा विनम्रता दोनों तरह का व्यवहार करती है। वहाँ के वर्तमान राष्ट्रपति रूज़वेल्ट साहब बड़े उदार ही नहीं, स्वतन्त्रचेता भी हैं। इसके सिवा वे इस समय शासन-कार्य में अधिकाधिक स्वतन्त्र भावना व्यक्त कर रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं, वे इस ऋण-समस्या के सुलझाने के लिए कोई नया मार्ग निकाल लेने में समर्थ हो जायँ। परन्तु कठिनाई तो है अमरीका के धनकुबेरों का उग्र रूप जो यह कहने में नहीं थकते कि ऋणग्रस्त राष्ट्र जब अस्त्र-शस्त्र ख़रीदने में अपार धनराशि ख़र्च करते हैं तब वे अपना ऋण चुकाने में क्यों आनाकानी कर रहे हैं। चाहे जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह ऋण-समस्या भी संसार की वर्तमान आर्थिक संकट का एक कारण है। तो भी अमरीका इस ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देता और वह अपना ऋण पाई पाई वसूल कर लेना चाहता है, भले ही वह एक युग के बाद वसूल हो।

बालीद्वीप के हिन्दू

पूर्व-काल में भारतीयों ने अनाम और कंबोडिया जैसे दूर देशों में जाकर उसी भाँति बसे थे और वहाँ अपना राज्य क़ायम किया था, जैसे अँगरेज़ों आदि ने कनाडा आदि में। परन्तु हिन्दुओं के उस गौरव का अब उन देशों से नाम शेष होगया है। अनाम और कंबोडिया में उनकी प्रभुता के सूचक कुछ देवमन्दिर आदि रह गये हैं। हाँ, भारतीय द्वीपपुञ्ज में केवल बाली नाम का एक छोटा-सा टापू रह गया है, जहाँ हिन्दू अपने हिन्दू-रूप में आज भी निवास करते हैं। भारतीय द्वीपपुञ्जों पर कोई तीन-चार सौ वर्षों से डच लोगों का अधिकार है। इस द्वीपपुञ्ज के भिन्न भिन्न टापुओं के हिन्दुओं ने मुसलमान-धर्म स्वीकार कर लिया है। परन्तु बाली में हिन्दुओं का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। हाल में बाली के सरदारों ने वहाँ के गवर्नर-जनरल को एक मेमोरियल दिया है और यह प्रार्थना की है कि इनके द्वीप में ईसाई-धर्म के प्रचारक न भेजे जायँ। डच-सरकार ने सन् १९२२ में एक क़ानून जारी किया है, जिसके अनुसार कोई भी ईसाई-धर्म का प्रचारक बिना गवर्नर-जनरल की विशेष अनुमति लिये वहाँ अपने धर्म का प्रचार न कर सकेगा। परन्तु अब जान पड़ता है कि इस द्वीपपुञ्ज में धर्म-कलह उठनेवाला है। ईसाई लोग वहाँ ईसाई-धर्म का प्रचार करना चाहते हैं। कोई दो सौ वर्ष के लगभग हुए कि यह द्वीप वहाँ की डच-सरकार की अधीनता में आया और प्रायः तभी से ईसाई लोग वहाँ धर्म-प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु वे आज तक नहीं सफल हुए। बाली के हिन्दू न मुसलमान ही हुए, न ईसाई ही। परन्तु अब अवस्था दूसरी हो गई है। उसके दक्षिणी भाग में तथा उत्तरी भाग में कुछ ईसाई-परिवार जा बसे हैं। इन सबकी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए ईसाई उपदेशकों तथा गिरजाघरों की आवश्यकता होवेगी ही। अतएव जहाँ हिन्दुओं ने ईसाई-परिवारों को बसने दिया है, वहाँ उन्हें यह सुविधा भी प्रदान करनी पड़ेगी। परन्तु जान पड़ता है, बाली के हिन्दुओं को यह स्वीकार नहीं है। उनका प्रतिनिधि द्वीपपुञ्ज की प्रतिनिधि-सभा में स्पष्ट शब्दों में ईसाइयों की इस हरकत का विरोध कर रहा है। क्या हिन्दू-सभा ने बाली के इन हिन्दुओं की कभी खोज-ख़बर ली है? यदि 'माडर्नरिव्यू' उनका यह विवरण एक विलायती पत्र से उद्धृत न करता तो कदाचित् उनकी इस अवस्था का भारतीय हिन्दुओं को पता तक न मिलता।

निश्शस्त्रीकरण की समस्या

निश्शस्त्रीकरण के मसले का एक बार फिर ज़ोर-शोर के साथ निराकरण होने जा रहा है। इसी मई में उसकी सभा का अधिवेशन जेनेवा में धूमधाम से शुरू होगा। देखें इस बार इसका क्या परिणाम होता है। क्योंकि फ़्रांस और जर्मनी का ज़माने का वैर है और इसी से निश्शस्त्रीकरण का समझौता हो नहीं पाता। फ़्रांस चाहता है कि ख़ुद तो वह अस्त्र-शस्त्र से अच्छी तरह सज्जित रहे, पर जर्मनी अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होने का नाम भी न ले। उधर जर्मनी अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होने की माँग ही नहीं

कर रहा है, किन्तु इसने उनका बढ़ाना भी शुरू कर दिया है। सन्धि के अनुसार जर्मनी एक लाख से अधिक सेना नहीं रख सकता। परन्तु कहा जाता है कि उसके पास इस समय १,६२,०००, सरकारी सेना, १,००,०००, अवसर-प्राप्त सरकारी सेना, ८०,००० पुलिस, १०,००,००० स्टार्मट्रूप, १३,००,००० युद्ध कालीन सैनिक, ९,००,००० युवक सेना है अर्थात् वह ३१,४९,००० सेना एकत्र कर सकता है। ऐसे ही कल्पना-मूलक आँकड़ों से फ़्रांस आदि राष्ट्र जर्मनी से शंकित रहते हैं और उनके कुचक्रों से निशस्त्रीकरण का समझौता नहीं हो पाता। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि जर्मनी ने गुप्त रीति से बहुत भारी सैनिक तैयारी कर ली है तो क्या यह सम्भव होगा कि जर्मनी फ़्रांस पर चढ़ दौड़ेगा—उस फ़्रांस पर जिसने अपनी सारी सरहद को अभेद्य क़िलेबन्दी से सुदृढ़ कर लिया है, जिसकी बदौलत वह जर्मनी पर आसानी से आक्रमण कर सकता है। नहीं, जर्मनी नहीं चढ़ दौड़ेगा, उसमें वह सामर्थ्य भी नहीं है। और न फ़्रांस ही चढ़ दौड़ेगा, क्योंकि समर्थ होते हुए भी उसमें वह साहस नहीं है। परन्तु इन दोनों में जो ज़माने का वैर है वही स्थिति को सुधरने नहीं दे रहा है। नहीं तो ब्रिटेन और इटली ने जो उपयुक्त प्रस्ताव उपस्थित किये हैं, यदि उन्हें फ़्रांस मान ले तो जर्मनी भी मानने को बाध्य होगा। परन्तु इस तरह के मनोभाव का योरपीय वायुमण्डल में सदैव अभाव रहा है, वहाँ के सभी बलवान् राष्ट्र अपनी अपनी घात में रहते हैं। ऐसी दशा में समझौते की बात कैसे सफल हो सकती है? लक्षणों से तो यह जान पड़ता है कि योरप में अब गुटबन्दी का ज़ोर बढ़ेगा और सभी राष्ट्र प्रकट तथा गुप्त दोनों रीतियों से अपना अपना सामरिक बल बढ़ायेंगे। रहा विश्व-शान्ति का आदर्शवाद सो उसके लिए जेनेवा का राष्ट्रसंघ स्थापित है और वह उसके गुणानुवाद गाते रहने से कभी विरत न होगा। क्योंकि यह अनुमान ही नहीं है; एक सच्ची बात है कि अगला युद्ध योरप में हवाई युद्ध होगा और जिसकी हवाई सेना प्रबल होगी वही उस युद्ध में बाज़ी मार ले जायगा। गत वर्ष जर्मनी में नागरिकों को हवाई आक्रमण से बचने के लिए जो व्यावहारिक शिक्षा दी गई थी उससे भी इस बात का समर्थन होता है। सन्धि के अनुसार जर्मनी हवाई सेना नहीं रख सकता, तो भी वह असैनिक हवाई जहाज़ ख़ूब बढ़ा रहा है। इस वर्ष के बजट में उसने हवाई जहाज़ों की मद में तिगुनी रक़म कर दी है। यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है। इस बात का भी योरपीय राजनैतिक स्थिति पर ख़ासा प्रभाव पड़ा है और इस कारण भी निशस्त्रीकरण की समस्या और भी जटिल रूप धारण कर गई है।

परन्तु यह सन्तोष की बात है कि ग्रेट ब्रिटेन और इटली निराश नहीं हुए हैं और वे इस बात के प्रयत्न में पूर्ववत् लगे हुए हैं कि राष्ट्र-संघ की प्रतिपत्ति बनी रहे और निशस्त्रीकरण का समझौता हो जाय।

अछूतोद्धार का विरोध

अछूतोद्धार के विरोध में हिन्दू-समाज का जो दल विशेष रूप से गत विधि प्रकट कर रहा है वह काशी का वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ है। अब प्रश्न यह है कि यह संघ सभी श्रेणी के सनातनियों का है या किसी सम्प्रदाय-विशेष का है। उक्त संघ की रचना से तो यही प्रकट होता है कि सनातनियों में केवल वैष्णव-समाज या साधु-महन्तों का ही उसमें प्राधान्य है। ऐसी दशा में उक्त संघ सारे सनातन धर्मी समाज के नाम से अछूतोद्धार के विरुद्ध 'लाठीवाद' का आश्रय नहीं ले सकता। उसे खुलकर ईमानदारी के साथ घोषित करते रहना चाहिए कि वह केवल वैष्णवों तथा मठाधीशों की ही ओर से उक्त विरोधी आन्दोलन का सञ्चालन कर रहा है। आश्चर्य है कि सनातनी जनता तथा सुधारकों का ध्यान इस रहस्य की ओर नहीं जाता। इसमें सन्देह नहीं कि सनातनी अछूतों का मन्दिर-प्रवेश पसन्द करेंगे, और वे उन्हें रोकने के लिए 'लाठी' नहीं उठायेंगे, यदि उन्हें बता दिया जायगा कि अछूत भी उन्हीं की तरह हिन्दू हैं।

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.